भारतीय संस्कृति :
एक समाजशास्त्रीय समीक्षा

भारतीय संस्कृति : एक समाजशास्त्रीय समीक्षा

लेखक
गौरीशंकर भट्ट
अध्यक्ष
समाजशास्त्र विभाग,
डी०ए०वी० कालेज
देहरादून

साहित्य सदन, देहरादून।

प्रकाशक :
साहित्य सदन
देहरादून

प्रथम संस्करण
१६६५
मूल्य १७.५०

मुद्रक
हीरा आर्ट प्रेस
देहली-६

विषयानुक्रम

संस्कृति

हिन्दुत्व

भारतीय संस्कृति में इस्लाम

भारतीय संस्कृति और योरोपीय सभ्यता

भारत में आदिवासी संस्कृति

प्राक्कथन

भारतीय संस्कृति की एक समाजशास्त्रीय समीक्षा के रूप में प्रस्तुत इस अध्ययन की नवीनता और मौलिकता इसके विषय-वस्तु में न होकर, इसके प्रतिपादन में है। इसका एक आधार इतिहास है, दूसरा मानवशास्त्र और तीसरा समाजशास्त्र। इसमें प्रतिपादित संस्कृति की व्याख्या मानवशास्त्रीय है किन्तु, उसकी व्याख्या को इतिहास का नहीं, सामाजिक इतिहास का आधार प्रदान किया गया है। यहां भारतीय सामाजिक संस्थाओं और परम्पराओं तथा उनके वैचारिक आधारों का उद्विकासी विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। भारत के इतिहासकारों ने भारत की एक सांस्कृतिक सातत्य मानते हुए भी, भारत के सांस्कृतिक इतिहास को, साधारणतः हिन्दू, मुस्लिम, और आधुनिक कालों में बांटा है। विनयकुमार सरकार, के० एम० पानिक्कर और रामधारी सिंह दिनकर जैसे अध्येताओं ने इस विभाजन के औचित्य को असंगत माना है क्योंकि इनके अनुसार, जिस देश के इतिहास में, प्रारम्भ से वर्तमान तक, एक ही गाथा प्रवाहित हो रही है, उसके इतिहास को हिन्दू, मुस्लिम और आधुनिक कालों में बांटना तर्कसंगत नहीं लगता। सारे मुस्लिम-काल और वर्तमान काल में एक ओर, हिन्दुत्व और इस्लाम का परस्पर संस्कृतिकरण हुआ है और दूसरी ओर, दोनों का परम्परावादी समानान्तर पुनरन्वयन हुआ है।

प्रस्तुत अध्ययन में एक ओर हिन्दुत्व के सामाजिक-ऐतिहासिक अभ्युदय और उसके सामाजिक-वैचारिक आधारों (धर्म, पुरुषार्थ, आश्रम, संस्कार, वर्ण, कर्म, राजधर्म और उत्तमपुरुष) का वर्णन है तो दूसरी ओर 'भारतीय संस्कृति में इस्लाम' और 'भारतीय संस्कृति में योरोपीय सभ्यता' नामक शीर्षकों के अन्तर्गत मानवशास्त्रियों की एकल्चरेशन (संस्कृतिकरण) की धारणा के आधार पर, हिन्दुत्व और इस्लाम पर एक दूसरे के तथा दोनों पर योरोपीय सभ्यता के प्रभावों से उत्पन्न परिवर्तनों का निरूपण किया गया है। भारतीय संस्कृति के इतिहासकारों ने 'आदिवासी' कहे जाने वाले भारतीयों के सांस्कृतिक योगदानों की उपेक्षा की है किन्तु उसके लिए इतिहासकार उत्तरदायी नहीं है। प्राचीन साहित्य में न तो हिन्दू और आदिवासी का अन्तर मिलता है और न जाति तथा गणजाति का। हिन्दू और आदिवासी में अन्तर अंग्रेजी राज के काल में और योरोप की मानवशास्त्रीय विचारधारा के अन्तर्गत किया गया है। किन्तु यह अन्तर आज इतना घर कर गया है कि भारतीय संस्कृति के विश्लेषण में इसकी शास्त्रीय व्याख्या की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। अतः इस अध्ययन में,

प्राक्कथन

भारतीय संस्कृति की एक समाजशास्त्रीय समीक्षा के रूप में प्रस्तुत इस अध्ययन की नवीनता और मौलिकता इसके विषय-वस्तु में न होकर, इसके प्रतिपादन में है। इसका एक आधार इतिहास है, दूसरा मानवशास्त्र और तीसरा समाजशास्त्र। इसमें प्रतिपादित संस्कृति की व्याख्या मानवशास्त्रीय है किन्तु, उसकी समाजशास्त्रीय व्याख्या को इतिहास का नहीं, सामाजिक इतिहास का आधार प्रदान किया गया है। यहाँ भारतीय सामाजिक संस्थाओं और परम्पराओं तथा उनके वैचारिक आधारों का उद्विकासी विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। भारत के इतिहासकारों ने भारत को एक सांस्कृतिक सातत्य मानते हुए भी भारत के सांस्कृतिक इतिहास को, साधारणतः, हिन्दू, मुस्लिम, और आधुनिक कालों में बाँटा है। विनयकुमार सरकार, के० एम० पानिक्कर और रामधारी सिंह दिनकर जैसे अध्येताओं ने इस विभाजन के औचित्य को असंगत माना है क्योंकि, इनके अनुसार, जिस देश के इतिहास में, प्रारम्भ से वर्तमान तक, एक ही गाथा प्रवाहित हो रही है, उसके इतिहास को हिन्दू, मुस्लिम और आधुनिक कालों में बाँटना तर्कसंगत नहीं लगता। सारे मुस्लिम-काल और वर्तमान काल में एक ओर, हिन्दुत्व और इस्लाम का परस्पर संस्कृतिकरण हुआ है और दूसरी ओर, दोनों का परम्परावादी समानान्तर पुनरन्वयन हुआ है।

प्रस्तुत अध्ययन में एक ओर हिन्दुत्व के सामाजिक-ऐतिहासिक अभ्युदय और उसके सामाजिक-वैचारिक आधारों (धर्म, पुरुषार्थ, आश्रम, संस्कार, वर्ण, कर्म, राजधर्म और उत्तमपुरुष) का वर्णन है तो दूसरी ओर 'भारतीय संस्कृति में इस्लाम' और 'भारतीय संस्कृति में योरोपीय सभ्यता' नामक शीर्षकों के अन्तर्गत मानवशास्त्रियों की एकल्चरेशन (संस्कृतिकरण) की धारणा के आधार पर, हिन्दुत्व और इस्लाम पर एक दूसरे के तथा दोनों पर योरोपीय सभ्यता के प्रभावों से उत्पन्न परिवर्तनों का विश्लेषण किया गया है। भारतीय संस्कृति के इतिहासकारों ने 'आदिवासी' कहे जाने वाले भारतीयों के सांस्कृतिक योगदानों की उपेक्षा की है किन्तु उसके लिए इतिहासकार उत्तरदायी नहीं है। प्राचीन साहित्य में न तो हिन्दू और आदिवासी का अन्तर मिलता है और न जाति तथा गणजाति का। हिन्दू और आदिवासी में अन्तर अंग्रेजी राज के काल में और योरोप की मानवशास्त्रीय विचारधारा के अन्तर्गत किया गया है। किन्तु यह अन्तर आज इतना घर कर गया है कि भारतीय संस्कृति के विश्लेषण में इसकी शास्त्रीय व्याख्या की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। अतः इस अध्ययन में,

सस्कृति

सस्कृति समाजशास्त्रीय व्याख्या

सस्कृति का समाजशास्त्रीय अथ जनसाधारण मे प्रचलित अथ से भिन्न है। जनसाधारण मे प्रचलित, सामान्य अथ मे, सस्कृति प्रतीक है मानव-व्यवहार के उन उपकरणो की जो मानव को सभ्य बनाय। पर, सभ्य क्या है? इस प्रश्न का न तो एक उत्तर हुआ है और न हो सकता है। 'सभ्य' के सदभ मे सस्कृति की धारणा तभी यथाथ प्रतीत होती है जब 'सभ्य' के साथ साथ 'असभ्य' की भी धारणा बनाई जाय। पर 'असभ्य' की परिभाषा करना उतना ही कठिन है जितना कि 'सभ्य' की। सस्कृति की धारणा का सम्बध है मानव-व्यवहार और उसके उपकरणो से और आज यह स्पष्ट हो चुका है कि मानव व्यवहार, मानव की कुछ आधारभूत दैहिक, शरीरी और मानसिक आवश्यकताओ से उत्पन्न होता है—व आवश्यकतायें जो मनुष्य को आगिक उदविकास की प्रक्रिया की विरासत के रूप मे मिली हैं। ऐसी दशा म यह कहना कठिन है कि कौन सा मानव-व्यवहार 'सभ्य' का प्रतीक है और कौनसा 'असभ्य' का। मानव व्यवहार की भिन्नतायें देश-काल के प्रभावो का

जहा आदिवासी-समाज सस्कृति-सकुन का विवरण प्रस्तुत किया गया है वहा आदिवासीत्व, हिन्दुत्व और यारोपीय सभ्यता के पारस्परिक सघातो और परिणामो का भी विश्लेषण है ।

इतिहास और मानवशास्त्र पर आधारित होते हुए भी, प्रस्तुत अध्ययन न तो ऐतिहासिक है और न मानवशास्त्रीय । प्रस्तुत अध्ययन समाजशास्त्रीय है लेकिन उस अर्थ मे जिसमे डा० के०एम० कपाडिया, डा० रामनारायण सक्सेना, श्री अवधकिशोर सरन और ड्यूमा तथा पोकाक जसे भारतीय तथा विदेशी समाजशास्त्रियो और मानवशास्त्रियो ने भारतीय समाजशास्त्र की विषय-वस्तु का प्रतिपादन किया है । यहा भारतीय समाजशास्त्र मे एक नव अकुरित मत को एक विस्तृत अध्ययन का रूप देने का प्रयास किया गया है और इसका आधार है भारतीय-सस्कृति के गत्यात्मक उद्विकास की सामाजिक ऐतिहासिक व्याख्या । यह अध्ययन एक ऐसा स्वतन्त्र अध्ययन है जिसका उपयोग एक स्वतन्त्र पुस्तक के रूप मे भी हो सकता है और पाठ्य पुस्तक के रूप मे भी । समाजशास्त्र मानवशास्त्र और इतिहास मे, एक पाठ्य पुस्तक के रूप म इसका उपयोग वहा हो सकता है जहा विद्यार्थियो के अध्ययन का विषय भारतीय सस्कृति और समाज का गत्यात्मक उद्विकास है ।

इस पुस्तक की रचना कई मान्यताओ पर आधारित है पहली हिन्दी मे आज ऐसी पुस्तको की आवश्यकता है जो किसी विश्वविद्यालय या कई विश्वविद्यालयो के पाठ्यक्रमो पर ही न आधारित हो वरन जिनमे सम्बन्धित विषय का स्वतन्त्र तथा विस्तृत प्रतिपादन हो क्योकि किसी भी विषय के पाठ्यक्रम को उस विषय के उत्तरोत्तर विकास का अनुसरण करना है न कि विषय को पाठ्यक्रम का । दूसरी भारतीय समाजशास्त्र मानवशास्त्र और इतिहास के अध्ययनो मे जो विकास हो रहा है और जिसकी अभिव्यक्ति अग्रेजी मे हो रही है उसे हिन्दी मे लाना है क्योकि आज अधिकाधिक विद्यार्थियो के पठनपाठन का माध्यम हिन्दी हो गई है । तीसरी सामाजिक विषयो को हिन्दी मे आज इस ढग से व्यक्त करने की आवश्यकता है कि वे विश्वविद्यालयो के विभागो की चहारदीवारी से निकलकर पढे लिखे जनसाधारण तक भी पहुच सकें । इन मान्यताओं मे निहित उद्देश्यो की पूर्ति इस अध्ययन से कहा तक होती है, इसका निर्णय पाठको और सहृदय समीक्षको के पास है, लेखक के पास नही । लेखक उन सभी विद्वानो का आभारी है जिनके अध्ययनो और कृतियो से इस अध्ययन को प्रस्तुत करने म सहायता मिली है ।

समाजशास्त्र विभाग,
डी० ए० वी० कालेज,
देहरादून
फरवरी १३ १९६७

— गौरीशंकर भट्ट

सस्कृति

सस्कृति समाजशास्त्रीय व्याख्या

सस्कृति का समाजशास्त्रीय अथ जनसाधारण मे प्रचलित अथ से भिन्न है। जनसाधारण मे प्रचलित, सामान्य अथ मे, सस्कृति प्रतीक है मानव-व्यवहार के उन उपकरणो की जो मानव को सभ्य बनायें। पर, सभ्य क्या है ? इस प्रश्न का न तो एक उत्तर हुआ है और न हो सकता है। 'सभ्य' के सदभ मे सस्कृति की धारणा तभी यथाथ प्रतीत होती है जब 'सभ्य' के साथ साथ 'असभ्य' की भी धारणा बनाई जाय। पर 'असभ्य' की परिभाषा करना उतना ही कठिन है जितना कि 'सभ्य' की। सस्कृति की धारणा का सम्बन्ध है मानव-व्यवहार और उसके उपकरणो से और आज यह स्पष्ट हो चुका है कि मानव व्यवहार, मानव की कुछ आधारभूत दैहिक शरीरी और मानसिक आवश्यकताओ से उत्पन्न होता है—वे आवश्यकतायें जो मनुष्य को प्राणिक उदविकास की प्रक्रिया की विरासत के रूप मे मिली हैं। ऐसी दशा मे यह कहना कठिन है कि कौन सा मानव-व्यवहार 'सभ्य' का प्रतीक है और कौनसा 'असभ्य' का। मानव व्यवहार की भिन्नतायें देश-काल के प्रभावो का

परिणाम हैं। सभी प्रकार के मानव व्यवहार के उदगम स्रोत और उनके उद्देश्य समान है। विवाह और परिवार के जो उद्देश्य और उदगम स्रोत योरोप में हैं वही भारत में भी। उनमें जो भिन्नतायें हैं वे देश काल के परिसीमन का परिणाम हैं। ऐसी दशा में संस्कृति के संदर्भ में, 'सभ्य तथा 'असभ्य और उच्च' तथा 'निम्न' की मान्यतायें स्वतः निर्मूल हो जाती है। न कोई संस्कृति उच्च है न निम्न, न कोई संस्कृति सभ्य है और न कोई असभ्य।

समाजशास्त्रीय संदर्भ में संस्कृति का अर्थ सुसंस्कृत भी नहीं है क्योंकि जिस प्रकार यह कहना कठिन है कि 'सभ्य' क्या है, उसी प्रकार यह भी निर्धारित करना कठिन है कि सुसंस्कृत क्या है। सभी प्राणियों में संस्कृति निर्माण की क्षमता केवल मनुष्य में है और यही क्षमता मानव को मानवेतर प्राणियों से भिन्न करती है[1]। अतः, मानव व्यवहार सुसंस्कृत है और सुसंस्कृत होने के नाते ही मानव मानवेतर प्राणियों से भिन्न है। सुसंस्कृत शब्द का यदि प्रयोग किया भी जा सकता है तो केवल मानवमात्र के व्यवहार के लिए क्योंकि अन्य प्राणियों की अपेक्षा केवल मानव ही संस्कृतिवान अथवा सुसंस्कृत है। समान आधारभूत दैहिक तथा मानसिक क्षमताओं के कारण ही सभी स्थान और कालों में मनुष्य ने संस्कृति का निर्माण किया है और देश काल की भिन्नताओं ने इस संसार के सांस्कृतिक वैचित्र्य को जन्म दिया है—वह वैचित्र्य जिसके आधार और पृष्ठभूमि समान हैं और जिसकी अनेकता में एकता और एकता में अनेकता समायी हुई है। इसी कारण समाजशास्त्र में यदि एक ओर सामान्य संस्कृति की धारणा है तो, दूसरी ओर, संस्कृति विशेष की। देश काल की विशेष सीमाओं और सामाजिक सम्बन्धों के जाल में बंधने पर ही मानव संस्कृति संस्कृति विशेष का रूप ग्रहण करती है। भारतीय, अमरीकी, चीनी, जापानी और योरोपीय संस्कृतियां विशेष संस्कृतियां हैं और मानव संस्कृति की अनेकता की परिचायक हैं। शुद्ध संस्कृति की कल्पना उसी प्रकार से आकाश कुसुम की कल्पना के समान है जिस प्रकार शुद्ध प्रजाति की कल्पना। देश काल की सीमाओं में बंधी हुयी विशेष संस्कृतियों के पारस्परिक आदान प्रदान और समान आधारों में ही, मानव की

1 इसका तात्पर्य यह नहीं कि मानव की संस्कृति निर्माण की क्षमता किसी मूलप्रवृत्ति पर आधारित है। मानव उसी प्रकार संस्कृति का निर्माण नहीं करता है जिस प्रकार मकड़ी जाले का। संस्कृति के कारक अंशतः दैहिक अंशतः मानसिक और अंशतः ऐतिहासिक हैं। समाजशास्त्री आधारभूत क्षमता और मूलप्रवृत्ति को अलग-अलग मानते हैं। मानव व्यवहार इतना विचरणशील है और उस पर संस्कृति तथा सीखने का इतना प्रभाव है कि समाजशास्त्री यह मानते हैं कि मूलप्रवृत्ति का सिद्धान्त मानवेतर प्राणियों के व्यवहार को तो स्पष्ट कर सकता है पर मानव का नहीं।

संस्कृत का स्तर प्रदान करने वाली मानव संस्कृति समायी हुयी है। संस्कृति उतनी ही शाश्वत और चिरन्तन है जितना कि स्वयं मनुष्य।

भारतीय संस्कृत साहित्य और अन्य देशों के दर्शनों में प्रतिपादित संस्कृति की धारणा में सुसंस्कृत का भाव ही प्रमुख है। कल्याण के 'हिन्दू संस्कृति अंक' के बीसवें पृष्ठ पर संस्कृति शब्द की व्याख्या करते हुए संस्कृति को 'भूषणभूत सम्यक् कृति या चेष्टा' कहा गया है। मानव सम्यक्-असम्यक् चेष्टायें करने में समर्थ है, इसी कारण मानव में संस्कृति निर्माण की क्षमता भी है। भूषणभूत सम्यक् चेष्टायें मानव व्यवहार के वे प्रेरक कारक हैं जिनसे 'मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख शान्ति प्राप्त करे' या जो 'मनुष्य की आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल हो।' 'संक्षेप में कहा जा सकता है कि मनुष्य के लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार विचार ही संस्कृति है।' इसमें कोई सन्देह नहीं कि मानव-व्यवहार और उसका प्रत्यय पक्ष संस्कृति से इस प्रकार परिवेष्टित है कि संस्कृति के ही माध्यम से मानव के लौकिक-पारलौकिक स्वत्व और अस्तित्व को प्रथमतः अभिव्यक्ति और मान्यता मिलती है और इसी माध्यम से उसके सुख शान्ति की भी परिभाषा होती है। यह भी निर्विवाद है कि संस्कृति के द्वारा निर्धारित संस्कारों के माध्यम से ही मानव का सामाजीकरण और मानवीकरण होता है। फिर भी, इस प्रकार की धारणाओं से यह शंका उठती है कि आखिर लौकिक पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार विचार उत्पन्न करने वाली चेष्टायें क्या हैं? यह शंका उतनी ही गहन और समाधान से परे है जितनी कि ईश्वर के अस्तित्व सम्बन्धी शंका। 'भूषणभूत सम्यक् चेष्टाओं' का निरपेक्ष निर्धारण वस्तुतः असम्भव है क्योंकि जो कुछ भारत के लिये 'सम्यक् चेष्टा' है वह योरोप के लिए असम्यक् हो सकती है। अतः, ऐसी परिभाषायें और धारणायें मानव-व्यवहार के विश्लेषण के उस स्तर पर बेकार सिद्ध होती हैं जहाँ धारणाओं का मानव-व्यवहार के निरीक्षण और तज्जनित अनुभूति पर आधारित किया जाता है और सारा विश्लेषण सापेक्ष तर्कों पर आधारित रहता है। मानव व्यवहार सम्बन्धी सन्दर्भों में और सार्वभौमिक निरपेक्ष चेष्टाओं का निर्धारण सामाजिक शास्त्रों की वह समस्या है जिसका निराकरण सम्भवतः इन शास्त्रों के पास नहीं है और न होगा क्योंकि इनकी विषय वस्तु—मानव और उसकी व्यावहारिक समानताओं तथा असमानताओं की वास्तविकता—निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है।

परिभाषायें

संस्कृति को परिभाषा के घेरे में बाँधने का सर्वप्रथम प्रयत्न इंगलैण्ड के मानवशास्त्री ई० बी० टायलर (E B Tylor) ने सन् अठारह सौ चौहत्तर ई० में किया था। उनके अनुसार "संस्कृति अथवा सभ्यता वह जटिल इकाई है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नीति, विधि, रूढ़ि और किसी भी अन्य क्षमता तथा अभ्यास (आदत) का समावेश रहता है जो मनुष्य,

समाज का सदस्य होने के नाते, ग्रहण करता है'। संस्कृति और सभ्यता को टाइलर ने एक ही श्रेणी में रक्खा है और आज भी अधिकतर मानवशास्त्री दोनों को एक ही प्रमेय मानते हैं जबकि समाजशास्त्री संस्कृति और सभ्यता को अलग अलग दो विशिष्ट प्रमेय मानते हैं। टाइलर ने समाज और संस्कृति को दो अलग अलग प्रमेय माने हैं। टाइलर की इस मान्यता को आज सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार कर लिया गया है। इस मान्यता के अनुसार संस्कृति से तात्पर्य है मानव व्यवहार सम्बन्धी उस प्रमेय से जो किसी समूह विशेष या मानवमात्र के जीवनयापन का आधार हो— वह आधार जो परम्परात्मक तथा रूढ़िगत होता है जो पीढ़ी दर पीढ़ी चला करता है जिसमे इतिहास समाया रहता है तथा जिसमे भूत लीन रहता है, वर्तमान अपने यथार्थ रूप में विद्यमान रहता है और भविष्य का आरोहण अंकुरित हुआ करता है। समाज से तात्पर्य लिया जाता है सामाजिक सम्बन्धों के उस जाल से जो किसी विशिष्ट मानव समूह या मानवमात्र में पाया जाता है। समाज संस्कृति मे समाया रहता है और संस्कृति समाज मे। समाज संस्कृति के स्वत्व अस्तित्व और कालगत प्रसरण का मुख्य माध्यम है और संस्कृति के ही कारण समाज को विशिष्टता मिलती है क्योंकि सामाजिक सम्बन्ध, संस्कृति द्वारा ही परिभाषित होते हैं। इसी कारण, लोवी (Lowie) और लिण्टन (Linton) ने संस्कृति को सामाजिक आनुवंशिकता या विरासत (Social Heredity) कहा है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि सर्वप्रथम संस्कृति मानव व्यवहार की वह विरासत है जो मानव को समाज से समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त होती है—वह विरासत जिसे मानव अस्वीकार भी नहीं कर सकता।

मानवशास्त्रियों के एक अन्य सम्प्रदाय के अनुसार, सामाजिक विरासत की वास्तविकता मुख्यतया मानसिक (Psychical) है क्योंकि यह वास्तविकता वस्तुतः व्यक्ति के मस्तिष्क मे समायी रहती है और मानव-व्यवहार मे प्रतीकों के रूप मे अवतरित होती है। मानव की विचार प्रक्रियायें, आदर्श और अर्हायें संस्कृति का एक मुख्य आधार हैं। सम्भवतः इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुए लेसलह्वाइट (Leslie White) ने संस्कृति को क्रियाओं (Acts), पदार्थों (Objects) और विचारों (Ideas) तथा भावनाओं (Sentiments) का वह जटिल संगठन माना है जिसका अस्तित्व प्रतीकों में निहित रहता है और यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि संस्कृति एक प्रकार की प्रतीकात्मक (Symbolic) अनवरत (सिलसिलेवार Continuous) संचयी (Cumulative) और प्रगतिशील (Progressive) प्रक्रिया है। लेसलेह्वाइट (Leslie White) की परिभाषा में एक ओर संस्कृति के मानसिक पक्ष पर जोर है तो दूसरी ओर उसकी प्रतीकात्मक वास्तविकता और ऐतिहासिकता पर।

संस्कृति के मानसिक और ऐतिहासिक पक्षों को आधार बनाते हुए क्लाइड क्लूखोन (Clyde Kluckhohn) ने यह प्रतिपादित किया है कि संस्कृति की आत्मा

वस्तुत समायी रहती है उन सभी आवल्पनाओ (Designs) म जो मानव व्यवहार का नेतत्व करती है, जिनका ज म ऐतिहासिक प्रक्रियाओं मे होता है और जो स्पष्ट भी होती है और अस्पष्ट भी, युक्तियुक्त भी होती हैं और अयुक्तिक भी। मानव-व्यवहार का नेतत्व करने वाली आवल्पनाए प्रणाली सवद्ध होती हैं और उनकी उत्पत्ति अशत पर्यावरण, अशत ऐतिहासिक प्रक्रिया और अशत मानव की आधारभूत दैहिक तथा मानसिक आवश्यकताओ के घात प्रतिघात के कारण होती ह। जीवन यापन का नेतत्व करने वाली आवल्पनायें, एक ओर, मानवमात्र मे पायी जाती है और दूसरी ओर, देश काल की सीमाओ स घिरे विशिष्ट मानव समूह (या समूहो) मे जिसे (जिन्ह) समाज (अथवा समाजो) की सज्ञा दी जाती ह।

क्रोबर (Kroeber) द्वारा प्रतिपादित धारणा मे सस्कति के अखण्ड, सचयी प्रक्रिया पक्ष पर ही जोर दिया गया है। क्रोबर के अनुसार, सस्कृति मानव-व्यवहार का अपने म समेट हुए एक सतति (Continuum) है, जिसकी व्यक्ति (Individual) और जीव (Organism) से परे एक अलग स्वतत्र सत्ता है। सस्कति वस्तुत एक अमर प्रवाह है—वह प्रवाह जिसकी सीमायें आदि और भावी इतिहास म निहित हैं, जिसकी गत्यात्मकता स व्यष्टि समष्टि, परिवतन, स्थायित्व तथा ऐतिहासिक घटनाओ का निर्माण होता है और जो व्यक्तियो तथा उनके मध्य से अथवा बाहर से आयी हुयी लहरो (तत्वो) को आत्मसात करता हुआ आगे बढता रहता है। मानव सस्कति अमर है। उसके अग (सस्कति विशेष) विशृखलित हो सकते हैं पर लुप्त नही। हडप्पा तथा मोहनजोदडो और मेसापोटामिया तथा मिश्र की प्राचीन सस्कतिया विशृ खलित हो गयी हैं पर मानव सस्कति म उनके योगदान अमर हैं क्योकि आखिरकार मानव सस्कति मनुष्य की सामाजिक विरासत है।

अपने वास्तविक रूप मे सस्कृति वस्तुत वह उपकरण है जिसके द्वारा मनुष्य प्रकृति के साथ अपना सामञ्जस्य और अनुकूलन स्थापित करता रहा है। प्राकृतिक पर्यावरण के साथ चलने वाले सहयोग और सघर्ष मे ही मानव सस्कृति का निर्माण करता है और इसी कारण, सस्कृति पर प्राकृतिक पर्यावरण की छाप रहती है। मनुष्य पर्यावरण का न तो दास है और न स्वामी ही। वह पर्यावरण को अपने अनुकूल बनाने के लिए निरन्तर प्रयास करता रहता है। इसी दृष्टिकोण से, यह कहा गया ह कि सस्कृति पर्यावरण का वह भाग है जिसका निर्माण स्वय मनुष्य ने किया है। मलिनोस्की (Malinowski) के उपयोगितावादी दृष्टिकोण से सस्कृति वह यन्त्र (Apparatus) है जिसके द्वारा मानव अपनी शरीरी आवश्यकताओ (Organic Needs) का पूरा करता है। भूख-प्यास, सरक्षण और काम तृप्ति व प्राथमिक आवश्यकतायें हैं जिनकी पूर्ति और सन्तुष्टि के प्रयास म द्वितीयक आवश्यकताओ का जन्म होता है। ये आवश्यकतायें सार्वभौमिक हैं, अतएव, सस्कृति भी सार्वभौमिक है। इन आवश्यकताओ की पूर्ति के प्रयास म ही सस्थाओ का

जन्म होता है, जिनके द्वारा मानव व्यवहार के आन्तरिक मापदण्ड निर्धारित होते हैं। अतः, इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि प्राथमिक तथा द्वितीयक आवश्यकताओं की तुष्टि के प्रयास में निर्मित संस्थाओं की पारस्परिक सम्बन्ध प्रणाली ही संस्कृति है[1]।

यह दृष्टिकोण इतना उपयोगितावादी है कि विश्लेषण के स्तर पर इसकी सोद्देश्यता नष्ट होने का डर रहता है क्योंकि संस्कृति का प्रत्येक तत्व और उपकरण उतना उपयोगी नहीं है जितना कि इस मत में मान लिया गया है। संस्कृति तर्क पर आधारित है और अतर्क पर भी। बहुत से ऐसे तत्व हैं जिनकी उपयोगिता ढूंढ निकालना कठिन है। दूसरी ओर, इस मत से यह नहीं स्पष्ट होता है कि संस्थाओं के सम्बन्ध जाल का सुगठित रूप और विशिष्टता कहां से मिलती है और जो कुछ भी विशिष्टता एक बार मिल जाती है वह परिवर्तन प्रक्रिया में किस प्रकार स्थायी रहती है? इन प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर तभी मिल सकता है जब सैद्धांतिक रूप से यह मान लिया जाय कि संस्कृति एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है—वह प्रक्रिया जो सांस्कृतिक आदर्शों तथा मूल्यों (Ideals and Values) को जन्म देती है और उनसे प्रभावित भी होती रहती है। यहां पर यह समझना भूल होगी कि उपयोगितावादी दृष्टिकोण निराधार है। संस्कृति से आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। अतएव, वह उपयोगी है। हां यह अवश्य है कि संस्कृति की वास्तविकता उपयोगिता तक ही सीमित नहीं है। उपयोगी होने के साथ साथ संस्कृति कुछ और भी है।

संस्कृति जैसे जटिल प्रत्यय को परिभाषा की सीमा में बांधने का प्रयास वस्तुतः गागर में सागर भरने के समान है। सम्भवतः इसी कारण आज तक न तो कोई परिभाषा पूर्ण उतरी है और न सर्वमान्य ही हो सकी है। इसी कारण, संस्कृति के तत्वों और आकार को निर्धारित करके, उसके सांगोपांग रूप को समझने का प्रयास किया गया है क्योंकि संस्कृतिविषयक सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि संस्कृति के रूप, आकार और आत्मा क्यों किस प्रकार और क्रम से उत्पन्न, पल्लवित, पुष्पित और पालित पोषित होते रहते हैं? आगबर्न (Ogburn) द्वारा यह निर्धारित करने का प्रयास कि संस्कृति की आत्मा उसके पार्थिव (Material) और अपार्थिव (Non material) पक्षों के पारस्परिक गठन में समायी रहती है इसी दिशा में उठा हुआ एक कदम है। साधारणतौर पर संस्कृति पार्थिव और अपार्थिव पहलुओं में बटी हुयी दिखायी पड़ती है यद्यपि यह विभाजन उतना स्पष्ट नहीं है जितना कि आगबर्न ने उसे मान लिया है। यह कहना सरल है कि पार्थिव वह है जो भौतिक है, जड़ है, जिसे स्पर्श दृष्टि और श्रवण से जाना जा सकता है और जो कुछ अमूर्त अलभ्य और भावनाओं

संस्कृति पार्थिव अपार्थिव

---

1 मलिनाउस्की बी० ए साइंटिफिक थ्योरी आफ कल्चर

आदर्शों तथा अर्हाओं से सम्बन्धित है, वह अपार्थिव है। पर संस्कृति के सर्वांगीण गठन में, पार्थिव में अपार्थिव का पुट रहता है और अपार्थिव में पार्थिव का। संस्कृति-गठन में पार्थिव-अपार्थिव का सम्मिश्रण इतना प्रगाढ़ होता है कि यह कहना कठिन है कि पार्थिव अपार्थिव कहाँ से प्रारम्भ होते है, या कहाँ उनका अन्त होता है या कहाँ वे एक दूसरे को स्थान देते हैं। यह निर्धारित करना कठिन है कि मन्दिर, मस्जिद और चर्च में कितना पार्थिव है और कितना अपार्थिव। संस्कृति के पार्थिव और अपार्थिव पक्षों में स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना कठिन है और यही इस मत की सबसे बड़ी कठिनाई और कमजोरी है। पार्थिव अपार्थिव की धारणाओं से न तो संस्कृति के रूप का पता चलता है और न उसकी आत्मा का क्योंकि संस्कृति पार्थिव-अपार्थिव का योग न होकर, उनके प्रगाढ़ सम्मिलन से उत्पन्न एक प्रवाहयुक्त प्रणाली है—वह प्रणाली जिसके तत्वों को उनके संदर्भ से अलग करते ही उनका वास्तविक महत्त्व और स्वत्व अर्थहीन हो जाता है। इस दृष्टिकोण से संस्कृति का पार्थिव-अपार्थिव पक्षों में धारणात्मक विभाजन अतार्किक सा लगता है। यह इस धारणा की ही कमजोरी है कि इस पर आधारित सामाजिक परिवर्तन का सांस्कृतिक विलम्बन (Cultural Lag) वाला सिद्धान्त तर्क की कसौटी पर खरा न उतर सका[1]। इस विषय में आज केवल इतना ही मान्य है कि संस्कृति के पार्थिव अपार्थिव पहलू अकाट्य वास्तविकता है किन्तु उनके अलग अलग आधार पर कोई भी उपयोगी, विश्लेषणात्मक उपकरण (Useful Analytical Tool) गढ़ना कठिन है क्योंकि व्यवहार में पार्थिव अपार्थिव का अन्तर समाप्त हो जाता है।

प्रसरणवादी दृष्टिकोण

अमरीकी प्रसरणवादियों (Diffusionists) ने संस्कृति क्षेत्र (Culture Area) की धारणा के द्वारा संस्कृति के रूप और आकार को समझने का प्रयास किया है। संस्कृति-क्षेत्र की धारणा इंगलैंड और जर्मनी की प्रसरणवादी धारणाओं की उत्पत्ति है। जर्मन प्रसरणवादियों ने मानव-संस्कृति के विशेष तत्वों का निर्धारित करके, उनके आधार पर, मानव संस्कृति को कुछ विशुद्ध संस्कृति क्षेत्रों में बाटने का प्रयास किया है क्योंकि इनकी मान्यता के अनुसार इस पृथ्वी पर सर्वप्रथम कुछ विशिष्ट, विशुद्ध और सजातीय संस्कृतियों का जन्म हुआ और बाद में उनके मिश्रण से वर्तमान मानव संस्कृति का। इनके अनुसार, वर्तमान मानव-संस्कृति के आधार हैं कुछ निश्चित तत्व संकुल (Trait Complexes) जो विभिन्न स्थानों में उत्पन्न होकर प्रसरित और मिश्रित हुए हैं। इनके मतानुसार, यदि दो संस्कृतियों के तत्वों में साम्य है तो वह इस बात का प्रमाण है कि समान तत्व वाली संस्कृतियों ने एक ही तत्व-संकुल से समान तत्व ग्रहण किये हैं। इस प्रकार, जर्मनी के प्रसरणवादियों के

---

1 मैकाइवर एण्ड पेज सोसायटी पृष्ठ 574 575

अनुसार तत्व सकुल के निर्धारण से ही सस्कृति को समझा जा सकता है। जर्मन भाषा म तत्व सकुल के लिए कुल्टूरक्रीज (Kulturkreı e) शब्द का प्रयोग किया गया है। इस कारण, इस मत के अनुयाइयो को कुल्टूरक्रीज सम्प्रदाय भी कहा गया है। इसके विपरीत, इगलड के प्रसरणवादियो ने वतमान मानव सस्कृति का एक ही उदगम स्रोत (मिस्र) मानकर, वतमान मानव सस्कृति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इन दोनो मतो की तीव्र आलोचना इस आधार पर की गयी है कि इनके अनुयाइयो ने विभिन्न सस्कृतियो के समान तत्वो को उनके सदर्भों से निकाल कर उन्हें अलग एक स्तर पर रक्खा। ऐसा करना अशास्त्रीय है क्योकि, जसा पहले कहा जा चुका है किसी भी सस्कृति तत्व का वास्तविक महत्व और स्वरूप उसके सदभ मे है। अपने सदर्भ से अलग, सस्कृति तत्व वस्तुत उस पुरजे के समान है जिसे मशीन से अलग कर दिया गया हो।

अमरीकी प्रसरणवादियो ने प्रसरण के सिद्धान्त को मानते हुए इस बात पर जोर दिया कि केवल सस्कृति साम्य ही प्रसरण का प्रतीक नही हैं। प्रसरण को निर्धारित करने के लिए यथेष्ट प्रमाणों की आवश्यकता है और वे प्रमाण तभी निर्धारित किये जा सकते हैं जब सस्कृति, उसके तत्वो और तत्व सकुलो के भौगोलिक प्रसरण का निरीक्षण करके, प्रसरण क्षेत्र को निर्धारित किया जाय। किसी भी सस्कृति विशेष का भौगोलिक प्रसार-क्षेत्र, उसका सस्कृति क्षेत्र है। जिस स्थान अथवा क्षेत्र म उस सस्कृति के प्रमुख तत्वो या तत्व सकुलो का सबसे अधिक केन्द्रीकरण होता है, वह उसका भौगोलिक सस्कृति केन्द्र (Geographical Culture Centre) है। केन्द्र की अपेक्षा, परिधि पर तत्वो या तत्व सकुलो का केन्द्रीकरण अपेक्षाकृत कम हो जाता है और वहा सजातीयता की अपेक्षा विजातीयता अधिक पायी जाती है। प्रत्येक सस्कृति क्षेत्र की परिधि, किसी दूसरे सस्कृति-क्षेत्र से मिलती है इस कारण, सस्कृति क्षेत्र की परिधियो की सीमा म मिश्रित सस्कृतिया पनपा करती हैं। इस प्रकार, सस्कृति क्षेत्र की धारणा, एक ओर, सस्कृति विशेष के अध्ययन का उपकरण है तो, दूसरी ओर, विभिन्न सस्कृतियो के वर्गीकरण का एक प्रयास है—वह प्रयास जिसकी सफलता ध्यानाकर्षक होने के साथ साथ सन्देहास्पद रही है।

इस धारणा का जन्म और पालन पोषण अमरीका के उन सग्रहालयो म हुआ था जहा अमरीकी आदिवासियो के सास्कृतिक उपकरणो का वर्गीकृत करके उनके भौगोलिक प्रसरण के दिग्दर्शन की समस्या का हल ढूढना था। इस धारणा के सम्बन्ध मे कई शकायें की गयी हैं जिनका समाधान नहीं हो पाया है। प्रथम, सस्कृति-तत्व या तत्व-सकुल समानरूप से चारो ओर प्रसरित नही होते हैं, अतएव, सस्कृति क्षेत्र की धारणा ही अनुपयुक्त लगती है। दूसरे, यह भी निर्धारित करना कठिन है कि किसी भी सस्कृति का प्रमुख तत्व या तत्व-सकुल क्या है? यदि उनका निर्धारण हो भी जाय तो यह निश्चित करना कठिन हो जायगा कि किन तत्वो या तत्व सकुलो के आधार

पर क्षेत्र का निर्धारण किया जाय। इसी कारण, अमरीका में, विशेषत वहां के आदिवासी क्षेत्रों में, संस्कृति क्षेत्रों की संख्या पर मतैक्य नहीं पाया जाता है। मिश्रित तत्व संकुल वर्गीकरण की वह जटिल समस्यायें उत्पन्न करते हैं जिनका हल ढूंढना मुश्किल हो जाता है। तीसरे, इस धारणा में यह मान लिया गया है कि संस्कृति-तत्वों या तत्व संकुलों से किसी भी संस्कृति का समझा जा सकता है। इस धारणा के आधार पर अमरीका में जितने भी अध्ययन हुए हैं उनमें किसी भी संस्कृति का वर्णन करने के लिए केवल उस संस्कृति के तत्वों की तालिका बनाने पर ही ध्यान दिया गया है। पर, कोई भी संस्कृति अपने तत्वों की तालिकामात्र ही नहीं है और न वह उसका योग है। *किसी भी संस्कृति की आत्मा अपने तत्वों के पारस्परिक सामंजस्य में समायी रहती है, न कि उनकी तालिका में*[1]।

संस्कृति क्षेत्र की धारणा का जन्म संग्रहालयों में हुआ था और वहीं इसका सबसे अधिक प्रयोग भी किया गया है। सैद्धान्तिक स्तर पर इस धारणा के कुछ योगदान हैं जिनसे संस्कृति को समझने में सहायता मिली है और जिनके कारण संस्कृति को एक धारणात्मक उपकरण (Conceptual Tool) बनाने की दिशा में प्रयास हुए हैं और हो रहे हैं। प्रथम, संस्कृति क्षेत्र एक आनुभविक वास्तविकता है जिसका निर्धारण किया जा सकता है यद्यपि उसके निर्धारण में मतैक्य लाना बड़ा मुश्किल है क्योंकि संस्कृति-क्षेत्र के निर्धारण के आधार एक नहीं अनेक हो सकते हैं। इस विषय पर, अमरीकी मानवशास्त्रियों के वाद विवाद इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। भारत में, भाषा के आधार पर संस्कृति-क्षेत्रों का निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है पर यह निर्धारण न तो पूर्ण है और न अंतिम। भाषा या बोली के आधार पर नए प्रान्तों की मांग इस बात का प्रमाण है कि यह निर्धारण पूर्ण नहीं है। यदि मकान बनाने विधि या वैवाहिक रीतियों के आधार पर संस्कृति क्षेत्र बनाए जाय तो वे वर्तमान भाषाधार प्रान्तों से भिन्न होंगे। अत, संस्कृति क्षेत्र एक ऐसी धारणा है जिसको कई पहलुओं में देखा जा सकता है और आवश्यकतानुसार इसका प्रयोग किया जा सकता है। दूसरे, संस्कृति क्षेत्र की धारणा के प्रमुख आधार संस्कृति तत्व (Culture Traits) अथवा तत्व-संकुल (Trait Complex) की धारणाओं का संस्कृति क्षेत्र की धारणा की अपेक्षा अधिक प्रयोग किया गया है और आज भी किया जा रहा है।

संस्कृति-तत्व (Culture Trait) संस्कृति के वे अंश, उपादान या उपकरण हैं, जिनसे मिलकर संस्कृति बनती है, जो संस्कृति की अविकलतम छोटी इकाई होते हैं, जो पार्थिव भी होते हैं और अपार्थिव भी और, जिन्हें संस्कृति विश्लेषण के लिए, अलग अलग किया जा सकता है? पर यहाँ प्रश्न उठता है कि संस्कृति की अविकलतम छोटी इकाई है क्या? उदाहरण के लिए खान का कमरा मकान की इकाई है। पर,

---

1 हर्सकोविट्स, एम० जे० मन एण्ड हिज वर्क्स अध्याय 11

मेज कुर्सी, अल्मारी उसकी अलग अलग इकाइयां है जिनकी अधिकतम छोटी इकाई नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उनमे अपनी स्वयं की इकाइयां विद्यमान है। अत, संस्कृति तत्व का निर्धारण अध्ययनकर्ता, उसकी समस्या और दृष्टिकोण पर निर्भर है। पार्थिव तत्वों का निर्धारण और निरूपण अपार्थिव तत्वों की अपेक्षा अधिक सरल है, जिसके कारण तत्व निर्धारण की कठिनाइ और भी बढ जाती है क्योंकि पार्थिव और अपार्थिव एक ही मे मिल रहते है। तीसरे जैसाकि खाने के नमूने के उदाहरण से स्पष्ट है संस्कृति के तत्व (Traits) का अर्थपूर्ण अस्तित्व अन्य तत्वों के सहारा मे ही होता है। ऐसे ही तत्व समूहों मे जो इकाइयां बनती हैं उन्हें तत्व संकुल (Trait Complex) कहा जाता है। मकान, विवाह पूजा पद्धतियां तत्व संकुल हैं। प्रत्येक संस्कृति, कई तत्व संकुलों से बना हुआ एक विशिष्ट संकुल है जिसे संस्कृति संकुल (Culture Complex) की धारणा से व्यक्त किया जाता है। चौथे संकुल, तत्वों से बना योग मात्र नहीं है। संकुल वस्तुत वह सामञ्जस्ययुक्त प्रणाली है जो तत्वों के बीच मे पाई जाती है। प्रसरण होना अवश्य है पर वास्तविक प्रसरण वहीं है जहा बाहर से लिया हुआ तत्व आत्मसात कर लिया जाता है। वास्तव मे, संकुल बनता तभी है जब कई तत्व एक प्रणाली मे एकाकार हो जाते है। भारत की हिन्दू पूजा पद्धति मे, आगम निगम और आर्यों की हवन तथा द्राविडो की पुष्पार्पण पद्धतियों का एक प्रणाली मे एकीकृत होना इसका उदाहरण है। यही एकीकरण की प्रवृत्ति, मोवर की मान्यता मे संस्कृति का आन्तरिक बहाव (Inherent Drift of Culture) है और कूले (Cooley) की मान्यता मे सांस्कृतिगत समनुगति की प्रवृत्ति (Strain of Coherency) है जिसके कारण संस्कृति मे एकात्मकता बनी रहती है। प्रत्येक संस्कृति बाह्य तत्वों को आत्मसात कर लेती है और अपने सभी तत्वों को एक में पिरोए रहती है। इसी प्रवाह मे संस्कृति की आत्मा है और इसी मे संस्कृति की एकीकरण (Integration) की प्रवृत्ति।

अत संस्कृति की वास्तविकता एक सुगठित व्यवहार इकाई की सामाजिक वास्तविकता है, जो जटिल है जिसके तत्वों मे अपनी निजी प्रणाली, तारतम्य,

संस्कृति-कलाप प्रवृत्ति या प्रवाह पाया जाता है जो मानव-व्यवहार का परिवेष्टित किए रहती है जो अपना कार्य भी है और कारण भी, जो परम्परागत है तथा व्यक्ति और समष्टि दोनों को अपने मे समेटे हुए है जिसकी उत्पत्ति अनन्त दैहिक, अनन्त मानसिक और अनन्त पर्यावरिक (Environmental) कारकों से हुई है और जिसका अस्तित्व और स्थायित्व, एक ओर भौगोलिक है तो दूसरी ओर, कालगत (Temporal) और ऐतिहासिक। जिन मानवशास्त्रियों पर मनोविज्ञान का प्रबल प्रभाव है या रहा है उन्होंने इस इकाई की वास्तविकता को मुख्यत मानसिक (Psychical) माना है और इस बात पर जोर दिया है कि संस्कृति का स्वरूप प्रधानत व्यक्ति मे है, तथा उसमे जो समष्टिकारी तत्व पाए जाते हैं वे व्यक्ति

ने पर संस्कृति की स्वतन्त्र सत्ता के द्योतक नहीं है वरन समान पर्यावरण, अनुभूति, सामाजीकरण, संस्थाओं, अर्हाओं (Values) और आदर्शों (Ideals) के व्यक्ति पर प्रभाव की उत्पत्ति है। इसी दृष्टिकोण से, संस्कृति की परिभाषा करते हुए रुथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) ने कहा है कि संस्कृति वस्तुतः उसी प्रकार एक इकाई है जिस प्रकार व्यक्ति। एक संस्कृति एक व्यक्ति की भांति विचारों और क्रियाओं का लगभग एक संगत कलाप (More or less a consistent pattern of thought and action) होती है। प्रत्येक संस्कृति में कुछ विशिष्ट उद्देश्य (Characteristic Purposes) उत्पन्न हो जाते हैं जिनके सामंजस्ययुक्त, स्थायी एकीकरण से संगत कलाप (Consistent Pattern) उत्पन्न होता है। इन्हीं उद्देश्यों के अनुसार प्रत्येक संस्कृति के अनुवाहक अपनी अनुभूति को निरन्तर संचित एवं समेकित किया करते हैं और इन्हीं उद्देश्यों की आवश्यकताओं के अनुपात में प्रत्येक संस्कृति में बाहर से आए हुए तत्व निरन्तर अधिकाधिक अनुरूप आकार (Congruous Shape) ग्रहण किया करते हैं। प्रत्येक संस्कृति के विशिष्ट उद्देश्यों से मिलकर उस संस्कृति के सदस्यों में, एक प्रधान मनोवृत्ति (Dominant Attitude) बनती है जो उस एकीकरण, विशिष्टता और नैरन्तर्य प्रदान करती है। इसी प्रधान मनोवृत्ति को, किन्हीं किन्हीं मानवशास्त्रियों ने अर्हा (Value) और किसी ने आन्तरिक प्रवृत्ति (Ethos) कहा है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक संस्कृति में अपना एक प्रवाह होता है। यह प्रवाह अनुभवगम्य है। पर, इस प्रवाह का कैसे वर्णन किया जाय और संसार की विभिन्न संस्कृतियों में पाए जाने वाले प्रवाहों में पायी जाने वाली समानताओं तथा असमानताओं को किस प्रकार वर्गीकृत किया जाय और उन्हें किस भाषा में व्यक्त किया जाए यह एक जटिल समस्या रही है और आज भी है। उदाहरण के लिए, यदि यह कहा जाय कि मनमौजी (Happy go-Lucky) मनोवृत्ति किसी संस्कृति के लोगों की प्रधान मनोवृत्ति है तो सबसे बड़ा प्रश्न यह उठता है कि यह मनोवृत्ति है क्या ? और क्या इसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा हो सकती है। रुथ बेनेडिक्ट और मार्ग्रेट मीड जैसे मानवशास्त्रियों की जो आलोचना हुयी है, उसके आधार पर तो यही कहा जा सकता है कि नहीं। वास्तव में, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र और मनोविज्ञान में जिन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होता है वे इतने गुणात्मक हैं कि अलग-अलग संस्कृतियों के सन्दर्भ में उनके अलग अलग अर्थ होते हैं, जिसके कारण, उनकी सर्वमान्य परिभाषा नहीं हो पाती है। और फिर एक यह प्रश्न भी है कि क्या निरीक्षण और अनुभव के आधार पर किसी संस्कृति विशेष की प्रधान मनोवृत्ति को निर्धारित किया जा सकता है ? इसका उत्तर 'हाँ' में भी दिया जा सकता है और 'ना' में भी। 'हाँ' में इसलिए कि कई अध्ययन इस प्रकार किए गए हैं और किए जा रहे हैं और 'ना' इसलिए कि एक ओर इस प्रकार के अध्ययन और निर्धारण में अध्ययनकर्त्ता की मनोवृत्ति का प्रभाव रहता है और दूसरी ओर दो अध्ययनकर्त्ता एक

मेज-कुर्सी, अलमारी उसकी अलग अलग इकाइयाँ हैं जिनको अधिकतम छोटी इकाई नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उनमें अपनी स्वयं की इकाइयाँ विद्यमान है। अत संस्कृति तत्व का निर्धारण अध्ययनकर्ता उसकी समस्या और दृष्टिकोण पर निर्भर है। पार्थिव तत्वों का निर्धारण और निरूपण अपार्थिव तत्वों की अपेक्षा अधिक सरल है जिसके कारण तत्व निर्धारण की कठिनाई और भी बढ़ जाती है क्योंकि पार्थिव और अपार्थिव एक ही में मिले रहते है। तीसरे, जैसाकि खान के कमरे के उदाहरण से स्पष्ट है, संस्कृति के तत्व (Traits) का अर्थपूर्ण अस्तित्व अन्य तत्वों के संसर्ग में ही होता है। ऐसे ही तत्व समर्गों से जो इकाइयाँ बनती हैं उन्हें तत्व संकुल (Trait Complex) कहा जाता है। मकान, विवाह, पूजा पद्धतियाँ तत्व संकुल हैं। प्रत्येक संस्कृति कई तत्व संकुलों से बना हुआ एक विशिष्ट संकुल है, जिसे संस्कृति संकुल (Culture Complex) की धारणा से व्यक्त किया जाता है। बीच, संकुल, तत्वों से बना योग मात्र नहीं है। संकुल वस्तुत वह सामञ्जस्ययुक्त प्रणाली है जो तत्वों के बीच में पाई जाती है। प्रसरण होना अवश्य है पर वास्तविक प्रसरण वही है जहाँ बाहर से लिया हुआ तत्व आत्मसात कर लिया जाता है। वास्तव में, संकुल बनता तभी है जब कई तत्व एक प्रणाली में एकाकार हो जाते है। भारत की हिन्दू-पूजा पद्धति में आगम निगम और आर्यों की हवन तथा द्राविड़ों की पुष्पार्पण पद्धतियों का एक प्रणाली में एकीकृत होना इसका उदाहरण है। यही एकीकरण की प्रवृत्ति, क्रोबर की मान्यता में, संस्कृति का आन्तरिक बहाव (Inherent Drift of Culture) है और कूले (Cooley) की मान्यता में संस्कृतिगत समनुगति की प्रवृत्ति (Strain of Coherency) है जिसके कारण संस्कृति में एकात्मकता बनी रहती है। प्रत्येक संस्कृति बाह्य तत्वों को आत्मसात कर लेती है और अपने सभी तत्वों को एक में पिरोए रहती है। इसी प्रवाह में संस्कृति की आत्मा है और इसी में संस्कृति की एकीकरण (Integration) की प्रवृत्ति।

अत संस्कृति की वास्तविकता एक सुगठित व्यवहार इकाई की सामाजिक वास्तविकता है जो जटिल है जिसके तत्वों में अपनी निजी प्रणाली तारतम्य, प्रवृत्ति या प्रवाह पाया जाता है, जो मानव व्यवहार को परिवेष्टित किए रहती है, जो अपना कार्य भी है और कारण भी जो परम्परागत है तथा व्यष्टि और समष्टि दोनों को अपने में समेटे हुए है जिसकी उत्पत्ति अन्तर्गत दैहिक अन्तर्गत मानसिक और अन्तर्गत पर्यावरणिक (Environmental) कारकों से हुई है और जिसका अस्तित्व और स्थायित्व एक ओर, भौगोलिक है तो दूसरी ओर, कालगत (Temporal) और ऐतिहासिक। जिन मानवशास्त्रियों पर मनोविज्ञान का प्रबल प्रभाव है या रहा है उन्होंने इस इकाई की वास्तविकता को मुख्यत मानसिक (Psychical) माना है और इस बात पर जोर दिया है कि संस्कृति का स्वरूप प्रधानत व्यक्ति में है तथा उसमें जो समष्टिकारी तत्व पाए जाते हैं वे व्यक्ति

संस्कृति-कलाप

ने पर संस्कृति की स्वतन्त्र सत्ता के द्योतक नहीं हैं वरन समान पर्यावरण, अनुभूति सामाजीकरण, संस्थाओं, अर्हाओं (Values) और आदर्शों (Ideals) के व्यक्ति पर प्रभाव की उत्पत्ति है। इसी दृष्टिकोण से, संस्कृति की परिभाषा करते हुए रुथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) ने कहा है कि संस्कृति वस्तुतः उसी प्रकार एक इकाई है जिस प्रकार व्यक्ति। एक संस्कृति एक व्यक्ति की भांति विचारों और क्रियाओं का लगभग एक संगत कलाप (More or less a consistent pattern of thought and action) होती है। प्रत्येक संस्कृति में कुछ विशिष्ट उद्देश्य (Characteristic Purposes) उत्पन्न हो जाते हैं जिनके सामंजस्ययुक्त स्थायी एकीकरण से संगत कलाप (Consistent Pattern) उत्पन्न होता है। इन्हीं उद्देश्यों के अनुसार प्रत्येक संस्कृति के अनुवाहक अपनी अनुभूति का निरन्तर संचित एवं समन्वित किया करते हैं और इन्हीं उद्देश्यों की आवश्यकताओं के अनुपात में प्रत्येक संस्कृति में बाहर से आए हुए तत्व निरन्तर अधिकाधिक अनुरूप आकार (Congruous Shape) ग्रहण किया करते हैं। प्रत्येक संस्कृति के विशिष्ट उद्देश्यों से मिलकर उस संस्कृति के सदस्यों में, एक प्रधान मनोवृत्ति (Dominant Attitude) बनती है जो उसे एकीकरण, विशिष्टता और नरन्तर्य प्रदान करती है। इसी प्रधान मनोवृत्ति को, किन्हीं किन्हीं मानवशास्त्रियों ने अर्हा (Value) और किसी ने आन्तरिक प्रवृत्ति (Ethos) कहा है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक संस्कृति में अपना एक प्रवाह होता है। यह प्रवाह अनुभवगम्य है। पर, इस प्रवाह का कैसे वर्णन किया जाय और संसार की विभिन्न संस्कृतियों में पाए जाने वाले प्रवाहों में पायी जाने वाली समानताओं तथा असमानताओं को किस प्रकार वर्गीकृत किया जाय और उन्हें किस भाषा में व्यक्त किया जाए यह एक जटिल समस्या रही है और आज भी है। उदाहरण के लिए, यदि यह कहा जाय कि मनमौजी (Happy go-Lucky) मनोवृत्ति किसी संस्कृति के लोगों की प्रधान मनोवृत्ति है तो सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि यह मनोवृत्ति है क्या? और, क्या इसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा हो सकती है। रुथ बेनेडिक्ट और मार्ग्रेट मीड जैसे मानवशास्त्रियों की जो आलोचना हुयी है, उसके आधार पर तो यही कहा जा सकता है कि नहीं। वास्तव में, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र और मनोविज्ञान में जिन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होता है वे इतने गुणात्मक हैं कि अलग अलग संस्कृतियों के सन्दर्भ में उनके अलग अलग अर्थ होने हैं, जिसके कारण, उनकी सर्वमान्य परिभाषा नहीं हो पाती है। और फिर एक यह प्रश्न भी है कि क्या निरीक्षण और अनुभव के आधार पर किसी संस्कृति विशेष की प्रधान मनोवृत्ति को निर्धारित किया जा सकता है? इसका उत्तर 'हाँ' में भी दिया जा सकता है और 'ना' में भी। हाँ में इसलिए कि कई अध्ययन इस प्रकार किए गए हैं और किए जा रहे हैं और 'ना' इसलिए कि एक ओर इस प्रकार के अध्ययन और निर्धारण में अध्ययनकर्त्ता की मनोवृत्ति का प्रभाव रहता है और दूसरी ओर दो अध्ययनकर्त्ता एक

मे न कुर्सी, अल्मारा उनकी अलग अलग इकाइयाँ है जिनको अविक्तम छोटी इकाई नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उनमें अपनी स्वय की इकाइयाँ विद्यमान है। अत, संस्कृति तत्व का निर्धारण अध्ययनकर्त्ता उसकी समस्या और दृष्टिकोण पर निर्भर है। पार्थिव तत्वों का निर्धारण और निरूपण अपार्थिव तत्वों की अपेक्षा अधिक सरल है जिसके कारण तत्व निर्धारण की कठिनाई और भी बढ़ जाती है क्योंकि पार्थिव और अपार्थिव एक ही में मिले रहते है। तीसरे जैसाकि खाने के कमरे के उदाहरण से स्पष्ट है संस्कृति के तत्व (Traits) का अर्थपूर्ण अस्तित्व अन्य तत्वों के ससर्ग में ही होता है। ऐसे ही तत्व समर्गों से जो इकाइयाँ बनती हैं उन्हें तत्व सकुल (Trait Complex) कहा जाता है। मकान, विवाह, पूजा पद्धतियाँ तत्व सकुल हैं। प्रत्येक संस्कृति, कई तत्व सकुलो से बना हुआ एक विशिष्ट सकुल है जिसे संस्कृति सकुल (Culture Complex) की धारणा से व्यक्त किया जाता है। चौथे, सकुल तत्वों से बना योग मात्र नही है। सकुल वस्तुत वह सामञ्जस्ययुक्त प्रणाली है जो तत्वों के बीच में पाई जाती है। प्रसरण होना अवश्य है पर वास्तविक प्रसरण वही है जहाँ बाहर से लिया हुआ तत्व आत्मसात कर लिया जाता है। वास्तव में, सकुल बनता तभी है जब कई तत्व एक प्रणाली में एकाकार हो जाते है। भारत की हिन्दू पूजा पद्धति में आगम निगम और आर्यों की हवन तथा द्राविडो की पुष्पार्पण पद्धतियों का एक प्रणाली में एकीकृत होना इसका उदाहरण है। यही एकीकरण की प्रवृत्ति, ओबर की मान्यता में, संस्कृति का आन्तरिक बहाव (Inherent Drift of Culture) है और कूले (Cooley) की मान्यता में सांस्कृतिगत समनुगति की प्रवृत्ति (Strain of Coherency) है जिसके कारण संस्कृति में एकात्मकता बनी रहती है। प्रत्येक संस्कृति बाह्य तत्वों को आत्मसात कर लेती है और अपने सभी तत्वों को एक में पिरोए रहती है। इसी प्रकार में संस्कृति की आत्मा है और इसी में संस्कृति की एकीकरण (Integration) की प्रवृत्ति।

अत संस्कृति की वास्तविकता एक सुगठित व्यवहार इकाई की सामाजिक वास्तविकता है जो जटिल है जिसके तत्वों में अपनी निजी प्रणाली तारतम्य

संस्कृति-कलाप प्रवृत्ति या प्रवाह पाया जाता है, जो मानव-व्यवहार का परिवेष्टित किए रहती है, जो अपना कार्य भी है और कारण भी जो परम्परागत है तथा व्यक्ति और समष्टि दोनों को अपने में समेटे हुए है जिसकी उत्पत्ति अन्तत दृष्टि अन्तत मानसिक और अन्तत पर्यावरिक (Environmental) कारकों से हुई है और जिसका अस्तित्व और स्थायित्व एक ओर भौगोलिक है तो, दूसरी ओर कालगत (Temporal) और ऐतिहासिक। जिन मानवशास्त्रियों पर मनोविज्ञान का प्रबल प्रभाव है या रहा है उन्होंने इस इकाई की वास्तविकता को मुख्यत मानसिक (Psychical) माना है और इस बात पर जोर दिया है कि संस्कृति का स्वरूप प्रधानत व्यक्ति में है, तथा उसमें जो समष्टिकारी तत्व पाए जाते हैं वे व्यक्ति

न पर संस्कृति की स्वतंत्र सत्ता के द्योतक नहीं हैं वरन समान पर्यावरण, अनुभूति, सामाजीकरण, संस्थाओं, मूल्यों (Values) और आदर्शों (Ideals) के व्यक्ति पर प्रभाव की उत्पत्ति हैं। इसी दृष्टिकोण से, संस्कृति की परिभाषा करते हुए रुथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) ने कहा है कि संस्कृति वस्तुतः उसी प्रकार एक इकाई है जिस प्रकार व्यक्ति। एक संस्कृति एक व्यक्ति की भांति विचारों और क्रियाओं का लगभग एक संगत कलाप (More or less a consistent pattern of thought and action) होती है। प्रत्येक संस्कृति में कुछ विशिष्ट उद्देश्य (Characteristic Purposes) उत्पन्न हो जाते हैं जिनके सामंजस्ययुक्त स्थायी एकीकरण से संगत कलाप (Consistent Pattern) उत्पन्न होता है। इन्हीं उद्देश्यों के अनुसार प्रत्येक संस्कृति के अनुवाहक अपनी अनुभूति को निरन्तर संचित एवं समन्वित किया करते हैं और इन्हीं उद्देश्यों की आवश्यकताओं के अनुपात में प्रत्येक संस्कृति में बाहर से आए हुए तत्त्व निरन्तर अधिकाधिक अनुरूप आकार (Congruous Shape) ग्रहण किया करते हैं। प्रत्येक संस्कृति के विशिष्ट उद्देश्यों से मिलकर, उस संस्कृति के सदस्यों में, एक प्रधान मनोवृत्ति (Dominant Attitude) बनती है जो उसे एकीकरण, विशिष्टता और नैरन्तर्य प्रदान करती है। इसी प्रधान मनोवृत्ति को, किन्हीं किन्हीं मानवशास्त्रियों ने मूल्य (Value) और किसी ने आन्तरिक प्रवृत्ति (Ethos) कहा है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक संस्कृति में अपना एक प्रवाह होता है। यह प्रवाह अनुभवगम्य है। पर, इस प्रवाह का कैसे वर्णन किया जाय और संसार की विभिन्न संस्कृतियों में पाए जाने वाले प्रवाहों में पायी जाने वाली समानताओं तथा असमानताओं का किस प्रकार वर्गीकरण किया जाय और उन्हें किस भाषा में व्यक्त किया जाए यह एक जटिल समस्या रही है और आज भी है। उदाहरण के लिए, यदि यह कहा जाय कि मनमौजी (Happy go-Lucky) मनोवृत्ति किसी संस्कृति के लोगों की प्रधान मनोवृत्ति है तो सबसे बड़ा प्रश्न यह उठता है कि यह मनोवृत्ति है क्या? और, क्या इसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा हो सकती है। रुथ बेनेडिक्ट और मारग्रेट मीड जैसे मानवशास्त्रियों की जो आलोचना हुयी है, उसके आधार पर तो यही कहा जा सकता है कि नहीं। वास्तव में, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र और मनोविज्ञान में जिन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होता है वे इतने गुणात्मक हैं कि अलग-अलग संस्कृतियों के सन्दर्भ में उनके अलग अलग अर्थ होते हैं, जिसके कारण उनकी सर्वमान्य परिभाषा नहीं हो पाती है। और फिर एक यह प्रश्न भी है कि क्या निरीक्षण और अनुभव के आधार पर किसी संस्कृति विशेष की प्रधान मनोवृत्ति को निर्धारित किया जा सकता है? इसका उत्तर 'हाँ' में भी दिया जा सकता है और 'ना' में भी। 'हाँ' में इसलिए कि कई अध्ययन इस प्रकार किए गए हैं और किए जा रहे हैं और 'ना' इसलिए कि एक ओर इस प्रकार के अध्ययन और निर्धारण में अध्ययनकर्त्ता की मनोवृत्ति का प्रभाव रहता है और दूसरी ओर दो अध्ययनकर्त्ता एक

ही निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाते है। इसी कारण, यह कहा गया है कि संस्कृति की समग्री प्रवृत्ति वस्तुत बीजगणित म प्रयोग होने वाले एक्स (X) या ज के समान है जिसका भाव यथानुसार अलग अलग मूल्य निकाला जा सकता है। किन्तु इन सभी कठिनाइयों और आलोचनाओं म यह सिद्ध नहीं होता है कि प्रत्येक संस्कृति विशेष म अपनी निजी प्रवृत्ति और प्रवाह नहीं पाए जाते है। हां यह अवश्य है कि उनके वर्णन और विश्लेषण के उपकरण उतने उपयुक्त और प्रभावपूर्ण नही है, जितना कि उन्हें होना चाहिए। वर्तमान समय म, मूल्यों (Values), राष्ट्रीय चरित्र (National Character) और संस्कृति म व्यक्तित्व (Personality in Culture) सम्बन्धी होने वाले अध्ययन इसी वास्तविकता को स्पष्ट करने की दिशा मे किए जाने वाले प्रयास है।

संस्कृति एकीकरण

बेनडिक्ट के अनुसार, संस्कृति म एकीकरण (Integration) उसके विशिष्ट उद्देश्यों और उनसे उत्पन्न प्रधान मनोवृत्ति से उत्पन्न होता है। किन्तु आज यह मान्यता त्याग दी गयी है क्योंकि प्रधान मनोवृत्ति का पाया जाना यह सिद्ध नहीं करता है कि गौण मनोवृत्ति या मनोवृत्तियाँ या तो अनुपस्थित रहती हैं या उनका प्रभाव नही के बराबर होता है। संस्कृति एक जटिल इकाई है। उसका एकीकरण, वस्तुत एक साथ पाई जाने वाली कई मनोवृत्तियो के घात प्रतिघात और सामंजस्य का परिणाम है। मुख्य आपत्ति 'प्रधान' शब्द के प्रयोग से है (क्योंकि प्रधान न तो निरपेक्ष है और न शाश्वत) और इस मान्यता से है कि एक संस्कृति मे एक ही प्रधान मनोवृत्ति पायी जाती है। इसी कारण, विद्वानों ने कलाप (Pattern) की धारणा और मनोवृत्ति के प्रयोग पर भी आपत्ति प्रगट की है। क्ल्यूखान ने संस्कृति के बाह्य (Overt) और आन्तरिक (Covert) दो पहलू माने हैं और इस बात पर जोर दिया है कि कलाप (Pattern) की धारणा का बाह्य पहलू या पक्ष पर लागू करना चाहिए क्योंकि इस पक्ष म कलाप स्पष्ट होते है। उनका और क्रोबर का यह भी कहना है कि कलाप एक नहीं कई हो सकते हैं और दोनो ने उनके रूप प्रकार और संख्याओ का अलग अलग निर्धारित किया है[1] जो इस बात का प्रतीक है कि कलापों का निर्धारण, संस्कृति की जटिलता और गुणात्मकता के कारण एक समाधान रहित समस्या है।

आपलर (Oppler) ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि संस्कृति एकीकरण (Integration of Culture) निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है। किसी भी संस्कृति म एकीकरण पूर्ण नहीं है। विभिन्न संस्कृतियों की एकीकरण की मात्रा मे अन्तर होता है। ऐसी दशा म प्रधान मनोवृत्ति की धारणा सभी संस्कृतियों पर लागू नहीं हो सकती है विशेषत भारत जैसी उन संस्कृतियों पर जिन्होंने अपनी ऐतिहासिक प्रक्रिया

---

1 क्रोबर, ए० एल० एन्थ्रापालोजी पृष्ठ 326 330

म अनेक सांस्कृतिक धाराओं को आत्मसात करने का प्रयत्न किया है। ओपलर का कथन तर्कसंगत है क्योंकि प्रत्येक संस्कृति में, एक सीमा तक व्यावहारिक विचरण शीलता (Behavioural Variation) स्वीकृत है। उदाहरणार्थ भारत के शिक्षालयों में जब अध्यापक कक्षा में प्रवेश करता है तब विद्यार्थी अपने अपने स्थान पर उठकर उसका स्वागत और उसके प्रति आदर प्रगट करते हैं। यह एक सांस्कृतिक प्रथा है। किन्तु, वास्तविक व्यवहार में कुछ विद्यार्थी सीधे खड़े हो जाते हैं, कुछ थोड़ा उठकर फौरन बैठ जाते हैं, कुछ खड़े होने का संकेतमात्र करते हैं और बैठे ही रहते हैं। इसी प्रकार, प्रत्येक हिन्दू के लिए विवाह आवश्यक है लेकिन अविवाहित रहने वाले को समाज से निकाल नहीं दिया जाता है। विवाह सम्पन्न करने के लिए कोई भी हिन्दू चाहे तो वह आर्यसमाजी पद्धति को अपना सकता है, या सनातनी पद्धति को या उस कानूनी पद्धति को जिसको हिन्दू मैरिज एक्ट और स्पेशल मैरिज एक्ट जैसे अधिनियमों द्वारा मान्यता प्रदान की गयी है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सांस्कृतिक व्यवहार और मर्यादाओं में एक सीमा तक विचलन (Deviation) मान्य रहता है। विचलन तथा विचरण की प्रवृत्ति और प्रधान मनोवृत्ति, तर्क के दृष्टिकोण से, परस्पर विरोधी हैं और एक की मान्यता दूसरे को स्वतः समाप्त कर देती है। इसी कारण, संस्कृति के एकीकरण को स्पष्ट करने के लिए प्रधान मनोवृत्ति का सिद्धान्त कमजोर पड़ता है।

इसी कठिनाई को दूर करने के लिए लिंटन (Linton) ने संस्कृति के तत्वों को तीन श्रेणियों में बाटा है—प्रथम, सर्वव्यापी (Universalities) जिनमें विचरण और विचलन अमान्य रहता है, दूसरे वैकल्पिक (Alternatives) जिनमें वैकल्पिक विचरण और विचलन मान्य होता है जैसे हिन्दुओं में अपनायी जाने वाली विवाह-पद्धतियाँ और, तीसरे विशेष (Specialities) जो विशेष पदों (Statuses) और उनसे सम्बन्धित भूमिकाओं (Roles) से सम्बन्धित रहते हैं जैसे डाक्टरों, वकीलों, अध्यापकों, राजनीतिज्ञों और व्यापारियों के पदों और भूमिकाओं से सम्बन्धित आदर्श और मर्यादायें[1]। लिंटन की इस मान्यता से यह सिद्ध होता है कि एकीकरण इन्हीं विभिन्न तत्वों के बीच में पाये जाने वाले सामंजस्य की मात्रा में निहित होता है। इसी दृष्टिकोण से, ओपलर (Oppler) ने यह प्रतिपादित किया है कि एकीकरण किसी एक प्रेरक प्रवृत्ति से उत्पन्न न होकर कई प्रेरक प्रवृत्तियों के घात प्रतिघात और सामंजस्य से उत्पन्न एक सन्तुलन है। प्रेरक प्रवृत्तियों को ओपलर ने थीम (Theme) की संज्ञा दी है। संस्कृति का स्वरूप और आत्मा इन्हीं प्रेरक प्रवृत्तियों के परस्पर सम्बन्धों में निहित रहता है। किन्तु इन प्रेरक प्रवृत्तियों का निर्धारण उतना ही दुष्कर है जितना कि कल्पाप अथवा कल्पों का निर्धारण। आज, एक ओर, फ्रायड के

1 लिंटन, राल्फ दि कल्चरल बैकग्राउण्ड आफ पर्सनालिटी

ही निश्चय पर नहीं पहुंच पाते है। इसी कारण यह कहा गया है कि संस्कृति की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वस्तुतः बीजगणित में प्रयोग होने वाले एक्स (X) या ज के समान है जिससे आवश्यकतानुसार अलग अलग मूल्य निकाला जा सकता है। किन्तु, इन सभी कठिनाइयों और आलोचनाओं में यह सिद्ध नहीं होता है कि प्रत्येक संस्कृति विशेष में अपनी निजी प्रवृत्ति और प्रवाह नहीं पाए जाते हैं। हां, यह अवश्य है कि उनके *चयन और विश्लेषण के उपकरण उतने उपयुक्त और प्रभावपूर्ण नहीं हैं जितना कि उन्हें होना चाहिए।* वर्तमान समय में मूल्यों (Values) राष्ट्रीय चरित्र (National Character) और संस्कृति में व्यक्तित्व (Personality in Culture) सम्बन्धी होने वाले अध्ययन इसी वास्तविकता को स्पष्ट करने की दिशा में किए जाने वाले प्रयास हैं।

संस्कृति एकीकरण

बेनेडिक्ट के अनुसार, संस्कृति में एकीकरण (Integration) उसके विशिष्ट उद्देश्यों और उनसे उत्पन्न प्रधान मनोवृत्ति से उत्पन्न होता है। किन्तु *आज यह मान्यता त्याग दी गयी है क्योंकि प्रधान मनोवृत्ति का* पाया जाना यह सिद्ध नहीं करता है कि गौण मनोवृत्ति या मनोवृत्तियां या तो अनुपस्थित रहती है या उनका प्रभाव नहीं के बराबर होता है। संस्कृति एक जटिल इकाई है। उसका एकीकरण, वस्तुतः एक साथ पाई जाने वाली कई मनोवृत्तियों के घात प्रतिघात और सामंजस्य का परिणाम है। मुख्य आपत्ति 'प्रधान' शब्द के प्रयोग से है (क्योंकि प्रधान न तो निरपेक्ष है और न शाश्वत) और इस मान्यता से है कि एक संस्कृति में एक ही प्रधान मनोवृत्ति पायी जाती है। इसी कारण, विद्वानों ने कलाप (Pattern) की धारणा और सत्ता के प्रयोग पर भी आपत्ति प्रगट की है। क्ल्यूखान ने संस्कृति के बाह्य (Overt) और आन्तरिक (Covert) दो पहलू माने हैं और इस बात पर जोर दिया है कि कलाप (Pattern) की धारणा को बाह्य पहलू या पक्ष पर लागू करना चाहिए क्योंकि इस पक्ष में कलाप स्पष्ट होते है। उनका और क्रोबर का यह भी कहना है कि कलाप एक नहीं कई हो सकते हैं और दोनों ने *उनके रूप, प्रकार और संख्याओं का अलग अलग निर्धारित* किया है [1] जो इस बात का प्रतीक है कि कलापों का निर्धारण, संस्कृति की जटिलता और गुणात्मकता के कारण एक समाधान रहित समस्या है।

आपलर (Oppler) ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि संस्कृति एकीकरण (Integration of Culture) निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है। किसी भी संस्कृति में एकीकरण पूर्ण नहीं है। विभिन्न संस्कृतियों की एकीकरण की मात्रा में अन्तर होता है। ऐसी दशा में, प्रधान मनोवृत्ति की धारणा सभी संस्कृतियों पर लागू नहीं हो सकती है, विशेषतः भारत जैसी उन संस्कृतियों पर जिन्होंने अपनी ऐतिहासिक प्रक्रिया

---

1 क्रोबर, ए० एल० एन्थ्रापालोजी पृष्ठ 320 336

मे अनेक सांस्कृतिक धाराओं को आत्मसात करने का प्रयत्न किया है। ओपलर का कथन तर्कसंगत है क्योंकि प्रत्येक संस्कृति में, एक सीमा तक व्यावहारिक विचरणशीलता (Behavioural Variation) स्वीकृत है। उदाहरणार्थ, भारत के विद्यालयों में जब अध्यापक कक्षा में प्रवेश करता है तब विद्यार्थी अपने अपने स्थान पर उठकर उसका स्वागत और उसके प्रति आदर प्रगट करते हैं। यह एक सांस्कृतिक प्रथा है। किन्तु वास्तविक व्यवहार में कुछ विद्यार्थी सीधे खड़े हो जाते हैं कुछ थोड़ा उठकर फौरन बैठ जाते हैं कुछ खड़े होने का संकेतमात्र करते हैं और बैठे ही रहते हैं। इसी प्रकार, प्रत्येक हिन्दू के लिए विवाह आवश्यक है लेकिन अविवाहित रहने वाले को समाज में निकाला नहीं दिया जाता है। विवाह सम्पन्न करने के लिए कोई भी हिन्दू चाहे तो वह आर्यसमाजी पद्धति को अपना सकता है, या सनातनी पद्धति को या उस कानूनी पद्धति का जिसको हिन्दू मैरिज एक्ट और स्पेशल मैरिज एक्ट जैसे अधिनियमों द्वारा मान्यता प्रदान की गयी है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सांस्कृतिक व्यवहार और मर्यादाओं में एक सीमा तक विचलन (Deviation) मान्य रहता है। विचलन तथा विचरण की प्रवृत्ति और प्रधान मनोवृत्ति, तर्क के दृष्टिकोण से, परस्पर विरोधी हैं और एक की मान्यता दूसरे को स्वतः समाप्त कर देती है। इसी कारण, संस्कृति के एकीकरण को स्पष्ट करने के लिए प्रधान मनोवृत्ति का सिद्धान्त कमजोर पड़ता है।

इसी कठिनाई को दूर करने के लिए लिंटन (Linton) ने संस्कृति के तत्वों को तीन श्रेणियों में बांटा है—प्रथम, सर्वव्यापी (Universalities) जिनमें विचरण और विचलन अमान्य रहता है, दूसरे वैकल्पिक (Alternatives) जिनमें वैकल्पिक विचरण और विचलन मान्य होता है जैसे हिन्दुओं में अपनायी जाने वाली विवाह-पद्धतियाँ और, तीसरे विशेष (Specialities) जो विशेष पदों (Statuses) और उनसे सम्बन्धित भूमिकाओं (Roles) से सम्बन्धित रहते हैं जैसे डाक्टरों, वकीलों, अध्यापकों राजनीतिज्ञों और व्यापारियों के पदों और भूमिकाओं से सम्बन्धित आदर्श और मर्यादायें[1]। लिंटन की इस मान्यता से यह सिद्ध होता है कि एकीकरण इन्हीं विभिन्न तत्वों के बीच में पाये जाने वाले सामंजस्य की मात्रा में निहित होता है। इसी दृष्टिकोण से, ओपलर (Oppler) ने यह प्रतिपादित किया है कि एकीकरण किसी एक प्रेरक प्रवृत्ति से उत्पन्न न होकर कई प्रेरक प्रवृत्तियों के घात प्रतिघात और सामंजस्य से उत्पन्न एक सन्तुलन है। प्रेरक प्रवृत्तियों को ओपलर ने थीम (Theme) की संज्ञा दी है। संस्कृति का स्वरूप और आत्मा इन्हीं प्रेरक प्रवृत्तियों के परस्पर सम्बन्धों में निहित रहता है। किन्तु, इन प्रेरक प्रवृत्तियों का निर्धारण उतना ही दुष्कर है जितना कि मनोवृत्ति अथवा प्रतिरूपों का निर्धारण। आर, एक ओर, फ्रायड के

---

1 लिंटन, राल्फ दि कल्चरल बैकग्राउण्ड आफ पर्सनालिटी

ही निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते हैं। इसी कारण यह कहा गया है कि संस्कृति की अन्तमुखी प्रवृत्ति वस्तुत बीजगणित में प्रयोग होने वाले एक्स (X) या Y के समान है जिसका आवश्यकतानुसार अलग अलग मूल्य निकाला जा सकता है। किन्तु इन सभी कठिनाइयों और आलोचनाओं में यह सिद्ध नहीं होता है कि प्रत्येक संस्कृति विशेष में अपनी निजी प्रवृत्ति और प्रवाह नहीं पाए जाते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि उनके वर्णन और विश्लेषण के उपकरण उतने उपयुक्त और प्रभावपूर्ण नहीं हैं जितना कि उन्हें होना चाहिए। वर्तमान समय में मूल्यों (Values), राष्ट्रीय चरित्र (National Character) और संस्कृति में व्यक्तित्व (Personality in Culture) सम्बन्धी होने वाले अध्ययन इसी वास्तविकता को स्पष्ट करने की दिशा में किए जाने वाले प्रयास हैं।

बेनेडिक्ट के अनुसार, संस्कृति में एकीकरण (Integration) उसके विशिष्ट उद्देश्यों और उनसे उत्पन्न प्रधान मनोवृत्ति से उत्पन्न होता है। किन्तु

संस्कृति एकीकरण

आज यह मान्यता त्याग दी गयी है क्योंकि प्रधान मनोवृत्ति का पाया जाना यह सिद्ध नहीं करता है कि गौण मनोवृत्ति या मनोवृत्तियाँ या तो अनुपस्थित रहती हैं या उनका प्रभाव नहीं के बराबर होता है। संस्कृति एक जटिल इकाई है। उसका एकीकरण वस्तुत एक साथ पाई जाने वाली कई मनोवृत्तियों के घात प्रतिघात और सामंजस्य का परिणाम है। मुख्य आपत्ति 'प्रधान' शब्द के प्रयोग से है (क्योंकि प्रधान न तो निरपेक्ष है और न शाश्वत) और इस मान्यता से है कि एक संस्कृति में एक ही प्रधान मनोवृत्ति पायी जाती है। इसी कारण, विद्वानों ने कलाप (Pattern) की धारणा और सत्ता के प्रयोग पर भी आपत्ति प्रगट की है। क्लूखान ने संस्कृति के बाह्य (Overt) और आंतरिक (Covert) दो पहलू माने हैं और इस बात पर जोर दिया है कि कलाप (Pattern) की धारणा को बाह्य पहलू या पक्ष पर लागू करना चाहिए क्योंकि इस पक्ष में कलाप स्पष्ट होते हैं। उनका और क्रोबर का यह भी कहना है कि कलाप एक नहीं कई हो सकते हैं और दोनों ने उनके रूप प्रकार और संख्याओं को अलग अलग निर्धारित किया है[1] जो इस बात का प्रतीक है कि कलापों का निर्धारण संस्कृति की जटिलता और गुणात्मकता के कारण एक समाधान रहित समस्या है।

आपलर (Oppler) ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि संस्कृति एकीकरण (Integration of Culture) निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है। किसी भी संस्कृति में एकीकरण पूर्ण नहीं है। विभिन्न संस्कृतियों की एकीकरण की मात्रा में अन्तर होता है। ऐसी दशा में, प्रधान मनोवृत्ति की धारणा सभी संस्कृतियों पर लागू नहीं हो सकती है विशेषत भारत जैसी उन संस्कृतियों पर जिन्होंने अपनी ऐतिहासिक प्रक्रिया

1 क्रोबर, ए० एल० एन्थ्रापालोजी पृष्ठ 326 336

मे अनेक सांस्कृतिक धाराओं को आत्मसात करने का प्रयत्न किया है। ओपलर का कथन तर्कसगत है क्योंकि प्रत्येक संस्कृति में, एक सीमा तक, व्यावहारिक विचरणशीलता (Behavioural Variation) स्वीकृत है। उदाहरणार्थ भारत के विद्यालयों मे जब अध्यापक कक्षा मे प्रवेश करता है तब विद्यार्थी अपने अपने स्थान पर उठकर उसका स्वागत और उसके प्रति आदर प्रगट करते हैं। यह एक सांस्कृतिक प्रथा है। किन्तु वास्तविक व्यवहार में कुछ विद्यार्थी सीधे खड़े हो जाते हैं, कुछ थोड़ा उठकर फौरन बैठ जाते हैं, कुछ खड़े होने का संकेतमात्र करते हैं और बैठे ही रहते हैं। इसी प्रकार, प्रत्येक हिन्दू के लिए विवाह आवश्यक है लेकिन अविवाहित रहने वाले को समाज से निकाल नहीं दिया जाता है। विवाह सम्पन्न करने के लिए कोई भी हिन्दू चाहे तो वह आर्यसमाजी पद्धति को अपना सकता है, या सनातनी पद्धति को या उस कानूनी पद्धति को जिसको हिन्दू मैरिज एक्ट और स्पेशल मैरिज एक्ट जैसे अधिनियमों द्वारा मान्यता प्रदान की गयी है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सांस्कृतिक व्यवहार और मर्यादाओं में एक सीमा तक विचलन (Deviation) मान्य रहता है। विचलन तथा विचरण की प्रवृत्ति और प्रधान मनोवृत्ति, तर्क के दृष्टिकोण से, परस्पर विरोधी हैं और एक की मान्यता दूसरे को स्वतः समाप्त कर देती है। इसी कारण, संस्कृति के एकीकरण को स्पष्ट करने के लिए प्रधान मनोवृत्ति का सिद्धान्त कमजोर पड़ता है।

इसी कठिनाई को दूर करने के लिए लिंटन (Linton) ने संस्कृति के तत्वों को तीन श्रेणियों में बाटा है—प्रथम, सर्वव्यापी (Universalities) जिनमें विचरण और विचलन असमान्य रहता है, दूसरे वैकल्पिक (Alternatives) जिनमें वैकल्पिक विचरण और विचलन मान्य होता है जैसे हिन्दुओं में अपनायी जाने वाली विवाह-पद्धतियाँ और, तीसरे विशेष (Specialities) जो विशेष पदों (Statuses) और उनसे सम्बन्धित भूमिकाओं (Roles) से सम्बन्धित रहते हैं जैसे डाक्टरों, वकीलों, अध्यापकों, राजनीतिज्ञों और व्यापारियों के पदों और भूमिकाओं से सम्बन्धित आदर्श और मर्यादायें[1]। लिंटन की इस मान्यता से यह सिद्ध होता है कि एकीकरण इन्हीं विभिन्न तत्वों के बीच में पाये जाने वाले सामंजस्य की मात्रा में निहित होता है। इसी दृष्टिकोण से, ओपलर (Oppler) ने यह प्रतिपादित किया है कि एकीकरण किसी एक प्रेरक प्रवृत्ति से उत्पन्न न होकर कई प्रेरक प्रवृत्तियों के घात प्रतिघात और सामंजस्य से उत्पन्न एक सन्तुलन है। प्रेरक प्रवृत्तियों को ओपलर ने थीम (Theme) की संज्ञा दी है। संस्कृति का स्वरूप और आत्मा इन्हीं प्रेरक प्रवृत्तियों के परस्पर सम्बन्धों में निहित रहता है। किन्तु इन प्रेरक प्रवृत्तियों का निर्धारण उतना ही दुष्कर है जितना कि स्वरूप अथवा आत्मा का निर्धारण। अतः, एक ओर, फ्रायड के

1 लिंटन, राल्फ दि कल्चरल बैकग्राउण्ड आफ पर्सनालिटी

मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों से प्रभावित मानवशास्त्री बाल्यकाल में अर्जित तथा संचित प्रतिक्रियाओं के अन्तराल में छिपे केन्द्र बिन्दुओं में संस्कृति की प्रेरक प्रवृत्तियों को ढूंढने का प्रयत्न करते हैं और, दूसरी ओर उपयोगितावादी विचारधारा से प्रभावित समाजशास्त्री और मानवशास्त्री संस्कृति की सामाजिक संरचना की कार्यात्मकता में प्रेरक उद्देश्य ढूंढने में प्रयत्नशील हैं। एकीकरण, प्रेरक प्रवृत्ति और आन्तरिक प्रवाह जैसी धारणायें संस्कृति की मानसिक जटिलता की द्योतक हैं। ये मानव-अनुभूति से परे नहीं है। पर, उनका सादृश्य निर्धारण और वर्णन वह समस्या है जिसका हल मानवशास्त्र और समाजशास्त्र में नहीं मिल पाया है यद्यपि इन दोनों शास्त्रों के प्रतिष्ठापक इस दशा में प्रयत्नशील हैं।

यहाँ तक प्रस्तुत विचार विमर्श से यह स्पष्ट है कि संस्कृति को स्पष्ट और परिभाषित करने के लिए न तो मतैक्य हुआ है और न सम्भवतः होगा।

संस्कृति के लक्षण संस्कृति पर लोगों ने अनेक पहलुओं से विचार किया है। संस्कृति के जितने आनुभूतिक पहलू हैं उन पहलुओं पर आधारित मतों में सार है और उन्हें सहसा अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। इनमें से कोई मत तब सारहीन प्रतीत होता है जब अन्य पहलुओं को गौण मानकर किसी पहलू विशेष को ही महत्त्वपूर्ण मान लिया जाता है और उसी के आधार पर कोई मत प्रतिपादित किया जाता है। संस्कृति विषयक मतमतान्तर और विचार विमर्श से संस्कृति के कुछ मौलिक और सर्वमान्य लक्षण (Attributes) निर्धारित हो गये हैं जो संस्कृति को स्पष्ट करने का एक अच्छा माध्यम है। ये लक्षण इस प्रकार हैं —1 संस्कृति वह व्यवहार है जो मनुष्य समाज से सीखता है। किन्तु संस्कृति को न तो आदतों अथवा अभ्यासों (Habits) का योग कहा जा सकता है और न समस्याओं के सुल्झाने का कोई एक परम्परागत तरीका। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि संस्कृति की उत्पत्ति व्यक्ति के मस्तिष्क में ही होती है क्योंकि संस्कृति में नराश्यकारी तथा तुष्टिकारी दोनों तत्व विद्यमान हैं 2 संस्कृति समाज का एक पहलू है। इसी से संस्कृति की सामाजिक विशेषता का जन्म होता है। आंगिक उन्विकास की प्रक्रिया और मानवेतर प्राणियों में समाज के पाये जाने के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समाज का अवतरण संस्कृति से पहले हुआ है। किन्तु मानवी उन्विकास के सन्दर्भ में यह कहना कठिन है कि संस्कृति प्राथमिक है या समाज। हाँ यह अवश्य है कि समूह के ही माध्यम से संस्कृति चलती है और उसमें समाज की अपेक्षा एकीकरण की प्रवृत्ति अधिक होती है। समाज के आधार और संस्कृति के स्वरूप में कोई कारक सम्बन्ध नहीं है 3 संस्कृति संक्राम्य (Transmissible) होती है और इसी कारण उसमें ऐतिहासिकता आती है[1] 4 संस्कृति वस्तुतः एक आदर्श है जो सदैव अप्राप्य रहता है

1 यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि इतिहासज्ञों और समाजशास्त्रियों

यद्यपि उसमें मानव का भाग दर्शन अवश्य होता है, 5 संस्कृति में, जैसा कि मलिनोवस्की ने प्रतिपादित किया है, मानव आवश्यकताओं की पूर्ति होती है 6 संस्कृति में अनुकूलन की क्षमता होती है और, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, संस्कृति में एकीकरण की प्रवृत्ति होती है जिससे संस्कृति में एकात्मकता और उचित विशिष्टता आती है।

हर्सकोविट्स (Herskovits) ने संस्कृति के कुछ विरोधाभासी (Paredoxical) लक्षणों का वर्णन किया है। प्रथम, संस्कृति मानव जीवन का निर्धारण करती है, किन्तु मानव के सजग विचारों में उसका विरला ही प्रवेश होता है, क्योंकि संस्कृति व्यक्ति में भी है और व्यक्ति से परे भी। दूसरे, संस्कृति स्थायी भी है और गत्यात्मक भी। निरन्तर परिवर्तन में स्थायित्व बनाये रखना संस्कृति की विशेषता है। तीसरे, एक ओर, संस्कृति सर्वकालीन तथा सार्वभौमिक है तो, दूसरी ओर उसके राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और स्थानीय रूप भी पाये जाते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि संस्कृति सामान्य भी है और विशेष भी। मानव-जीवन की सामान्य, सार्वभौमिक आवश्यकतायें ही संस्कृति की सामान्यता और सार्वभौमिकता को जन्म देती हैं। परिवार, विवाह, आर्थिक तथा राजनैतिक संस्थायें, भाषा, कला और मनोविनोद, धर्म, सामाजिक ज्ञान और प्रौद्योगिकी संस्कृति के सामान्य आधार हैं और सर्वत्र पाये जाते हैं। ये सामान्य आधार मानव-जीवन की सामान्य आधारभूत आवश्यकताओं से सम्बन्धित हैं। संस्कृति की विचरणशीलता से ही विशेष संस्कृतियों का प्रादुर्भाव होता है। विचरणशीलता के कारण हैं भौगोलिक परिस्थितियाँ, औद्योगिक विकास के असमान स्तर, विभिन्न संस्कृतियों के अलग-अलग आन्तरिक प्रवाह और ऐतिहासिक परिस्थितियाँ तथा घटनायें। भारत का इस्लामी राजनैतिक प्रभुत्व में आना वह परिस्थिति है जिसके कारण भारत में हिन्दू-संस्कृति के स्थान पर भारतीय संस्कृति का अभ्युदय हुआ। यदि सन् सत्रह सौ तिरेसठ ईस्वी में फ्रांस इंग्लैंड से हार न जाता और उसके फलस्वरूप भारत इंग्लैंड के राजनैतिक प्रभुत्व में न आता तो सम्भवतः वर्तमान भारत की सांस्कृतिक धारा किसी अन्य दिशा की ओर प्रवाहित होती।

एक धारणा के रूप में संस्कृति का प्रयोग चार सन्दर्भों में किया जा सकता है—(अ) किसी भी समय विशेष में सम्पूर्ण मानवमात्र के जीवनयापन के तरीकों (Ways of Living) और अभिकल्पनाओं (Designs) की सम्पूर्णता के लिये। यही सम्पूर्णता सामान्य संस्कृति (The Culture) का आधार है। (ब) उन कई समाजों से बने समूह के सदस्यों के व्यवहार में निहित जीवन-यापन के तरीकों के लिए जिनके व्यवहारों में, कम या अधिक मात्रा में, एकीकरण पाया जाता हो जैसे अरबी इस्लामी

तथा मानवशास्त्रियों के मतों में अन्तर है। इतिहासकारों के अनुसार संस्कृति मानव की सिद्धियों का अभिलेख है। इस मान्यता में प्रगति अथवा अवनति का भाव निहित है जो मानवशास्त्रियों को अमान्य है।

संस्कृति। इसी धारणा के सन्दर्भ में उपसंस्कृति (Sub Culture) या उपसंस्कृतियां (Sub Cultures) और संस्कृतिविशेष (A Culture) जैसी धारणाओं का प्रयोग होता है। (स) किसी समाजविशेष के विशिष्ट व्यवहार कलाप (Pattern of behaviour peculiar to a given society) के लिये, जैसे भारतीय संस्कृति या अमरीकी संस्कृति। (द) एक बड़े जटिल और विजातीय समाज के विभिन्न समूहों के अलग अलग जीवन यापन के तरीकों के लिये जिसका उदाहरण हैं भारत के विभिन्न भाषा क्षेत्रों में फैली हुई संस्कृतियां।

२

संस्कृति-प्रक्रियायें (Culture Processes)

संस्कृति को चाहे जिस रूप या स्तर से देखा जाय इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि संस्कृति एक प्रवाहशील प्रक्रिया है। संस्कृति प्रक्रिया के दो मुख्य पहलू हैं—एक परिरक्षण (Preservation) या स्थायित्व (Stabilization) और, दूसरा, वृद्धि (Growth) तथा परिवर्तन (Change)। संस्कृति परिरक्षण प्रक्रिया के मुख्य आधार हैं अभ्यासीकरण (Habituation) अर्थात अभ्यास या आदत का बनना[1] संस्कृति के सिद्धान्तों के अनुसार शिक्षा-दीक्षा (Indoctrination & Education) और सातत्य (Continuance) की समान भावना। वास्तव में व्यक्ति संस्कृति में ही जन्म लेता है। संस्कृति व्यक्ति से पहले ही विद्यमान होती है और इसी कारण, व्यक्ति संस्कृति का संवाहक बन जाता है यद्यपि इसका यह तात्पर्य नहीं कि व्यक्ति के समक्ष एक समष्टिकारी प्रमेय के रूप में, संस्कृति ही प्रधान है।

परिरक्षण, स्थायित्व और विकास

---

1 जन्म के समय मानव शिशु की मांसपेशियों और नाड़ी संस्थान में न कोई संगठन होता है और न कोई सुगठित व्यवहार। शिशु न तो कहीं आराम ठहरा कर देख ही सकता है और न किसी विषय वस्तु में अपनी मांसपेशियों का प्रयोग ही कर सकता है। यहां तक मल मूत्र को निकालने वाली मांसपेशियों पर भी उसका नियन्त्रण नहीं रहता है। अभ्यास के द्वारा ही धीरे धीरे, व्यक्ति को मांसपेशियों पर नियन्त्रण मिलता है और अभ्यास संस्कृति के प्रभाव के अनुसार होता है। उदाहरणार्थ, एक ओर शरीर विकास के दौरान में शिशु को मल मूत्र त्यागने वाले स्नायुओं पर नियन्त्रण मिलता है तो दूसरी ओर, अभ्यास द्वारा उसे यह सीखना पड़ता है कि कहाँ किस प्रकार मल मूत्र का त्याग किया जाये।

व्यक्ति संस्कृति में है और संस्कृति व्यक्ति में, लेकिन प्रतीकात्मक होने के कारण तथा मानव अनुभव में निहित होने के कारण संस्कृति एक कालगत प्रवाह बन जाती है जबकि व्यक्ति आते जाते रहते हैं। सीखने (Learning) की क्षमता के ही कारण व्यक्ति संस्कृति को अपना कर, संस्कृति-संवहक बनता है और, इसी कारण, संस्कृति-परिरक्षण में वह सामाजिक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया प्रधान बन जाती है जिसे समाज मनोवैज्ञानिकों ने अनुकरण (Imitation) कहा है और जो मानव के सीखने में एक महत्वपूर्ण तथ्य है।

परिरक्षण स्थायित्व और सातत्य के कारण ही संस्कृति एक संचयी प्रक्रिया (Cumulative Process) बन जाती है जिसमें से संस्कृति का एतिहासोन्मुख उद्विकासी रूप उभरता है जिसका विश्लेषण आगे किया जायेगा। परिरक्षण के ही दृष्टिकोण से संस्कृति को वह प्रक्रिया कहा जा सकता है जो निरन्तर वृद्धि (Growth) की ओर उन्मुख रहती है। इस दृष्टिकोण से, यह भी कहा जा सकता है कि संस्कृति, विशेषत, संस्कृति विशेष का विशृंखलन हो सकता है किन्तु संस्कृति हानि (Cultural Loss) या संस्कृति निष्प्राणता (Cultural Death) नहीं होती है। मानव संस्कृति अजर और अमर है क्योंकि संस्कृति विशेष के विशृंखलित होने पर, उसके तत्व प्रसरित होकर, सम्पूर्ण मानव संस्कृति के अन्य तत्वों में मिल जाते हैं या अन्य तत्वों को हटा देते हैं या उनका स्थान ले लेते हैं। उदाहरण के लिए हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की संस्कृति आज समाप्त हो चुकी है लेकिन उसके अनेक तत्व भारतीय संस्कृति में विद्यमान हैं और भारतीय संस्कृति मानव-संस्कृति का एक विशेष रूप है। इसलिए लोवर ने कहा है कि संस्कृति कभी भी निष्प्राण नहीं होती है।

वृद्धि संस्कृति की एक बस ही स्वाभाविक प्रक्रिया है जैसे परिरक्षण। उपजायें (Inventions) इसका उदाहरण हैं। यह सही है कि आवश्यकता (Necessity), खेल (Play)[1] और आकस्मिक घटनायें (Accidents)[2] उपजाओं को जन्म देती रही हैं किन्तु, वास्तव में उपजाओं को जन्म देने वाली हैं संस्कृति विकास से उत्पन्न होने वाली परिस्थितियां जिनके कारण उपजा का जन्म सम्भव होता है। प्रत्येक उपजा के पीछे एक क्रमिक विकास प्रक्रिया चला करती है वैसे ही जैसे पानी में उबलन के पीछे एक प्रक्रिया चलती रहती है। हम उपजा के प्रति वैसे ही अवगत होते हैं जैसे चाय के लिये उबलने वाले पानी के प्रति। किन्तु पानी तभी उबलता है जब पानी में गर्मी पहुंचाने वाली प्रक्रिया एक अवस्था विशेष में पहुंच जाती है। इसी कारण, एक उपजा का दूसरे से सम्बद्ध है। शीशा बनाने की कला के विकास से

---

1 साईकिल, मोटर और हवाई जहाज की उपजायें मनोविनोद और खेल की मनोवृत्ति के कारण हुई हैं।

2 पेनीसिलीन की उपजा घटनावश हुई थी।

दूरबीन बनी और उससे खगोल विज्ञान (Astronomy) का विकास हुआ। माइक्रोस्कोप के बनने से औषधिशास्त्र का विकास हुआ। न्यूटन के सिद्धान्तों ने आइंस्टीन के सिद्धान्तों की आधारशिला रखी। अनुकूल परिस्थितियों में ही आविष्कारक आविष्कार करता है। बिना अनुकूल परिस्थितियों के आविष्कार स्वीकार ही नहीं होता है। यह जानते हुये भी कि बालू से चाँदी निकल सकती है उसके लिये प्रयास नहीं किया जाता है क्योंकि आर्थिक दृष्टिकोण से यह लाभदायक नहीं है। उपनायें, वास्तव में, संस्कृति की संचयी प्रक्रिया में उत्पन्न होती हैं और, इसीकारण कई उपनायें समानान्तर विकास के रूप में एक साथ अलग-अलग स्थानों या व्यक्तियों में अवतरित होती हैं। मारकोनी और जगदीश चन्द्र बसु ने एक साथ बेतार के तार के विचार पर कार्य करना प्रारम्भ किया था। प्रत्येक उपना के पीछे उसकी विकास कहानी रहती है जो इस बात का प्रमाण है कि उपना एक सतत विकास का परिणाम है और उसका सम्बन्ध संस्कृति-वृद्धि से है।

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संस्कृति केवल एक संचयी प्रक्रिया है और उसमें परिवर्तन होते ही नहीं हैं। संस्कृति में, एक ओर, संचयी वृद्धि प्रक्रिया चला करती है और, दूसरी ओर, परिवर्तन प्रक्रिया। परिवर्तन प्रक्रिया के कारक तथ्यों को क्रोबर ने दो श्रेणियों में रक्खा है—एक बाह्य और दूसरी आन्तरिक[1]। आन्तरिक तथ्यों से उत्पन्न होने वाले संस्कृति-परिवर्तन मुख्यतः तीन श्रेणियों में आते हैं। एक श्रेणी में वे परिवर्तन आते हैं जो जीवन निर्वाह (Subsistence)—प्रौद्योगिक (Technological)—आर्थिक (Economic) स्तर में परिवर्तन होने के कारण होते हैं जैसे कृषि के अनुसंधान से जनसंख्या तथा शहरीकरण का बढ़ना। दूसरी श्रेणी में वे परिवर्तन आते हैं जो जैवकीय मनोविनोदी आवेगों (Biological Play Impulses) के कारण होते हैं। खेल, विज्ञान, कला, फैशन, मनोरंजन और परिहास में होने वाले परिवर्तन इसी श्रेणी में आते हैं। इसी श्रेणी में वे परिवर्तन भी आते हैं जो उस अवस्था में होते हैं जब किसी संस्कृति-तत्व से तंग आकर लोग उसे बदल देते हैं। सन अठारह सौ उन्नीस में हवाई द्वीप के निवासियों का कुछ निषेधों से तंग आकर उन्हें सहसा तोड़ना इसका एक उदाहरण है[2]। तीसरी श्रेणी में वे परिवर्तन आते हैं जो वृद्धि के कारण

संस्कृति परिवर्तन

---

1 क्रोबर ए० एल० एन्थ्रापालोजी पृष्ठ 386-425

2 जिन निषेधों को हवाई द्वीप के निवासियों ने तोड़ा था वे इस प्रकार हैं —
(अ) स्त्रियों का केला और नारियल खाने का निषेध, (ब) स्त्री पुरुषों का एक साथ बैठकर खाने का निषेध, (स) सम्राट द्वारा किसी व्यक्ति की भूमि को न छूना और दूसरों के कन्धों पर जाना क्योंकि सम्राट द्वारा छूने से भूमि सम्राट की हो जाती थी, (द) त्योहारों को घरों के अन्दर बैठकर मनाना।

होते हैं। नाबर्ट ने इन्हें वृद्धि परिवर्तन कहा है। संगठित ऐतिहासिक मजहबों, जैसे बुद्धवाद, इस्लाम और ईसाइयत, का विकास तथा प्रसार और उनसे होने वाले परिवर्तन तथा क्रान्तियों (Revolutions) से होनेवाले परिवर्तन इस श्रेणी में आते हैं।

संस्कृति परिरक्षण प्रक्रिया की गत्यात्मकता से उत्पन्न तनाव, संस्कृति परिवर्तन के आन्तरिक प्रतिकारकों (Factors) को जन्म देते हैं। यदि मानव-संस्कृति की सम्पूर्णता के सन्दर्भ में विचार किया जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि सभी परिवर्तन प्रतिकारक और प्रक्रियायें (Factors and Processes of Change) आन्तरिक ही होते हैं। किन्तु, जब हम विशेष संस्कृतियों के सन्दर्भ में विचार करते हैं तो हमें यह मिलता है कि एक संस्कृति विशेष में अनेक ऐसी परिवर्तन प्रक्रियायें होती हैं जो बाह्य प्रतिकारकों (External Factors) से उत्पन्न होती हैं। बाह्य प्रतिकारक से तात्पर्य है उस प्रतिकारक से जो किसी संस्कृतिविशेष में बाहर से आया हो। भारत में आधुनिक प्रौद्योगिकी (Modern Technology) इसका उदाहरण है। बाह्य प्रतिकारकों (External Factors) के प्रभाव से उत्पन्न होने वाली प्रक्रियाओं को दो मुख्य श्रेणियों में रक्खा जाता है जिनमें से एक को प्रसरण की संज्ञा दी गई है और दूसरी को संस्कृतिकरण या एकल्चरेशन (Acculturation) की। यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रसरण एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। मानव इतिहास तथा मानव संस्कृति के गठन में प्रसरण काफी महत्वपूर्ण रहा है। संस्कृतियाँ एक दूसरे से वैसे ही सांस्कृतिक तत्वों को लेती रही हैं जैसे व्यक्ति एक दूसरे से विचारों तथा व्यवहारों को ग्रहण करते रहते हैं। प्रसरण, वस्तुतः, संस्कृति की स्वाभाविक विशेषता भी है यद्यपि यह नहीं माना जा सकता कि प्रसरण यन्त्रवत स्वचालित है क्योंकि प्रसरण, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, तब वास्तविक होता है जब एक संस्कृति का तत्व दूसरी संस्कृति में इस प्रकार स्वीकृत हो जाता है कि ग्रहण किया हुआ तत्व, ग्रहण करने वाली संस्कृति का अंग बन जाता है। इसी कारण प्रसरण प्रक्रिया में मानव प्रतिकारक (Human Factor) महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

प्रसरण से परिवर्तन

प्रसरण, संस्कृति-तत्व पर निर्भर न होकर मानव की सीखने की क्षमता पर निर्भर करता है। अतः, प्रसरण प्रक्रिया इसी कारण अस्तित्व में आती है कि मानव विभिन्न संस्कृतियों में विभाजित होने तथा अलग अलग संस्कृतियों से प्रभावित होने पर भी अलग अलग संस्कृतियों के तत्वों को उपयोग में लाने में सफल होता है। योरोप में औद्योगिक क्रान्ति की जननी वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी (Scientific Technology) का संसारव्यापी प्रसार इसका उदाहरण है। प्रसरण में मानव प्रतिकारक की महत्ता इसी से सिद्ध होती है कि प्रसरण के प्रति वैसे ही सामाजिक अवरोध उत्पन्न होता है जैसे कि उपजों के प्रति। जैसा कि मुद्रण-यन्त्र, आलू और टमाटर के संसारव्यापी

सतत परिवर्तनशील है। किन्तु साथ ही साथ समाज रीतियां (Usages) तथा प्रक्रियाओं (Procedures) अधिकार (Authority) तथा पारस्परिक सहायता (Mutual Aid) बहुमुखी समूहनों (Many Groupings) तथा विभाजनों (Divisions) और मानव व्यवहार के नियन्त्रणों (Controls of Human Behaviour) तथा स्वाधीनताओं (Liberties) की एक प्रणाली है[1]। सामाजिक सम्बन्धों का एक पहलू साहचर्य (Association), संगठन (Organization) संरचना (Structure) तथा बहुमुखी सामूहीकरण (Groupings) का है तो दूसरा पहलू आदर्श नियमों (Norms) और उनसे उत्पन्न संस्थाओं का है।

सामाजिक आदर्श नियम (Social Norms), आदर्शों (Ideals) और महत्वों (Values) से सम्बन्धित रहते हैं और एक ओर, सामाजिक सम्बन्धों को आदर्श को प्रतिपादित करते हैं तथा, दूसरी ओर मानव व्यवहार को नियमित करते हैं। आदर्श नियम जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होते हैं यद्यपि उनमें तथा जैविक प्रवृत्तियों में बहुधा संघर्ष भी रहता है। समाज में विवाह तथा परिवार द्वारा यौन नियमन (Sex Regulation) इसका उदाहरण है। सामाजिक आदर्श नियमों को मानव व्यक्तित्व में उत्पन्न मनोवृत्तियों (Attitudes) तथा संवेगों (Sentiments) से सबल मिलता रहता है और इसी कारण समाज में जब कोई आदर्श नियम भंग होता है तो आदर्श नियम भंग करने वाले के प्रति समाज में रोष उत्पन्न होता है।

समाज में मनुष्य वस्तुतः आदर्श नियमों पर ही निर्भर करता है। मानव समाज के आदर्श नियम आनुवंशिक नहीं है। वे मानव की कृति है। अपनी सीखने (Learning) तथा प्रतीकात्मक संदेशवहन (Symbolic Communication) की क्षमताओं के कारण ही मनुष्य उनका निर्माण कर सका है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि संस्कृति सामाजिक आदर्श है। सामाजिक आदर्श के रूप में संस्कृति सामाजिक आदर्श नियमों में ही समाहित रहती है। मानव व्यवहार में आदर्श और वास्तविकता पारस्परिक सामंजस्य में रहते हुए भी अलग अलग रहते हैं। सामाजिक आदर्श नियम इसीकारण एक ओर, वास्तविकता से सम्बन्धित रहते हैं तो, दूसरी ओर, आदर्श से। इसके फलस्वरूप, आदर्श और वास्तविकता के बीच सामाजिक आदर्श नियमों का लम्बा सिलसिला पाया जाता है। अपने में आदर्श को समाहित किए हुए सामाजिक आदर्श नियम सामाजिक सम्बन्धों में प्रत्याशाओं (Expectations) को जन्म देते है, जो समाज के मूल में निहित साहचर्य (Association) का आधार बन जाती है।

सामाजिक आदर्श नियमों से ही संस्थाओं की उत्पत्ति होती है। एक संस्था सामाजिक आदर्श नियमों का वह जाल है जिससे मानव जीवन की एक या कई

---

1 मेकाइवर एण्ड पेज सोसायटी पृष्ठ 5

आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। विवाह आर्थिक व्यवस्था राजनतिक व्यवस्था, सम्बन्ध व प्रणाली (Kinship System) और धर्म व आधारभूत आवश्यकतायें हैं जो संस्थाओं द्वारा पूर्ण होती हैं। संस्थायें एक ओर सामाजिक आचरण नियमों में बंधी रहती हैं तो दूसरी ओर सामाजिक सम्बन्धों के जाल से। संस्था का सामाजिक पहलू समिति (Association) है। समिति, किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठित मानव समूह है जबकि संस्था किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए निर्धारित आचरण नियमों का जाल है। विवाह संस्था का समिति पक्ष परिवार है। समिति में उन सामाजिक साहचर्य (Association) में निहित सामूहीकरण (Grouping) का एक परिणाम है। समाज की धारणा में सामूहीकरण का भाव स्वयं ही निहित है जैसे हम संगठन। समूह कई प्रकार के होते हैं और समाजशास्त्रियों ने कई दृष्टिकोणों से उनकी व्याख्या भी की है जिसे यहाँ पर दुहराना विषयान्तिक होगा। यहाँ पर इतना कहना आवश्यक होगा कि जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति क्षेत्र (Territory) अपने प्रकार के प्रति सजगता (Consciousness of Kind) और सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर सामाजिक सम्बन्धों का सामूहीकरण होता है जिससे उत्पन्न समूह मानव-व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

एक समाज के विभिन्न समूह एक एकीकृत सामाजिक व्यवस्था में बंधे रहते हैं जिसे साधारणतः सामाजिक संगठन की संज्ञा प्रदान की जाती है। किन्तु सामाजिक सम्बन्धों के जाल का एक दूसरा पहलू भी है और वह है स्तरीकरण (Stratification) तथा उच्चोच्चपरम्परा (Hierarchy) का। सामाजिक सम्बन्धों के जाल में आयु (Age), लिंग (Sex), धन (Wealth) जन्मजात अथवा अर्जित (Achieved) प्रतिष्ठा के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति को एक विशिष्ट सामाजिक प्रतिष्ठा (Social Status) मिलती है और उसी पर उसकी सामाजिक भूमिका (Social Role) निर्भर करती है। सामाजिक सम्बन्धों के जाल में निहित प्रतिष्ठा भूमिका प्रणाली (Status Role System) एक ओर व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करती है, व्यक्ति तथा समाज में एकीकरण तथा तादात्म्य लाती है तथा, दूसरी ओर, वह सामूहीकरण का आधार बन जाती है जिसमें ऊँच-नीच का भाव पाया जाता है।

जब यह सामूहीकरण जन्मजात प्रतिष्ठा पर आधारित रहता है तो उसका परिणाम होता है जाति व्यवस्था जो भारतीय समाज की विशेषता है और जब यह अर्जित प्रतिष्ठा (Achieved Status) पर आधारित होता है तो उसका परिणाम होता है वर्ग व्यवस्था (Class System) जो योरोप अमरीकी समाज की विशेषता मानी जाती है। वास्तव में, प्रत्येक समाज में दोनों प्रकार की प्रतिष्ठाओं के तत्व मिल रहते हैं और इसी कारण, जाति तथा वर्ग सर्वव्यापी प्रत्यय हैं। हाँ, यह अवश्य है कि भारत में जाति के तत्व अधिक मात्रा में पाये जाते हैं और वहीं वर्ग के। जाति-वर्ग प्रणालियों में जो सामाजिक व्यवस्था उत्पन्न होती है, उस सामाजिक संरचना

की धारणा प्रदान की गई है। सामाजिक आदर्श नियम (Social Norms) सामाजिक संगठन (Social Organization) और सामाजिक संरचना (Social Structure) सामाजिक वास्तविकता के तीन पहलू हैं जिनके कारण समाज और संस्कृति एक में मिले रहते हैं। संस्कृति के विश्लेषण में सामाजिक संगठन तथा संरचना का विश्लेषण स्वतः आ जाता है।

समाज और संस्कृति का अन्तर एक दूसरे ढंग से भी समझा जा सकता है। समाज मानव में ही नहीं बल्कि मानवेतर प्राणियों में भी पाया जाता है। अपने सांस्कृतिक पहलू के ही कारण, मानव समाज मानवेतर प्राणियों के समाज से भिन्न हो जाता है। प्राणी संसार में समाज एक सार्वभौमिक प्रमेय है जबकि संस्कृति केवल मानव में ही पाई जाती है। इस दृष्टिकोण से तीन तथ्यों का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है—पहला सार्वभौमिक समाज के मूल आधार और विशेषताएं क्या हैं। दूसरा मानव तथा मानवेतर समाजों में क्या समानतायें हैं और तीसरा किन दशाओं में मानव समाज मानवेतर समाजों से भिन्न है। मानव तथा मानवेतर समाजों की समानता तथा भिन्नता में ही वे तथ्य छिपे हैं जो समाज और संस्कृति के अन्तर को समझने में सहायक हो सकते हैं।

समाज की धारणा में सामूहीकरण का भाव निहित है लेकिन समाज केवल समूहमात्र नहीं हैं। *समाज कोई वर्गीकृत श्रेणी भी नहीं है। समाज वस्तुतः निहित* है प्राणी द्वारा पर्यावरण के साथ किये जाने वाले सामाजिक अनुकूलन (Social Mode of Adaptation) में। अतिजीविता (Survival), प्रजनन (Procreation) और आहार पोषण (Nutrition) के लिये प्राणियों का पर्यावरण के साथ सामाजिक अनुकूलन *(Social Mode of Adaptation) करना आवश्यक है। सामाजिक* अनुकूलन एक वह माध्यम है जो पारस्परिक उद्दीपन (Mutual Stimulus) तथा प्रतिचार (Response) से प्रादुर्भूत साहचर्य (Association) से उत्पन्न होता है। साहचर्य ही समाज के सामूहीकृत रूप को जन्म देता है। पारस्परिक उद्दीपन और प्रतिचार वहां पाया जाता है जहां एक प्राणी से दूसरे प्राणी को इस प्रकार उद्दीपन मिलता है कि उद्दीप्त प्राणी उद्दीपक प्राणी के प्रति जागरूक (Aware) हो जाता है। प्राणी की जिस क्रिया में पारस्परिक उद्दीपन प्रतिचार पाया जाता है उस अन्तर्क्रिया की धारणा प्रदान की जाती है और अन्तर्क्रिया ही सामाजिक क्रिया (Social Act) का दूसरा नाम है। अन्तर्क्रिया वस्तुतः समाज का आधार है क्योंकि अन्तर्क्रिया पर आधारित सम्बन्ध ही सामाजिक सम्बन्ध है। अतः, समाज प्राणियों (Organisms) का वह सामूहीकरण (Aggregation) है जिसमें पारस्परिक उद्दीपन जागरूकता तथा प्रतिचार के जाल के आधार पर, प्राणी-साहचर्य (Association of Organisms) उत्पन्न होता है। समाज अपने मूलरूप में, अन्तर्क्रिया से उत्पन्न होने वाले प्राणी साहचर्य में ही निहित रहता है।

समाज इस प्रकार, एक जैविक आवश्यकता है। समाज जीव के ही समान एक सुगठित इकाई है लेकिन समाज जीव नहीं है। एक सहचारी समूह होने के कारण, समाज जीव से सर्वथा भिन्न हो जाता है। प्राणी-अतिजीविता (Survival of Organism) में समाज एक महत्त्वपूर्ण कारक है[1]। इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्राणी अतिजीविता समाज पर ही निर्भर है। अतिजीविता प्राणी तथा समाज दोनों पर निर्भर है। हाँ, यह अवश्य है कि जहाँ समाज अस्तित्व में आया है वहाँ समाज अतिजीविता का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम बन गया है। समाज के माध्यम से प्राणी पर्यावरण के साथ अनुकूलन तथा सन्तुलन करने में सफल होता है समाज से प्राणी को बल प्राप्त होता है समाज के ही माध्यम से प्राणी को सुरक्षा (Protection) तथा आहार पोषण (Nutrition) प्राप्त होते हैं और समाज के ही माध्यम से प्रजनन की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। प्राणी-साहचर्य जो पारस्परिक उद्दीपन जागरूकता तथा प्रतिचार पर आधारित रहता है समाज का मूल आधार है किन्तु यह समझना भूल होगी कि समाज केवल प्राणियों से ही मिलकर बनता है। समाज, वस्तुतः, प्राणी से पर पारस्परिक उद्दीपन प्रतिचार की शृंखलाओं से बना एक विन्यास (Arrangement) है जो निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। साहचर्य से सामाजिक कार्यों का विशेषीकरण (Specialization of Social Functions) उत्पन्न होता है जो समाज के एकीकरण तथा समन्वय में सहायक होता है। साहचर्य विशेषीकरण तथा एकीकरण से समाज में, एक ओर, संरचना उत्पन्न होती है तथा, दूसरी ओर, समन्वय का अभ्युदय होता है।

प्राणी की एक जैविक आवश्यकता के रूप में, समाज के मुख्य चार सार्वभौमिक आधारभूत कार्य हैं। पहला जनसंख्या को बनाये रखना, जिसके मुख्य साधन हैं आहारपोषण का प्रबन्ध (Provision of Nutrition) क्षति या चोट से सुरक्षा (Protection against Injury) और नये प्राणियों का प्रजनन (Reproduction

---

1 एली (Allee) द्वारा सफेद चूहों पर किया गया परीक्षण इसका उदाहरण है। इस परीक्षण में यह दिखाया गया है कि सफेद चूहे जब छोटे छोटे समूहों में रखे जाते थे तब उनकी वृद्धि अधिक होती थी। यदि किसी चूहे के सिर में चोट लग जाती थी या कोई घाव हो जाता था तो दूसरे चूहे चाटकर उसे ठीक कर लेते थे। ऐसी दशा में यदि कोई चूहा अलग रखा जाता था तो अन्य चूहे उसकी देखभाल नहीं कर पाते थे और उसकी अतिजीविता की सम्भावना कम हो जाती थी। जब पिंजड़े का ताप कम कर दिया जाता था और शीत बढ़ाया जाता था तो सारे चूहे एक साथ इस प्रकार सट कर बैठ जाते थे कि एक दूसरे के सम्पर्क से अपने को गर्म रख सकें—इसकोविट्स मैन एण्ड हिज यवस पृष्ठ 32

of New Organisms)। दूसरा समाज की जनसंख्या मे सामाजिक कार्यों का विभाजन। इसी आधार से स्तरीकरण और सामाजिक प्रतिष्ठा तथा भूमिका प्रणाली उत्पन्न होती है। तीसरा, समाज समूह म समन्वय बनाये रखना जिसके लिये एक ओर समाज सदस्यो म सम्पर्क बनाये रखने तथा पारस्परिक सहिष्णुता की और दूसरी ओर, बाह्य सदस्या क प्रतिरोध की प्रेरणा मिलती है। यही स समाज तथा व्यक्ति म तादात्म्य उत्पन्न होता है। व्यक्ति समाज क साथ अपना अभिनान (Identity) स्थापित करता है। चौथा, समाजिक प्रणाली (Social System) को नरंतय प्रदान करना।

समाज वस्तुत प्राणी की उस जविक क्षमता की उत्पत्ति है जिसके कारण वह पर्यावरण क साथ सामाजिक अनुकूलन करने मे समथ होता है। आगिक उदविकास (Organic Evolution) क साथ साथ प्राणी की यह क्षमता भी बढी है और इसीकारण आगिक उदविकास के साथ साथ समाज क गुणों और आधारा की अभिव्यक्ति भी बदल गई है। प्रत्येक प्राणी मे समाज के आधारा की अभिव्यक्ति उसकी जविक सरचना की विशेषताओ के अनुसार हुई ह। कीडो मकोडा, चीटिया, मधुमक्खिया, चिडियो, बानरा और मनुष्य म पाये जाने वाले समाजों का अन्तर इसका प्रमाण है। इसलिये किंगसले डविस[1] (Kingsley Davis) ने यह कहा है कि समाज की उत्पत्ति आगिक उद्विकास स न होकर आगिक उदविकास के आधार पर हुई ह। आगिक उदविकास क बहुमुखी होने के कारण ही समाज एक विचरणशील प्रमेय (Variable Phenomenon) बन गया है। लेकिन, समाज की विचरणशीलता क बावजूद भी, सभी प्रकार के समाजो म कुछ आधारभूत तत्व पाये जाते है। साहचय, समूह मे रहन की प्रवत्ति सामाजिक सम्बन्धो म प्रभुत्व अनुवतन (Dominance Submission), व्यक्तियो समूहो और व्यक्तियो तथा समूहो क बीच पाई जान वाली प्रतियोगिता (Competition) तथा सहकारिता के प्रमेय सामूहीकरण (Grouping) सामाजिक सम्बन्धों की जटिलता व्यक्ति म समाज क साथ तादात्म्य तथा अभिनान (Identity) स्थापित करने की प्रवत्ति आयु (Age) लिंग (Sex), बल (Strength) तथा प्रतिष्ठा (Status) पर आधारित विभिन्न सामाजिक भूमिकायें (Social Roles), सामाजिक सम्बन्धो म निहित पारस्परिक प्रत्याशायें (Expectations) और सामाजिक सरचना तथा नैरंतय सभी समाजो म पाये जाते हैं।

प्रत्येक समाज म व्यक्ति को अपने समाज के व्यवहार कलापो को ग्रहण करना पडता है। सभी समाजो मे व्यक्ति की सदस्यता जन्म पर आधारित होती है

1 डेविस किंग्सले ह्यूमन सोसायटी अध्याय 2

किन्तु यहाँ कुछ बाह्य सदस्य भी समाज में दाखिल किये जाते हैं। चाहे कोई व्यक्ति किसी समाज विशेष में जन्मा हो या बाहर से आकर सदस्यता ग्रहण की हो, दोनों अवस्थाओं में समाज और उसके सदस्यों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करना आवश्यक हो जाता है। यहीं से, समाज तथा व्यक्ति के बीच तादात्म्य लाने वाली प्रक्रिया में सामाजीकरण (Socialization) का अभ्युदय होता है। सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों में भाग लेकर तथा समाज के व्यवहार कलापों (Patterns of Behaviour) को ग्रहण करके और समाज के साथ सामञ्जस्य स्थापित करके, समाज में अपने लिए एक स्थान बनाता है। सामाजीकरण में अभ्यासीकरण (Habituation) अनुकरण (Imitation) और सीखने (Learning) का महत्वपूर्ण हाथ रहता है। प्राणी के सामाजीकरण पर किये गये परीक्षणों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि किस सीमा तक इसमें मूल प्रवृत्तियों का हाथ रहता है और किस सीमा तक सामाजिक उद्दीपन (Social Stimulation) का। उदाहरणार्थ मुर्गी का बच्चा मुर्गी को दाना चुगते देख कर ही दाना चुगना प्रारम्भ करता है यद्यपि उसमें दाना चुगने की जैविक क्षमता पहले ही से विद्यमान रहती है। इस विषय में दो तथ्य स्पष्ट हैं—एक, जिस प्राणी की जैविक संरचना मानव की जैविक संरचना के जितना समीप है, उतना ही उसमें सीखने की अधिक क्षमता है यद्यपि भाषागत प्रतीकों तथा पीढ़ी दर पीढ़ी संचित सामाजिक अनुभव के माध्यम से सीखने की क्षमता केवल मनुष्य में ही है। दूसरे, जिस प्राणी की जैविक संरचना मानव की जैविक संरचना से जितना दूर है, उसके सामाजिक व्यवहार के निर्धारण में आनुवंशिक कारकों का उतना ही अधिक हाथ है।

संस्कृति के आधारों को स्पष्ट करते समय यह दिखाया गया है कि अपनी जैविक संरचना में मानव अन्य प्राणियों से भिन्न है और इसी कारण मानव-समाज भी अन्य प्राणियों के समाज से भिन्न है। यह मानव की जैविक संरचना की विशेषताओं का ही परिणाम है कि मानव में सीखने के आधार और यन्त्र अधिक तीव्र हो गये हैं और उसके सीखने का क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है। भाषागत प्रतीकों और लिपि के कारण मानव का सीखना अधिक गतिशील हो गया है। प्रौद्योगिकी (Technology) का निर्माण केवल मनुष्य ने ही किया है। मानव की सीखने की क्षमता तथा प्रौद्योगिकी के कारण मानव समाज में पाया जाने वाला विशेषीकरण आनुवंशिकता पर आधारित नहीं है। मनुष्य को अपने शरीर का ताप समान रखने की आवश्यकता है और इसी कारण मनुष्य गर्मी में शीतलता लाने का प्रयास करता है और शीतलता में गर्मी। इसका परिणाम यह हुआ है कि मानव में यौन क्रिया ऋतुओं के प्रभाव से मुक्त हो गई है। मानव में यौनिक क्रिया सतत चलती रहती है जिसके कारण मानव की प्रजनन-क्षमता अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक बढ़ गई है। उन्नत विचार-क्षमता के कारण मानव में आदर्शों का अभ्युदय हुआ है जिसके कारण मानव-

समाज, आनुवंशिक कारको के स्थान पर, आदर्श नियम व्यवस्था (Normative Order) से अधिक प्रभावित रहता है। सक्षेप मे, जविक आनुवंशिकता (Biological Heredity) की अपेक्षा, मानव व्यवहार तथा समाज सामाजिक आनुवंशिकता (Social Heredity) से अधिक प्रभावित रहते हैं। मानव समाज में सामाजिक आनुवंशिकता के पहलू का जुड़ जाना ही मानव समाज की विशेषता है। मानव की सामाजिक आनुवंशिकता में ही संस्कृति निहित है। इसी आधार पर किम्सले डविस ने विभिन्न समाजों का दो श्रेणियों में वर्गीकरण किया है। एक श्रेणी में मानवेतर प्राणियों के समाज आते हैं जिन्हें जैविक सामाजिक प्रणाली की संज्ञा दी गई है और दूसरी श्रेणी में मानव समाज आता है जिसे सामाजिक-सांस्कृतिक प्रणाली कहा गया है।

मानव एक है पर अनेक। मानव संस्कृति भी 'अविभक्तं विभक्तेषु' (एकता-अनेकता) के प्रमेय में सन्निहित है। इसी कारण सामान्य संस्कृति (The Culture) तथा विशिष्ट संस्कृति (A Culture) में अंतर भी किया जाता है। उसी प्रकार मानव समाज में भी एकता अनेकता का प्रमेय सन्निहित हो गया है। गिंसबर्ग के अनुसार, मानव सम्बन्धों का सम्पूर्ण जाल सामान्य समाज है जबकि विशेष समाज कुछ व्यक्तियों का वह समूह है जो एक विशेष प्रकार के सम्बन्धों या व्यवहार प्रकारों (Modes of Behaviour) से बंधा रहता है। विशिष्ट समाज की यह धारणा इतनी परमाणुवादीय (Atomistic) प्रतीत होती है कि अंततोगत्वा समाज तथा समूह का अंतर ही निरापद हो जाता है।

पर्यावरण भौगोलिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों की भिन्नताओं ने विशिष्ट मानव समाजो को जन्म दिया है। हिमालय, अरब सागर हिन्द महासागर तथा बंगाल की खाड़ी ने उन भौगोलिक परिस्थितियों को विशिष्टता प्रदान की जिसे भारत भूमि की संज्ञा दी गई है। इन विशिष्ट भौगोलिक परिस्थितियों में विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियाँ तथा प्रक्रियायें चलती रही है जिनसे भारतीय समाज का निर्माण हुआ है। देश काल की सीमाओं से बँधने पर ही विशिष्ट अस्तित्व में आता है। अतः विशिष्ट समाज देश काल की सीमा से बंधा एवं वह समाज विशेष है जिसकी अपनी विशिष्ट संस्कृति है। पर्यावरण और भौगोलिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों के अतिरिक्त संस्कृति विकास के स्तर की भिन्नता, राष्ट्र, धर्म तथा भाषा ने भी विशिष्ट समाज के परिसीमन में योग दिया है। इन्ही कारको का परिणाम है कि विशिष्ट समाज मे भी विशिष्ट समाजों की उत्पत्ति होती है। भारत में हिन्दू मुस्लिम और आदिवासी समाजों की विशिष्टता इसका उदाहरण है।

नैरन्तर्य संस्कृति और समाज दोनों की विशेषता है। संस्कृति के नैरन्तर्य का आधार समाज है और समाज के नैरन्तर्य का आधार संस्कृति। इसी कारण, मानव स्तर पर संस्कृति तथा समाज दोनों मे ऐतिहासिकता का समावेश होता है। दोनों का

अस्तित्व म काल (Time) की पृष्ठभूमि रहती है। संस्कृति परिवर्तन सामाजिक व्यवस्था में प्रतिबिम्बित होता है और सामाजिक परिवर्तन संस्कृति म। अत, संस्कृति के विश्लेषण म समाज का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है और समाज के विश्लेषण म संस्कृति का। किसका, किस सन्दभ म कहा तक विश्लेषण हो यह विश्लेषणकर्ता के दृष्टिकोण और आवश्यकता पर निभर करता है।

४

संस्कृति और सभ्यता

इतिहासज्ञ और समाजशास्त्री संस्कृति (Culture) और सभ्यता (Civilization) म अन्तर करके उनको अलग-अलग प्रमय मानते हैं जबकि मानवशास्त्री उनको एक ही प्रमय के दो ऐसे स्तर मानते हैं जिनम केवल मात्रा का अन्तर है न कि प्रकार का। सभ्यता शब्द अंग्रेजी के शब्द सिविलीजेशन (Civilization) का हिन्दी पर्याय है। शब्दकोशो मे सभ्यता मे अथ लिया जाता है 'समाज या संस्कृति की प्रगति से, या प्रगति की उस दशा स जिसमे कला, विज्ञान और राज प्रबन्ध (Statecraft) का अपेक्षाकृत अधिक विकास हुआ हो, या उस संस्कृति स जो वतमान यूरोप का लक्षण है'। मानव इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रौद्योगिकी और शहरीकरण के विकास के साथ-साथ विज्ञान कला राज प्रबन्ध की उन्नति होती आयी है और वतमान योरोप की संस्कृति उसी निरन्तर विकास का एक परिणाम है। योरोपीय संस्कृति स उत्पन्न कुछ तत्व (जैसे शहरीकरण प्रौद्योगिकी, औद्योगीकरण, विशेषीकरण, बौद्धिकता धर्मनिरपेक्षिता, राजनैतिक तथा आर्थिक शक्तियों और साधनो का केन्द्रीकरण और प्रभुता सम्पन्न राज्य) आज योरोपीय संस्कृति के ही तत्व नही हैं—ये तत्व सारे संसार म फैल रहे हैं और एक प्रमुख परिवतनकारी समूह बन गये हैं। इसी समूह को समाजशास्त्री सभ्यता की धारणा म बाधते हैं। सभ्यता का घनिष्ट सम्बन्ध पार्थिव म स्थापित किया जाता है। ओडम (Odum) ने सभ्यता के पाच आधार माने हैं—1 शहरीकरण (Urbanization) के साथ साथ विशेषीकरण (Specialization) और सकेन्द्रण (Concentration) 2 प्रौद्योगिकी और उद्योग तन्त्र (Industrialism), 3 बौद्धिकता तथा धर्मनिरपेक्षिता 4 शक्ति का केन्द्रीकरण और 5 सर्वाधिकारी राज्य (Totalitarian State)[1]। इसी आधार पर यह कहा गया है कि सभ्यता संस्कृति की एक विकसित

1 ओडम, एच० डब्ल्यू०, अण्डरस्टैंडिंग सोसायटी अध्याय 15

अवस्था तथा विशेषीकृत प्रौद्योगिक स्तर (Specialized Technical Level) है। किन्तु, यह 'विकसित अवस्था तथा विशेषीकृत प्रौद्योगिक स्तर' क्या है? इसका उत्तर मानवशास्त्रियों की उस परिभाषा में मिलता है जिसमें यह कहा गया है कि सभ्यता शहरी संस्कृति है।

समाजशास्त्रियों की ऐसी मान्यता है कि संस्कृति की अपेक्षा सभ्यता का अधिक यथार्थ मापदण्ड हो सकता है। सभ्यता सदैव विकासोन्मुख रहती है और बिना किसी प्रयास के स्थानांतरित होती रहती है। इसी दृष्टिकोण से सभ्यता की परिभाषा में यह कहा गया है कि सभ्यता से तात्पर्य उस सम्पूर्ण यन्त्र (Mechanism) और संगठन से है जो मनुष्य ने अपने जीवन की दशाओं को नियन्त्रण में लाने के प्रयास में निर्मित किया है। इसमें मानव की सामाजिक संगठन प्रणाली ही नहीं वरन उसके द्वारा निर्मित प्रविधियाँ (Techniques) और भौतिक यन्त्र (Material Instruments) भी सम्मिलित हैं। संस्कृति मानव की उन कृतियों से बनती है जिनसे उसकी लालसाओं (Cravings) की तुष्टि होती है या जिनको मानव साध्य साधन के रूप में स्वीकार करता है। ऐसी कृतियों का सम्बन्ध आन्तरिक आवश्यकताओं से होता है न कि बाह्य आवश्यकताओं से। ये कृतियाँ श्रद्धाओं, रागात्मक लगन, बौद्धिक साहसिकता (Intellectual Adventures) और शैलियों (Styles) के क्षेत्र से सम्बन्धित हैं। संस्कृति सभ्यता का वैषम्य (Antithesis) है। अपने जीवन यापन के प्रकारों, विचारों, कला (Art), धर्म (Religion), प्रतिमोदन (Recreation) और आनन्द विनोद (Enjoyment) के दैनिक सन्व्यवहार (Daily Intercourse) में, संस्कृति मानव स्वभाव की अभिव्यक्ति है[1]।

ओडम के अनुसार, सभ्यता की अपेक्षा, संस्कृति में स्वशाश्वतीकरण (Self Perpetuation) और स्थायित्व की अधिक क्षमता है। संस्कृति में सभ्यता की अपेक्षा, वह शक्ति भी अधिक अन्तर्निहित है जिसके द्वारा संस्कृति अपना पुनरुत्पादन (Reproduction) ही नहीं कर सकती है वरन विकास की विभिन्न अवस्थाओं में उद्विकसित भी होती रहती है। अतः, संस्कृति का सम्बन्ध जन से है जबकि सभ्यता का सम्बन्ध राज्य (State) से। संस्कृति सम्प्रथित समाज (Composite Society) है जिसमें अपने पुनरुत्पादन की क्षमता है और सभ्यता संघटक समाज (Constituent Society) है जिससे सीमित प्रकार के विशेष उद्देश्य या उद्देश्यों की ही पूर्ति होती है। संस्कृति समाज के विकास का सर्वोच्च साधन है जबकि सभ्यता, अपने में ही सीमित, एक साधन है न कि किसी साध्य के लिए साधन। संस्कृति एक आधारभूत सामाजिक प्रक्रिया (A Fundamental Social Process) और सामाजिक साधना (Social Means) का प्रतीक है जबकि सभ्यता प्रतीक है सामाजिक पदार्थों

1 ओडम, एच० डब्ल्यू०, अण्डरस्टैंडिंग सोसायटी पृष्ठ

(Social Products) और पार्थिव प्राविधिक साधना (Material Technical Means) की। संस्कृति प्रतीक है वृद्धि (Growth), विकास (Development) उद्विकास (Evolution) और अतिजीविता (Survival) की और सभ्यता प्रतीक है प्रगति (Progress), सिद्धि (Achievement), क्रान्ति (Revolution) और अधोगति (Decline) की। मशीन (Machine) जनपुंज (Mass) और वर्ग (Class) सभ्यता के चिह्न हैं। जन (The people), प्रजातन्त्र (Democracy) मानव चेष्टायें (Human Striving) और वैयक्तिक तथा व्यक्तिगत (Personal Individual) अवसर (Opportunities) संस्कृति के प्रतीक हैं। संस्कृति यौवनमय (Youthful), विचारमय (Ideological) अनौपचारिक (Informal) यथार्थिक (Realistic) और मानव जाति की भावना तथा आत्मा की सार वस्तु है। सभ्यता का झुकाव बौद्धिकता, संगठन, प्राविधिकता और युटोपिया (Utopia) की ओर अधिक रहता है। संस्कृति प्रतिनिधि है सामाजिक निर्णयवाद (Social Determinism) की जबकि सभ्यता प्रतीक है प्राविधिक निर्णयवाद (Technical Determinism) की। संस्कृति का विकास जन जीवन के धरातल से होता है जबकि सभ्यता जन जीवन पर अध्यारोपित (Superimposed) होती है। साधारणतः, संस्कृति सहवासी समुदाय और प्राथमिक समूहों के जीवन का प्रतिबिम्ब होती है जबकि सभ्यता प्रतिबिम्ब होती है नगरीय प्राप्तियाँ (Urban Attainments) औद्योगिक व्यवस्था (Industrial Order), द्वितीयक समूहों (Secondary Groups) बड़े-बड़े शहरों की तरह संगठित राष्ट्रों और साम्राज्य की। सामाजिक उद्विकास की सभी अवस्थाओं में लागू होने वाली, संस्कृति संचयी विरासत (Cumulative Heritage) है जबकि सभ्यता विकसित प्रगति का एक अवसाद होती है[1]।

साधारणतः संस्कृति और सभ्यता में ऐसे ही विभेद किये जाते हैं। इन विभेदों के आधार पर सभ्यता का जो रूप निखरता है उसमें कुछ अवांछनीयता का भाव झलकता है। यदि संस्कृति वांछनीय है तो सभ्यता भी क्योंकि संस्कृति और सभ्यता दोनों ही मानव की कृतियाँ हैं। इन विभेदों के बावजूद भी यह कहना कठिन है कि कहाँ सभ्यता प्रारम्भ होती है और कहाँ संस्कृति। यदि सामान्य मानव-संस्कृति के सन्दर्भ में विचार किया जाय तो सभ्यता भी संस्कृति में लीन हो जायगी क्योंकि उस स्तर पर सभी कुछ मानव संस्कृति का अंग है। सभ्यता और संस्कृति के विभेद अधिक यथार्थ तब लगते हैं जब हम संस्कृति विशेष के सन्दर्भ में मानव कृतियों (उनके स्वरूपों और सम्बन्धों) पर विचार करते हैं। मानव इतिहास के प्रारम्भ में ही शहरीकरण औद्योगिकी बौद्धिकता इत्यादि उन विशेषताओं का जन्म हो चुका था जिन्हें आज

1 यहाँ तक प्रस्तुत सभ्यता की धारणा के विशेष अध्ययन के लिए देखिये ओडम की पुस्तक अण्डरस्टैंडिंग सोसायटी अध्याय 17

हम सभ्यता के लक्षण मानते है। इन लक्षणों का विकास शहरीकरण और प्रौद्योगिकी के साथ साथ बढ़ा है। अत यह कहना गलत है कि सभ्यता ही सचयी प्रक्रिया है। सभ्यता और संस्कृति दोनो ही सचयी प्रक्रियायें हैं। इसका यह तात्पय नही कि *सभ्यता और संस्कृति म अतर करना आवश्यक नहीं।* वतमान ससार म यारोप की औद्योगिक शहरी व्यवस्था फल रही है और एक प्रमुख परिवतनकारी शक्ति का रूप ले रही है। आज तक के उच्चतम विकास से एक ऐसा सकुल बन गया है जिसे धारणा *की सीमा म लाना आवश्यक है।* शहरी प्रौद्योगिक औद्योगिक तत्व और उनसे उत्पन्न सामाजिक आर्थिक विशेषताए इस सकुल के मुख्य आधार हैं। यही सकुल सभ्यता है जो वस्तुत प्रतीक है मानव संस्कृति के विकास की एक अवस्था विशेष का। इसी दृष्टिकोण से यह कहना ठीक होगा कि सभ्यता शहरी व्यवस्था की संस्कृति है।

५

संस्कृति के कारक तत्व

यह निर्विवाद है कि मानव की शारीरी दैहिक (जवकीय) आवश्यकतायें संस्कृति निर्माण में प्रथम कारक हैं। शिकार करने के लिए शेर के पास पजे हैं। शरीर रक्षा के लिए बिच्छू के पास उसका विषभरा डक है और शरीर को गम रखने के लिए टुण्ड्र प्रदेश के जानवरों के शरीर पर बाल। किन्तु मनुष्य के पास न तो शेर के समान कोई पजा है न बिच्छू के समान कोई डक और न शरीर को गम रखने के लिए शरीर पर उगने वाले घने लम्बे बाल। गर्मी सर्दी से बचने के लिए मनुष्य को कपडो और घर की आवश्यकता है, *भूख मिटाने के लिए फल* अनाज तथा शिकार की और अपने बचाव के लिए अस्त्र शस्त्रों की। संस्कृति को जन्म देने वाली शरीरी दैहिक आवश्यकतायें मानव का शरीर सरचना से उत्पन्न होती है और मानव की शरीर सरचना आगिक उद्विकासी प्रक्रिया (Organic Evolutionary Process) की उत्पत्ति है। सीधे खडे होकर दो परो पर चलने की क्षमता चलने फिरने के भार से हाथों का मुक्त होना, हाथ और कलाई का अधिक सुगमता से चारों ओर घुमा सकना, अगुलियो और अगूठे की सहायता से वस्तुओ को पकड कर उनको अनेक पहलुओं से देख सकना दृष्टि म केन्द्रीकरण की क्षमता (त्रिविम दृष्टि Stereoscopic Vision), अमूत विचार क्षमता (Abstract Thinking), तार्किक तथा काय कारण सम्बन्ध स्थापित कर सकने म सक्षम मस्तिष्क और भाषा के माध्यम से गढे हुए प्रतीकों के द्वारा विचारों के आदान प्रदान की शक्ति वे शारीरिक विशेषतायें है जो मानव को प्रकृति से वरदान के रूप में मिली हैं और जिन्होंने मानव को संस्कृति-

निर्माण की क्षमता प्रदान की है। मानव मस्तिष्क, हाथ और भाषा ही वे मुख्य उपकरण हैं जिनके द्वारा संस्कृति निर्माण सम्भव हुआ। आंगिक उद्विकास की प्रक्रिया ही ऐसी रही है कि, एक ओर, मानव नाम के प्राणी ने उन शारीरिक उपकरणों को पाया जिनसे अन्य प्रकार के प्राणी प्रकृति से सामञ्जस्य स्थापित किया करते हैं और, दूसरी ओर, उसे वे शारीरिक विशेषताएं प्राप्त हुईं जिनकी सहायता से उसने प्रकृति में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए अशरीरी (Extra Corporeal) उपकरण उत्पन्न किए। यही नहीं, भाषा को निर्मित करने की क्षमता के कारण, मानव अपने अनुभवों को परम्परागत बनाने में सफल हुआ। कार्य कारण सम्बन्ध स्थापित कर सकने की क्षमता और हाथ की सरचना से मिले कौशल ने यदि अशरीरी उपकरणों (मकान, यातायात के साधन कृषि, कपड़े, कला, राज्य इत्यादि) के निर्माण में सहायता की तो अमूर्त विचार चिन्तन की क्षमता और भाषा प्रतीकों ने अनुभवों को सुरक्षित रखने और आवश्यकताओं को गढ़ने में सहायता की। इन्हीं क्षमताओं के कारण, अन्य प्राणियों के विपरीत, यदि मानव को प्रकृति के अनुकूल बनना पड़ा तो उसने प्रकृति को भी अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। यह सर्वविदित है कि यदि मनुष्य हवाओं के रुख को न बदल सका तो उसने नावों में परदे लगाकर यातायात में हवा का लाभ उठाया, यदि वह नदियों की प्रलयकारी बाढ़ से न बच सका तो उसने बांध-बांध कर उन पर नियन्त्रण पाने का प्रयत्न किया। प्राकृतिक सन्तुलन को समाप्त कर मानव ने अपना एक अलग सन्तुलन (सांस्कृतिक सन्तुलन) स्थापित किया। संस्कृति, वस्तुतः, वह परदा है जो मानव ने अपने और प्रकृति के बीच तान रखा है[1]। ✓

६

संस्कृति ऐतिहासिक पक्ष

सर चार्ल्स डार्विन (Sir Charles Darwin) और उनके अनुयाइयों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुसार, मनुष्य और उसकी शारीरिक विशेषताएं आंगिक उद्विकासी प्रक्रिया की उत्पत्ति हैं। जीव विकास-वेत्ताओं (Palaeontologists) और भूगर्भवेत्ताओं (Geologists) के अनुसार इस पृथ्वी के वर्तमान तथा विलुप्त प्राणी उद्विकासी आंगिक प्रक्रिया की उत्पत्ति हैं। प्राणी प्राणी की शरीर रचनाओं में पाई जाने वाली समानताएं और पृथ्वी के गर्भ में पाये गये लुप्त प्राणियों के कंकाल (जीवाश्म

1 विशेष अध्ययन के लिए देखिए प्राइन साइल्ड कृत मैन मेक्स हिमसेल्फ अध्याय [illegible]

fossil), इसके प्रमाण है। जीव विकास विज्ञान वेत्ताओ के अनुसार इस बात के प्रमाण अवश्य मिलते है कि आज से सकडो करोडो वर्ष पूर्व एक यह युग था जब एककोषी (प्रजीव Protozoa) जीव उत्पन्न हुए। इस युग को आर्कियोज्वायक (Archaeozoic प्राजीवीय) युग कहा गया है। उसके बाद प्रोटिरोज्वायक (Proterozoic पूर्व पुराजीवीय) युग म बहुकोषी (Matazoa) प्राणियो की उत्पत्ति हुयी। मानव बहुकोषी है, अतएव उसके उद्गम की जडें इसी युग के विकास म ह। पेलियोज्वायक (Palaeozoic पुराजीवीय) युग को मछलियो का युग कहा गया है क्योकि इस युग मे रीढधारी (Vertebrate) प्राणियो के विकास के दौरान म मछलियो का विकास हुआ। इस युग मे प्राणिक विकास काफी गति से हुआ। इस युग के अन्त तक उभयचरा (Amphibia मण्डूक जैसे प्राणी जो पानी म भी रह सकते है और पृथ्वी पर भी) और रेंगने वाले प्राणियो का विकास हो चुका था। मेसोज्वायक (Messozoic मध्यजीवीय) युग म रेंगने वाले प्राणियो (Reptiles सरीसृपो उरगो) का चरम विकास हुआ और यह विकास इस सीमा तक पहुँचा कि इस युग के अन्त तक इस युग म विकसित, भारी भरकमवाली रेप्टाइलो (Peptiles) का अन्त हो गया। पेलियोज्वायक युग के अन्तिम अध्याय मे छोटे स्तनधारी (स्तनपायी, Mammals) प्राणी अस्तित्व म आ चुके थे। मेसोज्वायक युग म प्रचण्ड, दैत्याकार भारी भरकम वाली रेप्टाइलो ने पृथ्वी पर इतना प्रभुत्व जमा रक्खा था और उनसे पृथ्वी इतनी अक्रान्त थी कि वर्तमान स्तनपायी प्राणियो के पूर्वज छिपे से रहे और उनका विकास रुका सा रहा। मेसोज्वायक युग के बाद सेनोज्वायक [1] (Cenozoic नूतन जीवीय) युग म वर्तमान स्तनपायी प्राणियो का, जिनम मनुष्य भी शामिल है, विकास हुआ। जीव विकास के दृष्टिकोण से सेनोज्वायक को दो युगो म बाटा गया है—एक टर्शियरी (Tertiary) और दूसरा क्वाटनरी (Quaternary)। टर्शियरी म बडे बडे स्तनपायी प्राणियो (बन्दरो, वानरो) और मानव के प्रकार के तथा स्वय मानव को जन्म देने वाली प्राणिक शाखा का विकास हुआ। क्वाटनरी युग के प्रारम्भ होते होते जीवाश्म के रूप म ऐसे प्राणी मिलते है जो वस्तुत मानव के समान नही हैं किन्तु अपनी शरीर रचना म वानरो की अपेक्षा मानव के अधिक निकट ह। क्वाटनरी युग का प्रारम्भ दस लाख वर्ष ईसा पूर्व हुआ था और वह वर्तमान मे समाया हुआ है। इस युग के मध्य मे वर्तमान मानव के जीवाश्म (Fossils) मिलते है। अतएव, यह कहा जा सकता है कि वर्तमान मानव का अस्तित्व लगभग पचास हजार वर्ष से अधिक पुराना नही है। प्राणिक विकास के इस सक्षिप्त विवरण स यह न समझना चाहिए *कि ये युग पूर्व निर्धारित थे और किसी अदृश्य योजना के अनुसार यथा अवसर पर* प्राणी विकसित होत गए। प्राणिक उद्विकास एक जटिल प्रक्रिया है जिसम आनुवंशि

1 सेनोज्वायक को केनोज्वायक (Cainozoic) भी कहा जाता है।

कता और पर्यावरण का हाथ रहा है। जीव (Organism) में निरंतर परिवर्तन होने के कारण ही ये विकास सम्भव हुआ है और स्वयं मानव का शरीर भी अनेक परिवर्तनों का परिणाम है। यह विकास और परिवर्तन क्या हुआ ? मानव इस पृथ्वी पर क्यों विकसित हुआ ? इन प्रश्नों का शास्त्रीय स्पष्टीकरण तो सम्भव हुआ है किन्तु, इस विकास का क्या उद्देश्य है इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर न दिए जा सके हैं और न दिए जा सकते हैं क्योंकि इन प्रश्नों का स्थान दर्शन में है न कि समाजशास्त्र में। हाँ, यह अवश्य है यदि मानव का शनैः शनैः विकास हुआ, यदि मानव का भी आदि है तो मानव द्वारा निर्मित संस्कृति का भी आदिकाल है और उसकी भी अपनी विकास कहानी है[1]।

सिद्धान्त इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि संस्कृति का आदि और उसका विकास क्रम नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ और मध्य में मानवशास्त्रियों ने जहाँ, एक ओर मानव के आंगिक और सांस्कृतिक विकास की गुत्थियों को सुलझाया वहाँ, दूसरी ओर, आदिकालीन संस्कृति की खोज के व्यूह में भी भटक गए। इसी प्रयास में सांस्कृतिक उद्विकासवाद (Cultural Evolutionism) की धारणा का जन्म हुआ और इस धारणा के प्रतिष्ठापकों ने यह प्रतिपादित किया कि इतिहास की गति प्रगति की ओर है। दूसरी ओर, ईसाइयत से प्रभावित इतिहासकारों ने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि मानव पतन की ओर जा रहा है। किन्तु, शास्त्रीय दृष्टिकोण से ये दोनों मत गलत हैं क्योंकि इतिहास हमें नहीं बता सकता है कि मानव प्रगति की ओर है या पतन की ओर। प्रगति क्या है ? इस प्रश्न का शास्त्रीय उत्तर ही कठिन है। तथ्यों का निरीक्षण और वर्गीकरण करके तथा उनमें निहित कार्य कारण के सम्बन्धों के आधार पर विकास प्रक्रिया को प्रतिपादित करके ही शास्त्र भूत और वर्तमान को एक शृंखला में जोड़ने वाली कड़ियों को स्पष्ट कर सकता है। संस्कृति उद्विकास एक निरंतर सक्रिय प्रक्रिया है और, परिवर्तनों के रूप में, एक ऐतिहासिक तथ्य है किन्तु दुर्भाग्यवश, इतिहासकारों ने, इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के बजाय, या तो उसमें उद्देश्य, पूर्व निर्धारित गति और दिशा ढूँढने का प्रयत्न किया है या उसमें अपनी कोई पूर्व निर्धारित मान्यता या उससे किसी भावी कार्यक्रम को उचित ठहराने का प्रयत्न किया है। हरबर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) और लुई मारगन (Lui Morgan) ने यह प्रतिपादित किया कि सभी मानव समाज और संस्कृतियाँ प्रगति की ओर जा रही हैं और प्रगति की चरम सीमा है यूरोप अमरीकी समाज का स्तर। इसी विचारधारा के प्रभाव में, इंग्लैंड के इतिहासकारों ने विकटो-

---

1 विशेष अध्ययन के लिए देखिए —1 सहानी, एम० आर० मन इन इवोल्यूशन, 2 हावल्स, विलियम मनकाइंड सो फार, 3 ब्रूम, रावर्ट आन फाइंडिंग दि मिसिंग लिंक

रिया के राज्यकाल का स्वर्णिम युग कहा। मार्क्स ने इतिहास के ही माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ऐतिहासिक प्रक्रिया संसार को साम्यवाद की ओर लिए जा रही है और सम्भवतः इसी कारण प्रत्येक साम्यवादी, क्रांति की कामना करता हुआ क्रांति के लिए प्रयत्न करता है क्योंकि उसके विचार से इतिहास का यही प्रारब्ध है कि क्रांति के द्वारा पूँजीवाद नष्ट हो और साम्यवाद की स्थापना हो। इतिहास इतिहास है—एक निरन्तर विकास क्रम। चाहे हम उसे एक वैज्ञानिक की भाँति निष्पक्ष और तटस्थ होकर देखें या अपनी आँखों पर किसी विचारधारा विशेष का रंगीन चश्मा लगाकर।

आज यह सर्वमान्य है कि ऐतिहासिक प्रक्रिया में सांस्कृतिक उद्विकास निहित रहता है किन्तु उसके पीछे न तो कोई पूर्वनिर्धारित उद्देश्य है, न कोई गति विशेष और न उसका कोई निर्दिष्ट गन्तव्य। सांस्कृतिक उद्विकास एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसमें ऐतिहासिक परिस्थितियाँ सचयी परिवर्तन और विकास को इस प्रकार प्रभावित करती हैं कि भूत और वर्तमान को मिलाने वाली मुख्य कड़ियाँ, अपना अस्तित्व बनाए रखते हुए, ऐतिहासिक प्रक्रिया को वर्तमान में ले आती हैं। एक स्थिति दूसरे को जन्म देती है और दूसरी तीसरी को—एक सोपान दूसरे तक पहुँचने में सहायता करता है और दूसरा तीसरे तक। अपने में कुछ मुख्य आधारों को समेटे हुए विकास प्रक्रिया इस प्रकार चलती रहती है कि उद्विकास अस्तित्व में आता है। मानव के लिए उद्विकास की कल्पना सम्भवतः उतनी ही प्राचीन है जितना कि स्वयं मानव क्योंकि प्रत्येक काल और स्थान में, मानव ने भूत और वर्तमान के कार्य-कारण सम्बन्ध को स्थापित करके उन्हें समझने का प्रयत्न किया है। सृष्टि रचना की कथाएँ इसका प्रमाण हैं। आधुनिक शास्त्रीय मान्यताओं के कारण उद्विकास का तटस्थ और शास्त्रीय अध्ययन पहले की अपेक्षा अधिक सम्भव है। सम्भवतः, इसी कारण यदि एक ओर सांस्कृतिक उद्विकास की पुरानी धारणा की तीव्र आलोचना करके उसे अशास्त्रीय कहा गया है तो दूसरी ओर सांस्कृतिक उद्विकास को एक ऐतिहासिक तथ्य मानकर उसके वास्तविक स्वरूप और कारकों को समझने का प्रयत्न किया गया है। जूलियन स्टीवार्ड (Julian Steward) ग्राडन चाइल्ड (Grodon Childe) और लेस्ली ह्वाइट (Leslie White) सांस्कृतिक उद्विकास के वर्तमान समीक्षकों में से हैं।

प्राचीन उद्विकासवादियों ने यह प्रतिपादित किया था कि उद्विकास की दिशा कुछ अवस्थाओं (Stages) से होकर गुजरती है और इस सन्दर्भ में मोरगन (Morgan) द्वारा प्रतिपादित जंगलीपन (Savagery), बर्बरता (Barbarian) और सभ्यता (Civilization) की अवस्थायें समाजशास्त्रीय और मार्क्सवादी साहित्य में काफी प्रसिद्ध हैं। ग्राडन चाइल्ड ने अपने विवेचन में मोरगन की उद्विकास विषयक धारणा का परित्याग किया है किन्तु उसके द्वारा निर्धारित अवस्थाओं की

नामावली का प्रयोग किया है। चाइल्ड के अनुसार जंगलीपन बर्बरता और सभ्यता आर्थिक विकास की तीन प्रधान अवस्थाओं की द्योतक हैं। जिस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति ने आर्थिक परिवर्तनों के साथ साथ सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों को जन्म दिया, उसी प्रकार प्रत्येक अवस्था के आर्थिक संगठन ने तत्कालीन सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तनों को जन्म दिया। जंगली अवस्था द्योतक है उस सामाजिक-आर्थिक संगठन की जिसमें मनुष्य कन्दमूल और आखेट पर जीवन बसर करता था, बर्बरता उस अवस्था की जब मानव ने कृषि का आविष्कार किया और जानवर पालना आरम्भ किया और सभ्यता उस अवस्था की जब मनुष्य ने तांबा, कांसा और लोहा जैसे धातुओं का प्रयोग करना सीखा[1]। ल्सली ह्वाइट ने भी इसी विकास नामावली का प्रयोग किया है किन्तु उनकी मान्यता में प्रत्येक नाम प्रतीक है उस अवस्था का जब मनुष्य एक विशेष प्रकार की शक्ति का प्रयोग करता था। जंगलीपन में मानव ने अपनी शारीरिक शक्ति का नियन्त्रित किया, बर्बर अवस्था में कृषि और जानवरों की शक्ति को और सभ्य अवस्था में धातुओं के प्रयोग से उत्पन्न शक्ति को। ह्वाइट के अनुसार, इन शक्तियों पर नियन्त्रण और उनका प्रयोग संस्कृति के उद्विकास और परिवर्तन का मुख्य कारण है। स्टीवार्ड के अनुसार, उद्विकास निहित है उन सांस्कृतिक नियमितताओं (Cultural Ragularities) में जो सभी संस्कृतियों में अवतरित होती रही है। ये नियमितताये पाँच हैं जिन्हें स्टीवार्ड ने अवस्थायें न कह कर युग कहा है[2]। सांस्कृतिक उद्विकास के विवेचन की इन रूपरेखाओं से यह स्पष्ट है कि संस्कृति कुछ अवस्थाओं से होकर गुजरी है और किसी भी संस्कृति के ऐतिहासिक अध्ययन में, विकास की अवस्थाओं का निर्धारण आवश्यक सा है। भारतीय संस्कृति के समान जिन संस्कृतियों का लिखित क्रमबद्ध इतिहास मिलता है, उनके विकास की कहानी, ऐतिहासिक अवस्थाओं की पृष्ठभूमि में अधिक स्पष्ट हो उठती है।

यूरोप की परम्परा में इतिहास का अधिकतर काल क्रम विधान (Chronology) के ही रूप में देखा गया है जिसके कारण वहाँ इतिहास मुख्यतः राजघरानों के उत्थान और पतन की कहानी मात्र रहा है। राजघरानों के उत्थान-पतन केवल घटनायें हैं जो ऐतिहासिक प्रक्रिया को जन्म देने वाली कुछ विशिष्ट शक्तियों पर निर्भर रहती हैं। इंगलैण्ड, फ्रान्स और रूस के राजघरानों का पतन, वहाँ की राज्य क्रान्तियों के कारण हुआ और ये क्रान्तियाँ परिणाम हैं इन देशों में पनपने वाली विचारधाराओं की जननी वहाँ की ऐतिहासिक परिस्थितियों की। इसी कारण, यह

---

1 चाइल्ड वी० गार्डन 1 मैन मेक्स हिमसेल्फ, 2 ह्वाट हैपेन्ड इन हिस्ट्री, 3 सोशल इवोल्यूशन

2 बील्स एण्ड ह्वाइजर एन इन्ट्रोडक्शन टु एन्थ्रापालोजी

कहा गया है कि इतिहास की वास्तविक विषयवस्तु है अर्हायें (Values), परम्पराय (Tradition) और लोकगाथाय (Myths) जो अनेक प्रकार से मानव जीवन और व्यवहार को प्रभावित करती हुई इतिहास की गति और दिशा को भी प्रभावित करती है। अर्हायें, परम्पराय और लोकगाथायें युग युग तक चलती रहती है और इसीलिये वतमान की समस्याओं तथा गुत्थियों को सुलझाने और समझने के लिये इनका ऐतिहासिक स्पष्टीकरण आवश्यक है। इतिहास वास्तव में समाज के व्यावहारिक पक्ष का मनोविज्ञान और दशन है जिसके अध्ययन का वास्तविक विषय है युग युग में विकसित होने वाले संस्कृति के गुण (Qualities) और कलाया (Patterns) की उत्पत्ति विकास परिवतन और उनकी कार्यात्मक प्रक्रिया (Functional Process)। इसी दृष्टिकोण से समाजशास्त्र को इतिहास का दशन कहा गया है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से, घटनायें नहीं वरन घटनाओं को जन्म देने वाली प्रक्रियाये और शक्तियां महत्वपूर्ण है। भारत जैसे देश में जहा सांस्कृतिक विकास का क्रमिक इतिहास विद्यमान है और जहाँ नाना प्रकार के मानव समूह अलग अलग रहते हुये भी एक तार में गुथित रहे हैं इतिहास का केवल राजनतिक या आर्थिक निवचन एकागी है। भारतीय संस्कृति का इतिहास साधारणत मानव अर्हाओं (Human Values) दशना, धर्मों कलाओं सामूहिक जीवन यापन के प्रकारों और अनेकता में एकता स्थापित करने वाली विचारधाराओं के सतत विकास का इतिहास है[1]।

परम्परागत इतिहास की एक अन्य कमजोरी भी है। यह परम्परा का ही प्रभाव है कि इतिहास का अध्ययन क्षेत्र वहाँ से प्रारम्भ होता है जहा से मानव संस्कृति या संस्कृतियों का लिखित विवरण प्राप्त होता है। किन्तु लिपि और लेखन कला का इतिहास पांच हजार वष से अधिक पुराना नहीं है। यह सर्वविदित है कि भारत में हडप्पा और मोहनजोदडो में लिपि के प्रमाण पाये गये हैं। हडप्पा और मोहनजोदडो की संस्कृति का काल तीन हजार वष ईसवी पूव के लगभग आता है। किन्तु मानव का अस्तित्व उससे कहीं अधिक प्राचीन है। आर्यों के ऋग्वेद में जिन परम्पराओं अथवा विचारों का आभास मिलता है वे लेखबद्ध होने के बहुत पहले अस्तित्व में आ चुकी होंगी। अतएव संस्कृति के विकास को पूणरूपेण समझने के लिये ऐतिहासिक क्षेत्र और अध्ययन रीति को अधिक व्यापक बनाने की आवश्यकता है और वह तभी हो सकता है जब इतिहास और प्रागैतिहास का समन्वय किया जाय। ग्राहम चाइल्ड के मतानुसार, प्रागैतिहास इतिहास को युगों पीछे भूतकाल मे ले जाकर, अधिक व्यापक और वास्तविक बना देता है। आखिरकार, वतमान संस्कृति के मुख्य उपकरणों (कृषि अग्नि धातुओं का प्रयोग चक्र (पहिया) और

1 मुकर्जी राधाकमल ए हिस्टरी आफ इण्डियन सिविलीजेशन पृष्ठ 2 55

रेखन कला) का अन्वेषण और विकास प्रागतिहासिक काल में ही हुआ है।

प्रागितिहास का अध्ययन स्वतः पूर्ण नहीं है क्योंकि प्रागितिहासिक अध्ययन भूगर्भशास्त्र (Geology) जीव विकास विज्ञान (Palaeontology) और पुरातत्व शास्त्र (Archaeology) के पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है यद्यपि इस अध्ययन में पुरातत्वशास्त्र का ही प्रमुख भाग रहता है। जिस प्रकार, इतिहासकार लिखित अभिलेखों के माध्यम से मानव संस्कृति का निर्वचन करता है उसी प्रकार पुरातत्ववेत्ता उन पुरावशेषों के माध्यम से जो मानव से सम्बन्धित रहे हैं या जिन पर मानव के निर्माण कौशल की अमिट छाप लगी है, मानव संस्कृति के उद्गम, विकास और प्रसरण को समझने का प्रयास करता है। मानव द्वारा निर्मित अनेक वस्तुएं प्रस्तरीभूत अथवा अपने प्रारम्भिक रूप में पृथ्वी के गर्भ में पायी गयी हैं जिन्हें पुरातत्ववेत्ताओं के फावड़ा ने खोज निकाला है और जिनके द्वारा मानव के प्रागितिहासिक अस्तित्व पर काफी प्रकाश पड़ा है। यह सत्य है कि न तो मानव द्वारा निर्मित सभी कुछ प्रस्तरीकृत हुआ है और न काल के गाल में ही जाने से बचा है। वास्तव में, मानव द्वारा निर्मित संस्कृति के पार्थिव तत्व ही पृथ्वी के गर्भ में पड़े रह पाए हैं जिनका एक नगण्य अंश ही हमारे सामने आ पाया है। पार्थिव के द्वारा पुरातत्ववेत्ता अपार्थिव को भी समझने का प्रयत्न करता है और एक बड़ी सीमा तक, उसमें सफलता भी मिलती है। वर्तमान समय में भी, मृत व्यक्ति के साथ उसकी प्रिय वस्तु अथवा दैनिक जीवन में काम आने वाली वस्तुओं को दफनाने या जलाने की प्रथा है और यह प्रथा आत्मा और पारलौकिक जीवन में विश्वास पर आधारित है। अतएव, यदि कहीं ऐसी कब्र मिले जिसमें गड़े हुये शव को दैनिक व्यवहार की वस्तुओं के साथ दफनाया गया हो तो पुरातत्ववेत्ता की यह धारणा गलत न होगी कि जिन लोगों ने उस शव को दफनाया था उनका आत्मा और पारलौकिक जीवन में विश्वास रहा होगा।

७

मानव-संस्कृति के चार अध्याय

यूरोप, मध्य एशिया, भारत, इण्डोनेशिया, चीन और अफ्रीका में पाये गये पुरातत्वों और मानवीय जीवाश्मों (Humanoid Fossils) के आधार पर, प्रागितिहास के विद्यार्थियों ने मानव-संस्कृति के उद्गम और विकास की रूपरेखायें प्रस्तुत की हैं। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि जीव विकास विज्ञान-वेत्ताओं के द्वारा प्रतिपादित सेनोज़ोइक (Cenozoic) युग को टर्शियरी और क्वाटर्नरी नामक

दो भागो म बाटा जाता है। टर्शियरी की अवधि लगभग छ करोड वप ईसवी पूव स लेकर सत्तर लाख वप ईसवी पूव तक मानी जाती है और क्वाटनरी लगभग दस लाख वष पूव से प्रारम्भ होकर वतमान मे समा जाता है। टर्शियरी महत्त्वपूण भूगर्भीय उथल पुथल का समय माना जाता है। इसी युग म पवतराज हिमालय का जम हुआ और भारत कहा जाने वाला भूभाग अस्तित्व म आया। इसी काल मे बडे बड स्तनपायी जानवरा का उदविकास हुआ। पथ्वी के परतो का अध्ययन करके, भूगभशास्त्रियो ने टर्शियरी को चार कालो म बाँटा है—इयोसीन (Eocene) आलिगोसीन (Oligocene), मायोसीन (Miocene) और प्लायोसीन (Pliocene)। टर्शियरी के प्रारम्भ म नील नदी की घाटी मे कुछ ऐसे जीवाश्म मिले है जो इस बात के प्रतीक है कि इस काल मे बन्दरो (Monkeys) और वानरो (Apes) का अलग अलग विकास हो चुका था क्योकि टर्शियरी के मध्यकाल (मायोसीन Miocene) स मिलने वाले जीवाश्म वानरो के प्रकार के होते हुये भी, उनस भिन्न है। अफरीका भारत और इण्डोनेशिया से प्राप्त, मध्य टर्शियरी के जीवाश्म शरीर रचना के दष्टि कोण म वानरो स भिन्न हैं और मानव के अधिक समीप हैं। इसी कारण, यह मत निर्धारित किया गया है कि मानव को जन्म देने वाली विकास शाखा का उदगम मध्य-टर्शियरी मे है और मानव का विकास अफरीका तथा योरोप स लेकर एशिया तक फले हुय क्षेत्र म हुआ है। मानव और वानरो की विकास शाखाओ को मिलाने वाली कडी का क्या रूप था इसका निणय न हो सका है और न हो सकेगा क्योकि उदविकास एक सतत परिवतनकारी प्रक्रिया है[1]। क्वाटनरी म मानव और मानव प्रकार के जीवाश्म भी मिलते है और सस्कृति के पार्थिव उपकरण भी। यही वह काल है जिसमे मानव और सस्कृति का विकास हुआ। भूगभशास्त्रियो क अनुसार, क्वाटनरी को दो काला मे विभक्त किया जाता है—प्लस्टोसीन (Pliestocene) और हालोसीन (Holocene)। प्लस्टोसीन मे वतमान मानव के जीवाश्म नही मिलते है। यह अवश्य है कि प्लस्टोसीन से जितने भी जीवाश्म मिले हैं वे शरीर रचना मे, टर्शियरी के जीवाश्मो की अपेक्षा वतमान मानव के अधिकतम समीप हैं और जिनके ये जीवाश्म हैं वे वतमान मानव के पूवजो के रूप मे मानव सस्कृति के आदि निर्माता है।

अभी तक प्राप्त प्रमाणो के आधार पर यह नही कहा जा सकता है कि मानव सस्कृति के उदगम और विकास के रहस्य प्लस्टोसीन म ही निहित है। प्लस्टोसीन हिम युगो का भी काल है क्योकि इस कालम पथ्वी का उत्तरी गोलाद्ध

---

1 विशेष अध्ययन के लिये 1 हुटन, ई० ए० अप फ्राम दि एप, 2 हावेल्स, विलियम मन काइण्ड सो फार, 3 ब्रूम, रावट आन फाइंडिंग दि मिसिंग लिंक

चार बार हिमाच्छादित हुआ। दो हिम युगों के बीच के उष्णकाल को अन्तर्हिमयुग (Interglacial Period) कहते हैं। आज तक चार हिम युग हुये हैं और चार अन्तर्हिम युग। आज चौथे अन्तर्हिम युग में रहते हुये क्या हम पाँचवें हिमयुग की ओर बढ़ रहे हैं? सम्भवतः हाँ। कुछ भी हो पृथ्वी के रंगमंच पर हिमयुगों के उतार चढ़ाव, के उठते गिरते परदे रहे हैं जिनके आगे-पीछे मानव और संस्कृति के विकास का नाटक चलता रहा है। प्रथम अन्तर्हिमयुग से लेकर द्वितीय अन्तर्हिमयुग तक यूरोप, अफरीका, इण्डोनेशिया और चीन में प्रस्तरीकृत मानव कंकालों के कई अवशेष मिले हैं जिनमें जावा और चीन के अवशेष प्रमुख हैं। जिन प्राणियों के ये अवशेष हैं वे मानवी विकास दिशा में काफी बढ़ गये थे किन्तु फिर भी वर्तमान मानव का रूप नहीं प्राप्त कर सके थे। इन्हें क्रमशः जावा मानव (Java Man) और चीनी मानव (China Man) की संज्ञायें दी गयी हैं। जावा मानव को उस मानवी प्रकार का वानर (Ape) कहा गया है जो सम्भवतः खड़ा होकर चलता होगा। जावा मानव के साथ मिले संस्कृति के अवशेष नगण्य हैं। चीनी मानव को जावा मानव की ही श्रेणी में रक्खा जाता है यद्यपि उसकी शरीर रचना मानवी दिशा में अधिक प्रगति कर गयी थी और जहाँ पर उसके अवशेष पाये गये हैं वहाँ संस्कृति के निश्चित पार्थिव प्रमाण भी पाये गये हैं। शरीर में ये प्राणी दसमाकार रहे होंगे।

तीसरे अन्तर्हिमयुग से लेकर चौथे हिमयुग के मध्य और उत्तरार्द्ध तक, यूरोप, उत्तरी अफरीका और फिलस्तीन तक, एक विशेष प्रकार की विकास शाखा के सैकड़ों नर-कंकाल मिले हैं जिनके शरीर प्रारूप को नियण्डरथल (Neanderthal) की संज्ञा दी गयी है। चौथे हिमयुग का मध्यकाल नियण्डरथल मानव और उसकी संस्कृति का चरमोत्कर्ष था क्योंकि चौथे हिमयुग के समाप्त होते-होते नियण्डरथल मानव और उसकी संस्कृति दोनों यूरोप से लुप्त हो गये। भारी सिर, सकीर्ण मस्तक, आगे की ओर निकली हुयी भौंहों की हड्डी, भारी जबड़ा, सकीर्ण मांसल गर्दन के कारण ऊपर की ओर उठा हुआ सा मुख, गोल लम्बी छाती, घुटनों तक लम्बे हाथ और खड़े होने पर आगे की ओर झुक झुक सा चलता हुआ शरीर, यही नियण्डरथल की मुख्य शारीरिक विशेषतायें हैं। चौथे हिमयुग के बाद जहाँ एक ओर नियण्डरथल की समाप्ति होती है वहाँ, दूसरी ओर वर्तमान मानव का प्रसार होता है। जावा मानव, चीनी मानव और नियण्डरथल वे विकास शाखायें हैं जो उसी तन में से फूटी हैं जिसमें से वर्तमान मानव की शाखा निकली है। इनके लिये न तो मानव की संज्ञा का ही प्रयोग किया जाता है और न इन्हें वर्तमान मानव का पूर्वज ही माना जाता है। सभी विकास-शाखाओं से यह तथ्य स्पष्ट हो उठता है और वह यह कि विकास क्रम में यदि, एक ओर, मानव के हाथ चलने के भार से मुक्त होते गये तो, दूसरी ओर, मानव मस्तिष्क बढ़ता गया जिसके कारण मानव संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास सम्भव हुआ।

पृथ्वी म से खोद निकाले गये पुरावशेषो के आधार पर प्रागैतिहासिको ने मानव सस्कृति के चार प्रागतिहासिक सोपान निर्धारित किये है जिनके नाम है प्राचीन प्रस्तरयुग (Palaeolithic), नव प्रस्तरयुग (Neolithic), कास्य युग (Bronze Age) और लौह युग (Iron Age)। वर्तमान युग लौह युग है और इसका प्रारम्भ उस समय से होता है जब से मनुष्य ने लोहे का प्रयोग करना प्रारम्भ किया। प्रस्तरयुग मे मानव पत्थर के औजारो का प्रयोग करता था और कास्य युग म कासे के। कुछ ऐसे भी नुकीले और कोनो पर थोडा थोडा तराश हुये पत्थर मिलते है जिनको देखकर यह आभास होता है कि जसे वे सास्कृतिक उदयकाल के हो। अग्रेजी म इन्हे इयालिथ (Eoliths उदयकालीन प्रस्तरो) की सज्ञा दी गयी है। किन्तु यह स देहास्पद है कि इन पत्थरो को मानव ने ही गढा है। अधिकतर सम्भावना इसी बात की है कि शायद उदयकालीन प्रस्तरो को प्राकृतिक शक्तियो ने गढा हो और मानव ने उनका प्रयोग किया हो। इसम कोई शक नही कि मानव ने पत्थरो के औजारो का गढन के पहले पत्थरो का औजारो की भाति प्रयोग करना सीखा होगा।

प्राचीन प्रस्तरयुगीन औजारो के प्रति पुरातत्ववेत्ता निश्चित हैं कि वे मानव द्वारा ही गढे गये है। प्राचीन प्रस्तरयुग का प्रारम्भ प्लस्टोसीन के साथ साथ होता है। प्राचीन प्रस्तरयुग मानव-सस्कृति के इतिहास मे एक लम्बा विकास काल है जिसमे यदि एक ओर, मोटे और भद्दे पत्थर के औजार मिलते है तो, दूसरी ओर उसके अत मे छोटे और बारीकी से गढे हुये औजार मिलते है।

प्राचीन प्रस्तर युग

योरोप स प्राप्त पुरावशेषो के आधार पर प्रागैतिहासिको ने प्राचीन प्रस्तर युग को तीन कालो मे बाटा है—प्रारम्भिक (Lower) मध्य (Middle) और अ तिम (Upper)। प्रारम्भिक प्राचीन प्रस्तरयुग (Lower Palaeolithic) मे ऐसे औजार मिलते है जिन्हे एक बडे पत्थर को गढकर बनाया गया है। हाथ से पकडकर प्रहार करना इन औजारो का मुख्य प्रयोग प्रतीत होता है। प्रयोग के दृष्टिकोण से, इन्हे मुष्टिका कुल्हाडिया (Hand Axes) कहा जाता है। चौथे हिमयुग म नियडरथल मानव के प्रस्तरीकृत ककालो के साथ साथ ऐसे औजार पाये गये हैं जिन्हे किसी बडे पत्थर म से चोट लगाकर निकाली हुयी चिप्पिया (Flakes) स गढा गया है। औजारो के गढन की कला के आधार पर, प्रथम प्रकार के औजारो को कोरटूल (Core Tool आ तरक औजार) और दूसरे प्रकार को फ्लेक टूल (Flake Tool पथुक औजार) कहा गया है। योरोप मे प्रारम्भिक प्रस्तर युग म आ तरक औजारो की प्रधानता है और मध्य प्रस्तर युग म पथुक औजारो की। इसका यह तात्पर्य नही कि प्राचीन प्रस्तरयुग के मध्य मे आ तरक औजारो का प्रयोग ही समाप्त हो गया था। वास्तव मे मध्य प्रस्तरयुग मे दोनो प्रकार के औजार पाये जाते हैं पर पथुक औजारो की बाहुल्यता के साथ। काटने छीलने और छेद करने के लिये पथुक औजारो का प्रयोग

किया जाता रहा होगा। प्राचीन प्रस्तरयुग के अंतिम भाग में पत्थर और हड्डी दोनों प्रकार के औजार मिलते हैं। इन औजारों का आकार छोटा होने के साथ-साथ लम्बा और नुकीला हो गया है। ये औजार वस्तुतः उस प्रकार के हैं जैसे तीर के छोर पर लगने वाला शल्य (Arrow Head) या दोधारी चाकू का फल। इस काल में पाये गये पत्थर के शल्यों के ही आधार पर यह अनुमान किया गया है कि इस काल में धनुष का प्रयोग आ गया होगा। इस काल में भी प्रयुक्त औजारों की बाहुल्यता है और इनके गढ़न की कारीगरी पहले की अपेक्षा अधिक विकसित है क्योंकि, इन्हें प्रयोगानुकूल बनाने के साथ इन्हें सुन्दर और आकर्षक बनाने का भी प्रयत्न किया गया है। प्राचीन प्रस्तर युग के अंतिम काल में पाये गये हड्डी के औजार नक्काशी के द्वारा काफी अलंकृत किये गये हैं। इस युग के अन्त तक औजारों को गढ़ने के लिए भी औजार बनने लगे थे।

इस युग के अन्य पार्थिव अवशेषों से अपार्थिव जीवन की झाँकी मिलती है। जैसा कि चीनी मानव के खोदाई स्थलों से स्पष्ट है, प्राचीन प्रस्तर-युग के मध्यकाल तक, मानव का आग का प्रयोग ज्ञात हो गया था जिसमें आग जलाकर काम और लाह के प्रयोग में उन सफलता मिली। उसी स्थल में प्राप्त चीन की चाउ-काऊ टिन नामक कन्दरा में मानव-खोपड़ियाँ बीच से इस प्रकार टूटी मिली हैं कि मानो उन्हें तोड़कर भेजा निकाला गया हो। यही नहीं, साथ ही साथ चिचोरी हुई हड्डियाँ भी मिली हैं। इन तथ्यों के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि सम्भवतः चीनी मानव नरभक्षक था?

नियण्डरथल का कन्दराओं में रहना नियण्डरथल के सामूहिक जीवन का प्रतीक है। नियण्डरथल की निवास गुफाओं में शवों के साथ दफनाये गये पत्थरों के औजारों से, नियण्डरथल के पारलौकिक तथा आत्मा सम्बन्धी विश्वासों का प्रमाण मिलता है। प्राचीन प्रस्तरयुग के अन्तिम काल में जहाँ एक ओर, शवों के साथ-साथ खाद्य-सामग्री और आभूषण दफनाये हुए मिलते हैं वहीं दूसरी ओर, इन शवों की हड्डियाँ भी रंगी हुई पायी गयी हैं। प्रागितिहासज्ञों की ऐसी मान्यता है कि इस प्रकार की अन्त्येष्टि क्रिया में जादुयी विश्वास समाया है। इस युग की कला मणि, एक ओर, सौन्दर्योत्पादन के लिये है तो, दूसरी ओर, जादुयी विचारों से ओतप्रोत। हाथी दाँत या मिट्टी की बनी छोटी-छोटी नारी मूर्तियाँ, जिनके यौनिक भाग बढ़ा-चढ़ाकर बनाये गये हैं, इस बात का प्रतीक हैं कि सन्तानवृद्धि के लिये इस काल में किसी न किसी प्रकार की निषेचन-पूजापद्धति (Fertility Cult) रही होगी। शाम और स्पेन की अन्धकारमयी गुफाओं में मृत जानवरों और शिकार के चित्र इसलिये बनाये जाते थे ताकि बाहर भी शिकार सहूलियत से प्राप्त हो। यह प्रयोग कुछ वैसा ही है जैसा कि उस जादुयी अनुष्ठान में पाया जाता है जिसमें, जिस व्यक्ति को टोने या टटके से मारना

होता है, उसके गाय्दर या आटे के पुतले की नकली हत्या करते है[1]। यज्ञ के इस प्रयोग के पीछे वह भावना है जिसमे जादू और धर्म की उत्पत्ति हुयी है। कुछ भी हो, इस युग की कला अधिकतर सादृश्य थी। इस काल के समाज मे जादुयी अनुष्ठानों का सम्पन्न करने वालो को प्रधानता प्राप्त हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त, पत्थर, हड्डी हाथी दांत, कौडी और दांत के आभूषणो का प्रचार था। चाइल्ड के अनुसार, इस काल मे व्यापार के यथेष्ट प्रमाण मिले है।

प्राचीन और नवप्रस्तरयुगा के बीच मे सक्रमणकालीन प्रस्तरयुग (Mesolithic) माना गया है जो, एक ओर प्राचीन प्रस्तरयुग का समाप्त होता हुआ

नव प्रस्तरयुग

प्रसार है और दूसरी ओर, नवप्रस्तरयुग का नवोन्मित काल। इस युग की अवधि प्रस्तरयुग की अपेक्षा बहुत ही कम है। योरोप मे, जलवायु परिवर्तन के कारण बर्फीली परिस्थितियां समाप्त हो गयी और वर्तमान परिस्थितियाँ आई। बडे-बडे जानवरो के स्थान पर, मछली पानी मे रहने वाली चिडियाँ और खरगोश हो मानव जीवन के मुख्य आधार रह गये। प्राचीन प्रस्तरयुग की कला समाप्त हो गयी किन्तु जादुयी विचार बने रहे। पत्थर के औजार इतने छोटे बनाये जाने लगे कि उनका आकार एक या आधा इंच के लगभग रह गया। कई औजारो को एक साथ एक लाइन मे लगाकर चाकू आरी, हसिया या शल्य की भाति प्रयोग किया जाने लगा। जगलो की वृद्धि ने कुल्हाडियो की आवश्यकता को जन्म दिया जिनका निर्माण इस काल के अन्त मे होने लगा था। कुल्हाडिया आन्तरिक (Core) भी थी और पथक (Flake) भी। उनका हाथ से भी प्रयोग होता था और हैन्डिल (Haft) लगा कर भी। प्राचीन प्रस्तरयुग मे घिसकर और पालिश करके हड्डियों के औजार बनाने की जो कला मानव ने सीखी थी उसका प्रयोग इस युग मे पत्थर के औजार बनाने पर किया जाने लगा। कुत्ता सबसे पहला जानवर है जिसे मनुष्य ने इसी युग मे पालना शुरू किया। मिट्टी के बर्तनो और धनुष का प्रयोग भी इस काल मे मिलता है।

प्राचीन प्रस्तरयुग और सक्रमणकालीन प्रस्तरयुग (Mesolithic Period)

---

1 धर्म (Religion) और जादू (Magic) समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण से एक ही श्रेणी में आते है। दोनो दैवी शक्ति में विश्वास और उससे सम्बन्धित क्रियाओं में निहित है। दोनों की उत्पत्ति वहा होती है जहा मानव मानसिक असुरक्षा (Emotional Insecurity) का अनुभव करता है और उसे दूर करने में असहायता का अनुभव करता है। जादुयी विश्वास और क्रियाओं में मनुष्य दैवी शक्ति पर नियन्त्रण पाकर, उसके द्वारा मनोवांछित फल पाने का प्रयत्न करता है जबकि धर्म में मनुष्य दैवी शक्ति से मनोवाछित फल पाने की प्रार्थना करता है। प्रार्थना धर्म का प्रतीक है और जन्त्र मन्त्र जादू का।

की संस्कृति खाद्य सामग्री एकत्र करने वाली (Foodgathering) अर्थव्यवस्था पर आधारित है जबकि नवप्रस्तरयुगीन संस्कृति कृषि पर आधारित आर्थिक व्यवस्था पर। पशुपालन कृषि और बालू या पत्थर से घिस कर बनाए हुए अपेक्षाकृत बड़े आकार के पत्थर के औजार, नवप्रस्तरयुग की मुख्य विशेषतायें हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि जलवायु परिवर्तन के कारण, बर्फीली परिस्थितियों के स्थान पर, घने जंगलों का विकास हुआ जिससे लकड़ी काटने के लिए कुल्हाड़ी की आवश्यकता का जन्म हुआ। मध्यमणकालीन प्रस्तर युग में ही घिसकर बनायी हुयी कुल्हाड़ियों का बनना प्रारम्भ हो गया था किन्तु नवप्रस्तरयुग में उनकी निर्माण-कला का चरम विकास हुआ। इन पत्थर की कुल्हाड़ियों के एक किनारे अथवा बीच में हैंडिल लगाया जाता था और उनसे बड़े-बड़े पेड़ गिराए जा सकते थे।

पशुपालन और कृषि का आविष्कार मानव संस्कृति के इतिहास में एक क्रांतिकारी कदम है और इन आविष्कारों के कारण इस युग का वही महत्व है जो औद्योगिक क्रांति काल वर्तमान युग का। कृषि के आविष्कार का श्रेय नारियों को दिया जाता है क्योंकि ऐसा अनुमान किया जाता है कि जंगल के किनारों पर शिकार के लिए गए हुए पुरुषों की प्रतीक्षा करते हुए अवकाश के क्षणों में नारियों ने ही बीजों को भूमि पर गिरते और उगते देखा होगा। आज भी आदिवासियों में, हल चलाने के अतिरिक्त कृषि का अधिकतर कार्य विशेषतया बीज बोना, स्त्रियों के द्वारा ही किया जाता है। कुछ भी हो, जैसा कि एच० जी० वेल्स ने लिखा है मनुष्य ने कृषि प्रारम्भ करने के पहले अनेक फसलें काटी होंगी। कृषि का अनुसंधान वस्तुतः कहाँ हुआ, यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है। फिलिस्तीन के माउन्टकारमेल (Mount Carmel) में पाए गए हंसियों के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि सम्भवतः इसी क्षेत्र में मध्यमणकालीन प्रस्तरयुग के अंतिम भाग में, मानव ने फसल बोना और काटना सीख लिया होगा। कृषि के अनुसंधान की सम्भावना मध्य एशिया में ही है। फिर भी, जैसा कि गॉर्डन चाइल्ड ने लिखा है नव प्रस्तरयुग में संसार के तीन क्षेत्रों में कृषि और पशुपालन के प्रमाण मिलते हैं—मध्य एशिया (Near East) में जौ, गेहूँ, जैतून और सनई (Flax) की खेती और ढोर, सुअर, बकरी और भेड़ का पालन, दक्षिणी पूर्वी एशिया में चावल, गन्ना, कपास की खेती और मुर्गी तथा भैंस (Water buffalo) का पालन, और अमरीका में मक्का, टमाटर आलू और तम्बाकू की खेती। गधा और घोड़े का पालन बाद में प्रारम्भ हुआ।

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि या तो कृषि का अनुसंधान अलग अलग क्षेत्रों में स्वतन्त्र रूप से हुआ या एक ही साथ इन तीनों क्षेत्रों में कृषि और पशुपालन के ज्ञान का प्रसरण हुआ। अधिक सम्भावना प्रसरण की ही है। कुछ लोगों का यह भी मत है कि कन्दमूल और फल पर निर्भर रहने वाले समूहों ने कृषि का अनुसंधान किया होगा और आखेट पर निर्भर रहने वाले समूहों

ने पशुपालन का। किंतु पुरातत्वो के अवशेष इस विषय मे मौन हैं क्योंकि न तो प्राचीनतम पौधा और कृषि के औजारो के अवशेष ही मिलते हैं और न जानवरो के प्राप्त अस्थिपंजर इस बात की गवाही देते हैं कि उनके पालने वाले खेती पर निर्भर थे या शिकार पर। अभी तक प्राप्त पुरातत्वो के अवशेष और उन पर आधारित प्रमाण केवल इसी तथ्य के परिचायक है कि, कृषि और पशुपालन साथ साथ अस्तित्व मे आकर, कृषि पर आधारित सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के कारण बने।

कृषि और पशुपालन के आविष्कार मे अधिक महत्वपूर्ण इसके सामाजिक आर्थिक परिणाम है क्योंकि इन्ही परिणामो मे वर्तमान मानव सम्पत्ति की आधार शिलायें रक्खी हुयी हैं। कृषि और पशुपालन के कारण मानव का खाद्य सामग्री पर अधिक निश्चित नियंत्रण प्राप्त हुआ जिसके परिणामस्वरूप, एक ओर जीवन सुरक्षा और जनसंख्या बढी तथा दूसरी ओर फिरन्दर जीवन के स्थान पर व्यवस्थित जीवन का अभ्युदय हुआ। कृषि की माग है व्यवस्थित जीवन और इसी माग ने ग्राम्य जीवन को जन्म दिया। खाद्य सामग्री की वृद्धि और निश्चितता ने जहा एक ओर, मानव के हाथ मे अतिरिक्त धन (Surplus Wealth) दिया वहा दूसरी ओर विशपी करण (Specialization) और खाद्य सामग्री का उत्पन्न करने के अतिरिक्त अन्य कार्यों को प्रोत्साहित किया। इस युग के औजार उन्ही विशेषज्ञो द्वारा निर्मित हुए है जिन्हे भोजन की चिंता नही थी। वास्तव मे अधिक भोज्य सामग्री उत्पन्न करके ही मानव संस्कृति का विकास कर सका। वर्तमान समय मे भी कारखानो और कला तथा साहित्य के क्षेत्र मे काम करने वाले उस अतिरिक्त भोज्य सामग्री पर ही जीवित रहते हैं जिसे किसान उत्पन्न करता है।

चाइल्ड के अनुसार कृषि के लिए उपयुक्त पौधो को छाटने के प्रयास मे वनस्पतिशास्त्र के उद्गम है, अनाज को पीसने और सनई की छाल से कपडा बुनने मे भौतिक शास्त्र के आटा गूथने और नशीले द्रव तयार करने मे रसायन शास्त्र के और खाद्य अखाद्य जानवरो के चुनाव मे प्राणिशास्त्र के। उसने ठीक ही कहा है कि बीसवी शताब्दी के सारे ज्ञान विज्ञान की जड नवप्रस्तरयुग मे ही हैं। नवप्रस्तरयुगीन क्रान्ति का प्रभाव सामाजिक जीवन पर भी पडा। यह पहले ही कहा गया है कि कृषि ने स्थिर सामाजिक जीवन की आवश्यकता को प्रोत्साहन दिया जिससे सामूहिक जीवन अस्तित्व मे आया। यूरोप में नवप्रस्तरयुगीन ग्रामो के चारो ओर खोदी हुयी खायी इसका प्रमाण है। कृषि ने नारी और पुरुष के कार्यो मे विभाजन ला दिया और यह कृषि का ही परिणाम है कि कृषि व्यवस्था मे नारी और बच्चे भार न होकर वरदान हो गए। आज भी कृषक के लिए विवाह परिवार और बच्चे उतने ही आवश्यक हैं जितनी कि कृषि। इस युग का ग्राम एक आत्मनिर्भर सामाजिक आर्थिक इकाई रहा होगा। इस बात के भी प्रमाण है कि इस युग मे कृषि करने वाले जानवर पालने वाले और पत्थर निकालने वाले विशेषीकृत समूह अस्तित्व मे आ गये होंगे और

उनमे विनिमय व्यापार होता रहा होगा । इस युग मे, जनसंख्या के साथ साथ, सांस्कृतिक वैचित्र्य भी बढ़ा । पाले हुए जानवर, कृषि के लिए प्रयुक्त पौधा, प्रयोग मे लायी हुयी कुल्हाड़िया और अन्य औजारों मिट्टी के बरतनों की सजावट, कला के प्रकारों और शव दफनाने से सम्बन्धित रूढ़ियों के आधार पर, मध्य एशिया से लेकर यूरोप तक अनेक नवप्रस्तरयुगीन संस्कृतियां निर्धारित किया जा सकता है। प्राचीन प्रस्तरयुग की अपेक्षा इस युग के शव दफनाने के अनुष्ठान काफी विस्तृत है । नारी मूर्तियों की पूजा भी विद्यमान है और इन सबके साथ साथ जादुयी विचार और विश्वास भी । सनई (Flax) के कपड़े बुनने और मृतकों के लिए स्मारक बनाने के भी प्रमाण इस युग मे मिलते है । संक्षेप मे यही वह युग है जब मानव ने वर्तमान की आधार शिला रखी और उन परिस्थितियों को जन्म दिया जिन्होंने कांस्ययुग और लौहयुग की शहरी तथा साम्राज्यवादी संस्कृति को जन्म दिया ।

कांस्य-युग

प्राचीन और नवप्रस्तरयुगों की भांति कांस्य और लौहयुग भी एक संक्रमणकालीन युग के द्वारा अलग भी हैं और जुड़े हुए भी । नव प्रस्तरयुग का अन्त लगभग चार हजार वर्ष ईसा पूर्व होता है और कांस्ययुग का प्रारम्भ तीन हजार वर्ष ईसा पूर्व के लगभग। इस प्रकार लगभग एक हजार वर्ष का समय नवप्रस्तरयुग और कांस्ययुग को अलग करता है । इस काल को ताम्रयुग (Copper Age or Aeneolithic or Chalcolithic) की संज्ञा भी दी गयी है । ताम्र अथवा तांबा और सोना अपने शुद्ध धातुरूप मे पाए जाते है । अतएव, सर्वप्रथम उनके टुकड़ों को मानव ने पत्थर के टुकड़ों की भांति प्रयोग किया होगा । तांबा ऐसी धातु है कि उसे कूटपीटकर वांछित आकार दिया जा सकता है । कांस्य अथवा कांसा तांबा और टीन (Tin) से मिलकर बनी धातु है और कांसा तभी बन सका होगा जब मनुष्य को यह ज्ञान हुआ होगा कि तांबा और टीन, आग की सहायता से, गलाकर एक मे मिलाए जा सकते है। मनुष्य ने कांसा बनाना कब और कहां सीखा यह कहना कठिन है । टीन मिट्टी मे मिली रहती है जिसे पहचान कर और गलाकर निकालना पड़ता है । अतएव, कांसे की उत्पत्ति तभी हुयी होगी जब मनुष्य ने टीन को पहचानना और आग के द्वारा धातुओं को गलाना सीख लिया होगा । आग के द्वारा धातुओं को गलाना मानव ने कैसे जाना ? यह एक रहस्य है जिसे सुलझा सकना कठिन है । इस बात की सम्भावना अधिक है कि कांसे का बनना मध्य एशिया, विशेषतया पश्चिमी एशिया, मे प्रारम्भ हुआ होगा । चाइल्ड के अनुसार, तीन हजार पांच सौ वर्ष ईसा पूर्व के लगभग, पश्चिमी एशिया मे कांसे का प्रयोग मिलता है। वहां से इसका प्रसार सीरिया और, कुछ शताब्दियों बाद, मिस्र और यूनान (ट्राय Troy) मे हुआ। यूरोप मे कांसे का प्रयोग एक हजार आठ सौ वर्ष ईसा पूर्व के लगभग होना प्रारम्भ हुआ। तीन हजार वर्ष ईसा पूर्व के लगभग कांसे से बनी हुयी वस्तुओं का प्रसार ईरान और भारत तक

पाया जाता है। मोहनजोदड़ो की संस्कृति कांस्ययुगीन संस्कृति है। यही नहीं, इसका प्रसार चीन की ह्वांगहो नदी की घाटी तक में हुआ।

कांस्ययुग में भी अनेक प्रभावशाली आविष्कार और परिवर्तन हुए। इस युग के मुख्य आविष्कार हैं हल, आग के द्वारा धातु को गलाने का ज्ञान, पहिया (चक्र) और लेखन कला (लिपि)। आग के द्वारा धातु के गलाने के ज्ञान से काँसे जैसी मजबूत धातु मनुष्य के हाथ में आई जिससे उसके औजार और भी सुदृढ़ हो गए। धातु को गलाना एक विशेष ज्ञान है जिसका पीढ़ी दर पीढ़ी चलना एक प्रबल सम्भावना है। अतएव, धातु के गलाने वाला न एक विशिष्ट समूह अथवा वर्ग का रूप धारण किया होगा। काँसा, ताम्र और सोना पत्थर और मिट्टी की अपेक्षा अधिक अलभ्य रहे होंगे। अतएव, वे उसी को प्राप्त हो सकते होंगे जिसके पास अतिरिक्त धन होगा और जो धातु को गलाने वालों की सेवायें प्राप्त कर सका होगा। उधर हल के आविष्कार और प्रयोग ने उपज बढ़ाकर, अतिरिक्त धन को और भी बढ़ाया। विभिन्न संस्कृति वाले समूहों में संघर्ष और युद्ध नव प्रस्तरयुग में ही आ गया था। काँसे के प्रयोग ने उस संघर्ष को और भी बढ़ावा दिया। अतएव, सम्राटों और सामन्तों का अभ्युदय हुआ जिनका काँसे के प्रयोग पर अधिकार था। काँसे के अधिकाधिक प्रयोग ने अतिरिक्त धन की आवश्यकता को और भी बढ़ाया जिसे गुलामी प्रथा और साम्राज्य संस्थापन के द्वारा पूर्ण किया गया। बेबीलोनिया, सुमेरिया और असीरिया के साम्राज्य इसका प्रमाण हैं। घोड़े और पहिये के प्रयोग ने बैलगाड़ी और रथ को जन्म दिया जिससे मानव पहले की अपेक्षा अधिक गतिवान हो गया। इससे यदि एक ओर विभिन्न संस्कृतियों में पहले की अपेक्षा अधिक सम्पर्क स्थापित करने का मौका मिला तो दूसरी ओर युद्ध और साम्राज्य संस्थापन को प्रोत्साहन भी। हड़प्पा मोहनजोदड़ो से लेकर मेसोपोटामिया तक मिली हुई सीलें (Seals) में से कुछ वैयक्तिक सम्पत्ति का प्रमाण हैं तो कुछ अनेक राज्यों और साम्राज्यों की।

कांस्ययुग में सामाजिक वर्ग अस्तित्व में आ चुके थे और सामाजिक संगठन पहले की अपेक्षा अधिक जटिल हो गया था। पहिए के प्रयोग से कुम्हार का चाक (Potter's wheel) अस्तित्व में आया जिससे मिट्टी के बर्तन बनाना और भी सुगम हो गया। लेखन कला अथवा लिपि के आविष्कार ने मानव अनुभव और प्रतीकों को सुरक्षित रखने में सहायता देना प्रारम्भ किया। वास्तव में देखा जाय तो पहिया (चक्र) और लिपि के आविष्कार काफी महत्त्वपूर्ण हैं। मशीनों पर आधारित वर्तमान युग की सभ्यता वस्तुतः पहिया पर ही दौड़ रही है क्योंकि पहिया के प्रयोग के बिना मशीन का प्रयोग असम्भव है। आलौकिक आत्मा और जादू सम्बन्धी विश्वासों ने इस युग में धर्म का रूप लेना प्रारम्भ किया। जहाँ कहीं कांस्ययुग की सभ्यता मिली

: वहां देवघर भी मिले हैं[1]। इन सब परिवर्तनों और आविष्कारों के संबंधी प्रभावों ने नगरीकरण को जन्म दिया। नियोजित शहर और धूप से सुखायी ईंटों के मकान इस युग का एक अन्य विकास है। क्रोबर के अनुसार, ताम्र के सामाजिक प्रभाव और परिणाम नहीं के बराबर थे। किन्तु कांस्यकला और कांसे के प्रयोग ने संस्कृति और सामाजिक संरचना को निश्चय ही प्रभावित किया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि धातु के प्रयोग ने एक नयी सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया। धातु के प्रयोग ने वस्तुतः एक नयी सामाजिक व्यवस्था को संबल प्रदान किया। कांस्ययुग, क्रोबर के अनुसार, वह युग है जिसमें वर्गों, सम्राटों, देवताओं, स्मारकों, लेखन-कला और शहरीकरण का अभ्युदय और पुनर्संवलन देखा। जहां कहीं भी जनसंख्या और परिस्थितियां अनुकूल थीं, कांस्ययुग नायकों, अभिजातों और सामंतों का युग हो गया[1]।

लोहे का आविष्कार और प्रयोग उस समय के ठीक लगभग दो हजार वर्ष बाद हुआ जब मानव ने तांबे को गलाने, ढालने और अन्य धातुओं के साथ

लौह युग

मिलाने का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। यह आविष्कार एशिया माइनर (Asia Minor) कहे जाने वाले क्षेत्र में हुआ क्योंकि बारह सौ वर्ष ईसा पूर्व इस क्षेत्र में लोहे का प्रयोग पाया गया है। लगभग एक हजार वर्ष ईसा पूर्व यूनानियों को इसका ज्ञान प्राप्त हुआ। जिस प्रकार ताम्र को पृथ्वी से उठाकर मनुष्य ने उसका प्रयोग करना सीखा उसी प्रकार लोहा भी अनुमानतः मनुष्य को सबसे पहले मिट्टी में पड़ा मिला होगा। लोहे को गलाना, ढालना और फौलाद बनाना मानव ने बाद में सीखा। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि पहले लोहा एक मूल्यवान धातु था क्योंकि पहले इसका प्रयोग अंगूठियां बनाने और कांसे की वस्तुओं में पच्चीकारी करने के लिए किया जाता था। किन्तु, बाद में यह जनसुलभ हो गया और अन्य आविष्कारों के साथ प्रजातन्त्रीय विचारों का कारक बना। कांसा अभिजातों और जन्म, काय तथा धन से सत्ता-सम्पन्न व्यक्तियों के प्रयोग की वस्तु था किन्तु लोहा जनसाधारण के प्रयोग की वस्तु बना और लोहे का प्रयोग सर्वत्र प्रजातन्त्रीकरण का कारण सिद्ध हुआ। लोहे के प्रयोग के साथ साथ अक्षरों द्वारा लिखने की लिपि और छोटी छोटी मुद्राओं के निर्माण का भी आविष्कार हुआ। ये तीनों आविष्कार एशिया माइनर में ही हुए और वहां से चारों ओर फैले। कांस्ययुग में लिपि का आविष्कार तो हो गया था पर लिखने के लिए चित्रों और जटिल प्रतीकों का प्रयोग किया जाता था जिसमें लेखन कला जन सुलभ न थी। अक्षरों के प्रयोग

---

1 इसका तात्पर्य यह कदापि न लेना चाहिए कि जादू और आत्मा में विश्वास ने धर्म को जन्म दिया था या जादू धर्म का पूर्ववर्ती रूप है। धर्म के अधिक ठोस प्रमाण इसी काल में मिलते हैं।

1 क्रोबर, ए० एल० एन्थ्रापालोजी पृष्ठ 701

ने लेखन कला को और सरल बना दिया। मुद्राओं के प्रचलन ने व्यापार को प्रोत्साहन दिया और लोहे के अस्त्र शस्त्रों ने युद्ध और साम्राज्य संस्थापन को। यही वह युग है जब यूनानियों, ईरानियों और रोम की सभ्यताओं और साम्राज्यों का विकास हुआ। रोम-साम्राज्य के पतन का काल हम इतिहास की सीमाओं में आता है। वास्तव में, इतिहास का प्रारम्भ ही लौहयुग के साथ साथ होता है। वर्तमान मानव लौहयुग के चरमोत्कर्ष के काल में रह रहा है।

इस प्रकार, मानव संस्कृति विशेषतया योरोप में, प्राचीन प्रस्तरयुग नवप्रस्तर युग कांस्ययुग और लौहयुग के चार सोपानों से गुजरी है। ये सोपान योरोप की भूमि पर एक क्रमिक विकास प्रक्रिया के रूप में मिले हैं किन्तु यह विकास क्रम नियति द्वारा निर्धारित नहीं है और न ये अवश्यम्भावी ही हैं। ये चारों सोपान इतिहास की अवस्थायें मात्र हैं जिनका घटित होना संयोग पर अधिक निर्भर करता है न कि किसी पूर्वनिर्धारित अवश्य योजना पर। यह सोचना कि सारा संसार एक ही समय में एक युग विशेष के प्रभाव में था या संसार के सारे लोग इन्हीं अवस्थाओं में से गुजर हैं और जो नहीं गुजरे हैं उन्हें गुजरना पड़ेगा, पुरातत्वीय और ऐतिहासिक तथ्यों के विरुद्ध है। जब योरोप सारे युगों को पार करता हुआ लौहयुग में आ गया था तब प्रशान्त महासागर के अनेक द्वीप प्रस्तरयुगीन अवस्था में थे। लोहे का आविष्कार एशिया माइनर में हुआ किन्तु उसका ढालना चीन में प्रारम्भ हुआ। अतएव जब चीन और उसके बाद अन्य एशिया लौहयुग में प्रवेश कर रहे थे तब योरोप कांस्ययुग में था। दूसरी ओर यह मान लेना कि प्रत्येक क्षेत्र में इन अवस्थाओं का क्रमशः अवतरित होना अनिवार्य है ऐतिहासिक निर्वचन के साथ मखौल करना है। अफ्रीका की गणजातियों और जापान के निवासी कांस्ययुग में प्रवेश किये बिना ही लौहयुग में प्रवेश कर गये हैं। वास्तव में जैसा कि पहले कहा जा चुका है ये युग चार सोपानों के समान हैं और संयोग पर आधारित विकास हैं। यह आवश्यक है कि इनमें से प्रत्येक विकास ने मानव संस्कृति के अनेक पहलुओं को विकसित होने में सहायता दी। अतएव इन्हें मानव संस्कृति की अवस्थायें (Cultural Pha..es) भी कहा जा सकता है। संसार के अधिकतर भागों में इन युगों के प्रमाण मिलते हैं किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, प्रत्येक युग की अवस्थायें सारे संसार में न तो समकालीन हैं और न परस्पर अनुरूप। भारत की प्रस्तरयुगीन संस्कृति, अनेक विभिन्नताओं में योरोप की प्रस्तरयुगीन संस्कृति से भिन्न है। अतएव एक यह भी मत है कि योरोप में किये गये अध्ययनों के आधार पर गढ़ी गयी नामावली को संसार के अन्य क्षेत्रों पर लागू करना तर्कसंगत नहीं है। इस मत में बहुत कुछ सार है फिर भी, अध्ययन की सुविधा के लिए धारणाओं और सामान्य रूपरेखाओं के रूप में इनका प्रयोग करने में कोई भी अनौचित्य नहीं है।

हिन्दुत्व सामाजिक-ऐतिहासिक आधार

भारतीय संस्कृति, देश काल की सीमा में बंधी हुई, एक विशेष संस्कृति है, जिसका उद्भव और विकास मानव संस्कृति की पृष्ठभूमि में हुआ है। प्रारम्भ से लेकर वर्तमान तक, भारतीय संस्कृति के विकासकाल को चार अध्यायों में बांटा जा सकता है प्रथम प्रागैतिहासिक काल जो भारत में आर्यों के आने और हिन्दू समाज के निर्माण तक फैला हुआ है, दूसरा बौद्धकाल जो एक ओर, बौद्धिक जागरण तथा चेतना और दूसरी ओर रूढ़िग्रस्त वैदिक समाज के प्रति प्रतिक्रिया का काल है, तीसरा मुस्लिम काल जिसमें इस्लाम के सम्पर्क में हिन्दुत्व का [illegible]विश्वास प्रभावित हुआ और चौथा वर्तमान काल जिसमें पश्चिमी सभ्यता के व्यापक संघात ने अनेक परिवर्तन प्रक्रियाओं को जन्म दिया। किन्तु भारतीय संस्कृति के विकास काल के ये चार अध्याय एक दूसरे से अलग नहीं हैं क्योंकि उनमें एक ही धारा प्रवाहित हो रही है। ये चार अध्याय वस्तुतः एक महाकाव्य के चार अध्यायों के समान हैं। एकता में अनेकता और अनेकता में एकता समेटे हुए भारतीय संस्कृति का प्रवाह उस गंगा के समान है जो अनेक सहायक नदियों को आत्मसात करके भी गंगा ही बनी रहती है। आज भी भारतीय उसी समाज में रह रहे हैं जो वेदों में वर्णित है और

आज भी वेदो के रचयिताओ तथा महात्मा बुद्ध को प्रेरित करने वाले आदर्श और अहार्य भारतीयो को प्रभावित कर रहे हैं।

आज से लगभग पचास वर्ष पहले सर हरबर्ट रिसले ने लिखा था कि भारत मे योरोप जैसे प्रागतिहासिक अवशेष नही पाये जाते है और इस कारण भारत के प्रारम्भिक निवासियो और संस्कृति के बारे मे यथेष्ट ज्ञान नहीं हो पाता है। इसमे कोई शक नही कि भारत की गर्म जलवायु मे जीवाश्म (Fossils) कम सुरक्षित नही रह पाये हैं जैसे कि योरोप मे हैं। फिर भी आज वह स्थिति नही है जो रिसले के समय मे थी। पिछले तीस वर्षों मे सरकारी और गैर सरकारी संस्थाओ की छत्र छाया मे पुरातत्ववेत्ताओ ने भारत की प्रागतिहासिक संस्कृति के अनेक पुरावशेष ढूढ निकाले हैं। ✓

२

भारत मे प्रागतिहास

सन 1935 ईसवी मे डीटेरा और पटरसन के नेतृत्व मे यल और कम्ब्रिज *विश्वविद्यालयो द्वारा सगठित अन्वेषक दल ने यह निर्धारित किया कि भारतीय* संस्कृति उतनी ही प्राचीन है जितनी कि योरोप की। योरोप के समसामयिक चार हिम युगो का आगमन निगमन उत्तरी भारत मे भी हुआ है जिसके प्रमाण सिन्ध की सहायक सोआन नदी की घाटी मे विद्यमान हैं। पजाब राजस्थान गुजरात मध्य प्रदेश, कर्नाटक, मयूर विहार आसाम और बगाल, लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष मे, प्रागतिहासिक मानव द्वारा निर्मित पत्थर के औजार पाए गए है। सोआन नर्मदा *और गोदावरी नदियो की घाटियो मे भी मानव द्वारा निर्मित पत्थर के औजार मिले* हैं। सोआन नदी की घाटी मे पाये गये औजार, पानी के साथ बहकर आये हुये पत्थरो (Pebbles) से बनाये गये हैं और उनमे आन्तरक (Core) तथा पथुक (Flake) दोनो प्रकार के औजार पाये गये हैं। दक्षिण मे पाये जाने वाले औजारों मे आन्तरक औजारो की ही प्रधानता है। इसी आधार पर स्टुअट पिगाट ने यह मत प्रतिपादित किया है कि उत्तरी भारत से लेकर उत्तरी योरोप तक पथुक औजारो की *और दक्षिण भारत से लेकर दक्षिण योरोप तक आन्तरक औजारो की परम्पराओ* का विकास हुआ है। इन औजारो मे काटने और छीलने के औजार पाये जाते हैं यद्यपि इनमे मुष्टिका कुल्हाडियो (Hand Axes) का बाहुल्य है। वास्तव मे, योरोप से लेकर भारत तक प्रस्तरकालीन युग मे मुष्टिका कुल्हाडियो की ही बहुतायत है। पुरातत्ववेत्ताओ के अनुसार, गगा सिन्धु के मैदान के अतिरिक्त, भारत के प्रत्येक भाग

प्राचीनता के प्रमाण मिले हैं। किन्तु भौमिक स्तरीकरण (Stratigraphy) के स्पष्ट न होने के कारण यह कहना कठिन है कि भारत के किस भाग में मानव की अवतारणा हुयी। भूगर्भीय प्राचीनता जलवायु की अनुकूलता और वादामदुराई में पाये गये अवशेषों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सम्भवतः भारतवर्ष में मानव की उत्पत्ति दक्षिणी भूभाग में हुयी और वहाँ से वह आगे और फैला। सोआन घाटी में पायी जाने वाली मुष्टिका-कुल्हाड़ियों (Hand Axes) के प्रमाण को मानते हुए डीटरा ने भी यही मत प्रतिपादित किया है कि भारत में मानव की अवतारणा दक्षिण में ही हुयी होगी और प्रथम हिमयुग के अन्त तक पंजाब में उसका आगमन हुआ होगा[1]।

मध्यपाषाणकालीन प्रस्तरयुग (Mesolithic) के औजार भी लगभग सम्पूर्ण भारत में पाये गये हैं। योरोप और अफरीका में पाये गये, इस काल के औजारों की भाँति ये औजार भी छोटे आकार के हैं और योरोप में पाये गये औजारों के काफी अनुरूप हैं। अधिकतर ये औजार भूमि की सतह पर पाये गये हैं। अतः, यह निर्धारित करना कठिन है कि ये किस युग के हैं। एक ओर ये औजार लौह के औजारों के साथ पाये गये हैं और दूसरी ओर ये उन मिट्टी के बर्तनों के साथ पाये गये हैं जो ईसापूर्व चौथी शताब्दी से अधिक प्राचीन नहीं हैं। इस प्रमाण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में मध्यपाषाणकालीन प्रस्तरयुग लौहयुग के समकालीन है।

मैसूर के चीतलदुर्ग जिले में ब्रह्मगिरि नामक स्थान पर की गई खुदाई में मध्यपाषाणकालीन प्रस्तरयुग और नवप्रस्तरयुग के औजार साथ-साथ पाये जाते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि मैसूर के क्षेत्र में नव और प्राचीन प्रस्तरयुगों के मध्य मध्यपाषाणकालीन प्रस्तरयुग आया है यद्यपि यह निर्धारित करना कठिन है कि योरोप की भाँति यहाँ भी मध्यपाषाणकालीन प्रस्तरयुग प्लास्टोसीन युग के पश्चात ही आया है। पचमढ़ी की महादेव पहाड़ियों पर पाये गये पुरावशेषों का भी यही हाल है। भारत के मध्यपाषाणकालीन प्रस्तरयुग की बस्तियों में गुजरात की संस्कृति सबसे प्राचीन है और यहाँ पाये हुये कंकालों में पूर्वी अफरीका और मिस्र के निवासियों की सी शारीरिक विशेषतायें पायी गयी हैं। इस संस्कृति के निर्माण-कर्ताओं के जीवन का आधार गाय, भैंस, घोड़े, बकरे, भेड़, बकरी, सूअर, मछली और मगर का शिकार था। वे शव को सानुष्ठान दफनाते थे और सम्भवतः कुत्ते पालते थे।

पालिश किये हुये नवप्रस्तरयुगीन औजार बिलारी, मैसूर, हैदराबाद, मध्य-प्रदेश, बुन्देलखण्ड, गुजरात, कश्मीर, पश्चिमी बंगाल, छोटा नागपुर और उड़ीसा के

1 एच० डी० सांकालिया आर० सी० मजुमदार द्वारा सम्पादित वैदिक एज० में पृष्ठ 123 132

क्षेत्रो म पाये गये हैं। नवप्रस्तरयुगीन अवशेष और अन्य भूगर्भीय प्रमाण इतने कम है कि यह कहना कठिन है कि भारत म नवप्रस्तरयुगीन सस्कृति के निर्माता कौन थे ? ब्रह्मगिरि और गुजरात के प्रमाण इस बात के अवश्य द्योतक है कि भारत म नवप्रस्तरयुग लौहयुग के पहले आया है। वास्तव मे भारत की नवप्रस्तरयुगीन सस्कृति के अधिक वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता है।

ताम्र अवशेष दोआबा, हैदराबाद नागपुर, मदुरा और मसूर के क्षेत्रो म पाये गये है। सिन्धु नदी की घाटी मे ताम्र, विशेषतया कासे के अवशेषो का बाहुल्य है। यह सर्वविदित है कि हडप्पा और मोहनजोदडो की सस्कृति कास्ययुगीन सस्कृति है। हडप्पा और मोहनजोदडो की सस्कृति पर ईराक की दजला और फरात नदियो की घाटी म विकसित तत्कालीन कास्ययुगीन सस्कृति का प्रभाव स्पष्ट है। इस आधार पर, विद्वानो का यह मत है कि भारत मे कासे के प्रयोग का ज्ञान मध्य एशिया से आया है। स्टुअर्ट पिगाट के मत म गगा सिन्धु के मैदान मे ताम्र और कास्य सस्कृतियो के विकसित होने का एक कारण यह भी है कि राजस्थान, छोटा नागपुर और सिंह भूमि (बिहार) म ताबा और कासा पाया जाता रहा होगा। ताबे और कासे के अवशेषो के रूप म औजार हथियार (कुल्हाडी, तलवार और डैगर इत्यादि) और आभूषण पाये गये हैं भौमिक स्तरीकरण की अनुपस्थिति म यह निर्धारित करना कठिन है कि भारत म धातु का प्रयोग कब प्रारम्भ हुआ। ऋग्वेद मे धातु के लिये अयस शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है पर उससे भी यह निर्णय करना कठिन है कि भारत मे धातु के प्रयोग का वास्तविक समय क्या है क्योकि ऋग्वेद के रचना काल पर ही विद्वानो म मतमतान्तर है। दोआब की कास्य सस्कृति हडप्पा और मोहनजोदडो की सस्कृति से प्राचीन समझी जाती है क्योकि एक ओर वहा कासे की तलवार अनुपस्थित है और दूसरी ओर, वहा कासे के औजारो के साथ साथ पत्थर के भी औजार पाये जाते है।

दोआब म लेकर डयूब नदी की घाटी तक पाये जाने वाले कास्य औजारो की बनावट और आकार म साम्य है जिसके आधार पर स्टुअर्ट पिगाट ने यह प्रतिपादित किया है कि कासे के प्रयोग का ज्ञान रखने वाले भारत म पश्चिम की ओर से स्थानान्तरित हुये है। अभी तक भारत म लौहयुगीन सस्कृति के प्रतीक हैं भीमकाय पत्थरो के स्मारक जो लगभग सम्पूर्ण भारत म पाये गये है। इनम से केवल कुछ की ही खुदायी हुयी है। इनकी खुदाई से जो कुछ भी प्रमाण और अवशेष प्राप्त हुये हैं वे इस बात के द्योतक है कि ये सभी स्मारक किसी विशेष काल के नहीं है। कश्मीर का स्मारक नवप्रस्तरयुग का है। राची के स्मारको मे नवप्रस्तरयुगीन औजार चाक पर बने हुये मिट्टी के बर्तन, ताबे और कासे की बनी वस्तुयें ताबे और सोने के आभूषण और गलाये हुये लोहे के अवशेष साथ-साथ पाये गये है। राजपूताने के स्मारको म ढक्कनदार मिट्टी के बर्तन मिले हैं जिनम

जली हुयी मानव अस्थियां पायी गयी हैं। यही नहीं राजपूताना के स्मारकों में सक्रमणकालीन प्रस्तरयुग के औजारों के समान गढे हुये पत्थर के छोटे छोटे पृथुक औजार (Flake Tools) भी पाये गये हैं जिससे यह आभास मिलता है कि सम्भवतः ये स्मारक सक्रमणकालीन प्रस्तरयुग के है। दक्षिण के स्मारक भी किसी एक काल विशेष के नहीं है। उनमें नवप्रस्तरयुग से लेकर लौहयुग तक के उपकरण पाये जाते हैं।

इन स्मारकों के आधार पर यह निर्णय करना कठिन है कि कहा और किस प्रकार ताम्र और कास्य सस्कृतियो का लौहयुग में सक्रमण हुआ। इन स्मारकों की उत्पत्ति और निर्माण के कारणों को भी अभी तक ठीक ठीक निश्चित नहीं किया गया है। निश्चित यह है कि अधिकतर स्मारक अन्त्येष्टि क्रिया से सम्बन्धित हैं पर साथ ही साथ यह भी निर्धारित है कि आसाम के स्मारक निवेचन स्मरणार्थ और पूर्वज-पूजा (Ancestor Worship) से सम्बन्धित हैं। इससे स्पष्ट है कि इन स्मारकों के निर्माण के अनेक कारण रहे है। इन स्मारकों के अधिक गहन अध्ययन की आवश्यकता है और जब तक यह अध्ययन नहीं होता है कास्य और लौह युगो के मध्य की सक्रमणकालीन संस्कृति का ठीक ठीक निर्धारण भी कठिन है। अतएव, पुरातत्व के प्रमाणों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि भारत में लोहे का प्रयोग कब प्रारम्भ हुआ यद्यपि यह निश्चित है कि आर्यों को लोहे के प्रयोग का ज्ञान था और आर्यों की सस्कृति लौहयुगीन संस्कृति थी।

इस प्रकार, पुरातत्व के अन्वेषणों से भारतीय संस्कृति का ज्ञान अधूरा ही रहता है। इसका दोष पुरातत्व को नहीं दिया जा सकता क्योंकि भारत में पुरातत्व का अध्ययन वस्तुतः नहीं के बराबर हुआ है। यह पुरातत्व का ही वरदान है कि आज हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की संस्कृति को हम पहले की अपेक्षा अधिक समझते है और भारतीय संस्कृति का पिछले पाच हजार वर्षों का इतिहास अधिक स्पष्ट हो गया है। हा, यह अवश्य है कि पुरातत्व विज्ञान से अधिकतर पार्थिव संस्कृति का ही बोध होता है। इसी कारण डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने यह कहा है कि पुरातत्व के द्वारा प्राचीन भारतीय संस्कृति की एक झाकीमात्र दर्शन को मिलती है और अधिकतर वह भाकी होती है पार्थिव संस्कृति की। उनके अनुसार, मानव शास्त्रीय, समाजशास्त्रीय, धर्मशास्त्रीय और पुरातत्वीय अध्ययन रीतियों के साथ यदि भाषाशास्त्रीय अध्ययन रीति को जोड दिया जाय तो भारत की प्रागैतिहासिक प्रक्रिया और भी स्पष्ट हो जायगी[1]।

---

1 भाषा के प्रमाणों के आधार पर किया गया यह वर्णन डा० सुनीति कुमार चटर्जी के अध्ययन पर आधारित है। देखिये आर० सी० मजूमदारकृत वैदिक एज।

भाषा डा० सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार, संस्कृति की अभिव्यक्ति का एक मुख्य माध्यम है और भाषा के द्वारा ही संस्कृति प्रसरण होता है। यह निर्विवाद है कि भारत में छ प्रकार की प्रजातियों का आगमन, निगमन और मिश्रण हुआ है। प्रजाति और भाषा में कोई कारक सम्बन्ध नहीं है पर यह नहीं कहा जा सकता है कि एक प्रजाति समूह की अपनी विशिष्ट भाषा और संस्कृति नहीं होती है। प्रजातियों के साथ भारत में भाषा संस्कृतियां (Language Cultures) भी आई। जिनमें भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ है। भारत में आने वाली प्रजातियां के लोग आज आस्ट्रिक (Austric कोल, मुण्डा) तिब्बती चीनी (Tibeto Chinese or Sino Tebetan) द्राविड और आर्य परिवार की भाषाओं को अलग अलग बोलते हैं किन्तु इन्हीं भाषा भाषियों की सांस्कृतिक विशेषताओं के मिलन से भारतीय संस्कृति और उसकी स्थायी प्रेरक शक्तियां और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अभ्युदय हुआ है। एक ओर, भारत में विभिन्न भाषा संस्कृतियां आती रही है और, दूसरी ओर कृषि पर आधारित आर्थिक जीवन तथा एक प्रकार से संसार से अलग एक बड़े भूभाग में रहने के कारण उनका पारस्परिक सम्मिलन और आदान प्रदान भी होता रहा है। भाषा के प्रमाणों के आधार पर यह कहना कठिन है कि भारत में आने के समय प्रत्येक भाषा संस्कृति के प्रवर्तकों का मानसिक और आध्यात्मिक गठन किस प्रकार का था यद्यपि अन्य मानवी शास्त्रों की सहायता से इस बात का बहुत कुछ अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि प्रत्येक भाषा संस्कृति का पार्थिव और अपार्थिव स्वरूप कैसा था और भारतीय जीवन के पार्थिव, अपार्थिव मानसिक और भावना जगत में उसका क्या योगदान रहा है।

डा० गुह के साथ साथ डा० सुनीति कुमार चटर्जी भी यह मानते हैं कि भारत के आदि निवासी नीग्रिटो थे यद्यपि अब न तो वे पाये ही जाते हैं और न उनकी भाषा ने ही बाद में आने वाली भाषाओं को प्रभावित किया। अत्यन्त आदिकालीन होने के कारण नीग्रिटो संस्कृति का भारतीय संस्कृति पर कोई प्रमुख प्रभाव नहीं पड़ा और यदि कुछ प्रभाव पड़ा भी तो वह आस्ट्रिक, द्राविड और आर्य भाषा संस्कृतियों की तह में आत्मसात हो गया। यह अनुमान किया जाता है कि वट वृक्ष की श्रेणी में आने वाले वृक्षों की पूजा और यमराज की कल्पना वस्तुतः नीग्रिटो लोगों की ही देन है। प्रोटो आस्ट्रोलायड प्रजाति के लोग, सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार आस्ट्रिक भाषा भाषी थे। प्रोटो आस्ट्रोलायड (Proto Austroloid) का आगमन पश्चिम से हुआ उनकी आदिकालीन भाषा का विकास भारत में ही हुआ और यहीं से इस प्रजाति और भाषा भाषियों का प्रसार पूर्व की ओर हुआ। भारत की कोल या मुण्डा, मान खमेर (आसाम) और निकोबार द्वीप की बोलियां आस्ट्रिक परिवार की हैं। बर्मा, हिन्दचीन (इन्डो चाइना) इन्डोनेशिया, मेलानेशिया माईक्रोनेशिया और पालीनेशिया की भाषायें भी इसी परिवार में आती हैं। इस प्रकार, आस्ट्रिक

भाषा भाषियों का प्रसार कश्मीर से लेकर ईस्टर द्वीप तक हुआ। यही नहीं, मेलानेशियन और पालीनेशियन समूहों के अस्तित्व में आने के बाद उनका भारत में पुनः आगमन हुआ और इस प्रकार अनेक पालीनेशियन और मेलानेशियन तत्व भारतीय संस्कृति में मिल गये। जैसा कि डा० सुनीति कुमार चटर्जी का मत है महात्मा बुद्ध के समय तक आस्ट्रिक परिवार के भाषा भाषियों का प्रसार गंगा के मैदान में रहा है। धीरे धीरे वे आर्य भाषा भाषी हो गये। एक हजार पांच सौ और छः सौ ईसवी पूर्व के बीच में ये आर्य भाषा भाषी हुये। निषाद और चण्डाल संज्ञाओं का प्रयोग आर्यों ने उन्हीं के लिये किया है। कुछ भी हो आस्ट्रिक भाषा भाषी प्राटो-आस्ट्रालायड की संस्कृति ने भारत को आधारभूत सांस्कृतिक तत्व प्रदान किये हैं। चावल, कदली, नारिकेल (नारियल) और ताम्बूल (पान) जैसे अनेक पदार्थों के नामों की उत्पत्ति न तो संस्कृति में है और न द्राविड भाषाओं में। इससे यह स्पष्ट है कि यहां के उन पुष्प पादपजातों के नाम जिनसे आर्य और द्राविड भाषा भाषी परिचित नहीं थे, आस्ट्रिक भाषा भाषियों की देन है। भारत में नवप्रस्तरयुगीन संस्कृति के बीज आस्ट्रिक भाषा भाषियों ने ही बोये। मिट्टी के बर्तन, चावल की खेती, गन्ने से शक्कर का निर्माण पूजा तथा अनुष्ठानों और धार्मिक तथा सामाजिक कृत्यों में पान, हल्दी और सिंदूर का प्रयोग हाथी पालना और कपास से कपड़े बुनना कुछ ऐसे पार्थिव तत्व हैं जो आस्ट्रिक भाषा भाषियों से मिले हैं। गिनने में कौड़ी (बीस) को इकाई मानना, चन्द्रमा की कलाओं के आधार पर तिथियों को गिनना, नजर में विश्वास, कच्छावतार मत्स्यगंधा और नागनाग की गाथायें, वानर और गणेश की पूजा और अंडे से सृष्टि उत्पत्ति की कहानी भारतीय संस्कृति के वे अपार्थिव तत्व हैं जिनकी जड़ें आस्ट्रिक संस्कृति में हैं। शव को खुला छोड़कर अन्त्येष्टि क्रिया करना सहवासी-गृहों (Dormitories) का निर्माण, नरमुण्डों का शिकार और नाव की पूजा बहुत सम्भव है मेलानेशिया से आये हुये प्रवासियों की देन हो और विभिन्न संस्कारों में नारियल का प्रयोग पालीनेशिया के प्रवासियों की।

द्राविड और आर्य भाषा भाषियों ने ही भारतीय, विशेषतया हिंदू, संस्कृति को उसके मुख्य आधार प्रदान किये हैं। आज द्राविड परिवार की भाषायें मुख्यतया दक्षिण में ही सीमित है किन्तु मध्य भारत में पायी जाने वाली गाडी, कुवी और ओरांव बोलियों तथा बिलोचिस्तान में पायी जाने वाली ब्राहुवी बोली के आधार पर भाषा वैज्ञानिकों और इतिहासकारों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि सम्भवतः आर्यों के आने के पहले द्राविड भाषा भाषी सम्पूर्ण भारत में फैले हुए थे। अपनी ध्वनि संरचना के कारण, डा० सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार, द्राविड परिवार की भाषायें फिनो उग्रियन (Finno Ugrian) भाषाओं के अधिक निकट है और यह निकटता इस बात का प्रमाण है कि द्राविड ईरान के उस पार से भारत में आये हैं। भारत में आर्यों ने दास अथवा दस्यु संज्ञा का प्रयोग उन लोगों के लिए किया है

जो उनसे पहले भारत के निवासी थे। आधुनिक फारसी में 'डह्यु,' 'दह' या 'डीह' जैसी संज्ञाओं का पाया जाना इस सम्भावना का प्रतीक है कि आर्यों और द्राविडों का प्रथम साक्षात्कार ईरान में ही हुआ होगा। यह भी सम्भव है कि 'दह' संज्ञा का प्रयोग ईरानियों ने यूनानियों से लिया हो। यूनानी 'दह' संज्ञा का प्रयोग कैस्पियन सागर के दक्षिण पूर्व में रहने वाले 'डहाइ' लोगों के लिए किया करते थे। अतएव, यह कहा जा सकता है कि 'डहाई' या द्राविड कहे जाने वाले लोग कैस्पियन सागर के दक्षिणी पूर्वी तटवर्ती प्रदेश के निवासी थे।

लन्दन विश्वविद्यालय के मानवशास्त्र के प्रोफेसर श्री हेमन्डाफ का मत है कि भारत में आर्यों के फैलने के बाद, समुद्री मार्ग से आकर द्राविड दक्षिणी भारत में बस गये और यही कारण है कि आज द्राविड भाषायें दक्षिणी भारत में ही सीमित हैं। उत्तरी भारत से दक्षिणी भारत तक फैली हुयी अनेक ऐतिहासिक परम्परायें और उनमें पाये जाने वाला साम जस्य इस मत को सही मान लेने में बाधक है। यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि द्राविड भाषा भाषी मेडीटरेनियन प्रजाति ही के थे। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई में पायी गयी सीलों पर अंकित लिपि को कुछ लोगों ने वर्तमान द्राविड लिपियों का प्रारम्भिक रूप मान कर यह प्रतिपादित किया है कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की संस्कृति द्राविड संस्कृति है? यह निश्चित है कि तीन हजार दो सौ पचास ईसवी पूर्व से लेकर दो हजार ईसवी पूर्व के मध्य, भारत में ताम्रयुगीन संस्कृति का विकास हुआ और जिसके निर्माण में द्राविड भाषा भाषियों का हाथ अवश्य है। बहुत सम्भव है कि जिन्हें वेदों में दास या 'दस्यु' शहरों तथा लोहे और पत्थर के सप्तभुजी दुर्गों का निर्माणकर्ता कहा गया है वही द्राविड हों और हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो की संस्कृति के निर्माता भी[1]।

सर जान मारशल के अनुसार, हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की संस्कृति ताम्र युगीन संस्कृति है और उसका अस्तित्व तीन हजार दो सौ पचास ईसवी पूर्व से लेकर दो हजार सात सौ पचास ईसवी पूर्व के मध्य रहा होगा। इसका क्षेत्र सम्पूर्ण सिन्ध, पंजाब, बलूचिस्तान और गंगा के मैदान के एक भाग से लेकर काठियावाड पश्चिमी घाट और दक्षिणी भारत के कुछ भागों में फैला रहा होगा। किन्तु हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई में मिले पुरातत्व के अवशेष ही इस संस्कृति के प्रतीक हैं और उन्हीं के द्वारा इस संस्कृति के स्वरूप को जाना जा सकता है। सभी विद्वानों का मत है कि यह संस्कृति ताम्रयुगीन शहरी संस्कृति थी और उस सांस्कृतिक प्रक्रिया का एक परिणाम थी जिसने सिन्ध और नील नदियों के बीच में आने वाले भूभाग में पल्लवित ताम्र तथा कांस्ययुगीन संस्कृतियों को जन्म दिया। इसी काल की सुमेर, बबीलोन मिस्र और

1 सुन्दरम पी० एम० सय्यद अब्दुल लतीफ द्वारा सम्पादित और संग्रहीत एन आउटलाइन आफ दि कल्चरल हिस्ट्री आफ इंडिया पृष्ठ 1

असीरिया की सस्कृतियो तथा हडप्पा और मोहनजोदडो की सस्कृति म इतना साम्य है कि पुरातत्ववेत्ता हडप्पा मोहनजोदडो की सस्कृति को एक अलग छुटपुट विकास न मानकर उसे मिस्र से भारत तक फली हुयी सास्कृतिक विकास शृखला की एक कडी मानते है। फिर भी, हडप्पा मोहनजोदडो की सस्कृति अपनी समकालीन सस्कृतियो के पूणतया अनुरूप नही है—उसकी अपनी विशिष्टतायें है और अपना एक अलग व्यक्तित्व। हडप्पा मोहनजोदडो की सस्कृति के निर्माणकर्ताओ को कपास से कपडे बनाने का ज्ञान था जबकि तत्कालीन मध्य एशिया के लोग इस ज्ञान स वचित थे। मध्य एशिया की भाति, यहा भी चित्रलिपि का विकास हुआ है किन्तु यहा की लिपि म प्रयोग किये गये चित्र अपने ढग से निराले हैं। यहाँ बनाये जाने वाले मिट्टी के बतनो के आकार और उन पर बनायी जाने वाली चित्रकारी भी अपने ढग की निराली है। हडप्पा मोहनजोदडो म, जैसा कि पुरातत्वीय अवशेषो से विदित होता है सस्कृति केन्द्रित है जनसाधारण मे किन्तु तत्कालीन मध्य एशिया की सस्कृतियो के केन्द्रबिन्दु है वहाँ के अभिजात्यवग। पत्थरो पर खुदाई और नक्काशी करने की कला और धार्मिक विश्वास भी हडप्पा मोहनजोदडो की सस्कृति को एक अलग सास्कृतिक विशिष्टता प्रदान करते हैं।

हडप्पा और मोहनजोदडो के अवशेषो स सबस पहला आभास यह मिलता है कि सिन्धु नदी की घाटी म नगर नियोजन (City Planning) का ज्ञान था क्योकि हडप्पा और मोहनजोदडो के नगर सुनियोजित हैं। पक्की इटो के बने मकान, उनम स्नानागार और नालियो की व्यवस्था, मकानो का एक सीधी लाइन म बना होना, सडको और जनपथो का सीधा तथा चौडा होना, सार्वजनिक सग्रहागारो और मल्यहल, स्वच्छता तथा पानी निकालने की व्यवस्था के अवशेष इस बात क प्रमाण हैं कि हडप्पा और मोहनजोदडो के नगर नियोजित थ। ये अवशेष इस तथ्य के भी प्रमाण हैं कि इन शहरो म सहवासी जीवन अत्यन्त सगठित था और जनसाधारण को आवश्यक नागरीय सुविधायें प्राप्त थी। श्री के० एन० दीक्षित क मत म, मौर्यकालीन रक्षा प्रहरी-पद्धति तथा प्रबन्धक मण्डल की व्यवस्था और गुप्तकाल की नगर परिषदो की जडें सिन्धु नदी की घाटी म विकसित ताम्रयुगीन सस्कृति म हैं।

पुरातत्ववेत्ताओ ने इस सस्कृति के अनेक पार्थिव तत्वो तथा विशेषताओ को निर्धारित किया है। यह निर्विवाद है कि इस सस्कृति का पार्थिव आधार कृषि था। किन्तु कृषक के अतिरिक्त, कुम्हार, बुनकर, बढई, राज और धातु की वस्तुयें बनाने वाले के धन्धे भी मुख्य थ। सोना, चान्दी, ताँबे, काँसे और पकाई तथा पालिश की हुयी मिट्टी के आभूषणो का भी प्रचलन था। अनेक प्रकार क मिट्टी के बतनो का प्रयोग होता था यद्यपि यदा-कदा ताँबे, काँसे, चाँदी तथा चीनी मिट्टी क बतन भी प्रयोग म लाये जाते थे। पकाई हुयी तथा चीनी मिट्टी की तश्तरियाँ, दशमलव प्रणाली पर आधारित बाँट, सिक्को का आभास देने वाले गोल चाँदी के टुकडे और कपडा

बनाने का नया समृद्धिशाली व्यापार के प्रतीक हैं। भारत तथा एशिया के विभिन्न भागों के निवासियों के साथ हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के निवासियों के व्यापारिक सम्बन्ध थे। यहाँ प्रयोग में लाये जाने वाले शंख और मोती, श्री दीक्षित के मतानुसार दक्षिण के द्राविड़ों विशेषतया तामिल भाषा भाषियों, से आये होंगे। सुमेर और ईलाम की खुदाई में पायी गयी हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की सील इस बात की पुष्टि करती हैं कि इन संस्कृतियों के निर्माताओं में सांस्कृतिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध थे। उत्कीरण (Engraving) और प्रतिरूपण (Modelling) की कलाओं के भी अनेक प्रमाण मिलते हैं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में पायी गयी सीलों पर तत्कालीन जानवरों और धार्मिक कथाओं के खुदे हुए चित्र पाये गये हैं जिनसे, एक ओर, उस काल में पाये जाने वाले जानवरों का पता मिलता है और दूसरी ओर, वहाँ के निवासियों के पारलौकिक विश्वासों का। कांसे में ढली और आभूषणों तथा बालों की सज्जा से सजी नारियों की मूर्तियाँ अनेक मुद्राओं में पायी गयी हैं, जिनमें नर्तकी की मूर्ति काफी प्रसिद्ध है। साथ ही साथ मिट्टी और पत्थर की भी मूर्तियाँ पायी गयी हैं। खिलौने की शकल वाली छोटी मिट्टी की बैलगाड़ियों का वही रूप है जो सिन्ध में वर्तमान बैलगाड़ियों का है। इसी आधार पर लोगों का यह अनुमान है कि हड़प्पा काल में जगतप्रसिद्ध भारतीय बैलगाड़ी अस्तित्व में आ गयी थी। खुदायी में प्राप्त पाँच सौ सीलें इस बात का प्रमाण हैं कि हड़प्पा मोहनजोदड़ो के निवासी चित्रलिपि का प्रयोग करते थे यद्यपि यह आज तक भी पढ़ी नहीं जा सकी है।

सीलों पर खुदे चित्रों और पत्थर की बनी मूर्तियों के आधार पर जिन धार्मिक विश्वासों और कथाओं का निर्धारित किया गया है उनसे यह स्पष्ट पता चलता है कि हड़प्पा मोहनजोदड़ो के निवासियों के धर्म उनके विश्वास और प्रथाओं में हिन्दुत्व का प्रारम्भिक रूप था। पत्थर और मिट्टी की बनी अर्द्धनग्न नारी मूर्तियाँ, जो हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया और योरोप तक पायी गयी हैं शक्ति या पृथ्वी माता या प्रकृति देवी की प्रतीक मानी गयी है और लोगों का ऐसा अनुमान है कि ये मूर्तियाँ उन विश्वासों और अनुष्ठानों की परिचायक हैं जिन पर आगे चलकर शाक्त धर्म और देवी भागवत की कल्पनायें आधारित हुई। हड़प्पा की एक सील में उल्टा लेटी हुआ एक नग्न नारी की योनि में एक उगता हुआ पेड़ चित्रित किया गया है जो सम्भवतः उस विश्वास और कल्पना का प्रतीक है जिसने आगे चलकर भारत की 'पृथ्वीमाता' या पृथ्वी की कल्पना का रूप लिया। एक सील पर खुदे चित्र में ऐसा आभास मिलता है कि मानो नारी की बलि देने की तैयारी हो। नारी की बलि दी जाती थी या नहीं यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि शक्ति की पूजा में बकरी की बलि दी जाती थी क्योंकि एक सील में एक पूजक बकरी को ले जा रहा है और अनेक दानव एक पंक्ति में खड़े हैं। शक्ति की पूजा में बकरी की बलि देने की प्रथा आज भी विद्यमान है। हड़प्पा और

मोहनजोदडो में मिली सीलों के आधार पर, विद्वानों का यह अनुमान है कि वहाँ के निवासियों के धर्म में शैव और जैन धर्मों का पुट था। शिव की अनेक रूपों में कल्पना की गयी है। एक सील में शिव को तीन मुख तथा तीन नेत्रों के साथ पद्मासन में अंकित किया गया है। यही नहीं उनके सिर पर सींगों वाली पोशाक है। उनके दाहिनी ओर एक हाथी तथा बाघ है और बाईं ओर गैंडा तथा भैंसा और सिंहासन के नीचे एक हरिण खड़ा है। इससे यह स्पष्ट है कि 'त्रिमुख', 'त्रिनेत्र' 'भूतनाथ' 'पशुपति' और 'महायोगी' के रूप में शिव की कल्पनायें इस युग में अस्तित्व में आ चुकी थीं। बहुत सम्भव है कि सींगों वाली पोशाक ही आगे चलकर त्रिशूल में प्रतिपादित हो गयी हो। किन्हीं किन्हीं सीलों में शिव को चतुर्भुजी के रूप में अंकित किया गया है और सम्भवतः इसी कल्पना से आगे चलकर चतुर्भुज देवताओं की कल्पना की गयी है। देवताओं को जैन योगियों की मुद्रा में अंकित करना और ऋषभ (बैल) का प्रतीकात्मक रूप में उनके साथ सम्बन्धित करना जैन धर्म के प्रारम्भिक रूप से लगते हैं। यहाँ मिले शंक्वाकार (Conical) और रम्भाकार (Cylindrical) पत्थरों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि सम्भवतः शिव और शक्ति की पूजा 'लिंग' और 'योनि' के रूप में की जाती थी। आज भी मन्दिरों में शिव-मूर्ति और अर्घा 'लिंग' और 'योनि' के ही प्रतीकों के रूप में गढ़े जाते हैं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के लोग पीपल को पवित्र मानते थे। विभिन्न देवताओं के वाहन इस काल में पवित्र और पूजा योग्य समझे जाते थे। मुँह में मछली लिए घड़ियाल को लोग सिंध का प्रतीक मानते हैं और यह प्रतिपादित करते हैं कि सम्भवतः हड़प्पा मोहनजोदड़ो के निवासी नदियों की भी पूजा करते थे। स्वस्तिक और चक्र, जैसा कि विद्वानों का मत है सूर्य के प्रतीक समझे जाने चाहिए। इस प्रकार, हिन्दुत्व की अनेक विशेषतायें हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की संस्कृति में विद्यमान हैं। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में वर्णित प्रेतात्माओं और जादुयी विचारों में विश्वास हड़प्पा की संस्कृति के प्रभाव के ही परिणाम हैं।

३

हिन्दुत्व का अभ्युदय

आज से चार पीढ़ी पूर्व जब यह निर्धारित किया गया कि संस्कृत और उससे उत्पन्न भाषायें अन्य भाषायें हैं और ईरान से लेकर योरोप तक फैली हुयी आर्य भाषाओं से उनका मूल सम्बन्ध है तो सहसा यह मान लिया गया कि भारत में जो कुछ भी श्रेष्ठ है यह आर्यों की देन है। किन्तु, बाद की खोजों से यह धारणा बदल गयी।

आज यह निर्विवाद है कि आर्यों के पहले भी भारत में सुसगठित और उच्च संस्कृति विद्यमान थी। आर्य शब्द धर्मानन्द कौसाम्बी के अनुसार, 'ऋ' धातु से बना होने के कारण, घुमक्कड (यायावर) या मुसाफिर का अर्थ देता है। आर्य संस्कृति निश्चय ही यायावरों की संस्कृति थी और आर्य संस्कृति का भारत में द्राविडीकरण हुआ है। आर्य संस्कृति के द्राविडीकरण की प्रक्रिया ईरान में ही प्रारम्भ हो गयी थी और इसी कारण पंजाब और वहां के निवासी आर्यों को उतने अपरिचित नहीं लगे जितने कि वे नवागन्तुकों को लगने चाहिए थे[1]। हडप्पा और मोहनजोदडो के ढूहों (Mounds) के विभिन्न पर्तों में पाए गए विभिन्न प्रकार के मिट्टी के बर्तन, जो झुलसे हुए हैं इस बात का प्रमाण है कि जिन स्थानों में ये ढूह बन गए हैं वे कई बार आबाद हो होकर उजडे है। मिट्टी के बर्तनों का झुलसा होना आग लगाकर उजाडने का द्योतक है। इसी आधार पर स्टुअर्ट पिगाट ने यह मत प्रतिपादित किया है कि लगभग एक हजार वर्ष तक आर्य स्थानान्तरण की लहरें भारत को प्रभावित करती रहीं[2]। भारत में आस्ट्रिक भाषा भाषी नवप्रस्तरयुगीन संस्कृति के अग्रदूत रहे है, द्राविड भाषा भाषी ताम्र और कांस्ययुगीन संस्कृति के और आर्य लौहयुगीन संस्कृति के। आर्यों के भारत में स्थानान्तरित होने से भी अधिक महत्वपूर्ण है आस्ट्रिक, द्राविड और आर्य संस्कृतियों को एक सूत्र में बांधने वाली वह समन्वय प्रक्रिया जिसने हिन्दू संस्कृति को जन्म देकर फिर भारतीय संस्कृति को जन्म दिया। वास्तव में आर्य और मुस्लिम संस्कृतियां द्वारा अपरिवर्तित प्राग् आर्य (आस्ट्रिक तथा द्राविड) संस्कृतियों के आधार ही अखिल भारतीय संस्कृति की आधारभूत आत्मा हैं।

आर्य और प्राग् आर्य संस्कृतियों के समन्वय के अनेक प्रमाण है। शिव (आदि पुरुष) और उमा (आदि प्रकृति) की कल्पना द्राविडों की देन है। दार्शनिक स्तर पर यह कल्पना आर्यों की पृथ्वी माता और 'आकाश' पिता की कल्पना से कहीं अधिक व्यापक, रहस्यात्मक और तर्कसंगत प्रतीत होती है। शिव लिंग की पूजा हो सकता है आस्ट्रिक भाषा भाषियों की देन हो किन्तु, एक सर्वकल्याणकारी देवता के रूप में शिव की कल्पना द्राविडों की ही देन है। हिन्दुओं के धार्मिक विचार दर्शन, प्रथायें और संस्कार 'आगम' और 'निगम' दो श्रेणियों में आते हैं। निगम प्रतीक है वैदिक क्रियाओं कर्मकाण्ड और बलियुक्त हवन का और आगम तान्त्रिक तथा पौराणिक प्रथाओं और संस्कारों का जिसमें यौगिक तथा धार्मिक जादुई विचारधारायें और प्रथायें भी सम्मिलित हैं। धूप दीप नवैद्य पुष्प भजन कीर्तन के साथ देवमूर्ति की पूजा करना ही पूजा कहलाता है। पूजा निश्चय ही आगम की श्रेणी में आती है। यही नहीं,

1 चटर्जी, सुनीति कुमार आर० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित 'वैदिक एज' में पृष्ठ 15

2 पिगाट, स्टुअर्ट प्रीहिस्टॉरिक इण्डिया पृष्ठ 218

पूजा शब्द की व्युत्पत्ति भी द्राविड़ भाषा से है। इस प्रकार आगम का अपना एक अलग संसार रहा है यद्यपि आगम और निगम ने एक दूसरे को प्रभावित किया है। गीता में कृष्ण का यह कहना कि यदि कोई पत्र पुष्प अर्पित करके निष्ठा के साथ मेरी आराधना करता है तो वह मुझे स्वीकृत है इस बात का प्रतीक है कि गीता की रचना के समय आगम-संस्कार और अनुष्ठान मान्य हो चुके थे। गीता और महाभारत के समय तक पुष्पकर्म (पूजा) और पशुकर्म (हवन बलि) का समन्वय हो चुका था। हिन्दू धार्मिक अनुष्ठानों और क्रियाओं में यह समन्वय आज भी विद्यमान है।

वेदों में वर्णित आर्यों के देवताओं की महत्ता का धीरे धीरे समाप्त होना, उनका मानवीकरण होना और अनार्यों के देवताओं को सर्वोपरिता मिलना जहाँ एक ओर आर्यों के द्राविडीकरण का प्रतीक है वहाँ दूसरी ओर अनार्यों पर आर्यों की सांस्कृतिक विजय का। आर्य प्रकृति के पुजारी थे और उनके देवता थे इन्द्र वरुण मरुत और सूर्य जो निराकार प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक थे। आगे चलकर इन प्राकृतिक शक्तियों की मानवी रूप में कल्पना की गयी जो द्राविड़ विचारधारा के प्रभाव का परिचायक है। आर्यों के सबसे बड़े देवता इन्द्र (पुरंदर) उत्तर वैदिक काल में केवल दिक्पाल मात्र रह गए और सभी देवताओं में विष्णु और शिव सर्वोपरि हो गए। विष्णु और शिव की सर्वोपरिता यहाँ तक बढ़ी कि अन्य देवता कष्टों से छुटकारा पाने के लिए शिव या विष्णु की शरण में आने लगे। हनुमान और गणेश जैसे देवता और देवी भगवती के अनेक रूप निश्चय ही प्राक् आर्य संस्कृति के प्रतीक हैं। कृष्ण ने इन्द्र की पूजा के स्थान पर गोवर्धन पर्वत की पूजा को प्रतिष्ठापित किया था जो इस बात का प्रमाण माना जाता है कि किस प्रकार कृष्ण के नेतृत्व में अनार्यों ने अपनी सांस्कृतिक विजय-पताका फहराने का प्रयत्न किया और उसमें सफल भी हुए। हिन्दू सामाजिक संगठन में टोटेमवाद (Totemism) का प्रभाव, गरुड़ तथा नाग के रूप में जानवरों की पूजा और पेड़, पौधों तथा वृक्षों की पूजा अनार्य सांस्कृतिक तत्त्वों के ही प्रतीक हैं।

अनार्यों से प्राप्त हुए अनेक सामाजिक तत्त्व आज भी भारतीय संस्कृति के अंग बने हुए हैं। देवर भाभी का सम्बन्ध, वैदिक तथा उत्तरवैदिक साहित्य में मातृसत्तात्मक प्रथाओं की ओर निर्देश, नारियल, सिंदूर, हल्दी और पान का संस्कारों तथा उत्सवों में प्रयोग, जौ की रोटी, मांस और मक्खन जो आर्यों के खाद्य पदार्थ हैं के अतिरिक्त प्रयोग में लाए जाने वाले खाद्य पदार्थ और वस्त्रों में धोती, साड़ी, दुपट्टा, साफा और उत्तरीय अनार्य सांस्कृतिक तत्त्व हैं। राम और सीता की कथा तथा महाभारत के अनेक उपाख्यानों की उत्पत्ति भी अनार्य विचारधारा में है। वास्तव में, भारतीय विचारधारा के आदर्श और आस्थाओं के मूलाधार भी अनार्य हैं। सुनीति कुमार चटर्जी ने तो यहाँ तक कहा है कि भारतीय संस्कृति [illegible] में बारह आना अनार्य संस्कृति है। वास्तव में, भारतीय संस्कृति का ताना है अनार्य और बाना आर्य तथा

आर्य और अनार्य के ताने-बाने से ही भारतीय संस्कृति के आधार का निर्माण हुआ है। आर्य और अनार्य सांस्कृतियों के संगम से ही भारतीय संस्कृति की सामाजिक एवं समन्वयकारी विशेषता का जन्म होता है। इसी समन्वयकारी विशेषता ने भारतीय संस्कृति को विशिष्टता एकत्व और स्थायित्व प्रदान किया है। यही वह विशेषता है जिसने विभिन्न सांस्कृतिक प्रजातिक मानव समूहों को एक सूत्र में बांध दिया। आर्यों और अनार्यों की संस्कृतियों के समन्वय ने एक विशिष्ट दर्शन का जन्म दिया, जिसके मुख्य आधार हैं सहिष्णुता, अहिंसा, जीवन के सभी प्रकारों के प्रति पवित्रता की भावना, सम्पूर्ण दुखों और बुराइयों को दूर करने के लिए तपस्या, यम नियम और ज्ञान का आश्रय लेना तथा रहस्यात्मक अनुभवों द्वारा अदृश्य वास्तविकता को पाने की अभिलाषा, जीवन के दुखों तथा उनके मूलकारणों के प्रति अवगत होकर व्यक्ति, समुदाय (सहवासी) तथा मानवमात्र के जीवन से उन्हें दूर करने की प्रेरणा, रागात्मक भावनाओं तथा रहस्यात्मक अनुभूतियों में सामंजस्य रखते हुए बुद्धि पर अडिग आश्रय बनाए रखना, जीवन में समन्वय (अनेकान्तवाद) की अभिलाषा और जीवन के सभी प्रकारों को अदृश्य और अलौकिक वास्तविकता के रूप मानकर उनमें एकत्व की अनुभूति करना[1]।

आर्य और अनार्य संस्कृतियों के संगम से ही हिन्दुत्व और हिन्दू समाज का जन्म हुआ और जैसा कि पहले कहा जा चुका है हिन्दुत्व ने ही विभिन्न प्रजातिक तथा सांस्कृतिक समूहों को एक सूत्र में बांध दिया। हिन्दुत्व प्रसरण की यह प्रक्रिया आज भी जारी है। हिन्दुत्व और हिन्दू समाज न तो पूर्णतया आर्य है और न अनार्य। जैसाकि वैदिक और उत्तरवैदिक साहित्य से स्पष्ट है धीरे धीरे, आर्यों पर अनार्यों का प्रभाव पड़ा और आर्य तथा अनार्य संस्कृतियों का संगम हुआ। इस संगम से उत्पन्न सामासिकता में अनार्यों के विचार दर्शन और प्रथायें नए रूपों में प्रस्फुटित हुयीं। भारत की परम्परागत सामाजिक आर्थिक विशिष्टतायें इसी सामासिकता के साथ साथ अस्तित्व में आती हैं। सम्राट सुदास की विजय के साथ साथ भारतीय राजनैतिक संगठन में 'सम्राट' की धारणा का जन्म होता है और तभी से भारत के राजाओं ने, अन्य राजाओं के राज्यों को हड़प न करके वरन उन्हें अपने साम्राज्य में मिलाकर, सदैव सम्राट की पदवी प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। सम्राट बनना राजा का धर्म है और पराजित राजा के राज्य को हड़प लेना अधर्म है। सम्भवतः इसीकारण, जहां एक ओर, भारत के राजाओं ने सम्राट बनकर भारत को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया है वहां दूसरी ओर भारत के बाहर उपनिवेश स्थापित करने से दूर रहे हैं। भारतीय राजनैतिक दर्शन पर भी अनेकान्तवाद का प्रबल प्रभाव रहा है।

1 चटर्जी, सुनीति कुमार आर० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित पुस्तक वैदिक एज में

भारतीय पर्यावरण के प्रभाव और अनार्यों के सम्पर्क ने फिर इन आर्यों को कृषक बना दिया। भूमि से बंधकर स्थायी जीवन बिताना कृषि की एक आधारभूत आवश्यकता है और इस आवश्यकता की पूर्ति के साथ साथ जगतप्रसिद्ध भारतीय ग्राम का अभ्युदय हुआ। सम्मिलित और संयुक्त परिवार कृषक जीवन की एक अन्य आवश्यकता है। वैदिक साहित्य में इस बात के यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं कि किस प्रकार भारत में परिवार की संयुक्तता बनाये रखने का प्रयास किया गया है और आज अनेक प्रबल परिवर्तनकारी शक्तियों के आघातों को सहते हुए भी भारतीय परिवार की संयुक्तता सुरक्षित है। कृषि की सहायता प्रदान करने वाले धंधे और उनको करने वाले व्यक्ति अथवा समूह कृषक समाज की एक अन्य आवश्यकता हैं जिसके परिणामस्वरूप प्रारम्भ से ही लकड़ी, लोहा और चमड़े के कार्यों पर आधारित पेशों और उनके करने वालों का वर्णन मिलता है। उधर आर्यों ने भारत में प्रजाति-वाद, वर्ण भेद और जाति श्रेष्ठमन्यता के विचारों को जन्म दिया। जाति श्रेष्ठमन्यता के विचार ने ही इस भावना को जन्म दिया कि वेदों का ज्ञान आर्यों को साक्षात ईश्वर से मिला है और इस ज्ञान के सभी अधिकारी नहीं हैं। कृषक समाज की आवश्यकताओं और वर्ण भेद के विचारों ने ही सम्भवतः वर्ण-व्यवस्था को प्रोत्साहन दिया। कालान्तर में इसी परिस्थिति ने कृषि पर आधारित भारत की उस सामाजिक आर्थिक व्यवस्था को जन्म दिया जिसका मुख्य आधार जाति में निहित हो गया। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वर्ण व्यवस्था ने ही जाति प्रथा को जन्म दिया। वर्ण और जाति सहसम्बन्धित किन्तु सहस्थायी सामाजिक इकाईयाँ रही हैं। दोनों ने एक साथ मिलकर व्यक्ति और समूह की सामाजिक प्रतिष्ठा को निर्धारित किया है। कृषक-समाज की आवश्यकताओं ने प्रतिष्ठा को वंशमूलक मानने पर जोर दिया क्योंकि प्रजातिवाद तथा जाति श्रेष्ठमन्यता के विचारों ने जन्म पर। गुणकर्म विभाजन वाली विचारधारा ने कर्म पर जोर देकर व्यक्ति को वर्ण में स्थान दिया किन्तु सामाजिक स्थिति को जन्मजात मानने वाली विचारधारा ने जाति में। आर्य और अनार्य संस्कृतियों के संगम से वर्ण व्यवस्था और गणजाति-व्यवस्था का संगम होने से जाति-व्यवस्था का अभ्युदय हुआ जिसका स्पष्टीकरण आगे किया जायगा। वैदिक काल से लेकर वर्तमान समय तक वर्ण और जाति व्यक्ति के जीवन और व्यवहार को प्रभावित करते रहे हैं और यह इस बात का प्रतीक है कि भारत में प्रारम्भ से ही व्यक्ति समष्टि का अंग रहा है। कृषि पर आधारित सामाजिक प्रणाली भी सम्मान मार्ग ही रही है[1]।

इस प्रकार, आर्य-द्राविड़ संस्कृतियों के संघर्षण में हिन्दुत्व का बीजारोपण

---

1 आर० मेले : माडर्न इण्डिया एण्ड दि वेस्ट, पृष्ठ 15। पानीकर के० एम० : सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री, पृष्ठ 8-10

हुआ किन्तु वह पल्लवित और पुष्पित हुआ उत्तरवैदिक काल में। उत्तरवैदिक काल मे ही वेदांत ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद लिखे गये। इन ग्रंथों में निहित धार्मिक विचारों और दर्शन ने ही हिन्दू समाज और संस्कृति को संगठित और स्थायी होने मे सहायता दी। वैदिक काल के आर्य केवल आर्यावर्त (वर्तमान पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश) को ही जानते थे किन्तु बाद मे, धीरे धीरे, वे पूर्व और दक्षिण की ओर फैलते गये। रामायण की कथा का ऐतिहासिक पक्ष इस बात का प्रतीक है कि रामायण काल में विन्ध्याचल की तलहटी से लेकर किष्किन्धा तक फैले हुये सघन वन प्रदेश में यहां-वहां आर्य ऋषि रहते थे और सम्भवतः उन्हीं के द्वारा हिन्दुत्व का प्रसरण हुआ होगा। किन्तु महाभारत काल मे यह स्थिति बदल जाती है। महाभारत काल में भारत के वर्तमान भौगोलिक क्षेत्र का ज्ञान हो जाता है। कुरुक्षेत्र के मैदान में सम्पूर्ण भारत के योद्धा एकत्र होते है। यहां तक कि हिमालय, कैलाश और मानसरोवर का ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है। रामायण काल मे तपस्यारत शूद्र की कल्पना नहीं की जा सकती थी किन्तु महाभारत काल मे दासी पुत्र विदुर ही सम्राट धृतराष्ट्र के मित्र और सहायक है। वेदों के रचयिता और पाण्डु तथा धृतराष्ट्र के जनक महर्षि वेदव्यास स्वयं एक निषाद स्त्री की सन्तान हैं। इस प्रकार ज्यों ज्यों आर्यों का विस्तार होता गया और वे यहां के आदिवासियों के सम्पर्क में आते गये, सामाजिक सामञ्जस्य की समस्या सामने आती गयी। इस समस्या का निराकरण हुआ वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था द्वारा। किन्तु अत्यन्त प्राचीन काल से जहां एक ओर वर्ण व्यवस्था एक आदर्श कल्पनामात्र रही है और कभी भी समाज मे उस कड़ाई के साथ लागू नहीं किया जा सका वहां, दूसरी ओर, जन्म पर आधारित जातिव्यवस्था समाज मे दृढ़ता प्राप्त करती गयी और इस दृढ़ता के विरुद्ध बराबर विद्रोह भी होते रहे। हिन्दुत्व एक सतत विकसित और प्रसरित सामाजिक संकुल रहा है। संश्लेषण और सात्मीकरण इसकी विशेषता रही है जिसके कारण भारत में आये हुये विभिन्न प्रकार के समूहों को हिन्दुत्व एकता सूत्र मे बांधने में सफल हुआ है। हां, केवल इस्लाम इसका अपवाद है।

वास्तव में हिन्दुत्व के दार्शनिक और सामाजिक आधारों का विकास और समन्वय तथा संगठन उत्तरवैदिक काल में ही हुआ। उपनिषदों मे ही आत्मा निरपेक्ष निराकार ब्रह्म और ईश्वर तथा मानव के सम्बन्ध की कल्पना और व्यवस्था की गयी। उत्तरवैदिक काल में ही धर्म की उस व्यापक धारणा का प्रतिपादन किया गया जो हिन्दू सामाजिक दर्शन की अपनी निजी विशेषता है। कर्म माया, मुक्ति और आवागमन के सिद्धान्तों का निर्धारण भी उत्तरवैदिक काल में ही हुआ। ये सिद्धान्त ही वास्तव में हिन्दू धर्म तथा समाज की वे आधारभूत शिलायें है जिन्होंने हिन्दुत्व को स्थायित्व प्रदान किया है। प्रत्येक युग में आवश्यकतानुसार इन्हीं सिद्धान्तों का विवेचन और निर्वचन होता रहा है और उसी से हिन्दू की प्रणालियें

मिलती रही हैं। गृह्य सूत्रों और धर्म-सूत्रों ने हिन्दुत्व के सामाजिक आधार की नींव डाली। गृह्य-सूत्रों के द्वारा हिन्दू गृहस्थ के धर्मेतर जीवन का नियमित और निर्धारित किया गया। गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक के अनेक संस्कारों का निर्धारण और नियमन गृह्य-सूत्रों द्वारा ही हुआ। गृह्य सूत्रों द्वारा निर्धारित संस्कारों से सम्बंधित कल्पों (Rituals) को मानने वाला ही वास्तव में हिन्दू है। हिन्दुत्व के दार्शनिक सिद्धान्त (जैसे कर्म और आवागमन के सिद्धान्त) औरों के द्वारा भी अपनाये जा सकते हैं किन्तु गृह्य कल्पों (Domestic Ritual) को वही अपनायेगा जो वस्तुतः हिन्दू है। आज भी जहाँ हिन्दुत्व है गृह्य-सूत्रों में वर्णित गृह्य-कल्प पाये जाते हैं। गृह्य कल्पों ने ही हिन्दुत्व को उसके सामाजिक आधार प्रदान किये। धर्म सूत्रों में सामाजिक व्यवहारों और प्रथाओं का वर्णन है। धर्म-सूत्र किसी युग विशेष की रचना न होकर कई युगों की रचनायें हैं। धर्मसूत्रों को हिन्दुओं की विधि प्रणाली (Legal System) कहा जा सकता है। धर्म सूत्र अपने वास्तविक रूप में समाज को संगठित रखने की प्रेरणा के प्रतीक हैं।

वैदिक काल में हिन्दूकरण (Hinduisation) की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुयी थी उत्तर वैदिक काल में उसका प्रसार बढ़ता गया जिसके फलस्वरूप अनेक गण जातियाँ हिन्दू समाज और धर्म के क्षेत्र में आती गयीं। सम्भवतः इसी प्रकरण और उससे उत्पन्न सामाजिक सामञ्जस्य की आवश्यकता ने एक ओर वर्ण-व्यवस्था को प्रोत्साहन दिया तो दूसरी ओर जाति व्यवस्था और जन्मजात सामाजिक उच्चावच परम्परा की भावना को। वैदिककालीन साहित्य की अपेक्षा उत्तरवैदिककालीन साहित्य में जातियों और पेशों के नाम अधिक मिलते हैं। यही वह युग है जब यह विचार घर करने लगा था कि जाति जन्म पर आधारित है। इस युग में ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना इस बात का प्रमाण है कि ब्राह्मण वैदिक कर्मकाण्ड को सामाजिक जीवन का आधार बना कर अपनी सामाजिक स्थिति को उच्च बनाने में सफल हो रहे थे। किन्तु साथ ही साथ, विश्वामित्र और वशिष्ठ के संघर्ष की कहानी इस बात का भी प्रतीक है कि इस युग में ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष भी चल रहा था। महाभारत में कृष्ण ने इन्द्र के स्थान पर गोवर्धन पर्वत की पूजा पर जोर दिया जो वैदिक धर्म और देवताओं के प्रति विद्रोह का प्रतीक है। आगे चलकर, ईसा पूर्व छठी शताब्दी में जैन और बौद्ध धर्मों के प्रवर्तकों का क्षत्रिय परिवारों में उत्पन्न होना यदि एक ओर, इतिहास की आकस्मिक घटनायें हैं तो दूसरी ओर, ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष से उत्पन्न सामाजिक प्रक्रिया के परिणाम भी हैं। कौशाम्बी, कोशल, अवन्ती और मगध के राज्य बनते हुये राजनैतिक संगठन के प्रतीक होने के साथ-साथ, बनते हुये क्षत्रिय प्रभाव के भी प्रतीक हैं। दूसरी ओर, यज्ञ और पशुबलि पर आधारित वैदिक कर्मकाण्ड जनसाधारण को सन्तुष्ट करने में असफल हो रहा था। उत्तर वैदिककालीन समाज और धर्म के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उपनिषदों में वर्णित दर्शन का

विश्वास और प्रचार हुआ।

उपनिषद अनेक है और सभी उपनिषदों में वर्णित दर्शन किन्हीं किन्हीं स्थलों मे, एक दूसरे के विरोधी भी है। उपनिषदों में विरोधी विचारों के आजाने का एक मुख्य कारण यह है कि वे किसी एक कालविशेष की रचनाएं नहीं हैं। उत्तर वैदिक काल से लेकर मुसलमानों के आने के समय और उसके बाद तक भी उपनिषदों की रचनायें और उनमे वर्णित विचारों और दर्शनों की व्याख्या तथा विवेचन होता रहा है और यही कारण है कि उपनिषदों में कहीं कहीं विरोधी विचार व्यक्त हो गए हैं। किन्तु यह निश्चित है कि उपनिषद उत्तरवैदिक काल में चलने वाली एक विशेष विचारधारा और दर्शन की उपज हैं। वैदिक सामाजिक दर्शन इहलौकिक है और उसका मुख्य आधार है यज्ञों पर आधारित कर्म काण्ड। वेदों में कर्म का तात्पर्य यज्ञ से है। वैदिक धर्म यज्ञप्रमुख और कर्मकाण्डी होने के साथ-साथ, बहुदेववादी भी है। वेदों मे यज्ञ रचना और देव-स्तुति इसलिए की जाती है कि बैल मोटे हों घोड़े बलवान हों फसल की उन्नति हो और शत्रुओं पर विजय मिले। वैदिक विचारों मे इस लोक को उत्साह और आह्लाद के साथ अपनाया गया है। जन्म न तो दुख का कारण है और न मृत्यु का पूर्वरूप। वैदिक विचारकों के लिए यह संसार सुख का माध्यम है—यह न तो प्रपंच है और न मायामय। वेदों में स्वर्ग की कामना भी इसी भाव से की गयी है कि यहां भी पृथ्वी पर उपलब्ध भोगों का सुख प्राप्त हो।

ठीक इसके विपरीत उपनिषदों की विचारधारा इहलौकिक न होकर पारलौकिक है। संसार नश्वर है—उस मकड़ी के जाले के समान जो मकड़ी से उत्पन्न होकर फिर मकड़ी में ही समा जाता है। देवता अनेक हैं किन्तु इनके ऊपर भी एक देवता है, अदृश्य, अनन्त, अव्यक्त निर्विकार और अजन्मा। इसी कल्पना ने सर्व शक्तिमान ईश्वर, परब्रह्म परमपिता परमेश्वर की कल्पनाओं को जन्म दिया। सृष्टि के आदिकारण ब्रह्म की कल्पना उपनिषद दर्शन की एक विशेषता है। ब्रह्म एक है पर अनेक भी निराकार है पर साकार भी। अतएव वह निर्गुण भी है और सगुण भी। निर्गुण की उपासना ने ज्ञान संयम तथा योग पर जोर दिया और सगुण की उपासना ने भक्ति और अवतार पर। ब्रह्म की ही कल्पना ने कालान्तर में द्वैत अद्वैत और विशिष्टाद्वैत जैसे वादों को जन्म दिया। उपनिषद दर्शन में एक ओर संसार को क्षणभंगुर माना गया तो दूसरी ओर संसार और जीवन को मायामय। जीव ईश्वर का अंश है अतएव उसी में समा जाना उसका धर्म है। जन्म और मृत्यु के चक्र से छुटकारा पाने में ही जीव का कल्याण है। मानव जीवन का आदर्श है मुक्ति मोक्ष, जिसके मिलने का माध्यम है संसार का वास्तविक ज्ञान न कि वैदिक कर्म काण्ड। वैराग्य, संन्यास, चिन्तन ध्यान और समाधि को ज्ञान प्राप्ति के मुख्य साधन माना गया है जिनकी उपलब्धि तभी सम्भव है जब मनुष्य संसार से अलग रहे। कोई आश्चर्य नहीं यदि, उपनिषदकाल में वर्णाश्रम-व्यवस्था की विशद व्याख्या करके उस

लागू करने का प्रयत्न किया गया। उपनिषदों में जहां एक ओर, यज्ञों और पशुबलि का तिरस्कार किया गया वहां, दूसरी ओर कर्म की विस्तृत व्याख्या करके ज्ञान प्राप्ति के साधनों को भी कर्म के अंतर्गत लाने का प्रयास किया गया। इस प्रकार, उपनिषदों में वैदिक कर्ममार्ग के स्थान पर ज्ञानमार्ग पर जोर दिया गया। किंतु, हिंदू सामाजिक जीवन में दोनों मार्ग अलग अलग न रह सके। गीता को एक ऐसा उपनिषद कहा जा सकता है जिसमें इन दोनों मार्गों को समन्वित करने का प्रयास किया गया है। गीता में कर्म की व्याख्या ही इस समन्वय का प्रतीक है। गीता दर्शन, इहलौकिक भी है और पारलौकिक भी। हिंदू सामाजिक जीवन को प्रेरणा देने वाली अर्हमें मन्ति एक ओर इस लोक के प्रति प्रेरित करती है तो दूसरी ओर परलोक के प्रति। ✓

४

बुद्धवाद और जैनवाद

ईसवी पूर्व छठवीं शताब्दी में उत्पन्न होने वाले जैन और बुद्ध धर्मों ने एक ओर, औपनिषदिक विचारधारा को प्रोत्साहन दिया तो दूसरी ओर वैदिक कर्मकाण्ड और ब्राह्मणवाद का विरोध किया। वास्तव में, जैनवाद और बुद्धवाद का विकास औपनिषदिक और वैदिक विचारधाराओं की ही पृष्ठभूमि में हुआ और यही कारण है कि जैनवाद और बुद्धवाद के रूप में हम सामाजिक तथ्यों के नये निर्वचन मिलते हैं। इसीलिए जैन और बुद्ध धर्मों के आविर्भाव को धार्मिक क्रांति न कहकर सामाजिक क्रांति कहा जाता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की सीलों में खुदे हुए कुछ चित्र जैन-यागियों के समान लगते हैं जो इस बात का प्रतीक हैं कि जैन परम्परायें भारत में पहले ही से विद्यमान थीं। उधर, अहिंसा संसार की नित्यता अनित्यता मोक्ष तथा कर्मसम्बन्धी विचार और संन्यास की मान्यतायें, बुद्ध के पहले ही मान्य हो चुकी थीं। जैन और बुद्ध धर्मों के प्रवर्तकों ने इन विचारों को वह सामाजिक पुट दिया जिसकी जड़ वैदिक काल और उपनिषदों में ही जम चुकी थी। इसी कारण, सनातन हिंदू धर्म का विरोध करते हुए भी ये धर्म हिंदू समाज से दूर न जा सके। जैनमतावलम्बी जैनमत को साथ हिंदू परम्पराओं को मानते रहे हैं। बुद्धमत के लिए कहा जाता है कि वह हिंदुत्व का एक बौद्धिक रूप है और इस कथन में अतिशयोक्ति भी नहीं है। यह भी माना जाता है कि पौराणिक कथाओं को बौद्ध आदर्शों के अनुसार बदलकर, उन्हें जातक कथाओं के रूप में रखा गया। ईसा की पहली शताब्दी में, महायान के उत्थान और नागार्जुन के शून्यवाद की धारणा ने बौद्ध धर्म को हिंदुत्व के और भी समीप ला दिया। नागार्जुन का

शून्यवाद आगे चलकर शंकर के अद्वैतवाद का आधार बना। वज्रयान के रूप में परम्परागत याज्ञिक तन्त्रवाद पुनः स्थापित हुआ और सहजयान के रूप में वह रहस्यवादी विचारधारा पनपी जिसने एक ओर सिद्धों की परम्परा को जन्म दिया तो दूसरी ओर मध्यकालीन भक्तिमार्ग तथा काव्य परम्परा को। यह कहना असंगत है कि भारत में बुद्धवाद का लोप हो गया। वास्तविकता तो यह है कि बुद्धवाद एक प्रवाहशालिनी सरिता की भाँति अनेक धाराओं में बटकर हिन्दुत्व के प्रशान्त महासागर में विलीन हो गया।

यह निश्चित है कि जैनवाद और बुद्धवाद का भारतीय सामाजिक जीवन, विशेषतया सामाजिक अर्हाओं पर क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा। इन दोनों धर्मों ने निवृत्तिमार्गी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया जिसके फलस्वरूप एक ओर संन्यास का सामाजिक माहात्म्य बढ़ा तो दूसरी ओर मोक्ष' 'कैवल्य' 'तपस्या', और 'समाधि' का। जैन मुनियों ने तो तपस्या को उसकी पराकाष्ठा तक पहुँचाने का प्रयत्न किया किन्तु बौद्धों ने सम्यक मार्ग को ही उचित ठहराया। दोनों ने संसार को दुखमय मानकर संसार त्यागने पर जोर दिया और इस प्रकार दोनों ने उपनिषदों के मार्ग का अनुसरण किया। हाँ, यह अवश्य है कि बौद्धों ने तपस्या के द्वारा शरीर को कष्ट देने पर जोर नहीं दिया। दोनों ने 'अहिंसा परमोधर्म' के आदर्श को प्रतिपादित किया यद्यपि इस आदर्श प्रतिपादन में दोनों ने अलग अलग मार्गों का अनुसरण किया। जैनियों ने किसी भी प्रकार से जीव हत्या न हो इस पर जोर दिया। छानकर पानी पीना, मार्ग को बुहारते हुये चलना और बालों को उस्तरे से काटने के स्थान पर उखाड़ने की क्रियायें इसी विचारधारा का परिणाम हैं। सम्भवतः यही कारण है कि जैनियों ने कृषि के स्थान पर व्यापार को अधिक उचित ठहराया क्योंकि कृषि में जीव हत्या की अधिक सम्भावना रहती है। इसका दूसरा स्पष्टीकरण यह है कि आदिवासियों के हिन्दू समाज में शूद्र के स्तर पर संगठित होने के कारण, कृषि के लिए जब श्रमिक उपलब्ध होने लगे तो वैश्यों ने कृषि के स्थान पर व्यापार को अपनाकर अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को उच्च बनाने का प्रयास किया। बुद्ध ने व्यक्ति के लिए हिंसा वर्जित की किन्तु उस पराकाष्ठा तक नहीं जहाँ तक जैनियों ने किया। बौद्धों में कहीं कहीं जानवरों को मारना तो हिंसा माना गया, किन्तु मरे हुए जानवर का मांस खाना अहिंसा। अहिंसा सम्बन्धी जैन विचारधारा ने अन्ततोगत्वा बौद्धिक अहिंसा का रूप लिया और स्याद्वाद और अनेकान्तवाद के मतों का जन्म हुआ। 'स्यात्' का अर्थ है शायद या सम्भवतः और स्याद्वाद से तात्पर्य लिया जाता है उस विचारधारा से जो इस मान्यता पर आधारित है कि हो सकता है कि दूसरा भी सही हो। इसी प्रकार अनेकान्तवाद का भी यही अर्थ है कि इस संसार में धर्म और मुक्ति के मार्ग अनेक हैं और सम्भवतः सभी मार्ग ठीक हैं। आज स्याद्वाद और अनेकान्तवाद जैन धर्म का ही एकाधिकार में नहीं है। आज के भारतीय संस्कृति की

आत्मा में लीन हो चुके हैं। भारत में सांस्कृतिक सहिष्णुता और सामासिकता की जड़ भी सम्भवतः स्याद्वाद और अनेकान्तवाद में ही है। स्याद्वाद और अनेकान्तवाद से उत्पन्न प्रेरणायें आज भी उतनी ही प्रभावपूर्ण हैं जितनी कि वे कभी थीं। पूर्व और पश्चिम में समन्वय स्थापित करने तथा वादों के चक्कर से अलग एक स्वतन्त्र वैदेशिक नीति अपनाने की पृष्ठभूमि में स्याद्वाद और अनेकान्तवाद की ही प्रेरणायें कार्य कर रही हैं। इन दो प्रवृत्तियों में यदि भारत की कमजोरी निहित है तो उसकी संजीवनी शक्ति भी इन्हीं में है।

बुद्धवाद और जैनवाद अपने युग की सामाजिक धार्मिक क्रान्तियाँ हैं जिनका उद्भव ब्राह्मणवाद, वैदिक कर्मकाण्ड और उपनिषदों की प्रसूत शुष्क एवं नीरस व्याख्याओं के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया में हुआ। जैन और बौद्ध धर्मों का आविर्भाव और प्रसार ही उस प्रदेश के वासियों में हुआ था जो मुख्यतया अनार्य थे। इसके कई प्रमाण हैं कि कुरु और पांचाल के आर्य मगध के परिवर्ती आर्यों को अपने से निम्न समझते थे। सम्भवतः, इसी कारण मगध के आर्यों में वेद, ब्राह्मणवाद और जाति व्यवस्था के प्रति जो प्रतिक्रिया हुयी उसका चरमोत्कर्ष बुद्धवाद के रूप में हुआ। बुद्धवाद में, वैदिक प्रथाओं के प्रतिकूल यज्ञों को हेय माना गया है। महात्मा बुद्ध ने जाति को जन्मजात न मानकर कर्मगत माना और वैदिक काल में पनपी हुई 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' और 'पण्डिताः समदर्शिनः' की विचारधारा पर जोर दिया जिसके परिणामस्वरूप यह भावना घर करने लगी कि ऊँच-नीच का भेदभाव न तो जन्मजात है और न ईश्वरकृत है—वरन् वह मनुष्यकृत है। मानव का जीवन का प्रारम्भ मानते हुए महात्मा बुद्ध ने इस बात पर जोर दिया कि मानव का कल्याण इसी में है कि वह जाति, वर्ण और ऊँच-नीच की भावनाओं से ऊपर उठने का प्रयत्न करे। जीवन को मोक्ष के योग्य बनाया जा सकता है पर कर्मों के द्वारा। यह कहकर कि निम्न स्थिति वाला व्यक्ति भी अपने कर्मों द्वारा पवित्र जीवन को प्राप्त हो सकता है भगवान बुद्ध ने कर्म सिद्धान्त को एक क्रान्तिकारी प्रगतिशील रूप प्रदान किया। परम्परागत विचारधारा के अनुसार, मानव जीवन और दुःख-सुख इस जीवन तथा पूर्वजीवन के कर्मानुसार होते हैं। महात्मा बुद्ध ने भी यह माना कि कर्म संचित होते रहते हैं। किन्तु साथ ही साथ उन्होंने यह भी माना कि जन्म कुछ नहीं केवल कर्म ही सब कुछ है क्योंकि कर्म के द्वारा निम्न व्यक्ति भी ऊपर उठकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। कर्मवाद के जिस सिद्धान्त को वेद तथा उपनिषदों के मनीषियों ने निराशामय भाग्यवाद का रूप दिया उसी को भगवान बुद्ध ने एक प्रगतिशील आशावाद का रूप दिया। बुद्धवाद में कर्म की विशद व्याख्या की गई। वैदिक काल में, यज्ञ कर्म के प्रतीक थे। उपनिषद काल में यज्ञों के साथ-साथ, चिन्तन और साधन भी कर्म की श्रेणी में आ गए। किन्तु बुद्धवाद में, भगवान बुद्ध के सम्यक् मार्ग पर आधारित सदाचार भी कर्म की कोटि में आ गए। यम, नियम, प्राणायाम, जप-तप, अस्तेय

और अपरिग्रह इत्यादि कर्म के प्रतीक बन गए। कर्म की इसी व्यापक व्याख्या ने गीता मे अनासक्तियोग की धारणा का रूप ले लिया। महात्मा गांधी के प्रबल आशावाद पर निश्चय ही अनासक्ति योग की छाप रही है और उनका सादा जीवन बिताने तथा साध्य के स्थान पर साधन की पवित्रता पर अधिक जोर देना, उसी आदर्श से प्रभावित से जान पडते है जिसमे कर्मो की पवित्रता और सम्यक मार्ग पर जोर दिया गया है।

अनेक प्रजातियो का संगम स्थल होते हुए भी, भारत प्रजातिवाद के भयंकर रोगो से मुक्त रहा है। भारत प्रारम्भ से ही अनेक संस्कृतियो का संधान रहा है। यह, सम्भवत, जैनवाद के अनेकान्तवाद और बुद्धवाद के सम्यक मार्ग की ही देन है। के० एम० पणिक्कर के अनुसार संघो की स्थापना और स्त्रियो को भिक्षुणी बनने की अनुमति देना वास्तव मे मानव इतिहास मे क्रान्तिकारी परिवर्तन के प्रतीक है। यह बुद्धवाद का ही प्रभाव है कि कालान्तर, मधो के स्थान पर 'मठो और अखाडो का महत्व बढ गया। संघं शरणं गच्छामि' बुद्धवाद का एक प्राथमिक नारा था। संघ परम्परा ने परिणामस्वरूप मध्ययुग मे मुसलमानो के प्रभाव के अन्तर्गत, भारत मे विशेषतया उत्तरी भारत मे पंथ परम्परा प्रादुर्भूत हुयी। प्रत्येक पंथ के प्रणेता ने जाति पाति और ऊँच-नीच का विरोध किया। महात्मा बुद्ध ने संन्यासी को ही मुक्ति का भागी ठहराया और संन्यासी वह है जो समाज से अलग होकर जाति पाति के बन्धनो से ऊपर उठ गया हो। यह बुद्धवाद का ही प्रभाव है कि संन्यास हिन्दू सामाजिक जीवन का वह अंग बन गया है जहा न कोई जाति है और न पाति। जाति व्यवस्था के विरुद्ध उठने वाले विद्रोहियो को संन्यास मे ही आश्रय और संतुष्टि मिलते रहे है। आज भी यह माना जाता है कि दण्डियो और संन्यासियो की कोई जाति नही होती है और उन्हे जातिगत छूआछूत तथा खान पान के नियमो को मानना चाहिए। निगुडा बाभन नारि भक्ता तर चमार यह कथन और इसमे निहित दृष्टिकोण बुद्धवाद व कर्म सिद्धान्त से अप्रत्यक्षत प्रभावित है। महात्मा बुद्ध ने लोकभाषा के द्वारा अपना सन्देश लोगो तक पहुचाया और, साथ ही साथ, वैदिक कर्मकाण्ड और उपनिषदो के शुष्क ज्ञानमार्ग के स्थान पर सरस कर्ममार्ग को उचित ठहराया। जाति प्रथा, ब्राह्मणवाद वैदिक कर्मकाण्ड तथा उपनिषदो के शुष्क, नीरस ज्ञानवाद से ऊबी हुयी जनता को बुद्धवाद अधिक आकर्षक तथा श्रेयस्कर प्रतीत हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि बुद्धवाद एक सामाजिक आन्दोलन बन गया और उससे उत्पन्न सामाजिक क्रान्ति की लहर एक ओर जाति पाति का विरोध करने वाले मध्यकालीन सन्तो की वाणी मे प्रस्फुटित हुयी तो दूसरी ओर महात्मा गांधी के कार्यो और विचारो मे। छठी शताब्दी मे स्कन्दगुप्त साम्राज्य के अन्त तक चलने वाला ब्राह्मण बौद्ध संघर्ष, सामाजिक आन्दोलन का ही प्रतीक है। यह निश्चित है कि बुद्धवाद ने जनसाधारण को आकर्षित किया और उन समूहो को प्रभावित किया जो हिन्दुत्व के क्षेत्र के बाहर

थ जा, आगे चलकर, बुद्धवाद की समाप्ति के साथ साथ, वे हिंदू समाज का अंग बन गये। अतएव, यह कहा जा सकता है कि जहां, एक ओर, बुद्धवाद ने वस्तुतः हिंदू धर्म तथा समाज के प्रति विद्रोह की आवाज उठाई वहां दूसरी ओर, आर्य अनार्य समन्वय से उत्पन्न हिंदूकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा भी दिया। बुद्धवाद नव निर्वचित वैदिक धर्म के प्रसार का एक प्रयास था।

ज्यों-ज्यों बौद्ध धर्म का विकास हुआ त्यों त्यों स्मृतियों के रूप में जाति व्यवस्था को बनाये रखने के लिए कड़े अनुशासनों की व्यवस्था की गयी। बुद्धवाद के प्रभाव के कारण हिंदुत्व के पुनर्संगठन का प्रयास किया गया और इस बात का प्रयास किया गया कि यह पुनर्संगठन जनसाधारण के स्तर पर हो। किन्तु जैसा कि मीमांसा सिद्धान्तों[1] में स्पष्ट है इस पुनर्संगठन में कल्पवादिता (Ritualism) का प्राधान्य था। आठवीं शताब्दी में शंकर ने इस कल्पवादिता को अद्वैतवाद का दार्शनिक आधार प्रदान करके इसे शुष्क एवं नीरस होने से बचाया और हिंदुत्व को वह दार्शनिक सिद्धान्त प्रदान किये जिनके कारण हिंदुत्व इस्लाम और ईसाइयत के आघातों को आत्मसात कर सका। शंकर ने उपनिषदों के आधार पर अद्वैतवाद के दर्शन को प्रतिपादित करके कोरे कल्पाचार को निरर्थक कहा। कल्पों (Rituals) की शंकर ने उसी प्रकार से भर्त्सना की जैसी कि बौद्धों ने की थी और इसी कारण मीमांसकों ने उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध की संज्ञा दी है। कुछ भी हो, शंकर ने बुद्धवाद के दार्शनिक आधार को आत्मसात करके, हिंदुत्व के पुनर्संगठन में सहायता की। दूसरी ओर, उत्तर में बद्रीधाम पूर्व में पुरी पश्चिम में द्वारिका और दक्षिण में शृंगेरी नामक स्थानों पर चार मठों की स्थापना करके शंकर ने हिंदुत्व के पुनर्संगठन को प्रोत्साहित किया। मीमांसकों को पराजित करके शंकर ने बुद्धवाद और हिंदुत्व को परस्पर समीप आने में सहायता दी जिसका परिणाम यह हुआ कि पुरी का बौद्ध मन्दिर हिंदुओं का मन्दिर हो गया। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि दसवीं शताब्दी के अन्त में, हिंदुत्व अपना सार्वभौमिक प्रभुत्व स्थापित करने में सफल हुआ। पुनर्प्रतिपादित सिद्धान्तों ने हिंदुत्व को वह दर्शन प्रदान किया जिसे बुद्धिवादी वर्गों में मान्यता मिली और जिसने बुद्धवाद को आत्मसात कर लिया। कश्मीर से लेकर कुमारी अन्तरीप तक शिव विष्णु और देवी की पूजा का प्रसार और प्रतिपादन हुआ

1 'मीमांसा दर्शन का विषय है वैदिक विधि निषेधों का आशय समझाना उनकी पारस्परिक संगति बैठाना और युक्तियों द्वारा कर्मकाण्ड के मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना। विधि विधान पूर्वक जिस कर्म को करने से जन्म-जन्मान्तर में परमानन्द की प्राप्ति हो उस वेद प्रतिपाद्य विधिवत कर्म का अनुष्ठान ही धर्म है'। मीमांसा दर्शन के द्वारा वैदिक कर्मकाण्डी विधि के पुनर्स्थापन का प्रयास किया गया है—गरोला, वाचस्पति भारतीय दर्शन पृष्ठ 342

और तत्कालीन दशा म बिना किसी नवा के, परमात्मा, जीवात्मा, माया और जाति तथा धम शास्त्र के आधार पर सगठित समाज म अवतारा के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया गया [1]। किन्तु इस प्रकार जहा एक ओर हिन्दुत्व क सगठनकारी आधार अस्तित्व म आ रहे थे वहा दूसरी ओर अनक वादो म पडकर हिन्दू समाज विशृखलित भी हो रहा था। शवो शाक्ता और वष्णवा के सघष उसी प्रकार अकाट्य एतिहासिक तथ्य है जिस प्रकार वदिक काल म ब्राह्मणा तथा क्षत्रियों और बाद म बौद्धो तथा ब्राह्मणा क बीच म चलन वाल सघष। इसी स्थिति म, इस्लाम क प्रवेश न हिन्दुत्व म अनक परिवतनकारी प्रक्रियाओ को जन्म दिया जिनका विश्लेषण करने के पहल हिन्दुत्व के उन वचारिक आधारो का स्पष्टीकरण अपेक्षित है जिनके द्वारा हिन्दुत्व म व्यक्ति और समाज की मर्यादायें निर्धारित की गई हैं।

५

हिन्दुत्व के वैचारिक आधार

हिन्दुत्व के सामाजिक तथा वैचारिक आधार एक सतत विकासशील सचयी एतिहासिक प्रक्रिया रहे है। प्रागतिहासिक काल स लेकर भारत म इस्लाम के प्रवेश के काल तक हिन्दुत्व क सामाजिक तथा दार्शनिक आधारो की नीव पडी है जो कालान्तर म इस्लाम तथा योरोपीय सभ्यता के प्रभावा स परिवर्तित होन पर भी स्थायी रहे है। हिन्दुत्व जीवन यापन का एक तरीका है जिसक प्रेरणा स्रोत निहित हैं व्यक्ति तथा समाज सम्बन्धी उन विचारा म जिन्ह हिन्दुओ न एक ओर व्यक्ति तथा समाज क सम्बन्धो और दूसरी ओर इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन को नियमित करन के प्रयास म विकसित किया है। सभी प्राणियो म कवल मानव ही विचारशील प्राणी है। केवल मानव ही आदश नियमो का निर्माण करता है और केवल मानव ही वतमान क आधार पर भूत तथा भविष्य को एक शृखला म जोडने का प्रयास करता है। आदश नियमो द्वारा सामूहिक जीवन का नियमन मानव की ही विशेषता है और इसी विशेषता का परिणाम है कि प्रत्यक काल और स्थान म मानव ने जीवन दशन का प्रतिपादन किया है। हिन्दू मानव ने जिस जीवन दशन को विकसित किया वहा, अपन सम्बन्धित सामाजिक पक्ष के साथ हिन्दुत्व क रूप मे प्राविभूत हुआ। वेदा क प्रणेताओ उपनिषदो क मनीषियो धम शास्त्रो के रचयिताओ स्मृतिकारो और समय समय पर आविभूत होने वाले समाज

1 पाणिक्कर के० एम० ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री पष्ठ 102 103

सुधारकों ने जिस वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन दर्शन का प्रतिपादित किया है, वही हिन्दुत्व है। हिन्दुत्व वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण विशेष है। प्रभु के अनुसार, हिन्दुओं ने सामाजिक संगठन से सम्बन्धित समस्याओं पर काफी गम्भीरता से ध्यान दिया है और मानव जीवन के संगठन को जहां तक सम्भव हो सका उत्तमतम बनाने का प्रयास किया है। इसी प्रयास में, हिन्दुत्व की आधारभूत धारणाओं और उनसे नियमित हिन्दू सामाजिक संगठन की प्रणाली की रूपरेखायें भी विकसित हुई हैं। हिन्दू जीवन यापन में मानवी तथा मानवीय जीवन की आवश्यकताओं, अभिरुचियों, उद्देश्यों तथा आकांक्षाओं के समन्वय का प्रयास किया गया है। इस समन्वय के दो आधार हैं—एक, इहलौकिक जीवन की आवश्यकतायें और दूसरा, इस जीवन तथा संसार से परे जीवन की आवश्यकतायें तथा उद्देश्य। हिन्दू के लिये यह संसार एक रंगमंच है और मानव-जीवन एक साधनमात्र है—वह साधन जिससे जीवन-स्वातन्त्र्य (मुक्ति मोक्ष) की प्राप्ति होती है। शारीरी आवश्यकताओं की पूर्ति उचित गुण भी है और आवश्यकता भी। मानवीयता निहित है शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति से आगे उठा हुआ एक कदम है क्योंकि शरीर नश्वर है। अमर है तो केवल आत्मा। आत्मा को निरन्तर प्रबुद्ध करते हुए, जीवन स्वातन्त्र्य की प्राप्ति का प्रयास ही मानवीयता है। इस दृष्टिकोण की वांछनीयता इस तथ्य में निहित है कि मानव जीवन केवल शारीरी आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित नहीं है। मानवीयता निहित है शास्त्र प्रणीत धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करने में। मानवीयता की मांग है मोक्ष और मोक्ष की प्राप्ति धर्म से होता है। अतः, जीवन धर्म से बंधा है। मोक्ष जीवन तथा संसार से विमुख होने पर नहीं मिलता है। वह मिलता है जीवन को उसकी स्वाभाविक अभिरुचियों के साथ अपनाने में।

इसलिये, धर्म के साथ-साथ, जीवन अर्थ और काम से भी बंधा हुआ है। धर्म अर्थ काम और मोक्ष का समन्वय और साधन कर्म से होता है। कर्म के माध्यम से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की साधना पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ आवश्यक है क्योंकि मानव जीवन का उद्देश्य केवल पुरुष ही बने रहना नहीं है। मानव जीवन का उद्देश्य है है मानवी स्तर से मानवीयता की ओर अग्रसर होना जिसका तात्पर्य है पुरुष से पुरुषोत्तम और नर से नरोत्तम होना। इस साधना में व्यक्ति और समाज दोनों आवश्यक हैं क्योंकि पुरुष से पुरुषोत्तम बनने की प्रक्रिया में व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति से समाज की साधना होती है और समाज से व्यक्ति की। व्यक्ति और समाज में किसी प्रकार का विरोध नहीं है यदि उनके सम्बन्धों का प्रणयन धर्म से हो। समाज के रंगमंच पर व्यक्ति का जीवन एक सततगमन प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया की कुछ आधारभूत अवस्थायें (आश्रम) हैं जिनका साधन पुरुषार्थ के लिये आवश्यक है क्योंकि ये अवस्थायें मानव की शरीरी तथा स्वाभाविक अभि-

रुचियों का एक सहज परिणाम हैं। अत व्यक्ति अपने गुण तथा कर्मों के कारण ही समाज तथा धर्म से बंधता है और इसकारण पुरुषार्थ की साधना का तात्पर्य है गुण कर्म के अनुसार समाज म धर्म प्रणीत वैयक्तिक जीवन को अपनाने का प्रयास करना[1]। इस प्रकार हिंदुत्व तथा जीवन के प्रति हिन्दू दृष्टिकोण कुछ धारणाओं म निहित है। य धारणाय है—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (पुरुषार्थ), कर्म सिद्धांत और वर्णाश्रम व्यवस्था। ये धारणायें तथा इनम निहित वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन की आवश्यकताय और उद्देश्य हिन्दुत्व के आधार हैं। इन्हीं धारणाओं ने हिन्दू समाज तथा संस्कृति को उसकी विशेषतायें प्रदान की है। ये धारणायें किसी भी रूप म निरपेक्ष नहीं हैं। य सापेक्ष हैं व्यक्ति की मानसिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं और देश काल की परिस्थितियों से। युग युग की आवश्यकताओं के अनुसार इन धारणाओं के संवर्द्धन और प्रतिपादन म ही हिन्दुत्व का विकास निहित है।

---

1 हिन्दुत्व का यह आधारभूत विचार सम्पूर्ण हिन्दू वाङ्मय म व्याप्त है। वेदों संहिताओं ब्राह्मणों आरण्यकों उपनिषदों सूत्रों स्मृतियों महाकाव्यों नीति शास्त्रों तथा पुराणों और नाटक, काव्य तथा जन साहित्य में इसी आधारभूत विचार का समयानुसार विकास हुआ है।

हिन्दुत्व

पाचवा अध्याय

धर्म

धर्म और रिलीजन

हिन्दुत्व में धर्म से वह अर्थ नहीं लिया जाता है जो अंग्रेजी में रिलीजन (Religion) से लिया जाता है यद्यपि साधारणत हिन्दी में धर्म शब्द का प्रयोग रिलीजन के पर्याय रूप में किया जाने लगा है। चेम्बर्स की टवेंटियथ सेंचुरी डिक्शनरी (1947) के अनुसार, रिलीजन का अर्थ है दैवी शक्तियों के प्रति मनुष्य की अनुज्ञा के कर्तव्य की मान्यता ईश्वर के प्रति प्रेम तथा अनुज्ञा के कर्तव्यों का पालन आस्था तथा पूजा पद्धति की कोई भी प्रणाली और कृतज्ञता अथवा कर्तव्य का भाव। रिलीजन के दो पहलू हैं—एक दैवी शक्ति के प्रति अनुज्ञा की भावना और दूसरा दैवीशक्ति के प्रति कृतज्ञता की भावना से प्रेरित व्यक्तियों का एक मजहबी संगठन में संगठित होना। रिलीजन शब्द का प्रयोग बुद्धवाद ईसाइयत और इस्लाम के लिए अधिक उपयुक्त है नकि हिन्दुत्व के लिए। बुद्धवाद इस्लाम और ईसाइयत एक ओर, दिव्य ज्ञान और आधिदैविक के प्रति भावना अनुज्ञा की अनिवार्यता से सम्बन्धित है और दूसरी ओर, संघ संगठन से। हिन्दुत्व में संघ संगठन पर जोर न होने के कारण, हिन्दुत्व बुद्धवाद, इस्लाम और ईसाइयत से भिन्न हो जाता है। धर्म की धारणा वहीं तक समष्टिमूलक है जहां तक अर्थ और काम का सम्बन्ध है। अपने मूलरूप में, धर्म की धारणा व्यक्तिमूलक

है। अतः धर्म रिलीजन नहीं है यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि धर्म में रिलीजन और रिलीजन में धर्म के तत्वों का एकदम अभाव है।

गोखले के अनुसार, हिन्दू जीवन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की धारणाओं से ओतप्रोत है। यहां तक कि हिन्दू मान्यताओं में यह माना जाता है कि इतिहास भी उस भूतकाल का वर्णन है जिसमें जीवन के चार आदर्शों—धर्म अर्थ काम और मोक्ष की पूर्ति तथा प्राप्ति का प्रयास निहित रहता है। लेकिन इन चारों धारणाओं में केवल धर्म की ही धारणा ऐसी है जो भारतीय विचारधारा में युग युग से चली आ रही है और जिसके द्वारा एक बड़े जन-समूह में एक निश्चित विचार तथा व्यवहार कलाप का निर्माण हुआ है। धर्म शब्द की व्युत्पत्ति इतनी व्यापक है कि इसका प्रयोग मानव क्रिया के सभी रूपों के निरूपण तथा निर्माण के लिए किया गया है। भारतीय संस्कृति की तीन विशेषतायें आध्यात्मिकता (Spirituality) ओजस्विता (Vitality) और बौद्धिकता (Intellectuality) धर्म की धारणा के विभिन्न रूपों से ही आविर्भूत हुई हैं[1]।

जैसा कि राधाकृष्णन ने कहा है धर्म की धारणा उन रूपों (Forms) और क्रियाओं (Activities) को समेटे हुए है जो मानव जीवन का आधार है और जिनसे मानव-जीवन का निर्माण होता है। मानव जीवन में विभिन्न अभिरुचियों (Interests), अनेक आकांक्षाओं (Desires) और विरोधी आवश्यकताओं (Conflicting Needs) का समावेश हुआ है। ये अभिरुचियां आकांक्षायें और आवश्यकतायें बदलती और परिवर्तित होती रहती हैं। हिन्दुत्व में विकसित धर्म की धारणा का उद्देश्य है इन सभी को एक इकाई में समन्वित करना। धर्म सिद्धान्त हमें आध्यात्मिक वास्तविकताओं को पहचानने के प्रति जागरूक बनाता है। किन्तु, यह जागरूकता संसार का त्याग करने में नहीं आती है। यह जागरूकता आती है सांसारिक जीवन में अर्थ काम और आध्यात्मिक आस्था (Spiritual Faith) को नियंत्रित करने वाले नैतिक का समन्वय करने में। जीवन की अभिरुचियां आकांक्षायें और आवश्यकतायें अनेक हैं किन्तु जीवन एक सुगठित इकाई है। यहां लौकिक (Secular) तथा अलौकिक (Sacred) में अन्तर नहीं है और न भक्ति तथा मुक्ति ही परस्पर विरोधी हैं क्योंकि मानव जीवन में लौकिक तथा अलौकिक दोनों का समावेश हुआ है। यहां धर्म अर्थ और काम साथ साथ चलते हैं। यही कारण है कि धर्म की धारणा में मानव जीवन उसकी आशा-आकांक्षाओं तथा महत्ताओं को एकता मिलती है। इस प्रकार धर्म मानव जीवन सम्बन्धी वह धारणा है जिसके द्वारा मानव जीवन के लौकिक तथा अलौकिक पक्षों को एक सूत्र में पिरो कर, एक आदर्श समाज में, व्यक्ति के अधिकार तथा कर्तव्यों को एक व्यापक सिद्धान्त में निरूपित करने का प्रयास किया गया है। धर्म

1 गोखले, बी० जी० इंडियन थाट थ्रू दि एजेज पृष्ठ 24

एक ओर मानव की सम्पूर्ण नैतिक क्रियाओं की विधि है और, दूसरी ओर एक प्रकार का वह शीशा जिसमें मानव की सभी नैतिक क्रियायें प्रतिबिम्बित होती है[1]।

धर्म की धारणा, एक ओर लौकिकता में अवगठित है तो दूसरी ओर अलौकिकता में। धर्म एक ओर जीवन दर्शन को परिवेष्ठित किए है तो दूसरी ओर, समाज में व्यक्ति की शरीरी मानसिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास से सम्बन्धित है। धर्म वह धारणा है जिसके द्वारा हिन्दुत्व में व्यक्ति के इह लौकिक तथा पारलौकिक जीवन को नियमित तथा निरूपित करने का प्रयास किया गया है। धर्म का सम्बन्ध मानव जीवन की आवश्यकताओं तथा समस्याओं से है। मानव जीवन की आवश्यकताओं का स्रोत एक ही है किन्तु उसकी अभिव्यक्ति बहुमुखी होती है। इसीकारण, हिन्दू जीवन में धर्म की अभिव्यक्ति भी बहुमुखी होती है। धर्म की धारणा, वस्तुतः एक बहुदलीय पुष्प के समान है। जिस प्रकार बहुदलीय पुष्प अनेक पखुड़ियों में बँटे होने पर भी अपनी सुगठित एकता बनाये रखता है, उसी प्रकार धर्म भी मानव जीवन की शरीरी मानसिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओं को एक सिद्धान्त में लपेटे हुए है। धर्म की व्यवस्था इसी बहुमुखी सिद्धान्त की व्याख्या में निहित है। हिन्दू विचार में नेति (जिसका अन्त न हो) की प्रधानता रही है और यही कारण है कि हिन्दू के लिए सभी कुछ वह रहस्य है जिसका अन्तिम ज्ञान पाना असम्भव है। इसी विचार ने हिन्दुत्व में रहस्यात्मकता को पुट देकर हिन्दू विचार को लचीला बना दिया है। इस विचार के प्रभाव का परिणाम यह हुआ है कि जहां एक ओर, धर्म ग्रन्थों में धर्म के निरूपण का प्रयास किया गया है वहां, दूसरी ओर यह भी स्वीकार किया गया है कि धर्म का स्वरूप अत्यन्त जटिल है। धर्म के अन्तिम तथा शाश्वत स्वरूप का निर्धारण एक दुष्कर कार्य है।

इसी मान्यता का यह परिणाम है कि धर्म की व्याख्या अनेक दृष्टिकोणों से की गई है। एक ओर शाब्दिक व्युत्पत्ति के आधार पर धर्म की आत्मा को आंकने का प्रयास किया गया है तो दूसरी ओर धर्म शब्द के लक्षणात्मक तथा व्यंजनात्मक अर्थों के आधार पर धर्म के स्वरूप को निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। हिन्दुत्व में निहित रहस्यात्मक विचार में सम्पुटित होने के कारण, धर्म की व्याख्या भारतीय दर्शन की आध्यात्मिक परम्परा में की गई है। धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति तथा समाज के सहअस्तित्व के आदर्श पक्षों से है और इस कारण धर्म का सामाजिक दर्शन से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। हिन्दू विचार उन सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों की उत्पत्ति है जिनके प्रभाव के अन्तर्गत हिन्दुत्व का निर्माण हुआ है। अतः

---

1 गोखले बी० जी० वही पृष्ठ 24

धम की धारणा का अपना सामाजिक एतिहासिक पक्ष है। सामाजिक ऐतिहासिक पक्ष से तात्पय उन सामाजिक एतिहासिक परिस्थितियो स है जिन्होन धम की धारणा के निरूपण का प्रभावित किया है। राधाकृष्णन, कुमार स्वामी और अरविन्द न वतमान परिस्थितियो म धम की दाशनिक व्याख्या प्रस्तुत का है। राधाकृष्णन न तो पश्चिमी विचार क मुहावरों म धम की व्याख्या की है[1]। प्रभु ने आधुनिक-हिन्दू समाज क मनोवज्ञानिक विश्लेषण क सन्दभ म धम की व्याख्या की है[2]। शास्त्रे ने भारतीय विचार की सामाजिक ऐतिहासिक विवेचना के स दभ म धम की व्याख्या की है[3]।

२

धम व्युत्पत्ति और परिभाषा

संस्कृत भाषा क कोषो म धम शब्द क अनेक अथ मिलत हैं। अमरकोष के अनुसार धम शब्द क अथ हैं—सुकृत या पुण्य, वदिक विधि—यागादि, यमराज, न्याय स्वभाव, आचार और सोमरस का पीने वाला। अन्य कोषो क अनुसार धम शब्द के अथ हैं—शास्त्रोक्त कम के अनुष्ठान स उत्पन्न होने वाल भावी फल का साधनस्वरूप शुभ अदृष्ट या पुण्यापुण्य रूप आत्म, श्रौत और स्मात धम, विहित क्रिया स सिद्ध होन वाला गुण या कम जन्य अदृष्ट, आत्मा, देह को धारण करने स जीवात्मा, आचार या सदाचार, द्रव्य का गुण, स्वभाव, उपमा यागादि, अहिंसा, सामाध्यायी सत्सग, धनुष, ज्योतिष मत म लग्न से नवम स्थान या भाग्य भवन और दान आदि। व्याकरण की रीति म धम शब्द 'धञ्' (धारणे) धातु के आगे 'मन्' प्रत्यय लगाने स बनता है। इसकी व्युत्पत्ति तीन प्रकार स की जा सकती है—पहली जिसस लोक धारण किया जाय वह धम है (ध्रियत लोक अनन इति धम), दूसरी, जो लोक को धारण कर वह धम है (धरति धारयति वा लोकम् इति धम), और तीसरी, जो दूसरो क द्वारा धारण किया जाय वह धम है (ध्रियत य स धम)[4]। इस प्रकार धम शब्द का धातुगत अथ है 'धारण करना'। धम की जिस धारणा न हिन्दू जीवन का प्रभावित किया है, उसका मूलरूप इसी धातुगत अथ पर

---

1 राधाकृष्णन एस० हिन्दू व्यू आफ लाइफ
2 प्रभु, पी० एच० हिन्दू सोशल आगनाईजशन
3 शास्त्रे, बी० जी० इण्डियन थाट थ्रू दि एजेज
4 कल्याण हिन्दू संस्कृति अक पृष्ठ 369

आधारित है यद्यपि उसकी लक्षणात्मक तथा व्यजनात्मक व्युत्पत्तियों म मत मतान्तर पाया जाता है। रामदास गौड के मत म धम श द के वदिक प्रयोगो[1] स धम का जो अथ निकलता है उसके अनुसार किसी वस्तु या अवस्तु की, आत्म या अनात्म की विधायक वृत्ति को उसका धम कहते है। पत्यक पदाथ का व्यक्तित्व जिस वत्ति पर निभर है वही उस पदाथ का धम है।

धम शब्द के धातुगत अथ (धारण करना) के आधार पर धम की अनेक लक्षणात्मक तथा व्यजनात्मक व्युत्पत्तियाँ करके धम को निरूपित करने का प्रयास किया गया है। धम की मूल धारणा है जो धारण करे वह धम है (धारयतीति धम)। किन्तु यहा प्रश्न उठता है कि कौन धारण करे, क्या धारण करे और किसको धारण करे ? महाभारत के कणपव म उद्धृत एक श्लोक म निहित मान्यता म यह भाव है कि 'धारण करने से लोग इसे धम कहते हैं। धम प्रजा का धारण करता है। जो धारण के साथ रहे, वह धम है—यह निश्चय है[2]। इसी का एक व्यञ्जनात्मक अथ यह भी किया जाता है कि 'जो समाज का व्यक्ति का धारण करे, वह धम है[3]। इसी व्याख्या के स दभ को स्पष्ट करते हुए प्रभू ने लिखा है कि धम, निश्चय ही, वह सिद्धान्त है जिसमें सारे ब्रह्माण्ड का सुरक्षित रखने की क्षमता है[4]। संस्कृति की व्याख्या के प्रकरण म यह पहले ही कहा जा चुका है कि संस्कृति मानव के आन्तर्मुख व्यवहार म निहित रहती है। समाज और व्यक्ति संस्कृति द्वारा ही धारण किये जाते हैं। इस दृष्टिकोण स धम मानव व्यवहार समाज तथा संस्कृति का धारण करने वाला हुआ। मानव व्यवहार समाज तथा संस्कृति एक ओर, आदश नियमो के जाल म बँधे रहते हैं और दूसरी ओर, वास्तविकता म जो आदश के अनुरूप होते हुए भी उनसे भिन्न रहती है। इसीकारण यह कहा गया है कि धम आचार या सदाचार स उत्पन्न होता है, (आचार प्रभवो धर्मो)[5]। इसी स दभ म निरुक्त मे दी हुई धम की उस व्याख्या की साथकता सिद्ध होती है जिसके अनुसार

---

1 रामदास गौड ने जिन वदिक प्रयोगो का उल्लेख किया है वे य हैं —
(अ) त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्य । अतो धर्माणि धारयन ।18। ऋग्वेद
(ब) धर्ति लोकान् ध्रियते पुण्यात्मभिर्वा,
(स) धारणाद्धर्ममित्याहु —देखिये रामदास गौड द्वारा रचित हिन्दुत्व ।
2 धारणाद्धर्ममित्याहुधर्मो धारयते प्रजा ।
यत स्याद्धारणसयुक्त स धम इति निश्चय ॥ महाभारत कण० 69/58
कल्याण वही पष्ठ 369
3 कल्याण वही पष्ठ 161
4 प्रभू, पी० एच० हिन्दू सोशल आगनाईजेशन पष्ठ 79
5 कल्याण वही पष्ठ 372

धम का अथ नियम किया गया है—वह नियम जो व्यक्ति तथा समाज को धारण किये रहता है। लेकिन धम का उद्देश्य केवल धारण करना ही नहीं है। धम सुख और आनन्द का मूल है (धर्मेण सुखमासीत)[1]। सुख दो प्रकार का होता है—लौकिक तथा अलौकिक अथवा आध्यात्मिक। लौकिक सुख के पक्ष की प्रधानता पर जोर देने के लिए ही कहा गया है कि 'धन से धम होता है और धम से सुख होता है (धनाद्धर्मं ततः सुखम्)'[2]। वशेषिक दशन के रचयिता कणाद ने धम को लौकिक तथा पारलौकिक सुखों और कल्याण का साधन माना है। उनके अनुसार जिससे लौकिक सुख तथा पारलौकिक कल्याण (परमार्थ) की सिद्धि हो वह धम है (यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धमः)[3]।

इस व्याख्या से यह तात्पय निकलता है कि धम उन सदाचारी नियमों में निहित है जिनके द्वारा लौकिक तथा पारलौकिक सुखों का धारण हो। व्यक्ति का जीवन अस्थाई है। उसके जीवन में आने वाले सुख तथा दुख भी अस्थाई हैं। किन्तु जीव नित्य (स्थायी) है और इस कारण, धम भी नित्य (स्थायी) है[4]। अत, नित्य जीव को नित्य सुख नित्य धम से ही मिल सकता है। लेकिन, वह नित्य धम क्या है? मनु ने धम के चार लक्षण बताये हैं और वे हैं वेदानुकूल स्मृति सम्मत, आचारनिष्ठ तथा आत्मप्रिय व्यवहार[5]। मानवधमशास्त्र में धम के दस लक्षण बताये गये हैं और वे हैं—धृति (संतोष) क्षमा दम (आत्मनियन्त्रण) अस्तेय (त्याग), शौच (शुद्धता), इन्द्रिय निग्रह धी (सद्बुद्धि) विद्या (ज्ञान) सत्य और अक्रोध[6]। मनु द्वारा निर्धारित किये हुए लक्षणों की व्याख्या से यह निष्कर्ष निकलता है कि धम का सम्बन्ध उन नियमों से है जिनसे मानव जीवन में संयम तथा सदाचार उत्पन्न होते हैं और जिनके माध्यम से मानव जीवन का शरीरी, मानसिक तथा आध्यात्मिक अभ्युदय होता है। संयम तथा सदाचार की पृष्ठभूमि में संस्कारों का महत्व बढ़ जाता है। इसी दृष्टिकोण से धम की व्याख्या करते हुए रामदास गौड़ ने लिखा है 'संयमी जीवन संस्कारों को सम्पन्न करता है और संस्कार का फल होता है शरीर

---

1 कल्याण वही पृष्ठ 369

2 वही

3 कल्याण वही पृष्ठ 370

4 धर्मो नित्यः सुख दुःखेऽनित्ये जीवो नित्यः हेतुरस्याप्यनित्य —भारत सावित्री

5 वेद स्मृति सदाचार स्वस्य च प्रियमात्मन।
एतच्चतुर्विध प्राहुः साक्षाद्धमस्य लक्षणम्।

6 धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धमलक्षणम्

और जीवात्मा का उत्तरोत्तर विकास। धर्म पहले समाज का उपदेश है उन्नति के लिए नियम है संयम उस उपदेश व नियम का पालन है संस्कार उन संयमों का सामूहिक फल है और किसी विशेष देश काल और निमित्त में विशेष प्रकार की उन्नत अवस्था में प्रवेश करने का द्वार है और सब संस्कारों का अंतिम कार्य विकास है। संयम संस्कार विकास व 'संयम संस्कार अभ्युदयनिःश्रेयस' यह धर्मानुकूल मस्तिष्क का नियात्मक रूप है। यह सभी मिल कर 'संस्कृति' का इतिहास बनाते हैं। धर्म यदि आत्म, अनात्म की विधायक वृत्ति है तो संस्कृति उसका नियात्मक रूप है धर्म आत्म और अनात्म का, जीवात्मा और शरीर का विधायक है, संस्कार हर जीवात्मा और हर शरीर का विकास करने वाला है। धर्म व्यक्ति की तरह समाज का भी विधायक है (धर्मो धारयति प्रजा) और संस्कार समाज का विकास करने वाला है[1]।

धर्म संयम और संस्कार के उन नियमों में निहित है जो मानव जीवन को *व्यक्ति और समाज का अभ्युदय तथा निःश्रेयस की ओर ले जाते हैं। किन्तु* इसका तात्पर्य यह नहीं कि धर्म कोई जटिल बंधन है। धर्म बंधन नहीं है क्योंकि धर्म ज्ञान पर आधारित है। मानव जीवन में बंधन अविद्या से आता है न कि विद्या से। धर्म का आधार विद्या है न कि अविद्या। 'जो धर्म दूसरे धर्म का बाधा दे, वह धर्म नहीं है, अधर्म है। जो धर्म समस्त धर्मों का अविरोधी है वही यथार्थ में है[2]। *धर्म मानव जीवन के सभी पक्षों का सम्यक किन्तु उन्नतिशील विकास है।* हिन्दू शास्त्रकारों के अनुसार, एक सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य पर जिन चार कारणों का प्रभाव पड़ता है, वे हैं देश, काल, श्रम और गुण। धर्म वे नियम हैं जो देश काल श्रम और गुण का समन्वय करके व्यक्ति तथा समाज को अभ्युदय के मार्ग पर ले जाते हैं। धर्म समाज में मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की ऊर्ध्वगामी *अभिव्यक्ति का आधार है। मानव जीवन में धर्म उतना ही स्वाभाविक है जितना* कि स्वयं मानव जीवन। धर्म मानव जीवन का रक्षा कवच है। धर्म को धारण करना और उसकी रक्षा करना मानव के लिये आवश्यक है। धर्म का जो नाश करेगा धर्म उसका विनाश कर देगा और जो धर्म की रक्षा करता है धर्म उसकी रक्षा करता है (धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः)[3]। इसीलिए भारत सावित्री *में कहा गया है कि कभी भी कामना से भय से लोभ से तथा जीवन अस्तित्व के* संरक्षण के लिये भी धर्म का परित्याग न करे (न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्

---

1 गौड़ रामदास हिंदुत्व पृष्ठ 11

2 धर्म यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ॥ *कल्याण वही पृष्ठ 171*

3 कल्याण वही 161

धर्मम् त्यजेज्जीवितस्यापि हेतो)।

धर्म की उपर्युक्त व्याख्या से धर्म की धारणा से सम्बन्धित कई तथ्य और उन तथ्यों से सम्बन्धित कई शंकायें उत्पन्न होती हैं—पहली, क्या धर्म केवल सदाचारी नियमों का संग्रह मात्र है या दूसरे शब्दों में धर्म केवल सदाचार में ही सीमित है। यदि हाँ, तो सदाचार की कसौटी क्या है? दूसरे, यदि धर्म संयम तथा संस्कार से बंधा सदाचार है तो संयम संस्कारमय सदाचार का आधार क्या है? संयम-संस्कार का सम्बन्ध कर्म विचार से है। अतः यहाँ सहज ही प्रश्न उठता है कि धर्म कर्म का सम्बन्ध क्या है? तीसरी, धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है?

३

धर्म, स्वधर्म और अधर्म

धातुगत अर्थ के दृष्टिकोण से विचार करते हुए गोखले ने यह लिखा है कि धर्म के अनेक अर्थों में हम मानव कर्तव्य को भी रख सकते हैं। मानव-जीवन बहुमुखी है। अतः मानव कर्तव्य भी बहुमुखी है। परिवार के प्रति कर्तव्य, सामाजिक कर्तव्य, आध्यात्मिक कर्तव्य, सांस्कृतिक कर्तव्य और राजनैतिक कर्तव्य मानव-कर्तव्य के अनेक पहलू हैं। इस सन्दर्भ में धर्म से तात्पर्य लिया जा सकता है उन मानव कर्तव्यों से जिनसे वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन धारण किया जा सके। कर्तव्य के साथ अकर्तव्य का भी विचार आ जाता है और जहाँ कर्तव्याकर्तव्य का विचार आता है वहीं सदाचार की धारणा आ जाती है। धर्म की धारणा में निहित सदाचार की भावना को विचारकों ने अनेक रूपों में व्यक्त किया है। महाभारत के शान्ति पर्व में आये एक प्रसंग के अनुसार वही व्यक्ति धर्म का मर्म समझता है जो मन, वचन और कर्म से दूसरों के कल्याण का इच्छुक ही नहीं रहता है वरन् दूसरों के कल्याण में निरन्तर रत रहता है। मनु के अनुसार धर्म वह है जिसका विद्वान अनुसरण करें और जो उन सज्जनों द्वारा बिना किसी शंका के ग्रहण किया जाये, जिनमें दूसरों के प्रति घृणा और द्वेष न हो। इसी आधार पर, धर्म के विभिन्न रूपों में अन्तर किया गया है। एक ओर है स्वधर्म की धारणा और दूसरी ओर हैं विधर्म, कुधर्म, परधर्म, धर्माभास, उपधर्म और छद्मधर्म की धारणायें। स्वधर्म ही श्रेयस्कर है। स्वधर्म में मरना श्रेष्ठ है। परधर्म भयकारी है (स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह)। स्वधर्म का अर्थ है अपना धर्म जिससे यह तात्पर्य लिया जा सकता है कि व्यक्ति का जो अपना धर्म है वही उसका धर्म है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि व्यक्ति मनमाने ढंग से धर्म की परिभाषा करके, तदनुरूप अपने व्यवहार को चला सकता है। स्वधर्म वह धर्म है जो व्यक्ति के गुण, कर्म, वर्ण, आश्रम, देश, काल और

धम शास्त्रा क अनुसार ज्ञान के साथ साथ, समयानुकूल और तर्कसगत भी हो। स्वधम का आधार केवल व्यक्ति ही नही है स्वधम का आधार व्यक्ति के साथ साथ समाज भी है।

स्वधम की धारणा तब स्पष्ट होती है जब अधम की धारणा पर भी विचार किया जाय। भागवत पुराण के आधार पर प्रभू ने अधम के पाच भेद बताये हैं जो इस प्रकार हैं—विधम, परधम धर्माभास, उपधम और छलधम[1]। कल्याण के हिन्दू संस्कृति अक म धम के लक्षण और रहस्य की व्याख्या करते हुए श्री गोविन्द नारायण असोपा ने अधम क इन पाच प्रकारो म कुधम की धारणा भी जोड दी है[2]। इस प्रकार जो स्वधम नही है, अर्थात जो अधम है उसके छ प्रकार हैं। जो स्वधम के प्रतिकूल है वही विधम है। विधम की व्युत्पत्ति (विगत धर्मेण विधम) के अनुसार स्वधम म विगत (गिरी हुई अर्थात प्रतिकूल) क्रियाय विधम की श्रेणी म आती हैं। धम को शास्त्रविहित और शास्त्रोक्त माना गया है। अत विधम का अथ हुआ शास्त्रप्रणीत स्वधम के विपरीत आचरण। कुधम (कुत्सित धम कुधम) वह है जो निन्दनीय है और निन्दनीय वही है जो न तो शास्त्रोक्त है और न देश काल तथा वण धम व्यवस्था की मर्यादाओं के अनुसार है। कुधमम शब्द के एक अन्य अथ क अनुसार जो स्वधम के लिए बाधक हो वही कुधम है (धर्मो या न बाधते धम)। पर का अथ है अन्य दूसरा। अत, परधम का अथ हुआ, वह धम जो अपने लिये (स्वधम) न होकर दूसरे के लिए है। स्वधम तथा परधम की धारणायें इस तथ्य को व्यक्त करती हैं कि हिन्दू-जीवन दशन म प्रत्येक व्यक्ति और समाज के लिये उनकी परस्थितियो के अनुसार, प्रत्यक के अपने अलग अलग धम है और प्रत्यक का अपने ही धम का अनुसरण करना चाहिए। यही कारण है कि हिन्दुत्व म धम प्रचार तथा धम परिवतन पर जोर न देकर सह अस्तित्व पर जोर दिया गया है। व सिद्धान्त जो निरूपित आचार (Established Morals) के विरोधी हैं जो पाखण्ड तथा दम्भयुक्त है, उपधम की श्रेणी मे आते हैं। धर्माभास की श्रेणी म वह आचरण आता है जो व्यक्ति देश काल तथा वर्णाश्रम व्यवस्था की मर्यादाओं का ध्यान न रखते हुए, अपनी व्यक्तिगत इच्छा की पूर्ति के लिए करता है। छल धम वह धम है जो केवल नाममात्र के लिए धम हो, जिसका आधार सत्य मे न होकर असत्य म हो।

धम (स्वधम) और अधम (न धम अधम) की इस व्याख्या से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि धम वही आचरण है जो, एक ओर शास्त्रविहित हो, देश, काल तथा समाज की मर्यादाओं क अनुकूल हो और दूसरी ओर स्वभाव विहित (स्वभाव-

---

1 प्रभू पी० एच० हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन पृष्ठ 28

2 कल्याण वही पृष्ठ 270–271

विहित) हो। धर्म केवल व्यक्तिगत स्वभावविहित आचरण नहीं है। धर्म का उद्देश्य है व्यक्ति के आचरण को स्वभावविहित रखते हुए देश काल की परिस्थितियों, सामाजिक आवश्यकताओं तथा आदर्शों के अनुसार ढालना। यही धर्माचरण, संयम तथा संस्कार में बंधते हुए, कर्म से बंध जाता है। यही कारण है कि हिन्दुत्व में धर्म के साथ कर्म की व्याख्या की गई है और कर्म के साथ धर्म की। धर्म कर्ममय है और कर्म धर्ममय। धर्म का आधार कर्म है और कर्म का आधार धर्म। धर्म आदर्शमय आचरणीय सिद्धान्त अवश्य है लेकिन उस सिद्धान्त की साधना केवल उसके ज्ञानमात्र में ही नहीं होती है। धर्म का व्यावहारिक पक्ष उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि सैद्धान्तिक पक्ष[1]। जैसा कि कहा गया है, लौकिक पुरुषों का मत है कि क्रिया या कर्म द्वारा सिद्ध होकर कल्याणकारी होना धर्म का लक्षण है (क्रियासाध्यत्वे सति श्रेयस्करत्वमिति लौकिका)[2]।

४

धर्म के आधार

धर्म के तीन स्कन्ध माने गए हैं। यज्ञ, अध्ययन तथा दान प्रथम स्कन्ध में आते हैं, तप दूसरे स्कन्ध में और आचार्य-कुल-वास तथा ब्रह्मचर्य तीसरे स्कन्ध में[3]। इस दृष्टिकोण से आचार्यकुलवास, ब्रह्मचर्य, यज्ञ, अध्ययन (स्वाध्याय अर्थात् वेदाध्ययन), दान तथा तप (दम और अस्तेय) धर्म के मुख्य आधार हैं। इनकी साधना व्यक्ति को पुण्यलोक का भागी बनाती है। इनसे व्यक्ति अमृतत्व को प्राप्त होता है। धर्म की यह व्याख्या, आश्रम व्यवस्था की आवश्यकताओं पर आधारित है। आचार्य-कुलवास, ब्रह्मचर्य तथा अध्ययन का सम्बन्ध ब्रह्मचर्य आश्रम से है, दान का सम्बन्ध गृहस्थाश्रम से है और तप का वानप्रस्थ तथा संन्यास से। यज्ञ का सम्बन्ध सभी आश्रमों से है क्योंकि यज्ञ का लक्षणात्मक अर्थ है त्याग। आश्रम व्यवस्था, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा, एक ओर, धर्म परम्परा में आती है और दूसरी ओर, कर्म परम्परा में। ब्रह्मचर्य आश्रम ज्ञान-यज्ञ की परम्परा में आता है क्योंकि इस आश्रम में ब्रह्मचारी अपने 'स्व' को धर्मानुसार ढालने का प्रयास करता है। गृहस्थाश्रम, एक

---

1 इसीलिए, जैसा कि राधाकृष्णन ने लिखा है, हिन्दुत्व में मजहबी एकता (Religious Conformity) पर जोर न देकर जीवन के प्रति आध्यात्मिक तथा सदाचारी दृष्टिकोण पर अधिक जोर दिया गया है। यहाँ व्यवहार सिद्धान्त से पहले आता है और व्यवहार के माध्यम से सिद्धान्त समझा जाता है।

2 कल्याण, वही, पृष्ठ 370

3 वही

ओर, जीवन यज्ञ का क्षेत्र है और, दूसरा ओर दान का। गृहस्थाश्रम के धर्मानुसार, गृहस्थ के लिये पंचमहायज्ञ (भूतयज्ञ मनुष्ययज्ञ पितृयज्ञ देवयज्ञ तथा ब्रह्मयज्ञ[1]) करने का विधान है। गृहस्थ का जीवन त्याग तथा दान का जीवन है क्योंकि गृहस्थ वस्तुतः पत्नी में तथा बच्चों कुल के सदस्यों अतिथियों और अपने पर निर्भर व्यक्तियों की सेवा में रत रहता है। गृहस्थ वस्तुतः पुत्र तथा पितृ का भरण है। गृहस्थाश्रम में व्यक्ति अपने सामाजिक ऋणों को चुकाता है। इसीलिये गृहस्थाश्रम की धारणा में यज्ञ तथा दान की धारणायें व्याप्त हैं और हिन्दू जीवन में दान की अनेक धारणायें पायी जाती हैं (जैसे विद्यादान, गर्भादान जीवनदान अन्नदान रतिदान तथा कन्यादान इत्यादि)। धर्म की विवेचना में दान को भी धर्म का आधार माना गया है। धर्म की उत्पत्ति सत्य से होती है दया और दान से वह बढ़ता है क्षमा में वह निवास करता है और क्रोध से उसका नाश होता है (सत्याज्जायते दयया दानेन च वर्धते क्षमायां तिष्ठति क्रोधान्नश्यति)। धर्म की धारणा, इस दृष्टिकोण से परमार्थ पर आधारित है न कि स्वार्थ पर। धर्म अर्थ तथा काम की पूर्ति के लिये अपनाया गया गृहस्थजीवन वस्तुतः त्याग तपस्यामय कठिन पुरुषार्थ का जीवन है। वानप्रस्थ अंतिम मन की तैयारी है। संन्यास आत्माहुति की तैयारी है। वानप्रस्थ और संन्यास—ये दोनों आश्रम भक्ति-प्रधान के आश्रम अथवा अवस्थायें हैं क्योंकि इन आश्रमों में व्यक्ति अपने को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देता है। यह भक्ति प्रवृत्तिमार्गी न होकर निवृत्तिमार्गी होती है क्योंकि इसका आधार होता है आत्मज्ञान तथा आत्मदान। इसप्रकार धर्म को आश्रम कर्तव्य के रूप में स्पष्ट किया गया है। व्यक्तिगत सन्दर्भ में, धर्म का सम्बन्ध मोक्ष से है और सामाजिक सन्दर्भ में वर्णाश्रमव्यवस्था से। मनु और याज्ञवल्क्य ने इसी आधार पर धर्म की विवेचना की है।

मनु के अनुसार मन (Mind), वाक् (Speech) और देह (Body) सभी कर्मों का आधार हैं। कर्म से ही मानव-जीवन की विभिन्न गतियां बनती हैं। कर्म के परिणाम अच्छे भी होते हैं और बुरे भी। कुकर्मी व्यक्ति आवागमन के चक्र में फंसा रहता है और सुकर्मी को आवागमन के चक्र और मृत्यु जाल से छुटकारा मिलता है। जीव की सभी उच्च तथा निम्न गतियां अच्छे बुरे कर्मों के अनुसार बनती हैं। जीवन मृत्यु तथा आवागमन से छुटकारा पाना (मोक्ष) मानव जीवन का उद्देश्य है जिसकी प्राप्ति उन धर्म-कर्मों से होती है जो वेदविहित हैं और जिनसे आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। वेदविहित कर्मों से इहलौकिक तथा पारलौकिक सुखों की प्राप्ति होती है। वेदविहित कर्म, एक ओर निवृत्ति की ओर ले जाता है और दूसरी ओर प्रवृत्ति की

1 इन यज्ञों का सविस्तार वर्णन आश्रमव्यवस्था की व्याख्या के सन्दर्भ में किया जायगा।

ओर। जीवन का उच्चतम ध्येय निवृत्ति है न कि प्रवृत्ति और निवृत्ति आत्मज्ञान से मिलती है। आत्मज्ञान से तात्पर्य उस ज्ञान से है जो मनुष्य को इस संसार से उठाकर अभ्युदय और निःश्रेयस की ओर ले जाता है जिसमें आत्मवत् सर्व भूतेषु (सभी प्राणियों में अपनी ही जैसी आत्मा है) की भावना रहती है। जीवन के उच्चतम उद्देश्य की प्राप्ति उसी व्यक्ति को होती है जो रागात्मक वृत्ति का नियन्त्रण रखता है और अपनी क्षमताओं का वेदाध्ययन तथा आत्मज्ञान की प्राप्ति की ओर लगाता है। तप और विद्या से ही जीवन के उच्चतम उद्देश्य (मोक्ष) की प्राप्ति होती है जिसे प्राप्त करना मनुष्य का धर्म है। अतः, यह कहा जा सकता है कि वेदविहित कर्म, जो आत्मज्ञान तथा मोक्ष का साधन हो, धर्म है। धर्म वेद विहित, सुकृत कर्मों से उत्पन्न वह रहस्यात्मक शक्ति है जो इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन में मनुष्य की सहायक रहती है[1]। धर्म ही एक ऐसा मित्र है, जो मरने पर भी जीव के साथ जाता है, और सब तो शरीर के नाश के साथ ही छोड़ कर चले जाते हैं[2]।

मनु द्वारा प्रस्तुत धर्म-कर्म की इस व्याख्या को याज्ञवल्क्य ने भी स्वीकार किया है। याज्ञवल्क्य-स्मृति के टीकाकार वाल्मभट्ट के अनुसार कर्म-संचय (Accumulation of Karma) की जड़ें धर्म अधर्म में हैं और कर्म-संचय के तीन परिणाम होते हैं—पहला, जाति (उच्च या निम्न स्थिति में जन्म), दूसरा आयु और और तीसरा भोग (सुख और दुःख)। याज्ञवल्क्य ने विभिन्न वर्णों के लिये, आश्रम धर्म निरूपित करने का प्रयास किया है। विज्ञानेश्वर के अनुसार धर्म के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य ने छः विषयों का वर्णन किया है जो इस प्रकार हैं—वर्ण धर्म, आश्रम धर्म वर्णाश्रम-धर्म, गुण धर्म, निमित्त धर्म और साधारण धर्म[3]। इन छः प्रकार के धर्मों से मनुष्य के लिए सुकर्म (Right Karma) का निर्धारण होता है। याज्ञवल्क्य के अनुसार, धर्म पर आधारित सुकर्म के मुख्य तत्त्व हैं यज्ञ आचार दम अहिंसा दान, स्वाध्याय (वेदाध्ययन) और आत्मदर्शन। इन सभी में आत्मज्ञान परमधर्म है[4]।

---

1 प्रभू हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन पृष्ठ 30–33

2 एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति॥ कल्याण वही पृष्ठ 370

3 वर्ण धर्म का सम्बन्ध है चार वर्णों (ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) के कर्त्तव्यों से आश्रमधर्म का चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ, और संन्यास) के कर्त्तव्यों से, वर्णाश्रमधर्म का चारों वर्णों तथा आश्रमों के कर्त्तव्यों के पारस्परिक सम्बन्धों से, गुणधर्म व्यक्ति के गुणानुसार कर्त्तव्यों से, निमित्तधर्म का विशेष परिस्थितियों से सम्बन्धित कर्त्तव्यों से और साधारणधर्म का उन कर्त्तव्यों से जो सभी स्त्री-पुरुषों के लिये समानरूप से आवश्यक हैं—प्रभू वही पृष्ठ 3?–36

इस प्रकार अपने मूलरूप में धर्म आचार है (आचार प्रथमो धर्म)। लेकिन धर्म केवल आचारमात्र नहीं है। धर्म वस्तुतः वह आचार है जो संयम और संस्कार से बंधा हुआ है। और संयम तथा संस्कार सुकर्म से बंधे हुए हैं। धर्म का उद्देश्य केवल आचार संयम संस्कार तथा सुकर्म से ही नहीं है। धर्म का अन्ततोगत्वा उद्देश्य है अभ्युदय और निःश्रेयस से जिसका स्वाभाविक परिणाम है आत्मज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्ति। धर्म इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन का संयोजक है। धर्म पार्थिव जीवन से परे वह शक्ति है जो जीव के कर्मों से प्रस्फुटित होकर जीवात्मा के साथ प्रवाहित होती रहती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि धर्म दैव या प्रारब्ध है। हिन्दुत्व की विचारधारा में प्रयत्न (कर्म) बीज के समान है और दैव क्षेत्र के समान। जिस प्रकार क्षेत्र में बीज बोने से फल उत्पन्न होता है उसी प्रकार कर्म से दैव प्रतिफलित होता है। बिना कर्म के दैव भी निष्प्राण रहता है। जिस प्रकार, हवा के प्रभाव से अग्नि प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार, कर्म से दैव का प्रभाव भी बढ जाता है। जैसे तेल के कम होने के साथ साथ दीपक की लौ मन्द होती रहती है, उसी प्रकार, बिना कर्म की सहायता के दैव का प्रभाव भी मन्द होता रहता है। कर्म ही दैव का प्रेरक है[1]। अतः, दैव कर्म पर आधारित है और धर्म दैव से परे एक अलग सत्ता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि धर्म का आधारभूत अर्थ उस कर्तव्य-संहिता (Code of Duties) से है जो मानव समाज के सुनिश्चित संगठन के लिये आवश्यक है। लेकिन धर्म कर्तव्य संहिता के अतिरिक्त कुछ और भी है। धर्म की धारणा में यह भाव भी निहित है जिसमें धर्म को एक प्रकार की प्रच्छन्न शक्ति समझा जाता है—वह शक्ति जिसकी रहस्यमयी प्रच्छन्न क्रियात्मकता में मानव को दण्डित (Punish) अथवा प्रतिफलित (Reward) करने की क्षमता है[2]।

आचार संयम, संस्कार और शास्त्रविहित कर्म होने के कारण धर्म परम्परा और प्रथा का भी रूप ले लेता है किन्तु धर्म केवल परम्परा ही नहीं है। धर्म का प्रत्यक्ष सम्बन्ध सत्य (Truth) और विवेक (Reason) से है। यदि परम्परा तर्क या सत्य के प्रतिकूल है तो परम्परा को धर्म की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। धर्म का आधार है विवेक जो कोरा तर्क नहीं है वरन जो सत्य और सदाचार से सम्बन्धित है। कौटिल्य ने धर्म को शाश्वत सत्य कहा है। उपनिषदों में धर्म को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आधार माना जाता है। धर्म सर्वोत्कृष्ट है धर्म ब्रह्म से भी परे है। महाभारत में धर्म को संसार को धारण करने वाला कहा गया है। रामायण में धर्म को लाभ (Profit) तथा प्रमोद (Pleasure) का माध्यम मानते हुए उसे संसार का सार तथा शक्ति माना गया है। कर्म से जीव बंधता है लेकिन धर्म से जीव को मुक्ति

1 प्रभु वही पृष्ठ 28 29

2 गोखले, बी० जी० पृष्ठ 25

मिलती है। धर्म की धारणा में अलौकिक अनुकम्पा (Devine Grace) का भाव भी निहित है। धर्म उस अलौकिक शक्ति का प्रतीक है जिससे मानव जीवन प्रभावित होता रहता है। बौद्धों के अनुसार धर्म से अच्छे-बुरे का अन्तर स्पष्ट होता है। धर्म शासकों का भी शासक है। धर्म से राज्य की पाशविक शक्ति में सदाचार का समावेश होता है और धर्म से ही, सदाचारी तथा आध्यात्मिक अहिंसा के आधार पर व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध निरूपित होते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है धर्म को केवल साधारण सदाचार नहीं माना जा सकता है। भारत में धर्म की व्याख्या युग युग से होती चली आ रही है। धर्म की धारणा की उत्पत्ति तो मानव-व्यवहार की एक संहिता (A Code of Humam Behariour) के रूप में हुई किन्तु, एक दीर्घकालीन व्याख्या की प्रक्रिया में, धर्म की धारणा में रहस्यात्मकता का समावेश हुआ। धर्म की धारणा में रहस्यात्मक (The Mystical), युक्तियुक्त (The Rational), आध्यात्मिक (The Metaphysical) और उपयोगितावादी (The Pratical) दृष्टिकोणों का समावेश हुआ है[1]। वास्तव में हिन्दुत्व में धर्म की जो धारणा विकसित हुई है, उसकी आत्मा सर्वव्यापी है। धर्म मानवी प्रयास की सार्थकता की कसौटी है। मानवी क्रिया के सभी प्रकार, चाहे वे व्यक्तिगत हों या सामाजिक, सदाचारी हों या आधिदैविक, युक्तियुक्त हों या रहस्यात्मक और लौकिक हों या आध्यात्मिक, धर्म से ही निरूपित होते हैं। अपनी इस व्यापकता के कारण ही धर्म भारतीय विचारधारा का केन्द्र बन गया। धर्म के विभिन्न अध्यादेशों से वह प्रेरणा मिलती रही जिसके द्वारा सांसारिक अस्तित्व अपरिवर्त्य आदर्शों से प्रेरित जीवन बन गया। धर्म की धारणा कोई सद्धान्तिक सूत्रमात्र नहीं है। यह एक व्यावहारिक सिद्धान्त है जिसकी अभिव्यक्ति, एक ओर, जनसाधारण के जीवन में, दूसरी ओर, दिलीप, भरत, राम, युधिष्ठिर, अशोक समुद्रगुप्त, हर्ष और अकबर जैसे पौराणिक तथा ऐतिहासिक पुरुषों के कार्यों में हुई है। सकटकालीन तथा विपन्न परिस्थितियों में धर्म से ही जनसाधारण को शान्ति तथा कर्म की प्रेरणा मिली है[2]।

हिन्दुत्व में जिस सर्वव्यापी, वैयक्तिक तथा सामाजिक धर्माचरण का एक रहस्यात्मक जीवन-दर्शन के रूप में निरूपण किया गया है उसकी कसौटी क्या है? धर्म की प्रथम कसौटी है वेद, शास्त्र और स्मृति में निरूपित आचार-तत्व। अखिल वेद को धर्म का मूल कहा गया है (वेदोऽखिलो धर्ममूलम्)। धर्म को वेदविहित (वेद में कहा हुआ वेद विहितकर्म) माना गया है। वेद में जिसकी प्रेरणा दी गई है वही धर्म है (चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म)। गीता में कहा गया है कि 'वेद में कहा हुआ धर्म है और उसके विपरीत अधर्म है (वेद प्रणहितो धर्मोह्यधर्मस्तद्विपर्ययः)। श्रुति (वेद) और स्मृति (धर्मशास्त्र)

1 गोखले बी० जी० वही पृष्ठ 23

2 वही पृष्ठ 27

में जो कुछ कहा गया है, वह धम कहलाता है (श्रुतिस्मृतिभ्यामुदित यत स धम प्रकीर्तित)' । 'श्रुति और स्मृति मे कहे हुए धम को करता हुआ मनुष्य इस लोक म यश पाता है और मरकर परलोक में उत्तम सुख या मोक्ष को प्राप्त होता है[1] । 'श्रुति और स्मृति म वर्णित सदाचार परम धम है । इसलिए आत्मज्ञानी द्विज सदा सदाचार से युक्त रहे[2] । किंतु, यह मानना भूल होगी कि धम कोई श्रुति स्मृति विहित अपरिवर्तनीय शाश्वत धारणा है । मनु ने अखिल वेद को धम का मूल माना है लेकिन उनके मत म केवल वद ही धर्माचरण की एकमात्र कसौटी नहीं है । मनु के अनुसार, वद के साथ साथ, विद्वानों का आचरण भी धम का प्रमाण और उसकी कसौटी है । बृहस्पति के अनुसार, धम के विषय मे शास्त्र का अक्षरश पालन करके कोई निर्णय नहीं देना चाहिये । शास्त्रों का अन्धा अनुसरण करने से धम विषयक विचार युक्तिहीन हो जाते है और उसके परिणाम धम के लिए हानिकारक होते है । धम विचार की जटिलता तथा गहराई को ध्यान मे रखते हुए धर्माचरण के लिए एक व्यावहारिक सिद्धान्त के रूप म यह कहा गया है कि 'महापुरुष जिस मार्ग का अनुसरण करें वही पथ ठीक है' (धमस्य तत्त्वम निहितम गुहायाम महाजनो यन गत स पन्था) । महाभारत मे यह भी कहा गया है कि धम-अधम का निर्णय करते म विद्वान की बुद्धि का आश्रय लेकर, परिस्थिति पर अधिक ध्यान देना चाहिये[3] । धम की उत्पत्ति सत्य से होती है और सत्य की धारणा निरपेक्ष न होकर सापेक्ष होती है । सत्य की सापेक्षता देश-काल की परिस्थितियो से बंधी रहती है । देश काल की परिस्थितियां गत्यात्मक होती हैं । अत , सत्य की धारणा भी गत्यात्मक है और सत्य से उत्पन्न धम भी गत्यात्मक है । यह धम के प्रति गत्यात्मक विचार तथा उसकी गत्यात्मकता के लचीलपन को सुरक्षित रखने का परिणाम है कि धम की समय समय पर अनेक रूपो मे कल्पना की गई है । धम को वयक्तिक भी माना गया है और सामाजिक भी । धम को अन्धी समष्टिवादिता के चंगुल से बचाये रखने के लिये ही, धम के उच्चतम उद्देश्य (मोक्ष) की धारणा को व्यक्ति स ही सम्बधित रक्खा गया है । मनु ने तो यहां तक कहा है कि यदि काम और अर्थ धमरहित हो तो उनका त्याग कर देना चाहिए और यदि ऐसा लगे कि भविष्य मे धम से कष्ट होने की सम्भावना है या यदि धम मानवो के प्रति क्रूरता है तो धम का ही परित्याग कर देना चाहिए[4] ।

---

1 श्रुतिस्मृत्युदित धममनुतिष्ठन हि मानव ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रत्य चानुत्तम सुखम । कल्याण वही पष्ठ 370

2 आचार प्रथमो धम श्रुत्युक्त स्मात एव च ।
तस्मादस्मिन सदा युक्तो नित्य स्यादात्मवान द्विज । कल्याण वही

3 प्रभू, पी० एच० वही पष्ठ 27 28

4 वही पष्ठ 35

५

धर्म : एक गत्यात्मक धारणा

धर्म की धारणा का विकास एक गत्यात्मक विचारधारा में हुआ है। भारत की सामाजिक एतिहासिक परिस्थितियों ने धर्म की धारणा के विचार को ढाला है। धर्म की धारणा में व्यक्तिगत सामाजिक तथा रहस्यात्मक विचारों का समावेश भारतीय विचारधारा के विकास की एतिहासिक परिस्थितियों में हुआ है। अतः, धर्म की सर्वांगीण व्याख्या के लिए धर्म की धारणा के विकास का ऐतिहासिक विवेचन भी आवश्यक है। लोगों की ऐसी मान्यता है कि धर्म की धारणा की उत्पत्ति 'ऋत' की धारणा से हुई। 'ऋत' की धारणा प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में पाई जाती है और इस आधार पर यह मत प्रतिपादित किया गया है कि सम्भवतः 'ऋत' की धारणा आर्यों की है जो उनकी विचारधारा के रूप में भारत में आई। 'ऋत' का एक अर्थ है वह शक्ति जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की व्यवस्था का आधार है। अपने विपर्याय 'अनरीत' के सन्दर्भ में 'ऋत' का अर्थ होता है नैतिक व्यवस्था। नैतिक व्यवस्था के सन्दर्भ में 'ऋत' का व्यावहारिक रूप एक ओर, नकारात्मक हो जाता है और दूसरी ओर आदेशात्मक जिसके कारण 'ऋत' और सत्य से भी परे एक अलग रहस्यात्मक सत्ता का रूप ले लेता है। 'ऋत' वस्तुतः ब्रह्माण्ड में व्याप्त वह शक्ति है जिसके नियमों से देवता भी बंधे हुए हैं। 'ऋत' तथा धर्म की धारणायें भारत के प्रारम्भिक सामाजिक तथा नैतिक विचार में ताने बाने के रूप में विद्यमान हैं। प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में जहां 'ऋत' से तात्पर्य ब्रह्माण्ड की भौतिक व्यवस्था तथा यज्ञ-व्यवस्था से है, वहां इसका तात्पर्य सांसारिक नैतिक नियम से भी है।

यही 'ऋत' की धारणा कालान्तर में धर्म की धारणा के रूप में प्रस्फुटित हुई। वैदिक साहित्य में 'ऋत' की धारणा के साथ साथ धर्म का प्रयोग निम्न अर्थों में होता है : वे हैं आचार (Custom), नैतिक नियम (Moral Laws) सामान्य नियम अथवा कर्तव्य तथा औचित्य (अर्थात् What is right)। ब्राह्मणग्रन्थों में धर्म की धारणा 'ऋत' की धारणा का स्थान ले लेती है और इसका कारण है भारत में जटिल तथा विजातीय समाज में एक सामंजस्य लाने की आवश्यकता। प्रारम्भ से ही, भारत विभिन्न प्रजातीय तथा सांस्कृतिक समूहों का समागम रहा है और प्रारम्भ से ही भारत के विभिन्न समूहों को एक समाज, संस्कृति तथा राष्ट्र में संगठित करने का प्रयास चलता रहा है। भारत में, अनेकता में एकता लाने का प्रयास किया गया है और भारतीय विचार इसी प्रयास से ओतप्रोत है। धर्म तथा स्वधर्म की धारणाओं को इस प्रयास में सफलता मिली है। भारत में आर्यों के आने के बाद, आर्यों तथा अनार्यों के सम्पर्क से जो स्थिति निर्मित हुई उसकी आवश्यकतायें 'ऋत' की धारणा से पूर्ण न हो सकीं और इसीकारण भारत में आर्यों के आने के बाद, कालान्तर में 'ऋत' के आधार पर धर्म की धारणा विकसित हुई। यही कारण है कि वैदिक साहित्य में, धीरे धीरे

धम की धारणा देवताओ, ऋषियो, पितरो, मनुष्य तथा मानवेतर प्राणियो के प्रति कतव्य संहिता (Code of Duties) के रूप म विकसित होती है। धम की इस धारणा मे एक ओर, ऋत की धारणा म व्याप्त प्रकृतिवादी (Naturalistic) दृष्टिकोण बना रहता है और, दूसरी ओर, व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्धो का नतिक आधार भी मिलता है।

पाणिनि के निवचन मे धम का अथ है धमप्राण कृत्य तथा प्रथा। धम शास्त्रो मे एक ओर, धम की वण व्यवस्था के सन्दभ म व्याख्या की गई और, दूसरी ओर, आश्रम व्यवस्था के स दभ म। धमशास्त्रो मे की गई व्याख्या के अनुसार धम वस्तुत शास्त्रविहित वर्णाश्रमी कतव्यो मे निहित है। धम की इस व्याख्या म, एक ओर, व्यक्ति के जन्म से लेकर मत्यु तक के कत यो को निरूपित करने का प्रयास है और, दूसरी ओर वण-व्यवस्था के निरूपण के द्वारा, समाज के विभिन्न समूहो के सामाजिक प्रतिष्ठा तथा कतव्यो को निर्धारित करने का प्रयास। इस प्रकार, धमशास्त्रो के युग मे धम से तात्पय लिया गया है एक आदश तथा सुगठित समाज की सभी इकाइयो की प्रतिष्ठा तथा कतव्यो से। यही से धम के अन्तगत सम्पूण मानव कतव्यो को लिया जाने लगा और धम को एक व्यापक जीवन दशन के रूप मे प्रस्तुत किया गया।

इस बहुमुखी विकास का परिणाम यह हुआ कि धम अनेक सन्दर्भो तथा अर्थो मे प्रयुक्त होने लगा। जसा कि गोखले ने लिखाया है धम से अथ लिया जाने लगा आचारपरक औचित्य, नैतिक कत य सदगुण, सुकृत धार्मिक कतव्य, धार्मिक सद्गुण, आदश निरपेक्ष सत्य सामान्य नियम अथवा सिद्धात (Universal Law or Principle), दवी न्याय रूढि (Convention), प्रथा तथा परम्परा संहिता (Code of Customs & Traditions) धम विधि (Canon Law) या विधि (Law) तथा अन्तगणजातीय विधि (Intertribal Laws) से[1]। धम की इस व्यापक धारणा म जहा, नतिक आदश नियम (Ethical Norm) धार्मिक कतव्य, रहस्यात्मक सत्ता (Mystical Entity) तथा आदश के भाव निहित है वहा इसम आर्थिक राजनतिक प्रशासनिक तथा वत्तिक और व्यावसायिक (Professional) व्यवहार-सचालन के नियम भी निहित हैं। इस व्यापक व्याख्या मे धम को सामाजिक सहचारी जीवन के एकीकरण की प्रक्रिया (Process) का उपकरण (Instrument) बनाने का प्रयास किया गया है। एकीकरण सभी प्रकार के सहचारी जीवन की आवश्यकता है। मानव के सहचारी जीवन (सामाजिक जीवन) म यह आवश्यकता सस्कृति से पूण होती है। भारतीय समाज म उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए धम की धारणा निरूपित की गई है और इसीकारण भारतीय सस्कृति धमप्राण सस्कृति है।

धम की इसी व्यापक विरूपता को ध्यान में रखते हुए महाभारत म कहा

---

1 गोखले, बी० जी० वही पष्ठ 26

गया है कि सभी प्राणियों की वृद्धि तथा विकास के लिए और उन्हें परस्पर हानि पहुंचाने से रोकने के लिए धर्म उत्पन्न हुआ है। अतः धर्म साधारण तथा एकमुखी न होकर जटिल तथा बहुमुखी है। इसका सम्बन्ध राज्य तथा प्रजा के व्यवहार, जाति तथा परिवार-समूह, जीवन की अवस्थाओं, दान, उपाय, मोक्ष, नारी पुरुषों के बन्धनों तथा सामान्य मानव कर्तव्यों से है। भारतीय विचार के विकास के दौरान में धर्म पर अनेक बहुमुखी विचारों तथा धारणाओं का आवरण चढ़ता रहा है। फिर भी धर्म धारणा की अपनी आत्मा है जो विभिन्न धारणाओं तथा विचारों के आवरण में भी अक्षुण्ण रही है। धर्म की आत्मा सदाचारी आस्थाओं (Moral Values) के संरक्षण तथा स्थायित्व के प्रति विश्वास में निहित है। धर्म की धारणा में एक शाश्वत सदाचार व्यवस्था का भाव निहित है जो ऋत में निहित अध्यात्ममय की विचारों पर आधारित है, जो अपरिवर्तनीय तथा स्थाई रहा है और जो निरीह मानवी अभिमतों (Preferences) सुविधाओं (Conveniences) या प्रवंचनाओं (Manipulations) से एकदम स्वतन्त्र ही नहीं वरन उनके प्रति उदासीन भी रहा है। धर्म की धारणा रहस्यात्मकता में लिपटी हुई है क्योंकि इस धारणा में मनुष्य से परे एक सत्ता में विश्वास रहा है। यही कारण है कि धर्म की धारणा में रहस्यात्मकता का पुट आया।

धर्म की धारणा में निहित रहस्यात्मकता के भाव के लिए भारतीय विचारधारा के मुख्य प्रवाह तथा सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियां भी उत्तरदायी हैं। भारत में आर्यों के आने के बाद जिस सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का संगठन हुआ, उसमें एक ओर ये आर्य और दूसरी ओर अनार्य, एक ओर ये विजित और दूसरी ओर पराजित। तत्कालीन भारत में भूमि ही जय का एकमात्र साधन थी जिसकी उत्पादन-क्षमता सीमित थी। दूसरी ओर, क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों के रूप में, एक वर्ग अस्तित्व में आ रहा था जो उत्पादक न होकर केवल परजीवीमात्र था। अतः वैदिक समाज की एक आवश्यकता थी विभिन्न जनजातियों का एक समाज में संगठित करना जो वर्ण व्यवस्था के द्वारा हुआ। दूसरी, जनसाधारण को उत्पादन-कार्य में लगाए रखना ताकि परजीवी वर्गों का अस्तित्व बना रहे, और तीसरी व्यक्ति तथा समाज के तदीय रखना। बनाए रखना जो आश्रम व्यवस्था तथा संस्कार द्वारा सम्पन्न हुआ। ऐसी अवस्था में कोई आश्चर्य नहीं यदि धर्म को मानव तथा समाज के पर एक रहस्यात्मक दैवी सत्ता के रूप में प्रस्तुत किया गया। भारत की ही नहीं, वरन तत्काल समाज की ही विचारधारा रहस्यात्मक थी। मानव विचारों पर से रहस्यात्मकता का आवरण तब से उठना प्रारम्भ हुआ जब से विज्ञानवादिता का प्रभाव बढ़ा। विज्ञानवादी विचारधारा के आविर्भाव के पहले मानव सम्बन्धी जितनी भी विचार प्रणालियां अस्तित्व में आई हैं उनमें रहस्यात्मकता का पुट रहा है। यूनानी ईसाई और इस्लामी विचार प्रणालियां इसका प्रमाण हैं। धर्म की धारणा की सबसे

बड़ी विशेषता यह है कि रहस्यात्मक होते हुए भी यह उस प्रकार से दैवी अध्यादेश नहीं है जिस प्रकार से ईसाइयत और इस्लाम हैं। धर्म सर्वोच्च दैवी सत्ता से परे एक अलग सत्ता है। इस्लाम और ईसाइयत की भांति धर्म कोई अपरिवर्तनीय तथा अन्तिम विचार प्रणाली भी नहीं है। धर्म देश-काल से बंधा हुआ है। यह अवश्य है कि वह मानव से परे है लेकिन वह मानव से सर्वथा अलग भी नहीं है। यही कारण है कि हिन्दुत्व की विचारधारा में धर्म की प्रेरक वह दैवी सत्ता नहीं है जिसका अस्तित्व मानव से एकदम अलग है वरन, वह दैवी सत्ता है जो मनुष्य के रूप में भी धर्म की प्रेरणा देती है। धर्म की धारणा में स्थायित्व की भावना न होकर सम्भवामि युगे युगे की भावना व्याप्त है[1]।

इसी वैचारिक पृष्ठभूमि का प्रभाव है कि जब हिन्दुत्व तथा हिन्दू समाज के प्रसार तथा संघात के कारण आदिवासी समाज का विशृंखलन हुआ तो बौद्धवाद एक वैचारिक तथा सामाजिक क्रान्ति के रूप में प्रस्फुटित हुआ। बुद्धवाद में धर्म के रहस्यवादी पक्ष पर ही सबसे तार्किक चोट की गई। लेकिन, बुद्धवाद भी धर्म के आधारभूत विचार से मुक्त न हो सका। बुद्धवाद का विकास मगध तथा अवन्ती जैसे साम्राज्यों की पृष्ठभूमि में हुआ था। मौर्यों के प्रभुत्व और ऐश्वर्य की आधार शिला जनसाधारण के श्रम से उत्पादित सम्पत्ति थी क्योंकि जन साधारण को उनके

---

1 हिन्दुत्व की विचारधारा में ईश्वर को एक साथ, धर्म का स्रोत तथा धर्म से बंधा हुआ माना गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि धर्म आचार से उत्पन्न होता है लेकिन धर्म के प्रभु स्वयं अच्युत (भगवान) हैं (आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युत)। भगवान धर्म का मूल है (धर्ममूल हि भगवान सर्ववेदमयो हरि)। भगवान स्वयं धर्म के जानने वाले ही नहीं वरन स्वयं धर्म का रूप है (धर्मो धर्मविदुत्तम)। भागवत में लिखा है कि धर्म की रक्षा के लिए भगवान स्वयं अवतार लेते हैं (धर्मावनायोरुकृतावतार)। गीता के चौथे अध्याय (श्लोक 7 8) में भगवान कृष्ण से कहलाया गया है : हे अर्जुन ! जब जब धर्म की ग्लानि होती है तब तब अधर्म के अभ्युत्थान (विनाश पतन) के लिए मैं अपना सृजन करता हूं (अर्थात अवतार लेता हूं)। साधुओं के परित्राण दुष्टों के विनाश और धर्म संस्थापन के लिए मैं युग युग में प्रकट होता रहता हूं। ऐसा जान पड़ता है कि मानो ईश्वर तथा धर्म सम्बन्धी विचारों में दुविधा या विरोधाभास हो। ऐतिहासिक सन्दर्भ में यह विरोधाभास समाप्त हो जाता है। चूंकि विचारधारा में धर्म ही सर्वोपरि है। लेकिन, कालान्तर में, तत्कालीन परिस्थितियों में जब साकार की उपासना बढ़ी और जनसाधारण को एक अलौकिक आश्रय की आवश्यकता हुई, तो अवतारवाद की कल्पना के साथ धर्म को जोड़ कर, उसे ईश्वरमय मान लिया गया।

श्रम के फल से वंचित किए बिना न तो साम्राज्य रह सकता था और न साम्राज्य का ऐश्वर्य। और जहां जनसाधारण को उनके श्रम से उपार्जित फल से वंचित किया जाता है वहां या तो क्रान्ति होती है या यदि क्रान्ति सम्भव न हो तो जनसाधारण को किसी न किसी मानसिक सन्तोष के माध्यम की आवश्यकता होती है। धर्म की रहस्यात्मकता तथा पारलौकिकता से, वर्णव्यवस्था की सत्तारूढ़ सामाजिक व्यवस्था के शोषण से जनसाधारण को मानसिक संताप मिला। यह इसी रहस्यात्मक विचारधारा का प्रभाव था कि राजधर्म में सम्राट की राजर्षि के रूप में कल्पना की गई और सम्राट को एक दिव्य सत्ता के रूप में प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार, धर्म की धारणा में निहित पारलौकिकता सामाजिक परिस्थितियों की देन है। यह सामाजिक परिस्थितियों का ही प्रभाव है कि बुद्धवाद जैसे क्रांतिकारी आन्दोलन में करुणा की प्रधानता मिली और उसके फलस्वरूप महायानी बुद्धवाद में बोधिसत्व की कल्पना आई। जिन परिस्थितियों ने धर्म की धारणा को जन्म दिया था उन्होंने बुद्धवाद को जन्म दिया और यह धर्म की धारणा का ही प्रभाव है कि बुद्धवाद भी पारलौकिकता के प्रभाव से मुक्त न रह सका। मोक्ष की धारणा बुद्धवाद में निर्वाण के रूप में प्रतिफलित हुई। हां, यह अवश्य है कि बुद्धवाद में धर्म का निवचन एक नये ढंग से किया गया। यहां धर्म को सत्कर्म, सम्यक् मार्ग, संन्यास और निर्वाण में ही सीमित रखा गया। लेकिन, धर्म की बुद्धवादी व्याख्या से ही मजहब की नींव पड़ी। बुद्धवाद ही पहला ऐतिहासिक तथा संगठित मजहब था जिसके प्रभाव से उत्पन्न ऐतिहासिक प्रवाहों ने कालान्तर में, ईसाइयत तथा इस्लाम जैसे मजहबों को जन्म दिया।

धर्म की धारणा के ऐतिहासिक निवचन से यह स्पष्ट होता है कि धर्म की धारणा कोई अपरिवर्तनीय तथा अंतिम धारणा के रूप में नहीं प्रतिपादित की गई है। मानव जीवन देश, काल, गुण तथा श्रम से बंधा हुआ है। देश भौगोलिक परिस्थितियों का प्रतीक है और काल ऐतिहासिक परिस्थितियों का। गुण से तात्पर्य व्यक्ति की स्वाभाविक क्षमताओं से है और श्रम का उन स्वाभाविक क्षमताओं के अनुसार श्रम करने की क्षमता से। धर्म का सम्बन्ध मानव से है। अतः, धर्म भी देश, काल, गुण तथा श्रम के कारणों से परे नहीं है। देश, काल, गुण तथा श्रम के कारणों के कारण ही मानव में तथा मानव व्यवहार में विचरणशीलता आती है और चूंकि मानव तथा मानव व्यवहार विचरणशील है, धर्म विचार में भी विचरणशीलता का समावेश आवश्यक है। राजर्षि भीष्म के द्वारा दी हुई शिक्षाओं के अनुसार 'देश काल की परिस्थितियां, आवश्यकताओं तथा अपवादों के कारण जो धर्म है, वह अधर्म हो सकता है और जो अधर्म है वह धर्म हो सकता है[1]। धर्म सम्बन्धी यह

---

1 प्रभु पी० एच० वही पृष्ठ 73 74

विचार इस तथ्य का प्रमाण है कि धम के गत्यात्मक निर्धारण की आवश्यकता सदैव बनी रहती है क्योंकि मानव जीवन ही गत्यात्मक है। वास्तव म, एक ओर, मानव शाश्वत है और दूसरी आर विचरणशील। यही कारण है कि, एक आर, धम की धारणा मे मानव सम्बधी आधारभूत शाश्वत सिद्धा तो को प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है और, दूसरी आर, विभिन्न परिस्थितिया तथा अपवादो के अनुसार उन सिद्धान्तो म लचीलापन बनाये रखन का। इसीकारण एक ओर, जसा कि पहले कहा गया है स्वधम की धारणा प्रतिपादित की गई है और, दूसरी आर, अधम की एक आर, सामान्य धम तथा मानवधम की कल्पना रखी गई है आर दूसरी ओर, आपद्धम की। सामान्य धम के ही लिए नित्य तथा सावभौम की सज्ञाआ का प्रयोग किया है। व्यक्ति के गुणो के सर्वांगीण विकास के लिये आश्रम धम की धारणा प्रतिपादित की गई है। सामाजिक दृष्टिकोण से, मानव जीवन म परिवार तथा विवाह का सर्वाधिक महत्व है जिस कुल धम की धारणा स व्यक्त किया गया है। गुण तथा श्रम के अनुसार समाज म व्यक्ति की जो प्रतिष्ठा बनती है और उसस जो स्तरान्तरण (Stratification) अस्तित्व म आता है, उस वण धम के सामाजिक ढाचे मे रखा गया है। सामाजिक जीवन के राजनतिक पक्ष का राजधम की धारणा मे बाधा गया है। वण और आश्रम की धारणायें वस्तुत धम की धारणा का प्राण हैं। धम का सारा निरूपण वणाश्रम के ही निरूपण म निहित है। वणाश्रम-व्यवस्था वस्तुत हिन्दुत्व की आत्मा है। हिन्दू सस्कृति वणाश्रम अनुमोदित है। इसीकारण, हिन्दुत्व म धम सस्कृति का भी प्रतीक माना गया है।

६

धम के विभिन्न रूप

यहा यह स्पष्ट हो जाता है कि धम एक ऐसी रहस्यात्मक सत्ता है जिसका सम्बन्ध, एक ओर मानव की शाश्वतता स है और दूसरी आर, मानव जीवन की गत्यात्मकता तथा उसके विभिन्न पहलुआ स। इस दृष्टिकोण म, धम की व्याख्या म धम के विभिन्न पहलुओ की व्याख्या अपेक्षित हो जाती है। धम के कितने पहलू हैं या धम के कितने रूप हैं? यह विषय जहा सतत विचार का प्रश्न रहा है वहा इसका समाधान मतमतान्तर का भी विषय रहा है। स्वधम तथा अधम और उनके विभिन्न रूपो की धारणाओ का स्पष्टीकरण पहले ही किया जा चुका है। यह भी पहले लिखा जा चुका है कि याज्ञवल्क्य ने धम के प्रश्न पर विचार करते हुए वणधम, आश्रमधम वर्णाश्रमधम गुणधम, निमित्तधम तथा साधारणधम की

व्याख्या की है। अत, यह कहा जा सकता है कि याज्ञवल्क्य के अनुसार छ प्रकार के धम है। भारतीय विचार (Indian Thought) की एतिहासिक विवेचना के सन्दभ म धम की धारणा की व्याख्या करते हुए गोखले ने धम के जिन पहलुओं या प्रकारों का वणन किया है, व हैं मानवधम, वणधम, आश्रमधम कुलधम, राजधम तथा संस्कृति के रूप म धम[1]। संस्कृति जसा कि पहले अध्याय म दिखाया गया है समाज के आदर्शों को अपने म समेट रहती है। हिंदू विचारधारा म मानव जीवन के वयक्तिक तथा सामाजिक आदर्श धम म ही निहित हैं। अत, हिन्दू दृष्टिकोण म धम संस्कृति का प्रतीक है। कुल धम का सम्बन्ध परिवार और गृहस्थाश्रम म है जिनका, आगे चलकर, यथास्थान वणन किया जायगा। धम के सामाजिक पहलुओं को स्पष्ट करने के लिए धम के जिन पहलुओं का यहा वणन किया गया है व हैं मानवधम, स्वधम, आश्रमधम वणधम, कमधम और राजधम। धम की स्वाभाविक परिणति उत्तमपुरुष की धारणा म होती है अत, अन्त म उत्तमपुरुष की धारणा का विश्लेषण किया गया है।

मानवधम की धारणा म, धम के सामान्य तथा शाश्वत आधारों का निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है। मानव धम की धारणा म सावभौमिकता का भाव निहित है क्योंकि मानवधम की मान्यता इस धारणा पर आधारित है कि देश, काल गुण तथा श्रम के कारकों से उत्पन्न विचरणों के होते हुए भी, मानव जीवन सवत्र समान है और, इस कारण, वह कुछ आधारभूत नियमों तथा सिद्धान्तों म बधा हुआ है। यही सवव्यापी आधारभूत नियम तथा सिद्धान्त मानवधम का सार हैं। किन्तु यहा प्रश्न उठता है कि वे सवव्यापी, आधारभूत नियम तथा सिद्धान्त क्या हैं? इस प्रश्न का उत्तर कई प्रकार म दिया गया है। एक दृष्टिकोण स मानवधम वह है जो मानव म निहित औचित्य की प्रेरणा पर आधारित है और जिसम मानव का इह-लौकिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति होती है। औचित्य की प्रेरणा ही मानव को सत्कर्मों की ओर प्रेरित करती है। अत धम का एक बाह्यरूप है और दूसरा आन्तरिक। धम का बाह्य रूप मनुष्य को भय स बाधता है और आन्तरिक रूप औचित्य की प्रेरणा स। इस दृष्टिकोण से, धम मनुष्य को उस प्रारम्भ स बाधता है जो उसे अपनी अन्तरात्मा के नियमों का पालन करत हुए अन्ततोगत्वा प्राप्त करना चाहिए। इसी दृष्टिकोण म, धम को मानव के उन गुणों का मध्यस्थ, उनमें अन्तर्निहित विवेक तथा औचित्य का विधायक, सचालक और नियत्रक माना जा सकता है जिनम, मनुष्य के बाह्य तथा आन्तरिक रूपों और व्यक्ति तथा समूहों के सम्बन्धों की उचित क्रियाशीलता तथा क्रम म निर्धारित होते हैं। अपने इस रूप म धम वस्तुत विवेक है जो मानव को इहलौकिक सुख तथा मोक्ष की ओर ले जाता है।

---

1 गोखले, बी० जी० वही

यहां फिर प्रश्न उठता है कि विवेक की कसौटी क्या है ? इस प्रश्न को सुलझाने के लिए मानवधर्म की विशेषताओं का निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है यद्यपि विभिन्न विद्वानों में इस विषय में एकमतता नहीं है। मनु के अनुसार, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, मानवधर्म के लक्षण हैं धृति क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह धी, विद्या, सत्य और अक्रोध। विष्णुधर्मशास्त्र में सहिष्णुता, सत्यपरायणता, संयम इन्द्रियनिग्रह अहिंसा गुरु के प्रति श्रद्धा, तीर्थयात्रा, दुखी के प्रति सहानुभूति सरलता अभिलाषा से मुक्ति देवों तथा ब्राह्मणों का आदर और अन्य मानवधर्म के लक्षण बताए गए हैं। भागवत पुराण के अनुसार मानवधर्म अहिंसा सत्य, चोरी न करने की भावना इच्छा क्रोध तथा अभिलाषा के रागों से मुक्ति और उन कर्मों को दूसरों के लिए रुचिकर तथा अच्छा हो में निहित है। कौटिल्य ने मानवधर्म के लक्षणों में अहिंसा सत्यनिष्ठा, शुद्धता, अविद्वेष दया और क्षमा को मुख्य माना है। महाभारत में अहिंसा को उच्चतम मानवधर्म माना गया है। गीता में निष्काम कर्म को मानवधर्म माना गया है। मैकाइवर ने सर्वोच्च धर्म की परिभाषा प्रथा के रूप में की है। सामाजिक कर्तव्य (Social Duty) या कल्याण कर्तव्य के रूप में भी धर्म परिभाषित किया गया है। इन विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर गोखले ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अपने सामान्य सार्वभौमिक पक्ष में मानवधर्म वह धर्म है जो नैतिक जीवन में सत्य अहिंसा, आत्मनिग्रह तथा करुणा पर आधारित हो, जो मानव प्रकृति को मानवीय बनाने का उपकरण तथा मानव प्रवृत्तियों के उदात्तीकरण का माध्यम हो[1]।

धर्म की विवेचनाओं के वर्णनों में सामान्यधर्म नित्यधर्म साधारणधर्म, सार्वभौम धर्म विशेषधर्म तथा आपद्धर्म जैसी संज्ञाओं का भी प्रयोग मिलता है। सामान्य नित्य साधारण और सार्वभौम पर्यायवाची विशेषण हैं और उनका अर्थ है शाश्वत या। धर्म के साथ जुड़ने से उनका तात्पर्य हो जाता है नैतिक धर्म से जिसकी व्याख्या सर्वत्र मानवधर्म की धारणा के रूप में की गई है। विशेषधर्म का अर्थ है उस धर्म से जो सामान्य से भिन्न हो और जो परिस्थिति विशेष की माँग हो। दया और दान सामान्य धर्म में आते हैं। लेकिन यदि रोगी कुपथ्य माँगता, दया करके उसे कुपथ्य देना अधर्म होगा। आपद्धर्म का तात्पर्य उस धर्म से है जो आपत्तिकाल के लिए हो। अहिंसा सामान्य धर्म है लेकिन हमला करने पर शत्रु को मारना अधर्म न होगा। विशेषधर्म तथा आपद्धर्म सामान्य धर्म के अपवाद के रूप में परिभाषित किए गए हैं। अपवाद परिस्थिति जन्य होते हैं। अतः वे सामान्य न होकर अस्थाई होते हैं।

---

1 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 29 30

छठा अध्याय

पुरुषार्थ

धर्म और पुरुषार्थ

धर्म पुरुषार्थ का साधन माना गया है। पुरुषार्थ का तात्पर्य है प्रयत्न अथवा प्रयत्नों से—वे प्रयत्न जिनसे जीवन के उद्देश्य की पूर्ति हो। हिन्दू जीवन दर्शन के निरूपण तथा व्याख्या में पुरुषार्थ का अर्थ सन्निहित हो गया है। अपने इंगित अर्थ में, पुरुषार्थ मानव जीवन के उद्देश्यों का प्रतीक माना गया है। हिन्दू जीवन दर्शन के प्रणेताओं ने जीवन के चार उद्देश्य माने हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। ये चारों अलग अलग पुरुषार्थ माने गये हैं। धर्म को प्रथम पुरुषार्थ माना गया है जो इस तथ्य का प्रतीक है कि सभी पुरुषार्थों में धर्म ही सर्वोपरि है। महाभारत के रचयिता महर्षि व्यास ने भारत सावित्री के अंतिम श्लोकों में कहा है कि मैं हाथ उठा उठा कर तथा अपनी पूरी शक्ति के साथ कहता हूँ कि धर्म से अर्थ और काम की साधना होती है। अतः धर्म का ही अनुसरण क्यों न करो? लेकिन मेरी कोई नहीं सुनता है। फिर भी यह ध्यान रखो कि धर्म का परित्याग कभी भी नहीं करना चाहिये।

धम उसी प्रकार म नित्य है जसे आत्मा[1]। धम प्रथम पुरुषाथ इसलिये है कि वह अन्य तीन पुरुषार्थों का साधन ही नहीं वरन उनका आधार है। अथ दूसरा पुरुषाथ है, काम तीसरा और मोक्ष चौथा। संस्कृत भाषा मे 'अथ' के अनेक अथ हैं लेकिन, एक पुरुषाथ के रूप म अथ स तात्पय लिया जाता है इहलौकिक तथा पार्थिव सम्पन्नता से। काम से साधारणत अथ लिया जाता है मानव की उन एषणाओ म जिनसे आनन्द की प्राप्ति होती है तथा जिनसे जीवन तथा इन्द्रियो की तुष्टि होती है। साधारणत काम शब्द मानव म निहित यौन प्रेरणा का पर्याय माना जाता है यद्यपि अपने व्यापक अथ म यह प्रतीक है मानव की उन सभी जैविक एषणाओ का जो मानव म जैविक तथा मानसिक तनाव उत्पन्न करती हैं और जिनकी तुष्टि इन्द्रिय जनित सुख का साधन होती है। मोक्ष स तात्पय है मुक्ति से—आवागमन के चक्र से छुटकारा पाने से।

मानव जीवन का अन्ततोगत्वा और सर्वोच्च पुरुषाथ है मोक्ष जिसका एकमात्र साधन है धम। इसलिये धम मोक्ष स भी महत्वपूण है। लेकिन केवल धम स ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है क्योंकि मोक्ष मानव जीवन की एक सतत विकास-प्रक्रिया (अभ्युदय) का चरमोत्कष है। मोक्ष का सम्बन्ध पारलौकिक जीवन से है, जो इहलौकिक जीवन का उन्नयन है। इहलौकिक जीवन का स्वाभाविक विकास अथ और काम से होता है—वह अथ और काम जो धम पर आधारित है। अथ और काम का सम्बन्ध सासारिक जीवन स है। धम, अथ और काम के माध्यम से मोक्ष की ओर ले जाता है अत धम का स्तर अथ और काम की अपेक्षा उच्चतर है। धम अथ और काम, वस्तुत प्रतीक हैं मानव के नैतिक (Moral) भौतिक (Material) तथा मानसिक (Mental) ससाधना (Resources), उपकरणो तथा शक्तियों के जो मानव का अपने म ही उपलब्ध रहते है और जिनकी साधना के बिना मोक्ष की साधना नहीं हो सकती है। अत पुरुषाथ, वस्तुत एक साधना है जिसम धम के आधार पर अथ तथा काम (अथात इहलौकिक जीवन) की साधना करते हुए, पारलौकिक जीवन की साधना का प्रयास निहित है। पुरुषाथ अभ्युदय तथा नि श्रेयस की साधना का माध्यम है।

धम पुरुषाथ का आधार अवश्य है, लेकिन एक धारणा के रूप म। धम की धारणा पुरुषाथ धारणा का एक पहलू है। धम और पुरुषाथ एक दूसरे पर आश्रित हैं। धम के बिना न तो पुरुषाथ की साधना हो सकती है और न बिना पुरुषाथ के धम की। पुरुषाथ केवल एक धारणामात्र नहीं है। पुरुषाथ वस्तुत जीवन-दशन का एक सिद्धान्त है। जीवन दशन के एक सिद्धान्त के रूप मे पुरुषाथ स तात्पय है धम के माध्यम से अथ काम तथा मोक्ष की साधना। मोक्ष धम अथ तथा काम का स्वाभाविक विकास

1 प्रभु पी० एच० वही पृष्ठ 363

है । अत, चारो पुरुषार्थों म धम अथ और काम की आधारभूत महत्ता है। धम की व्यापक व्याख्या के लिय अथ काम तथा मोक्ष की विशद व्याख्या आवश्यक है।

धम का अन्ततोगत्वा उद्देश्य है मोक्ष प्राप्ति। मोक्ष प्राप्ति, निवृत्ति का प्रतीक है। इसीकारण, यह कहा जाता है कि धम निवृत्ति की ओर ले जाता है जिसके फलस्वरूप, हिन्दुत्व म जीवन के प्रति नास्ति तथा नकारात्मक दृष्टिकोण का समावेश हुआ है। किन्तु, हिन्दुत्व के प्रति यह दृष्टिकोण सम्यक नही है। गीता इसका ज्वलन्त उदाहरण है। गीता मे जीवन का कमक्षेत्र मानकर उस अपनाने की प्रेरणा दी गई है। पुरुषाथ सिद्धान्त मे धम के साथ अथ तथा काम को प्रधानता देकर इहलौकिक जीवन के आधारभूत महत्व पर जोर दिया गया है। शरीर को धम साधना का प्राथमिक साधन माना गया (शरीरमाद्य खलु धम साधन)। शरीर के साधना के लिये अथ और काम की साधना आवश्यक है। हा यह अवश्य है कि हिन्दुत्व म शरीर और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति को ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य नही माना गया है। मानव जीवन केवल शारीरी आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित नही है। यदि ऐसा होता तो मनुष्य अन्य जानवरो म भिन्न न होता। शारीरी दृष्टिकोण से मानव-जीवन म जन्म विकास ह्रास (जरा) तथा मृत्यु का चक्र है। जविक प्रक्रम की यह स्वाभाविक प्रक्रिया है जिसकी अवहेलना नही की जा सकती है। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो, अपनी मानसिक विशषताओ क कारण, जीवन क अन्ततोगत्वा उद्देश्य के बारे मे सोचता है। यही कारण है कि हिन्दुत्व म एक ओर इहलौकिक जीवन के निरूपण का प्रयास किया गया है और, दूसरी ओर इहलौकिक जीवन के अन्ततोगत्वा उद्देश्य को पारलौकिक के साथ जोडा गया है। हिन्दुत्व म पहले इस पृथ्वी पर मानव अस्तित्व स सम्बन्धित आधारभूत प्रश्न की महत्ता पर विचार किया गया है, फिर, मानव अस्तित्व के सर्वांगीण विकास तथा उसक सभाव्य, अन्ततोगत्वा उद्देश्य पर विचार किया गया है और फिर, इन विचारो के आधार पर व्यक्ति, घटना तथा परिस्थिति के पारस्परिक सम्बन्धो को निर्धारित किया गया है। हिन्दुत्व म व्यक्ति, परिवार, समूह, समाज तथा राष्ट्र और जीवित तथा निर्जीव क सम्बन्ध इसी विचार पर आधारित हैं। हिन्दुत्व निवृत्तिमार्गी प्रवृत्ति का जीवन दशन है। प्रवृत्ति मनुष्य का स्वभाव है लेकिन निवृत्ति भी अस्वाभाविक नहीं है। निवृत्ति सयम है। अत, महाफलदायिनी है। आसक्ति म अनासक्ति का समन्वय जीवन का उद्देश्य है। यही कारण है कि पुरुषाथ विचार म धम, अथ, काम और मोक्ष का समन्वय किया गया है। जहा, एक ओर, धम तथा मोक्ष (निवृत्ति) का विचार चलता है वहाँ, दूसरी ओर, अर्थ और काम (प्रवृत्ति) का भी विचार चलता है।

२

अर्थ

यह पहले ही कहा जा चुका है कि संस्कृत भाषा में 'अर्थ' शब्द कई सन्दर्भों में प्रयुक्त किया जाता है। जैसा कि गोखले ने लिखा है अर्थ से साधारणत तात्पर्य लिया जाता है समृद्धि तथा सासारिक वैभव की प्राप्ति सुविधा लाभ धन, व्यापारिक जीवन का परिणाम, व्यापारिक विषय वस्तु तथा राय, क्रिया और मूल्य से। विधि (Law) के सन्दर्भ में अर्थ से तात्पर्य है प्रतिवाद, अभियोग तथा प्रार्थना पत्र अथवा याचिका (Petition) से। इस प्रकार, अर्थ शब्द के अनेक अर्थ हैं। ऋग्वेद के आधार पर पुरुषार्थ के सन्दर्भ में, अर्थ का तात्पर्य उन पार्थिव वस्तुओं से है जिनकी गृहस्थी चलाने परिवार बनाने तथा धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करने में आवश्यकता पड़ती है[1]। अर्थ का एक अर्थ उस वस्तु अथवा उन वस्तुओं से है जिनकी इन्द्रियों द्वारा अनुभूति की जा सके[2]। जिन वस्तुओं की इन्द्रियों द्वारा अनुभूति की जा सकती है वे हैं रूप रस गंध, स्पर्श और शब्द। प्रभू के अनुसार, पुरुषार्थ के सन्दर्भ में अर्थ से तात्पर्य लिया जा सकता है उन सभी उपकरणों से जो सासारिक समृद्धि को प्राप्त करने के लिये आवश्यक हैं। प्रभू ने धन और सत्ता को सासारिक समृद्धि का प्रतीक माना है[3]।

धर्म की भांति, अर्थ की धारणा का विकास विभिन्न सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों तथा सन्दर्भों में हुआ है और इसकारण, उसे अनेक रूपों में व्यक्त किया गया है। वेदों में मानसिक तथा समृद्ध जीवन की एक सतत अभिलाषा व्यक्त की गई है। ऋग्वेद की ऋचाओं तथा उपनिषदों की प्रार्थनाओं में धन धान्य की वृद्धि, सासारिक समृद्धि शतायु होने की अभिलाषा, गायों तथा घोड़ों की वृद्धि, सन्तान की समृद्धि तथा सुखी जीवन की याचना की प्रार्थनायें मिलती हैं[4]। जब जनक ने याज्ञवल्क्य से यह जानना चाहा था कि वे धन तथा पशु की कामना पसन्द करते हैं

---

1 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 51

2 इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मन
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् पर —कठोपनिषद वल्ली 3, श्लो० 1

3 प्रभू पी० एच० वही 79–80

4 यजुर्वेद— अ० 18, क० 77 म० स० 1 से 89
प्रश्नोपनिषद द्वितीय प्रश्न—मन्त्र 8 से 13,
द्वितीय मुण्डक प्रथम खण्ड, तृतीय मुण्डक प्रथम खण्ड, एतरेयोपनिषद् द्वितीय खण्ड, तैत्तरीयोपनिषद—शीक्षावल्ली, तृतीय अनुवाक
सामवेद-पूर्वार्चिक षष्ठ खण्ड आग्नेयखण्ड, ऐन्द्रकाण्ड, उत्तरार्चिक प्रथम खण्ड

या शास्त्रार्थ में विजय की तो याज्ञवल्क्य ने दोनों की कामना प्रकट की थी। ऋगवेद में धन के लिये रयि शब्द आया है जिसका तात्पर्य पशु, भोजन सन्तान वासस्थान तथा प्रचुर आजीविका से है। उपनिषदों में भी जीवन के उच्चतम उद्देश्य की पूर्ति के लिये सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति की कामना की गई है[1]।

महाभारत में यह कहा गया है कि यहां जिसे धर्म समझा जाता है वह नितान्त धन पर ही आधारित है। जो किसी का धन छीनता है वह धन के साथ-साथ उसका धर्म भी छीन लेता है। निर्धनता पाप है। सभी प्रकार के मत तथा धार्मिक कर्मों का मूल धन ही है। धन से धन की वैसे ही प्राप्ति होती है जैसे हाथियों द्वारा हाथियों को पकड़ा जाता है। धार्मिक कृत्य, सुख हर्ष, साहस, क्रोध और विद्वता का आधार धन ही है। धनहीन के लिये धार्मिक कृत्यों की साधना दुष्कर है क्योंकि धन धार्मिक कृत्यों का वैसे ही स्रोत है जैसे सरिताओं का स्रोत पर्वतों में है। कौटिल्य के अनुसार, दान तथा एषणाओं की पूर्ति धन पर निर्भर है अतः, धन की सर्वाधिक महत्ता है। राज्य के चार मुख्य कर्तव्य हैं—उपार्जन करना उपार्जना को सुरक्षित रखना, उनमें निरन्तर सुधार तथा वृद्धि करना और उनसे उत्पन्न होने वाले लाभ को उनमें वितरित करना जो उस दान के योग्य तथा अधिकारी हों। कौटिल्य अविवेकी वैराग्य का विरोधी है क्योंकि जनसाधारण में वैराग्य की प्रवृत्ति आर्थिक उत्पादन को अवरुद्ध करती है। उसने तो यहां तक कहा है कि जो समाज तथा परिवार की मांग को पूरा किये बिना वैराग्य को अपनाता है उसे राज्य द्वारा दंड मिलना चाहिये। अपने अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने यहां तक लिखा है कि साम्राज्य के गाँवों में संन्यासियों के आने की अनुमति नहीं होनी चाहिये क्योंकि गांव में उनकी उपस्थिति से ग्रामीणों की आर्थिक क्रिया में बाधा पड़ती है। पंचतंत्र और हितोपदेश जो जन साहित्य की परम्परा में आते हैं में भी अर्थ परम्परा पर उतना ही जोर दिया गया है जितना कि शास्त्रों में। शास्त्र द्वारा पंचतंत्र से उद्धृत अंश के अनुसार, धन मनुष्य का सर्वोत्तम सम्बन्धी है। धन से ओज, विश्वास तथा सत्ता प्राप्त होती है निम्नवर्गी धनवान को आदर मिलता है जबकि उच्चवर्गी धनहीन को लोग निरादर की दृष्टि से देखते हैं। निर्धनता अभिशाप है और मृत्यु से भी बुरी है बिना धन के सद्गुण भी बेकार हो जाते हैं धनहीनता सभी बुराइयों की जड़ है निर्धन का जीवन जीवित नरक में रहने के समान है[1]। कथा सरित्सागर में कहा गया है कि 'धन का उद्देश्य है सुख जिस धन से सुख न प्राप्त हो वह बेकार है। धन केवल इच्छा से ही नहीं प्राप्त होता है धन के लिये प्रयास आवश्यक है धन केवल उन्हीं को प्राप्त होता है जो परिश्रमी, साहसी तथा विवेकी हैं[2]।

---

1 गोगले बी० आर० वही पृष्ठ 51–52

2 वही

इसीप्रकार, शुक्रनीतिसार म भी, ग्रथ परम्परा को धनार्जन के सदभ मे व्यक्त किया गया है। शुक्रनीतिसार के लेखक के अनुसार, जिस पुरुष के स्त्री, सन्तान तथा मित्र है उसके लिये दैनिक धनोपार्जन उचित है। दान के लिए धन आवश्यक है। बिना दान और धन के मानव अस्तित्व का महत्व ही क्या है? प्रत्येक को भविष्य के लिये धन सचय करना चाहिये। जब तक किसी के पास धन है, तभी तक उसका सम्मान होता है। धनहीन व्यक्ति वह चाहे कितना ही योग्य क्या न हो, स्त्री तथा सन्तान द्वारा त्यागा जा सकता है। इस ससार म धन ही सारे पुरुषार्थो की जड है। अत, वध उपाय से धनार्जन करना उचित है। शुक्रनीतिसार म विद्या सेवा शौर्य, कृषि व्यापार, शिल्प तथा शिल्पकारिता और यहा तक कि भिक्षाटन धनार्जन के वध उपाय माने गए है[1]।

धन का उपार्जन और सचय तथा उससे मिलने वाला इहलौकिक कल्याण भारतीय चिन्तन हिन्दू विचार म व्याप्त है। हिन्दू विचार मे धन की वाछनीयता कई प्रकार म व्यक्त की गई है। इस वाछनीयता के प्रमाण हैं व शब्द जिनके माध्यम से इसे व्यक्त किया गया है। धन वह है जो मनुष्य की पूजी (धनम) और 'द्रव्य' हो, जो उपार्जित (वित्त) हो, जिसका व्यक्ति विनियोजन (स्वपातय) कर सके, जो सचय (अथ) का परिणाम हो, जो विभव' का स्रोत और 'भोग्य' हो और जो हस्तान्तरणीय (Transferable) होने के कारण व्यवहाय हो अर्थात जो विवाद (Dispute) तथा मुकदमबाजी (Litigation) का कारण हो[2]। धन को हिरण्य कहा गया है जिसके अथ है—सोना चादी सोने का बना वतन, मूल्यवान धातु धन, सम्पत्ति तथा कौडी इत्यादि[3]। वैदिक साहित्य म पशु को धन का मुख्य साधन माना गया है किन्तु पाली म लिखे बौद्ध ग्रथ मिलिन्द पथ म धन की श्रेणी म जिन वस्तुओ को रक्खा गया है उनम पशु का उल्लेख नही है जो इस तथ्य का प्रमाण माना जा सकता है कि बौद्धकाल म धन का पशुपाल्य (Pastoral) आधार समाप्त हो गया था। बौद्ध ग्रन्थो म कृषि और व्यापार को वत (आर्थिक क्रिया) का आधार माना गया है। महाभारत म भी वत को ससार का मूलाधार माना गया है। जब तक राजा वत को साध रहता है सभी कुछ सुचारुरूप म चला करता है। कमण्डक नीतिशास्त्र म यह कहा गया है कि वत के विनाश के साथ साथ ससार का भी विनाश हो जाता है। धमशास्त्रो म कृषि, पशुपालन औद्योगिक कलाओ व्यापार तथा ऋण देने को वत के आधार कहा गया है[4]।

---

1 गोखले बी० जी० वही पृष्ठ 54

2 वही

3 आप्टे, बी० एस० वही

4 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 55

ऐतिहासिक सन्दर्भ में विचार करने पर, अर्थ परम्परा में कई विचार प्रवाह एक साथ प्रवाहित होते हुए दिखाई पड़ते हैं। पहला ज्यों-ज्यों उत्पादन बढ़ता गया और प्रौद्योगिकी का विकास होता गया अर्थ की धारणा अधिक व्यापक होती गई। वैदिक काल में धन पशु में केन्द्रित समझा जाता था किन्तु बौद्धकाल में कृषि तथा व्यापार को धन का केन्द्र समझा जाने लगा। दूसरा, प्राचीन ग्रन्थों में धन की समष्टिवादी धारणा प्रतिपादित की गई है जबकि पंचतन्त्र तथा हितोपदेश जैसे जन मानस वाले ग्रन्थों में व्यक्ति का धनार्जन तथा समृद्धि का मुख्य केन्द्र माना गया है। तीसरा, एक ओर धन या वित्त, स्वापतेय भोग्य तथा व्यवहार्य माना गया है और, दूसरी ओर, विलास, वैभव तथा दिखाव की भर्त्सना की गई है[1]। चौथा, उत्पादन में लगे वर्गों की सामाजिक प्रतिष्ठा का सतत ह्रास हुआ है[2]। इन विभिन्न तथा परस्पर विरोधी विचार प्रवाहों का परिणाम यह हुआ है कि भारत में अर्थ की धारणा में गैर आर्थिक विचारों का समावेश हुआ और सारी अर्थ परम्परा इहलौकिक होते हुए भी पारलौकिकता की ओर उन्मुख हुई।

अर्थ की धारणा के साथ साथ त्याग तथा वैराग्य की भावना क्यों आई? अर्थ विचार में इहलौकिक विचारों के साथ-साथ, पारलौकिक विचारों का समावेश

---

1 मनु ने दिखावटी तथा अनावश्यक व्यय की भर्त्सना की है और शुक्र ने अपव्ययी को राज्य से निकाल देने का विधान किया है। विधि निर्माताओं ने साधारणतः धनियों द्वारा किए गए अपव्यय के लिए कड़े दण्ड का विधान किया है। इसका स्पष्टीकरण यह दिया जाता है कि भारत में अर्थ परम्परा धर्म प्रधान रही है, अर्थ नीति पर आधारित रहा है न कि केवल भोग पर, मानव क्रियाओं का केन्द्र मानव रहा है न कि धन, और हिन्दू विचार तथा संस्कृति धर्मोन्मुख (कर्तव्योन्मुख) रहे हैं। यहाँ अर्थ को केवल एक उपकरण के रूप में स्वीकार किया गया है क्योंकि अर्थ का उद्देश्य धर्मसाधना है। धर्म के माध्यम से अर्थ और अर्थ के माध्यम से धर्म की साधना, हिन्दुत्व का मुख्य उद्देश्य है। इसी कारण, हिन्दुत्व में अर्थ की धारणा गैर आर्थिक आधारों पर की गई है।

2 बौद्ध ग्रन्थों में उच्च तथा निम्न जातियों का बहुधा वर्णन मिलता है। निम्न जातियों के पेशों में साधारणतः आखेट, जाल लगाकर शिकार करना, चमड़े के काम, कुम्हारी, बाँस के काम, कपड़ा-बुनाई तथा नाई के काम को रखा गया है। धर्मशास्त्रों में उत्पादक वर्गों, वैश्य तथा शूद्र को निम्न सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान की गई है। वैश्य तथा शूद्र वर्गों के प्रति द्वेष वैदिक काल से चलता रहा है। कौटिल्य के अनुसार, राज्य जब चाहे तब वैश्यों को समाप्त करने का उसे अधिकार है। शूद्रों को प्रारम्भ से ही अन्य वर्गों का सेवक माना गया है—गोखले वही पृष्ठ 50

क्यो हुआ ? इसका उत्तरदायी धम को ठहराया जाता है। इसमे कोई स देह नही कि हि दू विचार की धमप्राणता ने ही अथ की धारणा म पारलौकिकता को पुट दिया है। कि तु यहा प्रश्न उठता है कि धम म ही पारलौकिकता का समावेश क्यो हुआ ? इसका एक उत्तर रहस्यात्मक तथा आध्यात्मिक है। इस उत्तर के अनुसार, जहा उच्चतम उद्दश्य मोक्ष है, वहा पारलौकिकता का विचार अवश्यभावी है। दूसरा उत्तर सामाजिक ऐतिहासिक है। सामाजिक ऐतिहासिक दष्टिकोण स, भारतीय समाज की पुनरावत्त विप न परिस्थितिया, आर्थिक पष्ठभूमि तथा वग सघष ने यहा के पारलौकिक विचार को स्थायी रूप से ज म दिया। मौय साम्राज्य के विकास तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के आदिवासी समाज के विश्रृ खल्न ने, पारलौकिक विचारो वाले सामाजिक आ दोल्न, बुद्धवाद तथा जनवाद को ज म दिया। गु प्त साम्राज्य के विश्रृ खलन स जो विप न परिस्थितिया अस्तित्व मे आइ उ होने वेदा ती विचारधारा को ज म दिया, इस्लामी सघात से हि दू समाज मे जो परि स्थितिया आइ उनके प्रभाव से पारलौकिक विचारधारा वाले दशना तथा भक्ति आ दोल्ना का आविर्भाव हुआ और वतमान समय मे अग्रे जी राज्य के माध्यम से योरोपीय सघात ने गाधीवाद को ज म दिया।

धम्कि युग ब्राह्मण क्षत्रिय सघष का युग है। बुद्धवाद क्षत्रिय सर्वोपरिता का परिचायक है लेकिन बुद्धवाद का ह्रास ब्राह्मणो की पुर्नविजय का। बौद्ध तथा जैन आ दोलनो को क्षत्रिय वश्य तथा शूद्रा से प्रोत्साहन मिला। कि तु धमशास्त्रो के युग म, ब्राह्मण क्षत्रिय सघष समाप्त हो गया था और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वश्य शूद्र के विरुद्ध सगठित हो गए थे। यह सगठन एक प्रकार की स धि थी जिसमे ब्राह्मणो का पौरोहित्य काय से उत्प न धार्मिक सत्ता मिली और क्षत्रियो को राज नतिक सत्ता। भारत की विशालता और प्रजातिक तथा सास्कृतिक भि नता ने यहा व परिस्थितिया उत्प न की जिनमे साम्राज्य सस्थापन का प्रोत्साहन मिला। भारतीय इतिहास मे साम्राज्य सस्थापको का तब तक सघष चलता रहा जब तक कि अग्रजो ने उसे एक राज्य-राष्ट्र मे न बाध दिया। साम्राज्य के मुख्य आधार हैं अतिरिक्त उपज जो कर के रूप म ली जाती है सेना नौकरशाही तथा सम्राट के प्रति जन भक्ति। भारत एक कृषिप्रधान प्रदश रहा है। कृषि पर आधारित ग्रामीण सामाजिक सगठन, जो मौय काल मे अस्तित्व म आया ने निष्प्रवाह आर्थिक यवस्था को ज म दिया। धातुओ की कमी ने प्रौद्योगिकी क स्तर का नीचा रक्खा। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्पादन का स्तर कम रहा। एक ओर उ पादन का स्तर कम रहा और दूसरी ओर उसी निम्न उत्पादन स्तर पर साम्रा य खडे होते रह जिसका अधिकतर भार वश्यो तथा शूद्रो का वहन करना पडा। ऐसी दशा म, जन भक्ति लाने के लिए सम्राटत्व को दवी अवगुठन मे लपेट दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्पादन का एक बडा भाग राज्य, सेना तथा नौकरशाही पर यय होता रहा

जिसके परिणामस्वरूप, एक ओर, जन दारिद्रय बढ़ा और, दूसरी ओर, राजसी वैभव तथा ऐश्वर्य। अर्थ परम्परा में व्याप्त पारलौकिकता का पुट जन-दारिद्रय से उत्पन्न विपन्नता की मानसिक अभिव्यक्ति है। लेकिन, यह केवल एक स्पष्टीकरण है न कि एक अंतिम सिद्धान्त।

हिंदू विचार परम्परा में, अर्थ सम्बन्धी प्रवृत्तिमार्गी विचारों को इहलौकिक जीवन की शारीरिक तथा मानसिक आवश्यकताओं के आधार पर स्पष्ट किया गया है और निवृत्तिमार्गी विचारों को आध्यात्मिक आवश्यकताओं के आधार पर। राधाकृष्णन द्वारा प्रस्तुत अर्थ की व्यवस्था इसी परम्परा में आती है। राधाकृष्णन के अनुसार, अर्थ का सम्बन्ध मानव जीवन के आर्थिक तथा राजनैतिक पक्षों से है। अर्थ से अधिकार तथा समृद्धिलिप्सा की लालसा शान्त होती है। सम्पत्तिलिप्सा मानव की एक आधारभूत एषणा है जिसकी अभिव्यक्ति अर्थ के माध्यम से होती है। धन तथा सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्न, एक उचित मानव आकांक्षा है। लेकिन इनसे आध्यात्मिक मुक्ति तभी मिलेगी जब ये प्रयत्न धर्मोन्मुख होंगे। अर्जन तथा भोग की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी इच्छा को किसी सीमा तक सीमित करें। आध्यात्मिक मुक्ति के लिए, मानव जीवन का नियमन आवश्यक है। धर्म नियमन का माध्यम है और अर्थ आध्यात्मिक मुक्ति का एक साधन। अतः, अर्थ धर्म पर आधारित है। धर्म इहलौकिक भी है और पारलौकिक भी। इसकारण धर्मोन्मुख अर्थ एक ओर, इहलौकिकता का साधन है और, दूसरी ओर पारलौकिकता का[1]।

३

काम

काम तीसरा पुरुषार्थ है। अर्थ की भाँति काम को जहाँ, एक ओर, इहलौकिक जीवन का एक आधारभूत साधन माना गया है, वहाँ दूसरी ओर, काम को निकृष्टतम पुरुषार्थ मानकर, उसे त्यागने की प्रेरणा दी गई है। साथ ही साथ, यह भी सत्य है कि हिंदू विचार-परम्परा में काम को धर्म साधन का एक आवश्यक उपकरण भी माना गया है—वह उपकरण जिसकी अवहेलना अवांछनीय है। अर्थ के साथ साथ, काम भी आध्यात्मिक मुक्ति की प्रक्रिया में आवश्यक योग देता है। अतः, काम को भी धर्मोन्मुख तथा धर्मप्राण बनाने का प्रयास किया गया है। हिंदू विचार परम्परा में, अर्थ-परम्परा

1 राधाकृष्णन, एस० दि हिन्दू व्यू आफ लाइफ पृष्ठ 80

की भांति, काम परम्परा भी इहलौकिकता तथा पारलौकिकता की विचार लहरियो पर हिलकार खाती रही है। लेकिन, काम सम्बन्धी इहलौकिक तथा पारलौकिक विचार परम्पराओ, उनके उदगम स्रोतो तथा उनके सम्बन्धो पर विचार करने से पहले, काम की धारणा तथा जीवन मे उसकी व्यावहारिक अभिव्यक्तियो की व्याख्या करना आवश्यक है।

आप्टे ने काम शब्द के जो अर्थ दिए है वे इस प्रकार हैं—अभिलाषा, इच्छा (एषणा), अभिलाषा पात्र, अनुराग तथा प्रेम, इन्द्रिय उपभोग के प्रति अभिलाषा या लगाव, जिसे चार पुरुषार्थों मे से एक माना गया है सम्भोग से तुष्टि की अभिलाषा, ऐन्द्रियता, कामदेव[1], रेतस, एक प्रकार का आम का पेड। इन सभी अर्थों के साराश के रूप मे काम से तात्पर्य निकलता है इन्द्रिय सन्तुष्टि की अभिलाषा से। इन्द्रिया है दस—कान, त्वचा, चक्षु (आख), जिह्वा, नासिका पायु (गुदा) उपस्थ (जननेन्द्रिय) हस्त (हाथ), पाद (पैर) तथा वाक (वाणी)। इनमे पहली पाच ज्ञानेन्द्रिय (बुद्धीन्द्रिय) कही गयी हैं और शेष कर्मेन्द्रिय क्योकि पहली पाच इन्द्रियो द्वारा जीव को प्रतिबोध होता है अर्थात उसे अपने पर्यावरण का ज्ञान होता है और शेष इन्द्रियो द्वारा जीव कर्मरत रहता है। किसी किसी ने 'मन' को भी एक इन्द्रिय माना है और मन को इन्द्रिय मान लेने से इन्द्रियो की सख्या ग्यारह हो जाती है। लेकिन अधिकतर मान्यता इसी पक्ष मे है कि मन इन्द्रियो का राजा है[2]। इन्द्रियो से जीव की जविक आवश्यकताओ

---

1 हिन्दू मान्यता में काम के देवता की कल्पना की गई है जिसे काम या मदन भी कहा जाता है। हिन्दू पौराणिक परम्परा में काम को कृष्ण तथा रुक्मिणी की सन्तान माना गया है। उसकी पत्नी है रति। देवताओं के प्रार्थना करने पर, काम ने शिव की तपस्या भंग की थी ताकि शिव पार्वती की ओर आकृष्ट हों और शिव-पार्वती के समागम से उत्पन्न पुत्र, देवताओ को कष्ट देने वाले राक्षस, तारक का वध करे। किन्तु, काम की धृष्टता से क्रुद्ध होकर शिव ने अपने तीसरे नेत्र की शक्ति से उसे जलाकर खाक कर दिया। रति के प्रार्थना करने पर शिव ने काम के पुनर्जन्म का वर दिया जिसके फलस्वरूप काम का जन्म प्रद्युम्न के रूप में हुआ। काम का सखा मित्र वसन्त है और धनुष बाण उसके अस्त्र शस्त्र है। काम के धनुष की प्रत्यचा मधुमक्खियों की पक्ति से बनी है और उसके बाण फूलों के है—आप्टे वही पृष्ठ 143

2 तैत्तरीयोपनिषद वल्ली 2, अनुवाक 3, "आत्मामनोमय। तेनपपूर्ण"।
आत्मान रथिन विद्धि शरीर रथमेव च
बुद्धि तु सारथि विद्धि मन प्रग्रहमेव च। कठोपनिषद वल्ली 3, अ० 1, श्लोक 3,
"मनो ब्रह्मेति व्यजानात। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
मनसा जातानि जीवन्ति। मन प्रयन्त्यभिसविशन्तीति"। तैत्तरीय, व० 3, अनु० 4

की पूर्ति होती है। श्वास लेना, मल मूत्र त्याग, प्रजनन और पर्यावरण का अनुभव जीव का इन्द्रियों द्वारा ही होता है। जबकि आवश्यकता के उत्पन्न होने पर जीव में जो शक्ति प्रवाहित होती है और उससे जो तनाव उत्पन्न होता है उसका निरसन इन्द्रियों द्वारा ही होता है। तनाव के निरसन से जो तुष्टि की अवस्था आती है, उससे सुख का अनुभव होता है। भूख लगना तनाव की स्थिति है लेकिन, भोजन मिलने के बाद, जो तुष्टि की अवस्था आती है, वह सुख की अवस्था है। एक ओर, इन्द्रियों का सम्बन्ध शरीर से है और, दूसरी ओर मन अथवा मानसिक प्रमेय से। इसी कारण, इन्द्रियों तथा उनकी स्वाभाविक क्रिया को शारीरिक तथा मानसिक सुख का आधार माना गया है। इसी दृष्टिकोण से, साधारणतः, काम का तात्पर्य सुख से लिया जाता है। एक अन्य साधारण अर्थ में काम से सम्भोग एषणा या सम्भोग का अर्थ लिया जाता है किन्तु यह दृष्टिकोण एकांगी है।

प्रभु ने काम का मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के सन्दर्भ में स्पष्ट किया है। प्रभु के अनुसार, काम से तात्पर्य उन एषणाओं से है जो मानव में भोग और जीवन तथा इन्द्रियों की तुष्टि के लिए होती हैं। इन एषणाओं में यौनएषणा भी शामिल है जिसके लिये साधारणतः काम शब्द का प्रयोग किया जाता है। इन्द्रिय भोग और एषणाओं के दृष्टिकोण से, काम शब्द का अर्थ अधिक व्यापक हो जाता है। प्राकृत आवेग (Natural Impulses) मूलप्रवृत्तियाँ[1] (Instincts), मानव एषणायें (Desires of Man) और मानव की प्राकृत मानसिक प्रवृत्तियाँ (Natural Mental Tendencies) काम के अन्तर्गत आ जाती हैं। काम में वे सभी धारणायें आ जाती हैं जिन्हें आधुनिक समाज मनोविज्ञान में अभिलाषाओं (Desires), आवश्यकताओं (Needs), प्रेरकों (Motives), आन्तरिक उद्दीपनों (Urges) या चालकों (Drives) की धारणाओं के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। आधुनिक सामाजिक

'इन्द्रियेभ्य परं मनो"—कठोपनिषद् वल्ली 3 श्लो० 2,

1) हिन्दी में मूलप्रवृत्ति का शब्द अंग्रेजी शब्द इंस्टिंक्ट (Instinct) के लिए प्रयोग किया जाता है। इंस्टिंक्ट से तात्पर्य लिया जाता है उन जन्मजात प्रवृत्तियों से जो प्राणी के जैविक संगठन में निहित होती हैं और उसके व्यवहार की चालक होती हैं। मानव-व्यवहार सीखा हुआ व्यवहार है। सीखा हुआ व्यवहार जन्मजात जैविक प्रवृत्तियों से प्रेरित नहीं होता है। मूलप्रवृत्ति का सिद्धान्त जानवरों के व्यवहार पर अधिक लागू होता है। इसकारण, आधुनिक सामाजिक मनोविज्ञान में मूलप्रवृत्ति सिद्धान्त को त्याग दिया गया है। मूलप्रवृत्ति शब्द का प्रयोग यदि किया भी जा सकता है तो केवल जन्मजात जैविक एषणाओं के लिए।

मनोविज्ञान में यह माना जाता है कि अपने आधारभूत रूप म मानव एक जीव है। अत मनुष्य की भी कुछ जैविक आवश्यकताएँ तथा क्षमताएं है। जैविक आवश्यकताओ के कारण, जब जीव म तनाव बढता है और आवश्यकता की पूर्ति के लिए शक्ति उत्पन्न तथा प्रवाहित होती है तो अपनी जैविक क्षमताओ के द्वारा जीव आवश्यकता की पूर्ति करके तनाव को दूर करता है। भूख लगने पर भोज्य की तलाश इसका उदाहरण है। आवश्यकता की सतुष्टि से सुख मिलता है। सुख अशत जैविक और अशत मानसिक होता है लेकिन सुख की अनुभूति एक मानसिक प्रमय है। जैविक आवश्यकता की पूर्ति क्रिया चक्र द्वारा होती ह अर्थात पहले आवश्कता का अनुभव होता है फिर एषणा का अभ्युदय होता है, फिर उस वस्तु अथवा परिस्थिति की तलाश होती है जिससे आवश्यकता पूर्ण हो जाय और आवश्यकता के पूर्ण होने पर सुख का अनुभव होता है। आवश्यकता की पूर्ति न होने स नैराश्य की भावना आती है। जैसा कि सस्कृति का विश्लेषण करते हुए लिखा गया है, मानव एक ऐसा प्राणी है जिसकी आधारभूत आवश्यकताएँ अशत जैविक है और अशत सामाजिक सास्कृतिक। जैविक के ही आधार पर सामाजिक-सास्कृतिक का निर्माण हुआ है। मनुष्य की जैविक आवश्यकताए तथा एषणाए अशत काम के अतगत आती हैं और अशत अथ के अतगत और सामाजिक सास्कृतिक आवश्यकताए धम तथा मोक्ष के अतगत। मानव की जैविक आवश्यकताओ की पूर्ति सामाजीकरण के द्वारा होती है जिसके लिय हिन्दुत्व मे आश्रमव्यवस्था तथा सस्कार का विधान किया गया है।

इस प्रकार, काम से तात्पय मानव की आधारभूत जैविक आवश्यकताओ और एषणाओ से है जिनकी अवहेलना नही की जा सकती है क्योकि बिना उनकी पूर्ति के मानव अस्तित्व ही असम्भव है। काम तृप्ति वाछनीय है क्योकि काम तृप्ति के बिना न तो जीवन और समाज का धारण हो सकता है और न धम का। काम की आवश्यकता तथा महत्ता को अनेक प्रकार से व्यक्त किया गया है। महाभारत मे कहा गया है कि धम अथ और काम की साधना का स्वाभाविक परिणाम है सुख, जिसस अधिक महत्वपूर्ण और कुछ नहीं है। सुख वाछनीय है क्योकि सुख साधना स्व (Self) की एक विशेषता है। सदगुण और लाभ सुख के लिए ही अपनाये जाते हैं। सदगुण सुख का मूल है। सारी क्रियाओं का अन्ततोगत्वा उद्देश्य सुख है[1]। सुख, एक ओर मन की एक विशेष अवस्था है और, दूसरी ओर जीवन का एक आधार। लेकिन, अपने इन दोनो पहलुओ के साथ, जहाँ सुख इहलौकिक है वहा पारलौकिक भी। सुख का एक रूप शारीरिक है और दूसरा मानसिक। हिन्दू विचार म शरीर तथा मन को आवश्यकताओ की महत्ता को बराबर स्वीकार किया गया है जिसका प्रमाण यह है कि काम को जीवन का एक आदर्श मान लिया गया है। काम को एक पुरुषार्थ

---

1 प्रभु के आधार पर

के रूप में कल्पना हिन्दू विचार में व्याप्त इसी मान्यता को व्यक्त करती है कि काम एषणाओं की स्वाभाविक अभिव्यक्ति आवश्यक है क्योंकि उनका दमन सामाजिक तथा मानसिक अव्यवस्थाओं को प्रोत्साहित करता है। धर्म, अर्थ और मोक्ष के साथ काम के आदर्श को स्वीकार करने का तात्पर्य ही यही है कि जीवन दर्शन के पारलौकिक तथा इहलौकिक पक्षों का उचित समन्वय हो सके।

हिन्दू विचार में जहां एक ओर, काम की महत्ता स्वीकार की गई है और इस बात पर भी जोर दिया गया है कि पुरुषार्थ की साधना में काम-साधना एक आवश्यक आधार है वहां, दूसरी ओर इस तथ्य पर भी जोर दिया गया है कि काम केवल एक साधन है। किसी भी दशा में काम साध्य नहीं है। साध्य है मोक्ष, जिसका सहयोगी है आध्यात्मिक सुख, न कि शरीरी सुख। शरीरी सुख का अपना महत्व है लेकिन वह आध्यात्मिक सुख के मार्ग की केवल एक सीढ़ी है। शरीरी सुख केवल वहीं तक वांछनीय है जहां तक वह इन्द्रिय लोलुपता का नाश करने तथा आत्मा को प्रबुद्ध करके आत्मा को शरीरी बन्धनों से छुड़ाने का एक उपकरण है। इसीलिए, काम की आवश्यकता, महत्ता तथा वांछनीयता की कसौटी है धर्म। वही काम वांछनीय है जो धर्मोन्मुख हो। कौटिल्य ने काम को वांछनीय माना है न कि कामलोलुपता को। कामलोलुपता कौटिल्य के अनुसार अपयश तथा धनहीनता का कारण है। काम लोलुपता के ही कारण व्यक्ति चोरों, गवयों तथा अवांछनीय पुरुषों की नीच संगति में पड़ता है[1]। हिन्दू विचार में काम वांछनीय तथा आवश्यक भी है लेकिन साथ ही साथ काम मनुष्य का शत्रु भी है[2]। काम की वांछनीयता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि काम के बिना प्रजनन सम्भव नहीं है जिसके कारण हिन्दू विचार में विवाह तथा गृहस्थाश्रम को आवश्यक माना गया है।

हिन्दू विचार में अर्थ-परम्परा की भांति, काम परम्परा भी द्विमार्गी विचारों का विषय रही है। एक विचार परम्परा में काम को आवश्यक माना गया है लेकिन आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति के साधन के रूप में। इस परम्परा में काम को धर्मप्राण माना गया है और इसमें काम की व्याख्या आध्यात्मिक आवश्यकताओं के सन्दर्भ में की गई है। मनोविश्लेषण (Psycho analysis) के सिद्धान्तों के दृष्टिकोण से यह विचार-परम्परा काम के उन्नतीकरण (Sublimation) के विचार की परिचायक है। इस विचार परम्परा में आध्यात्मिकता तथा पारलौकिकता का प्राधान्य है और

---

1 गोखले बी० जी० वही पृष्ठ 76

2 मनुष्य के छ शत्रु माने गये हैं जिनमें से काम एक है। ये छ शत्रु इस प्रकार हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मत्सर (ईर्ष्या) (प्रभु वही पृष्ठ 80)। ये छ शत्रु जबकि मानसिक प्रमेय हैं और जैसा कि मनु द्वारा प्रस्तुत धर्म की व्याख्या से स्पष्ट है, इनका परित्याग धर्म साधना का लक्षण है।

इस पर एक ओर, जहा वैराग्य तथा सन्यास का प्रभाव रहा है वहाँ, दूसरी ओर गीता के निष्काम कर्मयोग का। धर्म की धारणा मे व्याप्त धति क्षमा, दम, अस्तेय इद्रिय निग्रह अभ्युदय तथा निश्रेयस जसे विचारो का सम्बन्ध इसी विचार-परम्परा से है। यह परम्परा आध्यात्मिक तथा निवृत्तिवादी है। काम सम्बन्धी दूसरी विचार परम्परा एकदम इसके प्रतिकूल है जिसके प्रतिनिधि हैं लोकायत सम्प्रदाय तथा चार्वाक दशन। लोकायत तथा चार्वाक सम्प्रदायो का जीवन दर्शन नितान्त भौतिकतावादी तथा इहलौकिक है। चार्वाक ने वैदिक परम्परा, उसके आध्यात्मिक सिद्धान्तो यज्ञवाद तथा पुरोहितवाद की भर्त्सना की और कल्पवाद की यह कहकर हसी उड़ाई कि यदि ज्योतिष्टोम के अनुष्ठान में बलि दिया हुआ पशु स्वग जाता है तो पशु के स्थान पर, बलि देने वाला अपने पिता की ही बलि क्यो नही चढाता है। चार्वाक के मत मे सारे यज्ञ तथा अनुष्ठान ब्राह्मणो ने अपने स्वार्थ के लिये ढूढ निकाले हैं। चार्वाक के लिए स्वग, नर्क, ईश्वर और मोक्ष कोरी कल्पनायें हैं। ससार न तो माया है और न क्षण भगुर। ससार और मानव जीवन से बढकर कोई और सत्य नही है। इसलिए मनुष्य का यह धर्म है कि जब तक जिये, सुख से जियें और ऋण लेकर भी घी पियें। यह देह तो भस्मीभूत (नाशवान) है इसका पुनरागमन कहाँ होता है ?' लेकिन, ऐसे विचारो की परम्परावादियो तथा जनो और बौद्धो ने बराबर भर्त्सना की है। तीसरा मत मनु का है जिसमे धर्म अर्थ और काम के उचित समन्वय पर ज़ोर दिया गया है। मनु के अनुसार, एक आदर्श सम्राट धर्म अर्थ और काम की उचित महत्ता को जानता है[1]। इस प्रकार हिन्दू विचार परम्परा म, एक ओर, काम से उत्पन्न सुख की साधना पर जोर दिया गया है और, दूसरी ओर, उसे एक न्यूनतम शारीरी आवश्यकता मान कर और उसे वैराग्य तथा सन्यास की ओर उन्मुख करके, मोक्ष का एक साधन माना गया है। हिन्दू विचारधारा पर पारलौकिकता का इतना प्रभाव रहा है कि काम को यहा के अधिकतर विचारको ने अवाछनीय वाछनीयता के रूप म ही देखा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि मानव जीवन मे काम की अभिव्यक्तिया के जितने साधन और प्रकार हैं उन्हें जहा उचित माना गया है वहा, साथ ही साथ उन्हे अनुचित भी कहा गया है।

काम के साधनो म नारी का मुख्य स्थान है और इसीकारण काम धारणा सम्बन्धी विचार-परम्परा मे नारी-सौन्दय के आदर्श और उसके रहस्य का काफी वणन है। नर-नारी के सत्सग से उत्पन्न सुख का स्रोत विवाहित प्रेम मे आदर्श म माना गया है। यही कारण है कि नारी के आदर्श सौन्दय का वणन पत्नी और मा[2] के रूप मे किया गया है। गरुड पुराण में कहा गया है कि वही स्त्री अपने पति की सच्ची पत्नी

---

1 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 76–77

2 जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी—गीता

है, जो अपने पति से मीठे ढंग से बोलती है, गृह-कार्य के प्रबन्ध में चतुर है, जिसका स्वत्व पति के स्वत्व से मिल गया है और जो अपने स्वत्व को पति के सुख के लिए अर्पित कर देती है। जिस पुरुष की पत्नी चन्दन के रूप से अपने शरीर को सजाती है, नित्यप्रति स्नान के बाद अपने शरीर को इत्रादि से सुवासित करती है, कम खाना खाती है और कम तथा मीठा बोलती है सदैव अपने पति में आसक्ति रखती है और अपने पति की प्रजनन इच्छाओं की पूर्ति के लिए सदव तयार रहती है तथा गृहस्थी के सुख और समृद्धि के लिए दयामय सद्‌गुणी कार्यों में रत रहती है, वह पुरुष, वास्तव में, मनुष्य नहीं वरन् स्वर्ग का देवता है[1]।

हिंदू विचारधारा में नर नारी के नैसर्गिक खिंचाव का काम का साधन माना गया है। नर नारी का नैसर्गिक खिंचाव ही प्रेम है जिसकी तीन प्रकार की अभिव्यक्ति मिलती है। नर-नारी के प्रेम की एक अभिव्यक्ति है दाम्पत्य-जीवन जो गृहस्थाश्रम का आधार है। इस सन्दर्भ में, रूमानी प्रेम एक सतत अभिलाषा नहीं है वरन् दाम्पत्य-जीवन का पूर्व रूप है। शकुन्तला-दुष्यन्त, मालती-माधव, नल-दमयन्ती और शिव-शक्ति की कथायें इसका उदाहरण हैं। इसका दूसरा रूप है एक 'सतत आध्यात्मिक अभिलाषा' का, जिसकी अभिव्यक्ति कृष्ण की लीलाओं तथा विद्यापति और चंडीदास के गीतों में हुई है। इस सन्दर्भ में, नर-नारी को आदि पुरुष तथा आदि प्रकृति के रहस्यात्मक प्रमेय समझा गया है। नर-नारी का संसर्ग, शरीर तथा आत्मा के नैसर्गिक संसर्ग का मेल है। काम इसी रहस्य की आवश्यक अभिव्यक्ति है जिसकी व्याख्या काम-शास्त्र और तन्त्रों में की गई है। खजुराहो के मंदिर में बने कामाभिव्यक्ति के मूर्ति चित्र इसी रहस्य की कलात्मक अभिव्यक्तियां हैं। साहित्य में इसी रहस्य को शृङ्गारिकता की शैली में व्यक्त किया गया है। यही शैली आगे चलकर नायिका भेद तथा नख शिख वर्णन की साहित्यिक परम्परा में प्रस्फुटित हुई। 'गोपी' और 'त्रिपुर सुन्दरी' इसी रहस्यात्मक अभिव्यक्ति में उत्पन्न धारणायें हैं।

हिन्दू विचारधारा में शृङ्गारिक अभिव्यक्ति का एक आधार आध्यात्मिक है और दूसरा इहलौकिक। इहलौकिक शृङ्गारिक प्रेमाभिव्यक्ति का प्रतीक है गणिका। हिंदू विचारधारा में नारी के दो रूप हैं—एक पत्नी का और दूसरा गणिका का। गणिका नर-नारी के नैसर्गिक खिंचाव की तीसरी अभिव्यक्ति है। 'गोपी' और 'त्रिपुर सुन्दरी' यदि आध्यात्मयुक्त अभिलाषा के धारणात्मक रूप हैं, तो गणिका इहलौकिक रूमानी प्रेम की अभिव्यक्ति का साधन है। गणिका की धारणा अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुई है। आम्रपाली, नगरवधू, विषकन्या और देवदासी उसके मुख्य रूप हैं। हिंदू विचारधारा में गणिका का एक लम्बा इतिहास है जिसका प्रारम्भ वैदिक काल से होता है। बौद्ध ग्रन्थों में गणिका और उसके कृत्यों के यहाँ-वहाँ अनेक वर्णन मिलते हैं। कौटिल्य ने

---

1 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 79

गणिका को समाज का एक आवश्यक अंग माना है और कूटनीति, गुप्तचर और दूती के कार्यों में उसके महत्त्व को स्वीकार किया है। लेकिन, साथ ही साथ, कौटिल्य ने गणिका के व्यवहार तथा पेशे पर नियन्त्रण रखने की राय दी है। वात्स्यायन ने कामसूत्र में गणिका और उसकी कलाओं का विशद वर्णन करके उसके ससर्ग से मिलने वाले सुख को वाछनीय माना है। इस्लामी प्रभाव के अन्तर्गत नारी के गणिका रूप को और भी प्राधान्य मिला। इस युग में, जैसा कि गोखले ने लिखा है, समाज की सुसस्कृत रुचियों का केन्द्र नर्तकी, गायिका, वेश्या और गणिका हो गई। सस्कृत नाटकों की व्याख्या करते हुए कीथ ने लिखा है कि यहाँ बहुपत्नीत्व की विलासिता के साथ साथ पुरुष के लिए गणिका के ससर्ग की विलासिता भी वाछनीय है। यहाँ पुरुष की बौद्धिक रुचियों का केन्द्र पत्नी नहीं वरन् गणिका है। साहित्य, कला, सगीत, नृत्य और नाटक का बौद्धिक सुख पुरुष को गणिका और उसकी सहयोगिनियों के ससर्ग से मिलता है[1]।

इसी सन्दर्भ में, हिन्दू विचारधारा में व्याप्त नारी के प्रति द्विविधापूर्ण विचारों को समझा जा सकता है। नारी एक ओर, पत्नी है पुरुष की पूरक तथा अर्द्धांगिनी है और, दूसरी ओर, प्रेमिका है। प्रेमिका के रूप में, एक ओर नारी प्रतीक है एक सतत रहस्यात्मक अभिलाषा की, पुरुष के प्रति सतत आकर्षित प्रकृति की या चैतन्य को आकृष्ट करने वाली माया की और दूसरी ओर, गणिका अथवा इहलौकिक प्रेमिका की—वह प्रेमिका जो पुरुष के बौद्धिक उद्दीपन का सबल है। पत्नी के रूप में नारी केवल त्याग तथा तपस्या की मूर्ति है उसका स्वत्व केवल पति में है। पतिव्रता का आदर्श ही यही है कि मन वचन, कर्म से पत्नी अपने को पति में लीन कर दे और अंधे, बहरे, क्रोधी तथा हीन पति का भी अपमान न करे। कथा में ऐसी पतिव्रता का भी वर्णन मिलता है जो अपने पति की इच्छा पूर्ण करने के लिये उसे वेश्या के पास ले गई थी। किन्तु, गणिका के समक्ष पुरुष का स्वत्व नहीं है। हिन्दू विचारधारा में पत्नी और प्रेमिका अलग-अलग रही हैं। यही कारण है कि जहाँ नारी पत्नी है माँ है पूज्य है, वहाँ वह प्रमदा भी है। जहाँ, एक ओर, नारी नर की खान है वहाँ, दूसरी ओर वह नरक का द्वार भी है। गणिका को भी, एक ओर, वाछनीय माना गया है किन्तु दूसरी ओर उसकी भर्त्सना की गई है। मनु ने गणिका को चोर और ठगों की श्रेणी में रक्खा है। गौतमधर्मशास्त्र में यह कहा गया है कि गणिका की हत्या करने वाले को कोई पाप नहीं लगता है और न वह किसी दण्ड का भागी ही होता है। सगीत तथा नृत्य का सम्बन्ध गणिका से रहा है। अत, उसे भी अवाछनीय माना गया है। धर्मशास्त्रों में यह भी विधान है कि गणिका तथा अभिनेता की साक्षी (गवाही) अमान्य है।

1. गोखले बी० जी० : वही पृष्ठ 79, 80, 81

काम-परम्परा की विचारधारा ने साहित्य में सुखानुभूति की अभिव्यक्ति के लिये रस सिद्धान्त को जन्म दिया। सौन्दर्य सुख का उद्दीपक है। अतः सौन्दर्यशास्त्र को काम परम्परा की विचारधारा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। कविता, नाटक, चित्रकला, संगीत और वस्तुकला इसी के अन्तर्गत आते हैं। सौंदर्य-सुख सिद्धान्त का आधार है रस सिद्धान्त। रस से तात्पर्य है मानव मस्तिष्क में निहित भाव प्रकारों से। मुख्य रस हैं आठ—शृंगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत। शान्त रस सम्भवतः जैनों और बौद्धों द्वारा निर्धारित किया हुआ है। रस की अभिव्यक्ति ध्वनि द्वारा होती है। लेकिन, रस की अनुभूति के लिये रसिक का होना आवश्यक है क्योंकि रस से उत्पन्न सुखानुभूति मानव-मस्तिष्क की वस्तु है। हिन्दू विचारधारा में प्रतिपादित रस सिद्धान्त इस बात का प्रमाण है कि यहाँ सौंदर्य-सुख को जीवन का एक अंग माना गया है किन्तु, साथ ही साथ उसे अवांछनीय भी। बौद्ध विहारों के सदस्यों के लिये संगीत तथा वाद्य संगीत सुनने की तथा नृत्य, नाटक (यहाँ तक कि कठपुतलियों का तमाशा तक) देखने की मनाही थी। धर्मशास्त्रों में कला सम्बन्धी पेशों को हेय मानने की प्रवृत्ति मिलती है[1]।

काम के अन्य साधनों के प्रति भी, इसीप्रकार द्विविधापूर्ण विचारधारा मिलती है। अनेक साक्षियों के आधार पर गोखले ने यह दिखाया है कि सुन्दर भोजन तथा वस्त्र, पेय, सुवासित अंगराग, अलंकार, आखेट, संगीत तथा अन्य कलायें और त्योहारों पर मनाई जाने वाली खुशियाँ हिन्दू जीवन का आधारभूत अंग रही हैं। समाज, गोष्ठी तथा आपानक का वर्णन मिलता है। समाज से तात्पर्य है एक प्रकार के क्लब जैसे संगठन से जहाँ कविता पाठ, नृत्य तथा संगीत का आयोजन होता हो। गोष्ठी से तात्पर्य उस संगठन से है जहाँ साहित्य तथा कला सम्बन्धी विषयों की चर्चा होती हो और आपानक से तात्पर्य है उस पार्टी से जो मदिरा-सेवन के लिये आयोजित की गई हो। ये तथ्य इस बात के प्रमाण हैं कि जीवन में भौतिक सुखों की साधना एक वांछनीय आवश्यकता है। लेकिन, साथ ही साथ, हिन्दू विचार में इस तथ्य पर भी जोर दिया गया है कि शरीर नश्वर है, संसार माया है, सभी कुछ नश्वर है, मानव-जीवन में शरीर नहीं आत्मा अधिक श्रेयस्कर है। विषयासक्ति से उत्पन्न सुख की अनुभूति वैसी ही है जैसे हड्डी चबाने वाले कुत्ते के मुँह से निकलने वाले खून के स्वाद से कुत्ते को होती है। यह अवश्य है कि हिन्दू विचार में गृहस्थाश्रम को सभी आश्रमों का आधार माना गया है और उसकी महिमा गाई गई है। लेकिन, साथ ही साथ इस तथ्य पर भी जोर दिया गया है कि गृहस्थाश्रम केवल साधन है, साध्य नहीं। काम पुरुषार्थ है अवश्य लेकिन काम ही श्रेयस्कर नहीं है। मानव जीवन का साध्य है निष्काम कर्म—वह कर्म जो आवश्यक है, जिसकी अवहेलना नहीं

---

1 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 87

की जा सकती किन्तु जिसके परिणाम के प्रति कर्ता की आसक्ति न हो। इसीलिये, उपमा के तौर पर कहा गया है कि मनुष्य को इस संसार में वैसे ही रहना चाहिये जैसे पानी में कमल रहता है।

हिन्दू विचार में अर्थ तथा काम सम्बन्धी विचारधारा इहलौकिक भी है और पारलौकिक भी। वेदों में जिस मानव जीवन की कल्पना की गई है, वह इहलौकिक है। पुराण तथा उपनिषदों पर पारलौकिक विचारधारा का प्राधान्य है। बुद्धवाद को एक प्रकार से इहलौकिक पारलौकिकता का हामी है क्योंकि बुद्धवाद में, जहां, एक ओर, इस जन्म के कर्मों पर जोर दिया गया है, ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार किया गया है, वहां, दूसरी ओर, आवागमन को माना गया है, इन्द्रिय निग्रह, अस्तेय और दम पर जोर दिया गया है, सभी कुछ शून्य माना गया है और मानव जीवन का सर्वोत्कृष्ट साध्य माना गया है कैवल्य अथवा मोक्ष। गीता में भी इसी इहलौकिक पारलौकिता के विचार का प्राधान्य है। वेदान्त दर्शन भी पारलौकिक विचारधारा से ओतप्रोत है। शंकराचार्य का शिववाद और कालान्तर में उत्पन्न होने वाला भक्ति आन्दोलन भी पारलौकिक विचारधारा से प्रभावित है। महात्मा गांधी द्वारा प्रतिपादित सत्याग्रह तथा सत्याग्रही की धारणाओं पर सन्तोष इन्द्रिय निग्रह अस्तेय और दम की विचारधाराओं का प्रभाव है। इस प्रकार, हिन्दू विचारधारा, एक ओर, इहलौकिक रही है और, दूसरी ओर, पारलौकिक। जैसा कि पहले कहा जा चुका है गोखले के अनुसार, भारतीय इतिहास में बार बार उत्पन्न होने वाली संकटापन्न तथा विपन्न परिस्थितियों ने हिन्दू विचार को पारलौकिक बना दिया है। लेकिन यहां प्रश्न उठता है कि क्या हिन्दू विचारधारा में व्याप्त पारलौकिकता का विचार केवल इतिहासजन्य है या, उसका कोई सामाजिक मनोवैज्ञानिक महत्व भी है। इस प्रश्न पर विचार करने के लिये चौथे पुरुषार्थ अर्थात मोक्ष की व्याख्या आवश्यक है।

४

मोक्ष

मोक्ष शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है जिनमें से मुख्य ये हैं—विमोचन छुड़ाना पलायन, स्वतन्त्रता, उद्धार, प्रस्थान अर्पण, मृत्यु छोड़ना अधःपतन, गिरना बिखेरना, दायित्व निभाना, ग्रहण की समाप्ति और जन्म तथा मृत्यु के चक्र से छुटकारा पाना। किन्तु पुरुषार्थ की धारणा में मोक्ष से तात्पर्य है आवागमन से छुटकारा पाना। हिन्दू विचार में सारा संसार ईश्वर अथवा ब्रह्ममय है। जीव उसी ईश्वर का अंश है। अद्वैतवादी दर्शन में जीव ईश्वर का वह अंश है जो माया से आवृत्त है। जीव ईश्वर से उत्पन्न हुआ है और ईश्वर में लीन होने की उसमें प्रवृत्ति है। शरीर

नश्वर है लेकिन आत्मा अमर है। ईश्वर में लीन होने के लिये जीव के लिये कर्म आवश्यक है। अपने कर्मों से ही जीव माया के बंधनों को तोड़कर ईश्वर में लीन हो सकता है। संसार में चौरासी लाख योनियां हैं और अपने कर्मों के अनुसार ही जीव किसी न किसी योनि में जन्म पाता है। हिन्दू के लिए, एक ओर, सभी योनियों के जीवों में समानता है और, दूसरी ओर, मानव जीवन एक सतत प्रक्रिया का परिणाम है। मानव जीवन दुर्लभ है, वह सत्कर्मों के प्रयास से ही मिलता है। मानव योनि धार्मिक उद्विकास का चर्मोत्कर्ष है। हिन्दू के लिये जीवन का भूत, वर्तमान और भविष्य अलग अलग नहीं है—वे एक प्रक्रिया और निरन्तर सम्बन्ध हैं। मानव जीवन एक वह अवसर है जिसमें रहकर जीव जन्म तथा मृत्यु के बंधनों से छुटकारा पा सकता है। अर्थात् जीव ईश्वर में लीन हो सकता है। अतः मानव जीवन एक संक्रमण की अवस्था है जिसमें धर्मानुसार जीवन व्यतीत करके जीव अभ्युदय और निःश्रेयस की ओर जा सकता है। शरीर के साथ-साथ संसार भी नश्वर है। अतः मोक्ष वह अवस्था है जहां जीव एक ओर, संसार के बंधनों से मुक्त हो जाता है और दूसरी ओर, वह ईश्वर में लीन हो जाता है। मोक्ष वह अवस्था है जहां जीव के लिये कर्म की आवश्यकता नहीं रह जाती है। मृत्यु मोक्ष का या मोक्ष की ओर अग्रसर होने का एक माध्यम है। वैयक्तिक जीवन के दृष्टिकोण से मोक्ष, धर्म, अर्थ और काम का स्वाभाविक परिणाम है। धर्म, अर्थ और काम जीव को समाज में बांधते हैं लेकिन मोक्ष इनसे छुटकारा दिलाता है। अर्थ और काम सामाजिक हैं लेकिन मोक्ष वैयक्तिक।

मोक्ष की धारणा रहस्यात्मक और आध्यात्मिक है। मोक्ष की धारणा का सम्बन्ध इस आधारभूत प्रश्न से है कि जीवन का अन्ततोगत्वा उद्देश्य क्या है और जीव का संसार तथा उस रहस्यात्मक शक्ति में क्या सम्बन्ध है जिसके लिये हिन्दुत्व में नित्य शब्द का प्रयोग हुआ है। सभी प्राणियों में केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसके सामने जीवन के अन्ततोगत्वा उद्देश्य का यह प्रश्न सदैव विद्यमान रहता है। इस प्रश्न का उत्तर खोजने में हिन्दुत्व में रहस्यात्मक विचार का अभ्युदय हुआ है जिसका स्रोत वेदों में वर्णित ऋत की धारणा है। हिन्दू के लिये मानव से परे कोई और सत्ता है। मानव अनादि नहीं है। अनादि है वह सत्ता जिससे स्वयं मानव उत्पन्न हुआ है। मानव-जीवन का उद्देश्य केवल मानव ही बने रहने में नहीं है क्योंकि मानव-जीवन क्षणभंगुर है। मानव शरीर जन्म, विकास, वार्धक्य तथा मृत्यु का शिकार है। मानव जीवन का स्वाभाविक उद्देश्य है उस अनादि में मिल जाना, क्योंकि जो अनादि है वही अपार है। मनुष्यत्व से देवत्व की ओर अग्रसर होना मानव-जीवन का उद्देश्य है। मोक्ष इसी उद्देश्य की पूर्ति का एक साधन है क्योंकि मोक्ष मनुष्य को मनुष्यत्व की ओर से देवत्व की ओर ले जाता है।

हिन्दुत्व में मोक्ष को मानव-जीवन का एक स्वाभाविक उच्चतम उद्देश्य माना गया है। हिन्दुत्व में सारा मानव जीवन एक शिक्षण क्रम है, जीवन के उच्चतम उद्देश्य का

प्राप्त करने का एक अवसर है। वर्णाश्रम व्यवस्था इस उच्चतम उद्देश्य को प्राप्त करने का मुख्य माध्यम है। आश्रम का अर्थ है अवस्था। आश्रम-व्यवस्था से तात्पर्य है ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास की उन अवस्थाओं से जिनसे गुजरता हुआ और जिनके माध्यम से हुई शिक्षा दीक्षा से व्यक्ति अपने को इस प्रकार अनुशासित करता तथा ढालता है कि वह अपने उद्देश्य के समीप पहुँच जाय। वर्ण से तात्पर्य समाज में मनुष्य के स्थान से है। समाज में मनुष्य आश्रम तथा वर्ण के अनुसार कर्म करता हुआ मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। पुरुषार्थ वह उपकरण है जिसके द्वारा व्यक्ति—एक ओर, वर्णाश्रम को साधता है और दूसरी ओर जीवन के उच्चतम उद्देश्य मोक्ष को। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मोक्ष पारलौकिक है और मोक्ष में वैराग्य की भावना निहित है। लेकिन मोक्ष नितान्त पारलौकिक नहीं है। बिना अर्थ और काम की साधना के मोक्ष की साधना नहीं हो सकती। धर्म अर्थ और काम की साधना से ही मोक्ष की साधना हो सकती है। मोक्ष धर्म, अर्थ और काम की साधना की प्रक्रिया की स्वाभाविक परिणति है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है मोक्ष का सम्बन्ध व्यक्ति से है। लेकिन, साथ ही साथ मोक्ष का सम्बन्ध उस व्यक्ति से है जिसका सामाजीकरण हो चुका है अर्थात जिसने धर्म अर्थ तथा काम की साधना कर ली है। इसीलिये कहा गया है कि बिना सामाजिक ऋण चुकाये अर्थात बिना धर्म, अर्थ तथा काम की साधना किये, व्यक्ति को मोक्ष नहीं मिल सकता है और न उसे मोक्ष की साधना करनी ही चाहिये।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि मोक्ष जीव के उदविकास की एक अवस्था है जिसकी ओर जीव स्वभावतया उन्मुख है। यह स्वाभाविक उन्मुखता मानव जीवन में प्रधानतम स्थान ग्रहण कर लेती है क्योंकि सभी जीवों में मानव उच्चतम है और उस रहस्यमयी सत्ता के अधिकतम समीप है। अतः जीवन को मोक्षोन्मुख बनाना मानव जीवन का धर्म है। धर्म इस स्वाभाविक उन्मुखता को उसकी स्वाभाविक गति प्रदान करता है। यह अवश्य है कि धर्म मोक्ष का एकमात्र साधन है। लेकिन यहां प्रश्न उठता है कि वह कौन से धर्मोन्मुख उपाय हैं जिनके माध्यम से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। इसका उत्तर यह दिया गया है कि वासना और मोक्ष परस्पर विरोधी हैं। अतः संसार के प्रति वीतराग होने से मोक्ष मिलता है क्योंकि मोक्ष वह अवस्था है जहां जीव इतना वीतराग हो जाता है कि वहां न तो वासना रह जाती है और न कर्म की आवश्यकता। इसी दृष्टिकोण से गीता में कहा गया है कि मोक्ष उसे मिलता है जो कर्मरत होने पर भी स्थितप्रज्ञ है जिसकी कर्मफल में आसक्ति नहीं है, जिसके लिये जय पराजय तथा सुख-दुख समान हैं। महाभारत में स्वधर्मपालन को मोक्ष का साधन माना गया है। स्वधर्म से तात्पर्य है व्यक्ति के वर्ण तथा आश्रम के अनुसार नियत कर्म से। किन्तु, मोक्ष का साधन केवल धर्मप्राण कर्म ही नहीं है। मोक्ष का साधन है निवृत्तिमार्गी ज्ञान से युक्त कर्म।

मनु के अनुसार, केवल धर्म कर्म ही से मोक्ष नहीं मिलता है। धर्म-कर्म से, अधिक से-अधिक अगले जीवन में सुख मिल सकता है। लेकिन, वह परमसुख, जहां से सांसारिक अस्तित्व की पुनरावृत्ति नहीं होती है, आत्मज्ञान से मिलता है। आत्मज्ञान, एक ओर, निवृत्ति की भावना में निहित है और, दूसरी ओर, 'आत्मवत सर्व भूतेषु' की भावना में। आत्मज्ञान का शाब्दिक अर्थ है आत्म, अपना अथवा आत्मा का ज्ञान। लेकिन, इसका व्यंजनात्मक अर्थ उस ज्ञान से है जो इस अनुभूति में निहित है कि सभी प्राणियों में एक जैसी आत्मा है। अतः सभी प्राणी समान हैं और सभी उसी रहस्यात्मक आदिशक्ति के विभिन्न रूप हैं। आत्मज्ञान का तात्पर्य है आत्मा के द्वारा आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने से। आत्मज्ञान के साधन हैं रागात्मिका प्रवृत्ति का दमन, आत्म निग्रह, वेदाध्ययन, तप और विद्या। भक्तिमार्गी विचारधारा में प्रपत्ति (ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण) को मोक्ष का प्रधान साधन माना गया है क्योंकि ज्ञानमार्ग सबके लिये सुलभ नहीं है। गीता में इन तीनों का समन्वय हुआ है। गीता के अनुसार, संसार कर्मक्षेत्र है क्योंकि संसार ही जीव को कर्म से बांधता है। जीवन यज्ञ है और कर्म उस यज्ञ की आहुति। गीता में समत्वबुद्धि से आश्रम, वर्ण, देश और काल के अनुसार किये हुये कर्म को ही मोक्ष का प्रधान साधन माना गया है। लेकिन, साथ ही साथ, गीता में उस कर्म की सर्वोपरिता दी गई है जिसके पीछे प्रपत्ति और स्थितप्रज्ञता की भावना है। गीता उस ज्ञान का उपदेश है जो मनुष्य को निवृत्तिमार्गी प्रवृत्ति की ओर प्रेरित करता है।

इस विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि मोक्ष का सर्वोपरि साधन है संसार तथा व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान। गीता में कहा गया है कि 'जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है' अर्थात ज्ञान मनुष्य को वीतराग तथा कामनारहित बना देता है। इसीकारण, 'ज्ञान के समान इस संसार में दूसरा कुछ पवित्र नहीं है। योग से—समत्व में पूर्णता प्राप्त मनुष्य समय पर अपने आप में उस ज्ञान को पाता है। श्रद्धावान, ईश्वरपरायण और जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान को पाता है और ज्ञान पाकर तुरंत परम शान्ति को पाता है'[1]। 'संन्यासी और योगी वह है जो कर्मफल पर अनाश्रित होकर कर्म करता है न कि समस्त क्रियाओं का त्याग करने वाला। संन्यास योग है और योग का अर्थ है मन के संकल्पों का त्याग'[2]। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि निवृत्ति ज्ञान की वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति को समत्व बुद्धि मिलती है। यह ज्ञान की वह अवस्था है जहां मनुष्य के लिये ऊंच-नीच, जन्म मृत्यु जवानी-बुढ़ापा, सुख-दुख और युद्ध तथा शान्ति सब इसलिये समान लगते हैं कि वे

1 गीता 4/37,38,39
2 गीता 6/1,2

सब किसी एक रहस्य से प्ररित है। मोक्ष की धारणा व्यक्ति को इस ज्ञान की ओर प्रेरित करती है क्योंकि यह ज्ञान ही मोक्ष की अतिम सीढी है। किन्तु, यह ज्ञान तभी मिल सकता है जब व्यक्ति को अपने शरीर तथा उसकी आवश्यकताओ और समाज तथा उसकी आवश्यकताओ का ज्ञान हो। यह ज्ञान उसी का मिल सकता है जिसने शरीर तथा समाज की साधना की हो। निवृत्ति ज्ञान, शरीर तथा समाज के स्तर से ऊपर उठा हुआ ज्ञान है।

मनुष्य के जीवन का आधार न केवल रोटी है और न केवल इन्द्रिय साधना। अर्थ और काम यदि सुख देते हैं तो दुख भी। अर्थ और काम तृप्ति और अतृप्ति से हैं। तृप्ति से सतुष्टि आती है लेकिन अतृप्ति नैराश्य को जन्म देती है। नैराश्य, जैसा कि आज के सामाजिक मनोविज्ञान म माना जाता है अनेक व्यक्तिगत तथा सामाजिक व्याधियो का जन्म देता है। व्यक्ति को नैराश्य से बचाने का एकमात्र साधन है ससार तथा व्यक्ति का समग्र ज्ञान, जिसम निवृत्ति निहित है और जो मोक्ष का साधन है। इसी सन्दर्भ मे, विमोचन तथा उद्धार के अर्थ म, मोक्ष की धारणा की सार्थकता सिद्ध होती है। मोक्ष पारलौकिक की ओर उन्मुख है किन्तु मोक्ष की धारणा ने इहलौकिक जीवन को ही प्ररित किया है। यह कहा जा सकता है कि मोक्ष की धारणा को भारतीय इतिहास की सकटकालीन तथा विपन्न परिस्थितियो से बल मिला है यद्यपि इसकी उत्पत्ति का आधार यही परिस्थितिया ही नही है। भारतीय जन जीवन मे मोक्ष की धारणा गगा की भाति प्रभावित होती रही है और सकटकालीन परिस्थितियो मे मोक्ष की ही धारणा ने भारत म व्यक्ति तथा समाज की नैराश्य से रक्षा की है। मोक्ष की धारणा का सम्बन्ध इस विचार स है जिसमे नर को नरोत्तम और पुरुष को पुरुषोत्तम बनाने की प्रेरणा है।

५

पुरुषार्थ समाजशास्त्रीय महत्त्व

पुरुषार्थ सिद्धान्त का सम्बन्ध उस जीवन दर्शन स है जिसमे यह माना गया है कि मानव-जीवन का सम्बन्ध इहलोक और परलोक दोनो से है। एक ओर, दीर्घायु मानव जीवन की ओर, दूसरी ओर एक साथ समृद्धि तथा मोक्ष की अभिलाषा इसका प्रमाण है। धर्म की धारणा के एक अग के रूप मे पुरुषार्थ सिद्धान्त दोनो लोको के साधन को एक सामञ्जस्य म लाने का प्रयास है। पुरुषार्थ सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि मानव स्वभाव के अनेक पहलू है जिन्हे एक जीवन सिद्धान्त म सगठित किया जा सकता है। स्वभावतया, एक ओर, मानव शरीरी आवश्यकताओ से बँधा है और दूसरी ओर, बौद्धिक आवश्यकताओं से, मानव

जीवन म, एक ओर, भौतिक आवश्यकतायें हैं और, दूसरी ओर, आध्यात्मिक, मानव जीवन, एक ओर, भावामुख है और, दूसरी ओर, सौदर्यामुख। मानव की प्रकृति ही ऐसी है कि मानव अस्तित्व स्वभावतया बहुमुखी है। ये बहुमुखी आवश्यकतायें परस्पर विरोधी भी हैं, लेकिन मानव जीवन म उनका अपना स्थान है जिसकी अवहेलना नही की जा सकती। बिना उनकी अभिव्यक्ति के मानव-जीवन अपूर्ण रहगा। मानव तभी मानव रहगा जब उनका उचित स्थान मिले। सुगठित व्यक्तित्व के विकास के लिये यह आवश्यक ह कि इन आवश्यकताओ के सापेक्षिक महत्व का स्वीकार करके, इनम प्रत्येक का मानव जीवन म उचित स्थान दिया जाय। पुरुषार्थ सिद्धान्त स, मानव जीवन म, इन आवश्यकताओ की अभिव्यक्ति के सामञ्जस्य या निर्धारित करन का प्रयास किया गया है। पुरुषार्थ सिद्धान्त वह आदर्श विधान है जिसके द्वारा इन आवश्यकताओ की पूर्ति के तरीके और मर्यादाए निर्धारित होती है। पुरुषार्थ सिद्धान्त म इहलौकिक भौतिक अभिलाषाओ तथा आध्यात्मिक जीवन का एक सामञ्जस्य म लाने का प्रयास निहित है।

पुरुषार्थ की साधना स जहा एक ओर मानव की यौन आवश्यकता प्रजनन एषणा और अधिकार तथा समृद्धि के प्रति उसकी लालसा की तृप्ति होती है वहा, दूसरी ओर, पुरुषार्थ मे मानव के कलात्मक तथा सांस्कृतिक जीवन की ओर इस ससार म ऊपर उठकर परमात्मा म लीन होन की साधना पूरी होती है। पुरुषार्थ का सम्बन्ध सम्पूर्ण मानव जीवन स है न कि उसके किसी अग विशेष स। मानव जीवन की आशाओ तथा उच्चाकाक्षाओ उसकी सयमी तथा विलासी प्रवृत्तिओ और उसम निहित उदात्तीकरण तथा आध्यात्मीकरण की भावनाओ की सन्तुष्टि पुरुषार्थ स होती है। द्वितीय तथा तृतीय पुरुषार्थ (अर्थ और काम) मानव की ऐहिक अभिरुचियो, क्रियाओ और प्रयासो के प्रतीक हैं जबकि धर्म और मोक्ष पारलौकिक अभिरुचियो, क्रियाओ तथा प्रयासो के। अर्थ, काम और मोक्ष परस्पर धर्म द्वारा जुड़े हुए हैं। मनुष्य म पशुत्व और देवत्व का समावेश हुआ है। पुरुषार्थ मनुष्य का देवत्व की ओर ले जाता है क्योकि पुरुषार्थ, मानव क्रियाओ को एक आदर्श जीवन दर्शन म सगठित करके, मानव की आध्यात्मिकता की प्राप्ति के प्रयास म सहायक होता है[1]।

प्रभु के अनुसार पुरुषार्थ सिद्धान्त स हिन्दू-सामाजिक जीवन के मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक (Psycho-moral) आधारो का समर्थन म सहायता मिलती है। पुरुषार्थ सिद्धान्त से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू जीवन-दर्शन म धर्म सबसे महत्वपूर्ण है और काम की महत्ता सबसे कम है। अर्थ का स्थान धर्म और काम के मध्य म आता है। मोक्ष का स्थान धर्म से बढ़कर है लेकिन, वास्तविक जीवन म, धर्म की प्रधानता इसलिये बढ़ जाती है कि वह मोक्ष का एकमात्र साधन है। पुरुषार्थ स मह

1 कपाडिया, के० एम० मरिज एण्ड फैमिली इन इंडिया पृष्ठ 25, 26, 27

भी पता चलता है कि सिद्धान्ततः मानव जीवन में धर्म अर्थ तथा काम के उचित समन्वय की आवश्यकता है। पुरुषार्थ का सम्बन्ध व्यक्ति तथा समाज दोनों से है। पुरुषार्थ से, एक ओर व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्धों के नियमों के औचित्य का प्रतिपादन होता है, उनकी क्रियाओं के उचित पारस्परिक सम्बन्धों की परिभाषा होती है और दूसरी ओर, पुरुषार्थ की धारणा में सन्निहित प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष विचारों से यह भी पता चलता है कि व्यक्ति तथा समाज के अनुचित सम्बन्ध क्या हो सकते हैं और उनसे किस प्रकार छुटकारा पाया जा सकता है। पुरुषार्थ से व्यक्ति तथा समाज और उनके पारस्परिक सम्बन्ध नियन्त्रित होते हैं[1]।



1 प्रभु, पी० एच० वही पृष्ठ 79 83

सातवाँ अध्याय

संस्कार तथा आश्रम

आश्रम संस्कार और पुरुषार्थ

हिन्दू विचारधारा में पुरुषार्थ धर्म का मुख्य साधन है। पुरुषार्थ का तात्पर्य समाज में व्यक्ति के उस क्रमिक विकास से है जिसमें उसकी लौकिक तथा आध्यात्मिक, इहलौकिक तथा पारलौकिक, जैविक तथा मानसिक और वैयक्तिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। मानव-जीवन गर्भाधान, जन्म, विकास और मृत्यु के जीवन चक्र में चलता रहता है। हिन्दू विचारधारा में मानव जीवन चक्र को दो रूपों में देखा गया है—एक है आवागमन का चक्र जिसमें आत्मा विभिन्न योनियों में होती हुई मनुष्य योनि में आती है और वहाँ से, यदि जीव का जीवन धर्मानुसार हुआ तो मोक्ष के माध्यम से उस परमशक्ति में लीन हो जाती है जो उसका मूल स्रोत है। दूसरा चक्र है व्यक्ति के जीवन का। इस चक्र में गर्भाधान, जन्म, विकास तथा मृत्यु का चक्र चलता रहता है और इसी जीवन चक्र पर व्यक्ति आते-जाते रहते हैं। पुरुषार्थ का सम्बन्ध दोनों प्रकार के जीवन चक्रों से है क्योंकि पुरुषार्थ, एक ओर, व्यक्ति के क्रमिक विकास में सहायता देता है तो, दूसरी ओर व्यक्ति को आवागमन के चक्र से छुटकारा भी दिलवाता है।

गर्भाधान, जन्म, विकास तथा मृत्यु प्राणी के जैविक गुण हैं। जैसा कि पहले

कहा जा चुका है समाज की उत्पत्ति मानव के जैविक गुणों में हुई है। प्रजनन और अतिजीविता जीव की आधारभूत विशेषतायें है। प्राणी का जीवन चक्र समाज में चलता है। मानव-समाज संस्कृतिमय है। अत, मानव समाज में व्यक्ति का जीवन चक्र संस्कृतिमय हो गया है। अर्थात गर्भाधान जन्म, विकास तथा मृत्यु के साथ अनेक प्रादर्श नियम तथा अनुष्ठान जुड गए हैं। ये अनुष्ठान सर्वत्र पाये जाते हैं यद्यपि इनकी अभिव्यक्ति, देश काल और सामाजिक आदर्श के अनुसार, अलग अलग समाजों में अलग अलग पाई जाती है। मानवशास्त्रियों ने इन अनुष्ठानों को राइटस आफ पसेज (Rites of Passage) की संज्ञा दी है क्योंकि इन अनुष्ठानों के द्वारा, एक ओर, व्यक्ति का सामाजीकरण होता है उसे उसकी उचित तथा आवश्यक सामाजिक प्रतिष्ठा (Social Status) और भूमिका (Role) मिलती है और, दूसरी ओर, जैविक तथा मानसिक विकास क्रम के जीवन चक्र में उसे एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक पहुचने में सहायता मिलती है। जन्म, विवाह तथा मृत्यु से सम्बन्धित और सर्वत्र पाये जाने वाले अनुष्ठान इसका प्रमाण है। मानव-समाज में राइटस आफ पैसेज (Rites of Passage) व्यक्ति के सामाजीकरण (Socialization) तथा संस्कृतिकरण (Enculturation) का मुख्य माध्यम हैं[1]।

---

1 चपेल (Chapple) और कून (Coon) के अनुसार जीवन चक्र दो प्रकार के होते हैं—एक वयक्तिक तथा दूसरा सामाजिक। वयक्तिक जीवन चक्र से तात्पर्य व्यक्ति के जन्म विकास ह्रास और मृत्यु की जैविक विशेषताओं से न होकर, इनसे सम्बन्धित सामाजिक सास्कृतिक प्रथाओं से है। इसीप्रकार, सामाजिक चक्र का अर्थ चक्रिक वृद्धि या परिवर्तन से नहीं है। सामाजिक जीवन में व्यक्ति तथा समाज को प्रभावित करने वाले, कुछ नियमित तथा अनियमित परिवर्तन आते रहते हैं जिनसे सामाजिक अन्तर्क्रिया की सामान्य क्रियाशीलता में व्यवधान आ जाता है और उस व्यवधान से जो वयक्तिक तथा सामाजिक सकट उत्पन्न होता है, वह अनुष्ठानों द्वारा दूर किया जाता है। जन्म, विवाह तथा मृत्यु वे सकटापन्न अनियमित परिवर्तन हैं जो परिवार तथा सम्बन्धित वर्ग में व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करते हैं इन परिवर्तनों से सम्बन्धित अनुष्ठानों को राइटस आफ पसेज (Rites of Passage) कहा गया है क्योंकि इनके द्वारा अपने सामाजिक सम्बन्धों में व्यक्ति एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पहुँचता है। वर्षा का अधिक या कम या बिल्कुल न होना फसल का खराब होना महामारी फैलना इत्यादि ऐसे सकटापन्न परिवर्तन हैं जो सामूहिक जीवन को प्रभावित करते हैं। इनसे सम्बन्धित अनुष्ठानों (जैसे वर्षा लाने या महामारी को भगाने के अनुष्ठानों) को राइटस आफ इंटेन्सीफिकेशन (Rites of Intensification) कहते हैं क्योंकि इनसे सामाजिक अन्तर्क्रिया और भी तीव्र हो जाती है—

हिन्दू विचार के अनुसार, पुरुषार्थ की साधना वही व्यक्ति कर सकता है जिसका उचित और आवश्यक सामाजीकरण हो। पुरुषार्थ-साधना के द्वारा व्यक्ति के उचित गुणों का प्रतिफलन और उचित आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इसके लिये व्यक्ति के सामाजीकरण की आवश्यकता है जो हिन्दू विचारधारा के अनुसार संस्कार विधान तथा आश्रम व्यवस्था में पूर्ण होती है। जिन्हें मानवशास्त्री राइट्स आफ पैसेज कहते हैं उन्हें हिन्दू विचार में संस्कार कहा गया है। हिन्दू विचार में ऐसा माना गया है कि संस्कार से जीवात्मा का परिमार्जन तथा विकास होता है। संस्कार से ही व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की अवस्थाओं तक पहुँचता है। पुरुषार्थ साधना का सम्बन्ध श्रम तथा गुण से है। श्रम का सम्बन्ध व्यक्ति की प्रयास क्षमता और गुण का सम्बन्ध व्यक्ति की अन्तर्निहित क्षमताओं से है। जीवन चक्र में श्रम का उत्कर्ष धीरे धीरे होता है। इसीलिए हिन्दू विचारधारा में जीवन चक्र के आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) की धारणा की गई है। पहले आश्रम का सम्बन्ध पहले पुरुषार्थ से है, दूसरे आश्रम का दूसरे तथा तीसरे पुरुषार्थ से और तीसरे चौथे आश्रम का चतुर्थ पुरुषार्थ से। लेकिन आश्रमों में व्यक्ति का क्रमिक विकास संस्कार के माध्यम से होता है। इस प्रकार आश्रम तथा संस्कार हिन्दू विचार में व्यक्ति के समाजीकरण के मुख्य माध्यम हैं। व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास केवल आश्रम और संस्कार पर ही नहीं निर्भर है, व्यक्तित्व विकास में गुण एक प्रधान आधार है। गुण के ही आधार पर व्यक्ति को सामाजिक संगठन में एक स्थान मिलता है। हिन्दू विचारधारा में गुण (कर्म के साथ) सामाजिक संगठन का आधार है। गुण-कर्म पर आधारित सामाजिक संगठन वर्ण है। संस्कार वर्ण पर आधारित है और वर्ण संस्कार पर। संस्कार वस्तुतः आश्रम तथा वर्ण के बीच में आता है क्योंकि एक ओर, संस्कार आश्रम का आधार है और, दूसरी ओर, वर्ण का। लेकिन, संस्कार, आश्रम तथा वर्ण का उद्देश्य है पुरुषार्थ-साधना और पुरुषार्थ-साधना का ध्येय है धर्म-साधना। इसीलिये धर्म का एक रूप वर्णाश्रम धर्म है।

२

संस्कार

संस्कार शब्द के अनेक अर्थ हैं: पूर्ण करना, शुद्ध करना, परिष्कृत करना, पूर्ण, परिमार्जित, व्याकरण के शुद्धि, शिक्षा संवर्द्धन, सजाना, परिष्कार।

संस्कार का अर्थ की दीक्षा, तैयारी, अलंकार, सजावट, पवित्र करना, मन का निर्मल विचार धारणा, क्षमता, भाव प्रभाव या क्रिया गुण, आत्मप्रजनन का गुण, स्मृति की क्षमता या स्मृति चिह्न, पवित्र करने वाला अनुष्ठान

और यज्ञोपवीत अनुष्ठान। इन अर्थों की तुलनात्मक व्याख्या से संस्कार से टालने, शुद्ध, सर्वाङ्गित, पवित्र तथा परिमार्जित करने का अर्थ निकलता है। संस्कार शिक्षा और प्रशिक्षा दोनों है। इस दृष्टिकोण से संस्कार वह है जिससे परिमार्जन हो, शुद्धता तथा पवित्रता प्राप्त हो, शिक्षा दीक्षा मिले और इन सबके फलस्वरूप क्रमिक विकास हो। संस्कार केवल एक उपकरण है जिसका सम्बन्ध अंशतः मानव के जैविक पक्ष, अंशतः मानसिक पक्ष और अंशतः सांस्कृतिक पक्ष से है। संस्कार से व्यक्ति का क्रमिक विकास होता है क्योंकि संस्कार के द्वारा व्यक्ति का सामाजीकरण होता है। मानव की जैविक मानसिक विशेषताएं, श्रम गुण और कर्म, संस्कार द्वारा प्रस्फुटित तथा विकसित होती है।

हिन्दू विचारधारा में संस्कार का अर्थ रूढ़िगत हो गया है। संस्कार से अर्थ लिया जाता है उन अनेक अनुष्ठानों से जो व्यक्ति के गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक किये जाते हैं। धर्मशास्त्रों के अनुसार व्यक्ति को अनेक संस्कारों से होकर गुजरना पड़ता है। धर्मशास्त्रों में संस्कार का तात्पर्य है शरीर संस्कार से क्योंकि गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक संस्कार ही शरीर को पवित्रता प्रदान करते हैं। हिन्दू विचारधारा में ऐसा विश्वास किया जाता है कि संस्कार मानव शरीर को इहलोक तथा परलोक दोनों में पवित्र करते हैं। संस्कार व्यक्तित्व के क्रमिक विकास के परिचायक हैं। संस्कार कितने हैं ? यह मतमतान्तर का विषय है। गृह्य सूत्रों के अनुसार संस्कार लगभग चालीस हैं जबकि गौतम धर्मसूत्र के अनुसार संस्कार अड़तालीस हैं। एक मत के अनुसार संस्कार सोलह हैं जबकि मनु के अनुसार संस्कार बारह है[1]। साधारणतः सोलह संस्कार माने जाते हैं जिनमें बारह मुख्य हैं और यहां उनका ही वर्णन किया जाता है[2]।

गर्भाधान और पुंसवन — गर्भाधान का अर्थ है गर्भ रखना अथवा या धारण करना। विवाह के बाद गृह प्रवेश के चौथे दिन वर वधु के मिलन के पहले, जिन अनुष्ठानों का विधान है वे गर्भाधान संस्कार के अन्तर्गत आते हैं। वर (पति) अग्नि में चार आहुतियां अर्पित करके वधू (पत्नी) से सम्भोग करते हुए जो मन्त्र पढ़ता है उसका अर्थ है "हमारे मन हृदय नाभि तन और त्वचा मिले हुए हैं मैं तुझे काम के बन्धन से बांधता हूँ और यह

1 प्रभु पी० एच० वही पृष्ठ 223

2 संस्कारों के दो पहलू है—एक वह पहलू जो धर्मग्रन्थों तथा धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित किया गया है और दूसरा वह जो वास्तविक व्यवहार में देखने को मिलता है और विचरणशील है। उदाहरणार्थ प्रभु ने यह लिखा है कि गर्भाधान संस्कार विवाह निष्पत्ति या चतुर्थी कर्म के समय किया जाता है। अवध में इसका व्यावहारिक रूप भिन्न है। वहां गर्भाधान के तीसरे या सातवें महीने में गर्भवती स्त्री की गोद भर कर यह संस्कार किया जाता है। यह प्रथा सभी जातियों और सभी परिवारों में समान रूप से नहीं पाई जाती है। यही हाल अन्य संस्कारों का भी है।

बन्धन अविमोचित रहेगा। पत्नी को आलिंगनपाश में बांधते हुए पति यह कामना करता है कि उनका प्रेम चकवा चकई की भांति अटल रहेगा। इसके बाद पति विष्णु, अश्विन, अग्नि और इन्द्र इत्यादि देवताओं से सुन्दर तथा बलिष्ठ पुत्र की प्रार्थना करता है। गर्भाधान संस्कार विवाह संस्कार का अन्तिम अनुष्ठान है[1]। गर्भाधान संस्कार उस प्रतिज्ञा की पूर्ति है जो वर वधू परिवार चलाने के लिये, विवाह के समय करते हैं। गर्भाधान संस्कार इस बात का प्रतीक है कि संवेदन और प्रजनन विवाह का एक आवश्यक अंग है। पुंसवन संस्कार का तात्पर्य उस अनुष्ठान से है जो गर्भधारण के तीसरे महीने में इसीलिए किया जाता है कि पुत्र ही उत्पन्न हो क्योंकि पुत्र परिवार नैरंतर्य का मुख्य माध्यम है। गर्भाधान तथा पुंसवन संस्कार जन्म के पहले के संस्कार हैं।

जातकर्म, नामधेय, निष्क्रमण, अन्नप्राशन तथा चूडाकर्म संस्कारों का सम्बन्ध शैशवी अवस्था से है। जातकर्म संस्कार जन्म के समय किया जाता है।

जातकर्म से चूडाकर्म तक

इस संस्कार से सम्बन्धित अनुष्ठान में पिता बच्चे का स्पर्शग्रहण करता है और उसके कान में किस मन्त्र का उच्चारण करता है उसमें बच्चे के दीर्घायु तथा मेधावी होने की कामना रहती है। जातकर्म संस्कार के बाद पहले बच्चे के मुंह में घी और शहद रखा जाता है और बाद में माँ बच्चे को स्तन पान कराती है। जातकर्म के बाद ही स्तनपान का विधान है। नामधेय संस्कार जन्म के दसवें या बारहवें दिन सम्पन्न किया जाता है। शिशु का नामकरण इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य है[2]। निष्क्रमण-संस्कार जन्म के चौथे महीने में होता है। इस संस्कार के साथ शिशु को घर से बाहर निकाला जाता है।

---

1 प्रभू, पी० एच० वही पृष्ठ 174-175

2 नामकरण, शास्त्रकारों के अनुसार अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शास्त्रकारों के अनुसार, नाम ऐसा होना चाहिए जिससे व्यक्ति के परिवार, समुदाय तथा वर्ण का पता चले। मनु के अनुसार नाम वर्ण का प्रतीक होना चाहिए। ब्राह्मण का नाम मंगल और संतोष (शर्मन) का सूचक होना चाहिए। शर्मन के आधार पर लोगों की यह मान्यता है कि ब्राह्मण के नाम का अंत शर्मन शब्द के साथ होना चाहिए (जैसे विष्णु शर्मा)। क्षत्रिय के नाम से बल तथा रक्षा का बोध होना चाहिए (जैसे बल वर्मा)। वैश्य के नाम से धन तथा पुष्टि (समृद्धि) का बोध होना चाहिए (जैसे वसुभूति) और शूद्र के नाम से दास भाव व्यक्त होना चाहिए (जैसे रामदीन या रामदास)। स्त्रियों के नाम उच्चारण में सरल, मनोहर और मंगलसूचक होने चाहियें। उनमें किसी भी प्रकार की आकुलता नहीं प्रगट होना चाहिए तथा उनकी अन्तिम मात्रा दीर्घ होनी चाहिए—प्रभू वही पृष्ठ 223-224

इस संस्कार में, अनुष्ठान के तौर पर, शिशु को सूर्य को अर्पित किया जाता है और वह इस बात का प्रतीक है कि इस संस्कार के बाद शिशु उस महानतम शक्ति के सम्पर्क में आता है जो इस संसार को प्रभावित करती है। निष्क्रमण संस्कार के बाद से शिशु परिवार के बाहर के सदस्यों के सम्पर्क में आना शुरू करता है। अन्नप्राशन संस्कार में, जन्म के छठे महीने बाद, शिशु को पहली बार दूध में उबाले हुए चावल (खीर) का माड चटाया जाता है। चूडाकर्म का दूसरा नाम मुण्डन भी है। इसमें शिशु के गर्भधारे बाल पहली बार उतारे जाते हैं। यह जन्म के पहले या तीसरे साल में होता है।

उपनयन संस्कार बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था के संक्रमणकाल में किया जाता है।

उपनयन सावित्री और समावर्तन

उपनयन संस्कार किस आयु में किया जाय, इस पर विद्वानों में मतभेद है। विद्वानों ने अलग अलग वर्णों के लिए अलग-अलग आयु का विधान किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार, ब्राह्मण का उपनयन संस्कार आठ साल की आयु में होना चाहिए, क्षत्रिय का ग्यारह साल की आयु में और वैश्य का बारह साल की आयु में। याज्ञवल्क्य के अनुसार उपनयन संस्कार परिवार की प्रथा के अनुसार, किसी भी उचित समय पर किया जा सकता है। उपनयन संस्कार के बाद से विद्याध्ययन प्रारम्भ होता है। इसलिये, कुछ के अनुसार ब्राह्मण का उपनयन पाँचवें साल में, क्षत्रिय का छठे साल में और वैश्य का आठवें साल में होना चाहिए। विद्वानों ने उपनयन संस्कार की कम से कम तथा अधिक से अधिक आयु का भी विधान किया है। इस विधान के अनुसार, ब्राह्मण बालक का उपनयन संस्कार आठ से सोलह वर्ष की आयु में, क्षत्रिय बालक का ग्यारह से बाईस वर्ष की आयु में और वैश्य का बारह से लेकर चौबीस वर्ष की आयु में होना चाहिए।

शूद्र के लिए उपनयन संस्कार का विधान नहीं है। हिन्दू विचारधारा में विद्वानों की ऐसी मान्यता रही है कि प्रत्येक व्यक्ति जन्म से शूद्र होता है और संस्कार से वह द्विज बनता है। द्विज से तात्पर्य है उसका जिसका दूसरा जन्म हो। एक जन्म माँ के गर्भ से होता है और दूसरा उपनयन संस्कार में। उपनयन संस्कार पुरुषार्थ की साधना में पहला चरण है क्योंकि उपनयन संस्कार के बाद से ही व्यक्ति विद्या प्रारम्भ करके आचार्यकुलवासी होता है और धर्म के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है। उपनयन संस्कार के फौरन बाद से ही आचार्य शिष्य को शौच (स्वच्छता) और आचार (सदाचार) की शिक्षा देता है जिसका तात्पर्य यह है कि शौच तथा आचार की दीक्षा उपनयन संस्कार के बाद से हो प्रारम्भ होती है। उपनयन संस्कार से व्यक्ति का वस्तुतः दूसरा जन्म होता है। उपनयन संस्कार के साथ व्यक्ति वस्तुतः क्रियाशीलता कर्तव्य उत्तरदायित्व, प्रत्याशाओं तथा आकांक्षाओं के उस संसार में जन्मता है जिसमें रहने के लिए उसे अपने को तैयार करने की शिक्षा दी जाती है।

उपनयन संस्कार के बाद से ही व्यक्ति का सक्रिय सामाजिक जीवन प्रारम्भ होता है। इसलिए उपनयन संस्कार का सर्वाधिक सामाजिक महत्व है। उपनयन संस्कार को मानवशास्त्र की भाषा में राइट आफ इनीशियेशन (Rite of Initiation) की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि उपनयन से व्यक्ति के सक्रिय सामाजिक जीवन तथा उसकी शिक्षा का सूत्रपात होता है। सूत्रपात संस्कार (Pites of Initiation) सर्वत्र पाए जाते हैं यद्यपि उनकी अभिव्यक्ति अलग अलग समाजों में अलग अलग है।

उपनयन को यज्ञोपवीत भी कहा जाता है। यज्ञोपवीत से तात्पर्य जनेऊ से है। उपनयन संस्कार में यज्ञोपवीत धारण किया जाता है। यज्ञोपवीत दो प्रकार से धारण किया जाता है—एक, कन्धे के नीचे कमी रखकर और, दूसरा, विवाह के समय। विवाह के समय पहने जाने वाले जनेऊ को दुगना जनेऊ कहते हैं। ब्राह्मणों में दोनों प्रकार से जनेऊ धारण किया जाता है। कुमार अवस्था में तीन तागे का जनेऊ धारण किया जाता है और दुगने जनेऊ के बाद में छः तागे का। क्षत्रियों और वैश्यों में, विवाह के समय जब दुगना जनेऊ का संस्कार होता है तो छः तागे का जनेऊ धारण किया जाता है। ऐसा माना जाता है कि जनेऊ के तीन तागे तीन ऋणों (देव ऋण ऋषि ऋण और पितृ ऋण) के परिचायक हैं। इन ऋणों को चुकाना व्यक्ति का कर्तव्य है क्योंकि ये सामाजिक ऋण हैं। विवाह के समय दोहरा जनेऊ धारण करने का तात्पर्य यह है कि पुरुष स्त्री के भी सामाजिक ऋणों का अपने ऊपर लेता है। ब्राह्मण वर्ग के लोगों का उपनयन संस्कार कमी रखकर होता है और क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण के लोगों का साधारण तौर पर।

उपनयन-संस्कार का सामाजिक मानसिक महत्व है और यह महत्व इस संस्कार से सम्बन्धित अनुष्ठानों से स्पष्ट होता है। जिस बालक का उपनयन-संस्कार होना है उसे यदि वह ब्राह्मण हुआ तो मूंज की यदि क्षत्रिय हुआ तो प्रत्यंचा की और यदि वैश्य हुआ तो ऊन या पाट की करधनी पहनाने का विधान है। फिर उसके हाथ में एक दण्ड दिया जाता है और फिर उसके शरीर पर यज्ञोपवीत धारण कराया जाता है। इन उपकरणों के साथ बालक विद्याध्ययन के लिए तत्पर हुआ समझा जाता है। आचार्य फिर उससे पूछता है कि क्या वह ब्रह्मचर्य का व्रत लेने के लिए तत्पर है? कुमार के 'हां' कहने पर आचार्य उसे अपना शिष्य बना लेता है और फिर उसे 'काम ब्रह्मचारिन' की संज्ञा देकर गायत्री मंत्र की दीक्षा देता है। हिन्दू जीवन में गायत्री मंत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। इस सावित्री मंत्र भी कहते हैं। इसका विशेष महत्व में उपयोग होता है। सावित्री मंत्र को लेकर उपनयन संस्कार में सर्वोपरि है। धर्मशास्त्रों में सावित्री मंत्र की दीक्षा को एक संस्कार माना गया है। गृह्यसूत्रों के अनुसार सावित्री संस्कार या तो उपनयन के तुरन्त बाद होना चाहिए या उपनयन संस्कार के बाद तीन या छः दिनों के भीतर। मनु के अनुसार सावित्री संस्कार ब्राह्मण कुमार की सोलह साल की आयु के पहले, क्षत्रिय कुमार का बाईस साल की आयु के-

पहले और वश्य कुमार की चौबीस साल की आयु के पहले होना चाहिए। सावित्री संस्कार और सावित्री मंत्र की साधना ब्रह्मचर्य आश्रम के कर्तव्यों का एक अंग है। उपनयन संस्कार के बाद से विद्याध्ययन आरम्भ होता है और जब विद्यार्थी जीवन की समाप्ति होती है अर्थात जब ब्रह्मचारी आचार्यकुलवास करके, गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट होने के लिए, वापस आता है तो समावर्तन संस्कार किया जाता है जो इस बात का प्रतीक है कि अब व्यक्ति की शिक्षा-दीक्षा समाप्त हो चुकी है और वह गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्व को सभालने के योग्य है।

उपनयन सावित्री और समावर्तन संस्कारों का सम्बन्ध व्यक्ति की शिक्षा दीक्षा से है—वह शिक्षा दीक्षा जो उसे सामाजिक कर्तव्यों का भार उठाने के योग्य तथा धर्मोन्मुख अर्थ और काम की साधना के उपयुक्त बनाती है। यज्ञोपवीत संस्कार के बाद से ही व्यक्ति के लिए त्रिकाल सध्या, दैनिक स्नान और शरीर की शुद्धता तथा खान पान में विवेकी व्यवहार का पालन आवश्यक हो जाता है। उपनयन संस्कार, इस प्रकार, आत्म अनुशासन तथा इन्द्रिय निग्रह का प्रारम्भ है। शिक्षा से मस्तिष्क पर अनुशासन आता है और शिक्षा के माध्यम से ही व्यक्ति धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार, उपनयन संस्कार मस्तिष्क तथा शरीर की उस शिक्षा दीक्षा का प्रवेश द्वार है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने को भावी जीवन के लिए तयार करता है। उपनयन संस्कार के बाद ही व्यक्ति ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करके और धर्म का वास्तविक स्वरूप समझ करके, वैयक्तिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं तथा कर्तव्यों के प्रति अवगत होता है और उनकी पूर्ति करने तथा उनको निभाने की योग्यता ग्रहण करता है।

विवाह और अन्त्येष्टि

विवाह संस्कार गृहस्थाश्रम का प्रवेश द्वार है। गर्भाधान संस्कार से लेकर समावर्तन तक व्यक्ति का सामाजीकरण पूर्ण हो जाता है और उसके बाद से वह सामाजिक ऋणों को चुकाने तथा सामाजिक कर्तव्यों के निभाने का यत्न करता है। विवाह संस्कार के साथ साथ व्यक्ति ब्रह्मचारी से गृहस्थ हो जाता है और समाज के आधार अर्थ तथा काम पुरुषार्थों की साधना में तत्पर होता है। जन्म से व्यक्ति समाज के अन्दर आता है और मृत्यु से समाज के बाहर जाता है। जन्म व्यक्ति के इहलौकिक ससार में आने का प्रवेशद्वार है और मृत्यु पारलौकिक ससार का प्रवेशद्वार है। मृत्यु से व्यक्ति पितृ के ससार में प्रवेश करता है। मृत्यु से व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्ध अस्त व्यस्त होने हैं जिन्हें अन्त्येष्टि संस्कार द्वारा पुन सामजस्य मिलता है।

विवाह और अन्त्येष्टि संस्कार अलग अलग कई विधि विधानों मे बटे हुए हैं। विवाह संस्कार के दो पहलू हैं—एक सवधान नियमों वर वधू के चुनाव और प्रशस्त (ब्राह्म दैव आर्ष, प्राजापत्य) तथा अप्रशस्त (आसुर गान्धर्व राक्षस तथा पैशाच) विवाह प्रकारों से सम्बन्धित है और दूसरा कर्म-काण्ड से। विवाह संस्कार में

वाग्दान (तिलक, वरीच्छा) लग्न (विवाह की तिथि निश्चित करना), मृदाहरण (मिट्टी लाना), गणपति पूजन, मण्डप प्रतिष्ठा, मातृ पूजन, वसोर्धारा पूजन, आयुष्य जप, नान्दी श्राद्ध का संकल्प, ग्रहशान्ति स्नान, वरयात्रा, मधुपर्क (वर का स्वागत, अगवानी), वधू-सत्कार, वधू का वस्त्रोपहार (चढ़ावा), समञ्जन (वर द्वारा वधू के साथ एक सूत्र में बंधने का संकल्प), गोत्राचार, कन्यादान, मंगलसूत्र, लाजाहोम, पाणिग्रहण, गठबन्धन, अग्नि प्रदक्षिणा, सप्तपदी, वधू का आशीर्वाद (सुमंगली), ध्रुव दर्शन, चतुर्थीकर्म और विवाह मण्डप का उत्थापन कर्मकाण्ड मुख्य हैं। ये कर्मकाण्ड पुरोहित द्वारा करवाये जाते हैं और हिन्दू विवाह-संस्कार के विधि विधान का मुख्य अंग हैं। किन्तु अनेक ऐसे कर्मकाण्ड हैं जो स्थान-स्थान पर भिन्न हैं और जिन्हें बिना पुरोहित की सहायता के घर के लोग विशेषकर नारियाँ करती हैं। विपरीत ये कर्मकाण्ड इस श्रेणी में आते हैं जो बहुधा नारियाँ करती हैं। लखनऊ के आस पास, अवध के गांवों में धोबी की स्त्री द्वारा वधू को सुहाग देने की प्रथा है जो अन्यत्र नहीं पाई जाती है।

इसीप्रकार अन्त्येष्टि-संस्कार के मुख्य कर्मकाण्ड हैं—प्राण त्याग (मरणासन्न व्यक्ति के मुंह में तुलसी या गंगाजल डालना), अर्थी सँवारना, शवयात्रा, अनुस्तरणी (गोदान), दाह, कपाल क्रिया, उदक कर्म (जल देना जो दस दिन तक चलता है), अशौच (मृत व्यक्ति के परिवार तथा कपाल क्रिया करने वाले को दस दिन तक अपवित्र मानना), अस्थि संचयन, शान्तिकर्म, श्मशान (पितृमेध अर्थात समाधि निर्माण), पिण्डदान (श्राद्ध) और सपिण्डीकरण (तेरही, बरसी)। अहिताग्नि, शिशु, गर्भिणी, नवप्रसूता तथा रजस्वला, विवाहिता तथा विधवा, परिव्राजक, संन्यासी तथा वानप्रस्थ, प्रवासी, अज्ञात मृत्यु तथा पतित (ब्रह्मघाती, प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न व्यक्ति, आत्म हत्या करने वाला, पाखण्डी और व्यभिचारिणी स्त्री) के लिए अलग अलग अन्त्येष्टि का विधान है। मनु के अनुसार पतित अन्त्येष्टि का अधिकारी नहीं है। हिन्दू विधि विधान में जीवच्छ्राद्ध (जीवित श्राद्ध) का भी विधान है। जिस प्रकार विवाह कर्मकाण्ड के विभिन्न रूप व्यवहार में देखने को मिलते हैं, वैसे ही अन्त्येष्टि कर्मकाण्डों के स्थानीय विचरित रूप देखने को मिलते हैं[1]।

संस्कारों से जहाँ एक ओर व्यक्ति का सामाजीकरण होता है वहीं, दूसरी ओर, संस्कारों से व्यक्ति का मानसिक तथा सामाजिक परिष्कार भी होता है। संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति धीरे धीरे सामाजिक जीवन के विभिन्न स्तरों में प्रवेश करता है। संस्कार वे सामाजिक उपकरण हैं जिनके माध्यम से व्यक्ति समाज का सदस्य बनता है और सामाजिक जीवन की गरिमा का अनुभव करता है। गर्भाधान से लेकर चूड़ाकर्म तक के संस्कार व्यक्ति को उसके परिवार तथा सम्बन्धित वर्ग की

1 संस्कारों के विस्तृत वर्णन के लिए देखिए राजबली पाण्डेय कृत हिन्दू संस्कार।

सदस्यता की गरिमा का अनुभव कराते है, उपनयन से लेकर समावर्तन तक के संस्कार उस सामाजिक प्रत्याशाओं (Social Expectations) से परिचित कराते हैं, विवाह संस्कार से उस वैवाहिक पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन की गरिमा का अनुभव होता है और अन्त्येष्टि संस्कार से पारलौकिक जीवन की महत्ता निर्धारित होती है। संस्कारों के ही माध्यम से व्यक्ति की मानसिक, जैविक तथा सामाजिक आवश्यकताओं का नियोजीकरण होता है जिससे पुरुषार्थ की साधना में सहायता मिलती है। विभिन्न संस्कारों से सम्बन्धित अनुष्ठानों में वह सामाजिक वातावरण उत्पन्न होता है जिसमें एक ओर, सामाजिक उद्देश्यों की महत्ता निखर उठती है और दूसरी ओर उस वातावरण में सामाजिक उद्देश्यों के संवेदनशीलता बढ़ जाती है जिसके कारण, व्यक्ति द्वारा, सामाजिक उद्देश्यों की ग्रहणशीलता बढ़ जाती है। संस्कारों का, एक ओर, सामाजिक महत्त्व है और दूसरी ओर, मानसिक। संस्कार से जीवात्मा का विकास होता है, ऐसा हिन्दू मनीषियों का मत है।

३

आश्रम-व्यवस्था

आश्रम व्यवस्था संस्कारयुक्त जीवन की एक स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। आप्टे के अनुसार आश्रम शब्द के मुख्य अर्थ है—वह स्थान, गृह कोठरी या कुटीर जहां संन्यासी निवास करते है अवस्था अवधि या व्यवस्था कालेज स्कूल (शिक्षण संस्था), वन या कुंज जहां तपस्वी तप करते है। आश्रम शब्द व्यक्ति के सामाजिक जीवन की चार अवस्थाओं (ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य वानप्रस्थ और संन्यास) में प्रत्येक के लिये प्रयुक्त होता है[1]। हिन्दू विचारकों की यह मान्यता है कि व्यक्ति का संस्कारयुक्त सामाजिक-जीवन ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य वानप्रस्थ और संन्यास की चार अवस्थाओं से गुजरता है। ये अवस्थायें पुरुषार्थ साधन के लिये आवश्यक है। इन चार अवस्थाओं के समन्वित रूप को आश्रम व्यवस्था की संज्ञा दी जाती है और इन आश्रमों से सम्बन्धित सामाजिक तथा वैयक्तिक कर्तव्यों को आश्रम धर्म की। संस्कार का सम्बन्ध व्यक्ति के सामाजीकरण तथा सामाजिक विकास से है। संस्कार विधान में व्यक्ति के सामाजिक विकास की अवस्थाये निहित हैं। व्यक्ति का जैविक तथा सामाजिक विकास साथ साथ चलता है। संस्कारों से जैविक विकास को सामाजिक मानसिक उन्मुखता तथा गति मिलती है। आश्रम व्यक्ति के जैविक सामाजिक तथा मानसिक विकास की मुख्य अवस्थायें हैं—वे

1 आप्टे, वी० एस० दि स्टूडेन्ट्स संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी पृष्ठ 89

अवस्थायें जिनसे व्यक्ति की जैविक एषणाओं को सामाजिक अभिव्यक्ति मिलती है और व्यक्ति पुरुषार्थ की साधना करता हुआ जीवन के परम लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त करता है। संस्कार और आश्रम व्यक्ति की जैविक एषणाओं तथा क्षमताओं के सामाजिक प्रतिपोषण (Nurture) के माध्यम हैं।

प्रभु के अनुसार, आश्रम शब्द की व्युत्पत्ति 'श्रम' धातु से हुई है। 'श्रम' का अर्थ है सक्रिय होना या प्रयास करना और सप्रयास अथवा सक्रिय होने की क्रियाशीलता या अवस्था। 'श्रम' का व्यंजनात्मक अर्थ हुआ वह स्थान जहां सक्रिय हुआ जाय या प्रयास किया जाय। इस व्युत्पत्ति से आश्रम का शाब्दिक अर्थ हुआ 'रुकने या विश्राम करने का स्थान'। आश्रम, अपने व्यंजनात्मक अर्थ में इस दृष्टिकोण से, प्रतीक हो जाता है जीवन यात्रा की एक अवस्था या स्थल का, जहां विश्राम करके, व्यक्ति अगली यात्रा अवस्था की तैयारी करता है। इस संदर्भ में चारों आश्रमों को मोक्ष की ओर ले जाने वाले जीवन के राजमार्ग के चार विश्राम स्थल कहा जा सकता है। महाभारत में व्यास ने आश्रम चतुष्टय को वह सोपान कहा है जो व्यक्ति को ब्रह्म तक ले जाता है। आश्रम का प्रारम्भिक धातुगत अर्थ चाहे जो भी रहा हो, आश्रम धारणा का ऐतिहासिक विकास सामाजिक संस्था के रूप में हुआ है। प्रत्येक 'आश्रम' एक सामाजिक संस्था है क्योंकि प्रत्येक आश्रम व्यक्ति के सामाजिक जीवन की एक अवस्था विशेष के लिए आदर्श नियम प्रतिपादित करता है। प्रत्येक आश्रम व्यक्ति के जैविक सामाजिक विकास क्रम की एक विशेष संस्थागत अवस्था है जिसमें रहकर व्यक्ति को उस अवस्था की दशाओं के अनुसार, अपने को इस प्रकार दीक्षित तथा सक्रिय और सप्रयास करना पड़ता है कि वह विकास क्रम की अगली अवस्था तक पहुँचने के योग्य हो जाय[1]। जीवन एक विकास-क्रम है और आश्रम व्यवस्था इसी विकासक्रम का एक सिलसिला। एक आश्रम (अवस्था) स्वभावतया दूसरे आश्रम में परिणत हो जाता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हिन्दू विचारधारा के अनुसार, व्यक्ति के सामाजिक जीवन को चार आश्रमों में बाँटा गया है। ये चार आश्रम हैं ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। ब्रह्मचर्य आश्रम वह अवस्था है जो उपनयन संस्कार से प्रारम्भ होकर समावर्तन संस्कार तक रहती है।

ब्रह्मचर्य आश्रम

ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति का विद्यार्थी जीवन आता है। हिन्दू मान्यताओं में विद्यार्थी को आचार्य कुलवासी, ब्रह्मचारी तथा स्नातक की संज्ञायें दी गई हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने का मतलब है आचार्य के आश्रम में रहकर और ब्रह्मचर्य जीवन का व्यतीत करते हुए, विद्याध्ययन करना। ब्रह्मचर्य आश्रम के लिये, हिन्दू विचारकों ने अनेक नियमों तथा कर्तव्यों का प्रतिपादन किया है जिनका एक ही उद्देश्य है और वह है

---

1 प्रभु पी० एच० वही पृष्ठ 83

आत्म संयम तथा साधारण जीवन यापन । इन नियमों में जोर इस बात पर नहीं है कि विद्यार्थी को क्या लेना चाहिए वरन जोर इस बात पर दिया गया है कि किन-किन वस्तुओं के बिना विद्यार्थी का काम चल सकता है क्योंकि ब्रह्मचर्य आश्रम का अन्ततोगत्वा उद्देश्य है धर्म का ज्ञान प्राप्त करना और संयम इन्द्रिय निग्रह अस्तेय और दम का व्यावहारिक दीक्षा लेना ।

ब्रह्मचर्य आश्रम में सभी व्यक्ति समान हैं चाहे वे किसी भी वर्ण के हों और चाहे वे धनवान घर के हों या गरीब घर के[1] । उपनयन संस्कार के साथ-साथ ब्रह्मचर्य-आश्रम प्रारम्भ होता है और उपनयन संस्कार साधारण जीवन यापन के प्रति पहली शिक्षा है । मूंज की करधनी लंगोटी, यज्ञोपवीत, दंड कमण्डल धारण किए हुए, व्यक्ति भिक्षाटन प्रारम्भ करता है क्योंकि भिक्षाटन ब्रह्मचर्य आश्रम का आधार है । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार भिक्षाटन में ब्रह्मचारी को विनम्र होना चाहिये और उसे लज्जा का अनुभव नहीं होना चाहिए क्योंकि वह अपने लिये नहीं वरन आचार्य तथा आश्रम के लिये भिक्षाटन करता है । भिक्षाटन में लज्जा या हीनता का अनुभव न हो इसलिये भिक्षाटन की शिक्षा उपनयन संस्कार में ही मिल जाती है । उपनयन संस्कार में कुमार पहली भिक्षा अपने माता पिता तथा सगे सम्बन्धियों से मांगता है । गुरु की आज्ञा से ही विद्यार्थी भिक्षाटन प्रारम्भ करता है । विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक है कि वह गृहस्थ से भिक्षा के अतिरिक्त और कुछ स्वीकार न करे । भिक्षाटन परमार्थ की पहली शिक्षा है ।

मनु के अनुसार, ब्रह्मचारी को केवल दो ही बार भोजन करना चाहिये—एक बार प्रातःकाल और दूसरी बार सन्ध्याकाल । ब्रह्मचारी को अल्पभोजी होना चाहिये । अति भोजन से बचना आवश्यक है क्योंकि अतिभोजन से अनारोग्यता तथा अनायुता बढ़ती है । अति भोजन से मनुष्य अपुण्य और अस्वर्गी होता है । दूषित भोजन के वही परिणाम होते हैं जो अतिभोजन के हैं । मांस मधु दूषित मिष्टान्न और ताम्बूल का सेवन विद्यार्थी के लिये त्याज्य है । भोजन की भांति साद वस्त्र पर जोर

---

1 हिन्दू शिक्षा व्यवस्था में आचार्य कुल में सभी विद्यार्थियों को एक ही सा जीवन बिताना पड़ता था । धनी तथा निर्धन, शासक तथा प्रजा और उच्च तथा निम्न प्रतिष्ठा वाले परिवारों से आए हुए विद्यार्थियों को समान जीवन बिताना पड़ता था । रामायण और महाभारत में आई हुई कथाओं से यह स्पष्ट होता है कि राजकुमारों को भी विद्यार्थी जीवन की वही कठिनाइयां उठानी पड़ती थीं जो अन्य साधारण परिवार के विद्यार्थियों को उठानी पड़ती थीं । कृष्ण सुदामा का विद्यार्थी-जीवन इसका उदाहरण है । भिक्षाटन पर्णशाला में निवास, वल्कल वस्त्र धारण और कुशा से बनी चटाई पर शयन सभी को समान रूप से अपनाना पड़ता था । प्रभु वही पृष्ठ 117

दिया गया है। मनु के अनुसार, ब्राह्मण ब्रह्मचारी को सनई की छाल से बने कपड़े, क्षत्रिय को रेशमी तथा वैश्य को ऊनी कपड़े में उतना शरीर ढकना चाहिये जितना आवश्यक है। इनके उत्तरीय (चादर) क्रमशः बारहसिंघा, रुरु (एक प्रकार का हरिण) और बकरी की खाल के बने होने चाहियें। इसीप्रकार, ब्राह्मण विद्यार्थी का जनेऊ कपास का, क्षत्रिय का सनई तथा वैश्य का ऊन का बना होना चाहिये। वशिष्ठ के अनुसार ब्राह्मण विद्यार्थी का कपड़ा लाल रंग का (मजिष्ठा से रंगा हुआ) और वैश्य विद्यार्थी का कपड़ा पीले रंग का (हल्दी में रंगा हुआ) होना चाहिये या वैश्य विद्यार्थी का वस्त्र कच्चे रेशम का हो। ब्रह्मचारी के हाथ में रहने वाला डंडा सीधा, मर-जल्प आर दखने में सौम्य होना चाहिये। उसके डंडे से किसी के हृदय में भय और उद्वेग नहीं होना चाहिये क्योंकि उसका डंडा उसकी रक्षा के लिये है न कि किसी पर आक्रमण करने के लिये। अंजन सुवासित तेल जूता तथा छाता उबटन नृत्य, गीत तथा वाद्य, द्यूत (जुआ) और जनवाद (गपशप) ब्रह्मचारी के लिये त्याज्य हैं। ब्रह्मचर्य व्रत के पालन के लिये यह आवश्यक है कि ब्रह्मचारी स्त्रियों से उतनी ही बात करे जितनी आवश्यक हो। सूर्योदय से पहले उठना, नित्यप्रति स्नान करना, दिन में न सोना, प्रतिदिन दो बार (प्रात और सन्ध्याकाल) सन्ध्या करना आचार्य के प्रति निष्ठा रखना ब्रह्मचारी के आवश्यक कर्तव्य हैं।

ब्रह्मचर्य आश्रम इसप्रकार, वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति एक ओर वेदाध्ययन करता हुआ धर्म के स्वरूप को समझता है और दूसरी ओर, साधारण धर्मनैपुण्य तथा आत्मनिग्रही जीवन बिताने की व्यावहारिक शिक्षा ग्रहण करता है। विद्यार्थी के लिये सत्यभाषी, आत्मनिग्रही अपरिग्रही और अहिंसक जीवन का आदर्श रक्खा गया है। ब्रह्मचारी के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने को काम क्रोध, मद और लोभ से दूर रक्खे। गौतम के अनुसार ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति जिह्वा, भुजा और आमाशय को नियन्त्रण तथा अनुशासन रखने की शिक्षा दीक्षा लेता है। ब्रह्मचर्य आश्रम उग्र तप, त्याग और कठोर जीवन के लिये अपनाई गई अनुशासित दीक्षा है जो गार्हस्थ्य वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों के लिये आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य आश्रम अथवा विद्यार्थी जीवन की एक और विशेषता है जो हिन्दुओं द्वारा निरूपित शिक्षा पद्धति में पाई जाती है। यहां विद्यार्थी आचार्यकुलवासी अर्थात् आचार्य के आश्रम का निवासी होता है। विद्यार्थी आचार्य के लिये पुत्र तुल्य है और विद्यार्थी के लिये आचार्य आध्यात्मिक पिता के समान। आचार्य तथा विद्यार्थी द्वारा यहां जाने वाली प्रार्थना जो प्रश्न न तैत्तरीय उपनिषद से उद्धृत की है, का सारांश इस प्रकार है, 'हे प्रभो !! हम दोनों की रक्षा करो। हम साथ साथ भोजन मिले। हम लोग पारस्परिक सहयोग तथा सामञ्जस्य के साथ ज्ञान प्राप्ति के लिये अपनी शक्तियों का उपयोग करें। हम दोनों के बीच कभी भी घृणा के भाव का आविर्भाव न हो।' यह प्रार्थना इस बात का प्रमाण है कि हिन्दू शिक्षा व्यवस्था में विद्यार्थी का

आचाय की पूण देख रख म छोडने का विधान है। ब्रह्मचय आश्रम म विद्यार्थी अपने परिवार म नही के बराबर सम्बध रखता है। अत, ब्रह्मचय आश्रम वह अवस्था है जिसम ब्रह्मचारी पूणतया उस पर्यावरण म रहता है जहा आचाय की प्रधानता रहती है विद्यार्थी के सामने परिवार तथा शिक्षा सस्था की परस्पर विरोधी मान्यतायें नही रहती हैं, ब्रह्मचारी के लिय सम्पूण पर्यावरण तथा आदश एकसम रहत है जिसके कारण जीवन का उच्चतम और अततागत्वा उद्दय तथा आदश सदव प्रखर रहता है। समाज नतिकता तथा अनतिकता का मिश्रण है। समाज म व्यक्ति पर नैतिकता तथा अनतिकता दोना का प्रभाव पडता है। आचायकुलवास नतिक धर्माचरण स ओतप्रोत रहता है। अत, ब्रह्मचय आश्रम से व्यक्ति को वह सम तथा नतिक पर्यावरण मिलता है जिसमे व्यक्ति का स्वतत्र व्यक्तित्व विकसित होता है। ब्रह्मचय आश्रम, वस्तुत उस स्वतत्र तथा आदश पर्यावरण को नियोजित करने का विधान है जिसस समाज के उच्चतम तथा अततोगत्वा आदर्शों के अनुकूल व्यक्तित्व विकसित हो सके[1]।

गाहस्थ्य आश्रम वह अवस्था है जो स्नातकोत्तर जीवन से प्रारम्भ होकर वानप्रस्थ के प्रारम्भ तक रहती है। व्यक्ति की स्नातक अवस्था ब्रह्मचय आश्रम का एक भाग है। लकिन, वास्तव मे, स्नातकत्व वह अवस्था है जो शिक्षा समाप्ति के बाद स विवाह सस्कार तक रहती है।

गाहस्थ्य आश्रम

स्नातक का अथ है स्नान किया हुआ। शिक्षा समाप्ति के बाद जब ब्रह्मचारी आचाय का आश्रम छोडता है तो उसके पहल वह स्नान करता है। यह स्नान इस बात का प्रतीक माना गया है कि व्यक्ति की शिक्षा पूण हो गई है और अब वह गृहस्थाश्रम मे प्रवश करने के उपयुक्त हो गया है। यह स्नान समावतन सस्कार का एक अग है, जो शिक्षा समाप्ति के बाद पितकुल मे वापस आने का प्रतीक है। ब्रह्मचय आश्रम धम को समझने की अवस्था है तो गृहस्थाश्रम धम का कार्यान्वित करके धन सचय की अवस्था। ब्रह्मचय आश्रम जीवन की तयारी है तो गृहस्थाश्रम कम क्षेत्र। ब्रह्मचय आश्रम म व्यक्ति पुरुषाथ के नाना पक्ष से अवगत होता है लेकिन गृहस्थाश्रम म व्यक्ति पुरुषाथ के कम पक्ष को अपनाता है। गृहस्थाश्रम वह अवस्था है जिसम व्यक्ति अथ तथा काम की साधना करता है।

गाहस्थ्य आश्रम वह अवस्था है जिसम व्यक्ति सामान्यतया धम की, विशेषतया, अथ, काम और कुलधम की साधना मे प्रवत्त होता है। गृहस्थाश्रम जीवन के महानतम उद्दश्य, मोक्ष, की साधना का पूवरूप है। अत, गृहस्थाश्रम एक साधन है साध्य नही। गृहस्थाश्रम एक सक्रमण काल है जिसम कुलधम की साधना करता हुआ व्यक्ति अगल आश्रमो के लिय, अपने को तयार करता है। गृहस्थाश्रम एक कतव्य

1 प्रभू, पी० एच० वही पष्ठ 118 120

है—वयक्तिक, पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन के प्रति एक दायित्व है—जिसे निभाना व्यक्ति का कर्तव्य है क्योंकि इस दायित्व के निभाने से धर्म-संचय होता है। गृहस्थाश्रम सामाजिक कर्तव्य है अवश्य लेकिन, व्यक्ति गृहस्थाश्रम में, अपने लिये प्रवेश करता है क्योंकि धर्म संचय से व्यक्ति को मोक्ष मिलता है। गृहस्थाश्रम प्रवृत्ति की ओर ले जाता है। लेकिन, व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह गृहस्थाश्रमी प्रवृत्ति को निवृत्ति की ओर ले जाय क्योंकि जीवन का अन्ततोगत्वा उद्देश्य है संयास और मोक्ष।

विवाह, गृह और कुल गृहस्थाश्रम के आधार हैं। विवाह से ही गृह तथा गृहस्थी की स्थापना होती है। गृह से तात्पर्य उस स्थान से है जो पितरों तथा पुत्रों का वासस्थान है। गृहस्थ गृह स्वामी नहीं है। वह तो वास्तव में पितरों और पुत्रों की सम्पत्ति का संरक्षक है। गृह वह माध्यम है जिससे कुल परम्परा चला करती है। इसी कारण, गृहस्थाश्रम वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति कुलधर्म का पालन करता है। गृह से सम्बंधित क्रियायें और कर्तव्य गृहस्थाश्रम में आते हैं। ये क्रियायें और कर्तव्य शास्त्रोक्त होते हैं। गृहस्थाश्रम में व्यक्ति उन सभी शास्त्रोक्त विधियों का पालन करता है जिनका उद्देश्य होता है कुल का परिरक्षण और सातत्य बनाये रखना। गृहस्थाश्रम का आधार है धर्म और धर्म के जिस पक्ष से पारिवारिक कर्तव्य नियमित होता है उसे कुलधर्म कहा गया है। कुलधर्म से तात्पर्य है कुछ निश्चित आनुवंश्य तथा कल्प कर्तव्या (Filial and Ritual Duties) से जिनका उद्देश्य पुरुषार्थ की साधना है। आनुवंश्य-कर्तव्या (Filial Duties) के रूप में कुलधर्म से तात्पर्य है परिवार के विभिन्न सदस्यों के उचित पारस्परिक सम्बन्ध से और कल्प-कर्तव्यों से तात्पर्य है पंच महायज्ञ यज्ञों से जिनसे ज्ञात अनजाने में किये पाप छूट जाते हैं और जिनका करना गृहस्थ के लिये आवश्यक है[1]।

महात्मा बुद्ध के अनुसार गृहस्थ को चाहिए कि वह जीव हत्या, अधर्म तथा असत्य से दूर रहे, दूसरों के साथ व्यवहार में पक्षपात, शत्रुता, निर्बुद्धिता और डर का स्थान न आने दे, मादक द्रव्यों के सेवन, कुसंग अकर्मण्यता और जुए में धन का अपव्यय न करे, बलात्ग्राही, ढोंग करने वाले, चापलूस और अपव्ययी मनुष्यों के संग से दूर रहे और अपने माता पिता, आचार्यों तथा वृद्धों का आदर करे। माता पिता तथा वृद्धों का आदर और उनकी आज्ञा का पालन बच्चों तथा तरुणों का परम कर्तव्य माना गया है। पत्नी के प्रति गृहस्थ का व्यवहार धर्म, अर्थ और काम की मर्यादाओं के अनुसार होना चाहिये। परिवार के सदस्यों में पारस्परिक आदर और एक दूसरे की चिंता सामान्यतः कुलधर्म का सार माना गया है[2]।

---

1 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 41

2 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 41

गृहस्थ के लिये नियत किए हुए इन कर्तव्यों से यह स्पष्ट होता है कि गृहस्थ का जीवन, एक ओर, धर्म, अर्थ और काम की साधना के लिये है और, दूसरी ओर, कुल तथा समाज के प्रति परमार्थ करने के लिए है। इसीलिए, गृहस्थाश्रम को निष्काम कर्मयोग का क्षेत्र कहा गया है। गृहस्थ का जीवन ऋषियों, पितरों कुल देवताओं, अतिथियों और भृत्यों की सेवा के लिए है। धर्म-शास्त्रों में निरूपित किए गए विधान के अनुसार दंपती केवल शेष भोग के अधिकारी हैं अर्थात, गृहस्थ और उसकी पत्नी उसी भोजन (भोग) के अधिकारी हैं जो ऋषियों देवों, पितरों गृह देवताओं, अतिथियों तथा भृत्यों के उचित भाग से शेष रह जाता है। गृहस्थ को कभी भी धन सचय की चिन्ता नहीं करनी चाहिये क्योंकि उसके जीवन का उद्देश्य धन संचय नहीं वरन धर्म-संचय है। धर्म संचय दान और यज्ञ से होता है न कि धन से। दान तथा यज्ञ का साधन होने के नाते, धन गृहस्थ के लिए एक साधन है न कि साध्य। गृहस्थाश्रम इस दृष्टिकोण से वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति अर्थ और काम की साधना करते हुए दान यज्ञ (अर्थात सांसारिक वस्तुओं के त्याग) की प्रशिक्षा लेता है।

गार्हस्थ्य जीवन से सम्बन्धित ऋण, यज्ञ तथा दान की धारणायें गार्हस्थ्य आश्रम की सामाजिक तथा मानसिक आवश्यकता महत्ता तथा गरिमा को स्पष्ट करती हैं। उपनयन-संस्कार का वर्णन करते समय यह लिखा जा चुका है कि यज्ञोपवीत के तीन तागे, हिन्दू मान्यताओं के अनुसार उन तीन ऋणों का प्रतीक हैं जो व्यक्ति को जन्म से मिलते हैं और जिनसे उऋण होना व्यक्ति का कर्तव्य है। ये ऋण हैं ऋषि ऋण, पितृ ऋण और देव ऋण। गृहस्थाश्रम इन ऋणों से उऋण होने का अवसर है।

ऋषि, पितृ और देव हिन्दू मान्यताओं के अनुसार व्यक्ति तथा समाज के तीन मुख्य विधायक हैं। पितृ व्यक्ति के जैविक स्वरूप का कारक है। पितृ से ही व्यक्ति का अस्तित्व है। पितृ पुत्र से मिलकर कुल बनता है। प्रत्येक व्यक्ति एक ओर, पितरों की शृंखला और, दूसरी ओर पुत्रों की शृंखला की एक कड़ी है। गृह पितरों तथा पुत्रों अर्थात भूत तथा भावी पीढ़ियों के सदस्यों का निवास-स्थान है। गृहस्थ और गृह कुल की भूत और भावी पीढ़ियों की शृंखला की वर्तमान कड़ियाँ हैं। व्यक्ति और कुल पितरों से है। अतः व्यक्ति पितरों का ऋणी है। गृहस्थ को गृहस्वामी अवश्य कहा गया है किन्तु वास्तव में हिन्दू मान्यताओं के अनुसार गृहस्थ तो गृह का केवल ट्रस्टी (Trusteo न्यासी) है। विवाह के अवसर पर जो पवित्र अग्नि जलाई जाती है उसको सदैव बनाये रखना गृही का धर्म है[1]। गृह सूत्रों में गृह बनाने के लिए जिन विधियों का वर्णन किया गया है और उनमें जो

---

1 प्रभु, पी० एच० वही पृष्ठ 217

मंत्र आये हैं उनमें गृह को वह स्थान माना गया है जहाँ मे पितृ उत्पन्न हुए हैं और जहाँ पुत्र तथा बछड़े आयेंगे। इन्हीं मन्त्रों में गृह की रक्षा, दीर्घायु तथा समृद्धि के लिए देवताओं का आवाहन किया गया है[1]।

गृह प्रवेश पर हवन करने की प्रथा है और धर्म शास्त्रों में इसका विधान है। रसोई परोसने के पहले देव पितरों के नाम पर चूल्हे के सामने भाग लगाने की प्रथा पाई जाती है। अग्नि वस्तुतः गृह देवता है। प्रत्येक हिन्दू गृह में देव पितरों का एक अलग स्थान होता है। प्रत्येक गृह के अपने पितृ होते हैं और अपने देव जो गृह की रक्षा किया करते हैं जिन्हें प्रसन्न रखना गृहस्थ का कर्तव्य है क्योंकि गृहस्थ इनका ऋणी है। पितृ यदि व्यक्ति के जैविक अस्तित्व के निमित्त हैं, देव सुरक्षा तथा समृद्धि के तो ऋषि उस ज्ञान के जिसके द्वारा व्यक्ति को धर्म का ज्ञान मिलता है। हिन्दू मान्यताओं के अनुसार व्यक्ति के पास अपना कुछ नहीं है वह जो कुछ भी होता है पित्रों, ऋषियों और देवों के कारण होता है। अतः, व्यक्ति उनका ऋणी है और उनके ऋण से उऋण होना व्यक्ति का कर्तव्य।

यज्ञ और दान वे उपकरण हैं जिनके द्वारा व्यक्ति इन ऋणों से उऋण होता है, धर्म संचय करता है और वानप्रस्थ तथा संन्यास-आश्रमों के लिए अपने को तैयार करता है। गार्हस्थ्य जीवन में अर्थ और काम की साधना के साथ साथ यज्ञ तथा दान की साधना में व्यक्ति में निवृत्त्योन्मुख प्रवृत्ति का अभ्युदय होता है जो व्यक्ति को मोक्ष की ओर ले जाती है। यज्ञ का अर्थ है बलि अथवा त्याग। गीता में यज्ञ का व्यंजनात्मक अर्थ निष्काम कर्म और परमार्थ के रूप में किया गया है। यज्ञ देवताओं तथा दूसरों के प्रति समर्पण है[2]। इसी निष्काम समर्पण की धारणा में दान की धारणा आ जाती है। क्रिया के रूप में दान का अर्थ है बाँटना, विभाजित

---

1 प्रभु, पी० एच० वही पृष्ठ 218

2 गीता के अनुसार, प्रजापति ने कल्प के अन्त में, प्रजा तथा यज्ञ दोनों को साथ साथ उत्पन्न किया। यज्ञ, प्रजा की इच्छित कामनाओं को देने वाला है। मानव प्राणी कर्म से बंधा हुआ है और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है। अतः, यज्ञ मानव प्राणी के लिये स्वभावतया आवश्यक है। यज्ञ से देवताओं की उन्नति होती है और देवताओं से मनुष्य को प्रिय भोग मिलते हैं तथा उसकी उन्नति होती है। जो पुरुष देवताओं को अर्पित किये बिना भोगों को भोगता है वह चोर है। यज्ञ देवताओं के प्रति समर्पण का एक माध्यम है। यज्ञ में परमार्थ की भावना निहित है क्योंकि यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूट जाते हैं और जो पापी अपने शरीर-पोषण के लिए ही पकाते हैं, वे तो पाप को ही खाते हैं। परमात्मा का वास यज्ञ में है। अतः लोक संग्रह में कर्मयज्ञ आवश्यक है (3 9-24)। यज्ञ तीन प्रकार के हैं—सात्विक,

करना और सीधा करना। सना के रूप में दान से सामान्यतः अर्थ लिया जाता है देना, सिखाना और अनुदान में। दान का अर्थ हस्तान्तरण, भेंट, उपहार और भिक्षा से भी है। दान का सामान्य अर्थ है वह जो दूसरों को दिया जाय। लेकिन हर प्रकार का देना दान नहीं है। दान के साथ क्यों, किसको और किस प्रकार का विचार जुड़ा हुआ है। श्रेष्ठ दान वही है जो कर्तव्य समझकर, बिना किसी प्रत्याशा के, देश, काल और पात्र के अनुसार दिया जाय। जिस दान में देनेवाले में प्रत्युपकार की भावना हो, दान के फल के प्रति आसक्ति हो, जिसके देने में निष्काम भावना न हो, देश, काल और पात्र का विचार न हो, दान लेने वाले के प्रति तिरस्कार की भावना हो, वह दान निकृष्ट है और त्याज्य है[1]। दान केवल भिक्षा नहीं है। दान व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन की आवश्यकता है क्योंकि दान देश, काल पात्र और निष्काम कर्म से बंधा हुआ है। दान कर्म यज्ञ है। दान वह माध्यम है जिसके द्वारा व्यक्ति समाज के प्रति अपना योगदान देता है। व्यक्ति समाज से है और समाज व्यक्ति से। समाज से मिले योगदान से व्यक्ति बनता है और व्यक्ति के योगदान से समाज चलता है। दान समाज के प्रति व्यक्ति का समर्पण है। दान से धर्म की साधना होती है। अतः, दान न तो प्रत्युपकार है और न वह प्रत्युपकार के लिए किया जाता है। दान कर्तव्य है। ऋषि, पितृ, देव और मनुष्य व्यक्ति से दान के भागी हैं क्योंकि व्यक्ति इनका ऋणी है। यही कारण है कि पठन पाठन और शिक्षण-कार्य को विद्यादान कहा गया है और विवाह विधियों में कन्यादान एक महत्वपूर्ण विधि है। हिन्दू मान्यताओं के अनुसार जहाँ दान है वहीं यज्ञ है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि आचार्यकुलवास यज्ञ, दान और तप धर्म के तीन स्कन्ध हैं। तप के तीन प्रकार हैं—शारीरिक, वाचिक और मानसिक। देव ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी की पूजा पवित्रता सरलता ब्रह्मचर्य और अहिंसा शारीरिक

राजस और तामस। शास्त्रविधि, अन्न, दान मन्त्र, दक्षिणा तथा श्रद्धा रहित यज्ञ तामस है, दम्भाचरण तथा फलासक्ति के लिये किया हुआ यज्ञ राजस है और शास्त्रविधि से नियत, परमकर्तव्य मानकर अनासक्तिभाव से किया हुआ यज्ञ सात्विक है और परम श्रेष्ठ है (17/11 12, 13)।

1 यज्ञ की भांति गीताकार ने दान के भी तीन प्रकार बताये हैं—सात्विक राजस और तामस। सात्विक दान ही श्रेयस्कर है। सात्विक दान 'देना उचित है ऐसा समझकर बदला मिलने की आशा के बिना, देश, काल और पात्र को देखकर' दिया जाता है। राजस दान वह है जो बदला मिलने के लिये अथवा फल को लक्ष्य कर और दुःख के साथ दिया जाता है। देश, काल और पात्र का विचार किये बिना बिना मान के, तिरस्कार से दिया हुआ दान तामस कहलाता है—गीता, 17/20 22

तप है, दुख न देने वाला सत्य प्रिय हितकर वचन तथा धर्म ग्रन्थों का अभ्यास वाचिक तप है, और मन की प्रसन्नता सौम्यता मौन आत्मसंयम तथा भावना शुद्धि मानसिक तप है[1]। कष्ट उठाकर दुराग्रहपूर्वक अथवा दूसरे के नाश के लिए किया हुआ तप तामस है। सत्कार, मान और पूजा के लिए दम्भपूर्वक किया हुआ अस्थिर तथा अनिश्चित तप राजस है। तामस और राजस तप अवाञ्छनीय हैं क्योंकि उनमें आसक्ति का भाव रहता है। हिन्दू मान्यताओं के अनुसार वाञ्छनीय है सात्विक तप जो शारीरिक वाचिक तथा मानसिक तपों की समभावयुक्त परम श्रद्धापूर्ण निष्काम-साधना है[2]। यज्ञ दान और तप व्यक्ति तथा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य करते हैं लेकिन उनका मूल ओम् तत् सत् में है। ओम् प्रतीक है, ब्रह्म का, उस रहस्यात्मक परम सत्ता का जिससे सृष्टि का आविर्भाव हुआ है और जो व्यक्ति का अन्तरात्मा या गन्तव्य है। ब्राह्मण वेद और यज्ञ ब्रह्म में ही उत्पन्न हुए हैं। इसलिए वही (तत्) ओम् सत्य तथा कल्याणकारी (सत्) है और सब कुछ असत्य है। ब्रह्मवादी 'ओम्' का उच्चारण करके (अथवा सभी कुछ ब्रह्ममय मानकर) यज्ञ दान और तपरूपी क्रियायें करता है। मोक्षार्थी तत (अर्थात सब कुछ उसी से है) की भावना से, कर्म फल की इच्छा न रखता हुआ, यज्ञ दान तथा तपरूपी क्रियायें किया करता है। सत्य कल्याण प्रशस्त कर्म यज्ञ तप-दान में दृढता और तत् के निमित्त कर्म के सरूप में सत् का भाव आता है। अतः जिस यज्ञ दान और तप में श्रद्धा नहीं है वह असत् है[3]। श्रद्धा से तात्पर्य है 'ओम् तत् सत्' के प्रति समर्पण जिसे गीताकार ने निष्काम कर्म कहा है।

यज्ञ, दान और तप की क्रियाओं में यज्ञ तथा ओम् तत् सत् के प्रति समर्पित अर्थ तथा काम की साधना, गृहस्थाश्रम का मूल है। लेकिन, इस साधना में शास्त्रोक्त कर्मों तथा संस्कारों का ही अवसर माना गया है। गृहस्थ का यह धर्म है कि वह शास्त्रोक्त विधियों से यज्ञ दान और तप का जीवन व्यतीत करे। गृह के उपकरण चूल्हा (चुल्लि) चक्की (पेषणी) झाड़ू (उपस्कर) सिल बट्टा और जलपात्र के प्रयोग से जाने अनजाने में जीव हत्या अवश्यम्भावी है। इस जीव हत्या से व्यक्ति को छुटकारा भी मिल सकता है। इस अर्थ यज्ञादि ग्रन्थों में छुटकारा पाने के लिए तथा दान और तप की साधना के लिए शास्त्रों में गृहस्थ के लिए पंचमहायज्ञों का विधान किया गया है। ये पंचमहायज्ञ हैं ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ। अध्ययन और विद्यादान से ऋषियों के ऋण से उऋण होता है। अध्ययन और विद्यादान में स्वाध्याय की साधना होती है। श्राद्ध अनुष्ठान में तर्पण और आग

1 गीता 17/14, 15 16
2 गीता 17/17 18 19
3 गीता 17/23 28

दना पितयन क प्रतीक है। पितयन से व्यक्ति पितऋण से उऋण होता है। दवताओ के प्रति अर्पित किया जाने वाला द्रव्य (आहुति) दवयन है जिसके द्वारा व्यक्ति दव ऋण म उऋण हाता है। भूतयज्ञ भोजन की आहुति के द्वारा मानव जीवन का प्रभावित करने वाली प्रतात्माआ (भूतो) का प्रसन्न करके, उनके अहितकर प्रभावो से बचने की पूजा है। अतिथि सत्कार तथा पूजा नयन मे आता है[1]। य यज्ञ दानप्रधान है न कि स्वार्थप्रधान। इन यनो को करना गृहस्थ का कर्तव्य है और यह कत य मानवीय तथा सामाजिक आवश्यकता है। ऋषि, पित, दव भूत तथा अतिथि की सवा गृहस्थ का कत य ही नही वरन उत्तरदायित्व है। बिना इनके ऋण स उऋण हुए गृहस्थ मोक्ष का अधिकारी नही होता है[2]। किन्तु गृहस्थ के लिए यह आवश्यक है कि वह इस दायित्व को निस्पृह होकर निभाय। निस्पृह तथा निष्काम होकर अथ तथा काम की साधना औरगा हस्थ्य आश्रम के कत य का निभाना तप नही तो और क्या है? हि दू मा यताओ म गाहस्थ्य आश्रम को तपस्या माना गया है और यना को नित्य सुख का स्रोत। इसी विचारधारा की पष्ठ भूमि म, हिन्दू गृह, परिवार के एकीकरण तथा उसके आध्यात्मिक तत्त्व की एक कडी बन गया है।

वानप्रस्थ तीसरी अवस्था है जिसम शास्त्र विधान के अनुसार व्यक्ति गाहस्थ्य आश्रम त्याग कर, तप के लिए वन म निवास करता है। गाहस्थ्य जीवन

वानप्रस्थ

निर्लिप्त सासारिक कतव्यो का जीवन है। वानप्रस्थ आश्रम गाहस्थ्य आश्रम स आग, *इसी निर्लिप्तता की ओर उठा हुआ एक और* कदम है। जब व्यक्ति पचमहायनो और अथ तथा काम की साधना करते हुए गृहस्था श्रम के कत यो को पूण कर ले और सभी ऋणो स उऋण हो जाय तब आश्रम धम के नियमानुसार व्यक्ति को सभी कुछ पुत्रो को सौंप कर जगल म निवास करना चाहिए और धीरे धीरे सासारिक वस्तुओ म अपना सम्ब ध कम करना चाहिए। वानप्रस्थ का अथ है वन म निवास करन वाला। वानप्रस्थ आश्रम के धमानसार कुल, गृह और ग्राम का आश्रय छोड कर व्यक्ति को, वनवास करते हुए और अपनी इन्द्रियो को वश म करत हुए, नियतेन्द्रिय बनन का प्रयास करना चाहिए। नियतेन्द्रिय होन के लिए शास्त्रो मे क दमूल के भोजन मीठी वस्तुओ क त्याग भूमि शयन वल्कल वस्त्र ब्रह्मचारी जीवन और रागरहित वनवासी जीवन का विधान किया

---

1 गोखले ने जिन पाच यज्ञों का वणन किया ह वे हैं—ब्रह्म-यज्ञ (अध्ययन तथा शिक्षण काय) पित यज्ञ (श्राद्ध तथा तपण), भूत यज्ञ (प्रेतमाओं के प्रति आहुतिया देना) अतिथि यज्ञ (अतिथि-सत्कार) और नयज्ञ (मानवता क प्रति त्याग)। जिसे गोखले ने अतिथि यज्ञ कहा ह वह प्रभू के अनुसार नयज्ञ में आता ह। गोखले ने जिन यज्ञो का वणन किया ह उनमें देव-यज्ञ नहीं ह।

2 प्रभू पी० एच० वही पष्ठ 216–218

गया है। वानप्रस्थ अवस्था में व्यक्ति को किसी भी प्रकार के विलासी प्रसाधनों की प्राप्ति का प्रयास नहीं करना चाहिए और भूल से प्राप्त होने पर भी उन कन्दमूलों का स्वीकार नहीं करना चाहिए जो ग्राम में उत्पन्न हुए हैं। वानप्रस्थी के लिए यह आवश्यक है कि वह अपना अधिक से अधिक समय श्रुतियों (वेदों) तथा उपनिषदों के अध्ययन में लगाए और तप के द्वारा शरीर की शुद्धि करके, अपनी आत्मा को प्रबुद्ध करे क्योंकि वानप्रस्थ मोक्ष की तैयारी का काल है।

वानप्रस्थ आश्रम वस्तुतः अध्ययन, चिन्तन, आत्मसंयम, दान तथा सभी जीवों के प्रति अनुकम्पा की भावना का जीवन है। इसके साथ-साथ, वानप्रस्थी के लिए पंचमहायज्ञों का भी विधान है। वानप्रस्थी को पंचमहायज्ञ उसी लगन से करने चाहिए जैसे कि उन्हें गृहस्थ करता है। वानप्रस्थ आश्रम में यदि व्यक्ति चाहे तो अपनी सहधर्मिणी (पत्नी) को भी साथ रख सकता है यद्यपि पत्नी के साथ होते हुए भी ब्रह्मचर्य व्रत आवश्यक है। वानप्रस्थ गृहस्थाश्रम के प्रसार की एक ऐसी अवस्था है जिसमें व्यक्ति धीरे धीरे संसार-त्याग की शिक्षा लेता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि ऐसी शिक्षा मानव के जैविक विकास की प्रक्रिया के अनुकूल है क्योंकि कर्मेन्द्रियों की बढ़ती हुई शिथिलता के साथ साथ, अर्थ और काम के प्रति निर्लिप्तता का भाव जहाँ आत्म-संयम को प्रोत्साहित करता है वहाँ व्यक्ति को नैराश्य से भी बचाता है। जहाँ जीवन का उद्देश्य मोक्ष हो, वहाँ ऐसी शिक्षा-दीक्षा आवश्यक भी जान पड़ती है।

संन्यास

संन्यास व्यक्ति के जीवन की चौथी तथा अंतिम अवस्था है। आश्रमों के दृष्टिकोण से व्यक्ति के जीवन की चार अवस्थायें हैं—ब्रह्मचारी, गृही, वानप्रस्थी और संन्यासी। संन्यासी वह व्यक्ति है जिसने संसार का पूर्ण त्याग कर दिया हो। इसलिए संन्यासी के लिए यह विधान है कि वह भिक्षा पर निर्भर रहे और भिक्षा भी दिन में केवल एक बार ले। यदि भिक्षा न मिले तो उसे दुःखी और यदि मिले तो सुखी नहीं होना चाहिए। संन्यासी के लिए सुख दुःख, लाभ अलाभ और जीवित तथा मृत समान हैं। संन्यासी के जीवन का आदर्श है वीतराग क्योंकि संन्यासी शब्द का अर्थ है सम् (अर्थात सभी कुछ) न्यासी (त्यागने वाला)। संन्यासी के जीवन का आदर्श है इन्द्रिय निग्रह, राग द्वेष रहित अहिंसक जीवन। संन्यास वस्तुतः व्यक्ति की वह मानसिक अवस्था है जहाँ व्यक्ति का सामाजिक व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है। संन्यासी के पारिवारिक बन्धन समाप्त हो जाते हैं वह एक गृहहीन परिव्राजक हो जाता है और सम्मानित स्थान पर केवल भिक्षाटन उसके जीवन का आधार हो जाता है। संन्यासी को अत्याश्रमी कहा गया है जिसका तात्पर्य यह है कि संन्यासी सभी आश्रमों से परे है।

संन्यास आश्रम में प्रविष्ट करना इहलौकिक जीवन में ही पारलौकिक जीवन में प्रवेश करना है। संन्यास आश्रम में ऐसा माना जाता है कि, व्यक्ति

का सांसारिक अस्तित्व समाप्त हो जाता है। संयास आश्रम में प्रविष्ट हुआ व्यक्ति मृत समझा जाता है। उसके बन्धु बान्धव प्रतीकात्मक रूप से उसकी अन्त्येष्टि कर देते हैं और ऐसा माना जाता है कि प्रतीकात्मक रूप से जलाई हुई चिता की राख और लपटों से संयासी के रूप में व्यक्ति का पुनर्जन्म हुआ है। संयासी होने वाला व्यक्ति अपना पहला नाम छोड़ कर दूसरा नाम रखता है। साधारण व्यक्ति के लिए दाह संस्कार का विधान है लेकिन संयासी के लिए समाधि संस्कार का क्योंकि संयासी होने वाले व्यक्ति की अन्त्येष्टि पहले ही हो चुकी हुई मानी जाती है। संयास आश्रम में व्यक्ति सांसारिक बन्धनों से उन्मुक्त हुआ समझा जाता है और इसीकारण संयासी के लिए वर्ण जाति ऊँच नीच तथा छूत-अछूत के सांसारिक बंधन निरर्थक है।

४

आश्रम व्यवस्था के आधार

हिंदू जीवन दर्शन में पुरुषार्थ, संस्कार और आश्रम अन्योन्याश्रित है। संस्कार और आश्रम व्यक्ति के जैविक विकास का सामाजिक आधार प्रदान करते हैं और पुरुषार्थ व्यक्ति के जैविक सामाजिक विकास को आदर्शिक आधार प्रदान करके व्यक्ति के लिए मानसिक प्रेरक बन जाते हैं। संस्कार आश्रम और पुरुषार्थ सामाजिक पृष्ठ भूमि में व्यक्ति के जैविक तथा मानसिक विकास को, एक ओर गति तथा दिशा प्रदान करते है और दूसरी ओर, उसे नियन्त्रित भी करते हैं। आश्रम का एक आधार है संस्कार और दूसरा पुरुषार्थ। संस्कार, आश्रम का सामाजिक आधार है और पुरुषार्थ आदर्शिक। प्रत्येक आश्रम व्यक्ति के जैविक सामाजिक विकास की वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति उस अवस्था से सम्बन्धित पुरुषार्थ की साधना करता है। ब्रह्मचर्य आश्रम वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति को धर्म के विभिन्न पहलुओं और अभिव्यक्तियों का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। इसी अवस्था में व्यक्ति यह सीखता है कि धर्म समाज तथा व्यक्ति का आधार है और मोक्ष जीवन का परम लक्ष्य। धर्म ब्रह्मचर्य आश्रम का और अर्थ तथा काम गृहस्थाश्रम के प्रमुख पुरुषार्थ हैं। गृहस्थाश्रम में अर्थ और काम उस व्यक्ति के जीवन के प्रमुख पुरुषार्थ हैं जिसने पहले ही धर्म का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर लिया है और जिसने यह सीख लिया है कि मोक्ष जीवन का सर्वोपरि पुरुषार्थ है और उसके लिए आत्म ज्ञान आवश्यक है[1]।

---

1 प्रभु के अनुसार गृहस्थाश्रम में अर्थ और काम पुरुषार्थों की प्रधानता इसलिए रखी गई है कि व्यक्ति के जैविक विकास में एक अवस्था वह आती है जब

वानप्रस्थ आश्रम में धर्म और मोक्ष जीवन के मुख्य पुरुषार्थ हो जाते हैं यद्यपि इनमें धर्म का स्थान प्रधान रहता है। संन्यास आश्रम में मोक्ष सर्वोपरि पुरुषार्थ हो जाता है। संन्यासी के लिए मोक्ष ही उसका धर्म हो जाता है। वास्तव में यदि देखा जाय तो, सभी आश्रमों का सम्बन्ध मोक्ष से है। हाँ यह अवश्य है कि कहीं मोक्ष को प्रत्यक्ष प्रधानता मिली है और कहीं अप्रत्यक्ष। जैसे सभी आश्रमों की परिणति संन्यास में होती है वैसे ही सभी पुरुषार्थों की परिणति मोक्ष में होती है।

आश्रम व्यवस्था एक ओर धर्म परम्परा से सम्बन्धित रही है और दूसरी ओर, यज्ञ परम्परा से। चारों आश्रमों को चार प्रकार के यज्ञ माना गया है। ब्रह्मचर्य-आश्रम को ज्ञान यज्ञ की अवस्था माना गया है। ब्रह्मचर्य आश्रम को ज्ञान यज्ञ की अवस्था माना गया है क्योंकि इस अवस्था में व्यक्ति आत्म नियन्त्रण तथा ज्ञान की दीक्षा लेता है। गृहस्थाश्रम को कर्मयज्ञ कहा गया है। गृहस्थाश्रम में अर्थ और काम की साधना करता हुआ, व्यक्ति पत्नी, सन्तान, कुल, आचार्य, अतिथि तथा देवों के प्रति अपने दायित्व को निभाता है। गृहस्थाश्रम, इस प्रकार, निःस्वार्थ सेवा की अवस्था है और निःस्वार्थ सेवा के द्वारा ही व्यक्ति समाज के प्रति अपना योगदान देता है। वानप्रस्थ आश्रम, एक ओर धीरे धीरे, अर्थ काम और संसार के त्याग की तथा, दूसरी ओर, उस अन्तिम यज्ञ की तैयारी है जो संन्यास आश्रम में पूर्ण होती है। संन्यास आश्रम में परमशक्ति के प्रति समर्पण करके व्यक्ति ज्ञानमय हो जाता है। संन्यास, एक ओर सम्पूर्ण त्याग तथा दूसरी ओर आत्माहुति की अवस्था है। आत्माहुति का अर्थ है आत्मा की आहुति अर्थात् पूर्णत्व की प्राप्ति के लिये आत्मा की परमात्मा के प्रति पूर्ण तथा निरन्तर अर्पण। आत्माहुति पूर्णत्व की इच्छा से उत्पन्न होती है। हिन्दू विचारधारा में पूर्णत्व ही उच्चतम उद्देश्य है। पूर्णत्व मानवी सत्ता

जीवन में अर्थ तथा काम की प्रधानता बढ़ जाती है क्योंकि अर्थ और काम व्यक्ति तथा समाज की आनुवंशिकता के अंग हैं। अर्थ और काम व्यक्ति तथा समाज की क्रियाशीलता के शारीरिक, भौतिक तथा मानसिक आधार हैं। व्यक्ति और समाज के लिए उनकी उचित अभिव्यक्ति आवश्यक है जिसे धर्म द्वारा नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया गया है। अर्थ और काम का धर्म तथा आश्रम व्यवस्था के द्वारा मानव जीवन में इस प्रकार समन्वय किया गया है कि उनकी उचित अभिव्यक्ति से मानव तथा समाज को वह रक्षा, स्थायित्व, वृद्धि तथा विकास मिले जो प्रत्येक व्यक्ति के चरित्र के अनुकूल हो। धर्म तथा आश्रम के द्वारा अर्थ और काम की अभिव्यक्ति, व्यक्ति में सहज आत्मनियन्त्रण तथा आत्मगति को प्रोत्साहित करती है। इस सहज आत्मनियन्त्रण तथा आत्मगति में मानव तथा उसकी सांस्कृतिक आनुवंशिकता की ऐतिहासिकता के बीज निहित हैं—प्रभु वही पृष्ठ 97

का सासारिक अस्तित्व समाप्त हो जाता है। सयास आश्रम मे प्रविष्ट हुआ व्यक्ति मृत समझा जाता है। उसके व धु वा धव प्रतीकात्मक रूप से उसकी अ त्येष्टि कर देते है और ऐसा माना जाता है कि प्रतीकात्मक रूप से जलाई हुई चिता की राख और लपटो से स यासी के रूप म व्यक्ति का पुनज म हुआ है। स यासी होन वाला व्यक्ति अपना पहला नाम छोड कर दूसरा नाम रखता है। साधारण व्यक्ति क लिए दाह सस्कार का विधान है लेकिन स यासी के लिए समाधि सस्कार है क्याकि स यासी होने वाले व्यक्ति की अत्येष्टि पहले ही हो चुकी हुई मानी जाती ह। स यास आश्रम म व्यक्ति सासारिक ब धना से उ मुक्त हुआ समझा जाता ह और इसीकारण स यासी क लिए वण जाति ऊच नीच तथा छूत अछूत के सासारिक ब धन निरथक है।

४

आश्रम व्यवस्था के आधार

हिदू जीवन दशन म, पुरुषाथ, सस्कार और आश्रम अ यो याश्रित है। सस्कार और आश्रम व्यक्ति के जविक विकास का सामाजिक आधार प्रदान करत ह और पुरुषाथ, व्यक्ति के जविक सामाजिक विकास का आत्मिक आधार प्रदान करके व्यक्ति क लिए मानसिक प्रेरणा बन जात है। सस्कार आश्रम और पुरुषाथ सामाजिक पष्ठ भूमि म व्यक्ति के जविक तथा मानसिक विकास को, एक ओर, गति तथा दिशा प्रदान करते हैं और दूसरी ओर उसे नियन्त्रित भी करते हैं। आश्रम का एक आधार है सस्कार और दूसरा पुरुषाथ। सस्कार, आश्रम का सामाजिक आधार है और पुरुषाथ आदर्शिक। प्रत्येक आश्रम व्यक्ति के जविक सामाजिक विकास की वह अवस्था है जिसम व्यक्ति उस अवस्था से सम्ब धित पुरुषाथ की साधना करता है। ब्रह्मचय आश्रम वह अवस्था ह जिसम व्यक्ति का धम क विभिन्न पहलुओ और अभि यक्तियो का ज्ञान प्राप्त करना पडता है। इसी अवस्था म व्यक्ति यह सीखता है कि धम समाज तथा व्यक्ति का आधार है और मोक्ष जीवन का परम लक्ष्य। धम ब्रह्मचय आश्रम का और अथ तथा काम गृहस्थाश्रम के प्रमुख पुरुषाथ है। गृहस्थाश्रम म अथ और काम उस व्यक्ति के जीवन के प्रमुख पुरुषाथ ह जिसने पहल ही धम का सद्धातिक तथा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर लिया है और जिसने यह सीख लिया है कि मोक्ष जीवन का सर्वोपरि पुरुषाथ है और उसके लिए आत्म ज्ञान आवश्यक है[1]।

---

1 प्रभू क अनुसार गृहस्थाश्रम में अथ और काम पुरुषार्थों की प्रधानता इसलिए रक्खी गई ह कि व्यक्ति क जविक विकास में एक अवस्था वह आती ह जब

वानप्रस्थ आश्रम में धर्म और मोक्ष जीवन के मुख्य पुरुषार्थ हो जाते हैं यद्यपि इनमें धर्म का स्थान प्रधान रहता है। संन्यास आश्रम में मोक्ष सर्वोपरि पुरुषार्थ हो जाता है। संन्यासी के लिए मोक्ष भी उसका धर्म हो जाता है। वास्तव में यदि देखा जाय तो, सभी आश्रमों का सम्बन्ध मोक्ष से है। हाँ यह अवश्य है कि कहीं मोक्ष को प्रत्यक्ष प्रधानता मिली है और कहीं अप्रत्यक्ष। जैसे सभी आश्रमों की परिणति संन्यास में होती है वैसे ही सभी पुरुषार्थों की परिणति मोक्ष में होती है।

आश्रम व्यवस्था, एक ओर धर्म परम्परा से सम्बन्धित रही है और, दूसरी ओर, यज्ञ परम्परा से। चारों आश्रमों को चार प्रकार के यज्ञ माना गया है। ब्रह्मचर्य-आश्रम को ज्ञान यज्ञ की अवस्था माना गया है। ब्रह्मचर्य आश्रम को ज्ञान यज्ञ की अवस्था माना गया है क्योंकि इस अवस्था में व्यक्ति आत्म नियन्त्रण तथा ज्ञान की दीक्षा लेता है। गृहस्थाश्रम को कर्मयज्ञ कहा गया है। गृहस्थाश्रम में अर्थ और काम की साधना करता हुआ, व्यक्ति पत्नी, सन्तान कुल, आचार्य, अतिथि तथा देवों के प्रति अपने दायित्व को निभाता है। गृहस्थाश्रम, इस प्रकार, निःस्वार्थ सेवा की अवस्था है और निःस्वार्थ सेवा के द्वारा ही व्यक्ति समाज के प्रति अपना योगदान देता है। वानप्रस्थ आश्रम एक ओर धीरे धीरे, अर्थ, काम और संसार के त्याग की तथा, दूसरी ओर, उस अन्तिम यज्ञ की तैयारी है जो संन्यास आश्रम में पूर्ण होती है। संन्यास-आश्रम में परमात्मा के प्रति सर्वार्पण करके व्यक्ति शान्तमना हो जाता है। संन्यास, एक ओर सम्पूर्ण त्याग तथा, दूसरी ओर, आत्माहुति की अवस्था है। आत्माहुति का अर्थ है आत्मा की आहुति अर्थात् पूर्णत्व की प्राप्ति के लिये आत्मा का परमात्मा के प्रति पूर्ण तथा निरपेक्ष प्रपत्ति। आत्माहुति पूर्णत्व की निष्ठा से उत्पन्न होती है। हिन्दू विचारधारा में पूर्णत्व ही उच्चतम उद्देश्य है। पूर्णत्व मानवी सत्ता

जीवन में अर्थ तथा काम की प्रधानता बढ़ जाती है क्योंकि अर्थ और काम व्यक्ति तथा समाज की आनुवंशिकता के अंग हैं। अर्थ और काम व्यक्ति तथा समाज की क्रियाशीलता के शारीरिक, दैहिक तथा मानसिक आधार हैं। व्यक्ति और समाज के लिए उनका उचित अभि[illegible] है जिसे धर्म द्वारा नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया गया है। [illegible] का धर्म तथा आश्रम व्यवस्था के द्वारा मानव-जीवन में इस [illegible] है कि उनकी उचित अभिव्यक्ति से [illegible] स्थायित्व वृद्धि तथा विकास [illegible] हो। धर्म तथा आश्रम के द्वारा [illegible], व्यक्ति में सदा आत्मनियन्त्रण तथा [illegible]। आत्मनियन्त्रण तथा आत्म[illegible]। इन सबका ऐतिहासिकता के साथ [illegible]

मानवीय एषणा है जो पुरुष को पुरुषोत्तमत्व की ओर ले जाती है। संयास आश्रम मे ही व्यक्ति, इस ससार मे आत्मा के स्थान, महत्व और अर्थ को समझकर, अपने को मोक्ष के लिये तयार करता है। इस प्रकार, चारो आश्रमो मे जैविक तथा सामाजिक आवश्यकताओ के अनुसार, व्यक्ति को ज्ञान, कर्म, भक्ति व प्रति आत्मसमर्पण करना पडता है। प्रत्येक आश्रम मे सम्बन्धित यज्ञ, उस आश्रम के उद्देश्य को व्यक्त करता है। यज्ञ म, जसा कि पहले कहा जा चुका है त्याग तथा समपण की भावना रहती है। आश्रम को यज्ञ मानकर आश्रम के उद्देश्य के प्रति, व्यक्ति मे समर्पण की भावना लाने का प्रयास किया गया है। आश्रम व्यवस्था म ज्ञान, कर्म और भक्ति के प्रति क्रमश अपने को समर्पित करता हुआ व्यक्ति, एक ओर जैविक तथा सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति करता है और दूसरी ओर, जीवन के परम उद्देश्य मोक्ष को प्राप्त करता हुआ पूर्णत्व को प्राप्त करता है।

गोखले के अनुसार आश्रम व्यवस्था का निरूपण ब्राह्मण ग्रथो के युग म हुआ है यद्यपि इसका उल्लेख पाणिनि तथा कौटिल्य के युग मे भी मिलता है। धर्म शास्त्रो मे प्रत्येक आश्रम के धर्म का विस्तृत निरूपण मिलता है[1]। प्रारम्भ मे तीन आश्रमो का ही वर्णन मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद मे धर्म के तीन स्कन्धो (आचार्यकुलवास, गार्हस्थ्य जीवन तथा तप) के रूप म केवल तीन ही आश्रमो का वर्णन मिलता है। मनुस्मृति मे भी, विद्वानो का एसा मत है कि तीन ही आश्रमो का निरूपण हुआ है। हिन्दू विचारधारा म तीन आश्रमो का निरूपण दो दृष्टिकोणो से किया गया है। एक, वानप्रस्थ और सयास वस्तुत एक ही आश्रम म आते हैं। अत उन्हे एक ही आश्रम माना जा सकता है। दूसरे, जब सयास म सम्पूर्ण त्याग हो जाता है और व्यक्ति का अपने लिये तथा ससार के लिये अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है तो सिद्धान्तत सयास आश्रम का अस्तित्व ही नही है। इसीकारण, एक विचारधारा यह भी रही है कि सयास वस्तुत आश्रम ही नही है। इसीलिये चार के स्थान पर तीन आश्रमो का वर्णन मिलता है। प्रारम्भ म ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संयास के अनुक्रम का भी वर्णन नही मिलता है। ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य वानप्रस्थ तथा संयास के अनुक्रम म आश्रमो का वर्णन उपनिषदो के उत्तरकाल म मिलता है[2]।

किस आयु म व्यक्ति किस आश्रम मे प्रवेश करे यह मतमतान्तर का विषय रहा है। किस अवधि और किस आयु तक व्यक्ति विभिन्न आश्रमो म रहे, यह भी मतमतान्तर का विषय है। किस आयु म व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम म प्रवेश करे, इसका निर्धारण अलग अलग वर्णों के लिये अलग अलग किया गया है। जिसका वर्णन आगे चल कर, वर्णव्यवस्था के सन्दर्भ म किया जायगा। इस विषय म सर्वमान्य साधारण

---

1 गोखले बी० जी० वही पृष्ठ 38

2 प्रभु, पी० एच० वही पृष्ठ 8,

नियम यह है कि जब व्यक्ति की शिक्षा दीक्षा समाप्त हो जाय और व्यक्ति वैवाहिक जीवन का दायित्व सँभालने के योग्य हो जाय तब वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। जब खाल में झुर्रियाँ पड़ने लगें, बाल सफेद होने लगें और व्यक्ति पौत्रों को देख ले, तब स्त्री के साथ वनवासी जीवन व्यतीत करे और इस प्रकार धीरे धीरे अपने को सम्पूर्ण त्याग तथा आत्माहुति के लिये तैयार करे। वात्स्यायन ने सौ साल की स्वाभाविक आयु को तीन कालों (बाल्य, यौवन तथा स्थविर) में बाँटा है। बाल्यकाल, वात्स्यायन के अनुसार, विद्या ग्रहण का काल है, यौवन काम की स्वाभाविक एषणा की सन्तुष्टि का और स्थविरकाल (वृद्धावस्था) धर्म तथा मोक्ष की साधना का। लेकिन, साथ ही साथ वात्स्यायन ने यह भी कहा है कि मानव जीवन अस्थिर तथा अनिश्चित है। अतः, जब अवसर मिले तभी विद्या, काम, धर्म तथा मोक्ष का साधन करना उचित है। इसका तात्पर्य यह है कि त्रिवर्गी पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ और काम) का उचित समन्वय करके उनकी इस प्रकार साधना करनी चाहिये कि उनमें से कोई भी किसी का बाधक न बने। मनु ने भी इसी पर जोर दिया है कि त्रिवर्ग पुरुषार्थ के उचित समन्वय से ही व्यक्ति का उच्चतम लाभ होता है[1]।

इन चारों आश्रमों का अनुक्रम से पालन करना चाहिये या नहीं, यह भी मतमतान्तर का विषय है। मनु ने गृहस्थाश्रम के बाद सीधे संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने की अनुमति दी है। जाबाल श्रुति से उद्धरण देते हुए, मनु के भाष्यकार कुल्लूक भट्ट ने यह लिखा है कि ब्रह्मचर्य आश्रम के पूर्ण होने पर व्यक्ति को क्रमशः गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों में प्रवेश करना चाहिये या, यदि व्यक्ति चाहे तो वह ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद या गृहस्थाश्रम के बाद सीधे संन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता है। स्वामी दयानन्द ने केवल उसी को ब्रह्मचर्य से संन्यास आश्रम में आने की राय दी है जिसमें इस साधना की क्षमता हो। याज्ञवल्क्य ने भी गृहस्थाश्रम से संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने की अनुमति दी है[2]। लेकिन दूसरी ओर धर्मशास्त्रों में यह कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को क्रमशः चार आश्रमों के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिये क्योंकि मोक्ष का भागी वही व्यक्ति होता है जो आश्रमों के अनुक्रम के अनुसार जीवन व्यतीत करता हुआ, धार्मिक जीवन व्यतीत करता है और जितेन्द्रिय होता है और जीवन के अन्तिम दिन भिक्षाटन तथा परिव्राजन में व्यतीत करता है।

हिन्दू विचारधारा में साधारणतः चारों आश्रमों के अनुक्रमानुसार जीवन व्यतीत करने की महत्ता स्वीकार की गई है। सीधे ब्रह्मचर्य से संन्यास आश्रम में प्रवेश करने की अनुमति 'अपवाद' के रूप में केवल विशेष दशाओं में ही दी गई है। जीवन एक क्रमिक विकास है और जीवन की आवश्यकतायें तभी पूर्ण हो सकती

1 प्रभु, पी० एच०, वही, पृष्ठ 80
2 प्रभु, वही, पृष्ठ 81

जब जैविक विकास की सभी अवस्थाओं के अनुसार जीवन व्यतीत किया जाय। जैसा कि पहले कहा जा चुका है ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास का अनुक्रम व्यक्ति के जैविक, मानसिक तथा सामाजिक विकास का आधार है। ब्रह्मचर्य-आश्रम से व्यक्ति ऋषि ऋण से उऋण होता है, गार्हस्थ्य आश्रम से पितृ ऋण से और वानप्रस्थ तथा संन्यास से देव ऋण से। ये तीनों ऋण सामाजिक आवश्यकताओं में बंधे हैं। अतः इनमें से किसी की भी अवहेलना नहीं की जा सकती। हाँ, यह अवश्य है कि वानप्रस्थ तथा संन्यास को एक में मिलाया जा सकता है क्योंकि उनका उद्देश्य एक है। हिन्दू विचारधारा में यह सर्वमान्य है कि मोक्ष का अधिकारी वही है जिसने संन्यास के पहले के तीनों दायित्वों का भार निभा लिया हो। स्वयं मनु ने यह स्वीकार किया है कि जो व्यक्ति बिना तीनों आश्रमों के दायित्व को निभाये मोक्ष प्राप्ति का प्रयास करता है, वह ऊर्ध्वगामी होने के बजाय अधःपतित होता है।

यह इसी विचारधारा का परिणाम है कि, एक ओर, ब्रह्मचर्य तथा संन्यास आश्रमों को सर्वाधिक वांछनीय माना गया है और, दूसरी ओर, गार्हस्थ्य आश्रम को सर्वाधिक महत्ता दी गई है। व्यास के अनुसार गृहस्थ से पक्षियों, पशुओं और अन्य अनेक प्राणियों को सहायता मिलती है। गार्हस्थ्य आश्रम में ही धर्म, अर्थ तथा काम की एक साथ साधना होती है। गार्हस्थ्य जीवन के दायित्वों तथा कर्त्तव्यों को निभाना ही सर्वोच्च धर्म है। गृहस्थाश्रम में की गई धर्म, अर्थ तथा काम की साधना का प्रयोग मोक्ष की साधना के लिये किया जा सकता है। गृहस्थ आश्रम वस्तुतः अन्य आश्रमों का आधार है क्योंकि गृहस्थ के ही दातव्य पर ब्रह्मचारी, ऋषि और देव निर्भर करते हैं। गृहस्थाश्रम ही व्यक्तिगत तथा सामाजिक ऋणों से उऋण होने का माध्यम है। गृहस्थाश्रम से ही प्रजनन की आवश्यकता की पूर्ति होती है। जिस प्रकार सभी प्राणियों का आधार वायु है, जैसे सभी छोटी बड़ी नदियों का आधार समुद्र है वैसे ही सभी आश्रमों का आधार और दायित्व गृहस्थाश्रम से है। सभी आश्रमों के व्यक्तियों में गृहस्थ का स्थान श्रेष्ठ है क्योंकि गृहस्थ तीनों आश्रमों के व्यक्तियों का आधार प्रदान करता है। मनुस्मृति के अनुसार, जिस व्यक्ति को इस लोक में स्थायी सुख और परलोक में नित्य सुख की चाह हो उसके लिये गृहस्थाश्रम का दायित्व निभाना आवश्यक है। गृहस्थाश्रम के लिये महान प्रयत्नों की आवश्यकता है क्योंकि गृहस्थाश्रम का भार सशक्त ही उठा सकता है[1]। लेकिन हिन्दू विचारधारा में गृहस्था

---

1 महाभारत में शान्तिपर्व में आये एक प्रसंग के अनुसार, जब संसार से तंग आकर युधिष्ठिर ने संन्यास लेने की सोची तो उनके भाइयों, उनकी पत्नी तथा द्वैपायन व्यास ने उन्हें गृहस्थाश्रम में ही रहने की सलाह दी। उनको वह दृष्टान्त सुनाया गया जिसमें कुछ ब्राह्मण कुमारों ने अल्पायु में संन्यास ले लिया था और इन्द्र ने उन पर दया करके उनको यह शिक्षा दी थी कि गृहस्थाश्रम का

श्रम की वांछनीयता सापेक्ष है न कि निरपेक्ष। गृहस्थाश्रम न तो अपने में पूर्ण है और न अपने तक ही सीमित है। सभी आश्रम परस्पर निर्भर साधन हैं। एक साधन के रूप में प्रत्येक आश्रम दूसरे आश्रम से बंधा हुआ है। जीवन का साध्य है अभ्युदय और निश्रेयस जिसकी चरम अभिव्यक्ति है मोक्ष। व्यक्ति अपनी जगह पर है और समाज अपनी जगह पर। गृहस्थाश्रम से व्यक्ति समाज से बंधता है। लेकिन वानप्रस्थ और संन्यास व्यक्ति को समाज से ऊपर उठाते हैं—वहां, जहां व्यक्ति का ही स्वत्व समाप्त हो जाता है और वह सर्वात्मा में लीन हो जाता है। व्यक्ति का सर्वात्मत्व में लीन होना एक क्रमिक विकास प्रक्रिया है। आश्रमों का अनुक्रम इसी विकास प्रक्रिया की शृंखला है।

दायित्व दिये बिना संन्यास बेकार है। उस दृष्टान्त में आये इन्द्र के कथनानुसार गृहस्थाश्रम के उचित प्रबन्ध पर ही सभी कुछ निर्भर है। गृहस्थाश्रम का जीवन श्रेष्ठ और पवित्र है क्योंकि उसमें जीवन के उद्देश्य की सफलता के लिये काफी स्थान है— प्रभू वही पृष्ठ 93

वर्ण-व्यवस्था

वर्ण व्यवस्था में धर्म के सामाजिक पक्ष की अभिव्यक्ति हुई है। जैसे आश्रम को एक ओर व्यवस्था माना गया है और, दूसरी ओर, धर्म माना गया है, वैसे ही वर्ण को, एक ओर, व्यवस्था माना गया है और दूसरी ओर, धर्म। हिन्दू मान्यताओं के अनुसार, व्यक्ति एक ओर संस्कारों के माध्यम से आश्रम धर्म पालन करता हुआ, सामाजीकृत होता है और जीवन के परम उद्देश्य को प्राप्त करता है और दूसरी ओर सामाजीकृत व्यक्ति अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार किसी-न किसी वर्ण में जीवन व्यतीत करता है। समाज में व्यक्ति का जीवन एक ओर संस्कार तथा आश्रम से बंधा हुआ है और दूसरी ओर, वर्ण से। आश्रम धर्म तथा-व्यवस्था व्यक्ति में निहित जविक क्षमता (श्रम) की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के सामाजिक संचालन की योजना पर आधारित है और वर्ण धर्म तथा व्यवस्था व्यक्ति के स्वाभाविक गुणों के सामाजिक विकास तथा संचालन पर है। संस्कार तथा आश्रम से व्यक्ति का स्वाभाविक जविक तथा सामाजिक विकास होता है। वर्ण से व्यक्ति को उसके स्वाभाविक गुणों के अनुसार सामाजिक प्रतिष्ठा तथा भूमिका (Social Status and Role) मिलती है। आश्रम व्यवस्था का प्रत्यक्ष सम्बन्ध समाज में व्यक्ति और

सामाजिक सगठन से है, लेकिन वण व्यवस्था का सम्बन्ध वण तथा सामाजिक सरचना से है। वण का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उन समूहो और उनके पारस्परिक सम्बन्धो से है जिनम, अपने स्वाभाविक गुणो के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति को स्थान मिलता है वण से ही व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा तथा भूमिका निर्धारित होती है। अत वण व्यक्ति की सामाजिक क्रिया का आधार बन जाता है। इसीकारण हिन्दू मान्यताओ म, वण का सम्बन्ध कम से है। वण के अनुसार कम ही व्यक्ति का धम है और यही मान्यता वण धम का सार है।

अपन मूल रूप म वण एक सरचनात्मक सामाजिक व्यवस्था है जिसका आधार धम है। समाजशास्त्रीय मान्यताओ के अनुसार जहा सामाजिक सरचना (Social Structure) म बने समूहो म उच्चोच्चपरम्परा (Hierarchy) पाई जाती है और इसी उच्चोच्च परम्परा के अनुसार व्यक्ति की सामाजिक भूमिका तथा प्रतिष्ठा निर्धारित होता है। हिन्दुत्व मे प्रतिपादित समाजशास्त्रीय मान्यताओ के अनुसार, सामाजिक उच्चोच्चपरम्परा भूमिका तथा प्रतिष्ठा का आधार धम है। इस दृष्टि-कोण से वण व्यवस्था के दो अन्योन्याश्रित पहलू हो जाते हैं—एक, सामाजिक वण व्यवस्था (Social Class System) का और दूसरा वण धम का। पहले का सम्बन्ध समाज म स्वभावत उत्पन्न होने वाले वर्गों उनके स्वरूप तथा उनम निहित उच्चोच्च परम्परा से है और दूसरे का इन वर्गों की सामाजिक महत्ता और इनम आने वाले व्यक्तियो के कर्मों से है। वण व्यवस्था तथा वण धम व सामाजिक उपकरण हैं जिनके माध्यम से व्यक्ति की सामाजिक वृत्ति का अभिव्यक्ति मिलती है।

२

वण की व्याख्या

वण की धारणा के समुचित स्पष्टीकरण के लिए वण व्यवस्था तथा वण धम का अलग अलग स्पष्टीकरण आवश्यक है। सस्कृत भाषा म वण शब्द के कई अथ मिलत हैं। क्रिया के रूप म वण शब्द के अथ हैं—रगना, वणन करना, कहना, लिखना, चित्रण करना, अकित करना, प्रशसा करना, प्रसारना, फैलाना और प्रकाशित करना। सज्ञा के रूप म, वण शब्द के अथ हैं आभा, रग, त्वचा का रग, सौन्दय, एक मानव समूह, जनजाति (Tribe) जग, प्रजाति नस्ल, प्रकार, एक अक्षर ध्वनि एक शब्द ध्वनि प्रतिष्ठा, परिधान आवरण, बाह्य स्वरूप, गीतक्रम, गीत का विषय, स्वाग, ढक्कन, हाथियो के रहने का स्थान विशेषता और धार्मिक अनुष्ठान इत्यादि, वण का प्रथम ब्राह्मण। क्षत्रिय वैश्य और शूद्र म से

प्रत्येक वर्ग के लिए भी किया जाता है[1] और इसी सन्दर्भ में वर्ण शब्द का सर्वस अधिक प्रचलन है। वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति व्री धातु से की जा सकती है। 'व्री' धातु का अर्थ है 'चुनना' या 'चुना हुआ होना'। इस सन्दर्भ में वर्ण शब्द का अर्थ हुआ वह जो औरों की अपेक्षा चुना गया हो। मानव समाज के सन्दर्भ में वर्ण का आशय है वर्ग। अतः समाजशास्त्रीय सन्दर्भ में, वर्ण शब्द का अर्थ हुआ चुना हुआ वर्ग। जहाँ चुनने का भाव है वहीं पूर्वता या पूर्वगामिता क्रम (Order of Precedence) का भाव आ जाता है। व्याकरण में अक्षरों के क्रम के लिए वर्णमाला शब्द का प्रयोग किया गया है जो इस तथ्य की पुष्टि करता है कि जहाँ वर्ण शब्द का प्रयोग चुनाव, चुने हुए या वर्ग के अर्थ में हुआ है वहाँ पूर्वगामिता क्रम (Order of Precedence) का भाव विद्यमान है और जहाँ पूर्वगामिता क्रम का भाव है, वहीं उच्चावच परम्परा का भाव है। इरावती कर्वे के अनुसार संस्कृत साहित्य में मानव समाज का वर्णन करने के लिए जहाँ वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ वर्ण से तात्पर्य है वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा तथा स्थिति से। अतः वर्ण व्यवस्था में तात्पर्य है सामाजिक वर्गों की प्रतिष्ठा तथा उनकी कार्यात्मक महत्ता के अनुक्रम से।

हिन्दू मान्यताओं के अनुसार, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण समाज के आधार है। प्रत्येक व्यक्ति का अपने गुण तथा कर्मों के अनुसार इन्हीं में से किसी न किसी का सदस्य होना पड़ता है और जिस वर्ण का व्यक्ति सदस्य होता है उसी के अनुसार जीवन बिताना व्यक्ति का धार्मिक कर्तव्य हो जाता है। प्रत्येक वर्ण के सदस्यों के क्या सामाजिक कर्तव्य हैं इसका निरूपण धर्म के द्वारा किया गया है। चारों वर्ण एक उच्चावचपरम्परा में गुथे हुए हैं जिसमें ब्राह्मण की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है और शूद्र की निम्नतम। सामाजिक प्रतिष्ठा में क्षत्रिय, ब्राह्मण से निम्न किन्तु वैश्य से उच्च माना गया है और वैश्य क्षत्रिय से निम्न किन्तु शूद्र से उच्च माना गया है।

---

1 आप्टे, वी० एस० दि स्टूडेन्टस संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी पृष्ठ 493

2 सामान्यतः, चार वर्ण माने गए हैं यद्यपि कहीं-कहीं तीन वर्णों का भी उल्लेख मिलता है और कहीं कहीं पाँच का। प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में कहीं कहीं आर्य तथा दास और कहीं कहीं ब्राह्मण और राजन्य या क्षत्र दो ही वर्णों का वर्णन मिलता है। आर्य समाज में ब्राह्मण, राजन्य (क्षत्रिय) और विश (वैश्य) तीन वर्णों का उल्लेख मिलता है। शूद्र वर्ण की उत्पत्ति बाद में हुई ऐसा माना जाता है। शुक्रनीतिसार की रचना मुसलमानों के आक्रमण काल के समय हुई है। उसमें शूद्र वर्ण से नीचे एक पाँचवा म्लेच्छ वर्ण जोड़ दिया गया है। शूद्रों के नीचे चाण्डालों इत्यादि का एक ऐसा वर्ग रहा है जिसे साधारणतः अवर्ण माना गया है लेकिन, कहीं कहीं उसे पंचम वर्ण मान लिया गया है।

वर्ण और प्रजाति

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्या हैं ? महाभारत के वन पर्व में यह कहा गया है कि सतयुग[1] में वर्ण विभाजन नहीं था। किन्तु महाभारत के शान्तिपर्व में आये एक प्रसंग में, वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के प्रश्न पर महर्षि भृगु से यह कहलाया गया है कि पहले ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति हुई और बाद में क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों की। ब्राह्मण का वर्ण सित (श्वेत) क्षत्रिय का लोहित (रक्ताभ) वैश्य का पीत (पीला) और शूद्र का असित (कृष्ण) था। इस आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि सम्भवतः भारत में वर्ण-व्यवस्था का आधार विभिन्न प्रजातियों का सम्पर्क रहा है। भारत के इतिहासकारों ने बहुधा वर्ण-व्यवस्था का आधार प्रजाति को माना है जिसे मानवशास्त्र के विद्यार्थियों ने अस्वीकार किया है। गोखले के अनुसार, 'जब आर्य भारत में आये तो सबसे पहले प्रजाति के आधार पर सामाजिक विभाजन का प्रादुर्भाव हुआ। यही विभाजन आगे चल कर वर्ण व्यवस्था का आधार बना यद्यपि कालान्तर में सामाजिक विभाजन के आधार के रूप में, प्रजाति का महत्त्व समाप्त हो गया। फिर भी प्रजाति के आधार पर उत्पन्न हुआ सामाजिक विभाजन एक समाजशास्त्रीय परिकल्पना (Sociological Fiction) के रूप में बनता रहा'[2]। गोखले ने, एक ओर वर्ण की उत्पत्ति प्रजाति से मानी है और दूसरी ओर वर्ण को केवल परिकल्पना (अवास्तविकता) कहा है। पानिक्कर ने भी वर्ण-व्यवस्था को परिकल्पना ही माना है क्योंकि उनके अनुसार इतिहास द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि चतुर्वर्णी विभाजन, वास्तव में कभी अस्तित्व में था ही नहीं[3]।

यहाँ दो प्रश्न उठते हैं एक, क्या वर्ण कोरी परिकल्पना ही है या केवल आदर्श है जिसकी प्राचीन हिन्दू समाजशास्त्रियों ने केवल कल्पना ही की है और जिसने कभी भी व्यावहारिक वास्तविकता का रूप लिया ही नहीं है, दूसरा, क्या वर्ण व्यवस्था का आधार प्रजाति है। वर्ण किस प्रकार की वास्तविकता है ? इस प्रश्न के समाधान की समस्या को आगे के लिए छोड़कर, यहाँ इस प्रश्न को लेते हैं कि क्या वर्ण व्यवस्था का आधार प्रजाति है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत में संसार की लगभग सभी मुख्य प्रजातियाँ पाई जाती हैं और यह भी सही है कि संसार के जिन

---

1 हिन्दू विचार के अनुसार, मानव इतिहास चार युगों में बँटा हुआ है सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग। वर्तमान युग कलियुग है। सत्ययुग धर्म का स्वर्णिम युग माना जाता है। सत्ययुग से धर्म का बराबर ह्रास होता रहा है। कलियुग अधर्म का युग है जिसका अभ्युत्थान कल्कि अवतार द्वारा होगा।

2 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 30

3 पानिक्कर, के० एम० हिन्दू सोसायटी एट क्रास रोड्स पृष्ठ 7

क्षत्रों में अनेक प्रजातियों का सम्पर्क हुआ है, वहाँ सामाजिक वर्गों का विभाजन प्रजाति तथा न म के आधार पर हुआ है। अमरीका तथा अफरीका के सामाजिक सगठन म पाया जाने वाला वण भद और उसक आधार पर उत्पन्न होने वाला सामाजिक विभाजन इसका प्रमाण है। जगाकि महाभारत के पिछले उद्धरण से स्पष्ट है प्रत्येक विभाजन (वग) के वण से उसक एक अलग प्रजाति होने का आभास मिलता है। ब्राह्मण का वण श्वेत है जिससे उसके श्वेत प्रजाति होने का, वश्य का पीलो अर्थात मगोलियन प्रजाति होन का और शूद्र का कृष्ण वण होने के कारण नीग्राइड प्रजाति का होने का आभास मिलता है। ब्राह्मण और शूद्र क प्रजातिय गठन मे साधारणतया अन्तर है, यह डा० मजूमदार के उत्तर प्रदेश के प्रजाति सर्वेक्षण के परिणामो से स्पष्ट है। ब्राह्मण मे सामान्यत काकेस्वायड प्रजाति के तत्वो का बाहुल्य है और शूद्र मे प्रोटो आस्ट्रालायड प्रजाति के तत्वो का[1]। हुत्न के अनुसार चारो वर्णों का अलग अलग रगो स सम्बधित होना यह जाहिर करता है कि सम्भवत वण भद यही पर, किसी न किसी रूप म, प्रजाति स सम्बधित है। विभिन्न वर्णों का अलग अलग रगो म सम्बधित करना, मिस्र की उस प्राचीन प्रथा की याद दिलाता है जिसक अनुसार प्राचीन मिस्र म मिस्र निवासियो का लोहित वण का, एशियावासियो को पीत वण का, मिस्र के उत्तर मे रहने वालो का श्वेत वण का और नीग्रो का कृष्ण वण का दिखाया जाता था[2]।

हटन ने, जसा कि उनके उपयुक्त मत से स्पष्ट है केवल यह सम्भावना ही मानी है कि हो सकता है कि किसी रूप म वण का सम्बध प्रजाति से हो। लेकिन, उन्होंने इस सम्भावना को केवल सम्भावना ही मानकर छोड दिया है। उन्होंने स्वय यह दिखाया है कि किस प्रकार हाकार्ट ने वण के प्रजातीय सिद्धान्त की आलोचना की है। हटन न वण को सामाजिक वग माना है। हटन के शब्दो म, 'एसा लगता है कि अपने प्रारम्भिक रूपमे वण चार वग (Clas es) थे, जिनम ऋग्वदिक समाज विभाजित था और यह सम्भव है कि वदिक काल म इनमे वह अन्तर न था जिस कि लाघा न जा सके। ऋग्वदिक काल का चतुवर्णी विभाजन तत्कालीन समाज के चार वर्णों मे विभाजित होने का प्रतीक है[3]।

इरावती कर्वे के अनुसार यह मानना भूल होगी कि वण व्यवस्था की उत्पत्ति प्रजातिक भिन्नता के प्रति उस सजगता से हुई है जिसका आधार केवल त्वचा का वण है। प्रजाति केवल त्वचा के वण पर ही आधारित नही है। यह अवश्य है कि वदिक साहित्य म आयवण तथा दासवण का वणन मिलता है और आर्यों का

1 मजूमदार, डी० एन० रेसेज एण्ड कल्चस आफ इण्डिया पष्ठ 51 51

2 हुत्न, जे० एच० कास्ट इन इण्डिया पष्ठ 65

3 हटन, जे० एच० वही पष्ठ64–65

श्वेतवर्णी तथा दासों को कृष्ण वर्णी चित्रित किया गया है। लेकिन साथ ही साथ, यह भी सही है कि वैदिक साहित्य में ब्रह्म (ब्राह्मण) और राजन्य (क्षत्र क्षत्रिय) वर्णों का भी उल्लेख मिलता है। ये दोनों वर्ण आर्यों के ही सामाजिक संगठन में थे और इनके अंतर का आधार त्वचा का वर्ण न होकर इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा तथा भूमिका का अंतर था। जहां कहीं आर्यों के तीन वर्णों का उल्लेख है, वहां 'विश' को तीसरा वर्ण कहा गया है। विश का अर्थ है सभी सामान्य जन। इसी आधार पर वैदिक साहित्य में सम्राट को विशम्पति (विश का पति) कहा गया है। इसी संदर्भ में वर्ण के उस अर्थ की सार्थकता स्पष्ट होती है जिसमें वर्ण से 'चुना हुआ' का तात्पर्य लिया गया है। ब्रह्म और राजन्य का अर्थ उन वर्गों से है जो विश में से चुने गए हों अर्थात जो अपने कार्यों के आधार पर सर्वसाधारण (विश) से भिन्न हों। विश, जन साधारण के रूप में प्रतीक हैं कृषक, पशुपालक, व्यापारी और सेवक का। ब्रह्म, राजन्य और विश (वैश्य) आर्यों के सामाजिक संगठन में तीन वर्ग थे। इन तीनों वर्गों के लोग समान देवताओं की पूजा करते थे और जन्म से मृत्यु तक के समान संस्कारों को मानते थे। तीनों वर्णों के लोग उपनयन-संस्कार करते थे[1]। इनके विभाजन का आधार प्रजाति न होकर उनके सामाजिक कार्यों की भूमिकाओं की भिन्नता थी।

महाभारत के जिस प्रसंग में चार वर्णों के अलग-अलग रंगों का उल्लेख किया गया है, उसी प्रसंग में आगे चलकर वर्ण का आधार त्वचा के रंग को न मानकर कर्म को माना गया है। जब भृगु ने यह कहा कि वर्ण का आधार त्वचा का रंग है तो भरद्वाज ने यह शंका प्रगट की कि त्वचा के रंग तो विविध हैं। उनके आधार पर चार वर्णों का विभाजन किस प्रकार संभव हुआ? इस पर भृगु ने उत्तर दिया कि वर्णों में वस्तुतः कोई अंतर नहीं है। पहले सारा संसार ब्राह्मण वर्ण में था। लेकिन बाद में अलग अलग कर्मों के कारण अलग-अलग वर्णों का आविर्भाव हुआ। चारों वर्णों की उत्पत्ति द्विज वर्ग में से हुई है। जिन द्विजों में भोग-सुख की आसक्ति बढ़ी जिनमें क्रोध और उग्रता की विशेषताओं की उत्पत्ति हुई जिनमें साहस और बल का आविर्भाव हुआ जो स्वधर्म की ओर से उदासीन हुए और जिनका वर्ण रक्ताभ था, वह क्षत्रिय हुए। स्वधर्म के प्रति उदासीन रहने तथा कृष्णवर्ण-युक्त कृषक तथा पशुपालक वैश्य और असत्यप्रिय, हिंसक दिना बिना सोच विचार के जीविका के लिए सभी कर्मों को अपनाने वाले शौच परिभ्रष्ट और कृष्णवर्णी द्विज शूद्र हुए। इस प्रकार क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों के लोग ब्राह्मण वर्ण के स्वधर्म से क्रमशः गिरे हुए लोग हैं। सबको धार्मिक तथा याज्ञिक क्रियाओं को करने का अधिकार है। वर्ण का आधार धर्म-कर्म है न कि त्वचा वर्ण।

---

1 कर्वे, इरावती वही पृष्ठ 52–53

होकार्ट[1] ने भी वर्णव्यवस्था में प्रजातिक आधार को अस्वीकार किया है और इस बात पर जोर दिया है कि चारों वर्णों के रंगों का जो वर्णन मिलता है उसकी प्रजातिक महत्ता न होकर, कल्पाचारी महत्ता (Ritual Significance) है। चार रंग प्रतीक हैं चार कोनों के। श्वेत उत्तर का प्रतीक है, लोहित पूर्व का, पीत दक्षिण का और कृष्ण पश्चिम का। चारों वर्ण के लोग शहर या गाँव के इन चारों कोनों में अलग अलग रहते थे—ब्राह्मण उत्तर में, क्षत्रिय पूर्व में, वैश्य दक्षिण में और शूद्र पश्चिम में। अन्त्यज शहर के बाहर रहते थे और इसीकारण उनको अवर्णा कहा गया है। होकार्ट के सिद्धान्त में उस कल्पना को अधिक पुट है जो हिन्दू विचारधारा से मेल नहीं खाता है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भारतीय जनता में व्याप्त प्रजातिक भिन्नता ने वर्ण विचार को प्रोत्साहन नहीं दिया है। सबसे अधिक निश्चित तथ्य यह है कि हिन्दू विचारधारा में जिस रूप में वर्ण का निरूपण किया गया है, उसका आधार प्रजाति नहीं है। वर्ण, जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट किया जायगा प्रतीक है मानव की उन आधारभूत विधायक वृत्तियों के जिनमें मानव की सामाजिक वृत्ति की अभिव्यक्ति, गुण तथा कर्म के आधार पर वर्गों के रूप में होती है। ब्राह्मण प्रतीक है सत्व गुण का जिसका आधार ज्ञान तथा निर्मलत्व में है। हिन्दू विचारधारा में ज्ञान प्रकाशवान है। अतः उसका वर्ण सित अथवा श्वेत है। शूद्र तमोगुण का प्रतीक है जिसका आधार अज्ञान में है। अज्ञान ही तम (अंधकार) है और तम का वर्ण है कृष्ण (काला)। राग कामना और आसक्ति रजोगुण के आधार हैं। लोहित रागात्मिका वृत्ति का प्रतीक है। क्षत्रित्व की विधायक वृत्ति रागात्मिका है। अतः क्षत्रिय का वर्ण लोहित है। पीत, लोहित तथा कृष्ण वर्णों के सम्मिलित प्रभाव में उत्पन्न होता है। जहाँ रज और तम मिले हुए हैं वहाँ पीत अथवा वैश्य वर्ण है। इस प्रकार ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्गों के अलग अलग वर्ण उनकी वृत्तियों गुणों के प्रतीक हैं न कि प्रजाति के। वर्णनात्मक स्पष्टीकरण में प्रतीकों का प्रयोग हिन्दू विचारधारा की एक अभिन्न परम्परा रही है जिसका यहाँ भी प्रयोग हुआ है। वर्ण को जाति मानना वैसा ही धारणात्मक विभ्रम है जैसा कि वर्ण को प्रजाति मानना। भारतीय इतिहास तथा दर्शन के विद्यार्थी बहुधा इस वर्ण और जाति विभ्रम में फँसते रहे हैं। उदाहरणार्थ के० एम० पानिक्कर ने ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र को चार जातियाँ माना है। चतुर्वर्ण व्यवस्था को उन्होंने चतुर्जाति व्यवस्था कहा है। अपनी इस मान्यता के आधार पर, उन्होंने यह लिखा है कि चतुर्वर्ण व्यवस्था केवल एक सैद्धान्तिक योजना है जो वास्तविक व्यवहार से सम्बन्धित न होकर जाति आदर्श से सम्बन्धित है। इतिहास के माध्यम से यह सिद्ध किया जा सकता है कि समाज का चार जातियों में विभाजन कभी भी

---

1 हटन, जे० एच० कास्ट इन इंडिया पृष्ठ ६६

अस्तित्व मे आया ही नही। पान्निकर भी गाखले की भाति चतुवण-व्यवस्था को एक समाजशास्त्रीय परिकल्पना (Sociological Fiction) मानत है[1]। गाखले के अनुसार, वण का मूलाधार प्रजाति म है यद्यपि जसा कि महाका या स्मतिया आर पुराणो म आये वणन स स्पष्ट है आगे चलकर, वण विभाजन क आधार पशा (Occupation) और प्रतिष्ठा (Status) हो गए। किन्तु दूसरी आर गाखल ने यह भी कहा है कि प्रारम्भिक आय समाज म पश के आधार पर जा विशेषीकरण और उसक फलस्वरूप सामाजिक विभाजन[2] की प्रक्रिया चल रही थी, उसी न आगे

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वश्य और शूद्र पान्निकर के अनुसार सुगठित जाति इकाइयाँ नहीं ह। ब्राह्मण एक हजार आठ सौ उपजातियां में विभक्त ह। एतिहासिक काल म क्षत्रिय नाम की जाति पाई ही नहीं जाती ह। महापद्मनन्द के बाद से जितने भी परिचित राज परिवारो का वणन मिलता ह, वे क्षत्रिय जाति क नहीं ह। मौय शूद्र थे, गुप्त सम्राट वश्य थे और भारनिय ब्राह्मण थ। उदयपुर के सोसोदिया राजपूत मूलत ब्राह्मण थे। महाराना कुम्भा ने अपने शिलालेख में अपने को विप्र कहा ह। राठौर राजपूत दक्षिण की एक गणजाति थे जिन्हें आठवीं और नवीं शताब्दियों में राजपूत का स्तर मिला। उसी प्रकार, वश्य और शूद्र भी विजातीय समूह ह। गोदावरी क उत्तर में जो सामाजिक सत्ता राजपूतों के हाथ में रही है गोदावरी के दक्षिण में वही सामाजिक सत्ता आन्ध्र के रेड्डी तामिलनाड के वल्लाल तथा मालाबार के नायरों के हाथ में रही ह यद्यपि, इन वर्गों को शूद्र की ही श्रेणी में रक्खा गया ह। भारत क विभिन्न भागो में जिन जिन परिवारों ने राज्य किया ह, उनमें से अधिकतर शूद्र-वण से ही आये ह। बगाल के पालवशी शासक और मराठा राज-परिवार इसका प्रमाण ह। यहाँ यह स्पष्ट ह कि पानिकर वण को जाति मानते ह और एक वण के अन्तगत आने वाले विभिन्न अन्तर्विवाही समूहों को उपजाति। समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण से य मान्यतायें गलत ह। वण का एक अलग स्तर ह और जाति का एक अलग। प्रत्येक अन्तर्विवाही एक जाति ह न कि उपजाति—पान्निकर, क० एम० हिन्दू सोसायटी एट क्रास रोड्स पृष्ठ 7, 8 9

2 जसा कि पहले लिखा जा चुका है जिस समय आय भारत में आय उस समय उनमें वण-व्यवस्था विद्यमान थी जिसका आधार विशेषीकरण की आवश्यकता थी। एक ओर, पौरोहित्य कम क लिय ब्राह्मणों का विशेषाहृत समूह अस्तित्व में आ रहा था और, दूसरी ओर, शासन क लिय क्षत्रियों का और तीसरी ओर, कृषि, पशुपालन तथा व्यापार क लिये विश अथवा वश्यों क समूह अलग अलग हो रहे थ।

चलकर वण व्यवस्था को जन्म दिया। लेकिन, कालान्तर में, धीरे धीरे जब वर्ण के साथ पेशा और सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार जुड़े तब, प्रसार के द्वारा वर्णों का विभाजन हुआ, और, बाद में, जब अनेक गणजातियों को वर्ण व्यवस्था में मिलाया गया तथा जब स्वयं गणजातियों में जब संस्कार सम्बन्धी तथा साम्प्रदायिक अन्तर बढ़े तब वर्ण व्यवस्था ने जाति व्यवस्था का रूप लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जैन तथा बौद्ध धर्मों के माध्यम से होने वाले विरोध के बावजूद भी, ईसा की पांचवी शताब्दी पूर्व वर्ण का अर्थ जाति हो गया था[1]।

वर्ण विषयक इस धारणा से दो मान्यतायें निकलती हैं—एक, वर्ण व्यवस्था ने ही जाति-व्यवस्था को जन्म दिया है और दो, वर्ण जाति का दूसरा नाम है। भारत के मानवशास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों को ये दोनों मान्यताएं अमान्य हैं। इरावती कर्वे के अनुसार, साधारणतया वर्ण के लिये जाति शब्द का प्रयोग किया जाता है किन्तु यह प्रयोग तर्कसंगत नहीं है क्योंकि वर्ण और जाति, हिन्दू विचार धारा में, दो अलग अलग प्रमेय हैं। प्राचीनतम संस्कृत साहित्य में केवल वर्ण शब्द का प्रयोग मिलता है और जैसाकि पहले कहा जा चुका है कहीं दो वर्णों का उल्लेख मिलता है और कहीं तीन वर्णों का। चौथे वर्ण का प्रयोग उत्तरकालीन वैदिक साहित्य में मिलता है। बाद में संस्कृत, पाली तथा प्राकृत साहित्य में एक ओर, वर्ण शब्द का प्रयोग मिलता है और दूसरी ओर जाति कुल और योनि का। इसमें सबसे अधिक प्रयोग जाति शब्द का ही मिलता है। यहां जाति शब्द का प्रयोग उन समूहों के लिये किया गया है जिनका आधार जन्मजात सामाजिक प्रतिष्ठा है। संस्कृत साहित्य में जातियों का सबसे पहला वर्णन मनुस्मृति में मिलता है। मनु ने ही सबसे पहले यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि विभिन्न जातियों की उत्पत्ति शुद्ध वर्णों के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली वर्ण-संकरता से हुई है। मनु ने ऐसा प्रतीत होता है, जाति व्यवस्था को वर्ण व्यवस्था में फिट करने का प्रयास किया है। इस बात की सम्भावना अधिक है कि भारत में आर्यों के पहले ही जाति-व्यवस्था अस्तित्व में आ चुकी थी। आर्यों के आगमन के बाद एक ओर आर्यों के तीन वर्ण थे और दूसरी ओर थी देशज जाति-व्यवस्था जो गणजाति व्यवस्था से विकसित हुई थी[2]। एक विशिष्ट वर्ण के रूप में शूद्रवर्ण का विकास भारत में ही हुआ। साथ ही साथ, अनेक देशज तत्व भी आर्यों की वर्ण व्यवस्था में मिल गए। अतः बहुत सम्भव है कि जाति-व्यवस्था से सम्पर्क होने पर आर्यों ने उसे उस व्यवस्था में फिट करने का प्रयास किया जिसका ज्ञान उनको पहले ही से था। जाति और वर्ण ऐसा प्रतीत होता है दो

---

1 गोखले बी० जी० वही पृष्ठ 31

2 इस विकास के कारणों का वर्णन आदिवासी संस्कृति के सन्दर्भ में किया गया है।

संस्कृतियों की अलग-अलग सामाजिक प्रणालियाँ हैं जिनका सम्मिलन भारत में हुआ[1]।

हटन ने भी सिद्धान्ततः यही माना है कि जाति-व्यवस्था के मूल-आधार आर्यों के पहले ही भारत में आ चुके थे। हटन भी जाति और वर्ण को अलग-अलग प्रत्यय मानते हैं। हटन के अनुसार बहुधा जाति और वर्ण को एक दूसरे का पर्याय समझा जाता है यद्यपि जाति का वह अर्थ नहीं है जो वर्ण का है। भारत की प्रत्येक जाति किसी न किसी वर्ण के अन्तर्गत आती है जिसके फलस्वरूप जातियों का वर्ण के अनुसार वर्गीकरण हो सकता है। अतः, प्रत्येक वर्ण लगभग समान स्तर वाली जातियों का एक वर्ग है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण-वर्ण के अन्तर्गत कान्यकुब्ज, गौड़, सरयूपारीण, सनाढय, सारस्वत, और चितपावन इत्यादि ब्राह्मण जातियाँ आती हैं। इसीलिये हटन ने यह कहा है कि वर्ण की प्रकृति वह नहीं है जो जाति की है। केवल एक सीमा तक ही वर्ण को जाति कहा जा सकता है। वास्तव में, इस मान्यता की सम्भावना अधिक युक्तियुक्त जान पड़ती है कि वैदिक युग में चार वर्ण चार वर्गों के समान थे न कि चार जातियों के समान और उत्तर वैदिक काल के विद्वानों ने जब वैदिक साहित्य में जाति प्रथा के आधारों की खोज की तो उन्होंने वर्ण-व्यवस्था की व्याख्या जाति प्रथा के सन्दर्भ में की जिसके कारण जाति और वर्ण एक दूसरे के पर्याय बन गए। फिर भी, किसी भी दशा में, वर्ण जाति नहीं है। हाँ, प्रत्येक वर्ण को समान स्तर वाली जातियों का एक समूह समझा जा सकता है। चारों वर्णों के लिये जिन चार शब्दों का प्रयोग किया जाता है आज वे चार बड़ी बड़ी जातियों के अलग अलग समूह हैं और ये समूह उस सामाजिक प्रतिष्ठा-प्रणाली (Social Status System) में बंधे हैं जिसका आधार धर्म है। एक सामाजिक इकाई के रूप में वर्ण जाति से अधिक व्यापक और अनिश्चित है[2]।

जाति शब्द जन धातु से निकला है जिसका अर्थ है जन्म लेना। जन्म के आधार पर मिली हुई सामाजिक प्रतिष्ठा, अन्तर्विवाहिता प्रथा, ऊँच-नीच का भेद-भाव और खान पान के नियम जाति की मुख्य विशेषतायें हैं। जाति जन्म पर आधारित एक सामाजिक राजनैतिक संगठन सा है जिसमें व्यक्ति का जीवन पूर्णतः घिरा रहता है। इसके विपरीत जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वर्ण का अर्थ है रंग या चुना हुआ। वर्ण का आधार है गुण और कर्म न कि जन्म। जाति और वर्ण हिन्दू विचारधारा में, अलग अलग सामाजिक आदर्शों में बंधे हुए हैं। सेनार्ट के आधार पर, प्रभु ने भी यह मत व्यक्त किया है कि वर्ण और जाति अलग अलग सम्स्थायें हैं यद्यपि, जैसी कि सम्भावना है दोनों एक में मिल गई हैं। ऋग्वेद में, जैसा कि सेनार्ट का

---

1 कर्वे, इरावती हिन्दू सोसायटी एन इंटरप्रिटेशन पृष्ठ 51-57
2 हटन, जे० एच० कास्ट इन इण्डिया पृष्ठ 61-67

मत है, आय और दास वर्णों का उल्लेख मिलता है और, बहुत सम्भव है कि अपने मूलरूप म, वण शब्द का प्रयोग आय और दास के वण भेद को स्पष्ट करने के लिए किया गया हो यद्यपि, कालान्तर म इसका प्रारम्भिक प्रयोग लुप्त हो गया और अनेक समूहों के लिए वण शब्द का प्रयोग होने लगा हो। लेकिन, फिर भी, वण शब्द के सामान्य तथा विशेष अर्थों के दृष्टिकोण से वण को जाति नहीं माना जा सकता है। बाद के साहित्य म वण के आधार पर जाति की व्याख्या मिलती है जिसके कारण जाति और वण के विषय म भ्रान्ति उत्पन्न होती रही है। अत जाति के आधार पर वण की व्याख्या करना, वास्तव म, तक को उल्टा कर देता है[1]।

मनु ने वण के माध्यम से जाति को स्पष्ट किया है लेकिन मनु ने भी वण और जाति का अलग अलग रक्खा है। मनु ने, एक ओर, चार वर्णों का उल्लेख किया है और, दूसरी ओर, सत्तावन जातियों का। मनु के अनुसार वण केवल चार है—ब्राह्मण, क्षत्रिय वश्य और शूद्र जिनके वण साकय से जातियों की उत्पत्ति हुई है। मनु के अनुसार, यदि किसी वण का व्यक्ति अपने ही वण की स्त्री से विवाह करे तो सन्तान शुद्ध वण की होगी और उसका वही वण होगा जो माता पिता का है। यदि कोई पुरुष अपने से एक डिगरी निम्न वण मे विवाह करता है (जसे ब्राह्मण पुरुष क्षत्रिय स्त्री से ब्याह करे) तो सन्तान पिता के वण की होती है यद्यपि उसम मात दाष आ जाता है। वणसकर सन्तान तब होती है जब उच्च वण का पुरुष अपने वण स दो या तीन डिगरी नीचे वण की स्त्री से ब्याह करे (जसे ब्राह्मण पुरुष का वश्य या शूद्र स्त्री से या क्षत्रिय का शूद्र स्त्री स ब्याह) और उच्च वण की स्त्री अपने से निम्न वण के पुरुष स ब्याह कर। वणसकर स वण नहा जातियाँ अस्तित्व म आती है और वणसकर जातिया के पुन वणसाकय से और नई जातियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार वर्णों तथा जातिया क वण-साकय स जातियो की सख्या बढती रही है[2]। यहीं से अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों की धारणायें अस्तित्व म आइ। अनुलोम विवाह से तात्पय है पुरुष द्वारा अपने या अपने से निम्न वण मे विवाह करना और प्रतिलोम का अपने से उच्च वण म विवाह करना। अत मनु के अनुसार, जातिया अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों का परिणाम हैं। इस आधार पर यह

---

1 प्रभु, पी० एच० वही पष्ठ 303–304

2 वण साकय स किस प्रकार जातियां उत्पन्न हुई । प्रभु के आधार पर इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार है—ब्राह्मण पिता और वश्य माता की सन्तान स अम्बष्ठ और ब्राह्मण पिता तथा शूद्र माता की सन्तान से निषाद का उत्पत्ति हुई है। क्षत्रिय पिता और ब्राह्मण माता की सन्तान से सूत जाति की, वश्य पिता और क्षत्रिय या ब्राह्मण माता की सन्तान से मागध और विदेह जातियों की उत्पत्ति हुई है—प्रभु वही पष्ठ 301

कहा जा सकता है कि यह मान्यता निर्मूल है कि वर्णों के विभाजन से जातियाँ बनीं या वर्ण ही कालान्तर में जाति हो गए। मनु ने वर्ण को स्थायी मानकर जातियों का स्पष्ट करने का प्रयास किया है न कि उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि प्रत्येक वर्ण के प्रसार और विभाजन में उस वर्ण की जातियाँ उत्पन्न हुई हैं।

अपनी प्रजातिक तथा सांस्कृतिक विजातिता के कारण कि भारत प्रारम्भ में ही गणजातियों और जातियों का देश रहा है। भारत में ही नहीं जहाँ भी विभिन्न जातियों और संस्कृतियों का संगम हुआ है वहाँ जाति (जन्म पर आधारित समूह) और वर्ग (वह समूह जो गुण कर्म या धन पर आधारित होने हैं) साथ साथ पाये गये हैं। जातियों में व्यक्ति का स्थान पूर्वनिर्धारित रहता है क्योंकि जाति में व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा जन्म जात होती है। लेकिन वर्ग में व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा अर्जित होती है। वर्ग व्यवस्था जाति व्यवस्था की अपेक्षा अधिक लचीली है और उसमें व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा चलिष्णु (Mobile) होती है। वर्ग व्यक्ति (व्यक्तियों) द्वारा अर्जित सामाजिक प्रतिष्ठा पर निर्भर करता है। वर्ण-व्यवस्था वस्तुतः वह वर्ग व्यवस्था है जिसका आविर्भाव, हिन्दू विचार धारा के आधार पर, भारत में हुआ है। हिन्दू विचारधारा आदर्शोन्मुख है क्योंकि उसका आधार धर्म की धारणा है। वर्ण व्यवस्था एक आदर्श-समाज की आदर्श वर्ग व्यवस्था है। वर्ण, जैसा कि हिन्दू विचार धारा में उनका प्रतिपादन हुआ है, वे आदर्श सामाजिक इकाइयाँ हैं जिनमें अपने गुणों के अनुसार विभिन्न व्यक्ति और समूह फिट हो सकते हैं। अतः, सम्भावना इस बात की नहीं है कि वर्ण से जातियाँ उत्पन्न हुई हैं वरन् जातियों से वर्ण की धारणा उत्पन्न हुई है। वर्ण का आधार उस सामाजिक दर्शन में है जिसका आधार है नीति अविभक्तं विभक्तेषु (एकता में अनेकता) एको अहं बहुस्याम् (एक होते हुए भी मैं अनेक हूँ) आत्मवत् सर्वभूतेषु (सभी प्राणी अपने समान हैं) की भावनायें। सामाजिक दर्शन का निर्माण सामाजिक परिस्थितियों में होता है। भारत की सामाजिक परिस्थिति जातिगत रही है जिस एक समन्वय तथा एक कार्यात्मक सामाजिक संरचना में लाने के लिए सामाजिक दर्शन के रूप में, वर्ण की धारणा प्रतिपादित की गई है। वर्ण व्यवस्था सामाजिक संरचना और स्तरीकरण की वह आदर्श व्यवस्था है जिसमें सभी प्रकार के प्रजातिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक साम्प्रदायिक और विशेषतः गणजातीय-समूह फिट हो सकते हैं। इसी कारण प्रत्येक वर्ण वह समूह है जो अनेक जाति समूहों में बँटा हुआ है। वर्ण एक आदर्श धारणामात्र है। वर्ण का सम्बन्ध व्यक्ति के सामाजिक प्रस्थिति के उस पहलू से है जिसे समाजशास्त्री वैधिक आदर्श व्यवस्था (Legitimate Normative Order) कहते हैं। वर्ण का सामाजिक प्रस्थिति आदर्श सामाजिक विचार में है।

वर्ण विषयक मनु की धारणा का स्पष्ट करते हुए प्रभु ने लिखा है कि वर्तमान हिन्दू-समाज में जो जाति-व्यवस्था मिलती है उसे वर्ण-व्यवस्था समझना वस्तुतः

सैद्धांतिक भ्रम है। सिद्धान्ततः जाति अलग है और वर्ण अलग। जाति जन्म से है और वर्ण कर्म से। समाज में व्यक्ति की जाति निश्चित है लेकिन उसका वर्ण परिवर्तनशील। वर्ण अर्जित सामाजिक प्रतिष्ठा पर आधारित है जो, हिन्दू मान्यताओं के अनुसार, कर्म पर निर्भर करती है। अतः, कर्म के आधार पर व्यक्ति अपना वर्ण परिवर्तित कर सकता है। यही कारण है कि भारत के प्राचीन तथा अर्वाचीन इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें व्यक्ति और समूहों ने, स्वार्जित सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर, अपने वर्ण बदले हैं।

विश्वामित्र ने क्षत्रित्व से ब्राह्मणत्व पद प्राप्त किया था। हरिवंश पुराण के अनुसार नाभागरिष्ट के दो पुत्र जो वैश्य थे, ब्राह्मण हो गए थे। राजपूताना के गोखर सेवक ब्राह्मणों का पूर्वज ऐसा कहा जाता है कि, एक मेर[1] था जिसको एक मुनि ने यजुर्वेद में दीक्षा दी थी। ऐसा प्रसिद्ध है कि बंगाल के व्यासोक्त ब्राह्मण उस शूद्र की सन्तान हैं जिसको स्वयं व्यास ऋषि ने ब्राह्मण बनाया था। शिवाजी का क्षत्रिय वर्ण में आना एक इतिहास प्रसिद्ध तथ्य है। बंगाल की कायस्थ जाति को आज द्विज की श्रेणी में रक्खा जाता है यद्यपि, सौ साल पहले उसे शूद्रों की श्रेणी में रक्खा जाता था[2]। महाभारत के अनुशासन पर्व के एक श्लोक में यह कहा गया है कि मेकल द्रविड, लाट पौण्ड्र कोन्दशिर, शौण्डिक दरद दर्व, चवर, शबर बर्बर किरात और यवन इत्यादि मूलतः क्षत्रिय जातियां हैं जो ब्रह्मचार की उपेक्षा करने के कारण अपनी वर्तमान अधोगति (अथवा शूद्र की स्थिति) को प्राप्त हुई हैं। वर्तमान समय में भी साधारणतः यह विश्वास पाया जाता है कि धर्म कर्म सुधारने से उच्चतर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त की जा सकती है। आज निम्न स्तर की जातियों में जो सुधार प्रारम्भ चल रहे हैं, उनमें मांस मदिरा त्यागने और सात्विक जीवन बिताने पर अधिक जोर दिया जा रहा है[3]। भारत में निम्नवर्णी जातियों पर जो पुस्तकें सुधारवादी दृष्टिकोण से लिखी जा रही हैं, उनमें बहुधा यही दिखाया जाता है कि जो जाति आज निम्न समझी जाती है प्राचीन काल में वह निम्न नहीं थी। उसका स्थान बहुधा क्षत्रियों में रक्खा जाता है[4] या ब्राह्मणों में। उत्तर प्रदेश और राजस्थान की भाट जाति के लिए अभी हाल ही से भट्ट-ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है जो इस बात का प्रतीक माना जाता है कि भाट शब्द वस्तुतः भट्ट का अपभ्रंश है और भाट वे हैं जो बाण, कल्हण बिल्हण मम्मट मनु के टीकाकार बालमभट्ट तथा

---

1 मेर शूद्रों की श्रेणी में आते हैं।

2 हटन जे० एच० कास्ट इन इण्डिया पृष्ठ 6..

3 भट्ट जी० एस० ट्रेंड्स एण्ड मेजर्स आफ स्टेटस मोबिलिटी एमांग दि चमार्स आफ देहरादून दी ईस्टर्न एन्थ्रापालोजिस्ट, वाल्यूम XIV नं० 3

4 उदाहरणार्थ देखिये नियमसिंह यादव द्वारा रचित यादव परिवार

यनयल्क्य के टीकाकार कुल्लूक भट्ट की परम्परा म आते हैं।

हिन्दू मान्यताओ के अनुसार वण वह आदश आधार है सामाजिक प्रतिष्ठा पद्धति का वह सोपान है जिस पर जाति-व्यवस्था की चलिष्णुता (Mobility of the Casto System) निभर है। वण-व्यवस्था धम जाति-चलिष्णुता (Caste-Mobility) का प्रेरक रहा है। वण धम से जाति व्यवस्था म लचीलापन आया है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि वण-व्यवस्था धम जाति व्यवस्था का वह आदश रूप है जहाँ व्यक्ति को जाति के बन्धनो से छुटकारा मिलता है और व्यक्ति अपनी स्वाभाविक वत्ति के अनुसार कम करके जाति अथवा जन्म से मिली प्रतिष्ठा को बदल सकता है। जन्म से सभी शूद्र होते है। वण व्यक्ति की वत्ति के अनुसार किये हुए कम से मिलता है। व्यक्ति की वत्ति पूणत पूवनिर्धारित नही होती है। सामाजीकरण के द्वारा उसका विकास होता है। व्यक्ति का वण तभी निर्धारित है जब सामाजीकरण के द्वारा व्यक्ति की विधायक वत्ति का पूण विकास हो जाय। लेकिन हिन्दू विचारधारा म जाति और वण के सामाजिक स्तरो से परे एक नितान्त वयक्तिक स्तर भी है जहाँ व्यक्ति के लिए न तो जाति का बन्धन रहता है और न वण का। यह स्तर है सन्यास का। सन्यास की विधायक है सात्विक वत्ति। ब्राह्मणत्व सात्विक वत्ति का परिचायक है। आश्रम तथा वण के माध्यम म व्यक्ति मे सात्विक वत्ति का उद्बोधन और प्राप्ति ही सवश्रेष्ठ सामाजिक उद्देश्य है। इसी कारण हिन्दुत्व म वण श्रम व्यवस्था को धम का एक आधार कहा गया है। वण और आश्रम सामाजिक तथा वयक्तिक जीवन की वे अवस्थायें है जिनके माध्यम से व्यक्ति उस स्तर पर पहुँचता है जहाँ न तो व्यक्ति का ही अस्तित्व है और न वण तथा आश्रम का। अत, यह कहना कि वण ही जाति है एक सद्धान्तिक भूल है। वण का स्तर जाति म ऊपर है। जाति का सम्बन्ध वास्तविक व्यवहार म है लेकिन वण का सम्बन्ध स्तरीकृत सामाजिक व्यवस्था के उस आदश सिद्धान्त स जो हिन्दू सामाजिक चिन्तन की अपनी निजी विशेषता है। राधाकृष्णन के अनुसार वण-व्यवस्था के मुख्य आधार हैं व्यक्ति के गुण तथा कम न कि जाति। गुण कम पर आधारित वण जाति नही है क्योंकि जाति जन्म तथा आनुवशिकता पर आधारित है[1]।

एक सामाजिक इकाई के रूप म, वण न तो प्रजाति है और न जाति। वण केवल एक आदश सामाजिक इकाई है जिसका मूल तत्व वण विषयक धारणा तथा धम म है। वण की धारणा और धम दो अलग अलग तथ्य नही हैं। दोनो का एक दूसरे म घनिष्ठ सम्बन्ध है। लेकिन यह समझना भूल होगी कि दोनो अन्योन्याश्रित है। हिन्दू धम-ग्रन्थो म वण का जिस प्रकार निरूपण किया गया है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि हिन्दू विचारधारा म धम का आधार वण

1 गोखले, बी० जी० की पुस्तक इण्डियन थाट थ्रू दि एजेज से उद्धृत पृष्ठ 32

नहीं है वरन वर्ण का आधार धर्म है। वर्ण के निरूपण में धर्म (अर्थात व्यक्ति तथा समाज की विधायक वृत्ति) को आधार माना गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय समाज के संगठन में प्रजाति, जाति और गणजाति से उत्पन्न होने वाली विजातिता का समन्वय हुआ है जिसके कारण भारत के सामाजिक संगठन में प्रजातीय, जातीय तथा गणजातीय समूहों की भिन्नता रही है। यह भी बहुत सम्भव है कि इन समूहों को एक व्यवस्था में लाने की समस्या और आवश्यकता ने ही वर्ण व्यवस्था की धारणा को प्रोत्साहित किया हो। लेकिन हिन्दू विचारधारा में वर्ण का निरूपण जिस रूप में हुआ है उस रूप में वर्ण न तो प्रजाति है न जाति और न गणजाति। वर्ण इन सभी से ऊपर एक ऐसी धारणा है जिसमें ये सभी समूह समा जाते हैं। हिन्दू विचारधारा में वर्ण विषयक दो परम्परायें मिलती हैं—एक परम्परा उस विचारधारा की है जिसमें वर्ण के अस्तित्व तथा उत्पत्ति को रहस्यात्मक ढंग से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है और दूसरी परम्परा उस विचारधारा की है जिसमें वर्ण को धर्म के आधार पर निरूपित करने का प्रयास निहित है। वर्ण व्यवस्था का मुख्य आधार है वर्ण धर्म न कि जाति या प्रजाति। हाँ जाति, गणजाति और प्रजाति की भिन्नता तथा उनके सामाजिक सम्पर्क के समन्वय से वह पर्यावरण अवश्य अस्तित्व में आया जिसकी पृष्ठभूमि में वर्ण धर्म का प्रतिपादन हुआ है।

वर्ण और जाति का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझने के लिए एक और तथ्य पर विचार करना आवश्यक है। जाति गणजाति (Tribe) का सामाजिक अनुरूप है न कि वर्ण का। गणजाति की भाँति जाति जन्म पर आधारित एक अन्तर्विवाही सामाजिक राजनैतिक संगठन है जिसके सदस्य सिद्धान्ततः वर्ण धर्म आवागमन और पुनर्जन्म हिन्दू संस्कारों तथा आश्रमों को मानते हैं और ब्राह्मणवादी कर्मकाण्ड में विश्वास करते हैं। गणजाति और जाति में अन्तर इतना है कि प्रत्येक गणजाति एक क्षेत्र विशेष की निवासी होती है, एक विशेष बोली या भाषा का प्रयोग करती है और उसके सदस्य जाति के सदस्यों की भाँति एक पेशा विशेष से ही नहीं बंधे होते हैं। गणजाति के सदस्य सभी आवश्यक पेशों को करते हैं और उनमें सामान्य पेशा की उच्चता और निम्नता का प्रश्न नहीं रहता है। हिन्दू सामाजिक संरचना के निम्न स्तरों में अनेक ऐसे जाति समूह पाये जाते हैं जिनके कल्प (Rituals) कर्मकाण्ड (Rites) और संस्कार ब्राह्मणों द्वारा सम्पादित नहीं होते हैं किन्तु वे गणजाति इसलिए नहीं हैं कि उन्होंने ग्रामीण कृषि व्यवस्था में परम्परानुसार किसी एक धन्धे को अपना लिया है जिस पर उनका एकाधिकार है। मानवशास्त्रियों की ऐसी मान्यता है कि जब एक गणजाति ग्रामीण कृषि व्यवस्था में एक धन्धे पर एकाधिकार प्राप्त करके ट्रेड यूनियन का रूप लेते हुए हिन्दुत्व के आधारभूत नियमों को अपना लेती है तो उसे जाति का रूप मिलता है। अनेक गणजातियों में वर्णानुसार चतुर्वर्गी विभाजन

के आधार पर भी जातियों के उत्पन्न होने के प्रमाण इतिहास में हैं और वर्तमान आदिवासी समाज में भी। इसप्रकार, गणजाति का जाति में बराबर रूपान्तरण होता रहा है और हिन्दू समाज में जातियों की संख्या बढ़ती रही है। एक ओर जातियां बढ़ती रही हैं और, दूसरी ओर जैसा कि बुद्धवादी, जैनी निराकार एकेश्वरवादी पंथों और ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज जैसे आन्दोलनों में स्पष्ट है, समय समय पर जाति व्यवस्था का विरोध करके वर्ण सिद्धान्त को लागू करने का प्रयास किया गया है। इन आन्दोलनों के द्वारा हिन्दूकरण का प्रसार होता रहा है क्योंकि ये आन्दोलन जाति के तथा जादुई विश्वासों और प्रथाओं के विरोधी रहे हैं न कि हिन्दुत्व के। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अधिकतर आन्दोलनों के प्रणेता ब्राह्मण रहे हैं। उधर, निम्नस्तर की जातियां और गणजातियां ब्राह्मणों की कर्म-काण्डी सेवा के लिए लालायित रही हैं। इस प्रकार धार्मिक सामाजिक प्रणालियां तथा हिन्दू प्रथाओं को स्वतः स्वीकार करके गणजातियां जातियों का रूप लेती रही हैं। इसका एक कारण आर्थिक रहा है क्योंकि जाति के रूप में एक पेशे पर एकाधिकार मिलने से गणजाति को आर्थिक सुरक्षा मिलती रही है और दूसरा कारण रहा है एक वैधिक (Legitimate) धार्मिक-सामाजिक-संगठन (हिन्दू समाज) की सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली में एक निश्चित स्थान पाने की प्रेरणा जो मैक्सवेबर के अनुसार सर्वत्र पाई जाती है। वर्ण सिद्धान्त में निहित अर्जित सामाजिक प्रतिष्ठा के सिद्धान्त द्वारा सामाजिक प्रतिष्ठा को उच्चतर बनाने की सम्भावना और हिन्दुत्व की मोक्षवादी विचारधारा ने गणजाति को जाति में रूपान्तरित होने की ओर भी प्रेरणा दी।

इसप्रकार गणजाति के रूपान्तरण में ज्यों ज्यों हिन्दू समाज का आकार बढ़ा, जातियों की संख्या बढ़ी जातियों में उच्च स्तर प्राप्त करने की प्रेरणा भी बढ़ी और जितनी ही यह प्रेरणा बढ़ी, उतना ही जाति प्रथा के विरुद्ध विद्रोह भी बढ़े। बुद्धवाद विशिष्ट गणजातियों की ओर से पहला आन्दोलन था। ज्यों ज्यों आन्दोलन बढ़े त्यों-त्यों वर्ण सिद्धान्त को एक आशावादी सामाजिक-संरचना व्यवस्था के रूप में निर्वचित और प्रतिपादित किया गया क्योंकि हर आन्दोलन में सामाजिक-संरचना को एक प्रगतिवादी आधार प्रदान करने की आवश्यकता पड़ी। स्वामी दयानन्द से प्रेरित आर्यसमाज आन्दोलन इस प्रक्रिया का एक आधुनिक उदाहरण है। इसका परिणाम यह हुआ कि वर्ण व्यवस्था, धीरे-धीरे कर्म पर आधारित एक सुयुक्तिकृत आदर्श वर्ग-व्यवस्था बन गई जिसमें हिन्दू-समाज में सामाजिक चलिष्णुता प्रतिफलित होती रही। अलग अलग क्षेत्रों में, विभिन्न गणजातियों ने विभिन्न जातियों का रूप लिया जिन्हें वर्ण सिद्धान्त के आधार पर हिन्दुत्व में संगठित किया गया। यही कारण है कि, एक ओर, अखिल भारतीय जातियां नहीं पाई जाती हैं और, दूसरी ओर चतुर्वर्णी जातियां (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) सारे हिन्दू समाज में पाई जाती हैं। हिन्दू समाज ब्राह्मण जातियों, क्षत्रिय जातियों, वैश्य जातियों और शूद्र

जानियो म सगठित है क्योंकि अलग अलग प्रदेशो मे अलग अलग समूहो को ब्राह्मण क्षत्रिय, वश्य और शूद्र के स्तर मिले। यही कारण है कि ब्राह्मण तो सारे भारत मे पाए जाते हैं किन्तु वे अलग अलग अन्तर्विवादी समूहो म बटे हुए है । एक ओर, आर्यो का वण सिद्धान्त है और दूसरी ओर आदिवासी सगठन की गणजाति । जाति व्यवस्था, वण तथा गणजाति के बीच की, एक सामाजिक व्यवस्था है[1] ।

३

वण धम

वण धम वस्तुत वह आचार है जो विभिन्न वण के व्यक्तियो के लिए निरूपित किया गया है । विभिन्न वर्णों के अनुसार अलग अलग आचार नियमो का निरूपण व्यक्ति की सामाजिक वत्ति मे पाये जाने वाले अन्तर के आधार पर किया गया है । इसीलिये वण का आधार जन्म को न मानकर गुणानुसार कम को माना गया है । वण व्यवस्था का उद्देश्य है व्यक्ति का अभ्युदय और नि श्रेयम् जो हिन्दू मान्यता म गुणानुसार कम से प्राप्त होता है । अपने वण के अनुसार काय करने से, पुनज मो के द्वारा व्यक्ति का अभ्युदय होता रहता है । लेकिन साथ ही साथ, सभी व्यक्ति समान हैं उनम अन्तर है तो केवल गुण और कम का । व्यक्ति वर्णों म विभाजित अवश्य रहते है, पर सभी वण अन्योन्याश्रित हैं। समाज सभी वर्णों की अन्योन्याश्रिता म निहित है । समाज म सभी वर्णों की अन्योन्याश्रिता उसी प्रकार से एकीकृत रहती है जसे कि जीव के सभी अग प्रत्यग । सभी वण इस ससार म व्याप्त विराट पुरुष के अग है । व्यक्तियो की सामाजिक वत्तियो म पाया जाने वाला अन्तर स्पष्ट है, पर, साथ ही साथ वह एक रहस्य भी है—वह रहस्य जो विराट पुरुष के रहस्य मे समाया हुआ है । अत , वण का आधार एक अलौकिक रहस्य है । इसी कारण हिन्दू विचारधारा म एक ओर, वण-व्यवस्था को उस रहस्यात्मक अलौकिक विराट की सामाजिक अभिव्यक्ति माना गया है उन्हे परस्पर समान और अन्योन्याश्रित कहा गया है और, दूसरी ओर व्यक्तियो म पाये जाने वाले अन्तर और तदनुसार कम के आधार पर विभिन्न वर्णों तथा उनके आचार का निरूपण किया गया है। इसीलिये, हिन्दू विचारधारा म, एक ओर विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति विषयक विचार मिलता है और, दूसरी ओर, वण धम तथा सभी वर्णों के लिए समान धम विषयक विचार मिलता है ।

---

1 वण, जाति और गणजाति में जो सन्तति (Continuum) है उसका विशद वणन, आगे चलकर, आदिवासी सस्कृति के सन्दभ में किया गया है ।

साधारणत चार वर्णों का प्रतिपादन मिलता है। य चार वण हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वश्य और शूद्र। वण धम के निरूपण म इन चार वर्णों को चार प्रकार की वत्तिया माना गया है। प्रत्येक व्यक्ति मे एक न एक वृत्ति प्रधान होती है और प्रत्येक व्यक्ति की प्रधान वत्ति का पूण प्रस्फुटन तथा विकास समाज म होता है। इन चार वत्तियां का ब्राह्मणत्व क्षत्रीत्व, वश्यत्व और शूद्रत्व की सनाय दी जा सकती है। प्रत्येक वण इस दृष्टिकोण मे वह वग, है जिसके सदस्या मे एक वत्ति विशेष की प्रधानता रहती है—ब्राह्मण वण म ब्राह्मणत्व की क्षत्रिय म क्षत्रीत्व की, वैश्य मे वश्यत्व की और शूद्र म शूद्रत्व की। वण व्यवस्था इस दृष्टिकोण से वह सामाजिक व्यवस्था है जिसम चार प्रधान वत्तियो के आधार पर व्यक्तियो और समूहा का वर्गीकरण किया गया है। हिन्दू मान्यताओ म इन चार वत्तियो को पूवनिर्धारित तथा स्थायी मान लिया गया है और इस मान्यता का निरूपण अनुभूतिक तथा दाशनिक परम्पराओ के समन्वय से किया गया है।

प्रत्येक व्यक्ति की प्रधान वत्ति उसके गुणा को और गुण कम को जन्म दते है। इसलिये वण का आधार है वत्ति गुण तथा कम का वह मर्म वन रूप जिसकी अभिव्यक्ति व्यक्ति तथा वग के सामाजिक गुणों तथा कर्मों म होती है। हिन्दू मान्यता म सामाजिक व्यवहार का आधार है आचार क्योकि व्यक्ति तथा समाज की विधायक वृत्ति धम है। जो नियम चारो वत्तिया के सामाजिक विधायक हैं व ही स मिलकर वण धम बनता है। वण धम क द्वारा चारो वत्तियों की आदश समाज म आदश अभिव्यक्ति का निरूपित करने का प्रयास किया गया है।

वण व्यवस्था तथा वण धम क आधारो की व्याख्या की चरम अभिव्यक्ति गीता म हुई है। प्रभू क अनुसार वण धम क सिद्धान्त का जो निरूपण गीता म किया गया है। वह सबस अधिक अग्रगण्य, विशद् और सुनिश्चित है। गीता म प्रस्तुत वण सिद्धान्त म प्रधान गुणा के आधार पर समाज का चार वर्णों म बाटा गया ह। प्रभू के अनुसार गुण वह मानसिक प्रवत्तिया हैं जो व्यक्ति के जविक तथा मानसिक गठन म निहित क्षमताओ से उत्पन्न होती हैं। वण-व्यवस्था का एक आधार सामाजिक ह और दूसरा मानसिक-आचारी (Psycho Moral)। जहा वण का आधार गुण माना गया है वहा सामाजिक आधार की अपेक्षा मानसिक आचारी आधार अधिक प्रधान हो जाता है। गुणों म वण-व्यवस्था को मानसिक-आचारी आधार (Psycho-Moral Bases) मिले हैं[1]। गीता म एक ओर यह दिखाया गया है कि प्रकृति सात्त्विक राजस और तामस तीन प्रवत्तियो स व्याप्त है और सारा ससार इन्ही तीन प्रवत्तियो तथा इनके घात प्रतिघात क कारण है और, दूसरी ओर यह दिखाया गया है कि इन्होंकि

वण धम और गुण

---

1 प्रभू, पी० एच० वही पृष्ठ 322

जीवन से पर एक स्तर वह भी है जहा यह प्रवत्तिया उस विराट पुरुष म ऐसे लीन हो जाती हैं जसे सरितायें सागर मे । उस स्तर पर गुण तो रहते है लेकिन गुणा का इहलौकिक प्रभाव अ यक्त हो जाता है । यही वह स्थिति है जहा यक्ति वर्णाश्रम से ऊपर उठकर परम तत्व मे मिल जाता है[1] । गीता के चौथे अध्याय मे भगवान कृष्ण ने कहा है, ' गुण कम के विभाजन के आधार पर मैन चार वण उत्प न किये हं। मैं चारो वर्णों का कर्ता होने पर भी अविनाशी और अकर्ता हू क्याकि कर्मो के फल मे न तो मेरी स्पहा है और न कम मुझ स्पश ही करते है। इसप्रकार, जो मुझे अच्छी तरह जानत है, व कम-ब धन म नही बधते है [2] ।

गीता के अनुसार सात्त्विक राजसी और तामसी भाव परमात्मा से उत्प न हुए हे । परमात्मा इन भावो पर निभर नही हैं, वरन ये भाव परमात्मा पर निभर हैं । सारा ससार इ ही त्रिगुणी भावा मे मोहित हो रहा है जिसके कारण परम अ यय (अविनाशी ई वर) को पहचानना कठिन है । ईश्वर इन भावो स उच्च और भि न है । त्रिगुणी भावो से दवी माया उत्प न होती है जिससे वही पार पाते हैं जो ईश्वर की शरण म जाते है[3] । इसप्रकार अलौकिक स्तर त्रिगुणी भावा से परे है। चौ हवें अध्याय म, दूसर ढग से इसी तथ्य पर जोर दिया गया है । कृष्ण के कथनानुसार 'महदब्रह्म अर्थात प्रकृति मरी योनि है। उसमे मैं गर्भाधान करता हू और उससे प्राणीमात्र की उत्पत्ति होती है सब योनिया म जिन जिन प्राणियों की उत्पत्ति होती है, उनकी उत्पत्ति का स्थान मेरी प्रकृति है और उनम बीजारोपण करने वाला पिता पुरुष मैं हू । सत्व, राजस और तामस ये तीनो गुण प्रकृति से उत्प न होते हैं और इस अविनाशी जीवात्मा को शरीर से बाधत है[4] ।

सात्विक, राजस और तामस गुण केवल ज विक या शरीरी ही नही हैं। त्रिगुणी भाव अथवा वत्तिया ज विक भी है और मानसिक भी। गीता के अनुसार सत्वगुण निमल होन क कारण प्रका क आरोग्यकर और देही को सुख तथा ज्ञान से बाधनेवाला है । रजोगुण रागरूप हाने स तष्णा और आसक्ति का मूल है और वह देहधारी को कमपा म बाधता है । तमोगुण अज्ञानमूलक है । तमोगुण देहधारीमात्र का मोह म डालता है और वही का असावधानी आलस्य तथा निद्रा के पाश म बाधता है । सत्व आत्मा म शा ति तथा सुख का रजस कम का और तमस ज्ञान ढक कर प्रमाद का प्रोत्साहित करता है । तीनो गुणा का एक साथ सहअस्तित्व नही पाया जाता है यद्यपि तीनो इस ससार म विद्यमान रहत हैं क्योंकि गीता म कहा गया है कि जब

---

1 गीता 2/4 , 46
2 गीता 4/13, 14
3 वही 7/12 13 14
4 वही] 14/3, 4, 5

रजस और तमस दबते हैं तब सत्त्व, जब सत्त्व और तमस दबते हैं तब रजस और जब सत्त्व तथा रजस दबते हैं तब तमस उभरता है[1]।

तीनों गुण अलग अलग वृत्तियों तथा उनके लक्षणों को जन्म देते हैं। सत्त्वगुण की वहाँ वृद्धि होती है जहाँ सब इन्द्रियों द्वारा इस देह में प्रकाश और ज्ञान का उद्भव होता है। जहाँ लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति और इच्छा का उदय होता है वहीं रजोगुण की वृद्धि होती है। तमोगुण की वृद्धि वहाँ होती है जहाँ अज्ञान, मंदता, असावधानी और मोह उत्पन्न होता है। सत्त्व गुण प्रधान देहधारी जब मरता है तो वह उत्तम ज्ञानियों के निर्मल लोक को पाता है, रजोगुण प्रधान देहधारी कर्मसंगी लोक (मनुष्य लोक) तथा तमोगुण प्रधान मूढ़योनि (पशुयोनि) में जन्म पाता है। सत्त्वगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ और तमोगुण से असावधानी, मोह तथा अज्ञान उत्पन्न होते हैं। अतः सत्त्वगुण ही सर्वश्रेयस्कर है क्योंकि सात्त्विक मनुष्य ऊँचे चढ़ते हैं, राजसी मध्य में रहते हैं और अंतिम गुण वाले तामसी अधोगति पाते हैं। त्रिगुण भाव से परे पारलौकिक सत्य तक व्यक्ति तभी पहुँचता है जब वह ज्ञान के द्वारा यह अनुभव कर लेता है कि गुणों के सिवा और कोई कर्ता नहीं है। गुणों से परे जो भाव है वही परमात्मा का भाव है। गुण व्यक्ति को कर्म तथा संसार से बाँधते हैं। अतः देहधारी जन्म मृत्यु और जरा के दुःख से छूटकर तभी मोक्ष पाता है जब वह देह के संग से उत्पन्न होने वाले तीनों गुणों को पार कर गुणातीत हो जाता है। गुणातीत वह है जो प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह प्राप्त होने पर दुःख नहीं मानता अर्थात् उनमें प्रवृत्त होने पर उन्हें बुरा नहीं समझता और उनसे निवृत्त होने पर उनकी आकांक्षा नहीं करता, जो उदासीन की भाँति स्थिर है, जिसे गुण विचलित नहीं करते, जो यह मानकर चलता है कि गुण ही इस संसार में बरत रहे हैं और इस कारण, कर्मफल के परिणाम से विचलित न होकर स्थिर रहता है, जो सुख-दुःख में सम और स्वस्थ रहता है, जो मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोने को समान समझता है, प्रिय अप्रिय वस्तु प्राप्त होने पर एक समान रहता है, जिसके लिये निन्दा और स्तुति, मान और अपमान, मित्र और शत्रु समान हैं और जिसने समस्त आरम्भों का त्याग कर दिया है अर्थात् जिसमें कर्ता की भावना का लोप हो गया है[2]।

गीता में संन्यास और त्याग में अंतर किया गया है। कामना से उत्पन्न हुए कर्मों के त्याग को ज्ञानी संन्यास के नाम से जानते हैं और समस्त कर्मों के फल के त्याग को बुद्धिमान लोग त्याग कहते हैं। देहधारी के लिये कर्म का सर्वथा त्याग सम्भव नहीं है। अतः, त्यागी वह है जो कर्मफल का त्याग करता है। गुणातीत कर्म-त्यागी नहीं वरन कर्मफल-त्यागी है। जहाँ नियत कर्म को आवश्यक मानकर, उसके

---

1 गीता 14/6, 7, 8, 9, 10
2 गीता 14/11 23

फल का त्याग किया जाता है, वह त्याग सात्विक है। जहा कर्म को दुखकारक समझ कर और कायाकष्ट के भय से कर्म का त्याग किया जाता है, वह त्याग राजस है और जहा मोहवश नियत कर्म का त्याग किया जाता है वह त्याग तामस है। गुणातीत वह है जो सात्विक त्याग करता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गुणानुसार कर्म मानव जीवन का एक स्थाई सत्य है जिसकी अवहेलना नही की जा सकती। ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता कर्म प्रेरणा के तीन तत्त्व हैं और इन्द्रिय, क्रिया तथा कर्ता कर्म के तीन अंग हैं। ज्ञान तथा ज्ञेय की सहायता से ही व्यक्ति परिज्ञाता और परिज्ञाता होने के बाद इन्द्रिय और क्रिया के माध्यम से कर्ता बनता है। व्यक्ति परिज्ञाता तथा कर्ता गुणानुसार बनता है। इसीकारण, गीता मे सभी कुछ त्रिगुणी भावो का विकार कहा गया है। मनुष्य भी इन त्रिगुणी भावो के विकार से मुक्त नही है[1]।

ज्ञान, कर्म कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख भी त्रिगुणी भावो के विकार का परिणाम हैं। उदाहरणार्थ समस्त भूतो मे एक ही अविनाशी भाव और विविधता मे एकता के भाव की अनुभूति सात्विक ज्ञान को जन्म देती है भिन्न भिन्न भूतो मे विभिन्न विभक्त भावो को देखना, राजस ज्ञान को और क्षणभंगुर नाशवान शरीर को आत्मा मानकर उसमे आसक्त रहने का भाव जो युक्ति तथा तत्व अर्थ से रहित होता है, तामस ज्ञान को जन्म देता है। फलेच्छा आसक्ति और रागद्वेष से रहित, नियत कर्म ही सात्विक है, जबकि भोगेच्छा और अहंभाव से किया कर्म राजस है। परिणाम हानि हिंसा और शक्ति का विचार किये बिना मोहवश किया हुआ कार्य तामस है। जिसके लिये सफलता असफलता हर्ष शोक बराबर है जो आसक्ति और अहंकाररहित है जिसमे दृढ़ता और उत्साह है वह कर्ता सात्विक जो रागी कर्मफल की इच्छा वाला लोभी, हिंसावान, मलिन हर्ष और शोक वाला है वह राजस और जो अव्यवस्थित, असंस्कारी, घमंडी शठ, नीच आलसी अप्रसन्नचित्त और दीर्घसूत्री है वह तामस है। सात्विक बुद्धि वही है जिसे प्रवृत्ति निवृत्ति कार्य, अकार्य, भय, अभय और बन्धन तथा मोक्ष का उचित ज्ञान है। राजसी बुद्धि धर्म अधर्म और कार्य तथा अकार्य का विवेक करने मे असमर्थ रहती है और तामसी बुद्धि अंधकार से घिरी हुई अधर्म को धर्म मानती है। जहा मन प्राण और इन्द्रियो की क्रिया को साम्यबुद्धि से धारण किया जाय वहा सात्विकी धृति होती है, जहा फल की आकांक्षा हो और धर्म काम तथा अर्थ का आसक्तिपूर्वक किया जाय, वहा राजसी और जहा दुर्बुद्धि, निद्रा भय शोक निराशा तथा मद का भाव हो वहा तामसी धृति होती है। जिसके अभ्यास से प्रसन्नता आती है और दुख का अन्त होता है, जो आरम्भ मे विषसमान किन्तु परिणाम मे अमृत जैसा होता है और जो आत्मज्ञान का

---

1 गीता 18/2, 6 7, 8, 9, 10 11 और 18

प्रसन्नता से उत्पन्न होता है वही सुख सात्विक होता है। विषय और इन्द्रियों के संयोग से जो आरम्भ में अमृत समान किन्तु परिणाम में विषसमान होता है वह राजस और जो निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद से उत्पन्न होता है तथा जिसका प्रारम्भ तथा परिणाम आत्मा को मोहग्रस्त करने वाला होता है वह सुख तामस है[1]।

इसप्रकार, पृथ्वी में, या स्वर्ग में अथवा देवताओं में, ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो, प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से मुक्त हो। मनुष्य भी इनसे मुक्त नहीं है[2]। ज्ञान, धृति बुद्धि कर्म और सुख जिनसे मनुष्य का जीवन बना हुआ है इन्हीं त्रिगुणी भावों के अधीन है। प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव इन्हीं त्रिगुणी भावों से अलग अलग बनता है जिसके अनुसार व्यक्ति कर्मरत होता है। स्वभाव द्वारा ही स्वकर्म की उत्पत्ति होती है। स्वकर्म में अनासक्ति भाव से रत होना उस परम तत्व को भजना है, जिससे सभी प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सारा संसार व्याप्त है। स्वकर्म ही मोक्ष का साधन है क्योंकि स्वकर्म ही स्वधर्म है। विगुण स्वधर्म, सुकर पर धर्म से कहीं अच्छा है। स्वभाव के अनुरूप कार्य करने वाला व्यक्ति को पाप नहीं लगता क्योंकि जिस प्रकार अग्नि के साथ धुएं का संयोग है उसी प्रकार सभी कर्मों में साथ दोष का संयोग है। अतः स्वभावानुसार कर्म को सदोष होने पर भी नहीं छोड़ना चाहिये। स्वभावविहित कर्म (गुण के अनुसार कर्म) धर्म का एक मुख्य आधार है। यह वह सीढ़ी है जिसके द्वारा व्यक्ति अभ्युदय तथा निःश्रेयस की ओर अग्रसर होता है। संन्यास द्वारा निष्कामता रूपी परम सिद्धि उसे मिलता है जो असक्त बुद्धि (आसक्ति से रहित बुद्धि वाला) जितात्मा (कामना रहित) और स्पृहविगत (इच्छा रहित) होता है[3]।

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र का विभाजन उनके स्वभावजन्य गुणों से उत्पन्न होने वाले धर्मों के कारण है। शम (शान्तभाव से कर्मरत रहना) दम, तप शौच क्षान्ति (क्षमा), आर्जव (सरलता) ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) विज्ञान (अनुभव, साक्षात्कार ज्ञान) और आस्तिकता ब्राह्मण के, शौर्य तेज धृति दक्षता युद्ध में पीठ न दिखाना दान और शासन क्षत्रिय के, खेती गोरक्षा और व्यापार वैश्य के तथा सेवा कार्य शूद्र के स्वभावजन्य कर्म हैं[4]। ब्राह्मण प्रत्येक में सात्विक वृत्ति का और इसकारण, ब्राह्मण वह है जिसकी प्रवृत्ति सात्विक ज्ञान सात्विक कर्म सात्विक कर्तृत्व, सात्विक बुद्धि, सात्विक धृति और सात्विक सुख की ओर है। इसी प्रकार, क्षत्रिय और वैश्य की प्रवृत्ति राजस की ओर है और शूद्र की तामस की ओर।

---

1 गीता 18/19–39
2 वही 18/40
3 वही 18/45, 46 47 48
4 गीता 18/41–44

वर्ण धर्म का निरूपण, इस प्रकार, स्वभावगत कर्तव्यों के रूप में किया गया है। इस निरूपण में स्वभावजन्य गुण तथा कर्म की भिन्नता को आधार माना गया है। लेकिन यह मानना भूल होगी कि वर्ण केवल स्वभावजन्य गुण तथा कर्मों की भिन्नता पर ही आधारित है। वर्ण धर्म का सार तो यही है कि वर्ण धर्म पर आधारित है न कि धर्म वर्ण पर[1]। वर्ण धर्म में, स्वभावजन्य गुण तथा कर्म की भिन्नता की जननी विधायक वृत्ति की भिन्नता के आधार पर एक लचीली सामाजिक संरचना को प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है। वर्ण धर्म उन कर्तव्यों में निहित है जो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र वर्ग के सदस्य, अपने अपने स्वभावजन्य गुणों के आधार पर, कर्म के रूप में ग्रहण करते हैं। उदाहरणार्थ, महाभारत के शान्ति पर्व में भीष्म के कथनानुसार शिक्षण, आत्म नियन्त्रण और तप ब्राह्मण के, अध्ययन, जनरक्षा, यज्ञ और दान क्षत्रिय के, अध्ययन, दान यज्ञ और उचित साधनों से धन संचय वैश्य के तथा तीनों वर्णों की सेवा शूद्र के कर्तव्य हैं। भीष्म के अनुसार शूद्र को कभी भी धन-संचय नहीं करना चाहिये क्योंकि धन संचय से शूद्र अन्य वर्ण के लोगों से उच्चतर हो जाता है। धन संचय शूद्र के लिये पाप है क्योंकि शूद्र का पालन पोषण अन्य वर्णों का धर्म है। शूद्र तो केवल सेवक है उसके पास जो कुछ भी है, वह उसके स्वामी का है। शूद्र यज्ञ कर सकता है किन्तु बिना वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किये[2]।

गुणानुसार कर्तव्य वर्ण धर्म

महाभारत के अनुशासन पर्व में उपवास धर्म ज्ञान विवेचन वेदविहित आचार का पालन, निरन्तर वेद पाठ गृह की पवित्र अग्नि को प्रज्वलित रखना, यज्ञ और अहिंसा ब्राह्मण के स्वाध्याय रक्षण, यज्ञ तथा दान के अतिरिक्त प्रारम्भ किये हुए कार्यों को पूरा करने की लगन, अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार दण्ड देना तथा दुखी जनों की सहायता के लिये तत्परता क्षत्रिय के, सच्चा व्यापार वैश्य का तथा तीनों वर्णों की सेवा शूद्र के कर्तव्य हैं[3]। महाभारत में एक अन्य स्थान पर भरद्वाज को वर्ण धर्म का महत्त्व बतलाते हुए महर्षि भृगु ने कहा है कि ब्राह्मण वह है जो जात कर्म तथा अन्य संस्कारों से संस्कृत किया गया है जिसका आचरण शुद्ध है वेदाध्ययन में जिसकी निष्ठा है जो नित्य वृत्ति (दैनिक व्यवहार) तथा सत्य के प्रति सदैव सजग रहता है, जिसके साथ सत्य दान अहिंसा अद्रोह दया, त्रपा (शील), उपकार और तप सम्मिलित हैं। इसीप्रकार क्षत्रिय वह है जो क्षत्रियोचित कर्तव्यों का पालन करने के साथ-साथ स्वाध्याय (वेदाध्ययन) दान तथा धन संचय की ओर प्रवृत्त हो।

---

1 प्रभु, पी० एच० वही पृष्ठ 318
2 प्रभु, पी० एच० वही पृष्ठ 307—308
3 वही पृष्ठ 307

वैश्य वह है जो पशुपालक, कृषक, धनोपार्जन के साधना में लगा हुआ, शुद्धाचरण वाला तथा स्वाध्यायी हो और, शूद्र वह है जो सर्वभक्षी, अनाचारी, अशुचि और अस्वाध्यायी[1] है।

भागवत पुराण में लक्षणों के आधार पर ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र का अंतर करके वर्ण धर्म का निरूपण किया गया है। भागवत पुराण में निरूपित वर्णों के लक्षणों का आधार विभिन्न वर्णों की स्वाभाविक योग्यता का अंतर तथा उनसे उत्पन्न होने वाली विभिन्न मानसिक विशेषताएं (Psych logical Traits) हैं। उदाहरणार्थ शान्त स्वभाव आत्म नियंत्रण, आत्म निग्रह (मिताहार) पवित्रता, सन्तोष क्षमा सरलता (आर्जव) विद्या तथा सत्यता और ईश्वर निष्ठा ब्राह्मण के, वीरता, शौर्य साहस तेज दान आत्मनियंत्रण क्षमा ब्राह्मण के प्रति विनयभाव, अनुकम्पा, शीलता तथा दूसरों की रक्षा का भाव क्षत्रिय के ईश्वर तथा गुरु के प्रति निष्ठा, सीमा बनाने का पालन उद्योग और दक्षता वैश्य के तथा विनम्रता पवित्रता स्वामी के प्रति अनन्य सेवा का भाव यज्ञ (जिसमें वेद मंत्रों का पाठ न हो) चोरी करने की प्रवृत्ति का अभाव सत्यता और पशु तथा ब्राह्मणों की रक्षा शूद्र के लक्षण हैं[2]। मनु ने प्रत्येक वर्ण की प्रधान वृत्ति पर वर्ण धर्म को आधारित किया है। वेदों का पठन पाठन ब्राह्मण के लिये, रक्षण क्षत्रिय के लिये वार्तावृत्ति (खेती कृषिव्यापार) वैश्य के लिये और सेवा शूद्र के लिये उत्तम कर्तव्य हैं[3]।

वर्ण-व्यवस्था में समान धर्म

जहां एक ओर, विभिन्न वर्णों के लिये धर्म का अलग अलग निरूपण किया गया है, वहां, दूसरी ओर सभी वर्णों के लिए समान धर्म का भी निरूपण किया गया है। वर्ण स्वभाव गुण कर्म के अनुसार भिन्न अवश्य हैं, लेकिन वर्ण भिन्नता का आधार तो केवल मानव में ही है। जहां जीवन का उद्देश्य मानवीयता है वहां वर्ण तो केवल मानवीयता प्राप्ति के माध्यम हैं। ऐसी दशा में यह आवश्यक हो जाता है कि वर्ण धर्म से परे उस धर्म का निरूपण किया जाय जो विभिन्न वर्ण धर्मों के साथ और विभिन्न वर्णों के माध्यम से मानव को मानवीयता की ओर ले जाय। महाभारत के शांतिपर्व में, आत्म के कथनानुसार अक्रोध (अप्रोधी भाव) सत्यभाषण, न्याय (धनविभाग) क्षमा, विवाहित पत्नी से ही सन्तानोत्पत्ति करना शुद्ध आचरण द्रोह से दूर रहना सरलता (आर्जव), दम करना और भृत्यों का पालन सभी वर्णों का धर्म है। महाभारत के अनुशासन पर्व में सभी के प्रति अनिन्द्यभाव (सद्‌भावना) धर्म का तथा धर्म की साधना और अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार नित्य दान

---

1 मनु, वही पृष्ठ 318
2 वही पृष्ठ 316
3 वही पृष्ठ 303

सभी वर्णों का समान धर्म माना गया है। मनु ने अहिंसा सत्य अस्तेय शौच इंद्रिय-निग्रह दम क्षमा आर्जव और दान को सभी वर्णों का समान धर्म माना है[1]।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि धर्म के साथ साथ आपद्धर्म की भी धारणा मिलती है। धर्म शाश्वत है लेकिन वह देश काल की परिस्थितियों तथा मर्यादाओं से परे नहीं है। देश काल की परिस्थितियों का प्रभाव इतना प्रबल है कि देश-काल के अनुसार धर्म भी अधर्म हो सकता है। वर्ण धर्म भी देश काल की परिस्थितियों तथा मर्यादाओं से उन्मुक्त नहीं है। आपत्ति अथवा सकट काल में यदि वर्णधर्म का पालन सम्भव न हो तो आपत्तिकालीन वर्ण धर्म (आपद्धर्म) का आश्रय लिया जा सकता है। महाभारत के शान्तिपर्व में यह कहा गया है कि आपत्तिकाल में ब्राह्मण क्षत्रिय के कर्मों को अपना सकता है या यदि क्षत्रिय कर्म उसकी सामर्थ्य के बाहर हो तो वह वैश्य कर्म को अपना सकता है। यदि वैश्यकर्म अपनाता भी है तो वह मदिरा नमक तिलहन (Sesamum Seeds) गर्दन पर बाल वाले जानवर साड शहद मास और पका हुआ भोजन किसी भी दशा में न बेचे। उसी प्रकार आपत्तिकाल में क्षत्रिय भी वैश्य कर्म अपना सकता है। महाभारत में यह नहीं लिखा गया है कि तीनों वर्ण शूद्र कर्म को अपना सकते है या नहीं? लेकिन प्रभू ने यह निष्कर्ष निकाला है कि महाभारत में तीनों वर्णों को किसी भी दशा में शूद्र कर्म अपनाने की अनुमति नहीं है[2]।

वर्ण धर्म और आपद्धर्म

धर्मशास्त्रों में भी वर्ण धर्म के निरूपण में आपद्धर्म को स्वीकार किया गया है। यहां भी आपत्तिकाल में ब्राह्मण को क्षत्रिय या वैश्य कर्म क्षत्रिय को वैश्य कर्म और वैश्य को शूद्रकर्म अपनाने की अनुमति दी गई है। धर्मशास्त्रों के अनुसार यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय कृषिकार्य को अपनाते हैं तो उन्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उनसे किसी भी जीव को चोट न पहुंचे और न उसकी हत्या हो और यदि वे व्यापार काम को अपनाते हैं तो वे पका भोजन तिलहन नमक पशु मनुष्य रंग तथा मलई या उनसे बना कपड़ा फल कन्दमूल औषधि की जड़ी बूटियां, पानी शस्त्र विष मांस सोम सभी प्रकार के सुगन्धित तैल दूध मक्खन तेल मांस शक्कर जंगली चौपाये पक्षी शराब नील लाख और एक खुरवाले चौपाये जानवरों को छोड़कर उन सभी वस्तुओं का व्यापार कर सकते है जिनका व्यापार करना वैश्य का धर्म है। मनु के अनुसार विद्या यांत्रिक व्यवसाय भृति (मजदूरी) सेवा (नौकरी) पशुपालन विपणि (व्यापार) कृषि धृति भिक्षा और कुसीदवृत्ति (सूदखोरी) जीवन पोषण के ये दस आधार हैं जिनका आपत्तिकाल में सभी वर्णों के लोग उपयोग

---

1 प्रभू, पी० एच० वही पृष्ठ 30, 307
2 वही पृष्ठ 308

कर सकते हैं। अकाल या निरीह आवश्यकता के पड़ने पर, यदि भोजन के न मिलने पर जीवन का ही खतरा हो तो भोज्य के रूप में चाण्डाल से भी गाय या कुत्ता स्वीकार करने में पाप नहीं लगता है—वैसे ही जैसे आकाश पर कभी भी कीचड़ की छाप नहीं लगती है। हाँ यह अवश्य है कि किसी भी दशा में किसी भी वर्ण के व्यक्ति को अपने से उच्च वर्ण के कर्म को नहीं अपनाना चाहिये[1]।

वर्ण धर्म को स्वधर्म के रूप में प्रतिपादित किया गया है और इस रूप में वर्ण धर्म के प्रति यह धारणा रही है कि अपने वर्ण का धर्म दूसरे वर्ण के धर्म से कहीं अच्छा है। यदि व्यक्ति अपने वर्ण के धर्म की अपूर्ण साधना कर पाता है और दूसरे के वर्ण-धर्म की साधना करने की उसमें क्षमता भी है तो भी उसे अपने ही वर्ण के धर्म को अपनाना चाहिए। वर्ण के अनुसार कर्म के प्रति निष्ठायुक्त समर्पण वर्ण धर्म का मुख्य आधार है। गीता में निष्काम कर्मयोग के जीवन दर्शन की पृष्ठभूमि में इसी पर जोर दिया गया है और महाभारत में अनेक प्रसंगों के द्वारा इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

वर्ण धर्म और स्वधर्म

महाभारत के वन पर्व में उस धर्म व्याध[2] की कथा आई है जिसने कौशिक नामक तपस्वी ब्राह्मण ने मोक्ष तथा धर्म की शिक्षा ली थी। ब्राह्मण ने जब यह आश्चर्य प्रगट किया कि व्याध को धर्म व्याध क्यों कहा जाता था तो व्याध ने उत्तर दिया, 'जिस कर्म के लिए सृजनकर्त्ता ने मुझे जन्म दिया है, मैं उसमें रत हूँ, मैंने अपना जीवन अपने उच्च वर्ण के लोगों तथा वृद्धों के लिए अर्पित कर दिया है। निम्न वर्ण में जन्म लेकर भी एक व्यक्ति आचारशील हो सकता है, चाहे जन्म या कर्म से वह वधिक ही क्यों न हो। प्रारब्ध सर्वशक्तिमान है। पूर्वजन्म के कर्मों के परिणाम से छुटकारा पाना कठिन है। मेरा वर्तमान रूप पूर्वजन्म के कर्मों तथा पापों का परिणाम है। लेकिन वधिक तो केवल साधन मात्र हैं क्योंकि जिसका वध होता है वह भी उसके पूर्वजन्मों के प्रभाव के कारण होता है। हमसे तो प्रायश्

---

1. प्रभु, पी० एच० 308-309
2. व्याध उसे कहते हैं जिसका कर्म जानवरों और पक्षियों को पकड़ना उनका वध करना और मांस बेचना है। धर्म व्याध शब्द का प्रयोग प्रतीक है उस व्याध का जो धर्म के मर्म को समझता था और जिसका आचरण धर्मानुसार था। धर्म-व्याध व्याध कर्म को प्रारब्ध समझ कर करता था। वह सत्यभाषी था, उसमें किसी के प्रति द्वेष नहीं था, अपनी सामर्थ्य के अनुसार वह भिक्षा तथा दान किया करता था, देवों, अतिथियों और भृत्यों की सेवा से जो बच रहता था, उसीपर वह अपना जीवन व्यतीत करता था, उसमें किसी के प्रति घृणा का भाव न था और न वह कभी किसी की बुराई करता था।

अपने कर्मों के प्रभाव में है। इसलिए यह देखना हमारा कर्तव्य हो जाता है कि किस प्रकार कर्म प्रभाव को दूर किया जा सकता है। दान, सत्यता, गुरु की सेवा, अपने वर्ण धर्म के प्रति निष्ठा, सदाचार, अहंकार से मुक्ति और निष्कपट सम्भाषण इत्यादि कर्म प्रभाव से मुक्त होने के अनेक साधन हैं। हमारे कर्मों की अच्छाई तथा बुराई के विषय में बहुत कुछ कहा जा सकता है। लेकिन, महान गौरव उसी को मिलता है जो अपने वर्ण धर्म (स्वधर्म) में रत रहता है। धर्म व्याध से वर्ण धर्म के इस विश्लेषण को सुनकर ब्राह्मण को यह निश्चय हो गया कि अपनी कर्तव्यपरायणता के कारण धर्म व्याध शूद्र नहीं वास्तव में ब्राह्मण है। तपस्वी ब्राह्मण कौशिक के शब्दों में 'जो ब्राह्मण अहंकारी, पापी, दुष्प्रवृत्ति वाला और नीच कर्मों में प्रवृत्त होता है वह वस्तुतः शूद्र है और जो शूद्र सदाचारी सत्यभाषी और आत्मनिग्रही है वह वस्तुतः ब्राह्मण है। अपने कर्म से ही कोई व्यक्ति ब्राह्मण बनता है और अपने कर्म से ही वह दुर्दैव को प्राप्त होता है।'

महाभारत में आये भीम-नहुष के प्रसंग[1] से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि वर्ण धर्म, कर्म पर आधारित है न कि जन्म पर। अजगररूपी नहुष के यह पूछने पर कि ब्राह्मण कौन है युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि ब्राह्मण वह है जिसमें सत्य, दान, क्षमा, उत्तम शील, दया, तापस प्रवृत्तियां और करुणा के भाव हों। अजगर के यह कहने पर कि ये लक्षण तो शूद्र में भी पाये जा सकते हैं युधिष्ठिर ने कहा कि यदि ये लक्षण किसी शूद्र में विद्यमान हों तो वह शूद्र नहीं ब्राह्मण है और यदि किसी ब्राह्मण में ये लक्षण अनुपस्थित हों तो वह ब्राह्मण नहीं शूद्र है। युधिष्ठिर के कथनानुसार ब्राह्मण और शूद्र का अन्तर उनकी अलग अलग जीवन वृत्तियों की विशेषताओं पर आधारित है न कि जन्म पर। इसपर अजगर (नहुष) ने प्रश्न किया 'तब जाति का अन्तर तब तक बेकार है जब तक मनुष्यों का कर्म विभिन्न वर्ण-वृत्तियों के अनुसार न हो?

---

1 नहुष, भीम और युधिष्ठिर का प्रसंग वनपर्व में आया है। नहुष पाण्डवों के पूर्वज थे। ऋषियों के प्रति उनका व्यवहार अत्यन्त क्रूर था। एक बार ऋषियों से उन्होंने अपना रथ खिंचवाया था जिससे दुखी होकर एक ऋषि ने उन्हें शाप दी थी कि उनका पुनर्जन्म अजगर सर्प के रूप में हो। साथ ही साथ उन्हें यह वरदान भी दिया कि उनका उद्धार उनके वंशज पाण्डवों से होगा। जंगल में अजगर सर्प के रूप में नहुष ने भीम को पकड़ लिया और अपने बल पराक्रम के बावजूद भी भीम अपने को छुड़ा न पाये। अजगर ने भीम को छोड़ने का वादा इस शर्त पर किया कि उसके प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दें। भीम के उत्तर न दे सकने पर धर्मराज युधिष्ठिर को बुलाया गया और उन्होंने सर्प के प्रश्नों का उचित उत्तर देकर भीम को छुड़ाया। अजगर का सबसे पहला प्रश्न था कि ब्राह्मण कौन है?

अजगर के प्रश्न का साराश यह निकलता है कि क्या वर्ण और जाति एक ही हैं ? इस पर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, 'वर्ण साकर्य के कारण किसी भी व्यक्ति की जाति निर्धारित करना कठिन है सभी वर्णों के स्त्री पुरुष पारस्परिक सम्भोग से सन्तानोत्पत्ति करते रहे हैं और कर रहे हैं भाषा सभोग मृत्यु और जन्म सभी वर्णों में समान रूप से पाये जाते हैं सभी वर्ण के लोगों को यज्ञ करने का अधिकार है धर्म के तत्त्वदर्शियों का यह कहना है कि शील ही सबसे अधिक वाछनीय मानवीय लक्षण है लेकिन शील का विकास संस्कारों द्वारा होता है जन्म के समय प्रत्येक मनुष्य शूद्र से किसी भी प्रकार उच्च नहीं होता है[1] जातकर्म के संस्कार के समय प्रत्येक मनुष्य की मा उसकी सावित्री है और पिता उसका आचार्य प्रत्येक व्यक्ति का शूद्रत्व तो उपनयन के बाद समाप्त होता है ब्राह्मण वस्तुत वह है जिसमें संस्कारकृत वृत्ति (संस्कारकृत वस्तु) पाई जाय ।

महाभारत के अनुशासन पर्व में महेश्वर से यह कहलाया गया है कि निम्न वर्ण का कोई भी व्यक्ति, इस जन्म में स्वधर्म का पालन करके, अगले जन्म में उच्च वर्ण को प्राप्त कर सकता है । लेकिन जो व्यक्ति अपने वर्ण धर्म का पालन नहीं करता है उसका अगला जन्म, इस जन्म के निम्नवर्ण में होगा । इसप्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य उच्च वर्ण इस जन्म में नहीं वरन् अगले जन्म में प्राप्त कर सकता है बशर्ते कि इस जन्म में वह अपने वर्ण धर्म का अनुसरण करे । इस जन्म के कर्म पिछले जन्मों के कर्मों का परिणाम हैं और उनसे छुटकारा तभी मिल सकता है अर्थात उच्च वर्ण तभी प्राप्त हो सकता है जब इस जन्म में मिले कर्मों को लगन के साथ किया जाय । इस सिद्धान्त के अनुसार वर्ण धर्म मुख्यत और धर्म साधारणत वे साधन हैं जिनके द्वारा व्यक्ति प्रत्येक जन्म में उच्चतर स्तर पा सकता है । आवागमन और धर्म सतत् उद्विकास के साधन हैं ।

वर्ण धर्म में कर्म

वर्ण धर्म के इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्ण का आधार धर्म है और वर्ण धर्म जहाँ एक ओर स्वभावजन्य गुणों से बधा है, वहाँ दूसरी ओर कर्म से । कर्म वर्ण का आधार है । लेकिन, जैसा कि पिछले विवेचन से स्पष्ट होता है कर्म को लेकर दो प्रकार की विचारधाराएँ मिलती है । एक विचारधारा यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का वर्ण उसके पूर्वजन्म के कर्म सचय पर आधारित है और बाद भी व्यक्ति इस जन्म में [illegible] सकता है । दूसरी विचारधारा यह है कि पूर्वजन्म कुछ नहीं है । इस जन्म के कर्म से ही वर्ण बनता है । महात्मा बुद्ध ने भी इस जन्म के कर्मों पर [illegible] बौद्धवादी सिद्धान्तों के अनुसार, इस जीवन के कर्मों से ही [illegible] जीवन बनता है । जैसा कि गीता में है महात्मागाँधी ने जन्म [illegible]

1 जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते ।

एक म मिलाया है। महात्मागाधी के अनुसार, 'मेरा यह विश्वास है कि जसे प्रत्येक व्यक्ति को आनुवंशिकता म एक आकार मिलता है, वसे ही उसे अपने प्रजनयिताओ (Progenitors) से कुछ विशष विशेषताएं तथा गुण मिलते है। इस तथ्य को स्वीकार करना अपनी शक्ति को सर्वावित करता है क्योंकि इससे अपनी महत्वाकाक्षाओ पर उचित रोक लग जाती है और अपनी शक्ति के लिए आध्यात्मिक जिज्ञासा तथा आध्यात्मिक उदविकास का क्षेत्र विस्तत हो जाता है। मन सन्व वर्णाश्रम धम का ही अपनाया है।' महात्मागाधी ने वण व्यवस्था को जन्म पर आधारित एक पुष्ट काम विभाजन की व्यवस्था मानी है क्योंकि जसा कि उन्होने कहा है, मेरे सामने उच्चता तथा निम्नता का कोई प्रश्न नही है। मेर सामन केवल कतव्य का प्रश्न है[1]। अत यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि वण का आधार जन्मजात गुण-कम है या अर्जित कम और सामाजिक प्रतिष्ठा।

महाभारत क शान्तिपव म जनक को वण की वास्तविकता समझते हुए महर्षि पाराशर ने कहा है कि वदविद ब्राह्मण सदाचारी शूद्र को भी ब्राह्मणस्वरूप मानते है। निम्नवर्णी व्यक्ति वण व्यवस्था म अपने का ऊचा उठाने क लिए, उच्च-वर्णी लोगो के आचार का अनुसरण कर सकते हैं यद्यपि उन्ह मन्त्रोच्चारण की आज्ञा नही है। जनक द्वारा यह पूछ जाने पर कि मनुष्य ज म से दूषित होता है या कम से, पाराशर ने उत्तर दिया कि एक दृष्टिकोण से मनुष्य दोनो से दूषित हो सकता है। फिर भी दोनो म एक विशष अन्तर है। जो व्यक्ति निम्न परिवार म जन्म लेने पर भी निम्न कम नही करता है वह जन्म से दूषित नही होता है और उच्च परिवार म जन्म लेने वाला व्यक्ति यदि नीच कम करता है तो उसके कम उसे दूषित करते हैं। जन्म और कम म अधिकतर दूषित प्रभाव कम का ही पडता है।

हिन्दूधमग्रन्थो म अनक एस उदाहरण मिल जाते हैं जिनम जन्म की अपेक्षा कम के आधार पर वण का निर्धारण किया गया है या वण परिवतन हुआ है। रामायण और महाभारत मे पता चलता है कि अपने प्रयत्नो स विश्वामित्र ने ब्राह्मण पद प्राप्त किया था[2]। परशुराम जन्म स ब्राह्मण किन्तु कम म क्षत्रिय थ। महाभारत

---

1 गोखले, बी० जी० इण्डियन थाट थ्रू दि एजज पष्ठ 31–35

2 वशिष्ठ के ब्राह्मण बल से प्रभावित होकर ही विश्वामित्र ने क्षात्र बल त्याग कर ब्राह्म बल क लिए तपस्या की थी। वशिष्ठ विश्वामित्र सघष में इतिहासकारों ने वगसघष क तत्व को ढूढ निकालने का प्रयास किया ह क्योंकि वशिष्ठ ने विश्वामित्र क इस प्रयास का विरोध किया था। काफी परिश्रम क बाद विश्वामित्र को ब्राह्मण-पद मिला था। लेकिन, प्रभु क अनुसार, यदि हम वर्णों को सात्विक, राजस तथा तामस गणों क आधार पर विभाजित मानें तो यह स्पष्ट हो जाता ह कि राजस मानसिक प्रवत्तियों को सहसा त्याग कर सात्विक को अपनाना सरल नहीं ह—प्रभु वही पष्ठ 320

मे कौरव पक्ष के प्रमुख सेनानी द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और अश्वत्थामा जन्म से ब्राह्मण किन्तु कर्म से क्षत्रिय थे। देवापि सिन्धुद्वीप और वीतहव्य क्षत्रिय राजकुमार थे किन्तु उन्हें ब्राह्मणत्व का पद मिला। इन्द्र जन्म से ब्राह्मण होते हुए भी कर्म से क्षत्रिय माने गये। भागवत पुराण में भी वर्ण परिवर्तन के अनेक उदाहरण प्राप्य हैं। सम्राट शर्याति को क्षत्रिय वर्ण में जन्म लेने पर भी ब्राह्मणत्व का पद मिला और नाभाग नामक राजकुमार को कर्म के आधार पर वैश्य का पद। भागवत पुराण में सम्पूर्ण गोत्र के वर्ण परिवर्तन के उल्लेख मिलते हैं। मौद्गल्य गोत्र के सदस्यों को ब्राह्मण वर्ण मिला यद्यपि वे मुद्गल नाम के क्षत्रिय से उत्पन्न हुए थे। सम्राट् ऋषभदेव के भी पुत्रों में से इक्यासी को ब्राह्मणत्व का पद मिला। पद्म पुराण के अनुसार महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास असत-दास-कुल (निम्नस्तर) में जन्मे थे और वशिष्ठ वेश्या पुत्र थे। किन्तु दोनों को द्विज की श्रेणी में रक्खा गया है[1]। वर्ण धर्म में हीं हिन्दुत्व का उसका सामञ्जस्यकारी गुण (Accomodative Quality) मिला है। यह इसी विशिष्टता का परिणाम है कि भगवान रामचन्द्र जैसे क्षत्रिय को, श्रीकृष्ण जैसे यादव को, वाल्मीकि जैसे निषाद को तुकाराम और अम्बेदकर जैसे शूद्रों को मीराबाई जैसी क्षत्राणी को, नामदेव जैसे दर्जी को रैदास जैसे चर्मज को और कबीर जैसे मुसलमान को हिन्दू-समाज में उच्च पद मिला है[2]। यह वर्ण धर्म में निहित आदर्श का ही परिणाम है कि ऐतिहासिक काल में अनेक व्यक्तियों तथा जातियों के वर्ण-स्तर के परिवर्तन के उदाहरण मिलते हैं जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

४

वर्ण असमानतायें

वर्ण धर्म का एक दूसरा पहलू भी है और वह है उसका पूर्वनिर्धारित रूप। प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसका वर्णधर्म अलौकिक तथा पूर्वनिर्धारित है जिसका पालन करना उसका धर्म है। वर्णधर्म के साथ-साथ वर्ण को भी पूर्वनिर्धारित माना गया। इसकी अभिव्यक्ति वर्णव्यवस्था में पाई जाने वाली उच्चावचपरम्परा (Hierarchy) में मिलती है। यह इसी विचार का परिणाम है कि विभिन्न वर्णों के लोगों के लिए विभिन्न व्यावहारिक मापदण्डों का निर्धारित किया गया है यद्यपि,

1 प्रभु वही पृष्ठ 321
2 वही 3.1

एक म मिलाया है। महात्मागाधी के अनुसार, मेरा यह विश्वास है कि जसे प्रत्येक व्यक्ति को आनुवशिकता से एक आकार मिलता है, वसे ही उसे अपने प्रजनयिताओ (Progenitors) से कुछ विशेष विशेषताए तथा गुण मिलते है। इस तथ्य को स्वीकार करना अपनी शक्ति का सर्वाधिक करना है क्योकि इससे अपनी महत्वाकाक्षाओ पर उचित रोक लग जाती है और अपनी शक्ति के लिए आध्यात्मिक जिज्ञासा तथा आध्यात्मिक उदविकास का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। मने सदव वर्णाश्रम धम को ही अपनाया है।' महात्मागाधी ने वण-व्यवस्था को जन्म पर आधारित एक पुण्य काय विभाजन की व्यवस्था मानी है क्योकि जसा कि उन्होने कहा है, मेरे सामने उच्चता तथा निम्नता का कोइ प्रश्न नही है। मेरे सामने केवल कतव्य का प्रश्न है[1]'। अत यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि वण का आधार जन्मजात गुण कम है या अर्जित कम और सामाजिक प्रतिष्ठा।

महाभारत के शान्तिपव म जनक को वण की वास्तविकता समझते हुए महर्षि पाराशर ने कहा है कि वेदविद ब्राह्मण सदाचारी शूद्र को भी ब्राह्मणस्वरूप मानते है। निम्नवर्णी व्यक्ति वणव्यवस्था म अपने को ऊचा उठाने के लिए, उच्च वर्णी लोगो के आचार का अनुसरण कर सकते है यद्यपि उन्ह मन्त्रोच्चारण की आज्ञा नही है। जनक द्वारा यह पूछे जाने पर कि मनुष्य जन्म स दूषित होता है या कम से, पाराशर ने उत्तर दिया कि एक दृष्टिकोण से मनुष्य दोनो से दूषित हो सकता है। फिर भी दोनो म एक विशेष अतर है। जो व्यक्ति निम्न परिवार म जन्म लेने पर भी निम्न कम नही करता है वह जन्म स दूषित नही होता है और उच्च परिवार म जन्म लेने वाला व्यक्ति यदि नीच कम करता है, तो उसके कम उसे दूषित करते हैं। जन्म और कम म अधिकतर दूषित प्रभाव कम का ही पडता है।

हिन्दूधमग्रन्थो म अनेक ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं जिनम जन्म की अपेक्षा कम के आधार पर वण का निर्धारण किया गया है या वण परिवतन हुआ है। रामायण और महाभारत स पता चलता है कि अपने प्रयत्नो स विश्वामित्र ने ब्राह्मण पद प्राप्त किया था[2]। परशुराम जन्म म ब्राह्मण किन्तु कम स क्षत्रिय थ। महाभारत

1 गोखले वी० जी० इण्डियन थाट थ्रू दि एजज पृष्ठ 31–3०

2 वशिष्ठ के ब्राह्मण बल से प्रभावित होकर ही विश्वामित्र ने क्षात्र बल त्याग कर ब्राह्म बल के लिए तपस्या की थी। वशिष्ठ विश्वामित्र सघष में इतिहासकारों न वगसघष के तत्व को ढूढ निकालने का प्रयास किया ह क्योंकि वशिष्ठ न विश्वामित्र के इस प्रयास का विरोध किया था। काफी परिश्रम के बाद विश्वामित्र को ब्राह्मण पद मिला था। लेकिन प्रभु के अनुसार, यदि हम वर्णो को सात्विक राजस तथा तामस गणों के आधार पर विभाजित मानें तो यह स्पष्ट हो जाता ह कि राजस मानसिक प्रवृत्तियों को सहसा त्याग कर सात्विक को अपनाना सरल नहीं ह—प्रभू वही पृष्ठ 3०0

मे कौरव पक्ष के प्रमुख सेनानी द्रोणाचार्य कृपाचार्य और अश्वत्थामा जन्म से ब्राह्मण किंतु कर्म से क्षत्रिय थे। देवापि मित्रद्वीप और वीतहव्य क्षत्रिय राजकुमार थे किंतु उन्हें ब्राह्मणत्व का पद मिला। इन्द्र जन्म से ब्राह्मण होते हुए भी कर्म से क्षत्रिय माने गये। भागवत पुराण में भी वर्ण परिवर्तन के अनेक उदाहरण आये हैं। सम्राट ययाति का क्षत्रिय वर्ण में जन्म लेने पर भी ब्राह्मणत्व का पद मिला और नाभाग नामक राजकुमार को कर्म के आधार पर वैश्य का पद। भागवत पुराण मे सम्पूर्ण गोत्र के वर्ण परिवर्तन के उल्लेख मिलते हैं। मौद्गल्य गोत्र के सदस्यों को ब्राह्मण वर्ण मिला यद्यपि वे मुद्गल नाम के क्षत्रिय से उत्पन्न हुए थे। सम्राट् ऋषभदेव के सौ पुत्रों में से इक्यासी को ब्राह्मणत्व का पद मिला। पद्म पुराण के अनुसार महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास असत क्षत्र-कुल (निम्नस्तर) में जन्मे थे और वशिष्ठ वेश्या पुत्र थे। किंतु दोनों को द्विज की श्रेणी में रखा गया है[1]। वर्ण धर्म से ही हिन्दुत्व को उसका सामञ्जस्यकारी गुण (Accomodative Quality) मिला है। यह इसी विशेषता का परिणाम है कि भगवान रामचन्द्र जैसे क्षत्रिय को, श्रीकृष्ण जैसे यादव को वाल्मीकि जैसे निषाद को तुकाराम और अम्बेदकर जैसे शूद्रों को मीराबाई जैसी क्षत्राणी को, नामदेव जैसे दर्जी को रैदास जैसे अन्त्यज को और कबीर जैसे मुसल्मान को हिन्दू-समाज में उच्च पद मिला है[2]। यह वर्ण धर्म में निहित आदर्श का ही परिणाम है कि ऐतिहासिक काल में अनेक व्यक्तियों तथा जातियों के वर्ण-स्तर के परिवर्तन के उदाहरण मिलते हैं जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

४

वर्ण असमानतायें

वर्ण धर्म का एक दूसरा पहलू भी है और वह है उसका पूर्वनिर्धारित रूप। प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसका वर्णधर्म अलौकिक तथा पूर्वनिर्धारित है जिसका पालन करना उसका धर्म है। वर्णधर्म के साथ-साथ वर्ण को भी पूर्वनिर्धारित माना गया। इसकी अभिव्यक्ति वर्णव्यवस्था में पाई जाने वाली उच्चावचपरम्परा (Hierarchy) में मिलती है। यह इसी विचार का परिणाम है कि विभिन्न वर्णों के लोगों के लिए विभिन्न व्यावहारिक मापदण्डों का निर्धारण किया गया है यद्यपि,

1 प्रभू वही पृष्ठ 321
2 वही 3.1

सिद्धान्तत, सभी वर्णों को समान माना गया है। संस्कारों में वर्ण वर्ण में भेद किया गया है और संस्कारों की विवेचना के साथ साथ इस भेद का उल्लेख भी किया गया है। यहां उनका संक्षिप्त पुनरुल्लेख आवश्यक है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के लोगों को क्रमश आठ ग्यारह और बारह वर्षों की आयु में विद्या आरम्भ करने का विधान है। शूद्र के लिए न तो विद्या अध्ययन का ही विधान है और न उपनयन संस्कार का ही। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के लिए वेदाध्ययन की अनुमति है। शूद्र को वेदाध्ययन से वंचित रक्खा गया है। उपनयन संस्कार में प्रयुक्त होने वाले वस्त्र, यज्ञोपवीत और दण्ड में भी वर्ण के अनुसार अन्तर रक्खा गया है[1]। अनुलोम विवाह के सिद्धान्तों के अनुसार प्रत्येक पुरुष को अपने तथा अपने से निम्न वर्ण में विवाह करने का अधिकार है और प्रतिलोम विवाह के सिद्धान्तों के अनुसार कोई भी पुरुष अपने से उच्च वर्ण में विवाह नहीं कर सकता है। इन वैवाहिक सिद्धान्तों का स्वाभाविक परिणाम यह है कि जिस पुरुष का वर्ण जितना निम्न है उसका पत्नी चुनने का क्षेत्र उतना ही सीमित है अपने वास्तविक रूप में यह नियन्त्रण सामाजिक निर्योग्यता के अतिरिक्त और क्या है ? जो वर्ण सामाजिक उच्चोच्च-परम्परा के सोपान में जितना निम्न है उस पर यह निर्योग्यता उतनी ही अधिक लागू होती है[2]। विवाह के द्वारा वर्ण शुद्धता बनाये रखने को वाञ्छनीय माना गया है और वर्णसांकर्य को अवाञ्छनीय। वर्ण भेद में कर्मकाण्ड (Ritualism) पर अधिक जोर दिया गया है। शूद्र के संस्कारों में वैदिक मन्त्रों के प्रयोग न करने का विधान किया गया है। शूद्र के लिए अन्त्यज शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है निम्नतम। जो वर्ण जितना उच्च है उसके संस्कार उतने ही सघन वैदिक मन्त्रों से विधि और वैदिक आदेशों के अनुसार है। इस सन्दर्भ में वैदिक धर्म

---

1 वही 113 114 115 116

2 जहाँ, एक ओर, अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह के नियमों के रूप में वर्ण वर्ण में पाई जाने वाली सामाजिक निर्योग्यताओं का विचार मिलता है वहाँ, दूसरी ओर, जैसा कि प्रभु ने दिखाया है, महाभारत में वर्ण अन्तर्विवाहों के अनेक उदाहरण भी मिलते हैं जो विभिन्न वर्णों की आधारभूत समानता का प्रतीक माने जा सकते हैं। शान्तनु (क्षत्री) का सत्यवती (शूद्र कन्या) से, दुष्यन्त (क्षत्री) का शकुन्तला (ब्राह्मण ऋषि कण्व की कन्या) से सम्राट ययाति (क्षत्री) का ब्राह्मण पुरोहित शुक्राचार्य की कन्या देवयानी से और च्यवन ऋषि का राजकुमारी सुकन्या से विवाह इस तथ्य के उदाहरण है कि महाभारत काल में वर्णभेद विवाह का आधार नहीं था। लेकिन, साथ ही-साथ, यह कहना कठिन है कि कहां तक ये विवाह एक सार्वजनिक नियम का प्रतीक है। इन्हें अनुलोम प्रतिलोम सिद्धान्तों का अपवाद भी कहा जा सकता है।

विभिन्न वर्णों के लिए अलग अलग पूर्वनिर्धारित आदर्श है।

इसप्रकार वर्णधर्म के निरूपण में, एक ओर मनुष्य में पाये जाने वाले गुणों तथा कर्मों के भेदों के अनुसार चतुर्वर्ण व्यवस्था को आधारभूत मान लिया गया है और कर्म पर आधार देकर उस अर्जित सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर एक लचीली वर्ग व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है तथा दूसरी ओर चार वर्णों को स्थायी मानकर प्रत्येक वर्ण के लिए अलग अलग व्यावहारिक नियमों को निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। जहाँ चारों वर्णों को स्थायी मान कर, उनके लिए पूर्वनिर्धारित नियमों के निरूपण का प्रयास किया गया है वहाँ कर्म के स्थान पर जन्म को प्रधानता मिल गई है जिसके कारण वर्ण से जाति का विभ्रम हो जाता है। यही कारण है कि हिन्दू विचारधारा में वर्ण का स्वरूप जन्म तथा कर्म सम्बन्धी द्विविधापूर्ण विचारधारा मिलता है जिसके कारण वर्ण तथा वर्णधर्म के वास्तविक स्वरूप को जानने में सफलता नहीं मिल पाई है। एक ओर, मनुष्य तथा कर्म पर आधारित वर्ण का वह आदर्श रूप मिलता है जिसकी व्याख्या तथा प्रतिपादन वेद, पुराण, गीता और महाभारत इत्यादि ग्रन्थों में मिलता है और, दूसरी ओर, वर्ण का वह रूप है जो असमानताओं तथा निर्योग्यताओं में सम्वर्धित रहा है। वर्तमान भारत में यह द्विविधापूर्ण विचारधारा चल रहा है। आर्यसमाज ने वर्ण-व्यवस्था के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया और गांधी ने उसे सुव्यवस्थित बनाने का प्रयास किया। दूसरी ओर एम इतिहासकार तथा विचारक हैं जिन्होंने वर्तमान जाति-व्यवस्था के आधार पर वर्ण की विवेचना करके उसे दोषपूर्ण ठहराने का प्रयत्न किया। वर्ण के वास्तविक स्वरूप के समझने के लिए, वर्ण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जितनी विचार-धारायें मिलती हैं, उनका विवेचन आवश्यक है।

५

वर्णोत्पत्ति के सिद्धान्त

हिन्दू विचारधारा में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वर्ण-व्यवस्था को मानव-जीवन का स्थायी आधार माना गया है। लेकिन वर्ण की धारणा स्थायी नहीं है। वर्ण की धारणा का हिन्दू विचारधारा में एक गहन उद्विकास हुआ है। वर्ण विचार का प्रथम प्रस्फुटन ऋग्वेद में हुआ है, और, बाद में समयानुसार, इस विचार की व्याख्या, इसका निर्वचन और परिवर्तन होता रहा। इस विचार पर, एक ओर युग-युग की सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा है और, दूसरी ओर, भारत की सर्वाङ्गीण सामाजिक परिस्थिति ने इस पर प्रभाव डाला है। यह वह विचार है जो भारत के

धमग्रन्था मे निहित है। दूसरा विचार, भारत के इतिहासकारो तथा इण्डालोजिस्ट का है। धम ग्रन्था म निहित वण सम्बन्धी तथ्यो के आधार पर इन्होने वण के उदभव को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वण उदभाव सम्बन्धी तीसरा विचार भारत के समाजशास्त्रियो का है जिसका प्रणयन अब प्रारम्भ हुआ है।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त म एक अलौकिक रहस्यात्मक विराट पुरुष की कल्पना की गई है।

रहस्यवादी सिद्धान्त

इसी पुरुष से सारे ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है और सारे ब्रह्माण्ड म यही पुरुष व्याप्त है। इसी पुरुष के मनस से चन्द्रमा की, आखा स सूय की, मुख मे इन्द्र और अग्नि की श्वास स वायु की नाभि स अन्तरिक्ष की, सिर स आकाश की, परा स भूमि की और काना से चारा दिशाआ की उत्पत्ति हुई है। ब्राह्मण वण इसी विराट पुरुष का मुख है। राजन्य (क्षत्रिय) इसकी भुजाये वश्य इसकी जघायें और शूद्र इसके पर है[1]। पुरुष सूक्त की इन पक्तियो का प्रतीकात्मक अथ निकाला गया है। पुरुष प्रतीक माना गया है समाजरूपी शरीर का और मुख बाहु जघा और पर के रूप म ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र वण समाजरूपी शरीर क अग है। समाज म इन वर्णा का वही महत्व है जा शरीर म मुख बाहु, जघा और पर का है। इसी आधार पर यह विचारधारा मिलती है कि सभी वर्णा के व्यक्ति वस्तुत समान हैं—वस ही जस शरीर के सभी अग। जसे शरीर क सभी अगा का महत्व है वसे ही समाज म सभी वर्णों का महत्व है। जिस प्रकार मुख, बाहु जघा और पैर का शरीर म उपयागी महत्व है उसी प्रकार ब्राह्मण क्षत्रिय, वश्य और शूद्र वर्णों का समाज म उपयागी महत्व है। इसी विराट पुरुष के अगा के रूप म वर्णों की उत्पत्ति का विचार महाभारत और गीता म मिलता है। उपनिषदा म पुरुष का स्थान ब्रह्म न ले लिया है और कही कही पुरुष के स्थान पर प्रजापति की कल्पना रक्खी गई है।

ब्राह्मणग्रन्था तथा उपनिषदा म भी यही रहस्यात्मक विचारधारा मिलती है। शतपथ ब्राह्मण म एक स्थान पर यह कहा गया है कि प्रत्यक वण म पाये जान वाले अग्नि के चार दिव्य तत्वा स चार वर्णों की उत्पत्ति हुई है। दिव्य ब्राह्मण स मानवी ब्राह्मण की दिव्य क्षत्रिय स मानवी क्षत्रिय की दिव्य वश्य से मानवी वश्य की और दिव्य शूद्र स मानवी शूद्र की उत्पत्ति हुई है। तत्तरय संहिता म शूद्र का प्रजापति के चरणो स उत्पन्न हुआ माना गया है। वृहदारण्यक उपनिषद म वर्णों की उत्पत्ति के विषय म यह कहा गया है कि प्रारम्भ म केवल ब्राह्मण क अतिरिक्त और कोई वण नही था। किन्तु अकले उसकी समृद्धि न हा सकी। अत कल्याण की प्राप्ति क लिए

1 ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहू राजन्य कृत।
ऊरू तदस्यद वश्य पदभ्याम शूद्रो अजायत॥

क्षत्र वर्ण की उत्पत्ति हुई। क्षत्र वर्ण, इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, परजन्य, यम, मृत्यु और ईशान इत्यादि देवों से मिलकर बना। जब उससे भी काम न चला तो वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत इत्यादि के रूप में विशम (वश्यत्व) की उत्पत्ति हुई और उससे भी काम न चलने पर पूषन देव के रूप में शूद्र की उत्पत्ति हुई और जब इनसे भी काम न चला तो मानव-कल्याण के लिए धर्म की उत्पत्ति हुई। बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार इहलौकिक चार वर्णों की उत्पत्ति चार दिव्य वर्णों से हुई है। छान्दोग्य उपनिषद में इस रहस्यात्मक विचार का एक नया रहस्यात्मक आधार प्रदान किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार किसी भी वर्ण में जन्म, पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार होता है। जिनका आचार इस जन्म में अच्छा है उन्हें अगले जन्म ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्यवर्ण में मिलता और जिनका आचार इस जन्म में दूषित है उन्हें अगला जन्म कुत्ता, सुअर या चाण्डाल योनि में मिलता[1]।

महाभारत में कई प्रकार से वर्णों की उत्पत्ति को स्पष्ट किया गया है। महाभारत में आये एक दृष्टिकोण के अनुसार सतयुग में वर्ण और जाति का भेद नहीं था। शान्तिपर्व में महर्षि भृगु के कथनानुसार पहले केवल ब्राह्मणों की ही उत्पत्ति हुई और बाद में चार वर्ण अस्तित्व में आये। यहीं यह सिद्धांत भी मिलता है जिसके अनुसार यह माना जाता है कि मूलतः ब्राह्मण का वर्ण सित, क्षत्रिय का लोहित, वैश्य का पीत और शूद्र का असित है।

महाभारत का बहुमुखी दृष्टिकोण

महाभारत में यह सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया गया है कि द्विजवर्ग से ही सारे वर्णों तथा जातियों की उत्पत्ति हुई है। वर्णसांकर्य से जातियों की उत्पत्ति का सिद्धान्त भी महाभारत में मिलता है। महाभारत के शान्तिपर्व में पुरुषसूक्त में निहित रहस्यात्मक सिद्धान्त का भी वर्णन मिलता है। महाभारत के अनुसार, ब्राह्मण की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से हुई, क्षत्रिय की ब्रह्मा के बाहुओं से, वैश्य की जंघाओं से और शूद्र की ब्रह्मा के चरणों से। शान्तिपर्व में भीष्म के कथनानुसार प्रारम्भ में प्रजापति (जो प्रजा का पति अथवा राजा है) ने केवल चार वर्ण उत्पन्न किए और उनके कर्त्तव्यों को निर्धारित किया। लेकिन बाद में इन चारों वर्णों के सांकर्य से अन्य समूह उत्पन्न हुए। महाभारत के अनुशासन पर्व में आये जनक तथा पाराशर के सम्वाद से यह भी स्पष्ट होता है कि महाभारत में जहाँ, एक ओर सभी वर्णों को समान माना गया है वहाँ, दूसरी ओर, आनुवंशिक क्षमताओं की भिन्नता को भी वर्ण भिन्नता का आधार माना गया है। जनक के यह पूछने पर कि वर्णभेद का आधार क्या है, पाराशर ने उत्तर दिया कि सन्तान में माता पिता की ही उत्पत्ति होती है और यदि भूमि और बीज अच्छे नहीं हैं तो उनसे उत्पन्न सन्तान भी अच्छी नहीं होगी। महाभारत में विभिन्न वर्णों के गुण तथा कर्मों के निर्धारण का

---

1 प्रभु पी० एच० वही पृष्ठ 298

भी प्रयास मिलता है। यहां यह कहना अत्युक्ति न होगी कि महाभारत में जहां सभी मनुष्यों को समान माना गया है, सभी वर्णों को प्रजापति के अंगों के रूप में माना गया है, सभी वर्णों को मूलतः समान कहा गया है और इस आधारभूत समानता के सिद्धान्त को उस सीमा तक ले जाया गया है जहां वर्ण का आधार इहलौकिक जीवन के संस्कार, गुण और कर्म ही हैं वहां, दूसरी ओर व्यक्ति-व्यक्ति तथा समूह समूह में पाए जाने वाले गुण भेद का आधार आनुवंशिक भी माना गया है। गीता में, विराट पुरुष से संसार तथा वर्णों की उत्पत्ति के विचार की अलौकिक पृष्ठभूमि में, स्वभावजन्य गुण कर्म की भिन्नता को वर्ण भिन्नता का आधार माना गया है। मनुस्मृति में अलौकिक तत्व से निर्मित चार वर्णों को आधारभूत और शाश्वत मानकर, उनके आधार पर जातियों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसप्रकार, धर्मग्रन्थों में निहित वर्ण उत्पत्ति के सिद्धान्तों का एक आधार परलौकिक है और दूसरा स्वभावजन्य गुण कर्म। इन सिद्धान्तों में मानव की आधारभूत समानता स्वीकार की गई है लेकिन साथ ही साथ स्वभावजन्य गुण कर्म की भिन्नता को भी आधारभूत माना गया है।

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति से सम्बन्धित अन्य विचार इण्डोलाजिस्ट (Indologist), इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों तथा मानवशास्त्रियों के हैं जिन्होंने धर्म ग्रन्थों में निहित सामग्री के आधार पर वर्ण के स्वरूप और उत्पत्ति का निर्धारित करने का प्रयास किया है। इस दिशा में जो विचार प्रतिपादित किए गए हैं उनमें एकमतता नहीं है और न होने की सम्भावना ही है क्योंकि धर्मग्रन्थों में निहित सामग्री का निर्वचन कई दृष्टिकोणों से किया जा सकता है। विषय वस्तु को स्पष्ट करने के दृष्टिकोण से यहां मुख्य मुख्य विचारों का वर्णन किया जा रहा है।

प्रजाति सम्पर्क और संस्कृति संघर्ष

ऋग्वेद में कहीं तीन वर्णों (ब्राह्म, क्षत्रम और विशः) का उल्लेख मिलता है और कहीं ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चार वर्णों का। पुरुषसूक्त के विषय में लोगों का ऐसा मत है कि यह बाद की रचना है। प्रभू ने हाग (Haug) के मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार यह प्रतीत होता है कि वर्ण-व्यवस्था के आधार में जाति व्यवस्था रही है[1]। हाग (Haug) के अनुसार यह सत्य है कि ऋग्वेद के प्रारम्भ के अंशों में जाति प्रथा का उल्लेख नहीं है और न जाति प्रथा का उस रूप में वर्णन ही मिलता है जिस रूप में उसका निरूपण पुराणों और स्मृतियों में मिलता है। लेकिन यह भी नहीं कहा जा सकता कि ऋग्वैदिक काल में जाति प्रथा का अस्तित्व ही नहीं था। हां, यह अवश्य है कि इस काल में विभिन्न वर्णों में पाए जाने वाले अवरोध (Barriers) इतने प्रबल नहीं थे जितने कि वे बाद में हो गए। इसी सन्दर्भ में हटन ने लिखा है

1 प्रभू पी० एन वही पृष्ठ 291

कि वर्णव्यवस्था अपने मूलरूप में अनावृत्त वर्णव्यवस्था (Open Class System) के रूप में थी। प्रभु ने यह निष्कर्ष निकाला है कि ऋग्वेद में जिस समाज की रूपरेखाओं का वर्णन है, उसमें वर्ण तो थे लेकिन पेशा, खान पान और विवाह के आधार पर वर्ण-वर्ण में भेद न था[1]। इसका एक सम्भव कारण यह भी हो सकता है कि ऋग्वेद में मूलतः आर्यों के ही समाज का वर्णन है। अधिकतर विद्वानों का यही मत है कि वर्ण व्यवस्था के रूप में ऋग्वैदिक समाज की वर्ण-व्यवस्था वंशानुक्रम की अपेक्षा व्यक्तिगत गुणों पर अधिक आधारित थी।

लेकिन ऋग्वेदीयकाल की सामाजिक वर्ण व्यवस्था से सम्बन्धित दो अन्य तथ्यों का उल्लेख यहां आवश्यक है। पहला तथ्य यह है कि तत्कालीन आर्यों के समाज में वर्ग व्यवस्था अंकुरित हो चुकी थी जिसका प्रमाण ब्राह्म (पुरोहितवर्ग), क्षत्रम, (अभिजात्य या शासक वर्ग) और विशः (जनसाधारण) नामक तीन वर्णों का उल्लेख है। यह इस बात का प्रमाण है कि तत्कालीन आर्यों के समाज में कार्यात्मक विशेषीकरण (Functional Specialization) की प्रक्रिया अस्तित्व में आ चुकी थी और आर्यों में त्रिवर्गी वर्ण विभाजन इसी का परिणाम था। दूसरा तथ्य यह है कि, एक ओर, सित वर्णी आर्यों का वर्णन मिलता है और, दूसरी ओर असित वर्णी दासों अथवा दस्युओं का। दास या दस्यु शब्द का प्रयोग अनार्यों के लिए हुआ है। ऋग्वेद के अपने वर्णन के अनुसार अनार्य वे हैं जिनकी त्वचा कृष्णवर्ण की है, जिनकी नाक चौड़ी है, जिनकी भाषा समझ में नहीं आती है, जिनमें यज्ञ और ईश्वर की पूजा नहीं पाई जाती है और जो विचित्र प्रकार की प्रथाओं का पालन करते हैं। ऋग्वेद में शूद्र शब्द का कोई स्पष्टीकरण नहीं मिलता है और कालान्तर में शूद्र शब्द दास शब्द का पर्याय हो गया। यह भी कहा जा सकता है कि दास या दस्यु शब्द का प्रयोग साधारणतः द्राविड़ों तथा प्राक् द्राविड़ गणजातियों के लिए हुआ होगा[2]। प्रभु के

---

1 प्रभु ने एक ब्राह्मण ऋषि का कथन उद्धृत किया है जिसमें वह कहता है कि 'मैं कवि हूं, मेरे पिता वैद्य थे मेरी माता अनाज पीसने वाली थीं'। ऋषि भृगु के कुछ वंशज' ऐसा कहा जाता है रथ निर्माण की कला में निपुण थे (पृष्ठ 293)। ययाति (क्षत्रिय) और देवयानी (ब्राह्मण कन्या), दुष्यन्त (क्षत्रिय) और शकुन्तला (ब्राह्मण कन्या) के विवाहों जैसे उदाहरण देकर प्रभु ने यह निर्धारित किया है कि विवाह के आधार पर वर्ण-वर्ण में भेद न था (पृष्ठ 294)।

2 इसी आधार पर कुछ विद्वान वर्ण की उत्पत्ति भारत में होने वाले प्रजाति-सम्पर्क (Contact of Races) से मानते हैं यद्यपि, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, वर्ण प्रजाति नहीं है। रिसले ने प्रजाति को वर्ण ही नहीं जाति का आधार माना है और डा० मजूमदार ने जाति के मूलाधारों को संस्कृति संघर्ष और प्रजाति संपर्क (Clash of Cultures and Contact of Races) में निर्धारित करने का प्रयास किया है।

अनुसार, सम्भव है कि शूद्र कोई मुख्य दास गणजाति रही हो जिसके आधार पर पराजितों को आर्यों ने शूद्र की संज्ञा दी हो और कालांतर में शूद्र शब्द का व्यंजनात्मक अर्थ दास (गुलाम) के अर्थ में हो गया[1]। इरावती कर्वे के अनुसार, शूद्र शब्द का प्रारम्भिक अर्थ और इतिहास अनिश्चित है। बहुत सम्भव है कि यह कोई गणजातीय (Tribal) नाम रहा हो जो कालांतर में निम्नतम सामाजिक स्तर का प्रतीक बन गया हो[2]।

इरावती कर्वे ने वर्णोत्पत्ति का एक अन्य स्पष्टीकरण दिया है। उनके अनुसार, *इस बात की अधिक सम्भावना जान पड़ती है कि जाति के प्रकार का संगठन* भारत में आर्यों के पहले ही अस्तित्व में आ चुका था। जब भारत में आर्य विजिताओं के रूप में आए तो उन्होंने अपनी त्रिवर्गी वर्ण-व्यवस्था को देशज सामाजिक-व्यवस्था से ऊपर रक्खा। इसप्रकार, जब जाति और वर्ण व्यवस्थाओं का सम्मिलन हुआ तो देशज *सामाजिक-व्यवस्था के अनेक तत्त्व वर्ण-व्यवस्था में मिल गए। वर्ण-व्यवस्था की जड़ें* देशज जाति-व्यवस्था के आर पार होती चली गईं। ब्राह्मणों ने अपने वर्ग में अनेक देशज समूहों को मिलाया। क्षत्रियों ने अनार्य राजपरिवारों की राजकुमारियों से विवाह किए और विश, धीरे धीरे, श्रमिकों की अवस्था से ऊपर उठकर एक धनाढ्य वर्ग के रूप में बदल गए। बौद्ध साहित्य में वैश्य का वर्णन उत्तरवैदिक काल के विश (सर्वसाधारण कृषक और पशुपालक) के रूप में न मिलकर धनाढ्य व्यापारी के रूप में मिलता है। इस काल में कृषक और पशुपालक हेय दृष्टि से देखे जाते थे। *एक सर्वसाधारण श्रमिक वर्ग से आर्य विश का एक धनाढ्य व्यापारी वर्ग में रूपांतर तभी* हुआ जब पराजित वर्ग के लोग कठिन तथा निम्न कार्य के लिए उपलब्ध हुए[3]। इस की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि आर्यों के संस्कार, जिनमें यज्ञोपवीत मुख्य है, केवल तीन ही वर्णों के लिए हैं। विश वर्ण के लोगों को आर्यों के समाज में उच्चस्थान पाने के लिए निरंतर प्रयास करना पड़ा है। व्यापार तथा उत्पादन में लगे होने के कारण, एक ओर वैश्यवर्ग का सम्पर्क श्रमिकवर्ग (शूद्रों) से रहा और, दूसरी ओर उच्चवर्ग के लोगों से। *सम्भवतः यह उच्च सामाजिक स्थिति प्राप्त करने का ही प्रयास था कि बुद्धवादी आन्दोलन का सबसे अधिक प्रभाव वैश्य तथा शूद्र वर्ग के लोगों पर* ही पड़ा। आज भी हिन्दू समाज में उच्चस्तर प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील जातियों में (जो अधिकतर शूद्र वर्ग में आती हैं) आर्य संस्कारों, जिनमें यज्ञोपवीत मुख्य है, को अपनाने पर जोर दिया जाता है। वर्ण व्यवस्था के इस पहलू पर आवश्यक स्थान पर पुनः विचार किया जायगा।

---

1 प्रभु, पी० एच० वही पृष्ठ 293

2 कर्वे, इरावती हिन्दू सोसायटी एन इंटरप्रिटेशन पृष्ठ 53

3 वही पृष्ठ 57

वैदिक युग के बाद, धीरे-धीरे, वर्णों में अन्तर बढ़ता हुआ मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में चारों वर्णों के लिए अलग अलग सम्बोधन शब्दों के प्रयोग का विधान मिलता है। यही नहीं, अलग-अलग वर्णों के लिए अलग अलग आकार के पिंडों का भी विधान है। साथ ही साथ, यह भी विधान है कि ब्राह्मण गायत्री मन्त्र भू, क्षत्रिय भुव और वैश्य स्व से उच्चारण करें क्योंकि ब्राह्मण की उत्पत्ति भू शब्द से, क्षत्रिय की भुव और वैश्य की स्व शब्द से हुई है। तैत्तरीय ब्राह्मण के अनुसार, ब्राह्मण का यज्ञ का अनुष्ठान बसन्त ऋतु में, क्षत्रिय को ग्रीष्म ऋतु में और वैश्य को पतझड़ की ऋतु में करना चाहिए। इसप्रकार, ब्राह्मणग्रन्थ के रचनाकाल में विभिन्न वर्णों के अधिकारों, कर्तव्यों और सामाजिक प्रतिष्ठाओं में अन्तर आता दिखाई पड़ता है जो संहिताओं और उपनिषदों के रचनाकाल में बढ़ता ही गया। इस काल में शूद्र शब्द का प्रयोग चतुर्थ वर्ण के लिए बहुधा किया गया है। यहाँ शूद्र की अनेक निर्योग्यताओं का उल्लेख मिलता है। वह यज्ञ में सम्मिलित तो हो सकता था लेकिन उसे यज्ञ करने का अधिकार न था। अन्य वर्णों की सेवा ही उसका काम था। अन्य वर्ण के लोगों के चरणों को धोने के लिए ही शूद्र यज्ञ में सम्मिलित हो सकता था क्योंकि वह स्वयं प्रजापति के चरणों से उत्पन्न हुआ है। इस काल में यहाँ तक विधान मिलता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के वर्ण के लोगों को शूद्र से प्रत्यक्ष बात नहीं करनी चाहिए। इस काल में केवल शूद्र स्त्री या पुरुष से विवाह करने का निषेध मिलता है।

महाभारत में जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है एक ओर, वर्णव्यवस्था का वह रहस्यात्मक स्पष्टीकरण मिलता है जिसका आदिस्रोत ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में है और, दूसरी ओर स्वभावजन्य गुणकर्मों के आधार पर वर्ण का सामाजिक व्यवस्था का आधार प्रतिपादित करने का प्रयास मिलता है। यहाँ वर्णसांकर्य के आधार पर जातियों को स्पष्ट करने का भी प्रयास मिलता है। यह वह प्रयास है जिसका व्यापक प्रयोग मनु ने किया है। वैदिक काल के बाद से चार वर्णों को सामाजिक व्यवस्था का स्थायी आधार मानने का विचार मिलता है और महाभारत इस विचार का अपवाद नहीं है। इसीकारण महाभारत में अनुलोम विवाहों को वांछनीय और प्रतिलोम विवाहों को अवांछनीय माना गया है। गीता महाभारत का ही एक अंग है। महाभारत में स्वभावजन्य गुणकर्म के आधार पर वर्णव्यवस्था को एक आदर्श शाश्वत समाजव्यवस्था के रूप में प्रतिपादित करने का जो प्रयास किया गया है, गीता में उसी को युक्तियुक्त बनाने का प्रयास है। गीता में गुण की भिन्नता को आधारभूत और स्वभावजन्य माना गया है जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गुण, साधारणतः आनुवंशिक होते हैं जो कर्मों द्वारा स्थायी भी होते हैं और कर्मों द्वारा बदले भी जा सकते हैं[1]।

---

1 गीता के लिए यह कहा जाता है कि गीता में उस सामाजिक व्यवस्था के लिए

ऐतिहासिक निवचन की मार्क्सवादी पद्धति से प्रभावित इतिहासकार वर्ण और जाति को वर्णव्यवस्था के विशेष पहलू मानकर, उन्हें कुछ सतत, स्थायी

सामाजिक आर्थिक निवचन

सामाजिक आर्थिक आवश्यकताओं की उत्पत्ति मानते हैं। उनके अनुसार धर्म ग्रन्थों में वर्णव्यवस्था का निरूपण एक आदर्श के रूप में किया गया है जबकि वास्तविकता कुछ और रही है। वर्ण व्यवस्था उनके अनुसार, वस्तुत एक सामन्तवादी व्यवस्था है जिसका उद्भव कृषि के साथ साथ होता है। वर्णव्यवस्था तथा धर्म एक निष्प्रवाह सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के प्रतीक हैं जो भारतीय आर्थिक इतिहास की एक विशेषता रही है। ग्राम और ग्रामीण व्यवस्था का उदभव भी कृषि के साथ साथ होता है। कौसाम्बी के अनुसार जब ग्राम सामाजिक राजनतिक सगठन तथा आर्थिक उत्पादन की एक इकाई बना और ग्रामीणता को सर्वोपरिता मिली, तभी जातिप्रथा में रूढ़िवादिता आई। ग्रामीणता पर आधारित निष्प्रवाह अर्थव्यवस्था (Stagnant Economy) से जो सामाजिक सकुल (Social Complex) उत्पन्न हुआ वह वर्णव्यवस्था पर आधारित जातिव्यवस्था थी। ऐसी दशा में जातिव्यवस्था का आधार वर्ण धर्म बना जिससे निष्प्रवाह अर्थव्यवस्था और भी निष्प्रवाह बनी रही। इसमें कोई स देह नहीं कि वर्ण व्यवस्था तथा धर्म में विभिन्न वर्गों के बीच और विभिन्न सामाजिक शक्तियों के बीच सन्तुलन बना रहा। इस व्यवस्था से ब्राह्मणों को पौरोहित्य सत्ता पर एकाधिकार मिला, क्षत्रियों को सैनिक तथा राजनतिक सत्ता पर और वैश्यों को आर्थिक सत्ता पर जिससे चारों वर्गों में सहयोग आवश्यक हो गया और सामाजिक सरचना सुचारु रूप से चलती रही। जाति से सामाजिक सरचना को यदि रूढ़िवादिता मिली तो वर्ण से कृषि तथा ग्रामीणता पर आधारित सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की सीमाओं के अन्तगत सामाजिक सरचना को एक सीमित लचीलापन मिला[1]।

इस दृष्टिकोण से वर्णव्यवस्था तथा वर्णधर्म भारत की आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम हैं। अपनी सास्कृतिक तथा प्रजातिक विजातिता के कारण भारतीय समाज बहुमुखी रहा है। वर्णधर्म ने इसी बहुमुखी समाज में एकीकरण

एक युक्तियुक्त दर्शन को प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है जिसमें असमानता का आधारभूत भाव निहित था और जिसे गीता की प्रतिष्ठा के कारण स्थायित्व भी मिला। गीता की रचना के पहले ही यह व्यवस्था अस्तित्व में आ चुकी थी। गीता में इस व्यवस्था को अनावृत और लचीला बनाये रखने का प्रयास है। गुणकर्मविभाजन के सिद्धान्त के आधार पर गीता ने इस व्यवस्था में उदारता लाने का प्रयास किया है ताकि सिद्धान्तत, उसमें ऊर्ध्वगामी तथा अधोगामी परिष्णुता की सम्भावना बनी रहे—गोखले वही पृष्ठ 33

1 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 30

की आवश्यकता को पूर्ण किया है। भारत का बहुमुखी समाज जीवन निर्वाह वाली अर्थ-व्यवस्था (Subsistence Economy) पर आधारित रहा है। इसके उत्पादन के तरीके पुराने रहे हैं और यहाँ आर्थिक विकास के लिए आवश्यक धातुओं की कमी रही है। आर्थिक निष्प्रवाह ने सामाजिक निष्प्रवाह को प्रोत्साहित किया और वर्णधर्म ने विभिन्न वर्णों के स्तर तथा कार्यों का पूर्वनिर्धारित करके, सामाजिक आर्थिक निष्प्रवाहता में सहयोग दिया। निष्प्रवाह परिस्थितियों में सामाजिक एकीकरण की आवश्यकता ने रूढ़िवादिता को जन्म दिया जिसकी अभिव्यक्ति हुई प्रत्येक वर्ण के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कार्यों के पूर्वनिर्धारण में जिसे धर्म की धारणा के आधार पर और भी पुष्ट किया गया। सिद्धान्ततः कर्म के आधार पर वर्ण को परिवर्तनीय माना गया लेकिन व्यवहार में वर्ण पूर्वनिर्धारित ही रहा। वर्णधर्म के आधार पर हिन्दू समाज में अनेक विजातीय समूहों का सात्मीकरण अवश्य हुआ लेकिन प्रत्येक समूह को पूर्वनिर्धारित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली में ही एक न एक स्तर मिला। गांधी के वर्ण धर्म सम्बन्धी विचार निष्प्रवाह आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकताओं की पृष्ठ-भूमि में ही समझे जा सकते हैं। गांधी ने वर्णव्यवस्था को जन्म पर आधारित और पूर्वनिर्देशित कर्तव्य व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया है और, साथ ही साथ उस, अर्थ व्यवस्था को अपनाने पर जोर दिया है जिसमें व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकतायें हों और उनकी पूर्ति उत्पादन के उन्हीं प्राचीन तरीकों से हो जो निष्प्रवाह भारतीय आर्थिक संगठन की विशेषतायें हैं[1]। गांधी ने जिस अर्थ व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था तथा वर्णाश्रमव्यवस्था की कल्पना की है उसमें अस्तेय, दम, आत्म निग्रह, अवाञ्छातीति (Wantlessness) धार्मिक संयास, सन्तोष और दरिद्रनारायण का आदर्श सर्वोपरि है और यही आदर्श भारतीय, विशेषतः हिन्दू समाज का आदर्श रहा है। मार्क्सवादियों के अनुसार यह आदर्श उस सामन्तवादी सामाजिक व्यवस्था की उपज है जिसमें, निम्न प्रौद्योगिकीय स्तर के कारण, आर्थिक विकास न हो सका जिसके कारण, एक ओर, जन साधारण को सन्तोष का पाठ पढ़ाया गया और, दूसरी ओर, साथ ही धन के ऐश्वर्य और वैभव का अलौकिक आधार प्रदान किया गया[2]।

---

1 वही

2 अश्वमेध यज्ञ, चक्रवर्ती सम्राट और उसमें अलौकिक गुणों की कल्पना, सम्राट को राजर्षि मानना, मौर्य, गुप्त और मुगल सम्राटों का वैभव, जिसका अनुकरण अब भी सरकार ने भी किया, इसके प्रमाण बताये जाते हैं। क्षत्रियों ने इस वैभव को बनाया, ब्राह्मणों ने उसे युक्तियुक्त आधार प्रदान किया क्योंकि ब्राह्मण की रक्षा क्षत्रियों का कर्तव्य रहा है। वैश्यों ने इस वैभव के निर्माण में योग-दान किया। यह सारा वैभव शूद्रों के परिश्रम से निर्मित हुआ। भव्य भवनों बड़े-बड़े किलों, ऊँचे ऊँचे मन्दिरों तथा मस्जिदों और आलीशान मकबरों का निर्माण उसी धन से हुआ है जिसका त्याग जनसाधारण ने किया है।

मार्क्सवादी इतिहासकारों ने वर्ण व्यवस्था में वर्ण संघर्ष के तत्वों को निर्धारित किया है। विश्वामित्र और वशिष्ठ का संघर्ष इस विचारधारा के विद्वानों के लिए ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष का प्रतीक है। विश्वामित्र को ब्राह्मण पद प्राप्त करने के लिए निरंतर संघर्ष और तपस्या करनी पड़ती थी और उन्हें अनेक परीक्षायें भी देनी पड़ी थी जो इस बात का प्रमाण माना जाता है कि ब्राह्मण पद एक वर्गविशेष के एकाधिकार में था जिसे पाना कठिन कार्य था[1]। रामायण में यह कथा आई है कि राम ने उस शूद्र का वध कर डाला था जिसने शूद्र-कर्म छोड़ कर तप कर्म अपना लिया था। मनुष्य रूप में भगवान के सभी अवतार क्षत्रिय वर्ण में ही हुए हैं। ऐसा कहा जाता है कि महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी का क्षत्रिय वर्ण में जन्म लेना इतिहास की आकस्मिक घटनायें मात्र नहीं हैं। बुद्धवाद तथा जैनवाद ब्राह्मणवाद के विरुद्ध आन्दोलन थे और यही कारण है कि इन दोनों आन्दोलनों का सबसे अधिक प्रभाव क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों पर पड़ा। क्षत्रिय और वैश्य वर्ण, वर्ण-संघर्ष से उत्पन्न होने वाले आंतरिक सामाजिक आघातों को आरम्भ करने वाले वर्ण रहे हैं क्योंकि, वर्ण-व्यवस्था में निहित सामाजिक प्रतिष्ठा व्यवस्था में उच्चस्तर प्राप्त करने वाले समूहों को, जाति के रूप में, इन्हीं वर्णों में सर्वाधिक स्थान मिलता रहा है। क्षत्रिय वर्ण में सबसे अधिक विद्रोही प्रवाह आरम्भ हुए हैं और इसीकारण भारत के जिन जिन भागों (बंगाल, तामिलनाडु और आंध्र प्रदेश) में क्षत्रिय वर्ण अनुपस्थित रहा है, वहाँ हिंदू समाज का संगठन अधिक असंतुलित रहा है। शूद्रों को अन्त्यज मानने की, कल्पना, उन्हें संस्कारों से वंचित करने का प्रयास, उन्हें मोक्ष का अधिकारी न मानना, वेदाध्ययन और तप से उन्हें अलग रखना उन्हें अछूत मानना और उन्हें अन्य तीन वर्णों के समान सामाजिक अधिकार न देना, वर्ग संघर्ष की भावना के प्रतीक माने जाते हैं। यही कारण है कि इस्लाम के प्रभाव से जब एक नया वातावरण अस्तित्व में आया तो समाजसुधारकों की एक बड़ी संख्या का प्रादुर्भाव शूद्रों और क्षत्रियों में ही हुआ। आज भी भारत के विभिन्न भागों में निम्नवर्णी जातियाँ, एक ओर हिंदू समाज में उच्चस्तर प्राप्त करने के लिए वहाँ उन कर्मों को अपनाती हैं जिन्हें ब्राह्मणोचित बताया गया है तो दूसरी ओर, अपने को क्षत्रिय या ब्राह्मण सिद्ध करने का प्रयास करती हैं।

इसप्रकार, मार्क्सवादी विचारधारा में वर्ण-व्यवस्था तथा धर्म को उस सामन्त

---

1 लेकिन, प्रभु के अनुसार, विश्वामित्र द्वारा किया जाने वाला संघर्ष और तपस्या उन ब्राह्मणोचित गुणों को प्राप्त करने का प्रयास है जो ब्राह्मण वर्ण के स्वभावजन्य गुणों के अनुसार स्वाभाविक है। विश्वामित्र का संघर्ष काल, प्रभु के मत में, उस मानसिक शिक्षा दीक्षा का काल है जो ब्राह्मण के लिए स्वभावतया आवश्यक है—प्रभु वही पृष्ठ 319-320

वादी व्यवस्था तथा उससे सम्बन्धित सामाजिक आदर्श के रूप में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है जो भारत की सामन्ती अवस्था की परिस्थितियों में उत्पन्न हुए। यह निर्विवाद है कि वर्ण-व्यवस्था वस्तुतः एक विशेष प्रकार की वर्ग-व्यवस्था है, और, इस तथ्य को भी एकदम अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इसमें वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया का सर्वथा अभाव रहा है। आधुनिक समाजशास्त्रीय मान्यताओं में एक यह मान्यता भी स्वीकार की जाने लगी है कि सामाजिक संरचना में एकीकरण (Integration) और समन्वय (Solidarity) के साथ साथ संघर्ष भी पाया जाता है। स्तरीकरण (Stratification) और उसमें उत्पन्न वर्ग-व्यवस्था सर्वत्र पाए जाते हैं। संघर्ष भी सर्वत्र पाया जाता है। लेकिन हर दशा में संघर्ष का परिणाम विशृंखलन ही नहीं है और न अर्थव्यवस्था ही वर्ग का एकमात्र कारक है। अर्थव्यवस्था को वर्ग का एकमात्र कारण तथा वर्ग को संघर्ष-परिस्थिति की ही उत्पत्ति मानने के कारण मार्क्सवादी दृष्टिकोण एकांगी हो गया है। प्रत्येक सामाजिक-संरचना आदर्श-व्यवस्था से सम्बन्धित रहती है किसी भी समाज में वर्ग की धारणा उस समाज के आदर्शनिक नियमों के ही अनुसार होती है[1]। वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति का केवल आर्थिक निर्वचन इस दृष्टिकोण से एकांगी है यद्यपि उसकी नितान्त अवहेलना नहीं की जा सकती है। प्रभु ने सामाजिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर वर्ण को स्पष्ट किया है।

प्रभु का सामाजिक मनोवैज्ञानिक निर्वचन

प्रभु भी वर्णव्यवस्था को वर्गव्यवस्था मानते हैं। वर्गव्यवस्था एक सार्वभौमिक सामाजिक प्रमेय है जिसकी उत्पत्ति एक आधारभूत सामाजिक आवश्यकता के कारण होती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सामाजिक संरचना से ही समाज को समन्वय और नैरन्तर्य मिलता है। अतः प्रत्येक समाज की यह आधारभूत आवश्यकता है कि उसके सदस्य संरचना के विभिन्न स्तरों में रक्खे जाय और उसके फलस्वरूप जो भी सदस्य सामाजिक संरचना के जिस स्तर में हो, उसके अनुसार उन सामाजिक उद्देश्यों के अनुरूप काम करने की प्रेरणा मिले। वर्गव्यवस्था और स्तरीकरण वह माध्यम हैं जिनके द्वारा इस सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति होती है क्योंकि संरचना के माध्यम से, प्रत्येक व्यक्ति की क्षमताओं के अनुसार, उसका वर्ग स्तर सामाजिक प्रतिष्ठा और भूमिका के लिये चुनाव होता है जिसके कि वह योग्य होता है। सामाजिक स्थायित्व के लिये यह भी आवश्यक है कि समाज उन माध्यमों को भी कुछ निश्चित करे जिनके द्वारा प्रत्येक स्तर के व्यक्ति को सामाजिक उद्देश्यों के अनुसार अपनी भूमिका निभाने की प्रेरणा मिले। वर्गव्यवस्था, स्तरीकरण, सामाजिक प्रतिष्ठाओं और भूमिकाओं (Statuses & Roles) की उच्चावच परम्परा और उनका अनुमान तथा उनके अनुसार कार्य करने की प्रेरणा

---

1 विशेष अध्ययन के लिये देखिये जोन रेक्स द्वारा रचित 'की प्राबलेम्स आव सोशियालाजिकल थ्योरी' अध्याय 7 और 8।

प्रत्येक समाज में पाई जाती है। इस दृष्टिकोण से समाज को दो श्रेणियों में रक्खा जा सकता है—एक प्रतियोगी (Competitive) और दूसरी अप्रतियोगी (Non Competitive)। प्रतियोगी समाज में, जनसंख्या को विभिन्न स्तरों (वर्गों) और भूमिकाओं में जाने तथा उनके अनुसार व्यक्तियों का कार्य करने की प्रेरणा प्रतियोगिता (Competition) से मिलती है जबकि अप्रतियोगी समाज में प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक प्रतिष्ठाओं तथा भूमिकाओं के अनुसार कार्य करने की प्रेरणा पूर्वादेशित कर्त्तव्यों से मिलती है। इसीकारण, प्रतियोगी समाज (उदाहरणार्थ योरोप अमरीकी समाज) में जोर दिया जाता है प्रतियोगिता की भावना से उत्पन्न होने वाली प्रेरणा पर और अप्रतियोगी समाज (उदाहरणार्थ भारतीय समाज में) व्यक्ति की क्षमताओं और उनके अनुसार पूर्वादेशित कर्त्तव्यों का करने पर[1]। सर्वोत्तम सामाजिक संरचना वही है जिसमें व्यक्ति की जैविक सामाजिक आवश्यकताओं और सामाजिक उद्देश्यों में संघर्ष न हो—उनमें पूर्ण सामञ्जस्य हो।

वर्णव्यवस्था के सार्वभौमिक प्रमेय पर, अध्ययन की सुविधा के लिये सामाजिक मानसिक (Social Psychological) तथा वैयक्तिक मानसिक (Individual-Psychological) दृष्टिकोण से विचार किया जा सकता है क्योंकि वर्ण-व्यवस्था व्यक्ति और समाज की आवश्यकताओं की उत्पत्ति है। यह मानना कि वर्णव्यवस्था में आनुवंशिकता का प्रभाव नहीं के बराबर होता है, भ्रम है। जहाँ एक ओर, मानव आनुवंशिकता समाज का एक मुख्य आधार है वहाँ दूसरी ओर मानव आनुवंशिकता की अभिव्यक्ति सामाजिक पर्यावरण पर निर्भर करती है। जिनकी यह मान्यता है कि सामाजिक संगठन में आनुवंशिकता का हाथ नहीं होना चाहिए वे वस्तुतः वर्णानुक्रम (Descent) को आनुवंशिकता समझ बैठे हैं। आनुवंशिकता से तात्पर्य है व्यक्ति की उन गुणात्मक क्षमताओं से जो उसे उसके जैविक संगठन से मिलती हैं। प्रत्येक व्यक्ति का जैविक संगठन समान नहीं होता है। इसीकारण व्यक्ति-व्यक्ति में स्वाभाविक क्षमताओं, योग्यताओं, बुद्धि और प्रवृत्तियों में अन्तर होता है जो अन्य सामाजिक कारणों (जैसे धन, परिवार और उच्च तथा निम्न की भावना) के साथ स्तरीकरण का कारण बन जाता है। यह मान्यता ठीक है कि आनुवंशिक क्षमतायें पूर्वजों से मिलती हैं लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि आनुवंशिक क्षमतायें केवल पत्र ही होती हैं। सामाजिक पर्यावरण में ही आनुवंशिक क्षमताओं की अभिव्यक्ति होती है और पर्यावरण के प्रभाव और शिक्षा दीक्षा से ये क्षमतायें बदली भी जा सकती हैं किन्तु केवल एक सीमा तक। इसी सम्बन्ध में गीता की यह मान्यता समझी जा सकती है जिसमें यह कहा गया है कि प्रत्येक देहधारी में एक न एक स्वभावजन्य गुण की प्रधानता होती है।

---

1 प्रभु, वही, पृष्ठ 231–23.

इस दृष्टिकोण से जैसा कि प्रभु ने स्पष्ट किया है, वर्णव्यवस्था वह माध्यम है जिसके द्वारा व्यक्ति की जैविक मानसिक क्षमताओं की अभिव्यक्ति ही नहीं होती है वरन् उसकी जैविक मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी होती है। दूसरी ओर, वर्ण-व्यवस्था वह माध्यम है जिसमें समाज में मानसिक समन्वय बना रहता है। व्यक्ति तथा समूह और व्यक्ति, समूह तथा समाज के मानसिक समन्वय में वर्णव्यवस्था का हाथ रहता है। इसीकारण, प्रत्येक समाज में, समाज द्वारा निर्धारित सामाजिक प्रतिष्ठाओं के अनुसार भूमिकाओं को निभाने की प्रेरणा देने के लिए सामाजिक पारितोषिक तथा दण्ड (Social Reward and Punishment) का विधान रहता है। चूंकि सभी स्तर और भूमिकाएं समान नहीं होती हैं, सभी दशाओं में पारितोषिक और दंड भी समान नहीं होते हैं। समाज द्वारा मिलने वाला पारितोषिक तीन प्रकार का होता है—प्रथम श्रेणी में वे पारितोषिक आते हैं जो भौतिक वस्तुओं के रूप में होते हैं जिनसे व्यक्ति को पोषण तथा आराम मिलता है, दूसरी श्रेणी में वे पारितोषिक जिनसे व्यक्ति का सुख (Humour) और व्यपवर्तन (Diversion) होता है और तीसरी श्रेणी में वे पारितोषिक आते हैं जिनमें आत्मसम्मान (Self Respect) और आत्माभिव्यक्ति (Ego Expression) की एषणा की सन्तुष्टि होती है। वर्णव्यवस्था में आत्म सम्मान और आत्माभिव्यक्ति की एषणा की सन्तुष्टि पर जोर दिया गया है न कि भौतिक पदार्थों, सुख और व्यपवर्तन पर[1]।

मूल में यह कहा है कि वर्णव्यवस्था के संगठन का सर्वोत्तम नियम यह है जिसमें, आनुवंशिकता और वर्णानुक्रम के स्थान पर नैतिकता की प्रधानता हो। किन्तु, प्रभु के अनुसार, इस मान्यता में यह भाव छिपा है कि मानो व्यक्ति की जैविक क्षमतायें और उसके स्वाभाविक गुण (अथवा) गुणों तथा उनकी अभिव्यक्ति और नैतिकता में परस्पर विरोध हो। वे परस्पर विरोधी नहीं वरन् एक दूसरे की पूरक हैं। अतः उत्तम वर्णव्यवस्था या सामाजिक संगठन वह नहीं है जिसका आधार केवल नैतिकता ही हो। उचित व्यवस्था है वह जिसमें, विभिन्न वर्णों के लिये व्यक्तियों के चुनाव में, व्यक्ति तथा उसके वर्ण से सम्बन्धित जैविक (Biological) तथा परि-पोषणीय (Nurtural) तथ्यों और आवश्यकताओं का आधार बनाया जाय। लेकिन, जैविक तथ्यों पर ध्यान देने हुए, इस बात पर ध्यान न देकर कि व्यक्ति की जैविक क्षमतायें उसके माता पिता के अनुरूप होंगी, इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी आनुवंशिक क्षमतायें होती हैं जो उसके स्वभावजन्य गुण-कर्म को प्रभावित करती हैं। वही वर्णव्यवस्था उत्तम है जिसमें व्यक्ति की स्वाभाविक क्षमताओं की अभिव्यक्ति के लिये काफी गुंजाइश हो।

वर्ण-व्यवस्था के इन समाज-मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के सन्दर्भ में, प्रभु ने वर्ण-

---

1 प्रभु वही पृष्ठ 235-236

व्यवस्था की समाजशास्त्रीय महत्ता का आका है। प्रभू के अनुसार, हिन्दुओ की वर्ण-व्यवस्था, मोटे तौर पर, आनुवंशिकता सिद्धान्त के आधार पर, मानव क्रियाओ का सगठित करने तथा उन्हे और मानवी योग्यता को पूर्णत्व प्रदान करने की दिशा मे किये हुए एक बडे परीक्षण के अतिरिक्त और क्या है ? वर्णसिद्धान्त निश्चय ही आनुवंशिकता सिद्धान्त पर आधारित है लेकिन वर्णसिद्धान्त के निरूपण मे आनुवंशिकता का अर्थ वशानुक्रम या पैतृकता नही है। वर्णसिद्धान्त मे आनुवंशिकता से तात्पर्य है व्यक्ति के स्वाभाविक जैविक उपकरण से जिसकी सहायता से व्यक्ति सामाजिक विरासत मे सम्मिलित होकर अपने व्यक्तित्व का विकास करता है और जो समाज तथा सामुदायीकरण का आधार है। इसे ही हिन्दू विचारको ने स्वभावजन्य गुण कहा है। इसीलिये, यह मान्यता निर्धारित की गई है कि जन्म से प्रत्येक व्यक्ति शूद्र रहता है और उस तब तक शूद्र ही समझा जाना चाहिये जब तक कि उसमे उच्चतर रचनात्मक सामाजिक कार्यों (ब्राह्मणत्व क्षत्रित्व और वैश्यत्व) के सम्पादन की क्षमता न विकसित हो। आश्रम और संस्कार विधान वे माध्यम हैं जिनके द्वारा व्यक्ति का सामाजीकरण होता है और उसकी जैविक क्षमताओ का अभिव्यक्तिपूर्ण विकास होता है। आश्रमव्यवस्था से, व्यक्ति के मस्तिष्क मे ससार-व्यवस्था तथा उसमे उसके स्थान के प्रति ज्ञान तथा प्रतिबोधन का विकास होता है। धर्म इस विकास की आदर्श व्यवस्था का आधार है। आश्रमधर्म से व्यक्ति को वांछनीय सामाजिक आदर्शो का ज्ञान ही नही होता है, वरन् उनको प्राप्त करने की उसे प्रेरणा भी मिलती है। कर्म उन जैविक क्षमताओ की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है जिनका विकास समाज मे होता है। अत, वर्णव्यवस्था वह वर्गव्यवस्था है जिसमे व्यक्ति को अपने स्वभावजन्य गुणो के अनुसार सामाजिक जीवन बिताने का क्षेत्र मिलता है और इसका प्रधान प्रेरक है धर्म कर्म का सिद्धान्त[1]।

गुण आनुवंशिक क्षमताओ की सामाजिक अभिव्यक्ति का स्वाभाविक परिणाम है और यही वर्ण का एक मुख्य आधार है। इस दृष्टिकोण से प्रत्येक वर्ण वह सामाजिक पर्यावरण प्रस्तुत करता है जिसमे व्यक्ति के उस गुणविशेष के विकास को प्रोत्साहन मिलता है जिसका कि सम्बन्ध वर्ण मे है। लेकिन वर्ण केवल स्वभावजन्य गुण (जैविक क्षमता) पर ही आधारित नही है। वर्ण का आधार धर्म भी है जिसमे वर्णव्यवस्था मे नैतिकता का पुट आता है। इसीलिये प्रभू ने यह कहा है कि वर्ण व्यवस्था जैविक तथा नैतिक सामाजिक तथा वैयक्तिक और भौतिक तथा आध्यात्मिक समस्याओ के समाधान के प्रयास पर आधारित है। मानव-जीवन मे सभी पहलुओ वैयक्तिक तथा सामाजिक का एकीकरण करके, उन्हे सगठित सामाजिक संस्थाओ के माध्यम से उपलब्ध करना, ताकि वे व्यक्ति को सामाजिक,

---

1 प्रभू वही पृष्ठ 362

मानसिक, जैविक तथा वैयक्तिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें, वर्णाश्रमव्यवस्था का प्रधान उद्देश्य है। इसी सन्दर्भ में वर्णव्यवस्था के जैविक तथा नैतिक आधारों के महत्व के साथ साथ इसके मानसिक आधार का भी महत्व बढ़ जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि आश्रमव्यवस्था के साथ साथ, वर्णव्यवस्था का उद्देश्य वह सामाजिक दक्षता (Social Efficiency) लाना है जो समुदाय और उसके सदस्यों के जैविक (Physical) मानसिक (Mental) और नैतिक (Moral) कल्याण के लिये हो। वर्णाश्रमव्यवस्था की धारणा का उद्देश्य समाज को वह क्षमता प्रदान करना है जिसके द्वारा व्यक्ति की क्षमताओं को समाज उत्तमतम बना सके ताकि व्यक्तियों की उत्तमतम क्षमताओं की क्रियाशीलता के द्वारा जो उत्तमतम है, उसका निरूपण और नियमन हो सके और सामाजिक संरचना के प्रत्येक वर्ग में उस उत्तमतम की अवतारणा हो सके जो व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिये हितकर है। इसीलिये, आश्रमव्यवस्था व्यक्ति के सामाजीकरण और सामाजिक परिपोषण की वह योजना है जिसमें व्यक्ति के जीवन में उत्तमतम का विकास हो सके और वर्णव्यवस्था वह योजना है जिसके द्वारा व्यक्ति के स्वभाव और उनके आधार पर आविर्भूत वर्गों का, सामाजिक दक्षता के लिये उचित समन्वय हो सके[1]।

वर्ण-व्यवस्था में प्रत्येक वर्ग को अलग-अलग कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों से बांध दिया गया है ताकि प्रत्येक वर्ग, अपनी क्षमता के अनुसार, एक विशेष कार्य में दक्षता प्राप्त कर सके और सामुदायिक जीवन के प्रति अपनी सेवाओं का योग दे सके। इसप्रकार, वर्णव्यवस्था का उद्देश्य है उत्तमतम तथा अधिकाधिक सामाजिक कल्याण की उपलब्धि करके, सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवन से उसका समन्वय करना। सामाजिक सन्तुलन और समन्वय का निर्माण तथा उसका प्रोत्साहन वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य है। लेकिन इस उद्देश्य की पूर्ति उस आर्थिक संगठन द्वारा हो सकती है जिसकी धारणा वर्णव्यवस्था तथा धर्म के सन्दर्भ में की गई है। धन सञ्चय ब्राह्मण का मुख्य धर्म नहीं है, उसका मुख्य धर्म है आध्यात्मिक तथा भौतिक जिज्ञासाओं के रहस्य का उद्घाटन। क्षत्रिय केवल उतना ही धन-सञ्चय कर सकता है जितना कि उस पर निर्भर व्यक्तियों की देखभाल तथा सुरक्षा के लिये आवश्यक है क्योंकि जनरक्षा उसका मुख्य धर्म है। वैश्य का धर्म है समाज के आर्थिक साधनों का समृद्ध बनाने के लिये धनोत्पादन और धनसञ्चय। व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये धनसञ्चय अधर्म है क्योंकि परमार्थ वर्णधर्म का आधार है। इसप्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों का धर्म है सामाजिक कल्याण में रचनात्मक योगदान और जो इस योगदान से असमर्थ हैं, वही शूद्र हैं और उनका कर्त्तव्य है उन वर्णों की सेवा जो सामाजिक कल्याण में रचनात्मक योगदान करने में रत हैं। इसप्रकार वर्णसिद्धान्त का निरूपण इस

---

1 प्रभु वही पृष्ठ 361

दृष्टिकोण से किया गया है कि विभिन्न प्रकार की मानव शक्तियों को, उन विभिन्न कार्यों में लगाया जा सके जो उनमें से प्रत्येक के लिये अलग अलग अनुकूल हैं और सामूहिक रूप से सभी को सामाजिक संगठन, सामाजिक स्थायित्व तथा सामाजिक प्रगति के उद्देश्य की पूर्ति की ओर लगाया जा सके। अन्य स्थानों की वर्ग व्यवस्था में वर्ग प्रतिष्ठा (Class Status) का आधार सत्ता (Power) तथा प्राधिकार (Authority) युक्त धन है जबकि वर्ण व्यवस्था में धन और प्रतिष्ठा (Status), सत्ता और प्राधिकार विज्ञान की निस्वार्थ सेवा और सफलता तथा इहलौकिक सुखों के प्रति लालसा को परस्पर अलग रखने का प्रयास किया गया है और उसमें सफलता भी मिली है[1]। हिन्दू दार्शनिकों की विचारधारा में सामाजिक हित तथा सामाजिक उद्देश्य और वैयक्तिक हित तथा वैयक्तिक उद्देश्य न तो परस्पर विरोधी हैं और न उनमें परस्पर संघर्ष ही है क्योंकि हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का आधार है धर्म जिसके माध्यम से सारी मानवी क्रियायें (जैविक, मानसिक, आर्थिक, राजनैतिक, नैतिक, वैयक्तिक और सामाजिक) परिभाषित और समर्थित होती हैं।

प्रभू का सामाजिक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त, स्तरीकरण के सामाजिक मनोवैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर प्रतिपादित एक नया सिद्धान्त है जिसमें वर्ण व्यवस्था की एक आदर्श के रूप में विवेचना की गई है। ऐसा स्पष्टीकरण युक्तियुक्तकरण (Rationalization) सा प्रतीत होता है। प्रभू के स्पष्टीकरण की उपयोगिता तभी स्पष्ट होती है जब वर्ण-व्यवस्था को आदर्श समाज की आदर्श वर्ण व्यवस्था के रूप में देखा जाए।

1 प्रभू वही पृष्ठ 339–340

धर्म, पुरुषार्थ और वर्णाश्रम

धर्म, जैसा कि पहले कहा जा चुका है इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन का समायोजक है। पुरुषार्थ सिद्धान्त में इसी आधारभूत मान्यता की अभिव्यक्ति हुई है। इहलौकिक जीवन का सम्बन्ध अर्थ, काम, आश्रम और वर्ण व्यवस्था में है जिनका आधार धर्म है। इहलौकिक जीवन वैयक्तिक-सामाजिक है न कि सामाजिक-वैयक्तिक। धर्म इहलौकिक जीवन के माध्यम से व्यक्ति को पारलौकिकता की ओर ले जाता है। मोक्ष मानव जीवन का चरम उद्देश्य है। व्यक्ति उस रहस्यमयी सत्ता का एक अंश है जो इस संसार में व्याप्त होने पर भी इससे परे है। जीव इसी रहस्यमयी सत्ता का एक अंश है जो कुछ काल के लिए इहलौकिक जीवन धारण करता है। इस रहस्यमयी सत्ता को ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा और प्रजापति की धारणाओं से व्यक्त किया गया है। इसी सत्ता के अंश को आत्मा कहा गया है जो जीव में व्याप्त होकर जीवात्मा का रूप लेती है। पारलौकिक जीवन में जिसका प्रवेश द्वार मोक्ष है, आत्मा और परमात्मा एक में मिल जाते हैं। यहाँ व्यक्ति का अस्तित्व एक बड़े शाश्वत अस्तित्व में मिल जाता है। पारलौकिक जीवन में जीवात्मा, परमात्मा और धर्म एकाकार हो

जाते हैं। इसीकारण, यह कहा गया है कि परमात्मा भी धर्म से परे नहीं है।

इहलौकिक जीवन में आत्मा और परमात्मा अलग-अलग रहते हैं। यहां आत्मा देहीवान हो जाता है। देहीवान होने के कारण आत्मा प्रकृतिमय हो जाता है और इस कारण देहीवान में सत, रज और तम गुणों का प्रवेश हो जाता है। प्रकृतिमय होने के कारण, जीवात्मा में क्रियाशीलता आती है। कर्म देहीवान का गुण है। देह कर्मयुक्त आत्मा ही जीवात्मा है जिसका लीला क्षेत्र प्रकृतिमय संसार है। जीवात्मा, आत्मा की संक्रमणकालीन इहलौकिक अभिव्यक्ति है। इस संक्रमण काल में देहीवान होने के कारण, जीवात्मा कर्म से बंधता है क्योंकि देहीवान के अस्तित्व का आधार ही कर्म है। बिना कर्म के देहीवान का अस्तित्व ही असम्भव है। अतः इहलौकिक जीवन कर्म के माध्यम से धर्म से बंधता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि इहलौकिक जीवन में धर्म की अभिव्यक्ति कर्म से होती है। इहलौकिक जीवन की साधना केवल धर्म से नहीं वरन् धर्म कर्म से होती है। धर्म और कर्म इहलौकिक जीवन के दो आधार हैं। पुरुषार्थ साधना और वर्णाश्रम व्यवस्था धर्म कर्म दोनों पर आधारित हैं। हां यह अवश्य है कि कर्म की कसौटी धर्म है और इस कारण धर्म कर्म से परे है। मोक्ष न तो निष्क्रियता से मिलता है और न केवल धर्म से। मोक्ष का साधन है धर्मप्राण कर्म। वास्तव में धर्म पर आधारित कर्म ही इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन की साधना का आधार है। व्यक्ति (जीवात्मा) में कर्म वैसे ही लिप्त है जैसे सूर्य में प्रकाश। व्यक्तित्व, समाज और संस्कृति मानव-जीवात्मा की क्रियाशीलता के स्वाभाविक परिणाम है। इहलौकिक जीवन कर्म का परिणाम है और इहलौकिक कर्म पारलौकिक जीवन की आधारशिला है। इहलौकिक जीवन में व्यवस्था कर्म से नहीं कर्म सिद्धान्त से आती है। कर्म सिद्धांत निरपेक्ष नहीं है, कर्म सिद्धान्त धर्मसापेक्ष है क्योंकि मानवी क्रियाशीलता का एक आधार भौतिक है और दूसरा सांस्कृतिक।

कर्म[1] मानव का एक आधारभूत गुण है। अकर्मा मानव का अस्तित्व वैसे ही अवास्तविक है जैसे आकाश कुसुम। कर्म इहलौकिक तथा पारलौकिक

---

1 कर्म शब्द संस्कृत भाषा के 'कर्मन' शब्द से व्युत्पन्न है। 'कर्मन' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में हुआ है—जैसे, क्रिया, कार्य, कृति निष्पादन, क्रियापालन व्यापार, पद, कर्तव्य धार्मिक कर्मकाण्ड (Peligious Rito), कोई एक विशेष क्रिया, नैतिक कर्तव्य उत्पाद (Product), परिणाम, एक स्वाभाविक या क्रिया शील गुण, दैव (Fate) पूर्वजन्म के कर्मों का परिणाम, किसी क्रिया का उद्देश्य (व्याकरण में) और गति। जैसा कि अगले वर्णन से स्पष्ट होगा कर्मसिद्धान्त के विचार में क्रिया कार्य, कृति, कृत्य, कर्तव्य, दैव और गति के भावार्थों का समावेश हुआ है।

जीवन का नियामक है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की साधना का माध्यम कर्म है—वह कर्म जो धर्मानुकूल है। अतः कर्म मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है और कर्मातीत होना जीवन का अंततोगत्वा उद्देश्य। कर्म से अभ्युदय भी मिलता है और अधोगति भी। सुकर्म से मोक्ष (परमगति) की साधना होती है और अकर्म से अधोगति मिलती है। कर्म तथा अकर्म के विचार और निर्णय का आधार धर्म है। कर्मविकर्म के परिणामों से उत्पन्न भोग का ही नाम जीवन है। दुःख-सुख भोग-क्लेशों का सम्बन्ध मन और देहीवान से है। देही नश्वर है और आत्मा अमर। स्वभावतया आत्मा अमरतत्व (ब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर और प्रजापति) की ओर उन्मुख है और जीव सांसारिक (इहलौकिक) गतियों की ओर। चौरासी लाख योनियाँ जीव की विभिन्न सांसारिक गतियाँ हैं। जीवात्मा के सुकर्म आत्मा को अमरत्व की ओर ले जाते हैं और अकर्म सांसारिक गतियों की ओर। आत्मा अमर अवश्य है, लेकिन जीवात्मा के कर्मों के प्रभावों से वह परे नहीं है।

सुकर्म आत्मा को परमात्मा में मिलने में सहायता देते हैं लेकिन अकर्मों के कारण आत्मा की, कर्मानुसार जीव की विभिन्न गतियों में पुनरावृत्ति हुआ करती है। अमरतत्व की प्राप्ति मोक्ष है जो सुकर्म से मिलती है। जीवात्मा के रूप में, जीव की विभिन्न गतियों में कर्मानुसार पुनरावृत्ति आवागमन है। आवागमन का चक्र और कर्म वे माध्यम हैं जिनके द्वारा जीवात्मा अपना सतत उन्नविकास और अभ्युदय कर सकता है। आवागमन से मुक्ति जीवन का सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य है। मानव-योनि सर्वश्रेष्ठ है और एक ओर वह सत्कर्मों का परिणाम है और, दूसरी ओर, सत्कर्मों के लिए वह ऐसा अपूर्व अवसर है जो देवदुर्लभ है। इसीलिये संसार को कर्मक्षेत्र कहा गया है और धर्म-कर्म को जीवात्मा के उस सतत उन्नविकास का माध्यम जिसकी चरम परिणति मोक्ष और मुक्ति (आवागमन से छुटकारा) है। स्वर्ग और नर्क की धारणाओं का सम्बन्ध भी कर्मसिद्धान्त है। इहलौकिक कर्मों के अनुसार ही जीवात्मा को स्वर्ग और नर्क के जीवन का भोग मिलता है और उसके बाद, पूर्व-जीवन में किये हुए इहलौकिक कर्मों के अनुसार, जीवात्मा को पुनः इहलौकिक गति मिलती है जिसे वह अपने कर्मों के अनुसार पुनः बना या बिगाड़ सकता है। इस प्रकार कर्म का दोहरा फल मिलता है और दोहरा प्रभाव पड़ता है। और इस कारण, जहाँ एक ओर, व्यक्ति कर्मों के अधीन है वहाँ, दूसरी ओर, कर्म भी व्यक्ति के अधीन हैं क्योंकि मानव जीवन व्यक्ति को वांछित कर्म चुनने और करने का अवसर प्रदान करता है।

कर्मसिद्धान्त, पुरुषार्थ और वर्णाश्रम सिद्धान्तों के साथ साथ, हिन्दुत्व का एक वह सैद्धान्तिक आधार है जिसकी उत्पत्ति ऐतिहासिक प्रक्रिया में हुई है। हिन्दुत्व की अन्य आधारभूत धारणाओं की भाँति कर्म-विचार और कर्मसिद्धान्त का विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में धीरे धीरे विकास हुआ है। कर्म सिद्धान्त के निरूपण को

जाते हैं। इसीकारण, यह कहा गया है कि परमात्मा भी धर्म से परे नहीं है।

इहलौकिक जीवन में आत्मा और परमात्मा अलग-अलग रहते हैं। यहां आत्मा देहीवान हो जाता है। देहीवान होने के कारण आत्मा प्रकृतिमय हो जाता है और इस कारण देहीवान में सत, रज और तम गुणों का प्रवेश हो जाता है। प्रकृतिमय होने के कारण जीवात्मा में क्रियाशीलता आती है। श्रम देहीवान का गुण है। देह श्रमयुक्त आत्मा ही जीवात्मा है जिसका लीला क्षेत्र प्रकृतिमय संसार है। जीवात्मा, आत्मा की संक्रमणकालीन इहलौकिक अभिव्यक्ति है। इस संक्रमण काल में देहीवान होने के कारण, जीवात्मा कर्म से बंधता है क्योंकि देहीवान के अस्तित्व का आधार ही कर्म है। बिना कर्म के देहीवान का अस्तित्व ही असम्भव है। अतः इहलौकिक जीवन, कर्म के माध्यम से धर्म से बंधता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि इहलौकिक जीवन में धर्म की अभिव्यक्ति कर्म से होती है। इहलौकिक जीवन की साधना केवल धर्म से नहीं वरन धर्म कर्म से होती है। धर्म और कर्म इहलौकिक जीवन के दो आधार हैं। पुरुषार्थ साधना और वर्णाश्रम व्यवस्था धर्म कर्म दोनों पर आधारित हैं। हां, यह अवश्य है कि कर्म की कसौटी धर्म है और इस कारण, धर्म कर्म से परे है। मोक्ष न तो निष्क्रियता से मिलता है और न केवल धर्म से। मोक्ष का साधन है धर्मप्राण कर्म। वास्तव में धर्म पर आधारित कर्म ही इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन की साधना का आधार है। व्यक्ति (जीवात्मा) में कर्म वैसे ही लिप्त है जैसे सूर्य में प्रकाश। व्यक्तित्व, समाज और संस्कृति मानव-जीवात्मा की क्रियाशीलता के स्वाभाविक परिणाम हैं। इहलौकिक जीवन कर्म का परिणाम है और इहलौकिक कर्म पारलौकिक जीवन की आधारशिला है। इहलौकिक जीवन में व्यवस्था कर्म से नहीं कर्म सिद्धान्त से आती है। कर्म सिद्धान्त निरपेक्ष नहीं है, कर्म सिद्धान्त धर्मसापेक्ष है क्योंकि मानवी क्रियाशीलता का एक आधार जैविक है और दूसरा सांस्कृतिक।

कर्म[1] मानव का एक आधारभूत गुण है। अकर्मा मानव का अस्तित्व उस ही अवास्तविक है जैसे आकाश कुसुम। कर्म इहलौकिक तथा पारलौकिक

---

1 कर्म शब्द संस्कृत भाषा के 'कर्मन' शब्द से व्युत्पन्न है। कर्मन' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में हुआ है—जैसे, क्रिया, कार्य, कृति, निष्पादन, क्रियापालन, व्यापार, पद, कर्तव्य धार्मिक कर्मकाण्ड (Religious Rite), कोई एक विशेष क्रिया, नैतिक कर्तव्य उत्पाद (Product), परिणाम एक स्वाभाविक या क्रियाशील गुण, दैव (Fate) पूर्वजन्म के कर्मों का परिणाम, किसी क्रिया का उद्देश्य (व्याकरण में) और गति। जैसा कि अगले वर्णन से स्पष्ट होगा कर्मसिद्धान्त के विचार में क्रिया कार्य, कृति, कृत्य, कर्तव्य, दैव और गति के भावार्थों का समावेश हुआ है।

जीवन का नियामक है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की साधना का माध्यम कर्म है—वह कर्म जो धर्मानुकूल है। अतः, कर्म मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है और कर्मातीत होना जीवन का अन्ततोगत्वा उद्देश्य। कर्म से अभ्युदय भी मिलता है और [illegible] भी। सुकर्म से मोक्ष (परमगति) की साधना होती है और अकर्म से अधोगति मिलती है। कर्म तथा अकर्म के विचार और निर्णय का आधार धर्म है। कर्मविम (?) के परिणामों से उत्पन्न भोग का ही नाम जीवन है। दुःख सुख भोग-क्लेश का सम्बन्ध कर्म और देहीवान से है। देही नश्वर है और आत्मा अमर। स्वभावतया आत्मा [illegible] ([illegible], परमात्मा, ईश्वर और प्रजापति) की ओर उन्मुख है और जीव सांसारिक ([illegible]) गतियों की ओर। चौरासी लाख योनियाँ जीव की विभिन्न सांसारिक गतियाँ हैं। जीवात्मा के सुकर्म आत्मा को अमरत्व की ओर ले जाते हैं और अकर्म सांसारिक गतियों की ओर। आत्मा अमर अवश्य है लेकिन जीवात्मा के कर्मों के प्रभावों से वह परे नहीं है।

सुकर्म आत्मा को परमात्मा से मिलने में सहायता देते हैं लेकिन अकर्मों के कारण आत्मा की कर्मानुसार, जीव की विभिन्न गतियों में पुनरावृत्ति [illegible] है। अमरत्व की प्राप्ति मोक्ष है जो सुकर्म से मिलती है। जीवात्मा के [illegible], जीव की विभिन्न गतियों में, कर्मानुसार पुनरावृत्ति आवागमन है। आवागमन का चक्र और कर्म वे माध्यम हैं जिनके द्वारा जीवात्मा अपना सतत् [illegible] अभ्युदय कर सकता है। आवागमन से मुक्ति, जीवन का सर्वोत्कृष्ट [illegible] है। [illegible] योनि सर्वश्रेष्ठ है और एक ओर, वह सत्कर्मों का परिणाम है और, दूसरी ओर, [illegible] कर्मों के लिये वह ऐसा अपूर्व अवसर है जो दुर्लभ है। इसीलिये मनुष्य का [illegible] कहा गया है और धर्मकर्म का जीवात्मा के उस महत् [illegible] से [illegible] जिसकी अन्तिम परिणति मोक्ष और मुक्ति (आवागमन से छुटकारा) है। [illegible] नरक की धारणाओं का सम्बन्ध भी कर्मसिद्धान्त है। इसीलिये कर्मों के [illegible] ही जीवात्मा को स्वर्ग और नरक के जीवन का भोग मिलता है [illegible] जीवन में किये हुए इहलौकिक कर्मों के अनुसार आत्मा को पुनः [illegible] मिलती है जिसे वह अपने कर्मों के अनुसार पुनः बना या बिगाड़ [illegible] प्रकार, कर्म का दोहरा फल मिलता है और दोहरा प्रभाव [illegible] कारण जहाँ एक ओर व्यक्ति कर्मों के अधीन है वहाँ, दूसरी ओर, [illegible] के प्रधान है क्योंकि मानव जीवन व्यक्ति को वांछित [illegible] अवसर प्रदान करता है।

कर्मसिद्धान्त, पुरुषार्थ और वर्णाश्रम सिद्धान्त [illegible] एक वह सैद्धान्तिक आधार है जिसकी उत्पत्ति [illegible] की अन्य आधारभूत धारणाओं की भाँति कर्म विचार और [illegible] ऐतिहासिक परिस्थितियों में धीरे धीरे विकास हुआ है। [illegible]

ऐतिहासिक परिस्थितियों ने प्रभावित किया है और इस प्रभाव के कारण किस प्रकार कर्मसिद्धांत विकसित हुआ है इसका विश्लेषण आगे किया जायगा। यहाँ तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि कर्मसिद्धांत हिंदू धर्म, दर्शन और सामाजिक जीवन की आधारशिला है। बुद्धवाद और जैनवाद में उस वैदिक कर्मकाण्ड की भर्त्सना की गई है जिससे कर्मसिद्धांत का उद्भव हुआ है लेकिन कर्मसिद्धान्त का परित्याग नहीं किया गया है। कर्मसिद्धांत बौद्ध और जैन जीवन दर्शनों का आधार है जिसके कारण बुद्धवाद और जैनवाद हिंदुत्व का एक अंश रहे हैं। जीवन के उच्चतम उद्देश्य मोक्ष की धारणा, कर्मसिद्धांत और उससे सम्बन्धित पुनर्जन्म तथा आवागमन की धारणाओं के संदर्भ में ही स्पष्ट होती है। कर्मसिद्धांत से ही वर्णाश्रमव्यवस्था को उसके नैतिक आधार प्राप्त हुए हैं। इसी संदर्भ में कर्मसिद्धांत का समाजशास्त्रीय महत्त्व भी स्पष्ट होता है। गोखले के अनुसार, 'यदि धर्म से यह व्यक्त होता है कि क्या होना चाहिये तो कर्म से यह स्पष्ट होता है कि क्या है और क्या हो सकता है'। कर्म, एक ओर, इस तथ्य का स्पष्टीकरण है कि जो है वह क्या है और, दूसरी ओर, इस तथ्य की पूर्वसूचना है कि व्यक्ति अपना जीवन क्या से क्या बना सकता है। धर्म नियामक है व्यक्ति और समाज का—उस समाज का जिसमें व्यक्ति का अस्तित्व और निर्माण होता है। कर्म, व्यक्ति के जीवनपथ तथा वैयक्तिक तथा सामाजिक क्रिया कलापों को ढालता रहता है। यदि धर्म प्रतीक है उस आदर्श व्यवस्था का जिसमें व्यक्ति की सामाजिक, सांस्कृतिक और अविरत मानसिक एषणाओं की स्वस्थ और सुचारु अभिव्यक्ति होती है तो कर्म प्रतीक है उस माध्यम का जिसके द्वारा वास्तविकता को आदर्श की ओर ले जाया जा सकता है। धर्म का सम्बन्ध मानव जीवन के आदर्श से है कर्म का आदर्श मुक्त वास्तविकता से। धर्म वैयक्तिक सामाजिक जीवन की व्यवस्था का निरूपण है और कर्म धर्म में निहित व्यवस्था के अनुसार, सांसारिक तथा सामाजिक भिन्नताओं में व्यवस्था लाने का एक विशिष्ट तथा प्रभावपूर्ण प्रयास[1]।

२

कर्म सिद्धांत : ऐतिहासिक उद्विकास

कर्मसिद्धांत का सर्वप्रथम व्यापक निरूपण उपनिषदों में मिलता है। उपनिषदों में कर्मसिद्धांत के उस प्रारम्भिक निरूपण मिलता है जिसका विश्लेषण महाभारत, गीता, धर्मशास्त्रों और पतंजलि के योगसूत्रों में हुआ है। यह कर्मसिद्धांत

1 गोखले बी० जी० वही पृष्ठ 93—94

का वह रूप है जो साधारणत हिंदू विचारधारा म व्याप्त है। लेकिन, उसके पहले शतपथ ब्राह्मण म कर्मसिद्धात के साथ साथ पुनर्जन्म और आवागमन का उल्लेख मिलता है[1] जो इस बात का प्रमाण है कि उपनिषदो के पहले कर्मसिद्धात के मुख्य आधार अस्तित्व म आ चुके थे। यह तथ्य इसका भी प्रमाण है कि उपनिषदो म कर्मसिद्धात व विचार का जो निरूपण मिलता है वह वस्तुत परिणति है उस विचार की जिसकी जडें वैदिक काल म पड चुकी थी, जो ब्राह्मण ग्रन्था के काल मे अकुरित हुआ और औपनिषदिक काल म जिसका पल्लवन हुआ। कालान्तर म, महाभारत, गीता और धर्मशास्त्रों के काल म इस औपनिषदिक विचार को युक्तियुक्त बनाकर उसे दार्शनिक तथा आध्यात्मिक आधार प्रदान किये गये।

प्रभू के अनुसार, वेदो मे व विचार आये हैं जो कालान्तर में कर्म सिद्धात के आधार बन गए। वेदो म यह विचार मिलता है कि आत्मा अमर है और शरीर नाशवान है। अमतत्व (अमरत्व) की कल्पना भी वेदो म मिलती है। ऋग्वेद की एक प्रार्थना म अग्नि से अमरत्व पाने की कामना व्यक्त की गई है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में अग्नि का इसलिये आवाहन किया गया है कि वह मत व्यक्ति को पितृ और देवो के पास ले जाये[2]। इसी मण्डल म एक मत्र म आत्मा को मत्यु-ससार से वापस बुलाकर उस एक नये शरीर म प्रवेश करने को कहा गया है। ऋग्वेद म इस कल्पना का भी उल्लेख है कि मत व्यक्ति की आत्मा की इस पृथ्वी पर पुनरावत्ति हुआ करती है। अथर्ववेद म आत्मा के आवागमन का विचार मिलता है क्योंकि यहा यह विचार व्यक्त किया गया है कि मत्यु के बाद मत व्यक्ति अपनी उन स्त्रियो, बच्चो, मित्रो और माता पिता की आत्माओं स मिलता है जो उससे पहले मर चुके है। वेदो म वयक्तिक अमरत्व का भी विचार मिलता है क्योंकि यहा व्यक्त एक मान्यता के अनुसार यह माना गया है कि जो व्यक्ति यज्ञ करता है वह अपने सम्पूर्ण शरीर के साथ पारलौकिक ससार म जन्म लेता है[3]। यही विचार आगे चलकर इस विचार म बदल गया कि पुण्यात्मा और धर्मात्मा सदेह स्वर्ग जाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्था

वेदो से ब्राह्मण ग्रन्थों तक

---

1 वही पृष्ठ 93

2 ऋग्वेद में, जसा कि गोखले ने लिखा है, स्वर्ग और नर्क की कल्पना नहीं मिलती है यद्यपि पारलौकिक ससार की कल्पना अवश्य मिलती है। यहां देवयान (स्वर्लोक) और पितृयान (पितृलोक) का वर्णन आया है। ऋग्वेद में आई देवयान और पितृयान की कल्पनाओं के अनुसार देवयान और पितृयान वे लोक हैं जहाँ मत्यु के बाद सदाचारी व्यक्ति निवास करते हैं—गोखले वही पष्ठ 97 98

3 प्रभू, पी० एच० वही पृष्ठ 1~18

में इन्हीं विचारो का प्रसार और विकास हुआ है।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जो व्यक्ति तप का साधन करता है, वह स्वग मे अपनी सभी शारीरिक क्रियाओ यहा तक कि मैथुन क्रिया को भी साथ जाता है। शतपथ ब्राह्मण मे सवप्रथम 'कमफल' के विचार का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। ऋषि भगु को नक म पापात्माओ को मिलने वाली यातनाओ के दिग्दशन कराये जाने का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण मे आया है। यही इस विचार का उल्लेख है कि इस ससार म मनुष्य जिस भोजन को खाता है उसी के द्वारा वह दूसर ससार म खाया जाता है। यही, सवप्रथम 'ब्रह्मन' (ब्रह्म) की कल्पना तथा इस विचार का उल्लेख मिलता है कि जिसे पूण ज्ञान प्राप्त हो जाता है वह ब्रह्म म लीन होकर मुक्ति पा जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण मे नचिकेता की कथा आई है जिसम यम द्वारा नचिकेता को वे लोक दिखाने का प्रसग आया है जहा लोगो को इहलौकिक कर्मों का फल भोगना पडता है[1]।

गोखले का मत है कि कमसिद्धात के सभी आधारभूत तथा आवश्यक तत्वो का निरूपण वैदिक काल के अत (700 ईसवी पूव के लगभग) म होता हुआ मिलता है यद्यपि कमसिद्धात का निरूपण उपनिषदो म हुआ है। ऋग्वेद मे विकसित 'ऋत' की धारणा और वेदों से लेकर ब्राह्मणग्रथो तक विकसित होने वाली यज्ञ, यज्ञाचार, कल्प (Ritual) और कल्पवाद (Ritualism) सम्बन्धी धारणायें कमसिद्धात की प्रधान आधार शिलायें हैं। धम की धारणा के उद्भव की ऐतिहासिक व्याख्या करते हुए यह लिखा जा चुका है कि ऋग्वेद म पाई जाने वाली 'ऋत' की धारणा बाद मे धम की धारणा के रूप मे अवतरित हुई। इहलोक तथा परलोक की विधायक शक्ति के रूप म धम की धारणा 'ऋत' की ही धारणा पर आधारित है। ऋग्वद के ऋतसूक्त म व्यक्त विचार के अनुसार यह सारा ब्रह्माण्ड विरञ्चिकी की उग्र तपस्या से उत्पन्न हुआ है लेकिन उस तपस्या से सबसे पहले 'ऋत' सत्य की उत्पत्ति हुई (ऋत च सत्य चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत)[2]। ऋत इस दृष्टिकोण से, वह सत्य है जिसपर यह ब्रह्माण्ड आधारित है। इसलिये, 'ऋत' का अथ उस महान, शाश्वत नियम (Cosmic Law) के रूप म लिया गया है जो ब्रह्माण्ड की व्यवस्था का आधार है। ऋ धातु से ऋत की व्युत्पत्ति करने पर 'ऋत' का अथ होता है व्यवस्थित नियमित और निर्धारित। अत ऋत व्यवस्था नही वरन व्यवस्था को व्यवस्थित करने वाला सवव्यापी और रहस्यमय सिद्धात है। 'ऋत' वस्तुत विधायक विधान है जिसम देव मनुष्य प्रकृति और समाज बधे हुए हैं। कमसिद्धात वयक्तिक तथा सामाजिक जीवन म पूवसूचित व्यवस्था लाने का प्रयास है क्योंकि कमसिद्धात वस्तुत उस व्यवस्था का निरूपण करता है जिसका नियम अटल है और जिससे व्यक्ति तथा

---

1 प्रभू वही पष्ठ 18

2 कल्याण हिन्दू सस्कृति अक पष्ठ 11

समाज बंधे हुए हैं। कर्मसिद्धान्त में निहित व्यवस्था का विचार ऋग्वेद में विकसित 'ऋत'-धारणा का ही योगदान है।

ऋग्वेद में 'ऋत' की धारणा के साथ साथ यज्ञ परम्परा भी पाई जाती है। वैदिक काल के अन्त में 'ऋत' की धारणा लुप्त सी हो जाती है और उसके स्थान पर यज्ञ से सम्बंधित कल्प (Ritual) को प्रधानता मिलती है। वैदिक काल के प्रारम्भ में यज्ञ का उद्देश्य देवताओं की कृपा का आवाहन है लेकिन वैदिक काल के अन्त और उत्तर वैदिककाल में, यज्ञ ही इच्छित वस्तुओं का प्रदान करने वाला है। अतः देवों के स्थान पर यज्ञ को सर्वोपरिता मिली जिसका परिणाम यह हुआ कि यज्ञ, साधन के स्थान पर, साध्य हो गया। यज्ञ के साध्य हो जाने के साथ-साथ 'कल्प' की महत्ता बढ़ी जिसका परिणाम यह हुआ कि ऋत के रहस्यात्मक विचार के स्थान पर कल्पवादिता के विचार ने जोर पकड़ा। ऋत में जो महान्, दैविक व्यवस्था सिद्धान्त का विचार था वह कल्प से जुड़ गया। यहां 'ऋत' का अर्थ हो गया यज्ञों से सम्बंधित कल्पों की व्यवस्था का सिद्धान्त। ब्राह्मणग्रन्थ इसी कल्पवादिता (Ritualism) से ओतप्रोत हैं। वर्ण-व्यवस्था के विकास में पुरोहित वर्ग की बढ़ती हुई सर्वोपरिता और पौरोहित्य-कर्म की जटिलता ने कल्पवादिता को और भी प्रोत्साहित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि पौरोहित्य कर्म कल्पवादिता के अवगुंठन में परिवेष्टित हो गया। ऋत के स्थान पर यज्ञ को ही इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त व्यवस्था का आधार और यज्ञ के साथ कल्प को ब्रह्माण्ड के रहस्य का प्रतीक मान लिया गया।

उपनिषदों में कर्मसिद्धान्त

वेदों में आत्मा की अमरता, इस संसार से परे लोक (देवयान और पितृयान) समाज की व्यवस्था को धारण करने वाले ऋत, यज्ञ और कल्प तथा यज्ञ के द्वारा सांसारिक यातनाओं से मुक्ति पाने के विचार अभिव्यक्त हो चुके थे। ब्राह्मणग्रन्थों में कल्पवादिता के आधार पर इन्हीं विचारों को विकसित किया गया और उपनिषदों में इन्हीं विचारों के आधार पर कर्मसिद्धान्त को प्रतिपादित किया गया। प्रभु के अनुसार कर्मफल का विचार भी वेदों में मिलता है[1]। उपनिषदों में कर्मफल की धारणा के साथ-साथ आवागमन और पुनर्जन्म की धारणायें भी जुड़ गई। वास्तविकता तो यह है कि उपनिषदों के काल की सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों में कर्मफल भोग, आवागमन और पुनर्जन्म की धारणाओं के माध्यम से वैदिक धारणाओं को एक क्रांतिकारी रूप दिया गया और प्राचीन सिद्धान्तों को नई परिभाषाओं में वर्णन किया गया। कर्मसिद्धान्त में दोहरे प्रतिफल (Double Retribution) की धारणा इसका उदाहरण है। दोहरे प्रतिफल से तात्पर्य है कर्मफल के रूप में पहले परलोक

1 प्रभु, पी० एच० वही पृष्ठ 19

म सुख या दण्ड भोग और बाद म कमफल के भोग के ही कारण, इहलोक म पुनज म। इहलोक और परलोक म कमफल के भोगन की धारणा को दाहर प्रतिदण्ड की धारणा कहा गया है। यह धारणा दो विचारो के मिलने स बनी है। इसमे वदो मे पाये जाने वाले भावी प्रतिदान (Future Pecompense) के विचार का सम्मिलन आवागमन के सिद्धात की नई धारणा से हुआ है[1]। शतपथ ब्राह्मण के बाद से कर्मानुसार पुनजन्म क विचार का विकास बराबर मिलता है। शतपथ ब्राह्मण म तो इतना ही कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ही द्वारा निर्मित ससार म जन्मता है[2]। लेकिन उपनिषदो मे इस विचार का स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि मत व्यक्ति की आत्मा नया शरीर धारण करती है। कठोपनिषद म कहा गया है कि नश्वर प्राणी बीज की भाति गल जाता है और बीज की ही भाति पुन उत्पन्न होता है[3] एक मा के गभ से शरीर धारण करके उत्पन्न होता है और दूसरा पौध के रूप म अवतरित होता है क्योकि प्रत्येक अपने ज्ञान और कम मे अनुसार जन्मता है[4]।

वृहदारण्यकोपनिषद मे कहा गया है कि मत्यु क बाद आत्मा शरीर को त्याग देता है और इस जन्म म किये हुए कर्मो का सचित फल ही उसके साथ जाता है। अगले जन्म म आत्मा को क्या रूप मिलेगा यह कमफल द्वारा निर्धारित होता है। इसी उपनिषद म इस प्रश्न क उत्तर म कि मत्यु के बाद आत्मा का क्या होता है याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया है कि मानव का भावी जीवन उसके कर्मों से निर्धारित होता है। शुभ कर्मो का परिणाम शुभ होता ह और अशुभ कर्मों का परिणाम अशुभ (पुण्यो व पुण्यना कमणा भवति पाप पापेन) जिस प्रकार टिड्डा घास की एक पत्ती का किनारा तभी छोडता है जब दूसरी को पकड लेता है, उसी प्रकार यह आत्मा मानव शरीर को तभी छोडता ह जब इस दूसरे प्रकार के अस्तित्व म स्थान मिल जाता ह। जिस प्रकार, सुनार, अपनी इच्छानुसार सोने को नये और सुन्दर आकारो मे ढालता है उसी प्रकार यह आत्मा अपने लिए नये नये और सुन्दरतर अस्तित्वो का निर्माण किया करता है चाहे यह अस्तित्व पितरो क मध्य हो चाहे गन्धर्वो क मध्य चाहे देवताओ के मध्य और चाहे उन अन्य प्राणियो म जिनमे कि आत्मा चाहे[5]।

कर्मानुसार पुनजन्म क विषय म वृहदारण्यकोपनिषद म यह कहा गया है कि शरीर स आत्मा के निकलने के साथ साथ प्राण भी निकल जाते हैं जसा जिसका

---

1 गोखले, बी० जी० वही पष्ठ 99
2 वही पष्ठ 98
3 प्रभू पी० एच० वही पष्ठ 18
4 गोखले, बी० जी० वही पष्ठ 99
5 प्रभू, पी० एच० वही पष्ठ 19

आचार और व्यवहार होगा वैसा ही उसका आत्मा होगा। जिसके कर्म सत होते हैं वह सत होता है और जिसके कर्म असत, वह असत। पवित्र कर्मों से पवित्रता आती है और अपवित्र कर्मों से अपवित्रता। इसीलिए यह कहा जाता है कि व्यक्ति केवल इच्छाओं (काम) का ढेर है। जैसी जिसकी इच्छाएं होती हैं वैसा उसका क्रतु होता है, जैसा जिसका क्रतु वैसा उसका कर्म और जैसा जिसका कर्म वैसा उसका उत्विकास होता है। जब नश्वर मनुष्य इच्छा रहित हो जाता है तो वह अमर हो जाता है और ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। प्रत्येक व्यक्ति को तब तक बार-बार जन्म लेना पड़ता है जब तक कि वह कर्महीन न हो जाय। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि अच्छे आचरण वाले (रमणीयाचरणा) ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य वर्ण में जन्म लेते हैं जबकि बुरे आचरण वाले (कपूयाचरणा) कुत्ता, शूकर या चाण्डाल के रूप में जन्म लेते हैं। कौषीतकी उपनिषद् में यह कहा गया है कि अपने कर्म और विद्या के अनुसार एक आत्मा कीड़े पतंगे, मछली, चिड़िया, बाघ, शेर, साँप या मनुष्य या किसी अन्य योनि में जन्म लेता है। कठोपनिषद् में तो यहां तक कहा गया है कि अपने कर्म और ज्ञान (यथाकर्म यथाश्रुतम्) के अनुसार आत्मा अनात्म योनियों (पेड़ पौधों के रूप में) में भी जन्म लेता है।[1]

वर्ग और मारण्डक्य में व्यक्त हुआ यह विचार कि आत्मा अमर है और प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा को इस जन्म के कर्मानुसार अगले जन्म में सुख या दुःख भोगना पड़ता है, उपनिषदों में आवागमन की धारणा के आधार पर एक नया रूप लेता है। औपनिषदिक विचारधारा में इस जन्म के कर्मानुसार आत्मा को अगले जन्म में सुख या दुःख ही नहीं भोगना पड़ता है वरन आत्म या अनात्म योनियों में भी जन्म लेना पड़ता है। यज्ञ कर्म और ब्राह्मण ग्रन्थों की शिक्षा द्वारा इसका पूरा लाभ नहीं हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि उचित पूजा और दान के माध्यम से आत्मा को आवागमन के बन्धन से मुक्ति मिल जाती है। एक अन्य उपनिषद् के अनुसार पूजा और यज्ञ में लगा मनुष्य ईश्वर (ब्रह्म) के साथ एक ही परम साम्य (परमम साम्यम) हो जाता है जिस तरह सरिता का समुद्र के साथ साम्य होता है। लेकिन यह साम्य उन्हीं को प्राप्त होता है जो वीतराग, प्रशान्त और ज्ञानतृप्त हैं। इसलिए, उपनिषदों में जहां आवागमन की धारणा मिलती है वहां यह भी धारणा मिलती है कि ज्ञान से आवागमन के बन्धन से मुक्ति भी मिल सकती है। औपनिषदिक विचारधारा में आत्मा के इन दो स्वरूपों का अस्तित्व स्पष्ट झलकता है—एक लौकिक स्तर जो कर्म पर आधारित आवागमन है और दूसरा पारलौकिक स्तर जो ज्ञान द्वारा प्राप्त है जिससे मुक्ति मिल सकती है। ज्ञान के स्वाभिमान और कर्महीनता का विचार सम्भवतः उपनिषदों में ही आया है जिससे आगे चलकर जैन दर्शन में

---

1 प्रभु पी० एच० वही पृष्ठ 20

प्रयुक्त किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में कर्मसिद्धान्त में यज्ञ विचार का भाव आया और उपनिषदों से ज्ञान विचार का भाव। उपनिषदों के ही काल में हिन्दू विचारधारा और जीवन-दर्शन पारलौकिकता की ओर उन्मुख हुए।

औपनिषदिक काल में हिन्दू विचारधारा का जो विकास हुआ है, उसे गोखले ने भारत के सामाजिक इतिहास की एक आवश्यक परिणति माना है। इस दृष्टिकोण से औपनिषदिक विचारधारा भारतीय ऐतिहासिक विकास की एक तत्कालीन आवश्यकता के रूप में प्रस्फुटित तथा विकसित हुई। इस विकास के लिए दो परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं—एक वह परिस्थिति जो ब्राह्मणग्रन्थों के काल की बौद्धिक विचारधारा के रूप में आई, जिसमें कर्मकाण्डवाद ने बौद्धिक जीवन को शुष्क एवं नीरस बना दिया था और जिसमें ब्राह्मण वर्ग का सामन्तवादी एकाधिकार बढ़ रहा था। दूसरी वह परिस्थिति थी जो तत्कालीन सामाजिक आर्थिक संकट से उत्पन्न हुई थी। यह वह परिस्थिति थी जिसमें युद्धों के द्वारा आर्यों का प्रसार बढ़ रहा था जिसके परिणामस्वरूप जनसाधारण को आर्थिक दबाव सहन करना पड़ रहा था। औपनिषदिक विचारधारा में आत्मबल के उस विचार का वर्णन नहीं मिलता है जो वेदों में मिलता है। औपनिषदिक विचारधारा में बौद्धिक विकास तो मिलता है लेकिन साथ ही साथ इहलौकिक जीवन के प्रति थकान का भी भाव मिलता है। औपनिषदिक विचारधारा एक ओर वैदिक परम्परा से लिपटी हुई है किन्तु केवल बौद्धिक स्तर पर और दूसरी ओर उसमें वैदिक परम्परा के प्रति शंका है—वह शंका जो इस तथ्य में उत्पन्न होती हुई जान पड़ती है कि तत्कालीन नई परिस्थितियाँ न उत्पन्न समस्याओं का समाधान करने में वैदिक परम्परा अनुपयोगी थी। उपनिषदों की रीति की धारणा इस बात का प्रतीक है कि उसमें तर्क और विज्ञान के स्थान पर रहस्यात्मकता का प्रधानता मिली जिसमें पारलौकिकता के विचार को प्रोत्साहन मिला। रहस्यात्मकता के विचार का विकास परिस्थितियों में ही प्रश्रय मिलता है। डायसन (Deussen) के आधार पर गोखले ने यह स्वीकार किया है कि सम्भवतः औपनिषदिक विचारधारा के प्रधान तत्वों का प्रणयन क्षत्रिय वर्ग में हुआ है और राजनीतिक आर्थिक सत्ता के अधिकारी क्षत्रियों का पारलौकिकता के विचार की ओर उन्मुख होना इस बात का प्रमाण माना जा सकता है कि औपनिषदिक विचारधारा का प्रणयन विपन्न सामाजिक आर्थिक और बौद्धिक परिस्थितियों में हुआ होगा। अतः यह कहना तर्कसंगत जान पड़ता है कि कर्मसिद्धान्त का प्रथम निरूपण सामाजिक विपन्नता के एक दर्शन के रूप में हुआ[1]। इससे यह ध्वनित होता है कि कर्म सिद्धान्त का उद्भव निराशावादी जीवन दर्शन के रूप में हुआ। किन्तु क्या कर्म

---

1. गोखले बी० जी०, वही, पृष्ठ 96-97

सिद्धांत वास्तव में निराशावादी है? इस प्रश्न पर यथास्थान आगे विचार किया जायगा।

कर्मसिद्धांत के उद्भव के आधार जो कुछ भी रहे हों, लेकिन इसके विषय में एक तथ्य निश्चित है और वह यह है कि कर्मसिद्धांत पर आधारित जीवन दर्शन ने एक नए अभिनव मार्ग प्रस्तुत किया जिसके चारों ओर सभी कुछ व्यवस्थित था और उस व्यवस्था का आधार था कर्म। इस मार्ग पर वैदिक देवों की सर्वोपरिता नहीं थी क्योंकि यहां मनुष्य स्वयं अपने जीवन का निर्माता था। यहां मनुष्य के सामने जीवन का एक लम्बा वितान था जिसके इस ओर इहलौकिक जीवन था और उस पार पारलौकिक जीवन। इसी मार्ग पर वह मान्यता प्रतिपादित हुआ जिसमें यह मान्यता है कि शरीर जिन दो प्रकार के तत्वों से मिलकर बना है उनमें से एक है भूताश्रय और दूसरा कर्माश्रय। कर्माश्रय एक सक्रिय प्रक्रिया है जिसका निर्माण जीव के पूर्व जन्म तथा इस जन्म के कर्मों से होता है। कर्माश्रय जीव के भावी जीवन का निर्माता है। प्रत्येक आत्मा और जीवन का कर्माश्रय अलग-अलग होता है। प्रत्येक जीव कर्माश्रय से बधा है। इहलौकिक जीवन अपूर्ण है और जब तक यह अपूर्णता रहेगी जीव और जीवन कर्माश्रय से बंधे रहेंगे तथा आवागमन के चक्र में फंसे रहेंगे। पूर्णत्व का अर्थ कर्माश्रय तथा आवागमन से मुक्ति पाना है। मानव-जीवन उसी पूर्णत्व की खोज है। पूर्णत्व किसी देवी अनुकम्पा से नहीं अपने ही प्रयत्नों से मिलता है। अतएव नियन्ता कर्मसिद्धांत से बधा है, नियति से नहीं। नियत कर्म के माध्यम से मनुष्य स्वयं अपना नियति का निर्माण कर सकता है। कर्माश्रय यदि एक ओर प्रारब्ध का नियामक है तो दूसरी ओर प्रारब्ध का भी।

उपनिषदों में निरूपित कर्मसिद्धांत में इहलौकिक या पारलौकिक प्रारंभ तथा का भंडार सा खुल गया जिसमें भारतीय जन जीवन के उत्साह और प्रेरणा स्रोतों को बल मिला। कर्म की यह व्याख्या निराशावादी नहीं आशावादी है। कर्म की इस व्याख्या में व्यक्ति के लिये परिवार, ग्राम, जाति गणजाति और राज्य में अधिक कर्म का महत्व बढ़ जाता है। यही कर्मसिद्धांत उस सामाजिक व्यवस्था का नैतिक आधार बन जाता है जिसमें विभिन्न प्रजातियों संस्कृतियों, भाषाओं तथा धर्मों के व्यक्ति और समूह एक सूत्र में बंधे रहे हैं। धर्म के साथ कर्मसिद्धांत हिन्दू नैतिकता का आधार है और इस आधार का सूत्रपात औपनिषदिक काल में ही हुआ। यहीं की नैतिकता है जो 'अविभक्त विभक्तेषु' की भावना पर आधारित है। कर्म द्वारा बाह्य नैतिकता नहीं है। कर्म वह नैतिकता है जिसका आधार आध्यात्मिक है। इसी कारण हिन्दू सामाजिक जीवन में कर्मसिद्धांत का उद्भव नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्य (Value) के रूप में हुआ है और इसी रूप में उपनिषदों के बाद के व्याख्याकारों ने इसकी व्याख्या की है।

महाभारत में कर्मसिद्धान्त को एक जीवन दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि महाभारत में वर्ण का आधार कर्म माना गया है। लेकिन यहां कर्म की व्याख्या उस रूप में नहीं है जिस रूप में बुद्ध ने की है। यहां कर्म को व्यक्ति की स्वाभाविक वृत्ति से जोड़ दिया गया है। व्यक्ति की स्वाभाविक वृत्ति पूर्वजन्म के कर्मों से बंधी है। प्रभू द्वारा महाभारत के वनपर्व से उद्धृत एक अंश के अनुसार, 'कर्मों द्वारा संचित भार के साथ आत्मा का पुनर्जन्म होता है कर्मों के परिणाम से ही व्यक्ति का सुख दुख और सम्पन्नता विपन्नता की प्राप्ति होती है पूर्व जन्म में किये हुए कर्म किसी भी प्राणी को कभी नहीं छोड़ते हैं यह कर्म का ही परिणाम है कि इस जीवन में सज्जन को दुख मिल सकता है और दुर्जन को सुख। महाभारत के अनुशासन पर्व में ऋषि बृहस्पति ने युधिष्ठिर से कर्मसिद्धान्त की विवेचना करते हुए कहा है कि मृत्यु के पश्चात मनुष्य के अच्छे बुरे कर्म उसके साथ जाते हैं और उनके द्वारा उसके अगले जन्म का प्रारब्ध निश्चित होता है शांतिपर्व में यह कहा गया है कि आत्मा की अगली योनि भी इस जन्म के कर्मों से निर्धारित होती है। वनपर्व में कहा गया है कि मनुष्य को अपने किंचित कर्म का भी परिणाम भोगना पड़ता है मनुष्य के कर्म उसके साथ जाते हैं कर्म के परिणाम कभी भी नष्ट नहीं होते हैं (नास्ति कृतस्य नाश)। कर्मों के ही कारण आत्मा को बार बार जन्म लेना पड़ता है। मनुष्य के कर्म शुभ भी होते हैं और अशुभ भी और यह निश्चित है कि मनुष्य वैसा ही काटेगा जैसा कि बोयेगा कोई भी अपनी इच्छानुसार अपने प्रारब्ध का निर्णय नहीं कर सकता है पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों का परिणाम इस जन्म में भोगना पड़ता है जो इस कर्मसिद्धान्त से अनभिज्ञ हैं, वे अपने दुर्भाग्य के लिए दैवी शक्तियों को कोसते रहते हैं यद्यपि वे यह नहीं जानते कि उनका दुर्भाग्य उनके ही अशुभ कर्मों का परिणाम है[1]। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि महाभारत में कर्म को दैव के रूप में प्रतिपादित किया गया है। महाभारत में कर्म और उसके परिणाम को इतना अवश्यम्भावी माना गया है कि महाभारत का कर्मसम्बन्धी विचार दैववादी हो गया है यद्यपि उसे दैववादिता से बचाने का प्रयत्न भी किया गया है। अनुशासन पर्व में कहा गया है कि व्यक्ति के प्रयत्न बीज के समान है दैव भूमि के समान और फसल (कर्मफल) दोनों के सम्मिलन का परिणाम है[2]। यहां कर्म के सम्बन्ध में यह विचार प्रधान है कि जो जैसा काट रहा है, वैसा उसने बोया होगा।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि महाभारत में कर्म को अवांछनीय किन्तु अनिवार्य आवश्यकता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। महाभारत के अनुसार केवल

---

1 प्रभू पी० एच० पृष्ठ 21, 22, 23

2 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 101

अल्पज्ञ ही कर्म की प्रशंसा करते हैं, जिसके कारण वे दैहिक अस्तित्व के प्रपंच में प्रसन्नतापूर्वक फंसे रहते हैं लेकिन, जिन्हें धर्म का पूर्ण ज्ञान है वे कर्म की वैसे ही प्रशंसा नहीं करते हैं जैसे नदी में जल पीता हुआ व्यक्ति कुएं को जरा भी ध्यान में नहीं लाता है (शान्तिपर्व)। मनुष्य सदैव कर्म के प्रभाव के अन्तर्गत रहता है और इस कारण उसे यह अवश्य सोचना चाहिये कि किस प्रकार वह कर्म का प्रतिविधान (Atonement) कर सकता है और किस प्रकार वह अपने को असद् दुर्दैव से मुक्त कर सकता है (वनपर्व)। चाहे कोई प्राणी सबल हो या कमजोर, लम्बा हो या छोटा, जीर्णता और मृत्यु सभी को निगल जाते हैं। हां, इसका अपवाद वही हो सकता है जो पुनर्जन्म से बच सके क्योंकि आत्मा अमर है (शान्तिपर्व)। प्रत्येक व्यक्ति को आत्मा में मोक्ष प्राप्ति का प्रयास करना चाहिये क्योंकि यह संसार अनेक कठिनाइयों और त्रुटियों से भरा पड़ा है (शान्तिपर्व)[1]।

परलोक का विचार महाभारत में और भी विस्तृत हुआ है। महाभारत में आत्मा के अस्तित्व के तीन स्तर बताये गये हैं। इस लोक को कर्मभूमि कहा गया है और परलोक को फलभूमि। फलभूमि के दो स्तर हैं—एक स्तर है स्वर्ग और नर्क का जहाँ कर्मानुसार जीव को फल भोगना पड़ता है। बुरे कर्मों के कारण नर्क की यातनायें भुगतनी पड़ती हैं और अच्छे कर्मों के कारण स्वर्ग के भोगों का सुख मिलता है। महाभारत के वनपर्व में स्वर्ग के भोगों की विस्तृत तालिका का वर्णन है। लेकिन स्वर्ग के भोग व्यक्ति के कर्मों के अनुपात से ही मिलते हैं और ज्यों ही अपने कर्मों के अनुपात में व्यक्ति स्वर्ग के सुख और नर्क की यातनायें भोग लेता है उसे पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों के अनुसार पुनः इस लोक की किसी न किसी योनि में जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार, स्वर्ग नर्क और इहलोक के बीच में कर्मानुसार जीवात्मा का आवागमन चलता रहता है। परलोक में स्वर्ग नर्क से परे एक अन्य स्तर, सनातन पद (सनातन धाम), है जिसको सत्ता परब्रह्म है जहाँ से इहलोक में पुनरावृत्ति नहीं होती है। महाभारत में मोक्ष का अर्थ है सनातन पद में लीन होना और उसकी प्राप्ति तभी होती है जब मनुष्य जन्म और मृत्यु के पार तथा ज्ञान उत्पन्न होने पर गुण दोष से मुक्त हो जाय।

सनातन पद की प्राप्ति और आवागमन के चक्र से मुक्ति का साधन धर्म है और धर्म के एक नहीं अनेक द्वार हैं। धर्मप्राण क्रिया कभी भी निष्फल नहीं होती (शान्तिपर्व)। महाभारत के अनुसार सनातन पद उन्हीं को प्राप्त होता है जो स्वार्थ तथा अहंकार रहित और समदर्शी होते हैं और जिनका पुण्य प्रकट हो जाता है। महाभारत में ज्ञान, भक्ति और स्वधर्म पालन मोक्ष के तीन मुख्य मार्ग बताये गये हैं। प्राणी कर्म से बन्धन में बंधता है लेकिन, विद्या (ज्ञान) से उसकी मुक्ति होती

---

1 प्रभु, पी॰ एच॰ वही पृष्ठ 21 22

है। ज्ञान से प्राणी सनातन, अतीन्द्रिय और अजर हो जाता है। ज्ञान सरिता के जल के समान है और कर्म कुएं के जल के समान। सरिता के जल को पाकर जिस प्रकार कुएँ की चिंता नहीं रहती उसी प्रकार ज्ञान की प्राप्ति से कर्म की चिंता छूट जाती है। ज्ञान से प्राणी उस अवस्था में पहुँच जाता है जहां न तो क्लेश है, न मृत्यु, न जन्म और न पुनर्जन्म[1]। निवृत्ति और सन्तोष धर्म का अन्य द्वार है जिससे आवागमन से मुक्ति मिल सकती है। निवृत्ति और सन्तोष वह अवस्था है जहां कर्म का अस्तित्व नहीं है। इस अवस्था की प्राप्ति वासना के अन्त से होती है। वासना का अन्त वासना की वस्तुओं के त्याग से होता है। एक वासना की पूर्ति से दूसरी वासना उत्पन्न होती है और इस प्रकार कभी न समाप्त होने वाला वासना चक्र अस्तित्व में आता है जिसके परिणामस्वरूप कर्म की उत्पत्ति होती है और प्राणी आवागमन के चक्र में बंधता है। जैसे हर बार नया इंधन डालने से अग्नि प्रज्वलित होती है, वैसे ही प्रत्येक वासना की वस्तु से वासना प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। वासना की उत्पत्ति छूने देखने और सुनने वाली कर्मक्रियाओं से उत्पन्न होने वाले सुख की अनुभूति से होती है। जिसने जिस वस्तु के सुख का अनुभव नहीं किया है, उसे उस वस्तु की इच्छा नहीं होती है। अतः, सुखप्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति वासना वाली वस्तुओं को न देखे न छूने और न देखने का प्रण करे।

महाभारत में जैसा कि पिछले वर्णन से स्पष्ट है निवृत्ति को उस पराकाष्ठा तक ले जाया गया है जहां प्रत्येक के लिए पहुंचना यदि असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। सनातन पद तक ले जाने वाले ज्ञान की अनुभूति भी हर एक के बस की बात नहीं है। इसलिए महाभारत में कर्म से मुक्ति पाने के लिए एक बीच का मार्ग अपनाया गया है। वह मार्ग है सन्तोष और स्वधर्म का जिसका प्रमाण है धर्म-व्याध का प्रसंग जो महाभारत के वनपर्व में आया है और जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। धर्मव्याध के अनुसार कर्मरहित इहलौकिक जीवन असम्भव है। शुभ कर्मों से शुभ योनि मिलती है और पाप कर्मों से पापयोनि। प्रारब्ध पूर्व जन्म के कर्मों का परिणाम इतना बलवान होता है कि उसके प्रभाव से बचना असम्भव है। इहलौकिक जीवन पूर्वजन्म के कर्मों का परिणाम है और इहलौकिक जीवन में स्वधर्म का पालन ही धर्म है। स्वधर्म त्याग पाप है। स्वधर्म पालन के लिये किये गए कर्म न तो दूषित करते हैं और पूर्वसंचित कर्मभार को ही बढ़ाते हैं। जिस कर्म में स्वधर्म की साधना हो वही श्रेयस्कर है चाहे वह कर्म वधिक का ही क्यों न हो। *महाभारत में स्वधर्म से तात्पर्य वर्णधर्म से है*[2]।

उसी प्रसंग में महाभारत में यह कहा गया है कि केवल अन्तर्बुद्धि ही प्रवा

---

1 प्रभु, पी० एच० वही पृष्ठ 21 22 24

2 वही पृष्ठ 25

छित के घटित होने पर तथा वांछित के न पाने पर शोक करता है। वांछित और अवांछित या अभीष्ट और अनभीष्ट के लिये किये जाने वाले शोक से जीवन का कष्ट कम नहीं होता वरन् बढ़ता है। ज्ञानतृप्त मनीषी जिनको ज्ञान ने उन्हें सन्तोषी और सुखी बनाया है, जिनमें सुख और दुर्भाग्य के प्रति समभाव है वही वस्तुतः सुखी हैं। सन्तोष ही परम सुख का साधन है। सन्तोष ज्ञानी का लक्षण है और असन्तोष मूढ़ का। विषाद से पराजित व्यक्ति जिसकी शक्तियाँ क्षीण हो गई हैं पुरुषार्थहीन हो जाता है। निर्वेद (असन्तोषमय निराशा) में कोई लाभ नहीं होता क्योंकि कर्मफल का भोग अवश्यंभावी है। अतः शोचन के स्थान पर दुःख से मुक्ति पाने के उपायों की खोज का प्रयास अधिक श्रेयस्कर है। इसका एक ही साधन है और वह है सन्तोष के साथ स्वधर्म पालन। कर्म के साथ सन्तोष भाव का संयोजन यह भारत में ही काल में हुआ।

गीता का निष्काम कर्म

श्रीमद्भगवद्गीता में जिसे साधारणतः गीता[1] का नाम दिया जाता है कर्म-सिद्धान्त को एक व्यापक जीवन दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। गीताकार ने श्रीमद्भगवद्गीता को उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र की संज्ञा दी है जो इस बात की प्रतीक है कि गीता की रचना उपनिषदों की विचार-परम्परा में हुई है। महाभारत के रचयिता को वेदव्यास कहा गया है क्योंकि वह वेद परम्परा से बँधे हुए हैं। किन्तु गीताकार ने महाभारत में वर्णित घटना (महाभारत युद्ध) के प्रसंग का आधार बनाकर उस दर्शन का प्रतिपादन किया है जिसके प्रेरणा स्रोत वेद में न होकर उपनिषद् में है। लेकिन गीताकार ने वैदिक परम्परा का पूर्णतया नहीं त्यागा है। वैदिक परम्परा प्रवृत्ति तथा प्रवृत्तिवादी है और उपनिषदों की परम्परा ज्ञानमार्गी होने के कारण निवृत्तिवादी। गीताकार ने निवृत्तिमार्गी प्रवृत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है और ज्ञान, कर्म तथा भक्ति (प्रपत्ति) इस सिद्धान्त के प्रधान आधार हैं। प्रवृत्ति का आधार है कर्म और निवृत्ति का ज्ञान तथा प्रपत्ति।

---

1 गीता का अर्थ है गाया हुआ या कहा हुआ। किन्तु, अपने रूढ़िगत अर्थ में गीता प्रतीक है उन श्लोकों के संग्रह का जिनमें संवाद के रूप में धर्म और ब्रह्म विद्या सम्बन्धी सिद्धान्त को निरूपित तथा स्पष्ट किया जाता है। इस दृष्टिकोण से गीता वस्तुतः प्रतीक है एक विशेष रचना शैली की और इसी कारण शिवगीता, रामगीता और श्रीमद्भगवद्गीता इत्यादि अनेक गीतायें मिलती हैं। लेकिन इन गीताओं में श्रीमद्भगवद्गीता ही सबसे अधिक लोकप्रिय रही है और इस कारण, साधारणतः, गीता से श्रीमद्भगवद्गीता का तात्पर्य लिया जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वादों द्वारा कर्म सिद्धान्त को स्पष्ट किया गया है।

है। ज्ञान से प्राणी सनातन अतीन्द्रिय और अजर हो जाता है। ज्ञान सरिता के जल के समान है और कर्म कुएं के जल के समान। सरिता के जल को पाकर जिस प्रकार कुएँ की चिन्ता नहीं रहती, उसी प्रकार ज्ञान की प्राप्ति से कर्म की चिन्ता छूट जाती है। ज्ञान से प्राणी उस अवस्था में पहुँच जाता है जहां न तो क्लेश है न मृत्यु न जन्म और न पुनर्जन्म[1]। निवृत्ति और सन्तोष धर्म का अन्य द्वार है जिससे आवागमन से मुक्ति मिल सकती है। निवृत्ति और सन्तोष वह अवस्था है जहां कर्म का अस्तित्व नहीं है। इस अवस्था की प्राप्ति वासना के अन्त से होती है। वासना का अन्त वासना की वस्तुओं के त्याग से होता है। एक वासना की पूर्ति से दूसरी वासना उत्पन्न होती है और इस प्रकार कभी न समाप्त होने वाला वासना चक्र अस्तित्व में आता है जिसके परिणामस्वरूप कर्म की उत्पत्ति होती है और प्राणी आवागमन के चक्र में बंधता है। जैसे हर बार नया इंधन डालने से अग्नि प्रज्वलित होती है वैसे ही प्रत्येक वासना की वस्तु से वासना प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। वासना की उत्पत्ति छूने, देखने और सुनने वाली कर्मेन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले सुख की अनुभूति से होती है। जिसने जिस वस्तु के सुख का अनुभव नहीं किया है, उसे उस वस्तु की इच्छा नहीं होती है। अतः सुख प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति वासना वाली वस्तुओं को न चखने न छूने और न देखने का प्रण करे।

महाभारत में, जैसा कि पिछले वर्णन से स्पष्ट है निवृत्ति को उस पराकाष्ठा तक ले जाया गया है जहां प्रवेश के लिए पहुंचना यदि असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। सनातन पद तक ले जाने वाले ज्ञान की अनुभूति भी हर एक के बस की बात नहीं है। इसलिए महाभारत में कर्म से मुक्ति पाने के लिए एक बीच का मार्ग अपनाया गया है। वह मार्ग है सन्तोष और स्वधर्म का जिसका प्रमाण है धर्म व्याध का प्रसंग जो महाभारत के वनपर्व में आया है और जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। धर्मव्याध के अनुसार कर्मरहित ऐहलौकिक जीवन असम्भव है। शुभ कर्मों से शुभ योनि मिलती है और पाप कर्मों से पापयोनि। प्रारब्ध पूर्व जन्म के कर्मों का परिणाम, इतना बलवान होता है कि उसके प्रभाव से बचना असम्भव है। इहलौकिक जीवन पूर्वजन्म के कर्मों का परिणाम है और इहलौकिक जीवन में स्वधर्म का पालन ही धर्म है। स्वधर्म त्याग पाप है। स्वधर्म पालन के लिये किये हुए कर्म न तो दूषित करते हैं और पूर्वसंचित कर्मभार को ही बढ़ाते हैं। जिस कर्म में स्वधर्म की साधना हो वही श्रेयस्कर है चाहे वह कर्म बधिक का ही क्यों न हो। महाभारत में स्वधर्म से तात्पर्य वर्णधर्म से है[2]।

उसी प्रसंग में महाभारत में यह कहा गया है कि केवल अल्पबुद्धि ही मना

---

1 प्रभु, पी० एच० वही पृष्ठ 21 22, 24

2 वही पृष्ठ 2॰

छित के घटित होने पर तथा वांछित के न पाने पर शोक करता है। वांछित और अवांछित या अभीष्ट और अनभीष्ट के लिए किए जाने वाले शोक से जीवन का कष्ट कम नहीं होता वरन् बढ़ता है। ज्ञानतृप्त मनीषी जिनको ज्ञान ने उन्हें संतोषी और सुखी बनाया है, जिनमें सुख और दुर्भाग्य के प्रति समभाव है वही वस्तुतः सुखी हैं। संतोष ही परम सुख का साधन है। सन्तोष ज्ञानी का लक्षण है और असंतोष मूढ़ का। विषाद से पराजित व्यक्ति, जिसकी शक्तियाँ क्षीण हो गई हैं, पुरुषार्थहीन हो जाता है। निर्वेद (असंतोषमय निराशा) से कोई लाभ नहीं होता क्योंकि कर्मफल का भोग अवश्यंभावी है। अतः पलायन के स्थान पर दुःख से मुक्ति पाने के उपायों की खोज का प्रयास अधिक श्रेयस्कर है। इसका एक ही साधन है और वह है सन्तोष के साथ स्वधर्म पालन। कर्म के साथ संतोष भाव का संयोजन यह भारत में ही काल में हुआ।

गीता का निष्काम कर्म

श्रीमद्भगवद्गीता में जिसे साधारणतः गीता[1] का नाम दिया जाता है, कर्म सिद्धान्त को एक व्यापक जीवन दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। गीताकार ने श्रीमद्भगवद्गीता को उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यागत योगशास्त्र की संज्ञा दी है जो इस बात की प्रतीक है कि गीता की रचना उपनिषदों की विचार-परम्परा में हुई है। महाभारत के रचयिता को वेदव्यास कहा गया है क्योंकि वह वेद परम्परा में बंधे हुए हैं। किन्तु गीताकार ने महाभारत में वर्णित घटना (महाभारत युद्ध) के प्रसंग को आधार बनाकर उस दर्शन का प्रतिपादन किया है जिसका उद्गम स्थान वेद में न होकर, उपनिषद् में है। लेकिन गीताकार ने वैदिक परम्परा का [illegible] नहीं त्यागा है। वैदिक परम्परा प्रवृत्ति तथा प्रवृत्तिमार्गी है और [illegible] परम्परा ज्ञानमार्गी होने के कारण निवृत्तिवादी। गीताकार ने [illegible] के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है और ज्ञान कर्म तथा भक्ति (श्रद्धा) [illegible] के प्रधान आधार हैं। प्रवृत्ति का आधार है कर्म और निवृत्ति का [illegible]

---

1 गीता का अर्थ है गाया हुआ या कहा हुआ। किन्तु [illegible] गाता प्रतीत है उन श्लोकों के समूह का जिनमें [illegible] ब्रह्म विद्या सम्बन्धी सिद्धान्त को निरूपित [illegible] दृष्टिकोण से गीता वस्तुतः प्रतीक है एक [illegible] कारण शिवगीता, रामगीता और [illegible] मिलती हैं। लेकिन इन गीताओं में [illegible] रही है और इस कारण, साधारण, [illegible] लिया जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता [illegible] द्वारा कर्म सिद्धान्त को स्पष्ट किया गया है।

गीताकार के अनुसार न तो प्रवृत्ति ही सर्वोपरि है, न ज्ञान और न प्रपत्ति और न इनमें से किसी की अवहेलना ही की जा सकती है। प्रवृत्ति कर्म की ओर प्रेरित करती है किन्तु कारा और निरीह कर्म बंधन है। मोक्ष वहीं है जहां कर्म का आधार ज्ञान और प्रपत्ति है। ज्ञान, प्रपत्ति और कर्म त्रिभुज के तीन बिन्दुओं की भांति परस्पर बँधे हुए हैं और इस कारण तीनों के समन्वय से ही मोक्ष मिल सकता है। ज्ञान, कर्म और प्रपत्ति का समन्वय निष्कामकर्मयोग में होता है जिसे गीताकार ने मोक्ष का साधन माना है। निष्कामकर्मयोग के द्वारा जीव मोक्ष की ओर अपना उत्तरोत्तर विकास कर सकता है। निष्कामकर्म के सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण गीता महाभारत में भिन्न हो जाती है। इसीकारण गीता में प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त महाभारत में प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील और प्रेरक है। सम्भवत, इसीकारण तत्कालीन परिस्थितियों में भारतीय जन जीवन को जितनी प्रेरणा गीता से मिली है उतनी किसी अन्य धर्मग्रन्थ से शायद ही मिली हो और आज भी जन जीवन में जितना प्रभाव गीता का है, उतना रामायण के बाद शायद ही किसी धर्मग्रन्थ का हो[1]।

गीता की रचना के पहले कर्म और मोक्ष से सम्बन्धित जितने सिद्धान्त तथा विचार प्रतिपादित हो चुके थे गीताकार ने निष्कामकर्मयोग के सिद्धान्त की पृष्ठ-भूमि में उन्हीं का नव निर्वचन करके उन्हें एक सिद्धान्तसूत्र में प्रस्तुत किया।

---

1 समय समय पर, गीता पर लिखे गये भाष्य इसका प्रमाण हैं। गीता पर जितने भी भाष्य लिखे गये हैं वे तत्कालीन परिस्थितियों में ही लिखे गये हैं। जब बौद्ध-ब्राह्मण संघर्ष अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया था और उसके फलस्वरूप आठवीं शताब्दी के आस पास सामाजिक संघर्षयुक्त विपन्न परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी तो शंकर ने गीता पर भाष्य लिखकर ज्ञानमार्गी अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। बुद्धवादी विचारधारा पहले से ही गीता के अधिक समीप थी। कालान्तर में, रामानुज ने गीता पर भाष्य लिखकर प्रपत्ति मार्ग का प्रतिपादन किया। यही मार्ग आगे चल कर भक्ति आन्दोलन के रूप में प्रस्फुटित हुआ। शंकर की निर्गुण अद्वैतवादी, ज्ञानाश्रयी विचार धारा, प्रपत्ति मार्ग से समन्वित होकर, तुलसी की सगुण अद्वैतवादी ज्ञानाश्रयी विचारधारा के रूप में प्रस्फुटित हुई। आगे चलकर अंग्रेजी राजकाल में, जब स्वातन्त्र्य-संग्राम के कारण सामाजिक विपन्नता आई तो तिलक ने गीता रहस्य लिखकर, देश-काल की मर्यादा के अनुसार निष्काम कर्म करने के आदर्श को प्रतिपादित किया। महात्मा गांधी के आर्थिक और राजनतिक कार्यक्रम के प्रेरणा स्रोत गीता में हैं, यह उनके द्वारा लिखे गीता भाष्य से स्पष्ट है। गांधी का सत्याग्रही गीता का स्थितप्रज्ञ, ज्ञानी, भक्त और निष्काम कर्मयोगी ही है।

'नेति' का रहस्यवादी विचार, जो उपनिषदों में परिलक्षित हुआ था गीता में व्याप्त है। यह संसार क्षणभंगुर और नाशवान है। इस संसार से परे एक शक्ति है जो इस संसार में व्याप्त है लेकिन फिर भी इस संसार से परे है। यह सत्ता अगम अगोचर, अमर, अव्यक्त और परम है। उसके सैकड़ों और हजारों रूप हैं, जो नाना प्रकार के दिव्य भिन्न वर्ण भिन्न संवरण और भिन्न आकृति वाले हैं (11/5)[1]। इसमें समूचा स्थावर तथा जंगम जगत समाहित है (11/7)। परम सत्ता का रूप केवल दिव्य चक्षुओं से ही देखा जा सकता है क्योंकि वह सांसारिक नहीं ईश्वरीय योग है (11/8)। परम सत्ता का रूप अनेक मुख और आंखों वाला अनेक अद्भुत दर्शन वाला, अनेक दिव्य आभूषणों तथा उठाए शस्त्र वाला है। यह अद्भुत (रहस्यमुक्त), अनंत और सर्वव्यापी देव का रूप है। उसका तेज आकाश में एक साथ प्रकाशित हजार सूर्यों जैसा है और उसमें अनेक प्रकार से विभक्त समूचा जगत एक साथ विद्यमान है। उसका न तो आदि है, न मध्य और न अन्त (11/10 11 12, 13 16)। उसका रूप अनेक मुख, हाथ उदर और नेत्र वाला है वह अनन्त है। उसका तेज सभी दिशाओं में देदीप्यमान हो रहा है (11 17)। उसकी शक्ति अनन्त है, सूर्य चन्द्र उसके नेत्र हैं, उसका मुख प्रज्वलित अग्नि के समान है, उसके तेज में जगत तप रहा है (11 19)। आकाश और पृथ्वी के बीच के अन्तर में और समस्त दिशाओं में वही अकेला व्याप्त है (11/20)। वह तेजयुक्त विश्वव्यापी अनन्त परम और आदि देव है। उसे किसी ने भी नहीं देखा है उसका केवल अनुभव किया जा सकता है (11 47)। उसका वीर्य अनन्त है उसकी शक्ति अपार है वही सब कुछ धारण करता है इसलिए वही सब है (11/40)। वह विश्व का परमस्थान और परमधाम है। इसलिए वह पुराण पुरुष है (11/38)। वह परम अक्षर जगत का अंतिम आधार सनातनधर्म का अविनाशी रक्षक सनातन पुरुष है (11/18)। उसका रूप विश्व रूप है (11/16)। वही जगत का संहारक (14 3) वही पालन हार विष्णु (11/21), और वही महारुद्र है (11/32 33 34)। जैसे जलते हुए दीपक में वन से बने हुए पतंग जलने रहते हैं वैसे ही सभी कुछ उसके मुख में बल से प्रवेश करता रहता है (11/29), यही वह था विराट पुरुष है जिसे गीताकार ने, एक ओर, पुराण-पुरुष तथा सनातन पुरुष कहा है और, दूसरी ओर ईश्वर परमात्मा, ब्रह्म तथा परम पुरुष कहा है। यही गीता का श्रीकृष्ण है। वह पुरुषोत्तम जीवों का पिता, जीवेश्वर देवों का देव और जगत का स्वामी है। वह स्वयं ही अपने को अपने द्वारा जानता है (10/15)। इस संसार में व्याप्त उसकी विभूतियाँ ही उसके अस्तित्व की

1 यहाँ गीता में निहित विचार का विश्लेषण गीता के विभिन्न अध्यायों से लिये हुए श्लोकों के भावार्थों के आधार पर किया गया है। अतः, सन्दर्भ को व्यक्त करने के लिए, जहाँ आवश्यक है अध्याय श्लोक संख्या दिए दो गई है। उदाहरणार्थ, यहाँ 11/5 से तात्पर्य है अध्याय 11 श्लोक संख्या 5।

परिचायक है[1]। वह एक अवर्णनीय गुह्य रहस्य है।

गीता के अनुसार, पुरुष और प्रकृति दोनों अनादि हैं। पुरुष सर्वव्यापी, अगम, अगोचर, सनातन अव्यक्त, अविकारी, अजन्मा, गुणातीत और चेतन है। प्रकृति सगुण और विकारयुक्त है। देह (क्षेत्र) प्रकृति से उत्पन्न होती है और क्षेत्र में व्याप्त क्षेत्रज्ञ पुरुष है। विकार तथा गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं (13/9)। जो कुछ भी चर अचर वस्तु उत्पन्न होती है वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न होती है (13/26)। महद्ब्रह्म अर्थात प्रकृति पुरुष की योनि है। वह उसमें गर्भाधान करता है और उसमें प्राणीमात्र की उत्पत्ति होती है (14/3)। सब योनियों में जिन जिन प्राणियों की उत्पत्ति होती है, उनकी उत्पत्ति का स्थान पुरुष की प्रकृति है और उनमें बीजारोपण करने वाला पिता, पुरुष ही है (14/4)। परमपुरुष सभी देहधारियों में व्याप्त है और देह में स्थित जो परम पुरुष है, वह सर्वसाक्षी, अनुमति देनेवाला, भर्ता,

---

1 सब प्राणियों के हृदय में विद्यमान आत्मा, भूतमात्र का आदि, मध्य और अन्त आदित्यों में विष्णु, ज्योतियों में जगमगाता सूर्य, वायुओं में मरीचि, नक्षत्रों में चन्द्र, वेदों में सामवेद, देवों में इन्द्र, इन्द्रियों में मन, प्राणियों का चेतन, रुद्रों में शंकर, यक्ष और राक्षसों में कुबेर, वसुओं में अग्नि, पर्वतों में मेरु, पुरोहितों में बृहस्पति, सेनापतियों में कार्तिक स्वामी, सरोवरों में सागर, महर्षियों में भृगु, वाणी में ओम, यज्ञों में जपयज्ञ, स्थावरों में हिमालय, वृक्षों में अश्वत्थ (पीपल), देवर्षियों में नारद, गंधर्वों में चित्ररथ, सिद्धों में कपिल मुनि, अश्वों में अमृत से उत्पन्न उच्चैश्रवा, हाथियों में ऐरावत, मनुष्यों में राजा, हथियारों में वज्र, गायों में कामधेनु, प्रजा की उत्पत्ति का कारण कामदेव, सर्पों में वासुकि नागों में शेषनाग, जलचरों में वरुण, पितरों में अर्यमा, दण्ड देने वाला में यम, दैत्यों में प्रह्लाद, गिनने वालों में काल, पशुओं में सिंह, पक्षियों में गरुड़, पावन करने वालों में पवन, शस्त्रधारियों में परशुराम, मछलियों में मगरमच्छ, नदियों में गंगा, सृष्टियों का आदि अन्त और मध्य विद्याओं में आत्मविद्या, विवादकों का वाद, अक्षरों में आकार, समासों में द्वन्द्व अविनाशी काल, सर्वकर्ता, मृत्यु और उत्पत्ति, कीर्ति, लक्ष्मी, वाणी स्मृति मेधा, धृति और क्षमा सामों में बृहत् साम, छन्दों में गायत्री महीनों में मार्गशीर्ष, ऋतुओं में वसन्त छल करने वाले का द्यूत, प्रतापी का प्रभाव जय और निश्चय सात्विक भाव वाले का सत्व, वृष्णि कुल में वासुदेव, पाण्डवों में धनंजय मुनियों में व्यास कवियों में उशना शासक का दण्ड, जय चाहने वालों की नीति, गुह्य बातों में मौन, ज्ञानवालों का ज्ञान, उत्पत्ति का कारण स्थावर जंगम का अनन्त, यही परम सत्ता है। संसार की विभूतियाँ उसी से हैं (10 20–41)।

भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा भी कहलाता है (13/22)। विकार और गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं (13/19)। इस कारण कार्य कारण का हेतु प्रकृति है और सुख-दुख में हेतु पुरुष है (13/20)। पुरुष के दो स्तर है—एक परमपुरुष का जो सर्वव्यापी और अव्यक्त है और दूसरा, प्रकृति में रहने वाले पुरुष (जीव) का।

पुरुष का आधार आत्मा है जो परमात्मा का अंश है। जीवात्मा ही क्षेत्रज्ञ है। व्यक्ति, शरीर, इंद्रियां (ज्ञान और कर्मेंद्रियां) मन बुद्धि और आत्मा से मिलकर बनता है। शरीर (देह) से अधिक सूक्ष्म इंद्रियां है, उनसे अधिक सूक्ष्म मन है, उससे अधिक सूक्ष्म बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अधिक सूक्ष्म है वह आत्मा है (3/42)। आत्मा इंद्रिय और मन के लिये अगम्य और विकार रहित है (2/55)। इंद्रियों के स्पर्श सर्दी और गर्मी तथा सुख और दुख देने वाले होते है, और, अनित्य होने के कारण वे आते जाते रहते हैं (2/14)। आत्मा परमात्मा का अंश है अतः, आत्मा अजर-अमर है और वह न मरता है और न मारा जाता हैं। जो इसे मारने वाला और मारा हुआ जानता है, वह वस्तुतः कुछ नही जानता है (2/19)। नाशवान तो देह है न कि आत्मा (2/18)। आत्मा अजन्मा नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश से इसका नाश नही होता। आत्मा न कभी जन्मता है और न मरता है। यह भूत भविष्य और वर्तमान तीनों में विद्यमान है (2/20)। आत्मा को न तो शस्त्र छेद सकते हैं, न आग जला सकती है, न पानी भिगा सकता है और न वायु इसे सुखा सकता है। आत्मा नित्य, सर्वगत स्थिर अचल और सनातन है (2/23,24)। आत्मा तो नित्य जन्मने तथा मरने वाला है (2/26)। सबकी देह में विद्यमान यह आत्मा नित्य और अवध्य है (2/30) और इस कारण भूतमात्र की जन्म से पहले और मृत्यु के बाद की अवस्थायें अव्यक्त हैं। उनकी केवल वर्तमान अवस्था ही व्यक्त है (2/28) और वह भी कुछ काल के लिये है।

देह (क्षेत्र) में पंच महाभूत (पृथ्वी जल, अग्नि वायु और आकाश) अहंता (अहंकार अर्थात शरीर के प्रति विद्यमान अहंभाव) बुद्धि, प्रकृति दस इंद्रियां (पांच ज्ञानेंद्रियां नाक, कान आंख, जीभ और त्वचा तथा पांच कर्मेंद्रियां हाथ पैर, मुंह, लिंग और गुदा), एक मन, पांच विषय (ज्ञानेंद्रियों के विषय सूंघना, सुनना देखना, चखना और छूना), इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, संघात (शरीर के तत्वों की परस्पर सहयोग करने की शक्ति) चेतन शक्ति और धृति (शरीर के परमाणुओं का एक दूसरे से सटे रहने का गुण जो अहंभाव के कारण ही सम्भव है और जो अव्यक्त प्रकृति में विद्यमान है) का योग है जिसके कारण देह विकारयुक्त रहती है (13 5,6)। देह में उत्पन्न होने वाले विकार का कारण सात्विक, राजस और तामस तीन गुण हैं जो प्रकृति में संनिहित है। यह सारा संसार और स्वयं शरीरधारी पुरुष और प्रकृति के संयोग से उत्पन्न होता है क्योंकि उनका जीवन व्यापार प्रकृति के इन तीन गुणों के कारण है। इन्द्रियां विषय, मन और बुद्धि उनके निवास स्थान हैं। सारा

संसार और सारे भूतमात्र इन्ही तीन गुणों के व्यापारों की लीला का परिणाम हैं। गीताकार के लिये यह संसार गुणत्रयविभागयोग[1] है। सत्वगुण प्रकाश, आरोग्य, सुख, शान्ति और ज्ञान का कारक है, रजोगुण कर्म, राग, तृष्णा और आसक्ति का, तमोगुण अज्ञान, मोह, असावधानी, आलस्य, निद्रा और प्रमाद का (14/5 10)। काम, क्रोध, मद, लोभ और अहकार जो मनुष्य के शत्रु है राजस तथा तामस गुणों से उत्पन्न होते है (3/37, 40, 41, 43)। मन और इन्द्रियां स्वभावतया राजस और तामस की ओर झुकती है। जहा सात्विक है, वहा राजस और तामस नही है, जहा राजस है वहा सात्विक और तामस नही है और जहा तामस है, वहा सात्विक और राजस नही है (14/10, 11, 12, 13, 14)। व्यक्ति, वर्ग, कर्म कर्ता, ज्ञान, बुद्धि, धृति, सुख संन्यास, त्याग, धारणा यज्ञ, भक्ति, श्रद्धा और दान, सक्षेप मे जितने भी सामाजिक मानसिक (Social Psychological) प्रमेय हैं वे सभी गुणत्रयविभाग योग से बध है। प्रकृति के ये तीन गुण गीताकार के अनुसार देहधारी की तीन आधारभूत जविक मानसिक (Bio Psychological) प्रवृत्तिया है जिनमे मनुष्य का वैयक्तिक तथा सामाजिक व्यापार विधान बधा हुआ है। इसमे सात्विक सर्वाधिक वाछनीय है और तामस सर्वाधिक अवाछनीय। मोक्ष सात्विकता से मिलता है। अत, सात्विकता मानव जीवन का सर्वोत्तम उद्देश्य है।

गीता के अनुसार, जो सर्वोत्तम अविनाशी है वह ब्रह्म है प्राणिमात्र मे अपनी सत्ता मे जो रहता है वह अध्यात्म है। अधिभूत परमसत्ता का नाशवान स्वरूप है अधियज्ञ अधिभूत मे रहने वाला उसका जीवस्वरूप है और प्राणीमात्र को उत्पन्न करने वाला सृष्टिव्यापार कर्म है (8/3, 4)। प्राणी का भौतिक आधार देह है जो प्रकृति से मिलता है। प्रकृति का अंग होने के कारण देह मे प्रकृति के गुण व्याप्त रहते है और देह के व्यापार का कारण बनते हैं। प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुण सत्व रजस और तमस अविनाशी देहधारी (जीव) को देह के सम्बन्ध मे बाधते हैं (14/5)। रजोगुण देहधारी को कर्मपाश मे बाधता है (14/7)। गीता मे कर्म के प्रति प्रकृतिवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है क्योकि गीताकार के मत मे प्रकृति से उत्पन्न हुए गुण प्रत्येक मनुष्य से कर्म कराते हैं (3 5)। देहधारी के लिये कर्म त्याग सम्भव नही (18/11) क्योकि शरीर का व्यापार कर्म किये बिना नही चल सकता (3/8)। वास्तव मे कोई देहधारी एक क्षण भी कर्म किये बिना नही रह सकता (3/5)। कर्म गुण की स्वाभाविक-व्यावहारिक अभिव्यक्ति है। अत जहा गुण है वहा कर्म है। कर्म गुण मे वैसे ही व्याप्त है जसे फूल मे सुगन्ध या सूर्य मे प्रकाश। गुण स्वाभाविक है अत, गुणानुसार कर्म भी स्वाभाविक है। गुणानुसार स्वाभाविक कर्म तो देहधारी क्या ईश्वर को भी करना पडता है। भगवान कृष्ण ने कहा है, 'मैं भूतमात्र

---

1 गीता अध्याय 14

का ईश्वर अविनाशी और अजन्मा हूँ फिर भी, अपने स्वभाव को लेकर अपनी माया के बल से जन्म ग्रहण करता हूँ (4/6)। मैं अविनाशी हूँ लेकिन, फिर भी गुणानुसार कर्म के आधार पर मैंने चार वर्ण उत्पन्न किये हैं (4/13)। मैं कर्म में लगा रहता हूँ यद्यपि तीनों लोकों में न तो मुझे कुछ करने को है और न पाने को है (3/22)। लेकिन हाँ, यदि मैं कर्म न करूँ तो ये तीनों लोक भ्रष्ट हो जायें और मैं अव्यवस्था का कर्त्ता तथा इन लोगों का नाश करने वाला बनूं (3/24)'।

गुणानुसार कर्म ही व्यवस्था का आधार है। सारे ब्रह्माण्ड की व्यवस्था गुणानुसार कर्म पर ही आधारित है। मानव जीवन व्यापार और व्यवस्था भी मानव के गुणानुसार कर्म पर आधारित हैं। केवल कर्म न करने से मनुष्य निष्कर्म नहीं बन सकता और न कर्म के केवल बाहरी त्याग से वह मोक्ष ही पा सकता है (3/4)। जीवन के लिये कर्म इतना आवश्यक और स्वाभाविक है कि उसका सम्पूर्ण त्याग हो ही नहीं सकता। कर्म का त्याग हर दशा में केवल बाहरी ही रहेगा। जो मनुष्य कर्म करने वाली इन्द्रियों को रोकता है परन्तु उनके विषयों का चिन्तन मन में करता है वह मूढ़ या मिथ्याचारी है (3/6)। मानव जीवन की शारीरिक, मानसिक तथा वाचिक प्रवृत्तियों से उत्पन्न स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति कर्म से ही होती है। कर्म जैविक तथा मानसिक और वैयक्तिक तथा सामाजिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। इसीलिए, गीताकार ने इन्द्रिय, क्रिया और कर्त्ता को कर्म के तीन अंग माना है और ज्ञान, ज्ञेय तथा परिज्ञाता को कर्म की प्रेरणा में विद्यमान तीन तत्त्व (18/18) क्योंकि पहले मनुष्य कर्म (ज्ञेय) और उसकी विधि (ज्ञान) को जानकर व्यक्ति परिज्ञाता बनता है और फिर इस प्रकार प्राप्त की हुई प्रेरणा के बाद वह इन्द्रियों द्वारा क्रिया का कर्त्ता बनता है। कर्म में परिज्ञाता और कर्त्ता एक में मिल जाते हैं। कर्म के तीन अंगों और ज्ञान, ज्ञेय तथा परिज्ञाता की प्रक्रिया में ही कर्म संग्रह बनता है। क्षेत्र, कर्त्ता, साधन, क्रिया और दैव सभी प्रकार के कर्मों के कारण हैं (18/14-15)।

जैसा कि महाभारत में माना गया है गीता में कर्म का कारण केवल दैव ही नहीं है। दैव का वहीं तक हाथ है जहाँ तक स्वाभाविक गुण और उनके प्रभाव का सम्बन्ध है और उसका आधार क्षेत्र है। कर्त्ता, साधन और क्रियायें दैव तथा क्षेत्र से उपस्थित होने पर भी उनके आधीन नहीं हैं। महाभारत के धर्मव्याध के लिये दैव इतना प्रबल है कि दैवानुसार कर्म करने के अलावा कर्त्ता के लिये कोई और चारा ही नहीं है। लेकिन, गीताकार के लिये ऐसा नहीं है क्योंकि साधन और क्रिया के द्वारा कर्त्ता क्षेत्र और दैव के प्रभाव से ऊपर उठ सकता है। महाभारतकार ने इस बात पर जोर दिया है कि जिसने जैसा बोया था, वह वैसा काट रहा है जब कि गीताकार ने इस बात पर जोर दिया है कि जो जैसा बो रहा है, वैसा काटेगा। यही नहीं गीताकार ने यह भी बताने का प्रयास किया है कि बोने के नाना-नाना प्रकार हैं

ओर किस प्रकार उनके द्वारा मोक्ष मिल सकता है। गीता के अठारह अध्यायों में अठारह प्रकार के योगों की निष्काम कर्मसिद्धान्त के आधार पर की गई व्याख्या इसका प्रमाण है। गीता की विचारधारा दैववादी नहीं है क्योंकि, गीता के अनुसार, जगत का प्रभु न कर्त्तापन को रचता है और न कर्म को और न कर्म और फल का मेल साधता है। प्रकृति ही सब करती है। ईश्वर किसी के पाप या पुण्य को नहीं ग्रहता। अज्ञान के द्वारा ज्ञान के ढक जाने पर लोग मोह (रागात्मक बन्धन) में पड़ते हैं। (अत) ज्ञान द्वारा जिनके पाप धुल गए हैं, वे ईश्वर का ध्यान करने वाले, तन्मय हुए उसमें स्थिर रहने वाले, उसी को सर्वस्व मानने वाले लोग मोक्ष पाते हैं (5/14, 15, 17)।'

कर्म स्वाभाविक है। अत कर्म बन्धन नहीं है। बन्धन है कर्मफल के प्रति आसक्ति, मोह और लगाव। कर्म मनुष्य का स्वाभाविक अधिकार है—वह अधिकार जो जन्मजात है। लेकिन कर्मफल मनुष्य के अधिकार में नहीं है। गीता के अनुसार, मनुष्य के लिये निष्क्रियता असम्भव है और कर्मफल उसके अधिकार के बाहर (2/47)। कर्मफल के प्रति आसक्ति ही मानव को आवागमन के बन्धन में बाधती है। कर्मफल के प्रति आसक्ति काम, क्रोध और अहंकार से उत्पन्न होती है। काम, क्रोध और अहंकार राजस तथा तामस गुणों की प्रधानता से उत्पन्न होते हैं। जब इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि राजस और तामस गुणों के प्रभाव में होती हैं तो, काम, क्रोध, मद, लोभ और अहंकार का प्रभाव बढ़ता है जिससे ज्ञान ढक जाता है और देहधारी बेसुध हो जाता है (3/40)। रजोगुण लोभ का कारण है और कर्म की ओर प्रवृत्त करने का भी (14/17)। काम क्रोध और लोभ आसुरी सम्पत्ति हैं और इनके प्रभाव में किया हुआ कर्म बन्धन में बाधता है क्योंकि इनसे कर्म के फल के प्रति आसक्ति बढ़ती है, जिससे देहधारी को इस संसार में बार बार जन्म लेना पड़ता है (16/10)। गीता में प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार मानव जीवन में न तो कर्मफल के प्रति आसक्ति का स्थान है और न कर्मों के प्रति 'अहं' या कर्त्तापन के भाव का। जब सब कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुए होते हैं और सारा कर्म-व्यापार प्रकृति के गुणों की लीला का व्यापार है तो 'मैं कर्ता हूँ' यह वह मनुष्य मानता है जो अहंकार से मूढ़ हो गया है (3/27)। अपने अपने विषयों के प्रति इन्द्रियों का रागद्वेष रहता ही है। मनुष्य को उनके वश में नहीं होना चाहिये क्योंकि वे मनुष्य के मार्ग में बाधक हैं (3/34)। इसीकारण, गुण-कर्म के विभाग का रहस्य जानने वाला पुरुष उनमें आसक्त नहीं होता क्योंकि वह जानता है कि सारा कर्म-व्यापार तभी उत्पन्न होता है जब गुण गुण में वर्तते हैं (3/28)। प्रकृति के गुणों से मोहे हुए मनुष्य गुणों के कर्मों में आसक्त रहते हैं। वे अज्ञानी और मन्दबुद्धि हैं (3/29)। वेदवादी कामना वाले कर्मकाण्ड का करने वाले स्वर्ग को श्रेष्ठ मानने वाले, जन्म मरण रूपी कर्मफल में विश्वास करने वाले तथा भोग और ऐश्वर्य के लिये ही कर्म करने वाले अज्ञानी

हैं यह कि भोग और ऐश्वर्य में लिप्त रहनेवाले की बुद्धि मारी जाती है (2 42-43)। विषयों के चिंतन से आसक्ति, आसक्ति से कामना, कामना से क्रोध, क्रोध से मूढ़ता, मूढ़ता से स्मृतिभ्रांति और स्मृतिभ्रांति से ज्ञान-नाश की उत्पत्ति होती है। ज्ञाननाश की अवस्था मृत्यु की अवस्था है (2 62-63) और जहां ज्ञान का नाश होता है वहीं अज्ञान का तम छा जाता है जिससे मनुष्य में कर्मफल के प्रति आसक्ति आती है और वह सांसारिक बंधन में बंधता है।

जीवन में कर्म आवश्यक है न कि कर्मफल की कामना और उसके प्रति स्पृहा तथा लगाव। जीवन का अन्ततोगत्वा उद्देश्य कामना नहीं वरन मोक्ष है। मोक्ष बंधन नहीं स्वतन्त्रता है, परमगति है, निर्वाण है। मोक्ष वह अवस्था है जहां सांसारिक बंधन नहीं हैं और सांसारिक बंधन वहां नहीं हैं जहां न तो प्रकृति का बंधन है और न प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुणों के व्यापार का। मोक्ष अव्यक्त और निस्पृह की अवस्था है क्योंकि मोक्ष परम पुरुष के साथ आत्मा के सम्मिलन की अवस्था है और परमपुरुष अव्यक्त तथा निस्पृह है। अपने स्वभाव के अनुसार कर्मरत होते हुए भी परम पुरुष निस्पृह है। उसके कर्म न तो उसे स्पर्श करते हैं और न उनकी वैसी लालसा ही है (4/14)। मोक्ष गुणातीत की अवस्था है और मनुष्य गुणातीत तब होता है जब ज्ञान द्वारा उसे यह अनुभव हो जाता है कि गुणों के सिवा और कोई कर्ता नहीं है।

इहलौकिक जीवन में जो इस गुण-व्यापार के भेद को जानता है, वही गुणातीत[1] है। देहधारी तभी मोक्ष पाता है जब वह देह के संग में उत्पन्न होने वाले तीनों गुणों को पार कर जाता है (14/20)। जहां कर्मफल की इच्छा नहीं है, जहां गुणातीतता है, वहीं आत्मपरायणता व ब्रह्मपरायणता[2] का अभ्युदय होता है और

---

1 गुणातीत वह है जो प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह प्राप्त होने पर बुरा नहीं मानता, इनके प्राप्त न होने पर इनकी इच्छा नहीं करता, उदासीन की भांति जो स्थिर है, जिसे गुण विचलित नहीं करते, जो यह मानकर स्थिर रहता है कि गुण ही अपना कार्य कर रहे हैं, जो कभी विचलित नहीं होता, जो सुख दुख में सम और स्वस्थ रहता है, मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोने को समान समझता है, प्रिय अप्रिय वस्तु प्राप्त होने पर समान रहता है, जिसके लिये निन्दा और स्तुति, मान और अपमान तथा शत्रु और मित्र समान हैं और जिसने समस्त आरम्भों (सकर्मों) का त्याग कर दिया है (14/22-23, 24-25)।

2 जो तीन गुण देह के विषय हैं उनसे अलिप्त रहना, सुख दुख के द्वन्द्वों से मुक्त होना, नित्य सत्य वस्तु में स्थित रहना और किसी वस्तु को पाने और संभालने के झंझट से मुक्त रहना, आत्मपरायणता है। आत्मा के द्वारा

यही अभ्युदय मोक्ष का साधन बनता है। यह अभ्युदय न तो संसार त्याग से मिलता है और न सकाम कर्म से। इसकी प्राप्ति होती है निष्काम कर्म से—उस कर्म से जो नियत समझ कर किया जाता है लेकिन जिसके फल के प्रति आसक्ति नहीं है। यही कर्म सात्विक है क्योंकि यही कर्म निष्कर्म का आधार है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कर्म की गति गूढ़ है। कर्म और अकर्म के विषय में समझदारों को मोह भी हुआ है और होता है। कर्म, अकर्म और निषिद्ध कर्म का भेद भी जानना आवश्यक है। लेकिन, कर्म की गूढ़ गति के भेद को वही जानता है जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है (4/16, 17, 18) क्योंकि दिव्य जन्म और कर्म का रहस्य यही है। किन्तु यह नानानुभूति वही है जहां निस्पृह और समत्व (समभाव) है। कर्म की सिद्धि चाहने वाले इस लोक में देवताओं को पूजते हैं इसमें उन्हें कर्मजनित फल मनुष्यलोक में तुरन्त मिल जाता है (4/12)। लेकिन, इससे न तो कर्म-बन्धन से मुक्ति मिलती है और न मोक्ष मिलता है। इसीलिये गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है 'कर्म-बन्धन में वे नहीं पड़ते जो मुझे अच्छी तरह जानते हैं (4/14) जो मेरे दिव्य जन्म और कर्म का रहस्य जानता है, वह शरीर त्याग करके, पुनर्जन्म नहीं बल्कि मुझे पाता है (4/9)।

मनुष्य के लिये कर्म स्वाभाविक, आवश्यक वांछनीय और नियत है न कि कर्मफल और उसके प्रति लालसा। कर्म फलासक्ति अज्ञानता मूढ़ता दासता और बन्धन है। परम पुरुष जिसमें मनुष्य की परमगति स्थित है कर्म में रत है न कि कर्मफल में। मानव स्तर पर गुणानुसार कर्म की दो श्रेणियां हो जाती है—एक, सकाम कर्म की और दूसरी निष्काम कर्म की। सकाम कर्म जिसमें कर्मफल के प्रति आसक्ति रहती है, राजस और तामस से उत्पन्न होता है। कर्मफलासक्ति में मानव के शत्रु अहंकार, मद, मोह काम और कामना का वास है। कर्मफलासक्ति से अज्ञानता आती है जो अभ्युदय का नहीं अधोगति का कारण बनती है। इसके विपरीत निष्काम कर्म सात्विकता का जनक है। वह सत्व से उत्पन्न होकर सात्विकता और सात्विक वृत्ति को जन्म देता है। सात्विकता ही अभ्युदय और मोक्ष का साधन है। सात्विक कर्म ही कर्म-बन्धन से मुक्त कर सकते हैं, और सात्विक कर्म वह है जिसमें निष्कामता है। निष्कामता वहां है जहां कर्म के प्रति अहंकार का भाव नहीं है जहां कर्म को प्रकृति के गुणों का व्यापार समझा जाता है जहां गुणातीतता है जहां समत्व है और जहां सारे आरम्भ कामना और संकल्प व्यक्ति में ही लय हो गये हैं। निष्कामता की अवस्था कर्मातीत की भी अवस्था है क्योंकि जिसे किसी आश्रय की लालसा नहीं है वह कार्य में अच्छी तरह लगा हुआ भी कुछ नहीं करता है

आत्मा को जानना ब्रह्मपरायणता है। जिस प्रकार, सरोवर से वे सारे काम निकलते हैं जो कूप से निकलते हैं वैसे ही, ज्ञानवान ब्रह्मपरायण को, जो वेदों में है वह आत्मानन्द मिलता रहता है (2/45, 46)।

(4/20)। जो आशा रहित है, जिसका मन अपने वश में है, जिसने सारा संग्रह छोड़ दिया है और जिसका शरीर भर ही कर्म करता है, वह कर्म करते हुए भी कर्म का दोषी नहीं होता (4/12)। जो यथा लाभ से सन्तुष्ट रहता है, जो सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से मुक्त हो गया है, जो सफलता-निष्फलता में तटस्थ है, वह कर्म करते हुए भी कर्म-बन्धन में नहीं पड़ता (4/22)।

पूर्ण कर्म-संन्यास असम्भव है क्योंकि देहधारी में कर्म अन्तर्निहित है। संन्यास और वैराग्य से न तो कोई कर्म ही त्याग सकता है और न संसार को क्योंकि, कर्म के आधार, शरीरी व्यापार, से मुक्ति मृत्यु के ही बाद मिल सकती है। इसीलिये, गीताकार के अनुसार अक्रिय और अग्नि का त्याग करने वाला संन्यासी नहीं है। संन्यासी वह है जो कर्मफल का आश्रय लिये बिना कर्म करता है (6/1)। इस दृष्टिकोण से कर्म-संन्यास अव्यावहारिक है, अतः कर्मसंन्यास का विचार असार है। गीताकार ने त्याग को संन्यास का आधार माना है। कामना से उत्पन्न हुए कर्मों का त्याग संन्यास है और समस्त कर्मों के फल का त्याग त्याग है ((18/2)। कर्मफल का त्याग ही सात्विक त्याग है। कितने ही विचारवान पुरुष कहते हैं कि दोषमय होने के कारण कर्ममात्र त्यागने योग्य है और यज्ञ, दान तथा तपरूपी कर्म त्यागने योग्य नहीं है (18/3)। गीताकार की कर्म सम्बन्धी मान्यता इस द्विविधा से परे है। गीताकार के लिये कोई भी कर्म दोष से उसी प्रकार मुक्त नहीं है जैसे कोई भी अग्नि धुएँ से मुक्त नहीं है। जहाँ कर्मफल का त्याग किया जाता है वहीं कर्ता कर्मफल के दोष से मुक्त हो जाता है। अतः यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म तभी दोषरहित होते हैं जब उनमें आसक्ति और फलेच्छा का त्याग करके किया जाय (18/3, 5, 6)। गीताकार के लिये फलेच्छारहित यज्ञ, दान और तप सात्विक होने के कारण वांछनीय हैं। जिस यज्ञ, दान और तप में फलेच्छा के प्रति आसक्ति है वह सकाम होने के कारण अकरणीय है (17/11, 22)। नियत कर्म का त्याग उचित नहीं है, त्याज्य है नियत कर्मफल और कर्मफल के प्रति आसक्ति (18/7, 9)। मनुष्य के लिये कर्मफल का त्याग ही सम्भव है और उसका जो त्यागता है वही त्यागी कहलाता है (18/11)। कर्मफल त्यागी को कर्मफल का प्रभाव नहीं लगता (18/12)। इसलिये, जो आसक्ति और अहंकार रहित है, जिसमें दृढ़ता और उत्साह है, जो सफलता-निष्फलता में हर्ष-शोक नहीं करता, वह कर्ता सात्विक है (18/26) और जो सात्विक कर्ता है, वह संशय रहित, शुद्ध भावना वाला, त्यागी और बुद्धिमान होने के कारण अकुशल-जनक कर्म का द्वेष नहीं करता और कुशल कर्म में आसक्त नहीं होता (18/10)।

जिसे संन्यास कहते हैं वह गीताकार के अनुसार कर्मयोग ही है और कर्मयोग की भावना संन्यास के द्वारा सम्भव है। कर्मयोग के बिना संन्यास कष्ट-साध्य है (5/6)। इसलिये, भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा है, "हे पाण्डव! जिसे संन्यास कहते हैं उसे तू योग जान। जिसने मन के संकल्पों का त्याग नहीं, वह

कभी योगी नहीं हो सकता (6/2)। योग की साधना के लिये कर्म की साधना आवश्यक है। शांति उसे ही मिलती है जो कर्मयोग द्वारा योग साधता है (6/3)। कर्मयोग का अर्थ है कर्मफलासक्ति का त्याग करके कर्म की साधना करना। जब मनुष्य इंद्रियों के विषयों में या कर्म में आसक्त नहीं होता है और सब संकल्प तज देता है, तब वह योगारूढ़ कहलाता है (6/4)। योगी वह है जो आत्मा से आत्मा का उद्धार करे और आत्मा से आत्मा का उद्धार वहीं होता है जहां मन इंद्रियों के वश में न रहकर बुद्धि और आत्मा के वश में रहता है। जिसने अपना मन जीता है, जो सम्पूर्ण रूप से शांत हो गया है जिसकी आत्मा सर्दी-गरमी, सुख-दुख और मान अपमान में समान रहती है, जो ज्ञान और अनुभव से तृप्त है, जो इंद्रियजित और अविचल है जिसके लिये मिट्टी पत्थर और सोना समान है, ऐसा ईश्वरपरायण मनुष्य योगी कहलाता है (6 8, 9)। योगी वह है जो शरीर से, मन से, बुद्धि से या केवल इन्द्रियों से भी आसक्तिरहित होकर आत्मशुद्धि के लिये कर्म करता है (5/11)। जिसने योग साधा है जिसने अपने हृदय को विशुद्ध किया है जिसने मन और इंद्रियों को जीता है और जो भूतमात्र को अपने ही जैसा समझता है ऐसा मनुष्य कर्म करता हुआ भी उससे अलिप्त रहता है (5/7)।

जीवन एक निरंतर योग आत्मा के अनुसन्धान और ब्रह्मप्राप्तिरूप सुख के अनुभव की ओर प्रयास है (6 21)। इसीलिये लगन से प्रयत्न करता हुआ योगी, पाप से छूटकर अनेक जन्मों से विशुद्ध होता हुआ परमगति को प्राप्त होता है (6/45)। योग का जिज्ञासु भी सकाम वैदिक कर्म करने वाले की स्थिति पार कर जाता है (6/44)। मन के मंद होने के कारण जो योगभ्रष्ट हो जाते हैं उनका नाश न तो इस लोक में होता है और न परलोक में क्योंकि कल्याण मार्ग में जाने वाले की कभी दुर्गति नहीं होती है (6/40)। पुण्यशाली लोगों को मिलने वाले स्थान को पाकर और वहां बहुत समय तक रहकर योगभ्रष्ट मनुष्य पवित्र और साधन वाले के घर में जन्म लेता है या ज्ञानवान योगी के घर में जन्म लेता है जहां उसे पूर्वजन्म के बुद्धि और संस्कार मिलते हैं और जहां से वह मोक्ष के लिये पुनः आगे बढ़ता है क्योंकि पूर्वाभ्यास उसे योग की ओर अवश्य खींचता है (6/41-44)। अतः योगी, तपस्वी, ज्ञानी और कर्मकाण्डी से बढ़कर है (6 46)।

समता का ही नाम योग है (2 48)। गीता में समता के लिये 'समभाव' और 'सम' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। समता निष्कामता की साधना से आती है। समाजमनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि 'समता' 'समभाव' या 'समत्व' वस्तुतः एक विशेष मनोवृत्ति (Attitude) है जिसमें जीवन के कर्म-व्यापार के परिणामों के प्रति अनासक्ति रहती है। सफलता असफलता, लाभ-हानि, जीवन मृत्यु समान है जिससे कर्तापन की भावना का लोप हो गया है और जिसमें इंद्रियों के विषयों के प्रति लगाव नहीं है। समत्व बुद्धि की एक अवस्था है—यह अवस्था ज्ञान बुद्धि,

मन और इन्द्रियां के विषयों से हटकर समत्व और समाधि में स्थिर हो जाती है जिसके कारण व्यक्ति में फलेच्छा की कामना नष्ट हो जाती है। गीताकार के अनुसार, बुद्धि का स्थान मोह नहीं, समाधि और समत्व है (2 52 53)। समाधि और समत्व में स्थिर हुई बुद्धि को समत्वबुद्धि कहा गया है। समत्वबुद्धि की तुलना में केवल कर्म बहुत तुच्छ है (2/49) क्योंकि जहां केवल कर्म करने वाला व्यक्ति कर्म बन्धन में फंसता है और फल का पात्र है, वहां समत्व बुद्धिवाले पुरुष को पाप पुण्य का स्पर्श नहीं होता और वह, कर्म से उत्पन्न होने वाले फल का त्याग करके, जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है (2/50 51)। समत्व बुद्धि स्थितप्रज्ञता[1] से आती है और स्थितप्रज्ञता स्थिरबुद्धि[2] से। प्रसन्नता वहीं है जहां मन बुद्धि के वश में है और इन्द्रियों का व्यापार रागद्वेषरहित होकर चलता है (2 64)। स्थिरबुद्धि से प्रसन्नता और चित्त की प्रसन्नता से स्थिरबुद्धि आती है (2 65)। प्रसन्नता और स्थिरबुद्धि से शांति आती है और शांति से सुख। इस प्रकार शांति और सुख की उत्पत्ति समत्व से होती है न कि कर्मफल की इच्छा और कामना से[3]। समत्व ही वह स्थिति है जहां मनुष्य आत्मपरायण होता हुआ ब्रह्मपरायण होता है। यहां मोह नहीं रहता और ईश्वर की पहचान होती है और यदि मृत्युकाल में भी ऐसी स्थिति टिके तो ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति होती है (2/72)।

स्थितप्रज्ञता, स्थिरबुद्धि और समत्व के लिये संयम आवश्यक है। जहां सब प्राणी सोते हैं, वहां संयमी जागता है और जहां सब लोग जागते रहते हैं वहां ज्ञानवान मुनि सोता रहता है (2 69)। जो इन्द्रियों को मन के द्वारा नियम में रखते हुए राग

---

1 स्थितप्रज्ञता प्रज्ञा की वह अवस्था है जहां समस्त कामनाओं का लोप हो जाता है और आत्मा द्वारा ही आत्मा में सन्तुष्टि उत्पन्न होती है (2 55)।

2 वही बुद्धि स्थिर है जिसमें सुख दुःख से विकार न उत्पन्न हो जो राग भय और क्रोधरहित हो, जिसमें शुभ-अशुभ की प्राप्ति से हर्ष और शोक न हो, जिसके प्रभाव से इन्द्रियां अपने विषयों में से सब ही सिमट जाती हैं, जैसे कछुए के सब अंग बाहरी संसार से सिमट कर अलग हो जाते हैं। स्थिर बुद्धि इन्द्रियों के वश में न रहकर, इन्द्रियों को अपने वश में रखती है और स्वयं अपने ब्रह्म में लीन रहती है (2 56 57, 58 61)।

3 जहां समत्व नहीं, वहां न तो विवेक है और न भक्ति, जहां भक्ति नहीं है, वहां शांति नहीं है और जहां शांति नहीं है, वहां सुख नहीं है (2/66)। सब कामनाओं का त्याग करके जो पुरुष इच्छा, ममता और अहंकार रहित होकर विचरता है, वही शान्ति पाता है (2/70)। जिस मनुष्य में संसार के भोग शान्त हो जाते हैं वही शान्ति प्राप्त करता है न कि कामना वाला मनुष्य (2 70)।

रहित होकर कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आरम्भ करता है, वह श्रेष्ठ पुरुष है (3/7)। समत्व न तो अतिभोजी को प्राप्त होता है और न उपवासी को और न अति स्वप्नशील को और न अति जागने वाले को। जो मनुष्य आहार विहार सोने जागने और दूसरे कर्मों में परिमित रहता है उसका योग दुःखभंजन हो जाता है (6/16,17)। भलीभांति नियमबद्ध मन जब आत्मा में स्थिर होता है और मनुष्य सारी कामनाओं से निस्पृह हो जाता है तब वह योगी कहलाता है (6/18) और आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ने का प्रयत्न करने वाले स्थिरचित्त योगी की स्थिति वायुरहित स्थान में अचल रहने वाले दीपक की सी कही गई है (6/19)। जिनका मन समत्व में स्थिर हो गया है, उन्होंने इस देह में रहते ही संसार को जीत लिया है। ब्रह्म निष्कलंक और समभावी है। इसीलिये जिसने समत्व पा लिया है वह ब्रह्म में ही स्थिर होता है (5/19)। देहान्त से पहले, जिसने इस देह से ही काम और क्रोध के वेग को सहन करने की शक्ति प्राप्ति कर ली है, उस मनुष्य ने समत्व पाया है वही सुखी है (5/23)।

समत्व, इस प्रकार, न तो निष्क्रियता है और न शून्यता। समत्व न तो वैराग्य है, न संन्यास और न कोरी निवृत्ति। समत्व कोरा योग भी नहीं है और न वह कोरी विरक्ति है। समत्व उदासीनता भी नहीं है। समत्व निष्काम, कर्मठ तथा सक्रिय जीवन का आध्यात्मिक बौद्धिक आधार है क्योंकि समत्व वह निष्काम मनोवृत्ति है जो स्थिरबुद्धि से उत्पन्न होती है। निष्कामता कर्म में नहीं मन और बुद्धि में होती है। निष्कामता तब उत्पन्न होती है जब मन और बुद्धि को संयम के द्वारा इस प्रकार दीक्षित किया जाय कि कर्मफल की कामना के प्रति आसक्ति ही न रह जाय। योग केवल समाधि अभ्यास और ध्यान नहीं है। निष्कामता से कर्म का योग ही योग है। इसीलिये गीता का कर्म सिद्धान्त निष्काम कर्मयोग का सिद्धान्त है, जो कर्मसंन्यास से बढ़कर है। ईश्वर, ब्रह्म और आत्मा निष्काम हैं। समत्व उनका गुण है। इसलिये निष्कामता तथा समत्व का उद्भव कर्म से न होकर ज्ञान से होता है—वह ज्ञान जिसमें सुख दुःख लाभ हानि, जय पराजय सब बराबर समान हैं और कर्मफलेच्छा का लोप हो गया है (2/41)। जैसे अज्ञानी लोग आसक्त होकर कर्म करते हैं वैसे ज्ञानी को आसक्ति रहित होकर कर्म करना चाहिये (3/25)। केवल अज्ञानी ही भला-बुरा फल का आरोप ईश्वर पर करता है। परन्तु जिनके अज्ञान का आत्मज्ञानद्वारा नाश हो गया है उनका सूर्य के समान प्रकाशमय उनका ज्ञान, परमतत्त्व का दर्शन कराता है (5/16)। ज्ञान द्वारा जिनके पाप धुल गए हैं वे ईश्वर का ध्यान करने वाले तन्मय हुए, उसमें स्थिर रहने वाले उसी को सर्वस्व मानने वाले लोग मोक्ष पाते हैं (5/17)।

निष्कामकर्मयोग समत्व पर आधारित है और समत्व ज्ञान पर। इसलिए निष्कामकर्मयोग वस्तुतः ज्ञानकर्मसंन्यासयोग है। समत्वमय निष्कामकर्म ज्ञान

यज्ञ है जो द्रव्य यज्ञ से कहीं बढ़कर है क्योंकि कर्ममात्र ज्ञान में ही पराकाष्ठा को पहुंचते हैं (4·33)। बड़े से बड़ा पापी भी ज्ञानरूपी नौका के द्वारा सब पापों को पार कर जाता है (4·36)। जैसे प्रज्वलित अग्नि इंधन को भस्म कर देती है वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है (4/37)। ज्ञान के समान इस संसार में दूसरा कुछ पवित्र नहीं है और समत्व में पूर्णता प्राप्त मनुष्य समय आने पर अपने आप में उसको पाता है। श्रद्धावान, ईश्वरपरायण और जितेंद्रिय पुरुष ज्ञान पाता है और ज्ञान पाकर तुरंत शान्ति को प्राप्त होता है। श्रद्धारहित, संशयवान अज्ञानी के लिये न यह लोक है और न परलोक। जिसने समत्वरूपी योग द्वारा कर्मफल का त्याग किया है और ज्ञान द्वारा संशय का छिन्न कर डाला है, उस आत्मदर्शी का कर्मबंधन नहीं होता (4·39—41)। इस लोक की दो अवस्थायें हैं—एक ज्ञानयोग की और दूसरी कर्मयोग की (3·3)। ज्ञान और कर्म न तो परस्पर विरोधी हैं और न भिन्न। ज्ञान की परिणति कर्म में है और कर्म की ज्ञान में। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। ज्ञान और कर्म को भिन्न पंडित नहीं अज्ञानी मानते हैं। एक में अच्छी तरह स्थिर रहने वाला भी दोनों का फल पाता है। ज्ञानी और योगी को एक ही गति मिलती है। तत्वदर्शी दोनों को समान पाता है (5·4-5)।

अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य की सेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्मसंयम, इंद्रियों के विषयों से वैराग्य, अहंकाररहितता, जन्म, मरण, जरा, व्याधि, दुख और दोषों का निरंतर भान, पुत्र, स्त्री और गृह आदि में मोह तथा ममता का अभाव, प्रिय और अप्रिय में नित्य समभाव, ईश्वर में अनन्य ध्यान पूर्वक एवं निष्ठ भक्ति, एकांत स्थान का सेवन, जनसमूह में सम्मिलित होने की अरुचि, आध्यात्मिक ज्ञान की नित्यता का भान और आत्मदर्शन—यह सब ज्ञान कहलाता है। इसके जो विपरीत है वह अज्ञान है (13/7—11)। लेकिन ये सब ज्ञान के लक्षण हैं। ज्ञान ज्ञेय का माध्यम है। ज्ञेय वह है जिससे मोक्ष मिलता है और वह अनादि परब्रह्म है जो न सत है और न असत जो गुणातीत अव्यक्त तथा अलिप्त है और जो ज्ञेय भी है और अविज्ञेय भी, जो गतिमान है और स्थिर भी, जो भूतों में अविभक्त है और विभक्त भी, जो प्राणियों का पालन-कर्ता भी है और संहारक भी। ज्ञान वही है, ज्ञेय वही है और ज्ञान से जो प्राप्त होता है वह भी वही है (13/12-17)। इसीलिये यह कहा गया है कि क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (क्षेत्र का जानने वाला प्रधान ईश्वर) के भेद का ज्ञान ही ज्ञान है (13/2)। ज्ञान वह मान लिया गया है जो समत्व के कारण आत्मा में आत्मा की पहचान होती है, जबकि जहां भूमात्र में एक ही आत्मा का अनुभव होता है—यह आत्मा जो परमात्मा, परब्रह्म और ईश्वर का एकाकारी अनुभव है। इसीलिये ज्ञान का आत्मज्ञान (आत्मा में आत्मा के ज्ञान) आत्मानंद और ब्रह्मानंद की पराकाष्ठा से जोड़ दिया गया है और स्थितप्रज्ञ का यह मनोदशा माना गया है जहां निर्लिप्तता, समत्व, निष्काम, स्थिर-

बुद्धि और स्थिरप्रज्ञता के कारण आत्मपरायणता के द्वारा ब्रह्मपरायणता आती है। यहां अहंकार का भाव नहीं है और न कर्तापन का भाव है। इस ज्ञान पर आधारित कर्म निष्काम कर्म है। यही ज्ञान सात्विक और वांछनीय है क्योंकि ज्ञान की इसी अवस्था में मनुष्य ज्ञान के द्वारा समस्त भूतों में अविनाशी भाव को और विविधता में एकता देखता है (18/20)। जो ज्ञानचक्षु द्वारा क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का भेद और प्रकृति के द्वारा प्राणियों की कैसे मुक्ति होती है, यह जानता है वही ब्रह्म को पाता है (13/34)।

ज्ञानवान आत्मा और ब्रह्म में स्थिर होता है। इसी कारण, ज्ञानवान ही समत्व और निष्कामता पाता है। गीताकार के अनुसार ज्ञान की मनोदशा शून्य नहीं है क्योंकि ज्ञानी ब्रह्म में स्थित रहता हुआ भी संसार में स्थित रहता है—वैसे ही जैसे कमल पानी में स्थित रहता है। ज्ञान वह मनोदशा है जिसमें कर्म का आधार इन्द्रियों के विषयों में परायणता नहीं वरन् आत्मा में परायणता के द्वारा ब्रह्मपरायणता का भाव है। यह संसार ब्रह्म की विभूतियों की लीला है। इनमें व्याप्त होते हुए भी वह अव्याप्त है, कर्मरत होते हुए भी वह अकर्मा है, स्वाभावानुसार अपने गुणों में बरतते हुए भी वह गुणातीत है। जहां ज्ञान में ब्रह्मपरायणता है वहां मनुष्य कर्म करते हुए भी कर्मों में लिप्त नहीं है। परायणता में निर्भरता और लगाव का भाव है। परायणता में आश्रय वृत्ति का भी भाव विद्यमान है। ब्रह्मपरायणता का अर्थ है ब्रह्म के प्रति निर्भरता, लगाव, तादात्म्य और समर्पण का भाव। ब्रह्मपरायणता सात्विक है क्योंकि यह इन्द्रियों के विषयों के प्रति परायणता नहीं है। जहां ब्रह्मपरायणता है वहां प्रपत्ति, आश्रय, श्रद्धा और भक्ति की भावना है। गीताकार के लिए जिस प्रकार कर्म और ज्ञान में द्विविधा नहीं है उसी प्रकार ज्ञान, भक्ति तथा श्रद्धा में अंतर नहीं है। ब्रह्मपरायणता समभाव, निष्कामकर्म, ज्ञान और भक्ति तथा श्रद्धा में उपलब्ध होती है। प्रपत्ति (श्रद्धा भक्ति), निष्कामकर्म और समत्व ज्ञान का स्वाभाविक प्रतिफल है। ज्ञानी स्वभावतया भक्त हो जाता है और भक्त ज्ञानी क्योंकि दोनों का आधार ब्रह्मपरायणता है। इसीलिए निष्कामकर्मयोगी ज्ञान भक्त है और भक्ति योग है तथा भक्त योगी है। भगवान कृष्ण के अनुसार 'नित्य ध्यान करते हुए मुझ में मन लगाकर जो श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करता है, उसे मैं श्रेष्ठ योगी मानता हूं'। इसलिए, अर्जुन के प्रति भगवान कृष्ण का आदेश है 'सब धर्मों का त्याग कर तू मेरी शरण में आ'।

ईश्वर के प्रति श्रद्धा और प्रार्थना का भाव भक्ति का आधार है क्योंकि भक्ति तभी योग है जब इसमें समत्व है और समत्व या तो ज्ञान से आ सकता है या श्रद्धा तथा समर्पण भाव से। ज्ञानयोग सबके लिये सुलभ नहीं है क्योंकि जिनका चित्त अव्यक्त में लगा हुआ है उन्हें कष्ट अधिक है। अव्यक्त गति को देहधारी कष्ट से ही पा सकता है (12/5)। इसलिए यह आवश्यक है कि कर्म में आसक्त अज्ञानी

मनुष्यों की बुद्धि को वानी डावाडोल न करे, परन्तु, समत्वपूर्वक अच्छे प्रकार से कर्म करके, उन्हें सब कर्मों में लगावे (3/26)। इसका यह अर्थ है कि जहां ध्यानयोग-ज्ञानयोग की पराकाष्ठा की प्राप्ति सम्भव न हो, वहां श्रद्धा और ... भाव से किया हुआ कर्म ही निष्काम कर्मयोग है। श्रद्धा रखकर और द्वेष छोड़कर कर्म करने वाले व्यक्ति कर्मबन्धन से छूट जाते हैं (3/31) और नारी, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि भी ईश्वर का आश्रय ग्रहण करके परमगति पाते हैं (9/30 31 32)। मनुष्य में स्वभाव से ही तीन प्रकार की श्रद्धा होती है क्योंकि श्रद्धा सात्विक, तामस और राजस गुणों का अलग अलग अनुसरण करती है और जैसा जिसका स्वाभाविक गुण होता है वैसी उसकी श्रद्धा होती है (17/3)। सात्विकी श्रद्धा वाले देवताओं को भजते हैं, राजसी वाले यक्षों को और तामसी वाले भूतप्रेतादि को (17 4)। जो यज्ञ, दान और तप तथा अन्य कार्य श्रद्धा रहित होता है वह असत कहलाता है। असत कार्य से न तो यहां का प्रयोजन सिद्ध होता है और न परलोक का (17 28)। ईश्वर का आश्रय और उपासना श्रद्धा के आवश्यक अंग हैं, क्योंकि भगवान कृष्ण के शब्दों में 'जो मुझ में परायण रहकर, सब कर्म मुझे समर्पण करके एक निष्ठा से मेरा ध्यान करते हुए, मेरी उपासना करते हैं और मुझमें जिनका चित्त पिरोया हुआ है, उन्हें मैं मृत्युरूपी संसार से मैं तत्पर पार कर देता हूँ (12 6 7) और मेरा आश्रय ग्रहण करने वाला सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपा से शाश्वत पद पाता है (18 56) ब्रह्मभाव को प्राप्त, प्रसन्नचित्त मनुष्य न तो शोक करता है न कुछ चाहता है, वरन भूतमात्र में समभाव रखकर मेरी परम भक्ति पाता है (18/54) मैं कौन हूं, कैसा हूं इस भक्ति द्वारा वह (भक्त) यथार्थ जानता है और इस प्रकार मुझे यथार्थ जानकर मुझमें प्रवेश करता है (18 55)।

ज्ञान में भक्ति है और भक्ति में ज्ञान और दोनों में समत्वयुक्त निष्कामकर्म है। तब भक्ति का सैद्धान्तिक आधार क्या है?—यह गीताकार ने भगवान कृष्ण के कथनों से स्पष्ट किया है। उदाहरणार्थ, 'मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूं और सब मुझसे ही प्रवृत्त होते हैं, यह जानकर समझदार लोग भावपूर्वक मुझे भजते हैं (10 8)। जो सब कर्म मुझे समर्पित करता है, मुझमें परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्ति का त्याग करता है और प्राणीमात्र में द्वेषरहित होकर रहता है, वह मुझे पाता है (11/55)'। अपना विश्वरूप दिखाने के बाद भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, 'जो मेरे दर्शन तूने किये हैं वह दर्शन न तो वेदों से हो सकते हैं, न तप से, न दान से और न यज्ञ से। मेरे सम्बन्ध में ऐसा ज्ञान एवं मेरे दर्शन और मुझमें प्रवेश केवल अनन्य भक्ति से ही सम्भव है (11/53, 54)। दसवें अध्याय में भगवान कृष्ण कहते हैं 'मुझमें चित्त लगाने वाले, मुझे प्राणार्पण करने वाले एक दूसरे का बोध कराते हुए मेरा ही कीर्तन करते हुए संतोष में और आनन्द में रहते हैं। इस प्रकार, मुझमें तन्मय रहने वालों को मुझे प्रेम से भजने वालों को मैं

ज्ञान देता हूँ, जिससे वे मुझे पाते हैं और उनके ऊपर दया करके, उनके हृदय में स्थित मैं, ज्ञानरूपी प्रकाशमय दीपक से, उनके अज्ञानरूपी अंधकार का नाश करता हूँ (10/9–11)'। अतः, मनुष्य के लिये यह श्रेयस्कर है कि मन से सब कर्मों को 'उस' अर्पित करके, उसमें परायण होकर तथा विवेक बुद्धि का आश्रय लेकर निरन्तर 'उसमें' चित्त लगाये (18/57)। इसीलिये, भगवान कृष्ण का आदेश है अपना मन मुझमें लगा, अपनी बुद्धि मुझ में रख (क्योंकि) इससे इस (जन्म) के बाद निःसंशय ही तू मुझे पायेगा (12/8) जो कर, जो खाय जो हवन में डाले, जो दान में दे, जो तप करे, वह सब मुझे अर्पण करके करना (क्योंकि) इससे तू शुभाशुभ फल देने वाले कर्मबन्धन से छूट जाएगा और कर्मत्यागरूपी समत्व को पाकर तथा जन्म मरण से मुक्त होकर मुझे पावेगा (9/27, 28) भारी दुराचारी भी यदि मुझे अनन्य भाव से भजे तो उसे साधु हुआ ही मानना चाहिये मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता (9/30–31) राग, भय और क्रोध से रहित हुए मेरा ही ध्यान करते हुए मेरा ही आश्रय लेने वाले, ज्ञानरूपी तप से पवित्र हुए, बहुत से मेरे स्वरूप को पाया है (4/10) श्रद्धावान योगभ्रष्ट हो सकता है से। मोक्षभ्रष्ट नहीं (6/37-44)।

गीता के अनुसार, जो 'उसका' आश्रय लेकर जरा और मरण से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं, वे पूर्ण ब्रह्म तथा अध्यात्म को और अखिल कर्म को जानते हैं। जो 'उसे' अधिभूत अधिदैव और अधियज्ञयुक्त को पहचानते हैं वे समत्व पाए हुए मृत्यु के समय भी 'उसे' पहचानते हैं और परमगति पाते हैं (7/29 30)। आर्त (दुखी) जिज्ञासु (जानने की प्रेरणा वाले), अर्थार्थी (कुछ प्राप्ति की इच्छा वाले) और ज्ञानी—ये चार प्रकार के सदाचारी मनुष्य ईश्वर का आश्रय लेते हैं और उसे भजते हैं। किन्तु इनमें जो नित्य समभावी एक का भजन वाला है वह ज्ञानी ही श्रेष्ठ है क्योंकि ईश्वर ज्ञानी को प्रिय है और ज्ञानी ईश्वर का। ज्ञानमार्गी यह जानकर ईश्वर का आश्रय लेता है कि ईश्वर के ज्ञान के सिवा दूसरी कोई उत्तम गति नहीं है। भक्त तो सभी श्रेष्ठ हैं पर ज्ञानी तो ईश्वर की आत्मा है (7/16, 17 18)। गीता के अनुसार भक्ति का आधार, विकार भाव या राग नहीं है वरन भक्ति का आधार ज्ञान है। भक्ति वयक्तिक कष्टों निवारण अथवा दुखों और कमियों से त्राण पाने का माध्यम भी नहीं है। भक्ति ज्ञानमय प्रवृत्ति है जिसका आधार बौद्धिक है न कि रागात्मक। ज्ञान कर्म और भक्ति एक दूसरे के पूरक हैं। मुक्त कर्म वही है जो ज्ञान और भक्ति पर आधारित है और श्रेष्ठ भक्ति वही है जो ज्ञान पर आधारित है। इस प्रकार ज्ञान भक्ति और कर्म तीनों का आधार है। गीता में कर्म ज्ञान और भक्ति का जो समन्वय प्रस्तुत किया गया है उसमें ज्ञान को केवल मानसिक प्रशिक्षा और अभ्यास माना गया है जिसके आधार पर कर्म और भक्ति का महत्त्व स्पष्ट होता है। गीता में कर्मठ जीवन की कल्पना की गई है लेकिन उस कर्मठ जीवन का आधार ज्ञानयुक्त प्रवृत्ति है। गीता का कर्मयोग वस्तुतः ज्ञानभक्तियोग है। गीता में प्रतिपादित

कर्मसिद्धान्त का आधार ज्ञान है। गीता बौद्धिकता पर आधारित कर्म की प्रेरणा है—वह बौद्धिकता जिसका आधार समत्व है, अविभक्तं विभक्तेषु का अनुभव है, जो आत्म-परायण तथा ब्रह्मपरायण है और इसकारण इहलौकिक जीवन में निर्लिप्त है।

इसी बौद्धिकता की कसौटी पर एक ओर कर्म को अपनाने तथा कर्मरत होकर मोक्ष पाने की प्रेरणा दी गई है और दूसरी ओर कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। गीता के अनुसार, जो मनुष्य आत्मा में रमण करने वाला, उसी में तृप्त रहने वाला तथा सन्तोष मानने वाला है, उसे कुछ करने को नहीं रहता क्योंकि न तो करने या न करने में उसका कुछ स्वार्थ है और न भूतमात्र में ही उसका कोई निजी स्वार्थ है। अनासक्त रहकर कर्म करने वाला पुरुष ही मोक्ष पाता है। इसलिए रागरहित होकर निरन्तर कर्तव्य कर्म करना' ही मनुष्य के लिए श्रेयस्कर है (3/17 19)। नियत, कर्तव्यकर्म वह कर्म है जो स्वधर्म, लोकसंग्रह, यज्ञ दान और तप के पालन के लिए किया जाता है। कार्य तथा अकार्य के निर्णय का आधार शास्त्र है (16/24)। लेकिन साथ ही साथ सात्त्विक, नियत कर्म का आधार निष्कामता है (18/23)। इसलिए गीता में, नियत तथा कर्तव्य कर्म को भी ज्ञान, भक्ति और निष्कामता पर आधारित किया गया है। स्वधर्म स्वकर्म है और स्वकर्म वह है जो स्वाभाविक गुणों के अनुसार हो। गुणानुसार कर्म के आधार पर वर्णाश्रम-व्यवस्था की रचना हुई है। अतः, व्यक्ति को अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार वर्णाश्रमी तथा स्वकर्मरूपी स्वधर्म का पालन करना चाहिए क्योंकि 'स्वभाव के अनुरूप कर्म करने वाले व्यक्ति को पाप नहीं लगता (18 47)। स्वभावजन्य प्राप्त कर्म को सदोष होने पर भी नहीं छोड़ना चाहिए (18 48), अपने अपने कर्म में रत रहकर मनुष्य मोक्ष पाता है (18 45)। जिसके द्वारा प्राणियों की प्रवृत्ति होती है जिसके द्वारा यह सारा संसार व्याप्त है, उसे जो पुरुष स्वकर्म द्वारा भजता है वह मोक्ष पाता है (18 46)। सुकर परधर्म से निर्गुण स्वधर्म अच्छा है, परधर्म भयावह है और स्वधर्म में मरना भी श्रेयस्कर है (3 35), स्वधर्म में विचलित होना उचित नहीं (क्योंकि) स्वधर्म त्याग से पाप होता है (2/31 33)। सुख दुःख तथा लाभ हानि को समान समझ कर स्वधर्म करने से पाप नहीं होता (2 38)'।

स्वधर्म के साथ-साथ लोकसंग्रह की दृष्टि से किया हुआ कर्म भी नियत कर्तव्य कर्म है (3 20)। अर्थ और काम की साधना लोकसंग्रह के अन्तर्गत आती है। लोक-संग्रह जीवन के लिए अनिवार्य है अतः लोकसंग्रह के लिए कर्म भी आवश्यक है। बिना कर्म के लोकसंग्रह सम्भव नहीं है। किन्तु लोकसंग्रह साधन है, साध्य नहीं। साध्य है मोक्ष जिसके लिए ज्ञान-कर्म-भक्ति साधना में एक है। जीवन के सुगठित शारीरिक विकास के लिए, अर्थ और काम की साधना के रूप में लोकसंग्रह एक माध्यम मात्र है। लेकिन लोकसंग्रह के लिए किया हुआ वह कर्म सात्त्विक है जो रागरहित कर्तव्य के रूप में किया जाए।

गीता म यज्ञार्थ किया हुआ कर्म भी नियत कर्तव्य कर्म की श्रेणी म आता है। यज्ञ से बचा हुआ अमृत खाने वाले लोग सनातनब्रह्म को पाते हैं। यज्ञ न करने वाले के लिए यह लोक नही है, तो परलोक हो ही कहाँ से सकता है (4/31)। यज्ञार्थ किये जाने वाले कर्म के अतिरिक्त कर्म से इस लोक म बन्धन पैदा होता है। इसलिए, रागरहित यज्ञार्थ कर्म करना ही श्रेयस्कर है (3/9)। लेकिन यज्ञार्थ कर्म क्या है ? यज्ञार्थ कर्म का एक रूप वह है जिसम यज्ञ फल की प्राप्ति के लिए किया जाता है[1]। लेकिन गीताकार के मत म 'यज्ञ से वर्षा होती है वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है अन्न म से भूतमात्र उत्पन्न होते हैं और यज्ञ कर्म से होता है। कर्म प्रकृति से उत्पन्न होता है प्रकृति अक्षरब्रह्म से उत्पन्न होती है और इसलिए सर्वव्यापक ब्रह्म सदा यज्ञ म विद्यमान है (3/14, 15)। वेद मे जितने प्रकार[2] के यज्ञो का वर्णन हुआ है, वे सब कर्म मे ही उत्पन्न होते हैं। लेकिन, वास्तविकता यह है कि यज्ञ म 'अर्पण ब्रह्म है हवि (हवन की वस्तु) ब्रह्म है और ब्रह्मरूपी अग्नि मे हवन करने वाला भी ब्रह्म है[3]। और चूंकि यज्ञ कर्म है, यज्ञ का अर्थ है कर्म के साथ ब्रह्म का मेल साधना। यज्ञ का सार यह है कि यज्ञ ब्रह्ममय है। अत यज्ञार्थ कर्म वही कर्म है जो

---

1 वेदों में फल की प्राप्ति के लिए यज्ञ का विधान है। यह यज्ञ सकाम है, जिसका गीताकार ने इस प्रकार वर्णन किया है,—यज्ञ के सहित प्रजा को उत्पन्न करके प्रजापति ब्रह्मा ने कहा, "यज्ञ द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो। यह तुम्हें इच्छित फल दे। तुम यज्ञ द्वारा देवताओं का पोषण करो और देवता तुम्हारा पोषण करें। एक दूसरे का पोषण करते हुए तुम कल्याण पाओ। यज्ञ द्वारा सन्तुष्ट हुए देवता तुम्हें इच्छित भोग देंगे। उनका बदला दिये बिना उनका दिया हुआ जो भोगेगा वह अवश्य चोर है (3/10 12)।"

2 विभिन्न प्रकार के यज्ञो का वर्णन गीता में इस प्रकार किया गया है —कितने योगी देवताओं का पूजनरूपी यज्ञ करते है कितने ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ द्वारा यज्ञ को होमते है, कितने श्रवणादि इन्द्रियाँ का संयमरूप यज्ञ करते है कुछ शब्दादि विषयों को इन्द्रियाग्नि में होमते है कितने ही समस्त इन्द्रियकर्मों को और प्राणकर्मों को ज्ञानदीपक से आत्मसंयमरूपी योगाग्नि म होमते है, (यहाँ तात्पर्य योग और संयम है) कोई यज्ञार्थ द्रव्य दान करते है कोई तप करता है कोई अष्टांग योग साधते है, कोई स्वाध्याय और ज्ञान यज्ञ करते है, कोई प्राणायाम करके अपान को प्राणवायु और प्राण को अपान में होमते है और कोई आहार संयम करके प्राणों को प्राण में होमते है (4/25 30)।

3 नवें अध्याय में भगवान कृष्ण के इस कथन में भी यही भाव व्यक्त है — 'यज्ञ का संकल्प म हूं यज्ञ म हूं यज्ञ द्वारा पितरों का आधार म हूं, यज्ञ का वनस्पति म हूं, आहुति म हूं अग्नि म हूं और हवन-द्रव्य म हूं (9/16)'।

इस ब्रह्मपरायण ज्ञान पर आधारित है और जो इस ज्ञान का अनुभव करता हुआ यज्ञ करता है वही मोक्ष पाता है। यज्ञ के द्वारा जो कर्म के साथ ब्रह्म का मेल साधता है, वही ब्रह्म को पाता है (4/24, 32)। ब्रह्मपरायण होने के कारण, यज्ञीय कर्म स्वभावतया ज्ञान और भक्ति की ओर उन्मुख हो जाता है। अपने को बड़ा मानने वाले अहंकारी, धन तथा मान के मद में मस्त हुए दम्भी और विधिरहित नाममात्र के ही यज्ञ करते हैं (16/17)। फल की इच्छा और दम्भ में किया यज्ञ राजसी है (17/12) और जिसमें विधि नहीं, अन्न की उत्पत्ति नहीं मन्त्र नहीं त्याग नहीं श्रद्धा नहीं, वह यज्ञ तामस है (17/13)। सात्त्विक यज्ञ वह है जो विधिपूर्वक कर्तव्य समझ कर और मन को यज्ञ में स्थिर कर किया जाता है (17/11)। अतः सात्त्विक यज्ञ निष्काम है। इसी कारण, द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अधिक अच्छा है क्योंकि कर्म-मात्र ज्ञान में ही पराकाष्ठा को पहुँचते हैं (4/33)। इसी प्रकार, दान और तप रूपी वही नियत कर्तव्य कर्म श्रेयस्कर हैं जो ब्रह्मपरायण ज्ञान और भक्ति से उत्पन्न हुई निष्कामता पर आधारित हैं।

गीता में प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त, इस प्रकार, निष्काम कर्मयोग का सिद्धान्त है जो, सिद्धान्ततः, ज्ञान और भक्ति की ओर उन्मुख है। गीताकार की यह आधारभूत सैद्धान्तिक मान्यता है कि कर्म में निष्कामता ज्ञान और भक्ति के योग से आती है। सम्भवतः, इसी कारण गीताकार ने कर्मसिद्धान्त को निष्कामकर्मयोग का सिद्धान्त कहा है। गीता में स्थान-स्थान पर, इस बात पर जोर दिया गया है कि मोक्ष ज्ञान से मिलता है। लेकिन, साथ ही साथ इस तथ्य पर भी जोर दिया गया है कि मोक्ष उस ज्ञान से नहीं मिलता है जो शून्यवादी तथा विरक्तिवादी है। उपनिषदों के ब्रह्म-वादी तथा महाभारत के आत्मवादी ज्ञान को गीताकार ने ब्रह्मपरायणतावादी ज्ञान की धारणा देकर उसे भक्ति और निष्कामकर्म पर आधारित किया है। यह अवश्य है कि ज्ञान और भक्ति से निष्काम कर्म आता है और गीताकार ने सिद्धान्ततः इसे स्वीकार भी किया है। लेकिन साथ-ही साथ, गीताकार ने यह भी स्वीकार किया है कि 'अभ्यासमार्ग से ज्ञानमार्ग श्रेयस्कर है, ज्ञानमार्ग से ध्यानमार्ग और ध्यानमार्ग से कर्मफलत्याग क्योंकि कर्मफलत्याग से अन्त में तुरन्त शान्ति आ जाती है (12/12)'। इसी प्रकार, भक्ति को मोक्ष का साधन बताते हुए गीताकार ने भगवान् कृष्ण से कहलाया है, यदि मन स्थिर करने का सामर्थ्य न हो तो अभ्यासयोग द्वारा, यदि अभ्यासयोग की सामर्थ्य न हो तो निमित्त कर्म के द्वारा और यदि निमित्त कर्म की भी सामर्थ्य न हो तो यत्नपूर्वक सब कर्मों के फल का त्याग करके मुझे पाने का प्रयत्न करना (12/9, 11)।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या बिना ज्ञान और भक्ति के निष्कामकर्म को माना जा सकता है? गीताकार ने इस प्रश्न को उठाकर एक किनारे छोड़ दिया है क्योंकि वह यह मानकर चला है कि निष्काम कर्म ज्ञान

गीता में यज्ञार्थ किया हुआ कर्म भी नियत कर्तव्य कर्म की श्रेणी में आता है। यज्ञ से बचा हुआ अमृत खाने वाले लोग सनातनब्रह्म को पाते हैं। यज्ञ न करने वाले के लिए यह लोक नहीं है तो परलोक हो ही कहां से सकता है (4/31)। यज्ञार्थ किये जाने वाले कर्म के अतिरिक्त कर्म से इस लोक में बन्धन पैदा होता है। इसलिए, रागरहित यज्ञार्थ कर्म करना ही श्रेयस्कर है (3/9)। लेकिन यज्ञार्थ कर्म क्या है? यज्ञार्थ कर्म का एक रूप वह है जिसमें यज्ञ फल की प्राप्ति के लिए किया जाता है[1]। लेकिन गीताकार के मत में 'यज्ञ से वर्षा होती है वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है अन्न में से भूतमात्र उत्पन्न होते हैं और यज्ञ कर्म से होता है। कर्म प्रकृति से उत्पन्न होता है, प्रकृति अक्षरब्रह्म से उत्पन्न होती है और इसलिए सर्वव्यापक ब्रह्म सदा यज्ञ में विद्यमान है (3/14, 15)'। वेद में जितने प्रकार[2] के यज्ञों का वर्णन हुआ है, वे सब कर्म से ही उत्पन्न होते हैं। लेकिन वास्तविकता यह है कि यज्ञ में 'अर्पण ब्रह्म है हवि (हवन की वस्तु) ब्रह्म है और ब्रह्मरूपी अग्नि में हवन करने वाला भी ब्रह्म है[3]। और चूंकि यज्ञ कर्म है, यज्ञ का अर्थ है कर्म के साथ ब्रह्म का मेल साधना। यज्ञ का सार यह है कि यज्ञ ब्रह्ममय है। अतः यज्ञार्थ कर्म वही कर्म है जो

---

1 वेदों में फल की प्राप्ति के लिए यज्ञ का विधान है। यह यज्ञ सकाम है, जिसका गीताकार ने इस प्रकार वर्णन किया है,—यज्ञ के सहित प्रजा को उत्पन्न करके प्रजापति ब्रह्मा ने कहा, "यज्ञ द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो। यह तुम्हें इच्छित फल दे। तुम यज्ञ द्वारा देवताओं का पोषण करो और देवता तुम्हारा पोषण करें। एक दूसरे का पोषण करते हुए तुम कल्याण पाओ। यज्ञ द्वारा सन्तुष्ट हुए देवता तुम्हें इच्छित भोग देंगे। उनका बदला दिये बिना, उनका दिया हुआ जो भोगेगा वह अवश्य चोर है (3/10 12)।"

2 विभिन्न प्रकार के यज्ञों का वर्णन गीता में इस प्रकार किया गया है —कितने योगी देवताओं [illegible] पूजनरूपी यज्ञ करते हैं कितने ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ द्वारा यज्ञ को होमते हैं, कितने श्रवणादि इन्द्रियों का संयमरूप यज्ञ करते हैं कुछ शब्दादि विषयों को इन्द्रियाग्नि में होमते हैं कितने ही समस्त इन्द्रियकर्मों को और प्राणकर्मों को ज्ञानदीपक से आत्मसंयमरूपी योगाग्नि में होमते हैं (यहाँ तात्पर्य योग और संयम है), कोई यज्ञार्थ द्रव्य दान करते हैं कोई तप करता है कोई अष्टांग योग साधते हैं कोई स्वाध्याय और ज्ञान यज्ञ करते हैं, कोई प्राणायाम करके अपान को प्राणवायु और प्राण को अपान में होमते हैं और कोई आहार संयम करके प्राणों को प्राण में होमते हैं (4/25-30)।

3 नवें अध्याय में भगवान कृष्ण के इस कथन में भी यही भाव व्यक्त है —'यज्ञ का संकल्प मैं हूं यज्ञ मैं हूं यज्ञ द्वारा पितरों का आधार मैं हूं, यज्ञ की वनस्पति मैं हूं, आहुति मैं हूं, अग्नि मैं हूं और हवन द्रव्य मैं हूं (9/16)'।

इस ब्रह्मपरायण ज्ञान पर आधारित है और जो इस ज्ञान का अनुभव करता हुआ यज्ञ करता है वही मोक्ष पाता है। यज्ञ के द्वारा जो कर्म के साथ ब्रह्म का मेल साधता है, वही ब्रह्म को पाता है (4/24, 32)। ब्रह्मपरायण होने के कारण, यज्ञार्थ कर्म स्वभावतया ज्ञान और भक्ति की ओर उन्मुख हो जाता है। अपने को बड़ा मानने वाले अहंकारी, धन तथा मान के मद में मस्त हुए दम्भी और विधिरहित नाममात्र के ही यज्ञ करते हैं (16/17)। फल की इच्छा और दम्भ से किया यज्ञ राजसी है (17/12) और जिसमें विधि नहीं, अन्न की उत्पत्ति नहीं, मन्त्र नहीं, त्याग नहीं, श्रद्धा नहीं, वह यज्ञ तामस है (17/13)। सात्त्विक यज्ञ वह है जो विधिपूर्वक कर्तव्य समझ कर और मन को यज्ञ में स्थिर कर किया जाता है (17/11)। अतः सात्त्विक यज्ञ निष्काम है। इसी कारण, द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा, ज्ञानयज्ञ अधिक अच्छा है क्योंकि कर्ममात्र ज्ञान में ही पराकाष्ठा को पहुँचते हैं (4/33)। इसी प्रकार दान और तप भी वही नियत कर्तव्य कर्म श्रेयस्कर है जो ब्रह्मपरायण ज्ञान और भक्ति से उत्पन्न हुई निष्कामता पर आधारित हैं।

गीता में प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त, इस प्रकार, निष्काम कर्मयोग का सिद्धान्त है जो, सिद्धान्ततः, ज्ञान और भक्ति की ओर उन्मुख है। गीताकार की यह आधारभूत सैद्धान्तिक मान्यता है कि कर्म में निष्कामता ज्ञान और भक्ति के योग से आती है। सम्भवतः, इसी कारण गीताकार ने कर्मसिद्धान्त को निष्कामकर्मयोग का सिद्धान्त कहा है। गीता में स्थान-स्थान पर, इस बात पर जोर दिया गया है कि मोक्ष ज्ञान से मिलता है। लेकिन साथ ही-साथ इस तथ्य पर भी जोर दिया गया है कि मोक्ष उस ज्ञान से नहीं मिलता है जो शून्यवादी तथा विरक्तिवादी है। उपनिषदों के ब्रह्मवादी तथा महाभारत के आत्मवादी ज्ञान को गीताकार ने ब्रह्मपरायणवादी ज्ञान की धारणा देकर उसे प्रपत्ति और निष्कामकर्म पर आधारित किया है। यह स्पष्ट है कि ज्ञान और प्रपत्ति से निष्काम कर्म आता है और गीताकार ने सिद्धान्ततः इसे स्वीकार भी किया है। लेकिन, साथ-ही साथ, गीताकार ने यह भी स्वीकार किया है

और भक्ति तीनों अन्योन्याश्रित है और तीनों मिलकर तथा अलग अलग व्यक्ति में वह मनोदशा उत्पन्न करते हैं जिसमें निवृत्तिमार्गी प्रवृत्ति आती है और जिसमें, सभी परिस्थितियों में, व्यक्ति को आत्मोत्साह तथा आत्मविश्वास मिलते हैं। निवृत्ति या प्रवृत्ति से हीं जीवन को बाँधना गीताकार को स्वीकार नहीं है क्योंकि न तो निवृत्ति ही अपने में पूर्ण है और न प्रवृत्ति ही। निवृत्ति और प्रवृत्ति का विवाद ही अर्थहीन है। गीताकार के लिए वाञ्छनीय है वह मनोदशा जहाँ निवृत्ति और प्रवृत्ति एक में मिल जाते हैं। चाहे कोई ज्ञान से चले या भक्ति से या निष्कामकर्म से सबकी परिणति निवृत्तिमार्गी प्रवृत्ति में होती है। इसीलिए, गीता का कर्मसिद्धान्त अधिक प्रेरक और आशावादी है क्योंकि इससे उच्च तथा निम्न, ज्ञानी तथा भक्त योगी तथा संन्यासी, नारी तथा पुरुष और ब्राह्मण तथा शूद्रों को एक सी प्रेरणा मिलती है।

गीता हिन्दू सामाजिक ज्ञान का एक अंग है और उसके गत्यात्मक विकास की एक विशेष अवस्था है। सामाजिक ज्ञान के गत्यात्मक विकास की विभिन्न अवस्थाओं का विकास सामाजिक ऐतिहासिक विकासक्रम की गत्यात्मकता से सम्बन्धित होता है। सामाजिक ज्ञान में जहाँ सामाजिक आदर्श तथा अभीप्सायें सन्निहित रहती हैं वहाँ उसमें सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियाँ भी प्रतिबिम्बित होती हैं। सामाजिक ज्ञान जहाँ सामाजिक आस्था तथा अभीप्साओं को भूत से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य की ओर ले जाकर समाज को नैरन्तर्य प्रदान करता है वहाँ, उसमें युग की गत्यात्मक आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन भी हुआ करता है। अपने युग की आवश्यकताओं के अनुसार, गीता हिन्दू सामाजिक ज्ञान का एक विशेष सम्पादित रूप है। गीता वल्पाचारी वैदिक कर्मकाण्ड की विरोधी है क्योंकि उप-निषदों की ज्ञानाश्रयी धारा के विकास में ही पहले वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध हो चुका था और उसका सामाजिक महत्त्व समाप्त हो चुकी थी। उपनिषदों की ज्ञानाश्रयी धारा निवृत्तिवादी थी। वल्पाचारी वैदिक कर्मकाण्ड यदि घोर प्रवृत्तिवादी था तो औप-निषदिक विचारधारा घोर निवृत्तिवादी। वेदों के वल्पाचारी कर्मकाण्ड में प्रवृत्ति और उपनिषदों की विचारधारा में निहित निवृत्ति अपनी उन पराकाष्ठाओं पर पहुँच चुके थे जहाँ वे जीवन रूपी चक्र के दो अन्तिम छोर बनकर रह गये थे। कृषि पर आधारित समाज में जिसका आधार परमार्थ था, निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों के सन्तुलन की आवश्यकता थी। गीता में, निष्काम कर्म के आधार पर, यही सन्तुलन लाने का प्रयास किया गया है।

गीता के रचना प्रसंग में ऐसा मन है कि गीता की रचना काल के समय जातिव्यवस्था की जटिलता बढ़ गई थी जिसके कारण गीता में गुण कर्म के आधार पर वर्णों के प्रतिपादन का प्रयास किया गया है ताकि सामाजिक व्यवस्था जातिव्यवस्था में निहित अविरामी अवरोध में बद्ध न हो और व्यक्ति को सामाजिक गतिशीलता की प्रेरणा का अवसर मिले। इसलिए गीता में वर्ण का आधार गुण है जो कर्म का भी

आधार है और व्यक्ति के चरम उन्विकास (परमगति) की अवस्था में दोनों लय हो जाते हैं क्योंकि वहाँ न तो गुण है न कर्म और न वर्ण। इस प्रकार गीता में वर्णव्यवस्था को दैवी आधार प्रदान किया गया है और उसी आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि दैवी स्तर पर वर्ण भिन्नता समाप्त हो जाती है। इहलौकिक जीवन (सामाजिक जीवन) का आधार ब्रह्ममय है। अतः कर्म भी ब्रह्ममय है और चूंकि कर्म ब्रह्म की विशेषता है न कि फलासक्ति कर्म का आधार केवल कर्म का अधिकार है न कि कर्मफलासक्ति। यही वह दृष्टिकोण है जिसमें निवृत्ति प्रवृत्ति का सम्मिलन होता है। चूंकि सभी कुछ ब्रह्ममय है वास्तविक ज्ञान वही है जो ब्रह्मपरायण है और निष्काम कर्म तथा ब्रह्मपरायण ज्ञान की स्वाभाविक परिणति भक्ति है। ऐसा कहा जा सकता है कि भारतीय समाज की विजातीयता जो जातियों गणजातियों और प्रजातियों में सन्निहित है ने ही उस ब्रह्म की कल्पना को प्रेरित किया है जिसमें सारे विजातीय गुण लय हो जाते हैं और केवल ब्रह्म रह जाता है जो सारी विभिन्नताओं की तह में निहित एकत्व का प्रतीक है। यह कहा जा सकता है कि विजातीय समाज में एकत्व की आवश्यकता की स्वाभाविक माँग के कारण ही गीता में ज्ञान का आधार यह अनुभूति मानी गई है जो प्रपत्ति और अविभक्त विभक्तेषु पर आधारित है। समाज को अविकारी अवरोध से बचाने के लिए ही गीता में सम्भवामि युगे युगे' की धारणा आई है। इस प्रकार, हिन्दू सामाजिक ज्ञान के रूप में, गीता हिन्दू विचार का वह संशोधित रूप है जो समाज की एकता तथा व्यक्ति की सामाजिक वृत्ति का पूर्ण अभिव्यक्ति और समाज में व्यक्ति तथा समूह की गत्यात्मक चलिष्णुता (Dynamic mobility) बनाए रखने की मान्यता पर आधारित है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि गीता में प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त को दैववादी (Fatalistic) विचार से मुक्त रखने का प्रयास किया गया है।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि जातिव्यवस्था की बढ़ती हुई जटिलता के साथ-साथ, कर्मसिद्धान्त जहाँ एक ओर, जातिव्यवस्था में निहित असमानताओं को स्पष्ट करने में प्रयुक्त हुआ वहाँ, दूसरी ओर, लोगों को जातिगत सामाजिक स्तर कर्मों तथा असमानताओं को दैवी विधान के रूप में स्वीकार करने तथा कर्म के द्वारा धर्मसंचय करके उससे मुक्ति ज्ञान की प्रेरणा देने में भी उसका प्रयोग हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ कि कर्मसिद्धान्त मोक्ष की धारणा के साथ बंधन के साथ साथ स्वर्ग और नरक की धारणाओं के साथ बंध गया। निष्काम कर्म की धारणा एक ओर जाति से सम्बन्धित सामाजिक आर्थिक क्रियाओं से बंध गई तो दूसरी ओर धर्म विहित कर्म और मानव धर्म के उन सामान्य नियमों से जिनका स्पष्ट वर्णन किया जा चुका है और जो मुख्यतया मनु के मानव धर्मशास्त्र में प्रतिपादित हैं।। इन सबका सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि कर्म स्व की धारणा से बंध गया यद्यपि हिन्दू विचारधारा में सिद्धान्ततः इस तथ्य को निरूपित करने का प्रयास मिलता है कि कर्म

दैव से सम्बन्धित होने पर भी पूर्णतया दैव के वश में नहीं है।

यह इसी सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थिति का परिणाम है कि वैदिक कर्मकाण्ड और जन्म पर आधारित जाति व्यवस्था के विरोधी होने पर भी बुद्धवाद और जैनवाद कर्मसिद्धान्त को न छोड़ सके और दैव तथा प्रयत्न सम्बन्धी उस द्विविधा से न हट सके जिसमें कर्म सम्बन्धी हिन्दू विचार व्याप्त है। उदाहरणार्थ, महात्मा बुद्ध ने यह कहा है

बुद्धवाद में कर्मसिद्धान्त

कि जन्म से न कोई ब्राह्मण होता है और न अन्त्यज। कर्म से ही कोई व्यक्ति अन्त्यज होता है और कोई व्यक्ति कर्म के ही आधार पर ब्राह्मण बनता है। किसी से उसकी जाति मत पूछो बल्कि उसके आचरण की परीक्षा करो क्योंकि खराब से भी खराब लकड़ी से पवित्र अग्नि उत्पन्न की जा सकती है। लेकिन, दूसरी ओर धम्मपद में कर्म सिद्धान्त का एक निर्मम रहस्य शक्ति के रूप में निरूपित किया गया है। धम्मपद के अनुसार, प्रत्येक पापी अपने पापों से घिरा रहता है किसी व्यक्ति के कर्म उसको कर्म ही दूषित करते हैं जैसे उसके सद्कर्म उसे पवित्र करते हैं पापकर्म पापी का वैसे ही अनुसरण करते हैं जैसे राख अग्नि का अनुसरण करती है, पापी को इहलौकिक तथा पारलौकिक संसार में कष्ट भोगना पड़ता है, सत्कर्म करने वाले व्यक्ति का पारलौकिक संसार में वैसे ही स्वागत करते हैं जैसे किसी के सगे सम्बन्धी एक लम्बी यात्रा से वापस आने पर उसका स्वागत करते हैं कर्म संचयी है इसलिए, छोटे से भी छोटे कर्म की अवहेलना नहीं करनी चाहिए, छोटे छोटे कर्म संचित होकर उसी प्रकार एक बड़े कर्म में परिणत हो जाते हैं जिस प्रकार बूंद बूंद से घड़ा भर जाता है, आकाश, समुद्रतल की गहराई या पहाड़ की गुफाओं बल्कि सारे संसार में कहीं भी कोई स्थान नहीं है, जहां कोई अपने कर्मों के प्रभाव से मुक्त हो सके। अतः, पापकर्मों से अलग रहना और मन को शुद्ध रखना मनुष्य का कर्तव्य है[1]। इस प्रकार, बुद्धवाद में कर्म सम्बन्धी विचारों में आशावादी और निराशावादी विचारों का सम्मिलन मिलता है। यहां, एक ओर, यह माना गया है कि जन्म कुछ नहीं है, कर्म ही प्रधान है और कर्म के ही आधार पर व्यक्ति का इहलौकिक जीवन बनता है और कर्म ही इहलौकिक जीवन की उच्चता या निम्नता की कसौटी है और, दूसरी ओर, यह माना गया है कि कर्म ही पुनर्जन्म का कारण है और चूंकि कर्म व्यक्ति का वैसे ही पीछा करते हैं जैसे राख अग्नि का पीछा करती है, कर्म पुनर्जन्म में भी परिलक्षित होता है। बुद्धवादी आत्मा को नहीं मानते। इस कारण, बुद्धवाद में कर्मसिद्धान्त एक रहस्यपूर्ण कारण कार्य (Cause-Effect) की प्रक्रिया का रूप ले लेता है। बुद्धवादियों ने पुनर्जन्म में पूर्वजन्म के प्रभावों की सम्भावना को स्वीकार करते हुए भी कर्मसिद्धान्त को दैववादी विचारधारा से मुक्त रखा।

---

1 गोखले की पुस्तक इण्डियन थाट थ्रू दि एजेज में से उद्धृत पृष्ठ 100, 101।

स्मृतियों, सूत्रों और नीतिशास्त्रों में कर्मसिद्धान्त को जातिव्यवस्था का आधार माना गया है और धर्म, ज्ञान तथा योग को मोक्ष का साधन। मनु

स्मृति सूत्र और नीतिशास्त्र

के अनुसार, मन, वाक् और देह से उत्पन्न होकर, कर्म की परिणति अच्छे बुरे परिणामों में होती है। कर्म ही मनुष्य की विभिन्न गतियों का कारण है। मानसिक पापों के कारण व्यक्ति का जन्म अन्त्यज जाति में होता है और वाणी द्वारा किए हुए पापों के कारण उसका जन्म पक्षी या चौपाये के रूप में होता है। शरीर द्वारा किए हुए पापों के कारण स्थावर वस्तुओं की गति मिलती है। कर्मानुसार नर्क यातना भोगकर व्यक्ति को पुनः जन्म लेना पड़ता है। जिस भाव से इस जन्म में कर्म किया जाता है, पुनर्जन्म के बाद, भावी जीवन में उसी के अनुसार उसका परिणाम मिलता है। कर्मफल अवश्य भोगना पड़ता है, जिसके लिए पुनर्जन्म आवश्यक है। मनु के अनुसार आत्मज्ञान (आत्मा के द्वारा आत्मा का ज्ञान) ही कर्मबन्धन से मुक्ति पाने का एकमात्र साधन है। मनु के आत्मज्ञान की कल्पना गीता के ज्ञान की कल्पना के ही अनुरूप है। वेदविहित कर्म धर्मप्राण होने के कारण इहलोक और परलोक में सुख दे सकता है, मुक्ति नहीं। जन्म का पूर्ण फल उसे ही मिलता है जो आत्मज्ञान की प्राप्ति, इन्द्रियों को शान्त (शम) करने और स्वाध्याय में रत रहता है। आत्मज्ञान की प्राप्ति ही मनुष्य का वास्तविक धर्म है। इसलिए मनु ने वेदविहित कर्मों के द्वारा धर्मसंचय की प्रेरणा दी है[1]।

याज्ञवल्क्य के अनुसार, कर्माशय (कर्मांशय) का आधार धर्म और अधर्म है। जाति (उच्च अथवा निम्न स्तर में जन्म), आयु और भोग (सुख-दुःख) कर्मसंचय से ही उत्पन्न होते हैं। याज्ञवल्क्य ने वांछनीय अथवा नियत कर्म को ही धर्म माना है। याज्ञवल्क्य के अनुसार वांछनीय अथवा नियत कर्म वह है जो वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म, निमित्तधर्म और साधारणधर्म से सम्बन्धित है। इन आधार दम, अहिंसा, दान और स्वाध्याय के सहित अन्य सभी कर्मों में आत्मज्ञान परमधर्म है क्योंकि आत्मदर्शन आत्मज्ञान से होता है और आत्मज्ञान मोक्ष का साधन है। शुक्रनीतिसार के अनुसार, मनुष्य का इहलौकिक जीवन पूर्वजन्म के कर्मों से बँधा रहता है। कर्म अगले जन्म में व्यक्ति के देह का निर्माण ही नहीं करते हैं परन्तु उसकी बौद्धिक प्रवृत्ति को भी निश्चित करते हैं। अपने पूर्वजन्म के कर्मों के कारण ही व्यक्ति पाप या पुण्य का आचरण करता है। शुक्रनीतिसार में प्रतिपादित कर्म-सिद्धान्त में इहलौकिक जीवन को कारण, दैव और कर्म, पर आधारित माना गया है और दैव को पूर्वजन्म तथा इस जन्म के कर्मों से उत्पन्न माना गया है। इस प्रकार, शुक्रनीतिसार में, एक ओर, दैव को प्रारब्ध का निर्णायक माना है तो दूसरी ओर,

---

1 प्रभु पी० एच० वही पृष्ठ 30 33।

दैव को इस जन्म के कर्मों के प्रभाव के अतगत माना है। शुक्रनीतिसार म एक ओर सक्रिय जीवन पर आधारित पौरुषदशन की प्रशसा की गई ह, दवबादियो की भत्सना की गई है और दूसरी ओर जीवन का दव-कम के अधीन माना गया है जा इस बात का प्रतीक है कि शुक्रनीतिसार दव कम की प्राथमिकता से सम्बधित प्रश्न मे निहित द्विविधा से व्याप्त है[1]।

पतजलि के योगसूत्रो[2] म यह मायता प्रतिपादित की गई है कि अविद्या और क्लेश कर्मों का कारण हैं। क्लेश पाच प्रकार के हैं —अविद्या (पुरुष और प्रकृति को भ्रमवश एक मानना), अस्मिता (शरीर और जीव को एक मानना) राग (विषयो मे लगाव), द्वेष (दुख देने वाली वस्तुओं के प्रति घृणा और उनसे दूर रहने का भाव) और अभिनिवश (जीवन से लगाव और मत्यु मे डर का भाव)। अविद्या प्रधान क्लेश है और शेष उसके विभेद हैं। अविद्या अज्ञान नही बल्कि विभ्रम है। पाप-कम तथा पुण्यकम का कारण क्लेश हैं। जाति आयु और भोग का कारण कम है और कर्मों का प्रभाव इहलौकिक तथा पारलौकिक दोनो प्रकार के जीवन पर पडता है। मनुष्य के कम शुक्ल, कृष्ण और शुक्लकृष्ण की श्रेणियो म आते हैं। स्वाध्याय और ध्यान शुक्ल कर्मों की श्रणी म आते हैं क्योकि इनका आधार मानसिक है, ये किसी बाह्य साधन पर आधारित नही है और इनमे किसी को पीडा नही होती है। कृष्ण श्रेणी म वे कम आते है जो शुक्लकर्म के विपरीत होने के कारण दुष्कम कहे जाते हैं।

---

1 प्रभु, पी० एच० वही पृष्ठ 35 37।

2 योगसूत्रों से तात्पय उन नियमो से है जिनके द्वारा योग की साधना हो सकती ह। योग हिंदुओं के छ दशनों में एक दशन ह लेकिन योगसूत्रो का सम्बन्ध योग की व्यावहारिक क्रियाओं के नियमों से है। योगसूत्र वे नियम ह जिनसे कम बन्धन से मुक्ति मिलती है। योग का अथ है आत्मा का ईश्वर से योग। योग 'युज' धातु से निकला ह जिसका अथ ह जोडना। योग में यह माना जाता ह कि आत्मा और ईश्वर में जो वियोग ह उसे योगिक क्रियाओं द्वारा दूर किया जा सकता ह। इसलिए, योग का अथ प्रयास से भी है—उस प्रयास से जिससे आत्मा परमात्मा का मिलन हो सकता है। योगसूत्रों में योग शब्द का प्रयोग प्रयास के ही अथ में किया गया है। इसलिए, योगसूत्र एक आध्यात्मिक दशन की अपेक्षा एक प्रकार की योगिक क्रिया सहिता है। आत्मा-परमात्मा के मिलन की अवस्था समाधि है। अत, योग शब्द का प्रयोग समाधि-अवस्था के लिए भी किया जाता है। लेकिन, जहां कम योग, ज्ञानयोग और भक्तियोग जसे प्रयोग आते है, वहाँ योग का अर्थ प्रणाली हो जाता है। गीता में, निष्काम कम को जन्म देने वाली मनोदशा के लिए योग शब्द का प्रयोग किया गया है।

शुक्लकृष्ण कर्मों में दोनों श्रेणियों की विशेषतायें विद्यमान रहती हैं। योगी कर्मफल की अभिलाषा त्याग देता है, इसलिए, उसके कर्म इन किसी भी श्रेणी में नहीं आते हैं। योगी के कर्म ईश्वर के प्रति अर्पित होते हैं और न केवल भूतकालिक ऋणों और उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए किए जाते हैं और इस कारण योगी भावी ऋणों और उत्तरदायित्वों के बन्धन से मुक्त हो जाता है। योगी के कर्मों का प्रेरणास्रोत अविद्या नहीं विवेक है क्योंकि वह पुरुष और प्रकृति के अन्तर को जानता है। योगी कर्म को ईश्वरेच्छा समझकर ग्रहण करता है। ज्ञानाग्नि उसकी अविद्या को जलाकर भस्म कर देती है। इसलिए, योगी क्लेशों और कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है। ज्ञान की प्राप्ति से योगी के कर्म से कर्तापन का भाव लुप्त हो जाता है। ज्ञान की प्राप्ति की अवस्था के साथ साथ योगी धर्ममेघ हो जाता है अर्थात् वह धर्म कर्म तो करता है लेकिन जैसे मेघ सभी से अछूता रहता है वैसे ही योगी भी संसार और कर्मों से अलिप्त रहता है। ऐसे ज्ञानवान का पुनर्जन्म नहीं होता। पतञ्जलि योगसूत्रों में निहित दृष्टिकोण गीता के निकट है क्योंकि इसमें भी ज्ञान मोक्ष का आधार है। ज्ञान पुरुष और प्रकृति के भेद की अनुभूति है और योगी वस्तुतः गीता का निष्काम कर्मयोगी है।

३

कर्मसिद्धान्त के आधार

पिछले वर्णन से यह स्पष्ट है कि कर्मसिद्धान्त वर्णाश्रम व्यवस्था तथा धर्म के साथ, हिन्दू वैयक्तिक सामाजिक जीवन दर्शन का एक आधार है जिसका विकास सामाजिक विचार के रूप में धीरे धीरे हुआ है। भारत की सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों ने इस विकास की गतिविधि को निश्चित किया है। साथ ही साथ, कर्म सिद्धान्त का निर्माण कई विचारधाराओं के सम्मिलन से हुआ है। गोखले के अनुसार कर्म, आवागमन और कर्मस्थानान्तरण की धारणाओं से मिलकर कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है[1]। कर्म सिद्धान्त में कर्म की धारणा ही सबसे प्रधान है। गोखले के अनुसार कर्म इच्छाधारी की वह क्रिया है जो उसके जैविक, वैयक्तिक तथा सामाजिक अस्तित्व का आधार है। कर्म, आधारभूत जैविक क्रियाओं के रूप में जीव का गुण है। लेकिन कर्म की यह धारणा कर्म के उत्पत्ति-स्थान पर आधारित है। कर्म की इस धारणा में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण निहित है। कर्मसिद्धान्त में कर्म की धारणा का

---

1 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 109 111

दूसरा रूप भी है। कर्म व्यक्ति का नैतिक उत्तरदायित्व है—वह उत्तरदायित्व जिसके लिये व्यक्ति ही उत्तरदायी है। कर्म की धारणा का यह रूप धर्म से बंधा है जो सम्भवतः 'ऋत' की धारणा से आया है। इसी आधार पर कर्म, अकर्म, सुकर्म, नियत कर्म, कर्तव्य-कर्म, पुण्य-कर्म, पाप कर्म, सुकर्म कर्म तथा कृष्ण कर्म के विचार विकसित हुए हैं। एक श्रेणी में वह कर्म आता है जो नियत कर्तव्य, सुकृत, और पुण्यकर्म है और दूसरी श्रेणी में वह कर्म आता है जो अकर्म पापकर्म तथा कृष्ण कर्म है। पहली श्रेणी में आने वाला कर्म और उसके प्रकार वरणीय हैं और दूसरी श्रेणी में आने वाला कर्म अवरणीय। वरणीय कर्म का आधार एक ओर श्रम और गुण को माना गया है और, दूसरी ओर वेद तथा धर्म को। श्रम और गुण का सम्बन्ध शरीर व्यापार और इन्द्रियों के विषय से है। श्रम और गुण ही वह आधार हैं जिन्हें समाज-मनोविज्ञान में चालक (Drive) और आधारभूत आवश्यकताओं (Basic Needs) या एषणाओं (Desires) की संज्ञायें दी जाती हैं। चालक का अस्तित्व स्वतः नहीं है। चालक का अस्तित्व उद्देश्य (Goal) से सम्बन्धित है और उद्देश्य का स्थान व्यक्ति से पृथक होकर पर्यावरण में होता है। चालक जैविक मानसिक प्रवृत्ति है और जीव की क्रियाशीलता तब उत्पन्न होती है जब चालक उद्देश्य की ओर उन्मुख होकर जीव को उद्देश्य प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है। ज्ञान संस्कृति और समाज क्रिया के आधार हैं।

कर्म के विषय में हिन्दू विचार आधुनिक सामाजिक मनोविज्ञान के विचार से थोड़ा भिन्न है। सामाजिक मनोविज्ञान विज्ञान है न कि ज्ञान। विज्ञान का आधार आनुभूतिकता (Empiricism) है जिसमें जीव का जीव प्रकृति के माध्यम से स्पष्ट किया जाता है। आनुभूतिक सामाजिक विज्ञानों (समाजशास्त्र मानवशास्त्र और समाजमनोविज्ञान) में मानव जीव के साथ समाज और संस्कृति को वहाँ तक ध्यान में लाया जाता है जहाँ तक जीव को जीव से स्पष्ट करने के सिद्धान्त के प्रयोग का सम्बन्ध है। लेकिन, समाज और संस्कृति जैविक नहीं हैं। समाज और संस्कृति परा जैव हैं क्योंकि संस्कृति और विकास को अपने में निहित आदर्शों के अनुसार गति और दिशा प्रदान करता है। हिन्दू विचार में श्रम और गुण मानव क्रिया के जैविक आधार (चालक) हैं लेकिन मानव क्रिया श्रमगुणाभिमुख ही नहीं है। इन्द्रियों के विषय श्रम-गुण में उत्पन्न होते हैं और क्रिया के श्रमगुणाभिमुख होने का तात्पर्य है कर्म का विषय-वासना में बांधना। हिन्दुत्व का सांस्कृतिक आदर्श मोक्ष है। हिन्दू विचार नैतिक पर आधारित है। इसीलिये श्रम गुण वेद और धर्म पर आधारित वरणीय कर्म वह है जो मोक्ष की ओर ले जाय। समाज, गुण तथा श्रम पर आधारित है। इसकी अभिव्यक्ति वर्णाश्रमव्यवस्था में होती है। अतः कर्म, एक ओर, वर्णाश्रम व्यवस्था से बंधा है और दूसरी ओर, मोक्ष से। लेकिन, चूँकि जीवन का अन्तिम लक्ष्य उद्देश्य मोक्ष है, मोक्ष की वास्तविकता का अनुसार स्वभावतया कर्म का आधार का

जाना है। मोक्ष का तात्पर्य है 'नीति' में मिल जाना, श्रम गुण से परे हो जाना क्योंकि 'नीति' ही श्रमगुण से परे है यद्यपि श्रम गुण उससे प्रेरित हैं। अतः, मोक्ष की वास्तविकता के अनुभव से तात्पर्य है नीति का ज्ञान प्राप्त करना और उसके परायण रहकर कर्म करना क्योंकि अन्तिम उद्देश्य वही है। इसीलिये हिन्दू विचारधारा में कर्म को नाना पुष्ट बनाने की प्रेरणा दी गई है और ज्ञान से तात्पर्य लिया गया है आत्मज्ञान से। श्रम गुण की अवहेलना नहीं हो सकती। इसलिये, आश्रम और वर्ण अर्थात् समाज की, इहलौकिक जीवन की अवहेलना नहीं हो सकती। अतः समाज माध्यम है मोक्ष का और इसीलिये समाज में किया हुआ कर्म भी मोक्षोन्मुख होना चाहिये। मोक्ष निष्काम की अवस्था है। अतः, मोक्ष का साधन कर्म भी निष्काम होना चाहिये। मोक्ष व्यक्ति का अधिकार है जो कर्तव्य से मिलता है और कर्तव्य की साधना कर्म द्वारा होती है। अतः कर्तव्य कर्म करना व्यक्ति का नैतिक उत्तरदायित्व है। कर्म में नैतिकता का विचार कर्तव्य कर्म की धारणा पर आधारित है।

जहाँ मोक्ष का योग बन गया है वहाँ कर्म का आधार योग भी माना गया है। योग समाधि है। अतः कर्तव्य कर्म वह है जो समाधि की स्थिति लाने में सहायक हो। समाधि शारीरिक नहीं मानसिक अवस्था है। अतः, शरीर से मन को हटाना ही कर्म माना गया है। यहाँ कर्म में तप का भाव आ गया है, जिसका एक रूप सप्रयास शरीर को कष्ट देना, इन्द्रियों का दमन करना है और दूसरा, ज्ञान निष्कामता और भक्ति द्वारा उस मानसिक अवस्था पर पहुँचना जहाँ कर्म केवल शरीर व्यापार रह जाय। कर्म हस्तान्तरित है, गुणानुसार व्यक्ति का अपना धर्म है। अतः कर्म स्थानान्तरणीय है। यहाँ कर्म दान के विचार से बँध जाता है। महाभारत में यह विचार व्यक्त किया गया है कि राजा के कुकर्मों से प्रजा पर दैवी विपदायें आती हैं और मानव धर्मशास्त्र में यह कहा गया है कि स्त्री को अपने पति के कर्मों का फल भोगना पड़ता है[1]। इससे यह भाव निकलता है कि कर्मफल एक प्रकार की पूँजी है जिसे हस्तान्तरित किया जा सकता है और जो व्यक्ति के साथ रहती है। किन्तु जिस मामले में कर्म की हस्तान्तरणीय विशेषता यहाँ है और जिसके आधार पर कर्म को एक प्रकार का भौतिक प्रमेय माना गया है वह वस्तुतः कर्म का वह रूप है जो हिन्दू विचार और व्यवहार में स्पष्ट दूषण विचार (The Idea of Pollution) से सम्बन्धित है। शुभ कर्म पवित्र करते हैं और पापकर्म दूषित करते हैं। दूषण अपने तक ही सीमित नहीं रहता है। इसीलिये दैनिक शौच के नियमों को उन कर्मों की श्रेणी में रखा गया है जो व्यक्ति को पवित्र करते हैं। दैनिक स्नान और तीर्थस्थान का स्नान विशेष महत्व के हैं। इसी कारण जिस व्यक्ति की जाति जितनी ऊँची है, उसके लिये उतने ही अधिक दैनिक शौच कर्मों का विधान है और सम्भवतः इसीलिये

---

1 मोतले पी० ओ० वही पृष्ठ 110

शौच धर्म के दस लक्षणों में से एक है। जन्म और मृत्यु के अवसर पर किये जाने वाले अनेक कल्प कर्मों (Ritual Acts) की सार्थकता दूषण विचार के सन्दर्भ में ही स्पष्ट होती है। जाति अन्तर्विवाहिता तथा खानपान के नियमों को भंग करने वाले दूषित हुए माने जाते हैं और उनके लिये अनेक पवित्रकारी कल्प कर्मों का विधान है जिनमें गंगास्नान, गंगा जलपान, गंगाजल से अभिसिंचन, सत्यनारायण तथा भागवत की कथा सुनना मुख्य हैं।

कुकर्मों से उत्पन्न पाप को धोने का विचार उस वैदिक विचार का ऐतिहासिक प्रतिफल है जिसमें यह माना जाता था कि यज्ञ, तप और मनस्ताप से पाप धुल जाते हैं। इसी विचार के आधार पर अनेक पावनकारी कल्पों (Purificatory Rituals) ने सामाजिक विधान का उद्भव हुआ है जो करणीय कर्म की श्रेणी में आते हैं। इन सभी कल्पों में यह विचार निहित है कि समान से समान की उत्पत्ति होती है (Like Produces Like)[1], किसी के स्पर्श में रहनेवाली किसी वस्तु या उसके किसी अंग के प्रति किया जाने वाला कार्य, वस्तुतः उसके प्रति किया कार्य है[2] और दैवी शक्ति को नियन्त्रण में लाकर उसके द्वारा मनोवांछित फल प्राप्त किये जा सकते हैं[3]। यह विचार उस प्राचीनतम विचार से उत्पन्न हुआ है जिसमें यह माना जाता था कि मनुष्य को जो सुख मिलता है देवताओं की अनुकम्पा से मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति को मिलने वाला पाप पुण्य सुख दुख अच्छा-बुरा पहले ही से निर्धारित है जो उसकी विधि है और उसका भाग्य है। देवों द्वारा निर्धारित भाग ही व्यक्ति का भाग्य है और भाग्य दिव्य दिष्ट (देवों द्वारा पूर्वनिर्धारित) है। यहीं से भाग्य, विधि प्रारब्ध दैवयोग और मानव जीवन के भूत, वर्तमान तथा भविष्य को प्रभावित करने वाली एक निरीह रहस्यात्मक शक्ति की धारणा के रूप में दैव धारणा का अभ्युदय हुआ जो कर्म की धारणा से मिल गई। फलतः कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी

---

1 जैसे मिर्जापुर जिले की कोरवा गणजाति के लोग वर्षा लाने के लिये पहाड़ियों पर से बड़े बड़े पत्थरों को इसलिये लुढ़का देते हैं कि पत्थरों की गड़गड़ाहट बादलों की गड़गड़ाहट को आकर्षित करती है और बादलों की गड़गड़ाहट के आने का मतलब है बादलों का तथा वर्षा का आना।

2 नाल (Placenta) गाड़ना और मुण्डन के बालों को गंगा में या किसी नदी में प्रवाहित करना इस विचार पर आधारित है कि नाल या बालों पर पड़ने वाले प्रभाव वस्तुतः बच्चे पर पड़ेंगे। वशीकरण और मारण की तांत्रिक क्रियायें इसी विचार पर आधारित हैं।

3 गंडा तावीज के द्वारा मनोवांछित फल पाने का प्रयास इसी विचार पर आधारित है। झाड़ फूंक से बीमारी तथा बाधाएं दूर करना इसी विश्वास पर आधारित है कि झाड़ फूंक करने वालों के नियन्त्रण में कोई आधिदैविक शक्ति रहती है। सिद्ध उसे ही माना जाता है जिसको किसी न किसी आधिदैविक शक्ति की सिद्धि है। इस प्रकार की क्रियाओं को मानवशास्त्र में जादुयी क्रियायें (Magical Practices) कहते हैं।

विचारधारा कहीं कहीं दैववादी हो गई।

लेकिन कर्मसिद्धान्त का आधार यह विचार नहीं है कि कर्म दैव का प्रतिफल है। कर्म-सिद्धान्त का आधार यह है कि कर्म ही भाग्य है (भाग्यम् कर्म)।

कर्म और दैव महाभारत में धर्मव्याध के इस कथन का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि दैव सर्वोपरि है और वर्तमान जीवन की गति दैव का परिणाम है जिसे बिना द्वन्द्व के स्वीकार करना मनुष्य का धर्म है। धर्मव्याध का कथन इस विचार का विरोधी है कि कर्म ही भाग्य है। दैव तथा कर्म को लेकर द्विविधापूर्ण विचार व्यक्त किये गए हैं। संस्कृत के प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान कीथ ने कर्मसिद्धान्त को मूलतः दैवपरक (Fatalistic) कहा है और मैक्डानल ने यह कहा है कि आवागमन तथा कर्मसिद्धान्त के सम्मिलित प्रभाव के परिणामस्वरूप व्यक्ति को एक ओर, इस जन्म को पूर्वजन्मों का प्रतिफल मान कर भाग्य पर सन्तोष करने की प्रेरणा मिलती है और दूसरी ओर, इससे क्रियाशीलता शिथिल हो जाती है, संन्यासोन्मुखता बढ़ती है और कर्म आत्ममूलक हो जाता है क्योंकि मोक्ष व्यक्तिमूलक है। इसका परिणाम यह होता है कि अपरपरक गुणों (Other Regarding Virtues) के विकास के लिये बहुत कम की सम्भावना रह जाती है[1]। इसी आधार पर यह भी कहा गया है कि कर्मसिद्धान्त निराशावादी है क्योंकि इसमें व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लिये स्थान नहीं है। संक्षेप में कर्म निराशावादी जीवन का बन्धन है।

राधाकृष्णन के अनुसार, कभी-कभी यह कहा जाता है कि कर्मसिद्धान्त मानव स्वातन्त्र्य का विरोधी है यद्यपि यदि उसका ठीक-ठीक विवेचन किया जाता है तो वास्तविकता कुछ और ही निकलती है। कर्मसिद्धान्त में मानव-स्वातन्त्र्य का विरोध नहीं है। कर्मसिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि प्रकृति ही नहीं वरन् मस्तिष्क और आचार भी व्यवस्थित हैं और यह व्यवस्था उस दिव्य विधान पर आधारित है जिसका संरक्षक तथा निरीक्षक स्वयं सर्वाध्यक्ष (ईश्वर) है। दिव्य विधान की अवहेलना असम्भव है। प्रत्येक कर्म एक अन्य न्याय-तुला पर तुलता है और उसका परिणाम यहीं, इसी जीवन में मिलता है। दिव्य विधान से बंधे होने पर भी कर्मसिद्धान्त, सिद्धान्ततः, व्यक्ति के जन्मजात मानसिक तथा जैविक उपकरणों पर आधारित है क्योंकि कर्मसिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को, अपने मानसिक जैविक उपकरणों के अनुसार, कर्म करने की छूट है। कर्मसिद्धान्त की आधारभूत प्रेरणा यह है कि कभी भी, किसी भी समय, कोई भी व्यक्ति अपने अभ्युदय के लिये प्रयास कर सकता है। कोई भी, पापी हो या धर्मी हो, कभी भी छूट न जाये[2]।

---

1 प्रभु पी० एच० की पुस्तक हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन में से उद्धृत पृष्ठ 43-44

2 एस० राधाकृष्णन दि हिन्दू व्यू आफ लाइफ पृष्ठ 71 72

शौच धर्म के दस लक्षणों में से एक है। जन्म और मृत्यु के अवसर पर किये जाने वाले अनेक कल्प कर्मों (Ritual Acts) की सार्थकता दूषण विचार के सन्दर्भ में ही स्पष्ट होती है। जाति अन्तर्विवाहिकी तथा खानपान के नियमों को भंग करने वाले दूषित हुए माने जाते हैं और उनके लिये अनेक पवित्रकारी कल्प कर्मों का विधान है जिनमें गंगास्नान, गंगाजलपान, गंगाजल से अभिसिंचन, सत्यनारायण तथा भागवत की कथा सुनना मुख्य है।

कुकर्मों से उत्पन्न पाप को धोने का विचार उस वैदिक विचार का ऐतिहासिक प्रतिफल है जिसमें यह माना जाता था कि यज्ञ तप और मनस्ताप से पाप धुल जाते हैं। इसी विचार के आधार पर अनेक पावनकारी कल्पों (Purificatory Rituals) के सामाजिक विधान का उद्भव हुआ है जो करणीय कर्म की श्रेणी में आते हैं। इन सभी कल्पों में यह विचार निहित है कि समान से समान की उत्पत्ति होती है (Like Produces Like)[1], किसी के स्पर्श में रहनेवाली किसी वस्तु या उसके किसी अंग के प्रति किया जाने वाला कार्य, वस्तुतः उसके प्रति किया कार्य है[2] और दैवी शक्ति को नियन्त्रण में लाकर उसके द्वारा मनोवांछित फल प्राप्त किये जा सकते हैं[3]। यह विचार उस प्राचीनतम विचार से उत्पन्न हुआ है जिसमें यह माना जाता था कि मनुष्य को जो कुछ मिलता है देवताओं की अनुकम्पा से मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति को मिलने वाला पाप पुण्य सुख दुःख अच्छा-बुरा पहले ही से निर्धारित है जो उसकी विधि है और उसका भाग्य है। देवों द्वारा निर्धारित भाग ही व्यक्ति का भाग्य है और भाग्य, दिष्ट दिष्ट (देवों द्वारा पूर्वनिर्धारित) है। यहीं से भाग्य, विधि, प्रारब्ध, दैवयोग और मानव जीवन के भूत, वर्तमान तथा भविष्य को प्रभावित करने वाली एक निरीह रहस्यात्मक शक्ति की धारणा के रूप में दैव धारणा का अभ्युदय हुआ जो कर्म की धारणा से मिल गई। फलतः, कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी

---

1 जैसे मिर्जापुर जिले की कोरवा जनजाति के लोग वर्षा लाने के लिये पहाड़ियों पर से बड़े बड़े पत्थरों को इसलिये लुढ़का देते हैं कि पत्थरों की गड़गड़ाहट बादलों की गड़गड़ाहट को आकर्षित करती है और बादलों की गड़गड़ाहट के आने का मतलब है बादलों का तथा वर्षा का आना।

2 नाल (Placenta) गाड़ना और मुण्डन के बालों को गंगा में या किसी नदी में प्रवाहित करना इस विचार पर आधारित है कि नाल या बालों पर पड़ने वाले प्रभाव वस्तुतः बच्चे पर पड़ेंगे। वशीकरण और मारण की तांत्रिक क्रियायें इसी विचार पर आधारित हैं।

3 गंडा तावीज के द्वारा मनोवांछित फल पाने का प्रयास इसी विचार पर आधारित है। *झाड़ फूंक से बीमारी तथा बाधाएं दूर करना इसी विश्वास पर* आधारित है कि झाड़ फूंक करने वालों के नियन्त्रण में कोई आधिदैविक शक्ति रहती है। सिद्ध उसे ही माना जाता है जिसको किसी न किसी आधिदैविक शक्ति की सिद्धि है। इस प्रकार की क्रियाओं को मानवशास्त्र में जादुयी क्रियायें (Magical Practices) कहते हैं।

विचारधारा कहीं कहीं दैववादी हो गई।

लेकिन कर्मसिद्धान्त का आधार यह विचार नहीं है कि कर्म दैव का प्रतिफल है। कर्मसिद्धान्त का आधार यह है कि कर्म ही भाग्य है (भाग्यम् कर्म)।

कर्म और दैव

महाभारत में धर्मव्याध के इस कथन का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि दैव सर्वोपरि है और वर्तमान जीवन की गति दैव का परिणाम है जिसे बिना दुख के स्वीकार करना मनुष्य का धर्म है। धर्मव्याध का कथन इस विचार का विरोधी है कि कर्म ही भाग्य है। दैव तथा कर्म को लेकर द्विविधापूर्ण विचार व्यक्त किए गए हैं। संस्कृत के प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान कीथ ने कर्मसिद्धान्त को मूलतः दैवपरक (Fatalistic) कहा है और मक्डानल ने यह कहा है कि आवागमन तथा कर्मसिद्धान्तों के सम्मिलित प्रभाव के परिणामस्वरूप व्यक्ति को एक ओर, इस जन्म को पूर्वजन्मों का प्रतिफल मान कर भाग्य पर सन्तोष करने की प्रेरणा मिलती है और, दूसरी ओर, इससे क्रियाशीलता शिथिल हो जाती है, संन्यासोन्मुखता बढ़ती है और कर्म आत्ममूलक हो जाता है क्योंकि मोक्ष व्यक्तिमूलक है। इसका परिणाम यह होता है कि अपरपरक गुणों (Other Regarding Virtues) के विकास के लिए बहुत कम की सम्भावना रह जाती है[1]। इसी आधार पर यह भी कहा गया है कि कर्मसिद्धान्त निराशावादी है क्योंकि इसमें व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लिए स्थान नहीं है। संक्षेप में, कर्म निराशावादी जीवन का बन्धन है।

राधाकृष्णन के अनुसार, कभी-कभी यह कहा जाता है कि कर्मसिद्धान्त मानव स्वातन्त्र्य का विरोधी है यद्यपि यदि उसका ठीक-ठीक विवेचन किया जाता है तो वास्तविकता कुछ और ही निकलती है। कर्मसिद्धान्त में मानव-स्वातन्त्र्य का विरोध नहीं है। कर्मसिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि प्रकृति ही नहीं वरन् मस्तिष्क और आचार भी व्यवस्थित हैं और यह व्यवस्था उस दिव्य विधान पर आधारित है जिसका सर्जक तथा निरीक्षक स्वयं कर्माध्यक्ष (ईश्वर) है। दिव्य विधान की अवहेलना असम्भव है। प्रत्येक कर्म एक अमोघ न्याय-तुला पर तुलता है और उसका परिणाम यहीं, इसी जीवन में, मिलता है। दिव्य विधान से बद्ध होने पर भी कर्मसिद्धान्त, सिद्धान्ततः व्यक्ति के जन्मजात मानसिक तथा जैविक उपकरणों पर आधारित है क्योंकि, कर्मसिद्धान्त के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति को, अपने मानसिक जैविक उपकरणों के अनुसार कर्म करने की छूट है। कर्मसिद्धान्त की आधारभूत प्रेरणा यह है कि कभी भी किसी भी समय, कोई भी व्यक्ति अपने अभ्युदय के लिये प्रयास कर सकता है। कोई भी, पापी हो या धर्मी हो कभी भी तर सकता है[2]।

---

1 प्रभु, पी० एच० की पुस्तक हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन में से उद्धृत पृष्ठ 43-44

2 एस० राधाकृष्णन दि हिन्दू व्यू आफ लाइफ पृष्ठ 71-72

कर्मसिद्धान्त में दैव का विचार कर्म की धारणा से बँधा है। कर्म और दैव अन्योन्याश्रित हैं। दैव कर्म का प्रतिफल है न कि कर्म दैव का। बिना कर्म के दैव निष्क्रिय तथा निष्फल हो जाता है। दैव की सिद्धि कर्म से होती है (बिना पुरुषकारेण दैवमत्र न सिध्यति)। महाभारत में युधिष्ठिर के यह पूछने पर कि दैव और कर्म में कौन प्रधान है, भीष्म ने यह उत्तर दिया कि 'पुरुषकार (जिसका आधार कर्म है) बीज के समान है और दैव क्षेत्र के समान और शस्य (फसल) दोनों के प्रभाव का परिणाम है। जिस प्रकार बिना बीज के क्षेत्र (खेत) से फल नहीं उत्पन्न होता उसी प्रकार, बिना कर्म के दैव निष्फल रहता है। दैव पर निर्भर रहने से कुछ नहीं मिलता, सभी कुछ कर्म से ही मिलता है[1]। कर्म के प्रभाव से दैव बड़े ही प्रबल हो उठता है जैसे हवा के प्रभाव से अग्नि और कर्म की अनुपस्थिति में दैव कम ही मन्द पड़ जाता है जैसे बिना तेल के दीपक की लौ। दैव में अपना कोई प्रभुत्व नहीं है। जैसे शिष्य गुरु का अनुसरण करता है, वैसे ही एकत्रित कर्म, दैव से निर्देशित होकर, उसके पौरुष का अनुसरण करते हैं। अतः जहाँ कर्म है, वहीं दैव है। स्वर्ग दैव और कर्म के सम्मिलित प्रभाव से मिलता है।

दैव कर्मसंचय से बनता है और कर्म संचय पूर्वजन्म में भी होता है और इस जन्म में भी। अतः दैव इस जन्म तथा पूर्व जन्म के कर्मों के अधीन है। शुक्रनीतिसार में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जीवन को दैव और कर्म का प्रतिफल माना गया है और कर्म में पूर्वजन्म तथा इस जन्म के कर्मों को सम्मिलित किया गया है। इस जन्म के कर्म भावी प्रारब्ध को बदल सकते हैं। इसलिये शुक्रनीतिसार में कहा गया है कि मनुष्य के कर्म ही अच्छे बुरे प्रारब्ध का कारण बनते हैं। लेकिन, साथ ही साथ, शुक्रनीतिसार में यह भी कहा गया है कि इस जन्म के कर्म अगले जन्म की बौद्धिक तथा अन्य प्रवृत्तियों को निर्धारित करते हैं। इस प्रकार, शुक्रनीतिसार का दैव तथा कर्मसम्बन्धी विचार द्विविधापूर्ण तथा अस्पष्ट है। याज्ञवल्क्य के अनुसार, कर्म सिद्धि पुरुषकार (मानव प्रयास) तथा दैव के बीच व्यवस्थित होती है। दैव पूर्व जन्म के पौरुष की अभिव्यक्ति है। कर्मसिद्धि न केवल दैव से होती है न केवल स्वभाव से न काल (समय) से और न केवल पुरुषकार से। जैसे केवल एक पहिये से रथ नहीं चलता है वैसे ही बिना पुरुषकार (प्रयास) के दैव की सिद्धि नहीं होती है। चूँकि दैव और कर्म परस्पर निर्भर हैं उदार सुकृत कर्मों में लगे रहते हैं और क्लीव कर्म न करके दैव पर निर्भर करते हैं[2]।

---

1 प्रभू पी० एच० वही पृष्ठ 29 30, 37

2 कादर मन कर एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा—तुलसीदास

कर्म सिद्धांत के तीसरे आधार आवागमन के संदर्भ में विचार करने पर कर्म की धारणा अधिक स्पष्ट हो जाती है। आवागमन की धारणा एक ओर नैतिक विचार पर आधारित है और दूसरी ओर आत्मा की अमरता के विचार पर। जो शक्ति है वही परब्रह्म या परमात्मा या ईश्वर है। आत्मा उसका वह अंश है जो देहधारी के रूप में इस संसार में आता है। शरीर नश्वर है और आत्मा अमर है तथा ईश्वर का अंश होने के कारण आत्मा सदैव ईश्वर में मिलने के लिये उन्मुख रहता है। आत्मा की अमरता का विचार कर्म-सिद्धांत का केवल एक आधार है जिसका विकास वैदिक काल में हुआ है। कर्म-सिद्धांत का मुख्य आधार यह विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा को इस जन्म के कर्मों के अनुसार अगले जन्म में सुख या दुःख भोगना पड़ता है जिससे छुटकारा पाने के वैदिक उपाय उपासना और यज्ञ हैं। नियत कर्तव्य कर्म के द्वारा मोक्ष प्राप्ति का विचार इसी वैदिक विचार से निकला है जो गीता में आकर निष्काम कर्म हो गया है। मोक्ष तो वीतराग को मिलता है और जब तक मनुष्य वीतराग नहीं होता है उसे आवागमन से मुक्ति नहीं मिलती है। लेकिन मुक्ति और आवागमन के चक्र के बीच में व्यक्ति अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्म करता है। अच्छे कर्म से सुख भोग मिलता है और बुरे कर्मों से यातना भी। अच्छे बुरे कर्मों के फल को मृत्यु के बाद, मनुष्य स्वर्ग और नरक में भोगता है और बाद में पुनः पुनर्जन्म के द्वारा इस संसार में उसे पूर्वकर्मों के अनुसार जीवन गति मिलती है। गति में जाति आयु और भोग शामिल हैं। गीता में भी यह माना गया है कि गुण स्वाभाविक अथवा जन्मजात होते हैं। कर्म और आवागमन का चक्र तब तक चलता रहता है जब तक कि आत्मा परमात्मा में न मिल जाय। प्रत्येक जन्म मोक्ष की ओर बढ़ने का एक अवसर है क्योंकि प्रत्येक जन्म में पूर्वजन्म के कर्मों के प्रभाव को दूर करके कर्मसंचय को शुद्ध किया जा सकता है। शुद्ध कर्मसंचय के लिए नैतिक कर्म आवश्यक है। कर्मसिद्धांत, इस प्रकार, अधोगति तथा प्रगति दोनों के लिये अवसर प्रदान करता है।

कर्मसिद्धांत, वस्तुतः नियतकर्म (जिसे साधारणतः स्वधर्म कहा गया है) की धारणा और इस अनुभूति पर आधारित है कि व्यक्ति का वर्तमान जीवन (उसका परिवार विशेष में जन्म उसकी वर्तमान सामाजिक प्रतिष्ठा, जाति धन उसके सुख और दुःख) संयोग का परिणाम नहीं वरन उसके पूर्वजन्म के कर्मों का परिणाम है जिसे स्वधर्म पालन के द्वारा सम्मुन्नत बनाया जा सकता है। कर्मसिद्धांत में निहित मान्यता के अनुसार, वर्तमान जन्म पूर्वजन्म के कारण है और इस जन्म के कर्मों की प्रतिक्रिया पूर्वजन्मों के कर्मों पर होता है जिससे नये कर्म अस्तित्व में आते हैं। यह कहना कि वर्तमान जीवन पूर्णतया पूर्वजन्म के कर्मों का परिणाम है और उन्हीं के अनुसार वर्तमान तथा भावी जीवन निर्धारित होता है यह मानना है कि कर्म-सिद्धांत मशीन की भांति कोई अचल और स्वचालित यन्त्र है जो कि वस्तुतः यह नहीं

है। इस मान्यता का यह भी निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य जीवन समुद्र में उठती हुई कर्म की लहरों का वैसे ही दास है जैसे बिना पतवार और माझी की नाव। कर्मसिद्धान्त, वस्तुतः दो नियमों पर आधारित है—पहला, कर्म क्रिया है जिसकी प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक है क्योंकि प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, जो नष्ट नहीं होती। मन, वाक और शरीर से मनुष्य जो कुछ करता है, उसकी प्रतिक्रिया नष्ट न होकर व्यक्ति में ही रहती है। दूसरा, चूंकि कर्म का प्रतिक्रिया नष्ट नहीं होती है प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मों की प्रतिक्रियाओं का वहन करना पड़ता है। अपने कर्मों से उत्पन्न हुई प्रतिक्रियाओं के लिये व्यक्ति ही उत्तरदायी है जैसे अत्यधिक शराब पीने वाले के जिगर की खराबी का उत्तरदायित्व उसी पर है। व्यक्ति को कर्म करने की स्वतन्त्रता है और इस कारण, उसके अच्छे बुरे कर्मों से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं का उत्तरदायित्व भी उसी का है। कर्म से उत्पन्न प्रतिक्रिया को ईश्वर भी मिटा नहीं सकता है और न वह उसका भार वहन कर सकता है। भूलना, क्षमा मांगना तथा क्षमा करना मानवी आचार का नियम है न कि प्रकृति का। कर्म की प्रतिक्रिया का प्रकृति में अमिट छाप पड़ती है, जिसका परिणाम भोगना ही पड़ता है। कर्म की प्रतिक्रिया को भूलने या क्षमा करने का अर्थ यह निकलता है कि मानो कर्म हुआ ही न हो। कर्म करके फिर ऐसा मानना कि कर्म हुआ ही नहीं है, न तर्कसंगत है और न न्यायसंगत। इसीलिए, हिन्दुत्व में न्याय की जो कल्पना की गई है, उसमें 'क्षमा' और पश्चाताप के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रार्थना, ध्यान, पूजा, जप, तप और पश्चाताप केवल विचारों को शुद्ध कर सकते हैं। कर्म से उत्पन्न प्रतिक्रिया पर उनका कोई बल नहीं है। कर्म ही कर्म की प्रतिक्रिया को हटा सकता है। इसीलिये कर्मसिद्धान्त में व्यक्ति ही अपने प्रारब्ध का निर्माता तथा निर्णायक है। कर्मसिद्धान्त ईश्वरीय नियम है।

कर्मसिद्धान्त इस प्रकार, इस मान्यता पर आधारित है कि "प्रकृति में अच्छे बुरे कर्मों से उत्पन्न प्रतिक्रियायें उसके स्वर्ग नर्क के भोग का कारण बनकर उसके पुनर्जन्म को प्रभावित करते हुए उसके जीवन को निर्देशित करने वाली प्रवृत्तियों का अंग बन जाती हैं। कर्म सिद्धान्त में वर्तमान को भूत के आधार पर स्पष्ट करने की प्रवृत्ति रही है जिसके कारण कर्मसिद्धान्त भाग्यवादी प्रतीत होता है। इसका अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कर्म सिद्धान्त में इस जीवन को पूर्व जीवन के कर्म समूह का प्रतिफल माना गया है किन्तु कर्मसिद्धान्त यहीं समाप्त नहीं हो जाता है। कर्म सिद्धान्त के अनुसार पूर्व जन्म में भी व्यक्ति को कर्म की स्वतन्त्रता थी और इस जन्म में भी है। यदि पूर्व जन्म का कर्मसंचय इस जन्म का कारक है तो यह जीवन नये कर्मसंचय का एक सुअवसर भी है जिसका सदुपयोग करने पर उसके कुप्रभावों को दूर किया जा सकता है। कर्म से ही कर्म कटता है। यदि पहला अवसर हाथ से

निकल गया तो वर्तमान क्या निकले ? इस दृष्टिकोण से कर्मसिद्धान्त समाज के नियमानुसार, अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करने के लिये व्यक्ति का एक निरन्तर प्रेरक बन जाता है। कर्मसिद्धान्त का एक पहलू जितना दैववादी है दूसरा पहलू उतना ही आशावादी और प्रगतिवादी। सामाजिक शास्त्रों के अनुसार व्यक्ति के व्यवहार को प्रेरित करने का कर्मसिद्धान्त एक माध्यम है क्योंकि, एक ओर, कर्मसिद्धान्त उत्तरोत्तर विकास की आशा प्रदान करता है और दूसरी ओर, समाज द्वारा नियत स्वरूप की ओर प्रेरित करता है।

दैव इस प्रकार परिवर्तनीय है। दैव कोई पराश्रित नहीं है। दैव बाहर से भी नहीं लादा जाता है। दैव व्यक्ति के कर्मसंचय की उत्पत्ति है। नये कर्मसंचय से दैव को बदला जा सकता है। दैव एक गत्यात्मक धारणा है। नियतकर्म दैव को सुधारने का माध्यम है। नियतकर्म आदर्श है जिसका व्यवहार में लाना वैयक्तिक तथा सामाजिक आदर्श है जिसकी पूर्ति कर्म से ही होती है। 'दैव' 'कर्मसंचय' और 'नियत कर्म' तथा अभ्युदय और निःश्रेयस की धारणायें कर्मसिद्धान्त को गत्यात्मक बना देती हैं क्योंकि संचित कर्मों की प्रतिक्रियाओं के प्रभाव (दैव) का निरन्तर परिमार्जन और परिष्कार कर्मसिद्धान्त का आदर्श है। यहां कर्म ही कर्म का संरक्षक और सुधारक है। दैव कर्म में निहित है न कि कर्म दैव में। कर्मसिद्धान्त यदि वर्तमान को सुनिश्चित बनाता है तो उसे सुधारने की प्रेरणा भी है। कर्मसिद्धान्त से आशावादी और निराशावादी दोनों के प्रकार के निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं और निकाले भी गए हैं। किन्तु दैव और कर्म को लेकर जो विवाद चला है या चलता है वह वैसा ही विवाद है जो मानव-व्यवहार में आनुवंशिकता और पर्यावरण को लेकर चला है। जिस प्रकार आनुवंशिकता और पर्यावरण में से किसी एक को प्राथमिकता नहीं दी जा सकती वैसे ही दैव और कर्म में से किसी एक को प्राथमिकता नहीं दी सकती। दैव बनाम कर्म का प्रश्न ही गलत है क्योंकि दैव व्यक्ति की जन्मजात क्षमताओं का प्रतीक है, दैव व्यक्ति की सामाजिक, जैविक तथा मानसिक परिस्थितियों में निहित है और दैव गति (Condition) है न कि प्रारब्ध। कर्म उन क्षमताओं और परिस्थितियों के अनुसार, जीवन का अभ्युदय और निःश्रेयस की ओर ले जाने का नियत प्रयास है।

४

कर्मसिद्धान्त सामाजिक-ऐतिहासिक पर्यवेक्षण

इतिहास इस तथ्य का प्रमाण है कि कर्मसिद्धान्त भारतीय जन जीवन का प्रेरणा स्रोत रहा है[1]। कर्मसिद्धान्त से विभिन्न सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों में जीवन का सार्थक तथा सोद्देश्य निर्वचन करने में सहायता मिली है और कर्मसिद्धान्त की यही विशेषता उसकी सजीवनी शक्ति रही है। गोखले ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि विपन्न परिस्थितियों में कर्म के दैववादी निर्वचन ने और सम्पन्न परिस्थितियों में प्रगतिवादी तथा आशावादी निर्वचन ने जन जीवन को प्रेरणा दी। कर्मसिद्धान्त के दोहरे निर्वचन की सम्भावना से ही कर्मसिद्धान्त को बल मिला है। कर्मसिद्धान्त के भिन्न भिन्न निर्वचन भारत की सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों की देन है। ऋग्वेद की 'ऋत' धारणा के प्रभाव में कर्म नैतिक उत्तर

---

1 अशोक के शिलालेखों में सत कर्म करने, पापकर्मों से दूर रहने और स्वर्ग नर्क का उल्लेख मिलता है। समुद्रगुप्त के कुछ सिक्कों में यह प्रशस्ति लिखी हुई है कि उसने अपने सुकर्मों से स्वर्ग को जीत लिया है। सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने यह लिखा है कि भारतीय दूसरे लोक में मिलने वाले कर्मफल से भय खाते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के इतिहासकार अलबरूनी ने लिखा है कि कर्म के सम्बन्ध में हिन्दुओं में दो विचार पाये जाते हैं—एक विचार के अनुसार कर्म का स्रोत ईश्वर में है और दूसरे के अनुसार दैव कर्म का आधार है। कर्म की अच्छाई बुराई, कर्म पर निर्भर न होकर, करने वाले की प्रवृत्ति पर निर्भर होती है और कर्मफल या तो इस लोक में मिलता है या परलोक में। अलबरूनी ने उसी कर्मसिद्धान्त का वर्णन किया है जो उपनिषदों में विकसित हो चुका था। सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी इतिहासकार बर्नियर और टवर्नियर ने इस बात का उल्लेख किया है कि हिन्दू आत्मा के आवागमन में विश्वास करते हैं और किसी जानवर को मारना और मांस भक्षण अनुचित मानते हैं। लेकिन, इन इतिहासकारों का यह भी मत है कि निरामिषता का कारण भारत में चरागाहों की कमी है और यदि हिन्दू जानवर मारना और उसका मांस खाना आरम्भ कर दें तो बहुत जल्दी ही सारा पशुधन समाप्त हो जायगा। इन इतिहासकारों ने आत्मा तथा आवागमन के विचारों और मनुष्य, पशु तथा पौधे के रूप में पुनर्जन्म का उल्लेख किया है। उन्नीसवीं शताब्दी में एब डुबायने आवागमन के विचार के पाये जाने का उल्लेख किया है। इस प्रकार, कर्मसिद्धान्त प्रत्येक युग में भारतीय जन-जीवन का प्रेरणा स्रोत रहा है—गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 100–103

दायित्व के रूप में आया। पुरोहितवाद के प्रभाव के साथ-साथ कर्म कल्प और संस्कार के रूप में प्रस्तुत किया गया। लेकिन, पुरोहितवाद के विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया के कारण कर्म की नैतिक धारणा को बल मिला। कर्म की नैतिक धारणा में कर्म के संस्कारी तथा कल्पाचारी पहलू को तब छूट मिली जब पुरोहित तथा क्षत्रिय वर्णों का सम्मिलित प्रभुत्व बढ़ा। इसी संदर्भ में कर्मसिद्धान्त का प्रयोग शूद्रों तथा वैश्यों के निम्न सामाजिक स्तर को सुयुक्तिपूर्ण बनाने तथा उन्हें संतोष दिलाने के लिए किया गया। इस संदर्भ में कर्मसिद्धान्त का दैववादी पहलू पनपा क्योंकि यहाँ कर्म को दुर्भाग्य का एकमात्र कारण माना गया।

यहीं संन्यास और निवृत्ति के भाव कर्मसिद्धान्त से बंध गये। मौर्य-साम्राज्य के अभ्युदय और बुद्धवाद के विकास के साथ-साथ कर्मसिद्धान्त के नैतिक पहलू को प्रमुखता मिली जिससे वैश्य और शूद्र वर्णों को एक नयी प्रेरणा मिली। मौर्यकाल बढ़ते हुए व्यापार का काल है और मौर्यों ने बुद्धवाद को इसलिए अपनाया था कि इससे, एक ओर, उत्पादक वर्णों को प्रोत्साहन मिलता था और दूसरी ओर साम्राज्य को सामाजिक एकता मिलती थी। यहीं कर्म का यह पहलू सामने आया जिसमें मनुष्य का कर्म से भी बढ़कर माना गया है और यह कहा गया कि परस्वार्थ ही कर्म से छुटने का माध्यम है। कर्म के इस विचार में यह भाव निहित है कि कर्म की अच्छाइयाँ और बुराइयाँ दूसरों को हस्तान्तरित की जा सकती हैं। कर्म का यह विचार वैयक्तिक न होकर सामाजिक है और बौद्धों में विकसित हुआ है जिसका प्रमाण बौद्धों की बोधिसत्त्व की कल्पना या अवतारवाद की धारणा, परस्वार्थ निष्काम कर्म तथा ईश्वर की अनुकम्पा के विचार पर आधारित है। स्पष्ट है कि यह विचार शुभ और निरीह है और, साथ ही साथ पूर्णतः वैयक्तिक है। कर्म से मुक्ति पाने के लिए परस्वार्थ-कर्म की धारणा सामाजिकता की भावना से ओतप्रोत है और यही धर्म का आधार है। साथ ही-साथ, यह विचार कि परस्वार्थ कर्म करने वाले को ईश्वर की अनुकम्पा मिलती है भक्ति और प्रपत्ति का आधार बना जिसे मुस्लिम काल की विपन्न सामाजिक परिस्थितियों में अधिक प्रोत्साहन मिला।

कर्म के साथ आवागमन और स्वर्ग तथा नरक के विचारों का सम्मिश्रण तब हुआ जब आर्यावर्त में आर्यों का प्रसार बढ़ा और द्रविड़ आदिवासी समाज विशृंखलित हुआ। संन्यास का प्रभाव तभी छाया जिसका प्रमाण बौद्ध आन्दोलन है। बौद्ध आन्दोलन की प्रतिक्रिया। विचार टिक न पाया क्योंकि बौद्ध भिक्षु को गृहस्थ और वैश्य की आवश्यकता थी। बिना उनके सहयोग के भिक्षु का जीवन ही असम्भव था। अन्तरंग में पुनर्जन्म के विचार से बुद्धवाद को जनप्रियता मिली। मौर्य-साम्राज्य का पतन दो कारणों से हुआ—विदेशियों के आक्रमण और कर की ऊँची दर जिससे असन्तोष फैला। बौद्धवाद के बाद ब्राह्मणवाद का पुनरोदय हुआ जिससे नई आर्थिक व्यवस्था के आदर्शों को अभिव्यक्ति मिली। पहली शताब्दी के बाद से गुप्त-साम्राज्य

के अन्त तक, वैष्णव तथा शैव पन्थों को जनप्रियता मिली जिसे गुप्त सम्राटों ने प्रोत्साहित किया। इसी युग की समाप्ति तक, कर्मसम्बन्धी पौराणिक तथा वेदान्ती विचारों के सम्मिलन से, कर्मसिद्धान्त का अन्तिम रूप विकसित हुआ। पुराणों में ही कर्म और दैव की धारणाओं का गठबन्धन हुआ जिससे वैयक्तिक-सामाजिक जीवन में, एक ओर, कर्मसिद्धान्त वर्तमान को पूर्व जन्म का परिणाम मानने के लिए सन्तोष का साधन बना और, दूसरी ओर उस परिणाम से मुक्ति पाने की आशा का साधन। पश्चिम के प्रभाव के कारण कर्मसिद्धान्त से दैववादी विचार को पुनः अलग किया गया जिसका प्रमाण गीता पर लिखे गांधी और तिलक के भाष्य हैं। राधाकृष्णन के निर्वचन में कर्म आध्यात्मिक आवश्यकता है। कर्मसिद्धान्त ईश्वरीय नियम है, दैव केवल परिस्थिति है। किन्तु, कर्मसिद्धान्त का यह निर्वचन केवल बौद्धिक वर्ग तक ही सीमित है। ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में, कर्मसिद्धान्त में गत्यात्मक तथा दैववादी विचारों का समन्वय हुआ है और विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार कहीं दैववादिता को प्रधानता दी गई है तो कहीं गत्यात्मकता का।

धर्म, जैसा कि पिछले वर्णन में स्पष्ट है, व्यक्ति तथा समाज का आधार है। धर्म कर्म का आधार है जिसके कारण व्यक्ति और समाज प्रत्यक्षतः धर्म से बंधे हुए हैं। आश्रम, परिवार, कुल, वर्ग और जाति व्यक्ति के सामाजिक जीवन को नियमित करते हैं और ये सभी धर्म पर आधारित हैं। हिन्दू सामाजिक संगठन में परिवार, कुल, आश्रम-व्यवस्था, वर्ग, जाति और ग्राम सामाजिक संगठन के बहुमुखी अंग रहे हैं जिन्हें धर्म पर आधारित किया गया है। व्यक्ति का प्रत्यक्ष उत्थान इन सामाजिक संगठनों से रहा है। इन संगठनों में उत्थान व्यवस्था समाज का स्तर है। लेकिन, इस व्यवस्था में ऊपर भी एक स्तर है जो राज्य तथा साम्राज्य का स्तर है। राज्य तथा साम्राज्य का स्तर राजनीतिक-सामाजिक संगठन का स्तर है। परिवार, कुल, वर्ग, जाति और ग्राम व्यक्ति तथा राज्य और साम्राज्य के बीच में स्थान हैं। राज्य और साम्राज्य समाज के वैसे ही अंग हैं जैसे कि परिवार, कुल, वर्ग, जाति और ग्राम। समाज का आधार धर्म है। अतः, समाज के अंगों—परिवार, कुल, वर्ग, जाति, ग्रामीण सामाजिक संगठन, राज्य और साम्राज्य—का आधार भी धर्म को माना गया है। राज्य और साम्राज्य का सामाजिक कार्य है व्यवस्था बनाए रखना—वह व्यवस्था जिसका

आधार धर्म है। धर्म की रक्षा, धर्मानुसार सामाजिक व्यवस्था को ढालना और बनाए रखना, सम्राट तथा राज्य का नियत कर्तव्य है। धर्म की अवहेलना राज्य को ही नहीं, सम्राट को भी छिन्न भिन्न कर सकती है, क्योंकि धर्म उसी की रक्षा करता है जो धर्म की रक्षा करता है। धर्म वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन का ही नहीं वरन् सारे ब्रह्माण्ड का आधार है। अतः, धर्म, राज्य और सम्राट का भी आधार है जिसकी रक्षा करना राज्य तथा सम्राट के लिए उसी तरह आवश्यक है जैसे कि व्यक्ति के लिए। धर्मपालन तथा धर्मरक्षा ही राज्य का एकमेव कर्तव्य कर्म है—केवल कर्तव्य कर्म ही नहीं, धर्म है। राज्य तथा सम्राट की सत्ता का आधार निरीह शक्ति नहीं धर्म है और धर्मानुसार राज्यकर्म ही राजधर्म है।

धर्म की धारणा से हिन्दू का सम्पूर्ण जीवन आवृत्त है। सम्भवतः, इसी कारण हिन्दू राजनैतिक विचार भी धर्म की धारणा के आधार पर विकसित हुआ है। विधि (Law) और शक्ति (Force) राज्य के दो मुख्य अंग हैं जिनका निरूपण धर्म के आधार पर किया गया है। धर्म का सम्बन्ध समाज और इहलौकिक जीवन से होने के साथ साथ रहस्यात्मक दिव्यशक्ति से भी है। जो कुछ धर्ममय है या धर्म पर आधारित है, वह दिव्य है, वह रहस्यात्मक दिव्यशक्ति से प्रेरित है। राज्य, सम्राट, विधि और दण्ड भी, इस कारण, दिव्यशक्ति से प्रेरित हैं। सम्राटत्व सम्राट में दिव्य की अभिव्यक्ति तथा विभूति है। दण्ड और विधि का आधार भी वही रहस्यात्मक दिव्यशक्ति धर्म है। हिन्दू विचारधारा में राज्य केवल राज्य नहीं वरन् धर्म राज्य है और राजा केवल राजा नहीं वरन् राजर्षि है। राजा जनक का उदाहरण इसका प्रमाण है। राजा जनक को विदेह कहा गया है क्योंकि राजा होते हुए भी वह संन्यासी और योगी थे। शतपथ ब्राह्मण में सम्राट को प्रजापति का प्रतिनिधि कहा गया है।

धर्म राज्य का आधार

राजधर्म की धारणा का विकास वैदिककाल से मिलता है। ऋग्वेद में विधि और नियम के लिए 'व्रत' शब्द का प्रयोग आया है। इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि विधि व्रत है और व्रत व्यक्ति का नहीं वरन् राज्य का है। धर्म की रक्षा करना सम्राट का मुख्य कर्तव्य है यह विचार वैदिककाल में ही अस्तित्व में आ चुका था। शतपथ ब्राह्मण में धर्म की रक्षा करना राजा का धर्म माना गया है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में कहा है कि आदर्श सम्राट अपनी प्रजा के सुख को अपना सुख समझता है और प्रजा का सुख धर्मपालन से ही प्राप्त किया जा सकता है। आदर्श राज्य वही है जो धर्म की बहुमुखी गरिमा की रक्षा करे। राज्य का कर्तव्य धर्म के साथ साथ अर्थ और काम के आदर्शों को कायम रखना है क्योंकि, जैसा कि निम्न कथन से स्पष्ट है, धर्म, अर्थ और काम सामाजिक व्यवस्था के आधार हैं। बौद्ध ग्रन्थों में, इसलिए, धर्म को दण्ड से श्रेष्ठ माना गया है। सामाजिक व्यवस्था निरीह दण्ड के प्रयोग से नहीं

वैदिक काल में राजधर्म

वरन् धर्मपालन से बनती है। इसीलिए, कौटिल्य के अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्रों में राजधर्म के अन्तर्गत, एक ओर, जनरक्षा के कार्य को रखा गया है और, दूसरी ओर, वर्णाश्रम-व्यवस्था की आधारभूत संस्थाओं में व्यवस्था बनाए रखने को। वर्ण-व्यवस्था की रक्षा राजधर्म का मुख्य अंग माना गया है। राजधर्म में वर्ण-व्यवस्था की रक्षा का विचार इतना व्यापक रहा है कि इस्लामी राजनैतिक विचार में भी इसका समावेश हुआ। आईने अकबरी में अबुल्फज़ल ने भी वर्ण व्यवस्था की रक्षा राज्य का मुख्य कर्तव्य माना है। कौटिल्य ने राजधर्म को धर्म माना है और सम्राट को धार्मिक[1]।

धर्म राज्य के ऐतिहासिक प्रमाण

राजकाज का आधार धर्म है और धर्म के ही आधार पर राज्य का संगठन होना चाहिए इसके भारतीय इतिहास में अनेक प्रमाण मिलते हैं। राजकाज में धर्म का पालन करने के कारण ही युधिष्ठिर को धर्मराज कहा गया है। सम्राट अशोक पहला ऐतिहासिक शासक है जिसने राज्यतन्त्र को धर्म का आधार प्रदान करने का सफल प्रयास किया। यह राजनीति को धर्म में ढालने का ही परिणाम था कि अशोक ने सैनिक विजय के स्थान पर धर्म विजय की धारणा रखी। उसने अपने राज्य में स्तम्भों और चट्टानों पर नैतिकता के नियम खुदवाए ताकि जनजीवन का संगठन नैतिकता के आधार पर हो सके। धर्म महामात्रों की नियुक्ति करके अशोक ने जनता में धर्म प्रसार को प्रोत्साहन देने का प्रयास किया। संयम, दया, उदारता, सत्यता, पवित्रता, बड़ों तथा धार्मिक पुरुषों के प्रति सम्मान, अपने पर निर्भर तथा असहाय व्यक्तियों के प्रति सहृदयता का व्यवहार, आत्म परीक्षण करना, सहनशीलता और अहिंसा तथा सबके लिए समान न्याय अशोक ने धर्म के अन्तर्गत रखा है। समुद्रगुप्त ने, एक ओर असुर विजय को अपनाया और, दूसरी ओर, धर्म विजय को। इलाहाबाद के किले के स्तम्भ में खुदे हुए लेख में समुद्रगुप्त को धर्मराज कहा गया है क्योंकि उसमें ब्राह्मण तथा दीन को दान देने की रुचि थी, वह शिक्षा तथा कला का संरक्षक था और धार्मिक कृत्यों तथा धर्मग्रन्थों के प्रति उसकी निष्ठा थी—संक्षेप में वह धर्म के उच्च आदर्शों से प्रेरित था। इसी प्रकार, सम्राट हर्ष ने भी धर्म को राजकाज का माध्यम बनाया। जैसा कि ह्वेनसांग ने लिखा है, हर्ष ने दुष्टों को दण्डित किया, सज्जनों को प्रतिष्ठित किया, अपराधियों को निष्कासित किया और विद्वानों को संरक्षण दिया[2]।

अकबर ने भी राजकाज में इन्हीं नियमों के पालन करने का प्रयास किया। यह धर्म की ही परम्परा के प्रभाव का परिणाम था कि अकबर ने सभी सम्प्रदायों के प्रति समानता का भाव रखा। यह पहले ही कहा जा चुका है कि आईने अकबरी में अबुल

---

1 गोखले बी० जी० वही पृष्ठ 43

2 वही पृष्ठ 16

फजल ने चार वर्णों की रक्षा को राज्य का एक मुख्य कर्तव्य माना है, जो राजधर्म की परम्परा के प्रभाव का प्रतीक है। आगे चलकर, सत्रहवीं शताब्दी में, शिवाजी ने महाराष्ट्रधर्म के आदर्श को सामने रखकर अपने राज्य को संगठित किया। युग-युग से चली आती हुई राजधर्म की धारणा का ही यह प्रभाव है कि महात्मा गांधी ने क्रान्तिकारी आन्दोलन की भर्त्सना की और राष्ट्रवादी राजनीति तथा स्वातन्त्र्य संग्राम को धर्म का जामा पहनाकर, नैतिकता का आधार प्रदान किया। महात्मा गांधी का यह कहना कि साधन उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि साध्य, राजधर्म की धारणा में निहित प्रेरणा का परिणाम है। राधाकृष्णन के अनुसार, जहां धर्म का आधार धर्म है वहां लौकिक (Secular) तथा अलौकिक का अन्तर समाप्त हो जाता है। राज्यकार्य में भी लौकिक तथा अलौकिक का भेद सार्थक नहीं है क्योंकि राज्य का आधार नैतिकता होनी चाहिए। राज्य नैतिकता से परे नहीं है। राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के कल्याण के लिए है। अतः राज्य को व्यक्ति से त्याग मांगने का कोई अधिकार नहीं है। हां, राज्य को उन परिस्थितियों को लाने का अधिकार अवश्य है जिनसे उसको अपना उद्देश्य पूरा करने में सहायता मिले[1]। राधाकृष्णन् ने इसी तथ्य पर जोर दिया है कि सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक क्रियाओं का आधार नैतिकता होनी चाहिए।

इस प्रकार, भारत की विशेषतया हिन्दू राजनैतिक विचारधारा में, धर्म की रक्षा के लिए राज्य का नितान्त आवश्यक माना गया है और राज्यकाज के लिए सम्राट का आवश्यक माना गया है। लेकिन राज्य और सम्राट निरंकुश नहीं हैं क्योंकि राज्य और सम्राट के अस्तित्व का आधार धर्म है और धर्म पालन तथा धर्म की रक्षा उनका व्रत है। धर्म का अधिकारी सम्राट नहीं पुरोहित है। धर्म निरूपण सम्राट का कार्य न होकर पुरोहित तथा आचार्यों का कार्य है। इसीकारण राज्य और सम्राट का अस्तित्व एक ओर है और धर्म का निरूपण करने वाले आचार्यों का अस्तित्व एक ओर। श्रुति और स्मृति धर्म के आधार हैं जिनका निरूपण उन आचार्यों के द्वारा हुआ है जो राज्यसत्ता के अधिकारी नहीं रहे हैं। भारत में चर्च जैसा संगठन विकसित नहीं हुआ जिसके कारण यहां धर्माधिकारियों तथा राज्यसत्ता के अधिकारियों का वह संघर्ष अनुपस्थित रहा है जो योरोप के ईसाई चर्च के अधिकारियों में रहा है। इस्लाम की भांति यहां उन अन्तिम विधियों (Final Laws) का भी निरूपण नहीं हुआ क्योंकि यहां धर्म को देश काल की मर्यादाओं के अनुसार निरूपित करने का विचार रहा है। इसकारण यहां वह संघर्ष भी नहीं मिलता है जो मुस्लिम काल में बादशाहों और उलेमाओं में देखने को मिलता है और जिसका वर्णन भारतीय संस्कृति में इस्लाम के विश्लेषण के सम्बन्ध में किया जाएगा। यहीं

राज्य
धर्म का रक्षक

[1] राधाकृष्णन एस० ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थाट पृष्ठ 360

कारणों का परिणाम है कि भारत के राजतन्त्र में थियाक्रेसी (Theocracy)[1] के विचारों का अभाव रहा है। जैसा कि प्रागैतिहासिक मिश्र में पाया गया है भारत में सम्राट और पुरोहित एक में नहीं मिले हैं। यहाँ सम्राट और पुरोहित अलग अलग रहे हैं जिसके कारण राजतन्त्र निरंकुशता के दुष्परिणामों से बचा रहा है। धर्म को राज्य का आधार बनाने के कारण जहाँ सम्राट और राजतन्त्र निरंकुशता से बचे रहे हैं वहाँ राज्यशक्ति और उसके प्रयोग में नैतिकता का, धर्म और सम्राट भी समावेश हुआ है। राज्य तथा सम्राट के अस्तित्व का आधार धर्म है इस विचार के कारण धर्मशास्त्रों, श्रुतियों, स्मृतियों तथा नीतिशास्त्रों में राज्य तथा सम्राट के अधिकारों तथा कर्तव्यों को निरूपित करने का बराबर प्रयास मिलता है। उदाहरणार्थ विष्णुधर्मशास्त्र में यह कहा गया है कि सम्राट का मुख्य कर्तव्य दुराचारी को दण्ड देना तथा साधु और धर्मात्माओं का सम्मान प्रदान करना है क्योंकि इसलिए उसे दण्ड देने की सत्ता मिली है[2]। कौटिल्य ने दण्ड को प्रशासन का आधार माना है। उसके अनुसार समाज की प्रगति का आधार है और जन नियन्त्रण के लिए दण्ड से बढ़कर और कोई माध्यम नहीं है। लेकिन साथ ही साथ कौटिल्य ने यह भी कहा है कि निरीह दण्ड जनविद्रोह का प्रेरणा देता है और हल्का दण्ड देने वाले के प्रति, विद्रूप का जन्म होता है। आदरणीय कहा होना चाहिए जो लोग उचित हो वैसा दण्ड देता है। उचित दण्ड से लोग सद्व्यवहार की ओर प्रेरित होते हैं और उन उपयुक्त कार्यों में लगते हैं जिनसे धन तथा भोग्य वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। ... अज्ञान के कारण दण्ड का प्रयोग लाभ और क्रोध पर आधारित होता है तो मुश्किल में हो न। वरन साधु और ... प्रतिक्रिया और न्याय का प्रादुर्भाव मिलता है। कौटिल्य के मत से ... भी यह स्पष्ट होता है कि दण्ड एक दोधारी तलवार होती है जिसका बाहुबल ... भी भिन्न समझता है जब उसका प्रयोग नैतिकता पर आधारित हो[3]।

---

1 थियोक्रेसी [redacted] ऐसा राज्य ... ... है जिसमें ईश्वर को राजतन्त्र की सर्वोच्च सत्ता माना जाता है और राज्य के ... को दिव्य शासन माना जाता है। राज्य के नियम मानवकृत न होकर ईश्वरकृत ... जाते हैं क्योंकि सर्वोच्च शासक सम्राट न होकर ईश्वर होता है। ... राजतन्त्र में पुरोहित वर्ग स्वभावतः उस ... शासक के पदाधिकारी समझे जाते हैं। पाकिस्तान का संविधान इसका उदाहरण है। ... जो राज्य ... में भारत के राजतन्त्र का आधार ईश्वर ... जो ... ता ... था एक ... भारत को दारुल इस्लाम न मानकर दारुल हरब मानता था।

2 गोयल डा० ओ० ... वही पृ० 5 ॥

3 वही ... पृष्ठ 1 9

बौद्ध ग्रन्थों में इस तथ्य पर जोर दिया गया है कि धर्म शासकों का भी शासक है और दण्ड का आधार निरीह शक्ति नहीं वरन् धर्म है। बौद्धग्रन्थों में धर्म को वह परम्परा माना गया है जो न्याय, निष्पक्षता और परोपकारिता पर आधारित है। राजधर्म के आधार अर्थ, धर्म, काल, मात्रा और परिषद् हैं जिसका तात्पर्य यह है कि राजधर्म का उद्देश्य है अर्थ की साधना, धर्मपालन, समयानुसार उचित मात्रा में दण्ड का प्रयोग और राजधर्म को लागू करने के लिए परिषद् की आवश्यक मन्त्रणा का पालन। धर्म को बौद्धों ने सत्य का प्रतीक माना है। राजधर्म की धारणा में इस प्रकार, धर्म और दण्ड के सिद्धान्त एक में मिल गए हैं जिसके कारण राजधर्म में, विशेषतया दण्ड के उपयोग में, नैतिकता का समावेश हुआ है। इस कारण राजधर्म में दण्ड केवल निरीह राजनैतिक शक्ति और राज्य एक निरुद्देश्य प्रशासक संगठन होने से बचे हैं और सम्राट की निरंकुशता पर रोक लगी रही है। यही कारण है कि हिन्दू राजनैतिक विचारधारा में व्यक्ति को वहाँ राज्य तथा सम्राट के प्रति विद्रोह करने का अधिकार मिला हुआ है जहाँ राज्य तथा सम्राट धर्म के पथ से डिग चुके हैं। इसी कारण, महाभारत का युद्ध धर्मयुद्ध है और कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र है। गुरु रामदास ने शिवाजी को अधर्म के प्रति लड़ने की सलाह दी थी न कि औरंगजेब के प्रति। देवासुर संग्राम की कल्पना का सम्बन्ध भी अधर्म के प्रति धर्म संग्राम और धर्म की अन्ततोगत्वा विजय से है। कोई आश्चर्य नहीं यदि वर्तमान भारत में भारत चीनी युद्ध को देवासुर तथा अधर्म के प्रति धर्म का संग्राम कहा गया है।

राजधर्म और प्रथा

राजतन्त्र को धर्मप्रधान मानने के विचार से हिन्दू राजनैतिक संगठन में उन अनेक समाजशास्त्रीय तथ्यों का प्रस्फुटन हुआ है जो भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग बन गये हैं। राजतन्त्र में धर्म के नैतिक तथा सामाजिक पक्षों के समन्वय का प्रयास किया गया है। राजतन्त्र में धर्म के सामाजिक पक्ष का निर्वचन परिवार, कुल, जाति, वर्णाश्रम-व्यवस्था, क्षेत्रीय प्रथाओं, युग मर्यादाओं और मानवता के उन नियमों के रूप में किया गया है जिनका निरूपण श्रुतियों और स्मृतियों में हुआ है। श्रुतियाँ और स्मृतियाँ प्रथाओं पर आधारित रही हैं। अतः, राजतन्त्र में धर्म का आधार प्रथा रही है। यही कारण है कि धर्मग्रन्थों में विरोधी प्रथाओं का उल्लेख मिलता है और इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि राज्य प्रशासन में प्रथा विधि से भी शक्तिशाली है। *राष्ट्रीय समाज की सामाजिक सांस्कृतिक विजातीयता को ही इसका कारण माना जा* सकता है। भारत प्रारम्भ से ही जातियों और गणजातियों का देश रहा है और प्रत्येक जाति तथा गणजाति के अपने सामाजिक-सांस्कृतिक नियम रहे हैं। इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय संस्कृतियाँ रही हैं। धर्मग्रन्थ इन विजातीयताओं में सजातीयता लाने का प्रयास हैं और यही प्रयास हिन्दू सामाजिक संगठन का आधार रहा है। लेकिन यह सजातीयता न तो किसी सम्प्रदाय द्वारा थोपी गई है और न किसी राज्य द्वारा। ऐसी दशा में

सामाजिक जीवन के आधारभूत नियम के रूप में प्रथा को ही प्रमाण मानने की परम्परा रही है। इसी कारण भारत में उस राजनैतिक विचारधारा का अभ्युदय हुआ है जिसमें यह माना गया है कि प्रजा की प्रथाओं के अनुसार प्रशासन करना ही सम्राट का धर्म है। जातियों और जनजातियों के नियमों के अनुसार प्रशासन करना और विभिन्न जातियों तथा जनजातियों के नियमों को लागू करना राज्य का धर्म माना गया है। मुस्लिम तथा अंग्रेज शासकों ने भी इस नियम की अवहेलना नहीं की है। अंग्रेजी राज्यकाल में जब स्वीय विधि (Personal Law) को लिपिबद्ध करने का प्रश्न उठा तब यही नियम मान्य ठहराया गया कि जहाँ धर्मग्रन्थों में मतभेद हो वहाँ प्रथा ही निश्चित वैधिक प्रमाण है। भारत में सर्वव्यापिनी सत्ता का श्रीगणेश अंग्रेजी राज्यकाल में हुआ है। प्रथा की सर्वोपरिता का ही यह परिणाम है कि भारतीय सामाजिक विधान प्रणाली एक ओर जटिल है और दूसरी ओर अधिकतर सामाजिक विधान प्रणाली में प्रथा को सामान्य विधि का अपवाद माना गया है। प्रथायें वैधिक अपवाद को भी उतना ही वैधिक प्रमाण माना गया है जितना कि किसी निरूपित विधि को। हिन्दू विवाह अधिनियम (1954) इसका प्रमाण है। इस अधिनियम के अनुसार बहुपतीत्व अमान्य है लेकिन जौनसारबावर में बहुपतीत्व मान्य है क्योंकि वहाँ की प्रथा के अनुसार बहुपतीत्व वहाँ के सामाजिक जीवन का आधार है। इस अधिनियम के अनुसार सगोत्र विवाह वहीं वैध है जहाँ प्रचलित प्रथा में इसका विरोध न हो।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि विजयनगर के हिन्दू राजाओं ने अपने लिए 'जातिसरक्षक' (Maintainer of Castes) की उपाधि ग्रहण की थी[1]। सम्राट के जातिसरक्षक होने का तात्पर्य है जातिगत प्रथाओं की रक्षा करना तथा उनको लागू करना। इसी दशा में जाति तथा जनजाति पंचायतों का महत्त्व स्वतः बढ़ जाता है। जाति तथा जनजाति पंचायत और ग्रामपंचायत राज्य तथा व्यक्ति के बीच में, अन्तर्वर्ती सामाजिक क्षेत्र (Buffer Social Zone) के रूप में रही हैं। विभिन्न जातियों तथा जनजातियों के बीच में व्यवस्था बनाये रखना और आश्रम तथा वर्णों के नियमों को व्यवस्थित रखना राज्य का मुख्य कर्तव्य रहा है। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि विभिन्न जातियों, जनजातियों तथा वर्णों के स्वधर्म की रक्षा करना और उन्हें व्यवस्थित रखना राज्य का मुख्य कर्तव्य रहा है। प्रथा को प्रमाण मानते हुए राजधर्म की धारणा के अनुसार राज्य का मुख्य कर्तव्य है जीवन के तीन प्रमुखों—धर्म, अर्थ और काम (जिसमें परिवार, जाति, आश्रम और वर्ण की व्यवस्था आ जाती है) को व्यवस्थित रखना। हिन्दू सामाजिक संगठन की धारणा में राज्य का स्थान अराजकता और अव्यवस्था के बारे में आता है क्योंकि राज्य का मुख्य कर्तव्य अरा

1 गोखले बा० गो० वही पृष्ठ 172

जकता को रोकना और वर्णाश्रमी व्यवस्था और वैयक्तिक, साम्पत्तिक तथा सस्थायी सुरक्षा को बनाये रखना है। मोक्ष का सम्बन्ध व्यक्ति से है। अत, मोक्ष राजधर्म के क्षेत्र से बाहर है।

हिन्दू राजनैतिक व्यवस्था की धारणा में राज्य तथा सम्राट के दो पहलू हैं—एक पहलू है धर्म, अर्थ तथा काम की व्यवस्था के सरक्षक का, स्वधर्म के परिपोषक का और परोपकारी कृपालु का और दूसरा, जो केवल व्यवस्था का माध्यम है और अराजकता का अवरोधक है, जिसका कर्तव्य उन प्रथाओं को लागू करना है जिनका व्यक्ति परिवार, जाति, वर्ण, आश्रम, ग्रामीण सामाजिक सगठन और धनोपार्जन में पालन करता है। व्यक्ति का राज्य से वहीं तक सम्बन्ध है जहाँ तक अर्थ और काम की व्यवस्थित साधना का सम्बन्ध है। वैयक्तिक जीवन के उच्चतम उद्देश्य मोक्ष से राज्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। साथ ही साथ व्यक्ति का राज्य से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है क्योंकि राज्य का मुख्य कर्तव्य है—कुलधर्म, जातिधर्म, वर्णधर्म तथा सक्षेप में स्वधर्म को व्यवस्थित करना। व्यक्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध परिवार, जाति तथा ग्राम से है क्योंकि वही उसके सामाजिक जीवन तथा अस्तित्व की परिसीमायें हैं। ऐसी दशा में, राज्य व्यवस्था में दो प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन होता है—एक राज्य समाज का केन्द्र है और जनकल्याण का मुख्य माध्यम है। उसका अस्तित्व परोपकारार्थ है अत, उसके अधिकार असीमित हैं और दूसरे उसके अधिकार वहीं तक सीमित हैं जहाँ परिवार, जाति, वर्ण, आश्रम व्यवस्था और ग्रामसगठन के अधिकारों का अन्त होता है। इसलिए राजतन्त्र में दो परम्परायें मिलती हैं। एक ओर राज्य का सम्बन्ध सम्पूर्ण मानव जीवन से है—सभी कुछ उसके कर्तव्य तथा अधिकार क्षेत्र में आता है। राजधर्म में परोपकारिता के विचार ने राज्य को वे सभी अधिकार तथा कर्तव्य दिये हैं जो जनकल्याण के लिए आवश्यक हैं लेकिन, दूसरी ओर सामाजिक व्यवस्था (परिवार, जाति और ग्राम) के कारण उसके अधिकार सीमित हैं। अत परोपकार और अपरिग्रह राज्यधर्म के दो मुख्य आधार हो जाते हैं लेकिन उनका विस्तार वहीं तक है जहाँ से परिवार, जाति, ग्राम, वर्ण तथा आश्रम की सीमायें प्रारम्भ होती हैं। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि भारत में जनहितार्थ व्यवस्था बनाये रखने के लिए राज्य ने एक सस्था के रूप में वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के सभी अगों को व्यवस्थित किया है और दूसरा इन व्यापक कार्यों के बावजूद भी राज्य कभी भी निरकुश अधिनायकतन्त्र का रूप न ले सका। बहुधा यह प्रश्न उठाया जाता है कि जहाँ राज्य सर्वस्व है और इस कारण उसे असीमित अधिकार मिल जाते हैं वहाँ क्या व्यक्ति स्वातन्त्र्य रह सकता है? अल्तेकर के मत में प्राचीन भारत में राज्य समाज का केन्द्र और जनकल्याण का मुख्य माध्यम समझा जाता था जिसके कारण राज्य कार्य क्षेत्र काफी विस्तृत था। लेकिन इसका व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि राज्य के बहुमुखी कार्य मुख्यतः राज्य के नौकरशाही द्वारा हो नहीं

होते थे[1]।

धर्म के आधार पर प्रथा को राज्यतन्त्र और सामाजिक व्यवस्था का आधार मानने का एक और परिणाम निकला। राजधर्म के निरूपण में जहां तक दण्ड और न्याय के लागू करने का प्रश्न है, हिन्दू विचारकों ने समता सिद्धान्त (The Principle of Equity) को स्वीकार किया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कौटिल्य ने इस बात पर जोर दिया है कि दण्ड अपराध के अनुकूल होना चाहिए। दण्ड को अपराध के अनुकूल बनाने के सिद्धान्त में समता सिद्धान्त निहित है। लेकिन इस सिद्धान्त का व्यावहारिक पक्ष प्रथा पर आधारित था। इसलिए व्यवहार में समता सिद्धान्त अव्यवहार्य ही रहा। प्रथा के आधार पर वर्ण व्यवस्था का जो रूप विकसित हुआ वह वर्ण व्यवस्था के सैद्धान्तिक रूप से भिन्न रहा है। जैसा कि वर्ण के निरूपण के सम्बन्ध में स्पष्ट किया गया है सिद्धान्ततः सभी वर्णों को समान माना गया है यद्यपि व्यवहार में विभिन्न वर्ण असमान रहे हैं। वर्णव्यवस्था का अर्थ है एक उच्चोच्च परम्परा प्रणाली में बंधे विभिन्न समूह जिनका सामाजिक स्तर मूलतः असमान है। राजधर्म का उद्देश्य माना गया है विभिन्न वर्णों और उनकी प्रथायी व्यवस्था को बनाए रखना, जिसका व्यावहारिक निष्कर्ष निकलता है वर्ण रचना की उच्चनीच परम्परा में निहित प्रथायी असमानताओं को व्यवस्थित ही नहीं करना वरन् उन्हें बनाए भी रखना। उदाहरण हिन्दू दण्ड विधान में विभिन्न वर्णों के समान अपराध के लिए अलग अलग दण्डों का विधान मिलता है। जिस प्रकार, महाराष्ट्री न्यायिक व्यवस्था में मुसलमान के प्रति काफिर की साक्षी (गवाही) मान्य न थी उसी प्रकार प्रथायी हिन्दू-न्याय-व्यवस्था में ब्राह्मण के विरुद्ध शूद्र की साक्षी अमान्य है। इस परम्परा का यह भी परिणाम है कि परम्परागत हिन्दू राजनीतिक व्यवस्था में शूद्र एक प्रकार का अधिकारहीन नागरिक रहा है और शूद्र को अनेक अधिकारों से वंचित रखा गया है। रामायण में यह कथा आई है कि अवतार रामचन्द्र ने उस शूद्र का वध कर दिया था जो तपस्वी अपना जीवन व्यतीत कर रहा था क्योंकि परम्परानुसार तप उच्चवर्णियों विशेषकर ब्राह्मणों का अधिकार है न कि शूद्रों का। यहीं से भारत की उन तमाम निर्योग्यताओं का जन्म हुआ है जिन्हें आज हम विधि-विधान और समाज-सुधार द्वारा दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

---

1 अल्टेकर ए० एस० स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एन्शियण्ट इंडिया पृष्ठ ७३ राज्य के। यह परम्परा आज भी कायम हुई है। भारत के संविधान में जाति व्यवस्था को जड़ से उखाड़ने का मुख्य साधन माना गया है लेकिन साथ ही-साथ यह भी स्वीकार किया गया है कि राज्य को निरंकुश अधिनायकवाद न नहीं बनाना है और इसके लिए ग्राम पंचायतों और सत्ता विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त का माध्यम अपनाया गया है।

समता का सिद्धान्त नया नहीं पुराना है, जो हिन्दुत्व में ही नहीं वरन अन्य सामाजिक-धार्मिक प्रणालियों में भी पाया गया है। लेकिन, उसे व्यावहारिक जामा पहनाने का आन्दोलन नया है, जिसकी उत्पत्ति यारोप के सुधार आन्दोलन के युग में हुई है। इसी आन्दोलन के प्रभाव के परिणामस्वरूप वर्तमान भारत में समता सिद्धान्त को स्वीकार करके उसे वधिक-व्यावहारिक आधार प्रदान किया गया है।

राज्योत्पत्ति के सिद्धान्त

राजधर्म की धारणा में इस प्रकार राजसत्ता का आधार प्रथा है। प्रथा से ही राजसत्ता की सीमायें और परिसीमायें निर्धारित होती हैं। महाभारत स्मृतियों और नीतिशास्त्रों में प्रथा को ही प्रमाण मानकर राजसत्ता की सीमाओं को निर्धारित किया गया है। लेकिन, हिन्दू विचारधारा में राज्य केवल प्रथा पर ही आधारित नहीं है। राजसत्ता का एक अन्य आधार भी है और वह है राज्योत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त (The Divine Theory of the Origin of State)। यहाँ राज्य एक दैवी सृजन है एक निश्चित प्रमेय है और राज्य का अधिष्ठाता सम्राट एक पुरुष है—वह पुरुष जिसमें दैवी गुणों का समावेश होता है। हिन्दू विचारधारा में राज्योत्पत्ति के तीन सिद्धान्त मिलते हैं—एक सैनिक सिद्धान्त दूसरा संविदा सिद्धान्त और तीसरा दैवी सिद्धान्त। सैनिक आवश्यकताओं के कारण राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त के प्रमाण वैदिक साहित्य में मिलते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह कथा आई है कि असुरों से बार-बार हारने पर देवों ने इन्द्र को अपना सैनिक नेता चुना क्योंकि असुरों में सैनिक नेतृत्व था और देवों में सैनिक नेतृत्व नहीं था। युद्ध का सैनिक नेता शान्तिकाल में सम्राट हो गया। वैदिक साहित्य में राज्याभिषेक का जो वर्णन मिलता है उसमें सम्राट द्वारा रथ की दौड़ के खेल में भाग लेने का उल्लेख मिलता है, जो इस बात का प्रमाण है कि उस काल में सम्राट में सैनिक गुणों की अधिक अपेक्षा की जाती थी। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि सतत युद्ध की आवश्यकताओं के कारण ही आर्ययुग के प्रारम्भिक काल में सम्राट के पद का आविर्भाव हुआ होगा। यह निर्विवाद है कि वैदिक काल में सम्राट मुख्यतः सैनिक नेता और सेनाध्यक्ष ही है। उसका मुख्य कार्य सैनिक नेतृत्व है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि वैदिककालीन सम्राट पुरोहित नहीं था। सम्राटत्व क्षत्रिय का कर्म और अधिकार था और पौरोहित्य कार्य ब्राह्मण का अधिकार तथा कर्म। सम्राट अपने राज्य तथा प्रजा के लिए यज्ञ अवश्य करता था लेकिन इन यज्ञों में पुरोहित ब्राह्मण हुआ करता था न कि क्षत्रिय। भारत के इतिहास में ब्राह्मण सम्राटों के प्रमाण मिलते हैं लेकिन ये प्रमाण अपवाद को सिद्ध करते हैं न कि सामान्य नियम को। सैनिक नेता होने के कारण सम्राट पुरोहित तथा याजक नहीं थे। सम्राट् तथा राज्य प्रजा के संरक्षक हैं यह विचार वैदिक काल में अस्तित्व में आ गया था क्योंकि उस काल की सैनिक आवश्यकताओं के कारण सम्राट का पद स्थायी हो गया था। शासक संरक्षक है, यह विचार पुरोहित वर्ग की देन हो सकती

है। इसी विचार के आधार पर आगे चलकर शासक को दैवी पुरुष माना गया। शासक में देवत्व की स्थापना पुरोहित वर्ग द्वारा हुई है ऐसा इतिहासकारों का मत है।[1]

संविदा सिद्धान्त (Contract Theory) का निरूपण बौद्धों ने किया है। महाभारत में राज्योत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का निरूपण हो चुका था लेकिन बौद्धों ने इस सिद्धान्त का अनुसरण नहीं किया क्योंकि बौद्ध विचारधारा हिंसावादी रही है। बौद्ध विचारधारा में राज्य की उत्पत्ति उस समझौते (संविदा Contract) से हुई है जो राजा और प्रजा के बीच में हुआ है। इस समझौते के अनुसार राजा ने जब प्रजा की रक्षा की प्रतिज्ञा की तो प्रजा ने राजा का आधिपत्य स्वीकार किया। राजकर, बौद्ध विचारधारा में राजा और प्रशासन सम्बन्धी सेवाओं के बदले में राजा का लिया हुआ प्रजा का भाग है। इस सिद्धान्त में यह भी निहित है कि यदि कोई भी पक्ष समझौते को तोड़ता है तो समझौता रद्द हो जाता है। इसी आधार पर बौद्धों ने प्रजा की रक्षा और प्रशासन राजा का कर्तव्य माना और बदले में राजा के साथ सहयोग करना प्रजा का कर्तव्य। इस सिद्धान्त के दृष्टिकोण से यह भी स्पष्ट होता है कि राजा का पद न तो एकदम निरंकुश है और न निरंकुश। इसीकारण, राजधर्म में, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है बौद्धों ने परिषद जिसका तात्पर्य प्रजा की सभा परिषद से लिया जा सकता है को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। बौद्धों की विचारधारा में राजा और राज्य की उत्पत्ति तो तब हुई जब मनुष्य उस स्वर्णिम युग से अधःपतित हो गया जहां न राजा की आवश्यकता थी न राज्य की और न प्रजा की रक्षा की। राज्योत्पत्ति का यह सिद्धान्त एक युक्तिसंगत कल्पना मात्र है, किन्तु केवल बौद्ध धर्म से ही मान्यता मिली और बुद्धवाद के साथ-साथ इसका भी लोप हो गया।[1]

हिन्दू विचारधारा में राज्योत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को ही प्रधानता मिली है। वैदिक काल में ही वैदिक सिद्धान्त का विचार मन्त्र पढ़ने से प्रमाण मिलते हैं। ऋग्वेद में राष्ट्र का इन्द्र का अनुचर और अपदस्थ कहा गया है अथर्ववेद में सम्राट् को विश्व का एक रूप में धारण किया गया है और शतपथ ब्राह्मण में सम्राट् को प्रजापति का प्रतिनिधि माना गया है।[2] वैदिक युग के बाद इसी परम्परा का विस्तार मिलता है, जिसमें दैवी सिद्धान्त के साथ धर्म की धारणा का समन्वय हुआ है। हिन्दू विचारधारा में राज्योत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का सार यह है कि जब धर्म विनष्ट हो गया तो उस पर आधारित राज्य तथा उसका रक्षक महान भी विनष्ट हुए। महाभारत में, एक स्थान पर अन्त में, राज्योत्पत्ति के इस दैवी सिद्धान्त का निरूपण

---

1 घोषाल, यू० एन० वही पृष्ठ ११९-१२०
2 वही पृष्ठ ११

का विचार मिलता है। महाभारत के अनुसार एक समय वह था जब न तो राज्य की आवश्यकता ही थी और न राज्य का अस्तित्व ही था। इस काल्पनिक युग में प्रत्येक व्यक्ति स्वनियन्त्रित जीवन व्यतीत करता था और वही व्यवस्था का आधार था। किन्तु, यह अवस्था अधिक दिन न चल सकी और अव्यवस्था का अभ्युदय हुआ जिसमें मत्स्यन्याय[1] का प्राधान्य बढ़ा। तब, दुखी मानव की प्रार्थना से द्रवित होकर प्रजापति ने एक विधि-संहिता (A Code of Laws) की रचना की और उसे लागू करने के लिए अपने पुत्र विराज, को इस संसार में भेजा। और तब प्रजापति द्वारा रचित विधि संहिता के आधार पर मत्स्यन्याय के स्थान पर धर्म की स्थापना हुई[2]। इस कथानक से यह निष्कर्ष निकलता है कि मानवी व्यवस्था के आधार धर्म को लागू करने वाला सम्राट और राजतन्त्र दिव्य है। ये सभी एक दैवी सृजन के परिणाम हैं।

गीताकार ने देवों के सम्राट इन्द्र को तथा शासक के दण्ड को ईश्वर की विभूतियां माना है (10/22, 38)। यहां सम्राट का ही नहीं वरन सम्राट की सत्ता के आधार दण्ड को भी दिव्य माना गया है। सम्राट शासक के रूप में उस दिव्य शासक का प्रतीक है। उसकी सत्ता का आधार वह दिव्य उद्देश्य है जिसके लिए उसका सृजन हुआ है। इस और सम्राट की बुराई करना मानव-अधिकार के बाहर है। मनु के अनुसार सम्राट के द्वारा आठ देवताओं का कार्य सम्पादित होता है। प्रजा को लाभ पहुँचाना इन्द्र-कर्म है, राजस्व उगाहना सूर्य कर्म है (क्योंकि जैसे सूर्य अपनी किरणों से पानी पी लेता है), चारों ओर गुप्तचरों को भेजना वायु कर्म है, प्रजा पर नियन्त्रण रखना यम-कर्म है, दुराचारी को दण्ड देना वरुण-कर्म है, प्रजा को सुखी रखना चन्द्र कर्म है, दुराचारी और अपराधी को नष्ट करना अग्नि कर्म है, और प्रजा का भरण पोषण पृथ्वी कर्म है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार राज्याभिषेक के समय सम्राट के शरीर में अग्नि और बृहस्पति का प्रवेश होता है और अश्वमेध तथा वाजपेय यज्ञ करने से उसे देवताओं का स्तर मिलता है[3]।

इस प्रकार, सम्राट को दैवी विभूति मानने का विचार वैदिक काल में मिलता है यद्यपि इसका प्रतिपादन ईसा के जन्म से पहले की दूसरी शताब्दी में हुआ है। राज्योत्पत्ति के संविदा तथा मत्स्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन उस काल में हुआ था जब भारत में छोटे छोटे गणराज्य थे और उनका शासन कुछ गिने चुने अधिनायकों

1 मत्स्यन्याय की धारणा बड़ी मछली द्वारा छोटी मछली के निगल जाने के प्रमेय पर आधारित है। बड़ी मछली सबल होने के कारण छोटी मछली को खा जाती है। अतः मत्स्यन्याय का तात्पर्य न्याय की उस अवस्था से है जहां न्याय सबल के पक्ष में रहता है जहां बड़ा छोटे को स्वभावतः स्वाहार को घर दबाता है। जिसका लाठी उसकी भैंस की भावना मत्स्यन्याय का मूलाधार है।

2 गोखले की पुस्तक इंडियन थाट थ्रू दि एजेज में उद्धृत सन्दर्भ के आधार पर पृष्ठ 149

3 गोखले वही पृष्ठ 152

के हाथ में रहा करता था। बुद्धवाद का अभ्युदय श्रावस्ती, कौशाम्बी और मगध जैसे गणराज्यों की पृष्ठभूमि में हुआ है और उन्हीं की पृष्ठभूमि में राज्योत्पत्ति का संविदा सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है। गणराज्य में शासक और शासित का प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता था। दैवी सिद्धान्त को प्रोत्साहन उस समय मिला जब आर्यों के प्रसार के कारण, गणराज्यों के आधार पर साम्राज्यों का बनना बिगड़ना प्रारम्भ हुआ। गणराज्य का शासक राजा है लेकिन साम्राज्य का शासक सम्राट। सम्राट का प्रजा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। इसलिए साम्राज्य को संगठित रखने के लिए प्रजा में सम्राट के प्रति भक्ति लाने के लिए शास्त्रकारों के मत में सम्राटत्व में देवत्व की स्थापना की गई। मौर्य साम्राज्य की पृष्ठभूमि में पनपने वाले कौटिल्य के विचारों में सम्राट की तुलना यम और इन्द्र से मिलती है। साम्राज्य की ही पृष्ठभूमि में अन्वमेध यज्ञ को प्रोत्साहन मिला। इस तथ्य के ऐतिहासिक प्रमाण नहीं हैं कि मौर्य सम्राट अपने को देवता मानते थे या नहीं। अशोक ने निश्चय ही अपने को देवता नहीं कहा है और यह बुद्धधर्म के प्रभाव के कारण हो सकता है। मौर्य साम्राज्य के नष्ट होने के बाद, सम्राटत्व की धारणा पर एक बार, धर्मशास्त्रों के विचारों का प्रभाव बढ़ा और दूसरी बार यूनानी, फारसी और मध्य एशियाई विचारों का।

यूनान, फारस और मध्य एशिया के सम्राटत्व सम्बन्धी विचारों से भारत के परम्परागत दैवी सिद्धान्त को प्रोत्साहन मिला। सम्राट की छत्रछाया में पनपने वाले पुरोहितवर्ग के अस्तित्व से दैवी सिद्धान्त को शक्ति प्राप्त होना प्रथम स्थिति माना था। इसी वैचारिक विकास का परिणाम है कि गुप्त सम्राटों के राज्यकाल में प्रत्येक सम्राट ने अपने लिए उन बड़ी बड़ी उपाधियों का प्रयोग किया जिससे साम्राज्य में देवत्व का आभास मिलता है। गुप्तकाल में इसका और भी विस्तार हुआ। इलाहाबाद के स्तम्भ पर खुदे लेख में समुद्रगुप्त को पृथ्वी पर निवास करने वाला देवता कहा गया है। मध्ययुग के प्रारम्भिक काल में जैसा कि मजूमदार और पुसलकर ने लिखा है सम्राट को ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहा गया है और इस बात पर जोर दिया गया है कि चूँकि सम्राट के शरीर में देवताओं का वास है अतः न तो उसके प्रति द्वेष रखना चाहिए न उसे बुरा भला कहना चाहिए और न उस पर दोषारोपण करना चाहिए। सम्राट का आदर करना तथा उसकी आज्ञा मानना प्रजा का कर्तव्य है[1]। बड़ी बड़ी उपाधियों से सम्राट को विभूषित करने की परम्परा मुगल काल में भी पाई जाती है यद्यपि इस काल में मुगल सम्राट को देव-पुत्र मानने के विचार का ह्रास हुआ क्योंकि ईश्वर के दूत न मानना इस्लामी सिद्धान्तों के विरुद्ध है। हाँ हिन्दू परम्परा में सम्राट को देवपुत्र मानने का विचार बराबर बना रहा। शिवभारत नामक संस्कृत महाकाव्य में जिसकी रचना शिवाजी

---

1 मजूमदार एण्ड पुसलकर : दि एज आफ इम्पीरियल कन्नौज पृष्ठ 232

के काल म हुई है, शिवाजी को युगावतार कहा गया है—एसा युगावतार जो विष्णु का अंश है, जो आठ लोकपालों के अंगों से अवतरित हुआ है और जो वस्तुत विष्णु पुत्र है[1]।

राजधम म राज्योत्पत्ति का दवी सिद्धा त, इस प्रकार, राज्य को अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए अस्तित्व में आया। लेकिन इस सिद्धा त की विशेषता यह है कि इसम राज्य दिव्य है न कि स्वय सम्राट। सम्राट की दिव्यता वैयक्तिक नही है, वह सस्थागत है। सम्राट दिव्य नही है वरन सम्राटत्व दिव्य है। कोई भी व्यक्ति वहीं तक दिव्य है जहाँ तक वह सम्राटत्व के कतव्य का पालन करता है। सम्राटत्व के कतव्य पालन का आधार धम है। अत, सम्राट वही तक दिव्य है जहा तक वह धर्मानुसार राजकाज म राजधम का पालन करता है। दैवी सिद्धा त स जसा कि स्वाभाविक था, राजसत्ता के एकीकरण को प्रोत्साहन मिलता रहा जिसके कारण समय-समय पर, साम्राज्य को सगठित, एकीकृत और केन्द्रीभूत करने मे सहायता मिली। दैवी सिद्धान्त वह माध्यम रहा है जिसस सम्राट के प्रति प्रजा की निष्ठा प्रोत्साहित होती रही है। लेकिन, साथ ही साथ, इस सिद्धान्त म वह विचार भी निहित है कि जहा सम्राट धम से गिर जाता है, वहा उसकी दिव्यता समाप्त हो जाती है। अत सम्राट की आज्ञा का पालन प्रजा का वही तक धम है, जहा तक वह धर्मानुसार राजकम को करता है। इसमे कोई सदेह नही कि सम्राट को मिला हुआ दण्ड का अधिकार दैवी अधिकार है लेकिन सम्राट उस अधिकार का मनमाना प्रयोग नही कर सकता है। सम्राट के दिव्य अधिकार दड के प्रयोग की कसौटी धम भी दिव्य है। इस प्रकार, राज्योत्पत्ति के दवी सिद्धान्त म जहा राज्य को दिव्य माना गया है वहा धम को भी दिव्य मानकर दिव्य को दिव्य के आधार पर सस्थागत करने का प्रयास किया गया है। राज्यसत्ता एक दिव्य सस्था है जिसम कार्यात्मक ढग से सम्बन्धित होने के कारण ही सम्राट दिव्य है। इस सिद्धान्त के दो परिणाम निकले—एक, राज्य सत्ता का आधार नतिकता है न कि निरीह शक्ति और उसका निरकुश प्रयोग और दूसरा जहा सम्राट धम से विमुख हो प्रजा को उसकी आज्ञा न मानने का अधिकार है। हिन्दू विचारधारा म विकसित राजधम की धारणा जहाँ एक ओर सामाजिक एतिहासिक परिस्थितियो की उत्पत्ति है वहा दूसरी ओर इसमे राजतन्त्र म नतिकता का समावेश हुआ तथा उन अवस्थाओ म राज्य के प्रति विद्रोह करने का वयक्तिक अधिकार बना रहा जहा राज्य और सम्राट धम से विमुख हो।

सम्राटत्व के सामाजिक परिणाम

सम्राटत्व की धारणा भारत की सामाजिक एतिहासिक परिस्थितियो की

---

1 सरकार, विनयकुमार दि पाजिटिव बकग्राउण्ड आफ हिन्दू सोसियालोजी भाग 1 पृष्ठ 512

पृष्ठभूमि में विकसित हुई है। यहाँ सम्राट क्षेत्रीय अधिनायकों को अपने शासन में रखकर साम्राज्य की स्थापना करते रहे हैं। भारत गणजातियों में बँटा था और प्रत्येक गणजाति अपने में एक राष्ट्र थी। जैसा कि गाडों के राजनीतिक प्रसार से स्पष्ट है, कुछ गणजातियों ने क्षेत्रीय राज्यों का रूप ले लिया और इसप्रकार क्षेत्रीय राज्यों का विकास हुआ। भारत में, एक ओर क्षेत्रीय राज्यों की स्थापना की परम्परा मिलती है और दूसरी ओर अखिल भारतीय साम्राज्य-संस्थापन की। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, अलाउद्दीन खिलजी, अकबर, औरंगजेब और शिवाजी सम्राट बनने की भावना से प्रेरित रहे हैं। यातायात के साधनों की असुविधा के कारण, प्रत्यक्ष शासन की सम्भावना न होने से चक्रवर्ती सम्राटत्व का आदर्श आया। सम्राट का कार्य दिग्विजय करके अर्थात क्षेत्रीय शासकों को अपने अधीन करके और उनसे कर लेकर साम्राज्य की स्थापना करता रहा है। क्षेत्रीय शासक सम्राट के नाम पर राज्य करते रहे हैं। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भी अपने लिए कम्पनी बहादुर का खिताब चुना और अठारह सौ सत्तावन तक मुगल सम्राट के नाम पर राज्य किया। अंग्रेजी सरकार ने भी देशी रियासतों को कायम रखा। इस विभाग के कई परिणाम निकले। पहला, भारत में जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी की भावना तो विकसित हुई किन्तु राष्ट्रीयता की भावना क्षीण रही। दूसरा, सम्राट के स्तर का राजनैतिक संगठन अलग रहा और क्षेत्रीय तथा स्थानीय स्तर अलग। तीसरा, सम्राट की सत्ता के बने रहने तक राजनैतिक शान्ति रही किन्तु उस सत्ता के क्षीण होते ही अराजकता फैली। यही कारण है कि भारत में एक ओर, अशोक, चन्द्रगुप्त और अकबर के राजनैतिक स्थायित्व के स्वर्णिम युग रहे हैं और दूसरी ओर, राजनैतिक अशान्ति के काल। चौथा, सम्राटों ने पिता की भावना से शासन किया है और इस कारण उन्होंने प्रजा के लिए सभी कुछ सम्भव करने का प्रयास किया है जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रजा में निर्भरता की भावना रही है। पाँचवाँ, सम्राटत्व से स्थिरता को प्रतिस्थापित करने में उन्हें इतना चमत्कारी बनाने की प्रेरणा मिली कि सम्राट का वैभव उसकी स्थिरता का प्रतीक बन जाय। वैभव को सम्राट के प्रभाव का माध्यम बनाया गया। बड़ी-बड़ी इमारतें, सवारी, वस्त्र और दरबारदारी वैभव प्रदर्शन के माध्यम बने। किन्तु भारतीय इतिहास में सम्राटों के राज दरबारों में वैभव का जो वर्णन मिलता है उसका भार जनता पर पड़ा। भारत की आर्थिक व्यवस्था का आधार जीवन निर्वाह कृषि रहा है जिसका स्तर सामान्यतया दोनों में निम्न ही रहा है। इसका परिणामस्वरूप, जनता पर सदा भारी कर लगाया गया है जिसके कारण, एक ओर जनदारिद्र्य बना रहा है और, दूसरी ओर आर्थिक प्रगति निष्प्रभाव रही है और इन सबका एक सम्मिलित परिणाम यह रहा है कि भारतीय विचारधारा इतिहास के सभी युगों में आध्यात्मिकता तथा पारलौकिकता की ओर उन्मुख रही है। भारतीय चिन्तन की अन्तर्मुखता आज भी इन्हीं युगों की देन है।

उत्तमपुरुष

गीताकार के अनुसार, 'इस लोक में क्षर (नाशवान) और अक्षर (अविनाशी) पुरुष हैं। भूतमात्र क्षर है और उत्तम जो स्थिर रहने वाला अविनाशी है, वह अक्षर कहलाता है। लेकिन इन दोनों के सिवा उत्तमपुरुष और है, जो परमात्मा कहलाता है और तीनों लोकों में प्रवेश करके उनका पोषण करता है। अतः जो क्षर और अक्षर से उत्तम है वह पुरुषोत्तम कहलाता है (15/16, 17, 18)। इसप्रकार गीताकार ने उत्तमपुरुष को पुरुषोत्तम और पुरुषोत्तम को ईश्वर माना है। पूर्ण, पुरुष नहीं, पुरुषोत्तम है। पुरुषोत्तम उस पूर्णत्व का प्रतीक है जिसे प्राप्त करना मानव जीवन का चरम उद्देश्य है। धर्म की धारणा का विश्लेषण करते हुए यह लिखा जा चुका है कि धर्म इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन का संयोजक है। पुरुषार्थ, वर्णाश्रमव्यवस्था और कर्म जहाँ, एक ओर व्यक्ति के सामाजीकरण का माध्यम बनकर व्यक्ति तथा समाज का तादात्म्य स्थापित करते हैं और व्यक्ति को संस्कृतिवान बनाते हैं वहीं, दूसरी ओर उनके द्वारा व्यक्ति का इहलौकिक जीवन पारलौकिकता की ओर उन्मुख होता है। पुरुषार्थ वर्णाश्रम और कर्म मोक्ष के साधन हैं। सिद्धान्ततः, इनकी परिणति मोक्ष में होती है। मोक्ष पूर्णत्व की अवस्था है। पूर्णत्व पुरुषोत्तम

मे है। अत, मोक्ष पुरुषोत्तम की गति की प्राप्ति है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हिन्दू दृष्टिकोण में, मानव जीवन का उद्देश्य केवल पुरुष बने रहने तक ही सीमित नहीं है। यहां जीवन का उद्देश्य है पुरुषोत्तमत्व की प्राप्ति। पुरुषोत्तमत्व की प्राप्ति एक सतत उन्विकासी प्रक्रिया है। धर्म कर्म और आवागमन उस प्रक्रिया के आधार हैं। हिन्दू-दृष्टिकोण में जीवन आत्मा की वह यात्रा है जिसका गन्तव्य मोक्ष है। मानव जीवन एक सतत खोज है उस पूर्णत्व की जो ज्ञानातीत गुणातीत कर्मातीत और अव्यक्त है।

नर, नारायण और नरोत्तम मानव-जीवन की उन्विकासी प्रक्रिया की तीन अवस्थायें हैं। नर प्रतीक है पुरुष का शाश्वत मानव का, नारायण नर में ईश्वर का और नरोत्तम नर के उद्विकास की उस चरम अवस्था का जहाँ इहलौकिक नर पारलौकिक शाश्वत विराट में मिल जाता है। मोक्ष इस विकास की उच्चतम गति का प्रवेश द्वार है। धर्म अर्थ और काम वे माध्यम हैं जिनके द्वारा जीवन के विभिन्न पहलुओं को एकीकृत करके उन्हें मोक्ष की ओर उन्मुख किया जाता है। जीवन का पूर्णत्व उसे ही प्राप्त होता है जो इहलौकिक जीवन में पूर्णत्व प्राप्त करने का प्रयास करता है। इसीलिये हिन्दू विचारधारा में जहां एक ओर, इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया गया है वहां दूसरी ओर, इहलौकिक जीवन में पूर्णत्व क्या है व्यक्ति विकास में कौनसी अवस्था पूर्णत्व की अवस्था है और पूर्णत्व-अवस्था को प्राप्त हुए मनुष्य की क्या विशेषतायें हैं इस पर भी विचार किया गया है। जैसे धर्म अर्थ काम मोक्ष वर्ण कर्म निवृत्ति प्रवृत्ति सम्बन्धी विचारों का वैदिक काल से लेकर वर्तमान समय तक गत्यात्मक विकास हुआ है और समयानुसार उनमें परिवर्तन होते रहे हैं उसी प्रकार इहलौकिक पूर्णत्व या पूर्ण मनुष्य की धारणा का भी गत्यात्मक विकास हुआ है और समयानुसार उसमें परिवर्तन होता रहा है। उत्तमपुरुष की धारणा पूर्णमनुष्य की धारणा है जिसका उद्भव वैदिक काल में हुआ है और जिसे युग-युग की मर्यादाओं के अनुसार ढाला गया है। इसी गत्यात्मक विकास के परिणामस्वरूप पूर्ण पुरुष के प्रतीक के रूप में उत्तमपुरुष योगी, स्थितप्रज्ञ अर्हत बोधिसत्व कर्मानिष्ठ, जीवन्मुक्त और सत्याग्रही जैसी धारणाओं का विकास हिन्दू विचारधारा में हुआ है।

उत्तमपुरुष

उत्तमपुरुष वह है जो इहलौकिक पूर्णता को प्राप्त करके पारलौकिक पूर्णत्व का अधिकारी हो गया है। इसीलिये उत्तमपुरुष न तो नितान्त इहलौकिक है और न नितान्त पारलौकिक। उत्तमपुरुष वह है जिसके इहलौकिक जीवन में पारलौकिक उन्मुखता का समावेश हो गया है। जैसा कि धर्म, अर्थ और काम की धारणाओं से स्पष्ट है वही इहलौकिक जीवन पूर्ण है जिसमें धर्मप्राण अर्थ और काम की साधना होती है। धर्मप्राण अर्थ और काम की साधना से तात्पर्य है धर्म द्वारा निर्धारित आदर्श नैतिक नियमों के अनुसार

मय और काम की साधना करना। अथ और काम की साधना समाज और सस्कृति से होती है। अत, इहलौकिक पूर्णत्व का अथ हुआ, समाज और सस्कृति के आदर्श नियमो के साथ व्यक्ति का पूर्ण तादात्म्य जो तभी होता है जब व्यक्ति का पूर्ण सामाजीकरण हो जाय। उत्तमपुरुष की धारणा उस पूर्ण मनुष्य की धारणा है जो इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन का मध्य बिन्दु है। इसीलिये, उत्तमपुरुष का एक पहलू सामाजिक और दूसरा आध्यात्मिक (Metaphysical) है। इहलौकिक जीवन का निष्पादन करते हुए जो पुरुष आत्मपरायण तथा ब्रह्मपरायण है, वही उत्तम पुरुष है।

वैदिक साहित्य में कई ऐसी धारणायें मिलती हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति का पूर्ण सामाजीकरण पूर्णत्व प्राप्ति का एक मुख्य आधार है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि पुरुषार्थ में अथ और काम का समावेश व्यक्ति के सामाजीकरण तथा उसकी सामाजिक वृत्ति की तुष्टि की आवश्यकता की महत्ता को स्पष्ट करता है। वैदिक साहित्य में पाई जाने वाली 'सभ्य' तथा 'शिष्ट' की धारणायें इस महत्ता को और भी स्पष्ट करती हैं। ऋग्वेद में सभ्य से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जो सभा का सदस्य होने के योग्य है। सभा का वही सदस्य होने योग्य है जो वयस्क है, जिसमें सभा के नियमों को समझने तथा उनके अनुसार निर्णय लेने की क्षमता है। अनुभव, वयस्कता, योग्यता और अवधारणा (Comprehension सोचने-समझने की क्षमता) 'सभ्य' की मुख्य विशेषतायें हैं। अत सभ्य वह है जो अपने अनुभव वयस्कता योग्यता और अवधारणा के कारण सभासद होकर, शासक वर्ग को उचित सलाह दे सके। सभा से तात्पर्य गणजातीय पंचायत (Tribal Panchayat) से है। इस दृष्टिकोण से, सभ्य वही है जिसका पूर्ण और सुचारु सामाजीकरण हो गया हो। अथर्ववेद में 'शिष्ट' शब्द का प्रयोग शिक्षा दीक्षा, अनुशासन और आत्मनियन्त्रण के अर्थ में किया गया है। अत यह कहा जा सकता है कि शिष्ट वह है जिसने सामाजीकरण में निहित शिक्षा दीक्षा अनुशासन और आत्मनियन्त्रण के द्वारा संस्कृति के आदर्शों को पूर्णत आत्मसात कर लिया हो। समाज के आदर्शों (Ideals) और अर्हाओं (Values) के अनुसार व्यवहार ही शिष्टाचार कहलाता है। अत, शिष्ट वही है जिसमें समाज का आदर्श व्यवहार पाया जाता हो। जो सभ्य और शिष्ट है, वही आदर्श नागरिक है।

वेदों में उत्तम पुरुष

लेकिन सभ्य शिष्ट और नागरिक पूर्ण मनुष्य के परिचायक नहीं है। सभ्य, शिष्ट और नागरिक होना समाज और संस्कृति के साथ तादात्म्य स्थापित करना है। सामाजिक सास्कृतिक तादात्म्य पूर्णत्व का केवल एक इहलौकिक आधार है। पूर्णत्व का आधार केवल सामाजिक सास्कृतिक तादात्म्य नहीं है। ऋग्वैदिक विचार धारा के अनुसार, पूर्णत्व का प्रतीक ऋत है। ऋत, जैसा कि पहले कहा जा चुका है,

रहस्यमय शाश्वत नियम है—वह नियम जिस पर सारी व्यवस्था आधारित है। इहलौकिक तथा पारलौकिक दोनों व्यवस्थाओं का आधार 'ऋत' है। ऋत ही सत्य है। अतः, जो सत्य है वही नैतिक आदर्श है। सत्य इहलौकिक जीवन भी है और पारलौकिक जीवन भी। लेकिन, इसमें भी बड़ा एक सत्य है और वह यह है कि इहलौकिक का आधार पारलौकिक है। पूर्णत्व न केवल इहलौकिकता है और न पारलौकिकता। पूर्णत्व पारलौकिकता पर आधारित इहलौकिकता है। इसीलिए, वेदों में प्रतिपादित इहलौकिक जीवन इसकी उनकी कृपा कल्पना और लोकसंग्रह के प्रति विराग की भावनाओं से बँधा है। वेदों में मान्य विचार के अनुसार पूर्ण वह है जो मृत्यु के बाद देवयान या पितृयान में निवास करने का अधिकारी है। यहाँ देवताओं को प्रसन्न करने के लिये किये गये यज्ञ, प्रार्थनायें और कल्प पूर्णत्व का आधार माने गए हैं।

औपनिषदिक विचारधारा का प्रस्फुटन होते ही पूर्ण मनुष्य और पूर्णत्व के आधार सम्बन्धी विचारों में परिवर्तन आया। उपनिषदों में आत्मनिग्रह, दान और दया न तो एक साथ मिलकर और न अलग-अलग पूर्ण हैं—ये तो केवल साधनमात्र हैं जिनके आधार पर पूर्णत्व को प्राप्त किया जा सकता है। औपनिषदिक विचारधारा के अनुसार पूर्ण है ज्ञान—वह ज्ञान जो विज्ञान से ऊपर है। यही ज्ञान वह अनुभूति है जिससे पारलौकिक तत्त्व की वास्तविकता प्रगट होती है। इहलौकिक की भिन्नता में आत्मा व्याप्त है जिसका उद्गम और परिणति ब्रह्म में है। आत्मा और ब्रह्म एक हैं। इहलौकिक की भिन्नता में आत्मा तथा ब्रह्म की आधारभूत एकता समाई हुई है और सम्पूर्ण इहलौकिक पारलौकिक ब्रह्म का रहस्य है—यही ज्ञान वास्तविक ज्ञान है। इसे ही आत्मज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान की संज्ञा दी गई है। इसी ज्ञान से पारलौकिकता की अनुभूति होती है अतः, इसी ज्ञान से मुक्ति मिलती है। इसकारण केवल ज्ञान ही पूर्ण है। औपनिषदिक विचारधारा में ज्ञान पूर्णत्व का प्रतीक है और उत्तमपुरुष अर्थात् पूर्ण मनुष्य वही है, जो ज्ञानी है।

उपनिषद् में उत्तमपुरुष

औपनिषदिक विचारधारा से उत्तमपुरुष के रूप में योगी की धारणा उत्पन्न हुई है। यदि ज्ञान ही पूर्ण है तो उस पूर्णता को प्राप्त करने का साधन क्या है। योगाचार की विचारधारा के अनुसार योग ज्ञान के साधन का उपकरण है। योग का अर्थ है जोड़ना, मिलाना और सम्पर्क में लाना इत्यादि। योग वही है जहाँ आत्मा और ब्रह्म का योग हो जहाँ इहलौकिक तथा पारलौकिक की भिन्नता समाप्त हो जाय और संसार की विभिन्नता में एकता (अविभक्तं विभक्तेषु) की अनुभूति का अभ्युदय हो। योगाचार की विचारधारा में योग अभ्यास से आता है। योगाभ्यास के साधन हैं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

समाधि योग की अवस्था है क्योंकि समाधि की ही अवस्था में व्यक्ति के

ध्यान का धारण की हुई वस्तु से योग हो जाता है। योगाचार की विचारधारा का मूलाधार यह है कि आत्मशक्ति और आत्मज्ञान के उन्बोधन के लिये शरीर को संयम से रखना और अभ्यास द्वारा इन्द्रियनिग्रह आवश्यक है। योगी शरीर से हट कर आत्मा में रमण करता है। शरीरी एषणाओं तथा वासनाओं का उसमें अन्त हो जाता है। वह सांसारिक शरीरी सुख का नहीं वरन परमानन्द का अनुभव करता है। आत्मसिद्धि के द्वारा उसे जो आध्यात्मिक शक्ति मिलती है, उससे उसे अलौकिक सुख ही नहीं वरन् मनचाहे अलभ्य की भी प्राप्ति हो जाती है[1]। योग रहस्यवादिता से ओतप्रोत है। इस्लाम में सूफी सन्त भी इसी परम्परा में आते हैं। योग की ही विचारधारा से तप की धारणा उत्पन्न हुई है। तप का अर्थ है अभ्यास द्वारा शरीरी आवश्यकताओं को दबाना और आध्यात्मिक शक्ति को जगाना। शरीर में भस्म लगाना, जटाजूट रखना, सर्दी तथा गर्मी में नंगे बदन रहना, गर्मियों में भी अग्नि तापना, उल्टा लटककर नीचे से धुआं सुलगाना, एक पैर से या एक हाथ उठा कर वर्षों खड़े रहना, प्राणवायु रोककर समाधिस्थ होना योग के व निकृष्ट रूप हैं जो तान्त्रिक विचारधारा के प्रभाव के कारण अस्तित्व में आये हैं। योगी के रूप में पूर्ण मनुष्य वस्तुतः वह है जो योगाभ्यास द्वारा इहलौकिक शरीरी आधार से ऊपर उठ जाता है, जो पारलौकिक के समीप पहुँच जाता है और जिसे ईश्वरीय प्रसाद मिल जाता है जिससे वह शरीरी व्याधियों—जरा, भोगों और वासनाओं से मुक्त हो जाता है। योगी इस संसार में रहते हुए भी परमानन्द में स्थित रहता है।

वैदिक विचारधारा का औपनिषदिक विचारधारा में जो परिवर्तन मिला उससे वस्तुतः कई विचार प्रशाखायें अस्तित्व में आईं। एक वैचारिक प्रशाखा के अनुसार ज्ञान पूर्णत्व का प्रतीक है, दूसरी के अनुसार योग और तीसरी के अनुसार भक्ति। अतः उपनिषदों की विचारधारा से उत्तमपुरुष के रूप में ज्ञानी, योगी और भक्त की धारणाओं का प्रस्फुटन हुआ। औपनिषदिक विचारधारा निवृत्तिमार्गी है। अतः, ज्ञानी, योगी और भक्त की 'निवृत्त पुरुष' के रूप में कल्पना की गई है। ज्ञानी ज्ञान द्वारा निवृत्त होता है, योगी योग द्वारा और भक्त प्रपत्ति के द्वारा। यहाँ ज्ञान

---

1 वाममार्ग में जहाँ तन्त्र का प्रभाव रहा है इस विचारधारा ने कापालिक, सिद्ध भैरव और औघड इत्यादि की धारणाओं को जन्म दिया है। कापालिक, सिद्ध भैरव और औघड वे पुरुष हैं जिनके लिये यह समझा जाता है कि उन्होंने शक्ति सिद्ध कर रखी है जिसके द्वारा वे अलौकिक कृत्यों को सम्पादित कर सकते हैं। तन्त्र में योगाचार की विचारधारा सकाम शक्ति की साधना का रूप ले लेती है। किन्तु, वाममार्गी सिद्ध हो सकते हैं, उत्तम पुरुष नहीं।

पूर्णत्व का सर्वोत्कृष्ट आधार है। लेकिन उसके लिये अभ्यास की आवश्यकता है। याग और तप उस अभ्यास के आधार हैं। भक्ति उनके लिये है जो ज्ञान और योग के मार्ग को नहीं अपना सकते हैं। लेकिन, ज्ञान याग और भक्ति वस्तुतः एक ही मनोदशा तक पहुँचने के तीन मार्ग हैं। पूर्णत्व वस्तुतः न तो ज्ञान है न याग और भक्ति। पूर्णत्व तो वह मनोदशा है जब व्यक्ति ब्रह्मपरायण हो जाता है। उस मनोदशा के लिये कुछ साधन आवश्यक हैं। ये साधन हैं नैतिकता अहिंसा, सत्य-प्रियता न्यायप्रियता, करुणा और आत्मनिग्रह जिन्हें महाभारत में पूर्ण पुरुष के गुण माना गया है। पूजा पाठ तीर्थयात्रा और ध्यान में इन गुणों के विकास का प्रोत्साहन मिलता है। सत विचार, सत्य भाषण और सत्कार्य से वह नैतिक शील विकसित होता है जिससे या तो निष्काम भक्ति द्वारा या आत्मज्ञान द्वारा निर्लिप्ति का अनुभव प्राप्त होता है। अतः पूर्णपुरुष का अन्तिम रूप ज्ञानी का है। उत्तमपुरुष का इहलौकिक जीवन समाप्त नहीं हो जाता है। सर्वकल्याण के लिये उत्तमपुरुष का अस्तित्व आवश्यक है क्योंकि उत्तमपुरुष को अपने लिये कुछ करना आवश्यक नहीं रह जाता है। वह संसार के सुख-दुःख से निवृत्त होकर, सर्वकल्याणकारी आदर्शों की पूर्ति में रत रहता है। उत्तमपुरुष वस्तुतः कल्याणकारी कर्म और ज्ञान का प्रकाशात्मा है[1]।

गीता में उत्तमपुरुष

गीता में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है कर्म के आधार पर ज्ञान, भक्ति और योग का समन्वय हुआ है। गीता के अनुसार, कर्म, ज्ञान और भक्ति मार्ग हैं जिनका आधार निष्कामता और स्थितप्रज्ञता है क्योंकि निष्कामता तथा स्थितप्रज्ञता के द्वारा ही आत्मपरायणता तथा ब्रह्मपरायणता आती है। जो कर्म ज्ञान और भक्ति निष्कामता तथा स्थितप्रज्ञता पर आधारित है, उसी के द्वारा आत्मा और ब्रह्म का योग होता है। गीता के अनुसार स्थितप्रज्ञ ही निष्काम कर्मयोगी, ज्ञानयोगी और भक्तयोगी है। यही कर्म, ज्ञान और भक्ति आदर्श है जो निष्काम है और ब्रह्मपरायण है। अतः गीता के अनुसार, उत्तमपुरुष वही है जो स्थितप्रज्ञ है। गीताकार ने स्थितप्रज्ञ तथा समाधिस्थ में अन्तर नहीं किया है जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समाधि का आधार स्थितप्रज्ञता है। स्थितप्रज्ञता की उत्पत्ति समत्वबुद्धि से होती है। समत्वबुद्धि का एक आधार निष्कामता है और दूसरा समभाव। इसीलिये, गीताकार ने उसे स्थितप्रज्ञ कहा है जो मन की उठी हुई समस्त कामनाओं का त्याग करता है, आत्मा द्वारा ही आत्मा से सन्तुष्ट रहता है राग, भय और क्रोध रहित होता है, न तो दुःख से दुःखी होता है और न सुख की इच्छा रखता है शुभ अशुभ के प्रति समभाव रखता है और सब इन्द्रियों को वश में रखकर ईश्वर में रत रहता

---

1 गोखले, बी० जी० वही पृष्ठ 202

है। स्थितप्रज्ञ कछुवे की भांति अपने सब अंगों को इन्द्रियों के विषयों में से समेटे रहता है। *स्थितप्रज्ञ वह कर्मयोगी है जो केवल कर्म को कर्म समझकर कर्म करता* है और कर्मफलासक्ति से सर्वरहित होने के कारण, शुभ अशुभ, दुख सुख और राग भय तथा क्रोध से विचलित नहीं होता। कर्म करते हुये स्थितप्रज्ञ वैसे ही शान्त रहता है जैसे नदियों के निरन्तर प्रवेश करने पर भी समुद्र। गीता का स्थितप्रज्ञ संसार में प्रवृत्त होते हुए भी संसार से वैसे ही निवृत्त रहता है जैसे पंक से पंकज।

गीता में उत्तमपुरुष की धारणा निवृत्तिवादी प्रवृत्ति के जीवन-दर्शन पर आधारित है। लेकिन, बुद्धवाद तथा जैनवाद में उत्तमपुरुष की धारणा निवृत्तिवादी दर्शन के आधार पर निरूपित की गई है। उत्तमपुरुष की धारणा के रूप में बुद्धवाद में अर्हत और बोधिसत्व की धारणाओं का तथा जैनवाद में 'केवलिन की धारणा' का विकास हुआ है। *'अर्हत अलौकिक नहीं लौकिक पुरुष है। नैतिकता,*

बुद्धिवादी जैनवादी विचार में उत्तमपुरुष

आध्यात्मिकता और ज्ञानपरायणता अर्हत के मुख्य गुण हैं। अर्हत वह है जो लोगों को धर्म का मार्ग दिखाये, जिसका मस्तिष्क सत्यानुभव में डूबा हुआ और शान्त है, जो आत्मनिग्रही है, जो सुख दुख में पत्थर की चट्टान के समान अविचलित रहता है, जो ज्ञानतृप्त है और इस संसार में रहते हुए भी संसार से विरक्त है। 'अर्हत अपने दोषों के प्रति सजग है और परछिद्रान्वेषण से दूर, मस्तिष्क विचार, वाणी और कर्म से शान्त तथा सभी दशाओं में अपने को शान्त रखता हुआ, वह सदैव जागरूक रहता है। शील, समाधि और ज्ञानानुभूति उसके वे उपकरण हैं जिनसे उसे मुक्ति मिलती है। पृथ्वी के समान सहिष्णु रहते हुए वह संग्रह तथा विषयों के त्याग में सुख का अनुभव करता है। वह संसार का वैसे ही ग्रहण करता है जैसे मधुमक्खी पुष्प के रंग या उसकी गंध को अक्षुण्ण रखते हुए उससे मधु ग्रहण करती है। अर्हत' का मार्ग दुखरहित और मुक्त है जिसके कारण उसमें कामनायें जल जाती हैं और देवता उसकी स्पर्धा करते हैं। अर्हत धर्म का मूर्तिमान रूप है और धर्मपथ प्रदर्शक है। अर्हत सम्यकमार्गी है—वह न तो अत्यधिक विषयासक्त होता है और न योगियों की भांति अपने शरीर को तप के नाम पर अत्यधिक कष्ट देता है। वह अपने *मस्तिष्क को सत्यानुभूति और सत्यशोध में लगाता है जिसके लिये उसे अपने* शरीर और मस्तिष्क को अभ्यास द्वारा प्रशिक्षित करना पड़ता है।

सम्यक दृष्टि सम्यक संकल्प सम्यक वाणी सम्यक कर्म, सम्यक जीविका सम्यक प्रयत्न, सम्यक स्मृति वे सात साधन हैं जिनके द्वारा व्यक्ति संसार में रहते हुए भी सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पाकर सम्यक समाधि को प्राप्त होता है[1]। *सम्यक दृष्टि और सम्यक संकल्प से ज्ञान आता है सम्यक वाणी सम्यक कर्म और*

---

1 चित्त की एकाग्रता सम्यक समाधि है जिसके लिये सारी बुराइयों से दूर रहना

सम्यक जीविका से शील और सम्यक प्रयत्न सम्यक स्मृति और सम्यक समाधि म समाधि। अत, अर्हत वह है जो अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करके, ज्ञानवान, शीलवान तथा समाधिस्थ हो गया है। ज्ञान, शील और समाधि अर्हत के तीन स्कंध हैं। अर्हत की धारणा हीनयानी बुद्धवाद की देन है। हीनयानी बुद्धवाद दो सम्प्रदायों म विभाजित है—एक स्थविरवाद और दूसरा वैभाषिक। स्थविर का मतलब है ज्ञानी या तत्वदर्शी। स्थविर विभज्यवादी सम्प्रदाय भी है। विभज्यवाद का अर्थ है विश्लेषण द्वारा प्रत्येक वस्तु के अच्छे-बुरे अंश को अलग कर देना। स्थविरवाद और विभज्यवाद का आधार तत्वज्ञान है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि अर्हत मूलत तत्वज्ञान है और जीवन की वह अवस्था है जिसे प्राप्त कर जीव सांसारिक क्रिया कलापों की ओर नहीं मुड़ता[1]।

अच्छाइयों का अर्जन करना और चित्त को संयम में रखना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य बुद्ध के अनुसार लाभ सत्कार, प्रशंसा, सदाचार, समाधि और ज्ञान के लिए नहीं है। ब्रह्मचर्य का मुख्य उद्देश्य है चित्त की मुक्ति। चित्त की मुक्ति ही जीवन का सर्वोत्तम उद्देश्य है। इसीलिए, सम्यक समाधि की चार अवस्थायें बताई गई हैं—पहली, विरक्ति के अनुभव की अवस्था, दूसरी, विचारों और वितर्कों का जंजाल समाप्त होने के साथ साथ शान्ति के अनुभव की अवस्था, तीसरी, समाधि के आनन्द के प्रति उदासीनता की अवस्था, चौथी 'पूर्ण प्रज्ञा' अथवा निर्वाण की अवस्था जो दुख सुख से परे होती है। सम्यक समाधि की अवस्था तक पहुंचने के लिए सात सम्यक मार्गों का अभ्यास आवश्यक है। शरीर मन और वाणी से भले बुरे कर्मों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना सम्यक दृष्टि है। दुख, दुख का कारण, दुख का अन्त और दुखों के अन्त का उपाय—ये चार आर्य सत्य हैं जिनकी अनुभूति करते हुए जीवन बिताने का संकल्प भी सम्यक संकल्प है। वह वाणी सम्यक है जो मिथ्या भाषण चुगलखोरी, कटुता और बकवास जैसे वाचिक दुष्कर्मों से मुक्त है। जो कर्म हिंसा, चोरी और व्यभिचार के कायिक दुष्कर्मों से मुक्त है वही कर्म सम्यक कर्म है। प्राणिहिंसा, युद्ध और प्राणि-मांस मद्य-नशीली चीजों के व्यापार पर निर्भर जीविका झूठी जीविका है। अत, शुद्ध निष्कपट एवं वास्तविक कर्मों द्वारा उपार्जित जीविका ही सम्यक जीविका है। जो प्रयत्न शुभ विचारों से प्रेरित हैं वे सम्यक प्रयत्न कहे जाते हैं। शरीर चित्त वेदना और मन के विषयों से निरन्तर मुक्ति पाने के उपाय की स्मृति सम्यक स्मृति है क्योंकि शरीर, चित्त, वेदना और मन के विषयों से मुक्त होने के उपायों की ओर से विस्मृत होने पर, व्यक्ति इनमें फंस जाता है और उसे दुख भोगना पड़ता है—

1 गरोला, वाचस्पति भारतीय दर्शन पृष्ठ 186-189

वही पृष्ठ 147 148

'अर्हत' की धारणा ज्ञानवादी तथा भक्तिवादी है। नितान्त ज्ञानवादी होने के कारण 'अर्हत' की धारणा शुष्क और नीरस भी है। 'अर्हत' जनसाधारण के दैनिक दुख-सुख के जीवन की प्रेरणा न बन सका। उधर, बुद्ध के निर्वाण के लगभग चार सौ साल बाद जब बुद्धवाद पर हिन्दुत्व का प्रभाव पड़ा तो महायानी बौद्ध सम्प्रदाय का अभ्युदय हुआ। महायानी सम्प्रदाय ज्ञानमार्गी न होकर भक्तिमार्गी था। इस सम्प्रदाय के अनुयाइयों ने बुद्ध को मनुष्य के भाग्य का शासक और नियन्ता स्वीकार किया जिसके फलस्वरूप बुद्धवाद ईश्वरवादी तथा भक्तिप्रधान हो गया।

माध्यमिक और योगाचार, महायानी बुद्धवाद की दो उपशाखायें हैं। माध्यमिक विचारधारा शून्यवादी थी। योगाचार का अर्थ है वह आचार जिसके द्वारा 'योग' अथवा 'बोधि' प्राप्त हो। 'बोधि' प्रबुद्ध ज्ञान का प्रतीक है। अत, बुद्धवाद की महायानी विचारधारा के अनुसार उत्तमपुरुष वह है जो लौकिक आचारों का पालन करते हुए प्रबुद्धता को प्राप्त हो। प्रबुद्धता ज्ञानानुभूति की अवस्था है। ज्ञान की तीन कोटियां हैं—परिकल्पित (कल्पनाश्रित ज्ञान), परतन्त्र (सापेक्ष ज्ञान) और परिनिष्पन्न (सत्याश्रित ज्ञान)[1]। सत्याश्रित ज्ञान का अनुभव बोधि प्राप्ति की उच्चतम अवस्था है जिसके लिये निरन्तर प्रयास की आवश्यकता है वैसे ही जैसे जीवात्मा को परमात्मा में मिलने के लिए निरन्तर प्रयास की आवश्यकता है। अत, महायानी विचारधारा के अनुसार, उत्तमपुरुष वह है जो 'बोधिसत्व' हो। 'बोधिसत्व ज्ञान और करुणा का मूर्तिमान स्वरूप है। बोधिसत्व सत्याश्रित ज्ञान की अनुभूति के कारण निर्वाण का अधिकारी हो गया है, लेकिन जनहिताय करुणा के कारण, इस संसार में तब तक बार बार जन्म लेता है या लेता रहेगा जब तक कि इस संसार के सभी प्राणी मुक्ति न पा जाय। 'बोधिसत्व' वस्तुत बोधि का सत्त्व है जो, संसार के कल्याण के लिये, युगानुसार युग युग में अवतरित होता रहता है। 'बोधिसत्व प्रत्येक युग का पथप्रदर्शक और उद्धारकर्त्ता है। बोधिसत्व की धारणा में वही विचार निहित है जो गीता की सम्भवामि युगे युगे की धारणा में निहित है। बोधिसत्व केवल ज्ञानी नहीं वरन कर्मशील ज्ञानी है। निर्वाण प्राप्ति के लिये 'बोधिसत्व का जितना कर्तव्य अपने प्रति है, उतना दूसरों के प्रति भी है क्योंकि 'बोधिसत्व अपने तथा संसार के निर्वाण की प्रेरणा से प्रेरित है। बोधिसत्व' की धारणा 'अर्हत की अपेक्षा अधिक सामाजिक है।

जैनवाद में प्रादुर्भूत केवलिन की धारणा बौद्धों की अर्हत की धारणा से मिलती जुलती है[2]। जैनवादी विचारधारा, बुद्धवादी विचारधारा की भांति, ब्रह्मवादी न होकर पुरुषार्थमूलक और श्रमणप्रधान रही है। अत, इसमें आचरण को प्रधानता दी गई है और इसीकारण इस विचारधारा को नास्तिक भी कहा गया है।

---

1 गैरोला, वाचस्पति वही पृष्ठ 150
2 गोखले बी० जी० वही पृष्ठ 205

जैनवादी विचारधारा में 'सम्यक ज्ञान, सम्यक दर्शन और सम्यक चरित्र ही मोक्षसाधन के तीन रत्न या उद्देश्य बताए गए हैं'[1]। जैनियों के मतानुसार बोधि अर्थात ज्ञान की पांच श्रेणियां हैं—एक मतिज्ञान (जो मन, इन्द्रिय, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा तथा तर्क से प्राप्त हो), दूसरा, श्रुतिज्ञान (जो शब्द एवं संकेतों से प्राप्त हो) तीसरा, अवधिज्ञान (जो त्रिकालज्ञेय वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण से प्राप्त हो) चौथा, मनःपर्ययज्ञान (जो दूसरों के मन से प्राप्त हो), और पांचवां, केवल ज्ञान (जो जीवन्मुक्ति का ज्ञान है)[2]। जब मनुष्य आत्मगत ज्ञानबाधक कर्मों को नष्ट कर डालता है तब उसको दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है जो आन्तरिक होती है और जिसमें अनन्त ज्ञान का साक्षात्कार होता है। यही ज्ञान केवल ज्ञान है जो जीवन्मुक्त अर्हतों को प्राप्त होता है[3]। केवल ज्ञान को प्राप्त करने वाले केवलिन हैं और केवलिन जीवन्मुक्त हैं। केवलिन के लिए सम्यक दर्शन और सम्यक चरित्र आवश्यक है। सम्यक चरित्र के लिए शरीर, मन तथा वाणी का वह योग आवश्यक है जो ज्ञान और नैतिकता पर आधारित है। योग के लिए तप आवश्यक है। पूर्ण तथा उत्तमपुरुष के रूप में केवलिन का यहीं प्रादुर्भाव होता है, जहां ज्ञान तथा नैतिकता पर आधारित तप के द्वारा, आत्मा तथा संसार के वास्तविक स्वरूप का पूर्ण ज्ञान अवतरित होता है।

अद्वैत वेदान्त में उत्तमपुरुष

अद्वैत वेदान्त में उत्तमपुरुष की धारणा जीवन्मुक्त की धारणा के रूप में प्रतिपादित की गई है। अद्वैत वेदान्त की विचारधारा एकेश्वरवादी तथा ब्रह्मवादी है। इस विचारधारा में संसार ब्रह्म और माया के योग से बना है। माया मिथ्या है। अतः मायापरायणता अज्ञान है। आत्मा और ब्रह्म एक हैं। अतः ज्ञान का आधार आत्मपरायणता तथा ब्रह्मपरायणता में है। अविद्या का नाश तत्वज्ञान से होता है और तत्वज्ञान की उत्पत्ति 'मैं ही ब्रह्म हूं (अहं ब्रह्मास्मि) की अनुभूति से होती है। तत्वज्ञान की प्राप्ति ही मुक्ति है क्योंकि तत्वज्ञान की प्राप्ति के बाद न तो किसी प्रकार के कर्म करने की आवश्यकता है और न शास्त्र तथा उपदेश के माध्यम की। वेदान्त की विचारधारा में तत्वज्ञान तथा आत्मज्ञान को एक माना गया है। तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिए अन्तःकरण की शुद्धि आवश्यक है जिसके लिए नैतिक गुणों को बलवान बनाने की आवश्यकता है। अन्तःकरण की शुद्धि के लिए वेदों में प्रतिपादित कर्मों का भी आवश्यकता है। तत्वज्ञान का उदय वेदविहित कर्मों से परिशुद्ध अन्तःकरण में ही होता है। मोक्ष के लिए कर्म और ज्ञान दोनों आवश्यक हैं। जो पुरुष, कारणरूप ब्रह्म और कार्यरूप जगत दोनों को जानता है, वह मृत्यु (मृत्यु) पर विजय प्राप्त करके अमृत (मो 1)

1 गैरोला, वाचस्पति वही पृष्ठ 92
2 वही पृष्ठ 91
3 वही पृष्ठ 107

को प्राप्त करता है। वेदान्त मे मोक्षप्राप्ति के नतिक साधना को बहिरग तथा अन्तरग श्रेणियो म रक्खा गया है। विवेक, वराग्य, शमादि और मुमुक्षत्व बहिरग तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि अन्तरग साधन हैं[1]।

जिस प्रकार, गीता म उत्तमपुरुष की कल्पना निष्काम कमसिद्धान्त के सन्दभ मे की गई है उसी प्रकार, वेदान्त म उत्तमपुरुष की कल्पना अद्वैतवादी सिद्धान्त के सन्दभ मे की गई है। वेदान्त के अनुसार जीवन्मुक्त वह है जो ब्रह्मनिष्ठ है। जीवन्मुक्त वह अवस्था है जहा कतृत्व भोक्तत्व तथा भोग (सुख दुख) के बन्धन नष्ट हो जाते हैं। यह अवस्था तब आती है जब गुरु के उपदेश, श्रुतिवाक्य तथा स्वानुभव से आत्मा और ब्रह्म की एकता का ज्ञान हो जाता है और उस ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश होने स अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। ऐसी दशा मे अज्ञान से उत्पन्न सशय और विपयय नष्ट हो जाते हैं और आत्मा एकसाथ ब्रह्मज्ञान म तत्पर हो जाती है। 'उस आत्मतत्व स साक्षात्कार होन पर जीवन्मुक्त पुरुष की बुद्धिस्थित वासनामय कामनायें (हृदय ग्रथि) समाप्त हो जाती हैं और सम्पूण निःसशय सन्देह विच्छिन्न हो जाते हैं। जिसके सशय नष्ट हो गए हैं जिसकी अविद्या क्षीण हो चुकी है, एसे मुक्त पुरुष के जन्मान्तर म तथा ज्ञानोत्पत्ति के समय इस जन्म मे किए गए सारे काय भी नष्ट

---

1 नित्य वस्तु को नित्य और अनित्य वस्तु को अनित्य समझना विवेक है। इस लोक के भोग विलास और परलोक के कमज य यज्ञयागादि दोनो प्रकार की वस्तुओं एव फलो से सवथा विमुख हो जाना ही वराग्य ह। शम, दम तितिक्षा उपरति समाधान और श्रद्धा को शमादि (षटसम्पत्ति) कहा गया है। इन्द्रियों के विषयो को सयमित करके आत्मवस्तु में चित्त लगाने का नाम ही शम है। इन्द्रियों को उनके विषयो से हटाकर ब्रह्मसाक्षात्कार की ओर लगाना दम है। मान अपमान, सुख दुख और शीत ताप को समभाव से सहन करना तितीक्षा है। समस्त कर्मों में फलेच्छा शून्यता और कर्मों का भगवान के प्रति समपण उपरति है। समाधान में शुद्ध बुद्ध परब्रह्म में तत्पर होना तथा गुरु सुश्रूषा आती है। गुरुवाक्य तथा शास्त्रवाक्य में विश्वास करना श्रद्धा है। अज्ञान से मुक्त होकर मोक्ष की इच्छा को मुमुक्षत्व कहते है। विवेक वैराग्य को जन्म देता है, वराग्य मोक्ष की इच्छा को और मोक्ष की इच्छा ब्रह्मजिज्ञासा को जन्म देती है। सम्पूण वेदान्त वाक्यों का एक ही अद्वितीय ब्रह्म में तात्पय समझना श्रवण, वदान्त के अनुकूल युक्तियों द्वारा अद्वितीय ब्रह्म का चिन्तन मनन, देह से लेकर बुद्धि तक फले हुए जड पदार्थों में एक ही ब्रह्म को देखना निदिध्यासन और ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान के अन्तर को हटाकर ब्रह्म में चित्तवत्ति को एकाकार करना समाधि है।

—गरोला, वाचस्पति वही पृष्ठ 431 32

हो जाते हैं। यह साक्षात् मैं ही हूं (अय साक्षादहमेव) इस प्रकार जीवित रहते हुए भी वह मुक्त हो जाता है[1]।

गीता के उत्तमपुरुष (स्थितप्रज्ञ) के आध्यात्मिक पक्ष को वदान्त की जीवन्मुक्त की धारणा म अधिक विस्तार दिया गया है। गीता का उत्तमपुरुष निष्काम कर्मयोगी है, ससार म उसके अस्तित्व का आधार कर्म है। स्थितप्रज्ञ के लिए निष्काम कर्म ही सब कुछ है। स्थितप्रज्ञ की ब्रह्मनिष्ठा का आधार निष्काम कर्म म है। लेकिन, जीवन्मुक्त कर्म से उतना आसन्न नहीं है, जितना कि वह ब्रह्म से है। स्थितप्रज्ञ के लिए पुरुष और प्रकृति के योग से बना ससार मूलत निष्काम कर्म का क्षेत्र है। जीवन्मुक्त के लिए ब्रह्म और माया के योग से उत्पन्न ससार मूलत कर्म क्षेत्र नहीं है। ससार वहीं तक ग्रहणीय है जहा तक ससार से ब्रह्म का आभास होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जीवन्मुक्त के लिए 'अह ब्रह्म' अनिष्ट है। उसका अभिन्न प्रेम और करुणा म है वह ईश्वर की इच्छा से प्रेरित है, उसके जीवन का उद्देश्य जनकल्याण की भावना को जगाना तथा स्वार्थवृत्तियों का दमन करना है लेकिन, साथ ही साथ, इसम भी कोई सन्देह नहीं है कि जीवन्मुक्त कर्म की अपेक्षा वैराग्य से अधिक प्रेरित है। स्थितप्रज्ञ की प्रेरणा है निवृत्तिवादी प्रवृत्ति और जीवन्मुक्त की प्रेरणा है निवृत्ति तथा वैराग्य। स्थितप्रज्ञ के लिए कर्माधार सारहीन है और वर्ण तथा जाति के बन्धन केवल त्रिगुणात्मक प्रकृति की लीला है। जीवन्मुक्त के लिए, वेदविहित कर्माचार, वर्ण और आश्रम निन्दनीय नहीं तथा ग्रहणीय हैं यद्यपि निवृत्ति (वैराग्य) श्रेयस्कर है। अद्वैत वेदान्त के सबसे बड़े प्रतिष्ठापक शकर ने जीवन्मुक्त के सासारिक कर्म के दो स्तर माने हैं—एक अल्पतम कर्म निवृत्ति तथा वैराग्य की ओर दूसरा लोकसग्रह (जनकल्याण) के लिए किए गए कर्म की[2]। लेकिन, दोनों दशाओं म, जीवन्मुक्त मूलत निवृत्तिवादी है।

हिन्दू सामाजिक जीवनदर्शन की सरिता निवृत्ति तथा प्रवृत्ति के बीच म प्रवाहित होती हुई, कहीं निवृत्ति की ओर और कहीं प्रवृत्ति की ओर तरगित होती रही है। तटों का अस्तित्व सरिता से है न कि सरिता का तटों से। सरिता बहती हुई जलधारा है जो अपने तटों का स्पर्श करती हुई बहती रहती है। सरिता के तट जलधार म समाहित रहते हैं क्योंकि सरिता की जलधारा ही तटों की सार्थकता प्रदान करती है। जिस प्रकार, सरिता के तटों को सरिता से अलग नहीं किया जा सकता और उन्हें सरिता से अलग करके अलग अलग नहीं आका जा सकता, उसी प्रकार न तो निवृत्ति और प्रवृत्ति के विचारों को हिन्दू सामाजिक जीवनदर्शन की सरिता से अलग ही किया जा सकता है और न अलग-अलग करके उन्हें आका ही जा

---

1 गरोला, वाचस्पति वही पृष्ठ 440

2 गोखले वही पृष्ठ 207

सकता है। जिस प्रकार, सरिता के दोनो तट हर दशा में तट है और उनमें विभेद नही है, उसी प्रकार निवृत्ति और प्रवृत्ति में विभेद नही किया जा सकता। प्रवृत्ति निवृत्ति की परिभाषा है और निवृत्ति प्रवृत्ति की। हिंदू विचारधारा में प्रवृत्ति कोरी पार्थिवता नही है। प्रवृत्ति धर्म के लिए है, काम के लिए है और अर्थ के लिए है। धर्म, अर्थ और काम में प्रवृत्ति, एक ओर, मोक्ष के लिए है और, दूसरी ओर, लोकसग्रह के लिए। मोक्ष और लोकसग्रह का विचार ही प्रवृत्ति का निवृत्तिवादी रूप देता है और *मोक्ष तथा लोकसग्रह के विचार के सदर्भ में निवृत्ति प्रवृत्ति का विभेद कम ही समाप्त* हो जाता है जैसे सरिता के प्रवाह में उसके दोनो तटो का विभेद। मोक्ष और लोकसग्रह का विचार हिंदू सामाजिक जीवन दर्शन की सरिता का मुख्य प्रवाह है। हा, यह अवश्य है कि जहा मोक्ष प्रधान है वहा जीवन प्रवाह निवृत्ति की ओर अधिक बढ गया है और जहा लोकसग्रह प्रधान है, वहा प्रवृत्ति की ओर—उस प्रवृत्ति की ओर जिसका आधार लोकसग्रह है न कि वैयक्तिक स्वार्थ। उत्तमपुरुष न केवल निवृत्तिवादी है और न केवल प्रवृत्तिवादी। उत्तमपुरुष वह है जिसके जीवन में मोक्ष और लोकसग्रह के उद्देश्यो का समन्वय हुआ है। गीता में यह समन्वय निष्काम कर्म योग के द्वारा हुआ है और वेदान्त में वैराग्य के द्वारा। इन दोनो मार्गों का प्रतिपादन अलग अलग युगो में हुआ है लेकिन दोनो लोकसग्रह से गुजरते हुए मोक्ष की ओर जाते हैं।

मध्ययुगीन तथा वर्तमान भारत में उत्तमपुरुष की जो धारणाए विकसित हुई हैं उनमें एक ओर आध्यात्मिक तथा निवृत्तिवादी प्रवृत्ति के विचारो का समावेश हुआ है और दूसरी ओर, ज्ञान भक्ति तथा कर्म के *समन्वित रूप का समावेश। निर्गुण विचारधारा में ज्ञानाश्रयी* कवियो ने कर्मकाण्ड और ससार को मिथ्या कहा और, निर्गुण में ज्ञान तथा भक्ति को मुक्ति का साधन माना, लेकिन सासारिक जीवन तथा लोकसग्रह के विचार को नही छोडा। सूरदास तथा तुलसीदास जैसे सगुण विचारधारा के भक्त कवियो ने राम और कृष्ण के रूप में उत्तमपुरुष की धारणा को प्रतिपादित किया। इन्होने एक ओर, उत्तम पुरुष का अलौकिक मानवीकरण माना और दूसरी ओर, उसे लोकसग्रहार्थ कर्मयोगी या लीलाधारी के रूप मे प्रस्तुत किया। राम और कृष्ण सम्भवामि युगे युगे की विचारधारा के सदर्भ में मर्यादापुरुषोत्तम के रूप मे प्रस्तुत किए गए है। राम और कृष्ण पुरुषोत्तम हैं जो युग युग की आवश्यकताओ के अनुसार, मर्यादाओ की रक्षा तथा लोकसग्रह के लिए, मानवी आकार मे, उत्तमपुरुष का रूप धारण करते हैं। *उत्तमपुरुष की यह धारणा पुरुषोत्तम की धारणा में लीन* हो जाती है, और इसकारण उत्तमपुरुष वस्तुत वह अलौकिक पुरुष हो जाता है जो लोकसग्रह के लिए और युगधर्म की रक्षा के लिए उत्तमपुरुष के रूप मे इस ससार में आता है। इस दृष्टिकोण से उत्तमपुरुष एक अलौकिक आत्मा नहीं वरन युग की

मध्ययुग से वर्तमान युग तक

भी आत्मा है। श्री अरविन्द ने उत्तमपुरुष को वह अलौकिक आत्मा माना है जो कृष्ण के रूप में प्रत्येक युग के कुरुक्षेत्र रूपी धर्मक्षेत्र में अधर्म का नाश करने के लिए तथा धर्म की संस्थापना के लिए अवतरित हुआ करती है। उत्तम दिव्य है, अतः उत्तमपुरुष भी वह दिव्य पुरुष है जिसमें युग के आदर्श सन्निहित रहते हैं।

आठवीं शताब्दी से लेकर वर्तमान समय तक भारत, एक ओर, राजनैतिक दासता का भारत रहा है और, दूसरी ओर विजेता संस्कृतियों के संघात तथा उनसे उत्पन्न होने वाले सांस्कृतिक और बौद्धिक कोलाहल का भारत। इस्लाम और ईसाई मजहब सहिष्णुता, स्याद्वाद और अनेकान्तवाद के आधारभूत विचारों पर सीधे आघात करते रहे हैं क्योंकि ये मजहब मिशनरी मजहब हैं। इनका उद्देश्य रहा उन आध्यात्मिक तथा सामाजिक विश्वासों, लोकाचारों और परम्पराओं का प्रसार जिन्हें इनमें अन्तिम सत्य के रूप में प्रतिपादित किया गया है। पश्चिमी पूँजीवादी व्यवस्था जो अर्जन भावना (The Idea of Acquisition) पर आधारित है, पारलौकिकता, त्याग, दान, अस्तेय, आत्मनिग्रह और निष्काम कर्म के विचारों के विरोध में आती है। यह काल भारत के राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक पराजय और पुनरुन्नयन का काल रहा है। पराजय से त्राण पाने की आशा एवं स्पृहा ने अलौकिकता और प्रपत्ति के भाव को प्रोत्साहित किया जिसे, जैसाकि राम और कृष्ण के इस युग में प्रतिपादित स्वरूपों से स्पष्ट है, उत्तमपुरुष की धारणा में आत्मसात किया गया। इस युग का उत्तमपुरुष जहाँ अलौकिक है वहाँ वह निष्काम कर्मठ भी है। वह कर्म में इसलिए लीन होता है कि धर्म की रक्षा हो सके और सत्य संस्थापित हो सके। वह अधर्म और असत्य का विरोधी है। वह अधर्म और असत्य के प्रतीक रावण और कंस का वधक है। वह एक दिव्य पथप्रदर्शक है, जिसका उद्देश्य है निगमागम सम्मत[1] आदर्शों की प्रतिस्थापना करना। यही पूर्णतर वह अलौकिक है, जो ऐतिहासिक परिस्थितियों की आवश्यकताओं के अनुसार, मानव क्रियाकलापों में पूर्णत्व लाने के लिए हस्तक्षेप किया करता है।

पुनरुन्नयन के इस काल में बुद्धवाणी, जैनवाणी और गीता तथा वेदान्त में प्रतिपादित उत्तमपुरुष की धारणाओं ने, उत्तमपुरुष के विचार को प्रभावित किया है। राजनैतिक तथा सांस्कृतिक स्वातन्त्र्य के लिए अहिंसक संघर्ष और युग की आवश्यकतानुसार समाजसुधार, इस युग की दो आधारभूत आवश्यकतायें रही हैं जिनसे इस युग की उत्तमपुरुष की धारणायें प्रभावित हुई हैं। स्वातन्त्र्य-संग्राम ने निष्काम कर्मठता की माँग की, जिसे जैनवाणी, बुद्धवाणी और गीता के विचारों से प्रेरणा मिली। आवश्यक समाजसुधार से उत्पन्न परिवर्तनों का सामना करते हुए, सामाजिक

1 रामायण के विषय में तुलसीदास ने कहा है नाना पुराण निगमागम सम्मत यत रामायणे निगदित क्वचिदन्यतोपि

सगठन के पुनर्नयन के विचार तथा आवश्यकता को आयसमाज तथा वेदा त से प्रेरणा मिली। सामाजिक सुधार और स्वातन्त्र्य सग्राम की आवश्यकता ने पूजीवाद के समक्ष भी लोकसग्रह के विचार को सर्वोपरि रखा। साथ ही साथ, पश्चिमी विज्ञान से प्रकीर्ण होती हुई लौकिकता (Secularism) की विचारधारा से अलौकिकता की विचारधारा यदि खण्डित नही हुई तो, कुठित होकर, मन्द अवश्य पडी। इन विभिन्न प्रभावो के परिणामस्वरूप, इस युग में उत्तमपुरुष की कई धारणायें प्रतिपादित हुई, जो नई परिस्थितियों में, पुरानी धारणाओ का पुनर्नयन हैं। तिलक ने गीता के निवचन के आधार पर उस उत्तमपुरुष का रूप जन मानस के सम्मुख प्रस्तुत किया जो निष्काम कर्मयोगी है और स्वतन्त्रता जिसका जन्मसिद्ध अधिकार है। रामकृष्ण परमहस के कार्यों और विचारो से जिस उत्तमपुरुष का रूप उभरता है वह सभी म एक ही सत्ता देखता है, उसम ऊँच-नीच का भेद भाव नही है वह दोनो के प्रति द्रवित है और प्रत्येक व्यक्ति के लिए वही धर्म उचित मानता है, जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति जन्मत दीक्षित है। स्वामी विवेकानन्द का उत्तमपुरुष स्वतन्त्रता प्राप्ति, सामाजिक दीनता और कुरीतियो को नष्ट करने तथा पश्चिमी विज्ञान और भारतीय आध्यात्मिकता के समन्वय के लिए व्यग्र और कर्मनिष्ठ है। वह सन्यासी है, जीवन्मुक्त है किन्तु वह राजनैतिक आन्दोलन का प्रणेता तथा समाजसेवी है। लोकसग्रह उसका मुख्य ध्येय है। वह ब्रह्मनिष्ठ है, वह 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना से विभोर है। वह अपने प्रति निस्पृह है न कि लोकसग्रह के प्रति। आयसमाजी विचारधारा का उत्तमपुरुष वेदो के प्रति फैले हुए अज्ञान को नष्ट करने तथा वेदविहित आदर्शो के आधार पर समाज के पुनर्सगठन के प्रति वैसे ही तत्पर है जैसा कि युद्ध के लिए प्रेरित सेनानी। उसके लिए वही हिन्दू है जो आर्यों की देन है और वेदविहित है।

गाधी की विचारधारा मे उत्तमपुरुष की धारणा सत्याग्रही की धारणा के रूप मे अवतरित हुई है। गाधी की विचारधारा पर पारलौकिकता का प्रभाव है। राम से उन्हें प्रेरणा मिलती है। लेकिन गाधी की विचारधारा मे प्रतिपादित उत्तमपुरुष अलौकिक नही है वह पूर्णतया लौकिक और इस ससार का पुरुष है। गाधी की विचारधारा अहिंसा, अपरिग्रह और निरन्तर सत्यशोध के विचारो से प्रभावित है। लेकिन, गाधी का उत्तमपुरुष अलौकिक से उतना प्रेरित नही है जितना कि लोक कल्याण की भावना से। सत्याग्रह का अर्थ है सत्य के लिए अहिंसात्मक आग्रह और असत्य से निरन्तर अहिंसात्मक असहयोग। ईश्वरनिष्ठा सत्यनिष्ठा अहिंसा अपरिग्रह और मन, वचन तथा कर्म से सर्वात्म प्रेम सत्याग्रह के मूल आधार हैं। सत्याग्रह वस्तुत जीवनदर्शन है, जिसम सत्यनिष्ठ हुआ व्यक्ति ईश्वरेच्छा की पूर्ति करता है। सत्याग्रह, सत्यनिष्ठा, सत्यशोध, प्रपत्ति और गीता के निष्काम कर्मयोग पर आधारित है। सत्याग्रह शोधकारी अनुशासन पर आधारित है क्योकि, गाधी के अनुसार,

कर्म को असंग तथा द्वेषरहित कर लिया है, जिसमें सत्यानुभूति के द्वारा सत्यनिष्ठा आ गई है, जो दृढ़ निश्चय से उत्पन्न होने वाले साहस तथा उत्साह से प्रेरित है और जिसने अपरिग्रह, अस्तेय तथा अहिंसा को हृदयंगम कर लिया है। सत्याग्रही में चार गुण आवश्यक हैं—पहला, ब्रह्मचर्य जिसका अर्थ अविवाहित जीवन नहीं वरन् मन, वचन तथा कर्म से इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण है, दूसरा सत्यनिष्ठा सर्वात्मप्रेम और अहिंसा, तीसरा निडरता दृढ़ निश्चय और यह भाव की उसके (सत्याग्रही के) सारे कार्य सत्य और ईश्वरेच्छा से प्रेरित हैं और चौथा अपरिग्रही जीवन जो दरिद्रनारायण का प्रतीक है।

अपरिग्रह का तात्पर्य दीनता या गरीबी से नहीं है। अपरिग्रह का तात्पर्य है कम से कम भौतिक वस्तुओं का प्रयोग क्योंकि स्वच्छिक त्याग से सम्यक् दृष्टि का अभ्युदय होता है। सत्याग्रही में लोकसंग्रह की प्रेरणा है। इसीलिए, उसमें दया, करुणा और प्रेम के साथ-साथ कमठता भी है। सत्याग्रही में लोकसंग्रह की प्रेरणा इतनी प्रबल है कि वह संसार का केवल द्रष्टा मात्र नहीं है। संसार में सत्य की संस्थापना के लिए वह निरन्तर क्रियाशील रहता है क्योंकि अहिंसा के द्वारा असत्य का विनाश उसका धर्म है और वह उसके लिए सर्वदा तत्पर रहता है। वह सत्य की संस्थापना के लिए तब तक निरन्तर प्रयत्नशील और कष्ट झेलता रहता है जब तक कि समाज का वांछित रूपान्तरण न हो जाय। सत्याग्रही का आदर्श उस समाज की स्थापना करना है जिसके सदस्य आध्यात्मिकता में प्रबुद्ध हो गये हों और इसकारण अहिंसक अपरिग्रही, सरल, शुद्ध और तपस्वी जीवन की ओर स्वतः प्रेरित हों। सत्याग्रही, इसप्रकार, एक आदर्श तथा समाजाभिमुख उत्तमपुरुष है जो, एक आदर्श समाज की स्थापना के विचार से प्रेरित होकर लोकसंग्रह के कार्य में लगा हुआ है। गांधी का आदर्श समाज अस्तेय और अपरिग्रह पर आधारित वह समाज है जो मशीन, औद्योगिकता पूंजीवाद और शहरीकरण के दोषों से मुक्त है।

अद्वैत वेदान्त की विचारधारा से प्रभावित होने के कारण, राधाकृष्णन के पूर्णत्व सम्बन्धी विचारों पर जीवन्मुक्त की धारणा का प्रभाव स्पष्ट है। राधाकृष्णन ने पूर्णपुरुष को मुक्तात्मा कहा है। वही व्यक्ति मुक्तात्मा है जिसने आत्मसत्व के अनुभव के द्वारा अपने व्यक्तित्व का पूर्णतया एकीकरण कर लिया है, जिसका सर्व प्रकाश में परिष्कार हो गया है तथा हृदय प्रेम में और इच्छा सेवा में, जिसके प्रयत्न अनुशासित हैं जिसमें आत्मा के एकत्व की भावना निश्चित रूप से घुली है और जिसमें अविद्या एषणा, मद, द्वेष तथा क्षिप्त वृत्ति का नाश हो गया है। मुक्तात्मा शाश्वत के प्रति सदैव जागरूक रहता है और इसी जागरूकता के साथ संसार के कर्मों का सम्पादन करता है। साधुशीलता उसका सहजगुण है जिससे समग्र बौद्धिकता का उत्थान होने लगती है। मुक्तात्मा विनम्र धर्यवान तथा कष्टसाध्य होता है। वह दूसरे के दोष को नहीं देखता क्योंकि वह दूसरों को

सगठन के पुनरुन्नयन के विचार तथा आवश्यकता को आर्यसमाज तथा वेदान्त से प्रेरणा मिली। सामाजिक सुधार और स्वातन्त्र्य सग्राम की आवश्यकता ने पूजीवाद के समक्ष भी लोकसग्रह के विचार को सर्वोपरि रक्खा। साथ ही साथ, पश्चिमी विज्ञान से प्रकीर्ण होती हुई लौकिकता (Secularism) की विचारधारा से अलौकिकता की विचारधारा यदि खण्डित नही हुई तो, कुठित होकर, मन्द अवश्य पडी। इन विभिन्न प्रभावो के परिणामस्वरूप, इस युग मे उत्तमपुरुष की नई धारणायें प्रतिपादित हुई, जो नई परिस्थितियो में, पुरानी धारणाओ का पुनरुन्नयन हैं। तिलक ने गीता के विवेचन के आधार पर उस उत्तमपुरुष का रूप जन मानस के सम्मुख प्रस्तुत किया जो निष्काम कर्मयोगी है और स्वतन्त्रता जिसका जन्मसिद्ध अधिकार है। रामकृष्ण परमहस के कार्यों और विचारो से जिस उत्तमपुरुष का रूप उभरता है वह सभी मे एक ही सत्ता देखता है, उसमे ऊँच नीच का भेद भाव नही है वह दोनो के प्रति द्रवित है और प्रत्येक व्यक्ति के लिए वही धर्म उचित मानता है, जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति जन्मत दीक्षित है। स्वामी विवेकानन्द का उत्तमपुरुष स्वतन्त्रता प्राप्ति, सामाजिक दीनता और कुरीतिया को नष्ट करने तथा पश्चिमी विज्ञान और भारतीय आध्यात्मिकता के समन्वय के लिए व्यग्र और कर्मशील है। वह सन्यासी है, जीवन्मुक्त है किन्तु वह राजनैतिक आन्दोलन का प्रणेता तथा समाजसेवी है। लोकसग्रह उसका मुख्य ध्येय है। वह ब्रह्मनिष्ठ है, वह 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना से विभोर है। वह अपने प्रति निस्पृह है न कि लोकसग्रह के प्रति। आर्यसमाजी विचारधारा का उत्तमपुरुष वेदो के प्रति फैले हुए अज्ञान को नष्ट करने तथा वेदविहित आदर्शों के आधार पर समाज के पुनर्सगठन के प्रति वैसे ही तत्पर है जसाकि युद्ध के लिए प्रेरित सेनानी। उसके लिए वही हिन्दू है जो आर्यों की देन है और वेदविहित है।

गाधी की विचारधारा मे उत्तमपुरुष की धारणा सत्याग्रही की धारणा के रूप मे अवतरित हुई है। गांधी की विचारधारा पर पारलौकिकता का प्रभाव है। राम से उन्हे प्रेरणा मिलती है। लेकिन, गाधी की विचारधारा मे प्रतिपादित उत्तमपुरुष अलौकिक नही है, वह पूर्णतया लौकिक और इस ससार का पुरुष है। गाधी की विचारधारा अहिंसा, अपरिग्रह और निरन्तर सत्यशील के विचारो से प्रभावित है। लेकिन, गाधी का उत्तमपुरुष अलौकिक से उतना प्रेरित नही है जितना कि लोक कल्याण की भावना से। सत्याग्रह का अर्थ है सत्य के लिए अहिंसात्मक आग्रह और असत्य से निरन्तर अहिंसात्मक असहयोग। ईश्वरनिष्ठा, सत्यनिष्ठा, अहिंसा, अपरिग्रह और मन, वचन तथा कर्म से सर्वात्म प्रेम सत्याग्रह के मूल आधार हैं। सत्याग्रह वस्तुत जीवनदर्शन है जिसमे सत्यनिष्ठ हुआ व्यक्ति ईश्वरेच्छा की पूर्ति करता है। सत्याग्रह, सत्यनिष्ठा, सत्यशोध, प्रपत्ति और गीता के निष्काम कर्मयोग पर आधारित है। सत्याग्रह लोककारी अनुशासन पर आधारित है क्योकि, गाधी के अनुसार, वही सत्याग्रह का अधिकारी है जिसने आत्मशुद्धि के द्वारा अपने मन, वचन तथा

कम को असंग तथा द्वेषरहित कर लिया है, जिसमें सत्यानुभूति के द्वारा सत्यनिष्ठा आ गई है, जो दृढ़ निश्चय से उत्पन्न होने वाले साहस तथा उत्साह से प्रेरित है और जिसने अपरिग्रह, अस्तेय तथा अहिंसा को हृदयंगम कर लिया है। सत्याग्रही में चार गुण आवश्यक हैं—पहला, ब्रह्मचर्य जिसका अर्थ अविवाहित जीवन नहीं वरन मन, वचन तथा कर्म से इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण है, दूसरा सत्यनिष्ठा सर्वात्मप्रेम और अहिंसा तीसरा 'निडरता' दृढ़ निश्चय और यह भाव कि उसके (सत्याग्रही के) सारे काय सत्य और ईश्वरेच्छा से प्रेरित हैं, और चौथा, अपरिग्रही जीवन जो दरिद्रनारायण का प्रतीक है।

अपरिग्रह का तात्पर्य दीनता या गरीबी से नहीं है। अपरिग्रह का तात्पर्य है कम से कम भौतिक वस्तुओं का प्रयोग, क्योंकि स्वच्छिन्न त्याग से सम्यक् दृष्टि का अभ्युदय होता है। सत्याग्रही में लोकसंग्रह की प्रेरणा है। इसीलिए, उसमें दया, करुणा

रूपेण जानने का दावा नहीं करता है। मुक्तात्मा के एषणारहित प्रेम से दुखी हृदयों को सान्त्वना मिलती है। मुक्तात्मा, वस्तुतः, रचनात्मक जीवन का कलाकार है। मुक्तात्मा, इसप्रकार, एक ओर, शाश्वत के प्रति जागरूक है और, दूसरी ओर अपने सत्व के प्रति असंग रहित होकर, लोकसंग्रह के लिए कार्यशील है। मुक्तात्मा स्वपरक न होकर, शाश्वतपरक तथा समाजपरक होता है।

हिन्दुत्व के वैचारिक आधार तथा आदर्श नियम, जैसाकि पिछले वर्णन से स्पष्ट है, धर्म पुरुषार्थधर्म, वर्णाश्रमधर्म, कर्मधर्म, राजधर्म, कुलधर्म तथा उत्तमपुरुष की धारणाओं से प्रेरित हैं। हिन्दू विचार लौकिकता और अलौकिकता से एक साथ प्रेरित है। हिन्दू सामाजिक विचार वस्तुतः दार्शनिक विचार है। हिन्दुत्व में व्यक्ति तथा समाजसम्बन्धी विचारों को दर्शन के आधार पर प्रतिपादित किया गया है। यहाँ दर्शन का अर्थ केवल तर्काश्रित आदर्श विचार से नहीं है। यहाँ दर्शन ज्ञान है और ज्ञान पारलौकिक सत्य की वह अनुभूति है जो विज्ञान से परे है। पारलौकिक सत्य की अनुभूति से मोक्ष प्राप्ति जीवन का उच्चतम उद्देश्य है। जीवन के दो पहलू हैं—वैयक्तिक और सामाजिक। वैयक्तिक और सामाजिक एक दूसरे के विरोधी नहीं वरन पूरक हैं क्योंकि पारलौकिक सत्य की अनुभूति और मोक्ष के लिए व्यक्ति का सामाजीकरण आवश्यक है। समाज बन्धन नहीं वरन् सर्वोत्तम उद्देश्य की पूर्ति का साधन है। इसीलिए, वैयक्तिक स्वार्थ नहीं वरन लोकसंग्रह महत्वपूर्ण है। पूर्णपुरुष का उद्भव-स्थान और क्रिया क्षेत्र समाज है। लेकिन, समाज लौकिक है, वह पारलौकिक की छाया मात्र है। पूर्णत्व पारलौकिक की प्राप्ति में है। समाज पारलौकिक की प्राप्ति का साधन बना रहे, इसलिए, समय समय पर समाज को सुधारने के लिए मानवरूप में स्वयं पारलौकिक अवतरित होता है। इस प्रकार, रहस्यविचार और पारलौकिकता, *हिन्दू सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवन के आधार हैं।* प्रवृत्ति अवश्यम्भावी है निवृत्ति सर्वोत्तम आवश्यक साधन और दोनों का आधार तथा माध्यम समाज है। हिन्दुत्व में समाज को साधन और माध्यम माना गया है—वह साधन जिससे जीवन के सर्वोत्तम उद्देश्य की प्राप्ति होती है। समाज, एक साधन के रूप में, सामाजिक आदर्श नियमों (Social Norms) या लोकाचारों से बंधा है। आदर्श नियमों की सामाजिक अभिव्यक्ति संस्थाओं में होती है। संस्थायें व्यक्ति के सामाजीकरण का माध्यम होती हैं और संस्थाओं के द्वारा व्यक्ति अपने समाज के सांस्कृतिक आदर्श के समीप पहुँचता है। हिन्दू संस्थायें और हिन्दू सांस्कृतिक आदर्श पारलौकिकता के विचार से प्रेरित हैं।

भारतीय संस्कृति मे इस्लाम

भारत मे इस्लाम

हिन्दुत्व और इस्लाम

भारत के सांस्कृतिक उत्विकास मे शंकर का अभ्युदय और इस्लामी सांस्कृतिक धारा का प्रवाह साथ साथ प्रारम्भ हुआ है। आठवी शताब्दी से लेकर अठारहवी शताब्दी तक का काल एक ओर, हिन्दुओ और मुसलमानो म चलने वाले राजनतिक सघष का काल है तो दूसरी ओर दार्शनिक उहापोह सामाजिक सुधारो और विपलवो का। इसी काल को एक ओर मध्ययुग कहा जाता है तो दूसरी ओर मुस्लिम काल। सांस्कृतिक उदविकास क इतिहास के दृष्टिकोण से मुस्लिम काल की सत्ता निरथक है क्योकि इस काल म मुसलमानो को भारत पर पूण राजनतिक प्रभुत्व कभी नही मिला। सात सौ बारह इसवी म मुहम्मद बिन-कासिम के द्वारा सिंध के कुछ शहर जीत लेने का अथ भारत मे मुस्लिम काल का प्रारम्भ होना नही है और न उस समय स हिंदू सस्कृति के उत्तरोत्तर उदविकास की प्रक्रिया मे कोई व्यवधान ही आया है। सारे मुस्लिम कहे जाने वाले काल म भारत के किसी न किसी भाग मे, हिंदू राज्य रहे है जिनके अधिष्ठाता हिंदू मा यता के अनुसार धम राज्य स्थापित करने का प्रयत्न करते रहे है। काबुल लाहौर दिल्ली अजमेर कनौज, मालवा और गुजरात क राजपूत शासक आक्रमणकारी इस्लाम को रोक कर हिंदू मा यता के अनुसार धम राज्य की स्थापना करत हुए समाप्त हुए हैं। चौदहवी शताब्दी म

तुगलकों के पतन के बाद, राजपूतों ने अपने पुनरुत्थान का प्रयत्न किया और अठारहवीं शताब्दी के राजनैतिक भारत पर वस्तुतः हिन्दुओं का प्रभुत्व था[1]। राजनैतिक सर्वोपरिता के दृष्टिकोण से केवल तेरहवीं शताब्दी के अन्त या चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक का काल ही मुस्लिम-काल कहा जा सकता है। किन्तु, सांस्कृतिक विकास के तारतम्य में जहाँ आधारभूत धारा प्रवाहित होती रहती है इन कालों से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं वे परिवर्तन प्रक्रियायें, जिनमें मुख्य सांस्कृतिक धारा के किनारे कटते-छटते तो हैं, उसकी गति भी बदलती है पर उसकी दिशा में परिवर्तन नहीं आता है।

भारत की हिन्दू-संस्कृति में इस्लामी धारा के मिलन के बाद से ही भारतीय संस्कृति का रूप आता है। इस्लाम की उत्पत्ति ऐतिहासिक प्रक्रिया में हुई है। इस्लाम इतिहास में समाया हुआ है और इस्लाम में इतिहास। इस्लाम एक ओर एक मजहबी आस्था है तो दूसरी ओर, एक सामाजिक ऐतिहासिक प्रवाह। हिन्दुत्व और इस्लाम का मिलन वस्तुतः उन दो ऐतिहासिक प्रवाहों का मिलन है जिनमें मानव-जीवन के सभी पक्ष निहित हैं जिनका उद्भव और विकास अलग अलग स्थानों में हुआ और अपनी ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण जो एक दूसरे से विभिन्न सिद्ध हुए। मध्ययुगीन भारत के इतिहासकार बहुधा हिन्दुत्व पर इस्लाम के आघात की बात करते हैं क्योंकि उनकी यह मान्यता है कि इस काल में होने वाले सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन इस्लाम के आघात के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणाम हैं[2]। समाजशास्त्रीय मत से यह दृष्टिकोण एकांगी है क्योंकि यहाँ यदि इस्लाम का असर हिन्दुत्व में हुआ तो हिन्दुत्व का इस्लाम में। दोनों इतिहास की अलग अलग प्रक्रियायें थीं और दोनों को राजनैतिक सरगर्मी प्राप्त थी। अपनी अपनी समन्वयकारी क्षमताओं के कारण यदि इस्लाम ने हिन्दुत्व के संस्करण उपस्थित किए तो हिन्दुत्व ने इस्लाम के और इन्हीं संस्करणों के माध्यम से दोनों का भारतीयकरण हुआ। फिर भी, इस्लाम और हिन्दुत्व के भारतीयकरण की प्रक्रियाओं के बीच, इस्लाम ने इस्लाम बने रहने का प्रयत्न किया और हिन्दुत्व ने हिन्दुत्व। इस्लाम ने औरंगजेब को जन्म दिया तो हिन्दुत्व ने शिवाजी और गुरु गोविन्दसिंह को और कालान्तर में, एक ओर, पाकिस्तान बना तो, दूसरी ओर, इण्डिया अथवा भारत।

---

1 सरकार, विनयकुमार : दि पॉजिटिव बैकग्राउण्ड आफ हिन्दू सोशियोलॉजी, प्रथम जिल्द, पृष्ठ 90–100

2 उदाहरण के लिए देखिए डा० ताराचन्द कृत इन्फ्लुएन्स आफ इस्लाम आन इण्डिया।

२

इस्लाम

भारत म इस्लाम के प्रवेश से उत्पन्न परिवतन प्रक्रियाओं के समझने के लिए इस्लाम के स्वरूप और उसकी इतिहास जनित विशेषताओं की व्याख्या आवश्यक है। रहस्यवादी अनुभूति म अनुगुंठित, इस्लाम इस प्रकार के मजहबी विचारों का अभिव्यक्ति है, जिसका बीजारोपण उस समय हुआ था जब अरब म मक्का निवासी हजरत मुहम्मद (570 630) को इस बात का दिव्य अनुमान हुआ था कि वे ईश्वर के दूत है और उनके माध्यम से मानव मात्र के कल्याण के लिए ईश्वर के आदेश अवतरित हो रहे है। इस्लाम उस समय अकुरित हुआ था जब अपने रहस्यवादी सहज ज्ञान का प्रचार करने के कारण हजरत मुहम्मद को मक्का म विरोध हुआ और उन्हें भागकर मदीना मे शरण लेनी पडी जहा मुहम्मद के नेतत्व म, इस्लाम पल्लवित हुआ एक छोटे से मजहबी राष्ट्रवादी समुदाय के रूप म, जो निरन्तर बढता ही रहा है। इस्लाम की स्थापना के लिए इसी समुदाय ने जब मक्का विजय की तो इस्लाम का राजनतिक रूप उभरा। हजरत मुहम्मद के जीवन काल ही म पश्चिमी अरब पर इस्लाम का झडा गड गया था। हजरत मुहम्मद की मत्यु के बाद एक शताब्दी बीतते बीतते सिन्धु स लेकर मोरक्को तक इस्लाम का झडा लहराने लगा था। ईसा की तेरहवी शताब्दी के आस पास इस्लामी विचारो और अनुभूतियो ने एक सभ्यता विशेष का रूप ले लिया था। पिछले तरह सौ वर्षों के निरन्तर प्रसार का परिणाम है कि आज इस्लाम उस बडे भभाग का प्रधान मजहब है जो उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया के आर पार होता हुआ पामीर तक आता है और वहा से, पूरब मे मध्य एशिया तथा चीन और दक्षिण मे पाकिस्तान म विलीन हो जाता है[1]। अपने इस व्यापक प्रसार म, एक ओर इस्लाम ने अनेक प्रजातियो (Races) गणजातियों (Tribes) और राष्ट्रो (Nations) को एक सामाजिक धार्मिक सूत्र म बाधने का प्रयास किया तो, दूसरी ओर वह एक प्रबल राष्ट्रनिर्मात्री शक्ति सिद्ध हुआ। इस्लाम के ही मघात से अरबी बबर ईरानी, तूरानी अफगानी और अल्बानिया आदि के निवासियो का अलग अलग राष्ट्रीय पुनजन्म हुआ।

---

1 इस्लाम के अनुयाइयों का प्रसार क्षेत्र इतना ही नहीं है, यद्यपि यह एक प्रमुख क्षत्र है। भारत में इस्लाम प्रमुख मजहब नहीं है। किंतु मलाया प्रायद्वीप तथा पूर्वी द्वीप समूह से लेकर फिलिप्पाइंस तक इस्लाम एक प्रमुख मजहब है। टगानिका और जजीबार वाले अफरीकी क्षेत्र में भी इस्लाम प्रधान मजहब है किंतु दक्षिणी अफरीका के राज्य सघ में मुसलमानो की सख्या छुटपुट है। उत्तरी तथा दक्षिणी अफरीका में पाए जाने वाले मुसलमान मध्य एशिया से स्थानान्तरित हुए ह —गिब, मोहम्मडनिज्म पृष्ठ 3

इस्लाम अरबी भाषा का शब्द है जिसका एक अर्थ है ईश्वर के प्रति मनुष्य का आत्मसमर्पण और दूसरा शान्ति में प्रवेश करना। अतः इस्लाम एक आस्था है जिसके द्वारा मनुष्य अपने को ईश्वर के प्रति समर्पित करके शान्तिप्राप्ति की कामना करता है। यह आस्था निहित है उन वाक्यों (आयतों) में जो हजरत मुहम्मद ने अपनी इलहामी अवस्थाओं में कहे हैं और जिन्हें ईश्वर वाक्य मानकर हजरत मुहम्मद की मृत्यु के बाद कुरान[1] नामक धार्मिक पुस्तक में संग्रह कर लिया गया है। हजरत मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित इस्लामी आस्था में, ईश्वर एक है और वह सर्वशक्तिमान निराकार, अजन्मा, अजर, अमर और अत्याचारी पर दयालु है। अजन्मा होने के कारण न तो राम और कृष्ण की भांति ईश्वर अवतार ले सकता है और न ईसाइयों की ईसा की भांति नश्वर नारी के गर्भ से किसी का जन्म ही दे सकता है[2]। हजरत मुहम्मद ईश्वर (अल्लाह) के अन्तिम दूत (रसूल, नबी, पैगम्बर) हैं। मुहम्मद के पहले पैगम्बर अवश्य हुए हैं पर उनके बाद न कोई हुआ है और न हो सकता है। इस आस्था से यह ध्वनित होता है कि मुहम्मद द्वारा दिया हुआ ईश्वरीय ज्ञान भी अद्वितीय और अन्तिम है क्योंकि ऐसा ज्ञान न पहले मिला है और न मिलेगा। इस्लामी आस्था में इस्लाम एक अद्वितीय सर्वश्रेष्ठ रहस्यात्मक ईश्वरीय ज्ञान (Revelation) है न कि धर्मविद्या (Theology) और हजरत मुहम्मद ईश्वर के अन्तिम दूत हैं न कि कोई साधारण धर्मविद् (Theologian)। इस्लामी परम्परा का प्रस्थानाधार यही आस्था है।

इस्लामी आस्था में ईश्वर मालिक है और मनुष्य गुलाम है। ईश्वर और मनुष्य का अस्तित्व अलग अलग और भिन्न है एवं वे परस्पर विरोधी स्वभाव के हैं किन्तु ईश्वर के समक्ष सभी मनुष्य समान हैं। मनुष्य एक अनूठा तथा निराला प्राणी है जिसका न पुनर्जन्म

---

1 कुरान इस्लाम की मूल धार्मिक पुस्तक है जिसकी आयतों में जहां एक ओर, ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्धों को नियमित करने के उसूल निहित हैं वहीं दूसरी ओर सामाजिक जीवन को नियमित करने वाले एवं नियमों का भी प्रतिपादन किया गया है जैसे मादक वस्तुओं का सेवन न करना, सुअर का मांस न खाना और सूद न लेना इत्यादि। कुरान के अलावा सुन्ना, हदीस और शरीअत तीन अन्य पुस्तकें हैं। सुन्ना में हजरत मुहम्मद के कार्यों का बयान है और हदीस में उनके उपदेशों का संकलन। शरीअत इस्लामी विधि संहिता है जिसे कुरान, सुन्ना और हदीस के आधार पर संग्रह किया गया है। शरीअत उतनी ही पवित्र और ईश्वरीय है जितनी कि कुरान।

2 ईसाई ईसा को ईश्वर का पुत्र मानते हैं जो कुमारी मरियम के गर्भ से ईश्वरीय कृपा के कारण उत्पन्न हुए थे। इस्लाम में ईश्वर अजन्मा है। अतः, वह ऐसा नहीं कर सकता।

होना है और न मोक्ष[1]। प्रलय (कयामत) के द्वारा एक दिन इस ससार का नाश होना है और जब तक प्रलय नही आती है, प्रत्येक मत मनुष्य को कब्र म पडा रहना पडेगा। कयामत के बाद हर एक को, ईश्वर के निणय के अनुसार स्वग या नक म जाना होगा। चूकि ससार का अन्त है और व्यक्ति का पुनजन्म नही है मनुष्य का केवल एक ही धम है और वह है हजरत मुहम्मद द्वारा बनाए हुए ईश्वरीय आदशो के अनुसार चलकर ईश्वरीय कृपा पाने का निरन्तर प्रयास करना क्योकि ऐहिक तथा पारलौकिक सुख के लिए ईश्वरीय कृपा आवश्यक है। नमाज (प्राथना), रोजा (व्रत उपवास) जकात (भिक्षा दान) हज[2] (तीथ यात्रा) और जिहाद[3] के माध्यम से मनुष्य ईश्वर की कृपा पा सकता है।

इस प्रकार इतिहास के गभ से उत्पन्न, इस्लाम एक दृढ, आत्म विश्वासी और विजयाकाक्षी मजहबी आस्था है। यह आस्था केवल मानसिक (Psychical) नहीं है क्योकि यह व्यक्ति को समष्टि म समेटे हुये है और धम को राष्ट्र अनुशासन तथा सभ्यता मे। इस्लामी आस्था का प्रथम प्रस्फुटन हुआ था एक समुदाय म जिसने अपने शासक और धमगुरू (हजरत मुहम्मद) को स्वय चुना था। इसीलिए, इस्लाम म मिल्लत (समुदाय) अधिक महत्वपूण है न कि मलिक (शासक) या व्यक्ति। इस्लाम का जन्म हुआ था एक धार्मिक राष्ट्रीय चेतना के रूप म। इसीलिये इस्लाम मे शासक और धम गुरु एक मे मिल गये। इस्लाम ने सदव राष्ट्र और मजहब को

---

1 जीव, आत्मा माया मोक्ष या निर्वाण जसी मा यतायें इस्लाम में नहीं ह। सूफीवाद में एसी मा यतायें अवश्य मिलती ह पर वास्तव में सूफीवाद मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित इस्लाम का एक विभेद है। सूफीवाद की आत्मा इस्लाम की अपेक्षा वेदा त के अधिक समीप है। इस्लाम में जीव अविनाशी और ईश्वर का अश नहीं है। ईश्वर के समक्ष मनुष्य कवल दया की भीख माग सकता है। हिन्दुत्व में, ईश्वर की दया के बावजूद भी, कम की छाप अमिट रहती है। सम्भवत इसी कारण हिन्दुत्व की प्राथना (इबादत) में आराध्य में लीन हो जाने की प्रेरणा है और इस्लाम में कृपा भीख मागने की सोऽह (अनलहक) या 'खुदी को कर बल द इतना कि हर तकदीर से पहले, खुदा बन्दे से फिर पूछे कि बता तेरी रजा क्या है जसी कल्पनायें इस्लाम की आत्मा के विरुद्ध ह।

2 इस्लाम में हज का अथ है मक्का मदीना की यात्रा करना।

3 जिहाद का मूल अथ है हजरत मुहम्मद द्वारा मिले ईश्वरीय ज्ञान का प्रसार करना। किन्तु इस्लाम के प्रसार के लिए स्वय हजरत मुहम्मद ने तलवार उठाई थी। बाद में इस्लामी साम्राज्य के फलने के साथ जिहाद का अथ हो गया धमयुद्ध और आज जिहाद इसी अथ में प्रयुक्त होता है।

एकता में सिमटने का प्रयास किया है और इसीकारण इतिहास में इस्लाम एक प्रबल राष्ट्रनिर्मात्री शक्ति रहा है। भारत में पाकिस्तान का निर्माण इसी ऐतिहासिक प्रक्रिया से सम्बन्धित है। इस्लाम, व्यक्ति को एक राष्ट्रीय और सामाजिक अनुशासन में बांधने का प्रयास है। मुसलमान[1] बनने का अर्थ है इस्लाम में दीक्षा लेना जो अद्वितीय, अनिवार्य, रहस्यात्मक और स्थिर है। उन सबका और राष्ट्र का सदस्य बनना जो इसी ज्ञान पर आधारित है तथा उन मूल्यों और अनुशासन को अपनाना जो पूर्वनिर्धारित हैं और जो पहले ही से उचित मान लिये गए हैं। जिज्ञासाओं के स्थान पर, मुहम्मद द्वारा मिले ईश्वरीय आदेशों का पालन ही इस्लाम की अपने अनुयायी से मुख्य मांग है और मुसलमान का सबसे पहला धर्म है। ईश्वरीय ज्ञान का प्रचार (जिहाद) मुसलमान का कर्तव्य है। इसीकारण इस्लाम एक अनुशासक आस्था है और प्रत्येक मुसलमान एक सहज सिद्ध मिशनरी (धर्म प्रचारक)। अपने ऐतिहासिक सन्दर्भ में, इस्लाम एक सामाजिक आस्था को स्थापित करने का प्रयास है जिसका एक आधार है इस्लामी स्थिर ज्ञान और दूसरा ऐतिहासिक प्रश्न सामाजिक विराजन को सम्पूर्तिमूलक न होकर न्यूनतामूलक है।

इस्लाम का आविर्भाव और अभ्युदय हुआ है एक युक्तिकृत (Rationalized) सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और स्थिर आस्था के रूप में जो सब कुछ के धार्मिक ऐतिहासिक विश्वास की एक पूर्वनिर्धारित भाव रचना और स्थिरता मानी गयी है। इस्लाम के प्रतिष्ठापकों ने इस आस्था का निरन्तर युक्तिकरण (Rationalization) किया है[2]। यह युक्तिकृत आस्था निहित है कुरान, सुन्ना, इज्मा

---

1 इस्लाम के अनुयायी को फारसी में मुसलमान और अरबी में मुस्लिम की संज्ञा दी जाती है। गिब ने इस्लाम के लिये मुहम्मदवाद (Mohammadanism) की संज्ञा का प्रयोग किया है जिसके आधार पर मुसलमान को मुहम्मदवादी (Mohammadan) भी कहा जाता है। किन्तु इस पर यह आपत्ति की जा सकती है कि मुहम्मदवाद या मुहम्मदवादी से यह ध्वनित होता है कि जैसे मुहम्मद कोई देवता हों और इस्लाम मुहम्मद का धर्म हो। इस्लाम ईश्वर का धर्म है न कि मुहम्मद का। इस्लाम के विद्यार्थियों को यह आपत्ति है कि मुहम्मदवाद इस्लाम के केवल एक अंग को व्यक्त करता है—वह अंग जो मुहम्मद के प्रतिपादनों से ही सम्बन्धित है। शिया और सूफी सम्प्रदाय भी इस्लाम के अंग हैं यद्यपि वे मुहम्मदवाद के क्षेत्र में नहीं आते हैं। इस्लाम शब्द, मुहम्मदवाद के स्थान पर, अधिक उपयुक्त और व्यापक है।

2 उदाहरण के लिये देखिये गिब द्वारा रचित 'मोहम्मडनिज्म' और अमीरअली की 'द स्पिरिट आफ इस्लाम'। अमीरअली ने इस्लाम के आविर्भाव की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का जो विवेचन प्रस्तुत किया है उससे यह ध्वनित होता

और शरिअत में, जिनका अक्षरशः पालन ही नहीं वरन जिहाद (प्रसार) भी आवश्यक है। इस्लाम की उत्पत्ति ही उस स्थिति में हुयी थी जिसमें राजा, राज्य, विधि-संहिता, समाज और संस्कृति सभी कुछ मजहब के आधीन हो गये थे। राजा (खलीफा), जो धर्म गुरु भी है जिहाद का प्रतिष्ठापोषक बना और इसे जानने वाले (उल्मा धर्मविद) मजहब के रक्षक। कुरान सुन्ना, हदीस और शरिअत की आत्मा अरबी है जिसके कारण इस्लाम का मूल आधार अरबीवादी है। इस्लाम का ग्रहण करने वालों से इस्लाम सदा अरबीपन में रंगने की मांग करता रहा है। इस पक्ष पर इस्लाम का अंतिम और सर्वश्रेष्ठ दिव्यज्ञान होने के कारण, सिद्धान्ततः, इस्लाम परिवर्तन नहीं स्वीकार करता। संसार के मुस्लिम समाजों को एकसूत्र में बाँधने तथा प्रथम महायुद्ध के बाद खिलाफत को बनाये रखने के प्रयास और अठारहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध व बाद तक, अखिल मुस्लिम समाज में, इस्लाम की शुद्धता बनाये रखने के लिये चलने वाला वहाबी आन्दोलन इसी इतिहासजनित अरबी कट्टरता के प्रतीक हैं। सातवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक, इस्लाम जिन राजनैतिक परिस्थितियों में रहा, उनसे अरबीपन को प्रोत्साहन मिला, जिसके कारण इस्लाम में अरबीपन की लहर बराबर उद्वेलित होती रही है। इस्लाम का जहाँ भी प्रसार हुआ वहाँ वह राज्य धर्म के रूप में रहा और मुसलमान शासक के रूप में जिसका परिणाम यह हुआ कि जिस समाज में इस्लाम का प्रवेश हुआ इस्लाम उसे अरब इस्लाम बनाने के लिए प्रेरित रहा। इस्लाम का उद्भव अभ्युदय और प्रसार अरबीवाद (Arabicism) की प्रचण्ड लहर में बहता रहा है जिसके लिये न इस्लाम उत्तरदायी है न उसके प्रणेता और न मुसलमान। इस्लाम में अरबीवाद के लिये उत्तरदायी हैं वे ऐतिहासिक परिस्थितियां जिनमें इस्लाम का जन्म, वृद्धि और प्रसार हुआ है।

इस्लाम की अरबीवादी प्रवृत्ति का जन्म इतिहास में हुआ और इतिहास ही उसका विरोधी रहा है। इसी अरबीवादी प्रवृत्ति और उसमें उत्पन्न समन्वयकारी सामाजिक शक्ति के कारण अपने वृद्धि और विकास के दौरान में इस्लाम नयी शक्तियों को ग्रहण और एकीकरण करता रहा। यह एकीकरण इस्लाम के बौद्धिक जीवन (कला और विज्ञान) में प्रस्फुटित हुआ जिससे मानव इतिहास में इस्लाम का अमूल्य योगदान आया है। किन्तु इस्लामी एकीकरण पर अरबीवाद का इतना प्रबल प्रभाव रहा है कि उसका विरोध भी होता रहा है और उसके कारण इस्लाम में विषम

है कि इस्लाम का आविर्भाव मानव इतिहास की उस अवस्था में हुआ है जहाँ तत्कालीन कोई भी धर्म मानव की आध्यात्मिक जिज्ञासा शान्त करने में समर्थ न था। अमीरअली जैसे समीक्षकों ने इस्लाम के उद्भव और प्रसार को मानव विकास की ऐतिहासिक आवश्यकता का परिणाम माना है।

और विभिन्न परिस्थितियाँ और परिवर्तन भी आते रहे हैं। गिब के अनुसार, स्पेन और उत्तरी अफरीका से लेकर समरकन्द तक फैले प्रदेश में, इस्लामी प्रभाव से अस्तित्व में आये धर्मविद्या के क्षेत्र में इस्लामी साहित्य पर यूनानी, ईरानी और भारतीय ज्ञान का जो प्रभाव पड़ा उससे अनेक नयी मान्यताएँ अस्तित्व में आयीं। जैसा कि सूफीवाद के विकास और प्रसार से स्पष्ट है, इन मान्यताओं में से कुछ इस्लामी परम्परा से स्वतन्त्र थीं और कुछ कट्टर दकियानूसी मान्यताओं के प्रति विद्रोह का परिणाम थीं। ईरान में शिया पन्थ की उत्पत्ति और एक विशिष्ट इस्लामी संस्कृति का विकास, इस्लाम के अरबीकरण के प्रति विद्रोह का ही प्रभाव है। वास्तव में प्रारम्भ से ही, इस्लाम अपने अनुयायियों से अरबीकरण में रंगने की माँग करता रहा है और इस्लाम के अनुयायी, इस्लाम से अरबीकरण का [illegible] के अनुसार ग्रहण की। [illegible] ऐतिहासिक सांस्कृतिकता न थी उनमें अरबीवाद विजयी हुआ किन्तु ईरान और भारत जैसे देशों में जहाँ ऐतिहासिक सांस्कृतिकता पहले ही से विद्यमान थी अरबीवाद को अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करना पड़ा।

इस्लामी अरबीवाद को भारत में जितना संघर्ष करना पड़ा उतना शायद कहीं और नहीं। भारत में, एक ओर [illegible], ओबैदुल्ला [illegible] [illegible] तथा जिन्ना के द्वारा और दूसरी ओर, अकबर, दारा शिकोह, सरमद, [illegible] मौलाना आज़ाद और राष्ट्रवादी मुसलमानों का इस्लाम में अरबीकरण के प्रति तनाव और संघर्ष भी अभिव्यक्त है। भारतीय सभ्यता के विकास के साथ-साथ वर्तमान पाकिस्तान की सृष्टि ने इस्लामी अरबीकरण को एक नयी चुनौती दी। इस्लाम की प्रारम्भिक [illegible] राजनैतिक सफलता और अरबीवाद का [illegible] इस्लाम में एक ओर कट्टरता उत्पन्न की तो दूसरी ओर एक प्रकार की संकीर्णता और धार्मिक असहिष्णुता (Intolerance) की भावना। इस्लाम में अरबीवाद और [illegible] की आत्यन्तिकता के अनुसार, समय-समय पर उत्पन्न होने वाले स्वतन्त्र विचार [illegible] साथ-साथ चलते रहे हैं। इन विरोधी प्रवृत्तियों के साथ प्रतिक्रिया के कारण इस्लाम के साथ में जो कुछ भी उसके विरुद्ध था इस्लाम ने उसके प्रति द्वेष, [illegible] और ईर्ष्या का [illegible] किया। [illegible] बौद्धिक विचारों के प्रति इस्लाम [illegible] और सारी बौद्धिकता मजहब के ही दायरे में बन्द हो गयी। इस ऐतिहासिक विकास का मूल परिणाम यह हुआ कि इस्लाम की आत्मा अरबी और गैर अरबी के द्वन्द्व को लेकर तनावमय हो गयी। आज भी इस्लाम की आत्मा इस संघर्ष से अछूती नहीं है।

३

भारत मे इस्लाम का प्रवेश

भारतीय सस्कृति म इस्लाम का प्रवेश, प्रसार वृद्धि और अस्तित्व इस्लामी इतिहास के अपवाद रहे हैं क्योकि लगभग तरह सौ वर्षो के सम्पर्क के बाद भी, अय स्थानो के विपरीत, भारत इस्लामी राष्ट्र न हो सका, भारत म मुसल्मान अल्पसख्यक ही रहे और यहाँ इस्लाम का अरबो फारसीपन सबसे अधिक बदला ही नही वरन उस अपने अस्तित्व के लिय सबसे अधिक सघर्ष भी करना पडा। भारत मे इस्लाम और हिदुत्व का मिलन दो ऐसे एतिहासिक प्रवाहो का मिलन था जिनम विजातीय तत्वो को आत्मसात करने की विलक्षण क्षमता थी। किन्तु इस्लाम और हिदुत्व की इन क्षमताओ की प्रकृति म एक आधारभूत अतर था जिसके कारण भारत म हिदुत्व और इस्लाम के सम्पर्क से जो एतिहासिक स्थिति अस्तित्व म आई, वह इस्लाम के इतिहास म अपने ढग की अनोखी थी। अपने प्रसार म, इस्लाम ज्यो ज्यो अनेक प्रजातियो, गणजातियो और राष्ट्रो को आत्मसात करता रहा त्यो त्यो इस्लाम म सात्मीकरण का प्रवाह बढता रहा क्योकि स्वभावत इस्लाम एक मिशनरी आस्था है[1]। इस्लामी सात्मीकरण एक प्रवाह है जो अपने ससर्ग म आने वाले को बहा ले जाता है। इस्लामी सात्मीकरण की एक ही दिशा है और वह है, उस इस्लामी आस्था म दीक्षित होना जो हजरत मुहम्मद न प्रतिपादित किया है और उस आस्था पर आधारित समुदाय का सदस्य बनना तथा उसका प्रसार करना। इस्लामी सात्मीकरण म रही है प्रसार की भावना और राजनैतिक प्रभुत्व की महत्वाकाक्षा। यही कारण है कि इस्लामी समाज अनेक प्रजातियो गणजातियो और राष्ट्रो का आत्मसात करते हुए और विजातीयतात्मक तथा मिश्रित होने पर भी एकीकृत रहा। सात्मीकृत व्यक्ति या समूह से इस्लामी सात्मीकरण की माग है मौलिकता का परित्याग या इस्लाम की आत्मा के अनुरूप अपनी मौलिकता म आमूल चूल परिवर्तन।

इसके विपरीत हिदू सात्मीकरण वह प्रक्रिया रही है जो एकमुखी न होकर बहुमुखी है और जिसमे बाहर से आया हुआ समूह, आवश्यकतानुसार परिवर्तित होकर अपनी मौलिकता बनाये रखता है तथा एक सस्कृति सघान (Federation of Culture) से उसी प्रकार बधा रहता है जिस प्रकार इस ब्रह्माड के अनेक ग्रह

1 इस्लाम में मगोलो का प्रवेश (1220 25) एक विजातीय और विरोधी शक्ति के रूप में हुआ, किन्तु कालातर में चौदहवीं पन्द्रहवी शताब्दी के आस पास भारत से लेकर अरब तक मगोल ही इस्लाम के प्रबल प्रतिष्ठा पोषक और प्रसारक सिद्ध हुये। भारत में जिन हिन्दुओ ने इस्लाम को स्वीकार किया उन्होंने इस्लाम के प्रसार का भरसक प्रयत्न किया। उदाहरणा के लिये देखिये दिनकर कृत सस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ 270

और उपग्रह हैं। अनेकान्तवादी समन्वय की भावना हिन्दू सात्मीकरण की मूल प्रेरक रही है। इन्हीं विभेदी प्रवृत्तियों का यह परिणाम हुआ कि हिन्दुत्व और इस्लाम परस्पर विभेदी हो गये और उनका सम्पर्क संघर्षमय हो गया। यहां न तो हिन्दुत्व इस्लाम को आत्मसात कर सका और न इस्लाम हिन्दुत्व को यद्यपि भारत के बाहर इस्लाम ने अनेक समाजों को आत्मसात कर लिया था और इस्लाम से सम्पर्क स्थापित होने के पहले हिन्दुत्व ने अनेक समाजों को अपने सांस्कृतिक संघात में विलीन किया था। हिन्दुत्व और इस्लाम का पिछले लगभग तेरह सौ वर्षों में, सम्पर्क, सम्मिलन, एकीकरण, उभय विलगाव और परिवर्तन का यह ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसमें हिन्दू मुस्लिम संस्कृतियों का वर्तमान अर्थ में भारतीयकरण हुआ है। इसी भारतीयकरण को इतिहासकार भारतीय संस्कृति का हिन्दुस्तानी प्रकार (The Hindustani Way) कहते हैं यद्यपि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह कहना कठिन है कि वस्तुतः हिन्दुस्तानी प्रकार क्या है।

भारतीय संस्कृति में इस्लाम का प्रवेश और प्रभाव कई मार्गों तथा और अवस्थाओं में हुआ है। भारत में हिन्दुत्व और इस्लाम का प्रथम सम्पर्क हुआ था दक्षिण में और उन अरब निवासियों के द्वारा जो अत्यन्त प्राचीनकाल से भारत तथा योरोप के बीच एक व्यापारिक माध्यम थे। ईसा की सातवीं शताब्दी में जिस समय, अरब में इस्लाम का अभ्युदय हो रहा था मालाबार-तट पर अरब निवासियों की बस्तियां अस्तित्व में आ चुकी थीं। हिजरी सन (इस्लामी संवत) के [illegible]

भारतीयों को इस्लाम मे दीक्षित किया उसमे राजा और प्रजा तथा उच्च और निम्न वर्ण के लोग सम्मिलित थे। दक्षिण मे इस्लाम की जो पहली सामाजिक धार्मिक लहर चली वह हिंदुत्व और इस्लाम के शान्ति सहृदय सम्पर्क का परिणाम थी और उसका उदगम था इस्लाम की सुयुक्तिपूर्णता (Rationalization) अरबों मुसलमानों की शान्तिप्रिय मिशनरी भावना और उनके उत्साह तथा प्रयत्न मे।

आठवी शताब्दी मे उत्तर पश्चिम से इस्लाम का आक्रामक साम्राज्यवादी और विध्वसकारी रूप प्रकट हुआ और हिंदुत्व तथा इस्लाम का शान्तिमय सम्पर्क सघर्षमय हो गया। सातवी बारहवी मे जब खलीफा की अनुमति से, मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध पर आक्रमण किया था और सिन्ध अरबी खलीफाई साम्राज्य का एक अग हो गया था तबसे लेकर सन अठारह सौ सत्तावन तक, हिंदू और हिंदुत्व इस्लाम के आक्रामक रूप से लोहा लेते रहे। दक्षिण भारत मे अरबों के बढते हुए सामाजिक तथा राजनैतिक प्रभाव के कारण ही खलीफा ने भारत पर चढाई करने की अनुमति दी थी और उसी प्रभाव के ही कारण सिन्ध विजय भी सम्भव हुयी। किन्तु उत्तरी भारत मे, इस्लामी प्रभाव सिन्ध से आगे तब तक न बढ सका जब तक पहले गजनी के तुर्कों का और बाद मे दिल्ली मे गुलामवशी शासकों का राजनैतिक प्रभुत्व न स्थापित हुआ। गुलामवंशी राज्य की स्थापना के समय (1210 ई०) से लेकर लोदीवश के राज्य का अन्त होने तक (1525 ई०) मुसलमानों का एक रूप साम्राज्य सस्थापक लूटेरों और जबरदस्ती मुसलमान बनाने वालों का है तो दूसरा रूप अहमदाबाद माडू जौनपुर और लखनौती के शासकों का है जिन्होंने इस्लाम को समन्वयकारी तथा रचनात्मक प्रेरणाय दी[1]। मुगलकाल मे भी यह सघर्षात्मक तथा समन्वयकारी प्रक्रिया चलती रही। मुगलकाल मे यदि, एक ओर अकबर और दारा शिकोह की परम्परा है तो दूसरी ओर जहाँगीर, शाहजहाँ और औरगजेब की। यही नहीं, भारतीय इतिहास मे हिंदुत्व का इस्लाम के उस रूप का भी परिचय मिला जो महमूद गजनी महम्मदगोरी तमूरलग नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली की आक्रामक परम्पराओं मे विद्यमान है।

आर्यों की भांति मुसलमानों का भारत मे स्थानान्तरण और इस्लाम का प्रसार कई शताब्दियों तक चलता रहा जिसका प्रभाव, एक ओर भारत के इस्लामी सामाजिक गठन पर पडा तो दूसरी ओर हिंदुत्व और भारत पर पडने वाले इस्लामी सघात का प्रकृति पर। भारतीय इस्लामी समाज मे दो स्पष्ट वर्ग रहे है—एक बाहर, विशेषतया अरब ईरान और मध्यएशिया से आने वाले अभिजातों (Nobles) का, और दूसरा उन भारतीयों का जिन्होंने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। पहले वर्ग मे विजेता, सेनानी प्रशासक और सामन्त हुआ करते थे और दूसरे मे कुशल

1 पानिक्कर, के० एम० ए० सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री पृष्ठ 122 123

कारीगर, कृषक और सर्वहारा वर्ग के लोग। गजनी और बगदाद के मुस्लिम शासकों ने, भारत के दास निकों, निपुण प्रशासकों, सेनानियों और ज्ञान विज्ञान के ज्ञाताओं को विश्वासपात्र पद प्रदान किये। किन्तु भारत में मुसलमानी राज्य की स्थापना के बाद से, राज्य के विश्वासपात्र पद बहुधा विदेश से आये या आमंत्रित मुसलमानों को ही मिलते थे। जो मुसलमान यहां बस जाते थे उनकी अपेक्षा विदेशी खास तुर्कों को अधिक विश्वसनीय समझा जाता था क्योंकि यहां बस और पले हुए मुसलमानों की अपेक्षा, विदेश से आये हुए मुसलमानों से षड्यंत्र की कम सम्भावना रहती थी। कुछ अपवादों को छोड़कर मुसलमानी राज्य काल में, दिल्ली की बादशाहत विदेश से आये हुये अमीरों (उमरा) के ही हाथ में रही है। गुलामवंशी बादशाहों का चुनाव दिल्ली के अमीर ही करते थे। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल बादशाहत वस्तुतः सैयद भाइयों के ही हाथ में रही। अकबर के राज्य काल में भी राज्य की नौकरियों में हिन्दुओं की मराठा विदेशी मुसलमानों की अपेक्षा कम था[1]। प्रत्येक मुसलमान बादशाह पर विदेश से आये हुए उन साधु संतों का अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य रहा है जो इस्लाम के अरबीकृत रूप के हामी थे और जो हिन्दुओं की भांति मुसलमानों को बढ़ावा देने के पक्ष में थे। इसका परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम राज्य काल में राज्य के उच्च पदों पर विदेश से आये हुए मुसलमानों को ही रखने की प्रथा सी चल पड़ी थी, जिसके फलस्वरूप भारत के इस्लामी समाज में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया जिसके सदस्य सैनिक तथा राजनैतिक साहसिकों (Military And Political Adventurers) के रूप में भारत में आये और भारत में उनकी वहीं तक दिलचस्पी रही जहां तक कि जीविका कमाने का प्रश्न था। यह वर्ग वस्तुतः उच्च नौकरशाही अभिजातों का था जिनका राज्य की नौकरियों पर एकाधिकार सा हो गया था। हिन्दू अभिजात और सामन्तशाही वर्ग से इस वर्ग की कभी नहीं बनी क्योंकि दोनों के स्वार्थों में संघर्ष था। इस वर्ग के लोगों ने भारत को विदेश समझा और सदैव ईरान या अरब से प्रेरणा ग्रहण की। ऐसे ही लोगों के लिये मुहम्मद तुगलक ने यह आज्ञा निकाली थी कि वे भारत को अपना देश समझें और विदेश भाग जाने वाले मुसलमानों के लिये दण्ड का विधान किया था। यही वह वर्ग था जिसके भारतीयकरण का अकबर ने प्रयास किया था। भारत में बसने और भारतीयकरण होने के बावजूद भी इस वर्ग का इस्लाम के अरबीपन से रागात्मक लगाव बना ही रहा[2]।

ऊपर, जैसा कि बंगाल के अफगानों, गुजरात के बोहरों, मराठवाड़ा के कोंकणी

1 रामगोपाल इंडियन मुस्लिम्स—ए पोलीटिकल हिस्ट्री पृष्ठ 13-14
2 हाशिम, मोहम्मद ए सोशल हिस्ट्री आफ इस्लामिक इण्डिया पृष्ठ 44
राम गोपाल वही अध्याय 2 और 3

और भारत की मुसलमान जातियों से स्पष्ट है, इस्लाम को स्वीकार करने वाले भारतीय समूहों ने अपनी पुरातन परम्पराओं को न छोड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत के इस्लामी समाज में एक वह वर्ग आया जिस पर अरबीपन की अधिक छाप थी और दूसरा वह जिसके हिंदू आधार पर अरबीपन की छाप पड़ी। भारत का इस्लामी समाज, एक ओर एक विशिष्ट सामाजिक इकाई पर, एक मिश्रित तथा विजातीय समाज रहा। भारत के मुसलमानों में ही देशी विदेशी की भावना घर कर गयी। नौकरशाही तथा विदेशी सामंती वर्ग ने देशज मुसलमानों के प्रति उपेक्षा और उच्चता का भाव ग्रहण किया। आगे चलकर, जब अंग्रेजों ने राज्य की उच्च नौकरियों को हथिया लिया तो यही नौकरशाही वर्ग विक्षिप्त हो उठा और अपनी जड़ों को भारतीय भूमि से उखड़ा हुआ पाकर 'इस्लाम खतरे में है' का नारा बुलन्द किया। बंगाल में ही सर्वप्रथम अंग्रेजी राज्य का अभ्युदय और विकास हुआ और बंगाल में ही सर्वप्रथम उर्दू और मुस्लिम का नारा उठना एक महत्वपूर्ण तथ्य है। इस्लाम हिंदुत्व से अलग एक राष्ट्र है और भारत में इस्लाम खतरे में है यह नारा नया नहीं प्राचीन है और इस्लामी समाज के नौकरशाही तथा अभिजात वर्ग के मस्तिष्क की उपज है[1]।

यह कहना कि भारत में इस्लाम का प्रसार मुसलमानों की तलवार और राजनैतिक प्रभुत्व के ही बल पर हुआ है इतिहास के गर्भ में छिपे समाजशास्त्रीय तथ्यों की अवहेलना करना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुस्लिम आक्रमणकारी विजयाकांक्षा, धन लिप्सा और जिहाद (धर्म प्रचार) की भावना से अधिक प्रेरित थे, जिसके कारण उन्होंने तलवार का *अधिक आश्रय लिया*[2]। रामगोपाल के मत में पंजाब

---

[1] रामगोपाल वही

[2] इस्लाम तलवार के बल पर फला है या नहीं इस पर विरोधी मत व्यक्त किए गए हैं। किन्तु इसे सहसा अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस्लाम के प्रचार और प्रसार में तलवार का प्रयोग नहीं हुआ है। हुमाऊं कबीर ने इस बात पर जोर दिया है कि इस्लाम के नाम पर जिन्होंने तलवार उठाई, वे सच्चे मुसलमान होने की अपेक्षा राजनैतिक लुटेरे अधिक थे, उन्होंने हाल ही में इस्लाम की टोपी पहनी थी और अपनी बुराइयों को उन्होंने इस्लाम की आड़ में छिपाने का प्रयत्न किया था। अकबर इलाहाबादी केवल इतना ही कह सके कि 'लोग यह कहते हैं कि तलवार से फला इस्लाम, लोग यह नहीं कहते कि तोप से क्या फला है'। इस्लाम के प्रसार में तलवार का जो प्रयोग हुआ है इसके *लिए ऐतिहासिक परिस्थितियां अधिक उत्तरदायी हैं न कि इस्लाम।* फिर भी किसी ने इसे उचित और सुयुक्तिपूर्ण बताने की कोशिश की है, तो किसी ने अनुचित। भिव के अनुसार, इस्लाम का जो प्रारम्भिक विरोध हुआ, उसी कारण इस्लाम में उग्र, आक्रामक प्रसार भावना आयी। इकबाल के

और सिन्ध में, बल प्रयोग से ही इस्लाम के प्रचार में प्रारम्भिक सफलता मिली।[3] यह मुसलमानों के राजनैतिक प्रभुत्व का ही परिणाम था कि अनेक व्यक्तियों तथा जातियों ने नौकरी, धन, ऐश्वर्य और राज्य कृपा पाने के लालच में इस्लाम को स्वीकार किया। फिर भी, ये कारण उतने महत्वपूर्ण नहीं हैं जितने कि तत्कालीन हिन्दू सामाजिक व्यवस्था, उसकी कमजोरियाँ तथा दोष। इस्लाम का सुयुक्तिपूर्ण तार्किक आधार, इस्लाम में निहित समन्वय की भावना, उसकी सरलता और इहलौकिकता तथा इस्लाम और मुसलमानों का सहजसिद्ध मिशनरीपन के कारण हैं। जिस समय भारत में इस्लाम का प्रवेश हुआ उस समय बौद्ध-ब्राह्मण संघर्ष समाप्त नहीं हुआ था यद्यपि वह अपने अन्तिम रूप में था और धीरे धीरे ब्राह्मण विजयी हो रहे थे। इस पराजय में, बौद्ध विक्षिप्त, हताश और आक्रामक हो रहे थे और जो कोई भी ब्राह्मणों का विरोधी था, उसका स्वागत करने के लिए तत्पर थे। उधर हिन्दू समाज उच्च तथा निम्नवर्णी जनता में विभाजित था। बौद्धों ने इस विभाजन का विरोध किया था। अतः, विजयोन्मत ब्राह्मण इसे और भी दुस्तर बनाने में लगे हुए थे। उच्चवर्णी हिन्दू जनता की धार्मिक चेतना निश्चित थी। वह हिन्दुत्व की गहराई से परिचित थी। उस पर हिन्दू दर्शन का वह रंग चढ़ा था जिस पर न कोई और रंग चढ़ सकता था और न उसके आगे कोई अन्य रंग टिक ही सकता था। इसके विपरीत निम्नवर्णी जनता में न कोई निश्चित धार्मिक चेतना ही थी और न उसे उच्चवर्णी जनता के समान सामाजिक धार्मिक अधिकार ही प्राप्त थे। जिस सामाजिक क्रान्ति की ज्वाला बौद्धों ने भड़काई थी उसकी लपटें बिना स्वाहा हुए ही बुझ गयी थीं। अतः यह अन्दर ही अन्दर सुलग रही थी और निम्नवर्णी जनता उसकी सुलगन में मग्न रही थी। निम्नवर्णी जनता हिन्दुत्व और हिन्दू समाज में उसी समुचितकरण की माँग कर रही थी जो इस्लाम के आदर्शों में समाया हुआ था।

आर्य और द्राविड़ संस्कृतियों के सम्मिश्रण में हिन्दूकरण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुयी थी वह अभी पूरी न हो पायी थी कि बुद्धवाद ने उसे तितर बितर कर दिया और इसी कारण जिस स्तर पर हिन्दूकरण पूरा हो चुका था वहाँ एक स्पष्ट निश्चित धार्मिक चेतना प्रस्फुटित हो गयी थी और जहाँ हिन्दूकरण की प्रक्रिया अपूर्ण थी वहाँ एक निश्चित धार्मिक चेतना का अभाव था। उच्चवर्णी हिन्दू विशेषतया ब्राह्मण, और आदिवासी भारतीय सामाजिक धार्मिक संगठन के दो किनारे रहे हैं। हिन्दूकरण की प्रक्रिया के द्वारा, धीरे धीरे, आदिवासी जनजातियाँ हिन्दुत्व के प्रसार क्षेत्र में आतीं

मतानुसार, सभी धर्मावलम्बियों में ईश्वर के नाम पर तलवार चलाने और इस प्रकार बिगड़ी हुयी बात बनाने का श्रेय इस्लाम के अनुयायी, खुदा के बन्दे, मुसलमानों को ही है।

1 रामगोपाल वही पृष्ठ ४

रही हैं। इसीकारण, हिंदू और आदिवासी के बीच में प्रारम्भ से ही एक संक्रमण सामाजिक क्षेत्र रहा है जहां की जनता न तो पूर्णतया हिंदू होती है और न आदिवासी। इसी संक्रमण-क्षेत्र की जनता पर किसी धर्म विशेष का लेबेल नहीं रहता है। इस्लाम के प्रवेश के समय और उसके बाद भी इसी संक्रमण सामाजिक क्षेत्र में इस्लाम को स्थान मिलता रहा है। कालांतर में इसी सामाजिक क्षेत्र में ईसाइयत को भी सर्वाधिक स्थान मिला है। इस सामाजिक क्षेत्र में इस्लाम का प्रवेश मिलने के दो कारण है—एक इस सामाजिक क्षेत्र की जनता का निम्न सामाजिक स्तर और दूसरा इसकी धार्मिक अनिश्चितता। इस्लाम के प्रवेश के समय हिंदू समाज में, बहुदेववाद का बोलबाला था, पंथों की भरमार थी जिससे धार्मिक दार्शनिक जिज्ञासायें तो उठती थी और वादविवाद भी होता था पर उसमे न तो धार्मिक नमतायें शांत होती थी और न धर्मसम्बन्धी मानसिक आवश्यकता हो। शंकर के रूप में हिंदुत्व ने जो उत्तर प्रस्तुत किया उसमें तर्क और दार्शनिकता का इतना ऊंचा पुट था कि वह इस क्षेत्र के जन-स्तर तक पहुंचा ही नहीं। इस्लाम एक सुयुक्तियुक्त एकेश्वरवादी, सरल पर रहस्यवादी और इहलौकिकता पर जोर देने वाला मिशनरी तथा मजहबी धर्म था। मिशनरी कार्य उसी सामाजिक स्थिति में सफल होता है जहां उसे सुयुक्तिपूर्ण ढंग से पेश किया जा सके। हिंदू समाज के निम्न स्तरों में ही यह सम्भव था और वहीं इस्लाम का प्रसार हुआ।

भारत में एक ओर, इस्लाम का सामना हुआ उच्च तथा मध्यवर्गी हिंदुओं से जो हिंदुत्व की एक निश्चित धार्मिक चेतना में इतना रंगे हुए थे कि उनका यह विश्वास था कि हिंदुत्व से उच्चतर तथा श्रेष्ठतर कोई अन्य धर्म ही नहीं है। हिंदुत्व के समक्ष इस्लाम उन्हें फीका लगा। इस्लाम के आक्रामक रूप से सम्पर्क होने पर उन्होंने हिंदुत्व का पुनर्मूल्यांकन करके उसके उन सामाजिक तथा दार्शनिक पक्षों को उभारा जिनसे इस्लाम की चुनौती निरर्थक हो जाय। दूसरी ओर इस्लाम का सामना हुआ उस निम्नवर्णी जनता से जो न हिंदू थी और न बौद्ध किंतु जिसकी आत्मा बौद्धों के सम्यक् मार्ग के अधिक निकट थी, जिसकी धार्मिक चेतना अस्पष्ट थी किंतु जो उस जनप्रिय धर्म की तलाश में थी जो उसे एक आदरपूर्ण सामाजिक स्थिति प्रदान कर सके। संक्षेप में, निम्नवर्णी जनता उस सुयुक्तिकरण (Rationalization) के लिए पहले ही से लालायित थी जो इस्लाम में निहित थी। समाज के जिन स्तरों पर हिंदूकरण पूर्ण हो चुका था वहां इस्लाम का विरोध हुआ और जहां हिंदूकरण की प्रक्रिया अपूर्ण थी वहां इस्लाम को निर्विरोध प्रवेश मिला।

भारत में इस्लाम और ईसाइयत का सर्वाधिक प्रसार उन्हीं क्षेत्रों में हुआ है जहां आदिवासियों और अछूत कहे जाने वाले लोगों की अधिकतम संख्या रही है, जहां बुद्धवाद को सबसे अधिक जनप्रियता मिली है और जहां उच्च तथा निम्नवर्णी जातियों में ऊंच नीच का भेदभाव रहा है। मुसलमानों का राजनैतिक गढ़ रहा है

दिल्ली किन्तु उनकी जन संख्या बड़ी है बिहार, बंगाल, पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्रतटवर्ती प्रदेश, सिन्ध, बिलोचिस्तान और पंजाब में। आर्यावर्त कहे जाने वाले प्रदेश में इस्लाम को उतना प्रवेश नहीं मिला जितना कि आर्यावर्त के तटवर्ती प्रदेश में। इसका सबसे बड़ा कारण यही है कि आर्यावर्त के तटवर्ती प्रदेश में हिन्दूकरण की प्रक्रिया अपूर्ण रही है, जिसके कारण इस प्रदेश में एक अनाम संचरित जनसमूह (Anonymous Floating Mass) रहा है जिस पर इस्लाम और इसाइयत का लेबल चढ़ाने में कठिनाई नहीं हुयी है। यहां की सामाजिक परिस्थिति में इस्लाम का वस्तुतः स्वागत हुआ है क्योंकि इस प्रदेश को बौद्ध प्रभाव के अन्तर्गत होने के कारण ब्राह्मण अशुद्ध समझते थे। अंग, बंग, कलिंग, सौराष्ट्र और मगध में जाने की, धार्मिक तौर पर मनाही थी[1]। बौद्ध और ब्राह्मण एक दूसरे को नष्ट करने के लिए मुसलमानों की सहायता के पीछे दौड़ते थे। कुछ विद्वानों का मत है कि नालन्दा के कुछ बौद्धों पण्डित की सहायता से बख्तियार खिलजी ने बिहार पर आक्रमण किया था। नालन्दा बंगाल के सेन राजाओं के अधीन था। बौद्धधर्म का कट्टर विरोधी होने के कारण, सेन राजाओं ने नालन्दा के बचाने का कोई भी उपाय नहीं किया। बंगाल में ही रमाई पंडित ने शून्यपुराण की रचना की थी (१०वीं सदी) जिसमें उन्होंने लिखा था कि ब्राह्मणों के अत्याचारों का अंत करने के लिए देवता धर्मराज पहन कर, मुसलमानों के रूप में, अवतरित हुए हैं। सिंध के हिन्दू राजा दाहिर के समय वहां के श्रमणों ने मुहम्मद बिन कासिम का साथ दिया था। इस प्रकार, मुसलमानों की सहायता से श्रमण और बौद्ध एक दूसरे का सफाया करना चाहते थे, किन्तु मुसलमानी तलवार दोनों की गरदन पर पड़ी। श्रमणों पर तो वह इतने जोर से पड़ी कि उनका सफाया ही हो गया[2]।

इस प्रकार हिन्दू समाज में इस्लाम को प्रवेश मिला उस सामाजिक स्तर में जहां उच्चवर्णी हिन्दू तथा आदिवासी के मध्य एक अनिश्चित, प्रवाहय और अन्तवर्ती सामाजिक स्तर अस्तित्व में आ गया था। इस्लाम के शासक होने के समय, इस स्तर की जनता न तो बौद्ध थी और न हिन्दू यद्यपि वह बौद्धधर्म के अधिक समीप थी। इसी कारण, उसे इस्लाम अधिक प्रगतिवादी जान पड़ा। आगे चलकर लगभग ग्यारह सौ वर्षों बाद उन्नीसवीं शताब्दी में इस स्तर की जनता अपने व्यावहारिक रूप में न तो निश्चित रूप से हिन्दू थी और न मुस्लिम। उसमें हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों की मान्यतायें पायी जाती थीं। उन्नीसवीं शताब्दी में जब वहाबी आन्दोलन चला और अंग्रेजों की छत्रछाया में जाति तथा धर्म के आधार पर जनगणना की जाने लगी

1 अंग बंग कलिंगेषु, सौराष्ट्र मगधेषु च।
तीर्थयात्रां विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति। सिद्धान्त कौमुदी
2 दिनकर रामधारीसिंह संस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ २९–३१

ता मुसलमानो ने अंजुमनो को सगठित करके वर्तनिक धर्म प्रचारक रखे, जिन्होने उन्ही प्रदेशो मे काम किया जहा निम्नस्तरीय जनसंख्या का बाहुल्य था और साधारण जनता हिन्दू समाज के अन्तवर्ती क्षेत्र में थी, यद्यपि अपने व्यावहारिक स्तर में वह हिन्दू भी थी और मुसलमान भी क्योंकि उनमें हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों की मान्यतायें विद्यमान थी। *बगाल और पजाब की कृषक जातिया ऐसे ही अन्तवर्ती समूह थे जिन्हे* उन्नीसवी शताब्दी के आस पास जनगणनाओ मे मुसलमान घोषित किया गया और इस्लाम के धर्म प्रचारको ने उन्हें इस्लामी रंग में रंगने का प्रयास किया। सन अठारह सौ इक्यानवे की जनगणना विवरण में लिखा है कि अठारह सौ बहत्तर के बाद से, प्रति एक लाख व्यक्तियो के पीछे उत्तरी बगाल में सौ व्यक्ति मुसल्मान हुये हैं पूर्वी बगाल में दो सौ बासठ, पश्चिमी बगाल में एक सौ दस और सम्पूर्ण बगाल में एक सौ सत्तावन। उसी विवरण के अनुसार उन्नीस साल पहले, बगाल में हिन्दुओ की सख्या मुसलमानो से डेढ़ लाख अधिक थी किन्तु दो दशको के दौरान में मुसल्मानो ने *हिन्दुओ को पीछे ही नही छोड़ा वरन उनसे डेढ लाख अधिक हो गये*[1]।

इस्लाम का सर्वाधिक प्रसार उन्ही क्षेत्रो में हुआ जहा उच्च और निम्न वर्ण का अन्तर काफी प्रबल था जहा उच्चवर्णियो की अपेक्षा निम्नवर्णी और सक्रमण जनसंख्या अधिक थी तथा जहा जाति व्यवस्था के प्रति विद्रोह की आग पहले ही से भड़क रही थी। ये भारत के वे प्रदेश हैं जहा उस समय क्षत्रिय वर्णी जाति या जातियो का अभ्युदय नही हो पाया था। पजाब सिंध केरल, तामिलनाद और बगाल ऐसे प्रदेश हैं जहा की सामाजिक सरचना में ब्राह्मण वर्णी जातिया तो रही है किन्तु क्षत्रिय वर्णी जातिया अनुपस्थित रही है। महाराष्ट्र में शिवाजी मुस्लिम *काल में ही क्षत्रिय बने। क्षत्रिय जातिया हिन्दू सामाजिक सगठन में एक ओर* ब्राह्मणो के आदर्श को लिये रही है तो दूसरी ओर निम्नवर्णी जातियो के सम्पर्क मे रही हैं और इस कारण क्षत्रिय वर्णी जातिया ब्राह्मणो और गैर-ब्राह्मणो के बीच मध्यस्थ के रूप में रहकर हिन्दू समाज में उत्पन्न प्रवाहों को आत्मसात करती रही हैं। क्षत्रिय जातियो की अनुपस्थिति में इन प्रदेशो मे ब्राह्मण और गैर ब्राह्मण का सघर्ष बना रहा जिसमें इस्लाम को आसानी से प्रवेश मिला।

इतिहासकारो ने बहुधा इस बात पर जोर दिया है कि हिन्दू सामाजिक व्यवस्था और उसके दार्शनिक आधार इतने दोषपूर्ण हो गये थे कि वे इस्लाम के आगे न टिक पाये। किसी ने हिन्दुत्व को दोषी ठहराया है तो किसी ने इस्लाम के आक्रामक रूप को। किन्तु ऐसी मान्यतायें न तो इतिहासपरक हैं और न तर्कसगत। इन मान्यताओ के पीछे जो तर्क है उनमें आन्तरिक विरोध है। उदाहरण के लिये यदि इस्लाम अपेक्षाकृत अधिक आक्रामक और प्रगतिवादी होने के कारण भारतीय

1 रामगोपाल इंडियन मुस्लिम्स ए पोलीटिकल हिस्टी पृष्ठ 8 9

संस्कृति में प्रविष्ट होकर फला तो सम्पूर्ण भारत क्यों न इस्लामी राष्ट्र हो गया ? यदि जाति प्रथा ने इस्लाम का मार्ग प्रशस्त किया तो जैसाकि इतिहासकार बहुधा कहा करते हैं जाति प्रथा इस्लाम के समक्ष हिन्दुत्व के लिये रक्षा-कवच कैसे सिद्ध हुई ? किसी भी प्रमेय के कार्य कारण परस्पर विरोधी नहीं हुआ करते हैं। किन्तु, यदि जाति प्रथा को ही इस्लाम के प्रसार में सहायक और व्यवधान मान लिया जाय तो यह मान्यता तर्कसंगत नहीं रहती है क्योंकि इसमें कार्य-कारण में, विरोध आ जाता है।

भारत में इस्लाम और हिन्दुत्व साधारणतया परस्पर अलग रहे जिसके लिये न तो हिन्दुत्व ही श्रेय का भागी है और न इस्लाम ही और न उनमें से किसी को श्रेष्ठतर या परस्पर अधिक दोषी कहा जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से, हिन्दुत्व और इस्लाम दो प्रक्रियायें हैं जो अलग अलग देश-कालों में उत्पन्न होकर एक देश काल की स्थिति विशेष में परस्पर मिलती हैं—वह स्थिति जो अपने तात्कालीन रूप में न अच्छी है और न बुरी क्योंकि वह स्वयं एक प्रक्रिया है और प्रक्रिया में ही जन्मी है। हिन्दुत्व में बहुदेववाद तथा बहुरूपवाद विषम दार्शनिक आधारों तथा विरोधी आदर्श नियमों जाति प्रथा के उच्च तथा निम्न स्तरों और मध्यस्थ सामाजिक क्षेत्र (Buffer Zone) का पाया जाना हिन्दुत्व को जन्म देने वाली, एक विशेष देश-काल-गत प्रक्रिया की देन है। इसी प्रकार, जिसे इतिहासकार इस्लाम की प्रगतिशीलता कहते हैं वह भी एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की देन है। हाँ, इतिहासकारों ने यह भूल अवश्य की है कि उन्होंने हिन्दुत्व की अपेक्षा, इस्लाम का अधिक गत्यात्मक रूप में देखा और उसका विश्लेषण किया है। साधारणतया, इतिहासकार यह भूले रहे हैं कि एक संस्कृति के रूप में हिन्दुत्व भी एक सक्रिय प्रक्रिया है जिसके आधारभूत तत्व, समयानुसार नियन्त्रित होकर बार बार अवतरित होते रहे हैं। एक धर्म के रूप में नहीं वरन् एक संस्कृति के रूप में हिन्दुत्व उतना ही प्रसारशील रहा है जितने कि इस्लाम और ईसाइयत। संस्कृतिमूलक होने के कारण हिन्दुत्व का अधिक व्यापक प्रभाव पड़ा है। हिन्दुत्व का संचयीकरण (Cumulativeness), धर्मान्तरण (Proselytization) और मिशनरीपन सम्मुख निहित हैं द्वारा इतिहासप्रतिपन्न उस समन्वयकारी प्रक्रिया में जिसकी अभिव्यक्ति है जाति प्रथा उच्च निम्न तथा मध्यस्थ सामाजिक स्तर और हिन्दुत्व के विषम आदर्श नियम तथा दार्शनिक आधार। हिन्दुत्व के मध्यस्थ सामाजिक क्षेत्र में इस्लाम का प्रवेश एक ओर निर्भर है हिन्दुत्व को जन्म देने वाली ऐतिहासिक प्रक्रिया पर और दूसरी ओर विगत तेरह सौ वर्षों में उत्पन्न होने वाली ऐतिहासिक परिस्थितियों पर। जब सभी कुछ एक अनन्त ऐतिहासिक प्रवाह के सहस्रों के धारों को उथल-पुथल में समेटता हुआ प्रवाहित हो रहा है वहाँ यह कहना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है कि कौन किसके लिये दोषी है। बस केवल इतना ही कहना न्यायसंगत होगा, कि किस धारा की प्रक्रिया कैसी है और जब उसकी क्रिया का संघर्ष पड़ा वहाँ कैसी प्रतिक्रिया हुई।

४

भारत के बाहर इस्लाम और हिंदुत्व का सम्पर्क

केवल यह मानकर चलना कि भारत में ही हिंदुत्व और इस्लाम का सम्पर्क तथा सम्मिलन हुआ ऐतिहासिक गति विधि की अवहेलना करना है। हिंदुत्व एक वह धर्मान्तरक (Proselytising) संस्कृति तथा धर्म है जिसमें एतरेय ब्राह्मण की आत्मा चरैवति (निरन्तर आगे बढो) समाई हुई है। प्रारम्भ से लेकर आज तक हिंदुत्व नये क्षेत्रो और जातियो को प्रभावित तथा अपने में समन्वित करता हुआ सदैव आगे बढ़ता रहा है। मुसलमानो को हिंदुत्व में औपचारिक रूप से उस प्रकार नही दीक्षित किया गया जिस प्रकार हिंदुओ का इस्लाम में किया गया। किन्तु हिंदू संस्कृति के आध्यात्मिक योगदानो का इस्लाम में समावेश हुआ है, यद्यपि इस समावेश पर इस्लाम के अरबीपन की छाप है। विनयकुमार सरकार के अनुसार सातवी और तेरहवी शताब्दियो के बीच, हिंदू संस्कृति महाद्वीपीय भारत में ही अहिंदुओं का हिंदूकरण नही कर रही थी वरन बृहत्तर भारत के विजातीय जनों (Heterogeneous Peoples) पर भी अपना प्रभाव डाल रही थी[1]। इस्लाम पर हिंदुत्व का एक प्रभाव पडा भारत के बाहर इस्लामी एशिया के माध्यम से और दूसरा भारत में एक ओर, मुसलमान बनने वालो के द्वारा और दूसरी ओर अलबरूनी खुसरो अकबर अबुल फजल रहीम खानखाना और मलिक मुहम्मद जायसी जैसे उन मुसलमानो के द्वारा जो हिंदुत्व की आध्यात्मिक दार्शनिकता से प्रभावित थे। इस्लाम की आध्यात्मिकता, सामाजिक संगठन, प्रथाओ, आचार विचारो रीति रिवाजो तौर तरीको भावनाओ और ज्ञान विज्ञान पर हिंदुत्व के प्रभाव के चिन्ह काफी स्पष्ट हैं।

ऐतिहासिक उदविकास के सन्दर्भ में इस्लामी एशिया वस्तुत बृहत्तर भारत का ही एक भाग है। इस्लाम के लगभग सभी समीक्षको ने यह स्वीकार किया है कि इस्लाम के आधारभूत स्वरूप पर यूनानी दर्शन का प्रभाव पडा है। इस्लाम के जन्म के बहुत पहले यूनान में भारतीय दर्शन और ज्ञान विज्ञान का समावेश हो गया था। अत इस्लाम पर प्रथम हिंदू प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से पडा। इस्लामी ऐशिया की संस्कृति बहुत कुछ हिंदूकृत (Hinduised) थी और उसका कारण थीं वे संस्कृत पुस्तकें जिनको अरबी फारसी में अनुदित किया गया जिनके द्वारा हिंदू ज्ञान विज्ञान का प्रसार किया गया। पचतत्र और चरक संहिता का अनुवाद पहले फारसी में हुआ और बाद में फारसी के अनुवाद से उनका अनुवाद अरबी में हुआ। अन्य हिंदू पुस्तको के अरबी अनुवाद सीधे संस्कृत पाठ से किये गये हैं। खलीफा मसूर (753 774) के राज्यकाल में ब्रह्मगुप्त के ज्योतिष और गणित सम्बन्धी ग्रन्था, ब्रह्म सिद्धान्त और खण्डखाद्यक का अरबी अनुवाद सिंन्द और अरकन्द नामक पुस्तको

---

1 सरकार, विनयकुमार वही पृष्ठ 451

के रूप में हुआ। खलीफा हारूँ अल रशीद (786 808 ई०) के मंत्री बरमक परिवार के भारतीय थे। उन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया था पर मूलतः ये बौद्ध थे। इन्हीं मंत्रियों की देखरेख में अनेक हिन्दू विद्वान बगदाद बुलाये गये और उनके द्वारा संस्कृत के आयुर्वेद (Medicine) भैषज्यशास्त्र (Pharmacology) विषशास्त्र (Toxicology) दर्शन (Philosophy) और ज्योतिषशास्त्र (Astology) सम्बन्धी ग्रंथ अरबी में अनुवादित कराये गये। इसी काल में हिन्दू वैद्य बगदाद बुलाये गये और उनकी देख रेख में वहाँ औषधालय खोले गये[1]। यही वह काल है जब इस्लाम को दर्शन सम्बन्धी कृतियों के द्वारा इस्लामी संसार में वेदान्त दर्शन का प्रचार हुआ जो बहुत सम्भव है आगे चलकर सूफीवाद की उत्पत्ति का एक कारण रहा हो। जैसा कि अलबरूनी (970 1049) की कृतियों से स्पष्ट है मुसलमान लेखकों ने संस्कृत के ग्रंथों का अनुवाद किया उन पर टीकायें और भाष्य लिखे तथा उनके संक्षिप्त और स्वतंत्र अरबी फारसी संस्करण प्रस्तुत किये। जिस समय गजनी का शासक महमूद भारत के मंदिरों को तोड़कर उनका धन लूटने में व्यस्त था उस समय उसकी छत्र छाया में पलने वाला एक दार्शनिक, विचारक एलबरूनी जिसे ग्यारहवीं शताब्दी का मुस्लिम इण्डालाजिस्ट (Indologist) कहा जा सकता है हिन्दू ज्ञान विज्ञान का मनन करके और उसे [illegible] विचारधारा में लपेट कर इस्लामी संसार के सम्मुख रख रहा था। ग्यारहवीं शताब्दी में अलबरूनी ने वही कार्य किया जो आगे चलकर उन्नीसवीं शताब्दी में सर विलियम जोन्स और मैक्समूलर ने किया। इनके [illegible] उद्देश्य एक ही रहे हैं, यद्यपि तरीके अलग अलग[2]।

---

1 किन्तु इस्लामी चिकित्सा-पद्धति पर मूलभूत प्रभाव यूनान का पड़ा और इसी कारण, मुसलमानों ने जो चिकित्सा पद्धति भारत में चलाई उसका नाम यूनानी हिकमत पड़ा।

2 सरकार, विनयकुमार वही पृष्ठ 1-46.

हिन्दू-सम्पर्क में इस्लामी संस्कृतिकरण

इस्लाम पर हिन्दू वैचारिक प्रभाव

हिंदू ज्ञान विज्ञान को अरबी फारसी में अनूदित करने की जो परम्परा बगदाद के खलीफाओं और अलबरूनी जैसे विचारकों ने डाली थी वह सारे मध्य युगीन भारत में भी कायम रही और उसके द्वारा हिंदू विचार और ज्ञान विज्ञान का इस्लाम में प्रवेश हुआ। विनयकुमार सरकार ने इसे इस्लाम का हिंदूकरण कहा है। किन्तु इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारत में अनेक हिंदू बौद्ध तथा आदिवासी विचारों और प्रभावों का समावेश इस्लाम में हुआ है और जिनके द्वारा इस्लाम का भारतीयकरण हुआ है। भारत में इस प्रक्रिया का श्रीगणेश संस्कृत ग्रन्थों के अरबी फारसी अनुवाद से होता है। संस्कृत ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद फीरोजशाह तुगलक (1351 1388) के समय से प्रारम्भ हो गया था। दलेल ए फीरोजशाही नामक कविता में हिंदू भौतिकशास्त्र का अनुवाद है। अकबर की प्रेरणा से महाभारत, रामायण, गीता अथर्ववेद, योगवाशिष्ठ, हरिवंश और महेश महानन्द इत्यादि ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद हुआ। दारा शिकोह (1614-1659) की प्रेरणा से वेदों के फारसी अनुवाद का प्रयास किया गया। सर उल-असरार (1657) नामक शीर्षक के अन्तर्गत, दारा शिकोह ने उपनिषदों का उल्था किया

और मजीम-उल बहरीन (१६५८) नामक पुस्तक में सूफीवाद और हिन्दुत्व के बहु देववाद को एक में मिलने का प्रयास किया। औरंगजेब (१६५८-१७०७) ने अपने पौत्र जहांदारशाह के लिए हिन्दू विद्याओं का एक फारसी संग्रह तुहफातुल्हिन्द नामक पुस्तक के अंतर्गत करवाया था।

अबुलफजल (१५५१-१६०२) जिसे अहमदशाह ने हिन्दुस्तानी सन्त कहा था, नीतिशास्त्र रचयिताओं की श्रेणी में आता है। उसकी पुस्तक आईन-ए अकबरी के लिखने की शैली नीतिशास्त्रों की शैली से इतनी मिलती जुलती है कि उसे सरलता-पूर्वक अकबर-नीति कहकर नीतिशास्त्र की श्रेणी में रक्खा जा सकता है। आईन-ए अकबरी की परम्परा अंशतः हिन्दू है और अंशतः मुस्लिम किन्तु वस्तुतः वह हिन्दू परम्परा के अधिक समीप है क्योंकि अबुलफजल के लिए अकबर इतिहास, राजनीति और राज्य प्रबन्ध केवल नैतिक और सामाजिक दर्शन के निर्धारण का माध्यम है। आईन-ए अकबरी का मुख्य विषय न तो अकबर है न उसका इतिहास और न राज्य। उसका मुख्य विषय है सम्राट के गुणों तथा कार्यों का निरूपण और हिन्दू राजनीतिशास्त्र की प्रधान समस्या राजर्षिवसम अथवा राजर्षि (ऋषि सम्राट) के व्यवहार के निर्धारण की समस्या। इस रूप में अबुलफजल की रचना कौटिल्य की परम्परा में आती है। जैसा कि वैदिक और उत्तर वैदिक साहित्य के रचयिताओं की परम्परा रही है, अबुलफजल के लिए, इतिहास अर्थशास्त्र, राजनीति, जीवनी लेखन और अकबर (सम्राट) का व्यक्तित्व नैतिक आत्मिक और आध्यात्मिक प्रचार के साधन मात्र हैं। आईन-ए अकबरी की परम्परा सुन्ना, हदीस और शरिअत की परम्परा नहीं है। आईन-ए अकबरी वस्तुतः संस्कृत में लिखे जाने वाले हिन्दू नीतिशास्त्रों का फारसी संस्करण है और इस बात का प्रमाण है कि किस प्रकार सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दू विचारों का इस्लाम में समावेश हो रहा था। अबुलफजल के अनुसार राजनैतिक संगठन तभी स्थायी रह सकता है जब समाज का ठीक-ठीक श्रेणी विभाजन हो। उसके अनुसार भी समाज में चार श्रेणियां हैं—योद्धा, व्यापारी, विद्वान और श्रमिक जिन्हें उचित स्थानों में रखकर उनका ठीक ठीक समन्वय करना सम्राट का कर्तव्य है। अबुलफजल के इस निर्धारण में उसी धारणा और समस्या की झलक है जिसे हिन्दू नीति-शास्त्रों के रचयिताओं ने सम्राट और समाज के सम्बन्धों को चातुर्वर्ण्य की धारणा के द्वारा हल करने का प्रयास किया है। संक्षेप में यदि आईन-ए अकबरी कौटिल्य के अर्थशास्त्र की परम्परा में है तो दर्शन, भाव और उद्देश्य के दृष्टिकोण से उसकी भाषा मनुस्मृति की भाषा के अधिक समीप है[1]।

---

१ सरकार विनयकुमार वही पृष्ठ [illegible]।

२

इस्लामी समाज और संस्कृति पर हिंदू प्रभाव

इस प्रकार, एक ओर, फारसी तथा अरबी म अनूदित संस्कृत साहित्य के द्वारा तथा, दूसरी ओर, इस्लाम म दीक्षा लने वाले हिंदुओ के द्वारा, भारत मे इस्लामी दर्शन समाज और रीति रिवाज पर हिंदुत्व का प्रभाव पडा। भारत म, एक बडी सीमा तक इस्लाम न हिंदू प्रथाओ और मान्यताओ को आत्मसात किया। इस हिंदूकरण के मुख्य माध्यम रहे हैं—मध्य युग के व मुसलमान जो भारत म जन्मे थे, जिन्होने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था और जिनके लिए, 'हिंदुस्तानी मुसलमान' की उपेक्षापूर्ण सज्ञा का प्रयोग किया जाता था। वे भारतीय मुसलमान जो मूलत हिंदू थे अपना मौलिक दृष्टिकोण, जीवन दर्शन और सामाजिक स्तर लकर इस्लाम म प्रविष्ट हुए। भारत म इस्लामी समाज के हिंदूकरण का सबसे प्रबल प्रमाण है मुसलमानो म पायी जान वाली जाति व्यवस्था। पेशा, अतर्विवाहिकी, उच्चोच्च परम्परा (*Hierarchy*) और कल्प शुद्धता (*Ritual Purity*) की भावना पर आधारित जाति प्रथा भारत के इस्लामी समाज म भी पायी जाती है। मुसलमानो के त्योहारो, रीति रिवाजो, विचारो, विश्वासो और धार्मिक जादुयी (Magico Religious) अनुष्ठानो मे हिंदू प्रभाव के अनेक प्रमाण उपस्थित किय गये हैं। पीरो की कल्पना और उनमे विश्वास, दरगाह पर मत्था टेकना 'जय महावीर' या हर हर महादेव की तरह 'या अली' का नारा लगाना, सगुन विचारना, विधवा की अपेक्षा सधवा या सुहागिन को शुभ मानना सुहागिनो द्वारा सिन्दूर का प्रयोग, वैवाहिक अनुष्ठानो म सोहागपूरा का प्रयोग हिंदू श्राद्ध के ही अनुरूप मत व्यक्तियो के नाम पर तीजा भोज और खरात का आयोजन करना छठका व्रत (सूय पूजा), चेचक का प्रकोप शात करने क लिए शीतला माता म विश्वास और शीतला माता के सेवक समझे जाने वाले माली जाति के सदस्यो द्वारा शीतला माता की पूजा करवाना, दीवाली और होली जैसे त्योहारो का मनाना और बगाल म सत्यनारायण की कथा के अनुकरण व आधार पर सत्यपीर की पूजा हिंदू प्रभाव के ही परिणाम हैं। *मुसलमानो मे पगडी का प्रयोग हिंदुओ से आया है। दिनकर का ऐसा विचार है कि* सम्भवत मुसलमानो का त्योहार शबेबरात हिंदुओ के त्योहार शिवरात्रि से प्रभावित है[1] ?

मोहम्मद यासीन के अनुसार, भारत म ताजिया का गाडना और उन पर नाटकीय आक्रमण करना हिंदुओ की रामलीला का इस्लामी अनुकरण है। ग्रहण (सूय या चन्द्र) के अवसर पर उपवास करने तथा प्रार्थना म लीन रहने और ग्रहण के उपरान्त शुद्धि के लिए स्नान करने की प्रथा मुसलमानो म हिंदुओ से ही आयी है।

---

1 दिनकर रामधारी सिंह सस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ 393-94

अभिवादन के लिए, हिन्दुओं की भाँति, मुसलमान भी 'राम राम' शब्द का उच्चारण करते हुए पाये गये हैं। सुल्तान मोहम्मद तुगलक की बहिन की विवाह का हवाला देते हुए, मोहम्मद यासीन ने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि सम्भवतः तत्कालीन समाज में राक्षस विवाह प्रचलित था जो एक गैर इस्लामी प्रथा है[1]। भारत में आज भी ऐसी जातियाँ मिलती हैं जो न तो पूर्णतः हिन्दू हैं और न मुसलमान और, मुसलमान होने पर भी उनके सदस्य हिंदुओं के समान रहते हैं। बंगाल के बाउल और अजमेर के हुसनी ब्राह्मण न तो पूर्णतः हिन्दू ही कहे जा सकते हैं और न पूर्णतः मुसलमान। राजपूताने और आगरा जिले के मलकाना राजपूत मुसलमान होते हुए भी 'राम नाम' जपते हैं और दरगाहों पर जाते हैं। गुजरात के ख्वाजा सम्प्रदाय के लोगों पर वैष्णव धर्म की स्पष्ट छाप है[2]।

टिब के अनुसार मुगल काल में मुसलमानों में सती प्रथा के प्रमाण पाये गये हैं। मध्ययुगीन भारत में मुसलमान योद्धाओं ने जौहर प्रथा को उसी प्रकार अपनाया जिस प्रकार हिन्दुओं ने। किसी समीपस्थ सम्बन्धी के मरने पर सिर, दाढ़ी और मूँछ मुड़ाने की प्रथा अकबर ने चलाई थी और किसी हद तक मुसलमानों ने उसे अपनाया भी था। मरणासन्न व्यक्ति को खाट से उतार कर जमीन पर लिटाने और विधवाओं द्वारा कुछ आभूषण और रंगीन वस्त्रों को त्यागने की प्रथायें भी मुसलमानों में पायी गयी हैं। बाल विवाह और स्त्री पर पुरुष के स्वामित्व का भाव यासीन के अनुसार मुसलमानों में हिन्दुओं से आया है। फलित ज्योतिष, साधु-सन्तों की अलौकिक शक्ति, जादू टोना और तावीज में विश्वास, तीर्थ-यात्रा, मूर्ति-पूजा की भावना और मादक द्रव्यों का सेवन मुसलमानों में हिन्दुओं और आदिवासियों के सम्पर्क से आया है। मध्ययुगीन भारत में मुसलमानों के जीवन के आदर्श रहे हैं रज्म (युद्ध), बज्म (नाच और दरबार) और इबादत (प्रार्थना)। इन आदर्शों पर इस्लाम की अपेक्षा हिन्दुत्व के राजपूतीकरण की अधिक छाप है। सिद्धान्ततः इस्लाम में पुरोहितवाद का कोई स्थान नहीं है। किन्तु भारत में काजियों और मुल्लाओं ने पुरोहित की पदवी धारण की।

३
सूफीवाद में हिन्दू प्रभाव

इस्लामी मातृभूमि में सूफीवाद की लहर भारत में इस्लाम के हिन्दूकरण का एक अन्य माध्यम बनी। भारत के सूफी-सन्तों की टीका करते हुए टिब ने लिखा है

1 यासीन, मोहम्मद ए सोशल हिस्ट्री आफ इस्लामिक इण्डिया पृष्ठ 49–58
2 टिब्बर वही पृष्ठ 307

कि भारत के सूफी पन्था का इस्लाम से नाममात्र का सम्बन्ध है, क्योंकि इन पन्थों में हिन्दू और प्राक् हिन्दू प्रथाओं तथा सिद्धांतों की भरमार है। वास्तव में है भी ऐसा ही क्योंकि इस्लाम का लोकप्रिय और रहस्यवादी रूप होने के कारण, भारत मे, अरबीवादी इस्लाम की अपेक्षा, सूफीवाद ही अधिक जनप्रिय रहा। अरबीवादी इस्लाम की अपेक्षा अधिक सहिष्णु होने के कारण, सूफीवाद अपेक्षाकृत अधिक समन्वयकारी भी रहा है। अपनी कट्टरवादिता के कारण, अरबीवादी इस्लाम ने जिन प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया उनका निराकरण सूफीवाद के ही द्वारा हुआ। इसीकारण, सूफीवाद और सूफियों के माध्यम से इस्लाम का अधिक प्रभावपूर्ण प्रचार भी हुआ। अपनी सहिष्णुता और समन्वयकारिता के कारण अरबीवादी इस्लाम की अपेक्षा, सूफीवाद हिन्दुत्व की आत्मा के अधिक समीप रहा है और यह उस सामीप्य का ही परिणाम है कि भारत के अशिक्षित और अर्ध मुस्लिम ग्रामीण मुसलमानों के धार्मिक जीवन में हिन्दू प्रभावों का प्राधान्य है।

गिब के अनुसार, यह मानना कि सूफी शब्द यूनानी भाषा के साफिया (Sophia) या साफास (Sophos) शब्द से निकला है एक निराधार अतिरंजित कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, क्योंकि सूफी शब्द का लाक्षणिक या व्यंजनात्मक अर्थ वह नहीं है जो साफोस या सोफिया का है। साधारणत, यह माना जाता है कि सूफी शब्द 'सूफ' शब्द से निकला है। इस्लाम के अभ्युदय के प्रारम्भ मे सूफ शब्द का अर्थ लिया जाता था, बिना रंग हुए ऊन के उस लबादे से जो ईराक के वैरागी, साधक या तपस्वी धारण किया करते थे। किंतु उस समय सूफ वस्तुत प्रतीक था संसार त्याग और पश्चातापी ग्लानि का जिसके कारण सूफ धारण की भर्त्सना भी की गई है और सूफ धारण को ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसा की नकल कहकर उसकी उपेक्षा भी की गयी है। फिर भी यह निश्चित है कि इस्लामी सम्वत का दूसरी शताब्दी में कृपा के साधक और तपस्वी सूफ धारण करते थे और उन्हें अल-सूफिया कहा जाता था और चौथी शताब्दी के आस पास ईराक के साधकों में सूफ धारण करना एक साधारण प्रथा सी बन गयी थी। सूफी शब्द के इस ऐतिहासिक विवेचन से दो तथ्य स्पष्ट होते हैं। एक सूफीवाद की जड़ें रहस्यवादी सहजज्ञान (तसव्वुफ) में गड़ी है और दूसरा सूफीवाद की उत्पत्ति अरब में न होकर ईराक में हुयी है। अरब का सूफीवाद में केवल इतना ही योग है कि हजरत मुहम्मद का ऐतिहासिक अस्तित्व अरब में था और वहीं से वह अरबीकृत इस्लामी ज्ञान फैला जिसे सूफिया ने एक रहस्यवादी सबुद्धिता के रंग में रंगा।

'सूफी शब्द' वस्तुत प्रतीक है, रहस्यवादी साधक का और सूफीवाद (तसव्वुफ) उस तरीके या जीवन-यापन के ढंग का जिसमें बाह्य कदाचार को त्याग कर आतरिक शुद्धता पर जोर दिया जाता है ताकि स्थायी आध्यात्मिक सुखानन्द प्राप्त हो सके। सूफीवाद के मुख्य आधार हैं—इन्द्रियों को पवित्र करना इच्छाओं का नियन्त्रण में

रखकर उन्हें ईश्वरेच्छा के अधीन रखना और बाह्य तथा आन्तरिक जीवन का इस प्रकार समन्वय करना कि शाश्वत आनन्द की प्राप्ति हो। सूफीवाद वैयक्तिक तथा सांसारिक सुखों का परित्याग करके हक (सत्य) में लीन हो जाने का प्रयास है। खल्क (संसार) निस्सार है और हक (सत्य) का ज्ञान ही सूफी का ईश्वर था। इस प्रकार आभास देता है कि अपने स्वत्व के आभास का ज्ञान छोड़कर सूफी अपने को ईश्वर के स्वत्व में खोया हुआ पाता है। अपने अन्दर भी और बाहर भी, सूफी ईश्वर का अनुभव करता है। सूफी अपने स्वत्व में मृतप्राय सा रहकर ईश्वर के स्वत्व में जीवित रहता है। इस प्रकार, सूफीवाद ईश्वर को समझने की एक रहस्यात्मक अनुभूति का मार्ग है। मुहम्मद द्वारा प्रवर्तित मत में ईश्वर और व्यक्ति दो अलग अलग विरोधी अस्तित्व हैं। किन्तु सूफीवाद में दोनों एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। ईश्वर और जीव मौलिक रूप में एक हैं। अतः, जीव ईश्वर से मिलने के लिए बेचैन है। जीव ईश्वर का दास नहीं है वरन उसका सखा है। त्याग, तपस्या और ध्यान से जीव ईश्वर में लीन हो सकता है। फना (समाप्त) होकर बका (निर्वाण) प्राप्त करना ही जीव का अंतिम लक्ष्य है। ईश्वर में लीन होने के लिये डर नहीं, दया की भीख नहीं, प्रेम की आवश्यकता है। प्रेम की ही अभिव्यक्ति के लिए सूफियों ने ईश्वर की सौन्दर्य के रूप में कल्पना की है और जीव की प्रेम के उपासक के रूप में। सूफियों के लिए इहलौकिक प्रेम ही पारलौकिक प्रेम की सीढ़ी है। इसीकारण, सूफियों की साधना में ध्यान, स्मरण (माला फेरना) और रति तथा गान का भाव आया।

इस प्रकार, सूफीवाद का मुख्य आधार है वैयक्तिक तथा रागात्मक रहस्यवादी अनुभूति और उसके द्वारा ईश्वरत्व (हक) का सहज ज्ञान प्राप्त करना। अरबीकृत इस्लाम की अपेक्षा सूफीवाद अधिक वैयक्तिक और आनुभूतिक है। अरबीकृत इस्लाम इहलौकिकता और सुयुक्तिकरण पर ज्यादा जोर देता है जबकि सूफीवाद त्याग, तपस्या और रहस्यवादिता पर। अरबीकृत इस्लाम में खल्क (संसार) त्याज्य नहीं है वरन ईश्वरीय भय के साथ ग्राह्य है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है अरबीकृत इस्लाम एक इल्हामी ज्ञान है जिसे बिना किसी शंका के अपनाना मानव धर्म है। इसीकारण, इस्लाम के समीक्षकों का कहना है कि सूफीवाद इस्लाम की इहलौकिकता तथा कट्टरता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उठा हुआ एक कदम है। इस्लाम का आधार है मिल्लत, उसका सामाजिक धार्मिक संगठन पर सूफीवाद का उद्देश्य है व्यक्ति तथा समुदाय का आध्यात्मिक पुनर्जागरण। इस्लाम का जोर है ईश्वरत्व की गुणात्मक अनुभूति पर जब कि सूफीवाद का जोर है प्रत्यक्ष और वैयक्तिक ज्ञान पर। इस्लाम के शुष्क गुणात्मक ज्ञान के प्रति सूफीवाद एक प्रबल प्रतिक्रिया रहा है। बाह्य कर्माचार और कट्टरवादिता से मुक्त होने के कारण, सूफीवाद अधिक सहिष्णु रहा है।

सूफीवादी ज्ञान प्रत्येक को सुलभ है बशर्ते कि उस उच्च ज्ञान मार्ग पर चलने

जड़ें है। कुरान म खुदा को वदूद (प्रेमी) कहा गया है। मुहम्मद साहब के मरने के बाद ही, गुलूब और तक्सीर की धारणायें अस्तित्व मे आ गयी थी। गुलूब की धारणा के अनुसार मनुष्य ईश्वर की कोटि तक पहुच सकता है और तक्सीर की धारणा के अनुसार यदि ईश्वर चाहे तो वह मनुष्य के रूप म प्रकट हो सकता है। आगे चलकर, जब अल हल्लोज ने अनलहक का नारा लगाया तो उसने गुलूब की धारणा को और भी दृढतर कर दिया। मोतजली सम्प्रदाय के लोगो ने इस मत का खण्डन किया कि कुरान अपौरुषेय और अन्तिम सत्य का एकमात्र आख्यान है। अलगजाली (1051 1112) न यह कहकर कि ज्ञानातीत निरपेक्ष सत्य को जानने का एकमात्र साधन सबुद्धि है, रहस्यवादिता की नीव डाली। इसप्रकार सूफीवाद इस्लाम के घेरे मे ही पनपता रहा। इस्लामी पष्ठभूमि से अलग सूफीवाद वस्तुत एक केन्द्र रहित परिधि है। किन्तु सूफीवाद का उदगम इस्लाम मे ही नही है।

कुरान और मुहम्मद साहब के जीवन के अलावा, सूफीवाद के निर्माण म जिन कारको का योग रहा है वे है इसाइ धम, जो सीरिया क तटवर्ती क्षेत्रो म प्रचलित था अभिनव अफलातूनी (Neo Platonic) विचार धारा, हिंदुत्व, बुद्धवाद तथा ईरान मे प्रचलित जरथुस्त्र धम। सूफियो म मिशनरीपन की भावना तथा महदी और ईश्वर को प्रेम से पाने की धारणायें मिथ के अनुसार इसाई धम स आई है। ईश्वर के प्रति मादन और रीति का भाव अभिनव अफलातूनी विचारा की देन है। इस्लाम के उदभव के पहले ही अभिनव अफलातूनी विचारो पर भारत का प्रत्यक्ष प्रभाव पड चुका था। इसीकारण यह कहा जा सकता है कि सूफी मत के विकास म योग देने वाले प्रभावो म हिन्दू-बौद्ध दशन का ही अधिक प्रभाव है। जीव और ईश्वर (अथवा ब्रह्म) मौलिक रूप स एक है जीव ब्रह्म की कोटि तक (अनलहक की अवस्था तक) पहुच सकता है और जीव ब्रह्म का मिलन फना बका की अवस्था है सौन्दय से प्रेम उत्पन्न होता है और प्रेम से मुक्ति और इन दोनो का समन्वय करने के लिए यतीवत्ति, वैराग्य साधन योग और सयम की आवश्यकता है इन मान्यताओ की जडें भारत की वेदाती और यौगिक परम्पराओ म हैं। सूफिया म भारत के योगियों जैसी निर्भीकता रही है। साधना के लिए मगीन और माला का आश्रय लेना भारतीय सकीतन का माग है।

सूफी सम्प्रदाया का मठीय सगठन बौद्ध मघो से प्रेरित है क्योकि मानव वृत्ति हास म, सघ, मठो और भिक्षुओ की परम्परा सवप्रथम बौद्धो ने ही डाली थी। गुरु शिष्य परम्परा के पीछे यदि एक ओर हजरत मुहम्मद द्वारा निर्धारित पगम्बरी परम्परा म उत्पन्न प्रेरणा थी तो दूसरी ओर भारत म पनपने वाली योगी परम्परा। दिनकर के अनुसार वेदान्तियो के मोक्ष और बौद्धो के निर्वाण के वजन पर ही सूफिया ने 'फना' की कल्पना की और बुद्ध का अष्टागिक माग ही उनका 'तरीका या सलूक' हुआ। इसीप्रकार, सूफियो ने भारतीय योग को मराकबा कह कर अपनाया। भारतीय योगियो के चमत्कार ही सूफियो के यहाँ करामात या मोजजा कहलान लगे।

सूफियों के बीच स्वच्छता, पवित्रता, सत्य, अपरिग्रह पर जो इतना जोर है तथा माला जपने की जो प्रथा है, उन सबके पीछे शुद्ध भारतीय संस्कार का ही प्रभाव माना जा सकता है। सर चार्ल्स इलियट का हवाला देकर निकर ने यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि सूफीवाद में पाये जाने वाले जीव ब्रह्म सम्बन्धी विचारों और तसव्वुफ (रहस्यवाद) का उद्गम मुख्यतः भारत में ही है। पानिकर ने सूफीवाद को वेदान्त का इस्लामी संस्करण कहा है। इस्लाम के उदय के पहले तथा प्रारम्भिक विकास के आस पास अरब और ईरान पर बौद्ध तथा वेदान्त दर्शन का प्रभाव रहा है। इसी प्रभाव ने अन्य प्रभावों के साथ इस्लाम में सूफीवाद को जन्म दिया है।

अनुताप, इन्द्रिय निग्रह, विरक्ति, अपरिग्रह, सन्तोष, धैर्य, ईश्वर और जीव की मौलिक समानता, ईश्वर के प्रति जीव के स्वाभाविक प्रेम, प्रेम द्वारा ईश्वर जीव के मिलन (फना) तथा संगीत-संकीर्तन द्वारा ईश्वर के प्रति प्रेम की साधना में विश्वास और संसार का आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा समझने का प्रयास सूफियों के जीवन के मुख्य सैद्धान्तिक आधार रहे हैं। यही सिद्धान्त सूफियों का तरीका है जिन्हें प्रत्येक सूफी पीर ने अपने ढंग से अपनाया है। सूफीवाद का उद्भव एक धार्मिक-आध्यात्मिक तरीके के रूप में हुआ था। कालान्तर में इस्लामी, ईसाई और बौद्ध परम्पराओं के प्रभाव ने सूफीवाद में मठाधीश परम्परा को जन्म दिया जिसकी अभिव्यक्ति इस्लामी संसार में फैले हुए सूफी सम्प्रदायों (पन्थों) के रूप में हुई। प्रत्येक सम्प्रदाय किसी न किसी सूफी साधक की परम्पराओं पर आधारित है। कई सम्प्रदायों ने विभक्त होकर उपसम्प्रदायों को जन्म दिया। प्रत्येक सम्प्रदाय या उपसम्प्रदाय अपने मूल संस्थापक की परम्परा में, आध्यात्मिक साधना का एक तरीका विशेष बन गया और प्रत्येक तरीके का प्रसार गुरु शिष्य परम्परा में हुआ। अरबोद्भूत इस्लाम की अपेक्षा, सूफीवाद देश काल की परिस्थितियों के अनुसार अधिक लचीला रहा जिसका परिणाम यह हुआ कि सूफीवाद अनेक पन्थों में फूट निकला। उत्तरी अफ्रीका से लेकर इण्डोनेशिया तक पाये जाने वाले सूफी पन्थों में केवल आधारभूत सैद्धान्तिक समानता है क्योंकि उनके सामाजिक संगठन और क्रियाकलाप परस्पर भिन्न हैं। यह सूफीवादी इस्लामी विचारधारा के स्थानीयकरण का ही परिणाम है कि कुछ सूफी पन्थ भारत में ही जन्मे और भारत में उन समूहों तक ही सीमित रहे जिनमें उनका जन्म हुआ था। जिस प्रकार एक काल में भारत के अनेक स्थानीय और ब्राह्मणेतर जातीय समूह सुधारवादी पन्थों के माध्यम से हिन्दुत्व में प्रविष्ट हुए उसी प्रकार अनेक ऐसे समूह, सूफीवाद के द्वारा, इस्लाम में प्रविष्ट होकर इस्लाम में जाति प्रथा के समावेश का कारण बने।

४

इस्लामी धार्मिक पन्थो मे भारतीयकरण[1]

इस्लामी दर्शन और आध्यात्मिकता मे अतर्निहित आत्म विच्छेद से उत्पन्न, सूफीयाना इस्लाम के लिए भारत का समन्वयकारी सास्कृतिक वातावरण बड़ा ही अनुकूल रहा। इन पथो के माध्यम से अनेक देशज समूहो ने, एक ओर अपनी गैर इस्लामी परम्पराओ का इस्लामीकरण किया और, दूसरी ओर, उस इस्लामीकरण का भारतीयकरण। भारत की सामाजिक पृष्ठभूमि, इस्लाम मे पथ परम्परा की उत्प्रेरक सिद्ध हुई, जिसके कारण यहा अनेक पथो का आविर्भाव हुआ, जिनमे कुछ सूफी थे और कुछ गैर-सूफी। इन पन्थो की विशेषता यह है कि इनके द्वारा गैर इस्लामी प्रथाओ का इस्लाम मे समावेश हुआ।

सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के जमाने मे ऐसे पथ थे जो गैर इस्लामी परम्पराओ को मानते थे। अशाब ए इबाहत पथ के लोगो के बारे मे अमीर खुसरो ने ने लिखा है कि उनमे समीपस्थ सम्बन्धियो (भाई बहिन, पिता पुत्री माता पुत्र) में भी यौन सम्बन्ध पाये जाते हैं। सत्रहवी शताब्दी के मध्य मे दबिस्ता उल मजाहिब के लेखक ने ऐसे ही पथो के बारे मे लिखा है कि उनमे अनेक गैर इस्लामी प्रथायें पायी जाती हैं। परम्परावादी दृष्टिकोण से ये प्रथायें भारत मे इस्लाम के अध पतन का प्रतीक सी लगती है? इस्माइली एक शिया पथ है जिसके बारे मे दबिस्ता मे लिखा हुआ है कि इस पथ के लोग शरिअत के अनुसार व्यवहार नही करते है और वे इस ऊहापोह मे नही पड़ते है कि ईश्वर है या नही, ससार वास्तविक है या नही। उनकी यह मान्यता है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है और उन पर यह आरोप लगाया जाता है कि अपनी गुप्त सभाओ मे वे अगम्यगमन यौन सम्बन्ध (Incestuous Sex Relations) स्थापित करते है। भारत मे खोजा और बोहरा जो काठियावाड और गुजरात मे पाये जाते हैं, इस्माइली पथ के दो उपपथ हैं। खोजा हिंदू थे, जिनको सयद इमामुद्दीन नामक एक सूफी मत ने इस्लाम मे परिवर्तित किया था। अहमदाबाद से नौ मील की दूरी पर स्थित इमामुद्दीन की दरगाह खोजा लोगो का एक धार्मिक स्थान है। ऐसा कहा जाता है कि इन लोगो मे पायी जाने वाली गुरुपूजा मे मूर्ति-पूजा का भाव है, क्योकि इनका गुरु एक सम्राट की भाति पर्दे के पीछे बैठता है और ये लोग उसके पैर के अगूठे को चूम कर, उसके चरणो मे सोने और चादी की भेंट चढाते हैं। खोजाओ की भाति गुजरात के बोहरो ने भी शिया-पथ को स्वीकार किया और अपने विवाह उत्तराधिकार तथा तलाक के नियमो मे अनेक गैर सुन्नी प्रथाओ को स्थान दिया है।

---

1 यहा जिन सूफी पन्थो का सन्दर्भ दिया गया है उनका वर्णन यासीन के अध्ययन ए सोशल हिस्ट्री आफ इस्लामिक इण्डिया पर आधारित है।

दबिस्तां का हवाला देते हुए, मासीन ने लिखा है कि सन् सोलह सौ पाँच और सत्रह सौ अड़तालीस के बीच हिन्दुओं में एक ऐसा वर्ग अस्तित्व में आ गया था, जिसके सदस्य अपने परम्परागत विश्वासों और व्यवहारों के साथ, सूफी मुसलमानों की भाँति रहते थे। अपने विचारों और व्यवहारों में, इन्होंने सूफीवादी सिद्धान्तों को आत्मसात् अवश्य कर लिया था, पर मूलतः ये लोग हिन्दू ही थे। इस वर्ग के लोगों का यहाँ तक दावा था कि उनकी मान्यताओं, विचारों और व्यवहारों का पैगम्बर के उपदेशों से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह तथ्य इस बात का प्रतीक है कि भारत के समन्वयकारी सांस्कृतिक वातावरण में सूफीवाद को वह नयी दिशा मिली जिसके कारण वह इस्लाम के उत्तरोत्तर भारतीयकरण का माध्यम बना। यह भारत के समन्वयकारी सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव था कि भारत में कुछ ऐसे सूफीपंथ उत्पन्न हुए जो भारत के बाहर अन्यत्र नहीं पाये जाते हैं और अपनी विचारधारा तथा कर्माचार में, अन्य स्थानों के सूफी पंथों से भिन्न हैं। भारत के मुख्य सूफी पंथ हैं—रौशनिया, दीन-ए-इलाही या तौहीद-ए-इलाही, मलंगिया, जलालिया, मैनद या उनरा, कादरी या कादिरी और पियारापंथी। ये पंथ शिया भी थे और सुन्नी भी और भारतीय दर्शन की समन्वयकारी परिधि में घिरे रहने के कारण इस्लामी आत्मविच्छेद के अधिक समीप थे।

रौशनिया पंथ के प्रणेता थे मियाँ बायजिद अन्सारी जो सोलहवीं शताब्दी के मध्य में पंजाब में पैदा हुए थे। अनुष्ठान इस्लाम के कर्माचार के स्थान पर इन्होंने सदाचार विचार की शुद्धता और इच्छाओं में पवित्र विश्वास पर अधिक जोर दिया। इनका मत सत्रहवीं शताब्दी तक चलता रहा। अपने मत का प्रचार करने के लिए, इन्होंने अरबी, फारसी और पश्तो के साथ-साथ हिंदी (हिन्दुई) का भी आश्रय लिया। दीन-ए-इलाही के प्रणेता थे सम्राट अकबर जो इस्लाम और भारत के अन्य धर्मों के बीच समन्वय लाने के लिए प्रेरित थे। दीन-ए-इलाही के मुख्य चार आधार हैं—तजल्लियात उल अल्लाह का अनुभव होना[1], सभी धर्मों पर विचार विमर्श एवं विचार (धार्मिक उदारता व विश्वास) और अन्त में ... महम्मद अकबर के ... का निरूपण। यह पंथ औरंगजेब के समय तक चलता रहा और इसका मुख्य ध्येय था भारतीय सांस्कृतिक वातावरण के अनुसार एक ऐसी संहिता तैयार करना जो सभी धर्मावलम्बियों को मान्य हो। इस पंथ की मान्यता अरबी इस्लाम के समीप न होकर, भारत की ऋषियों की परम्परा के ही अधिक समीप है। इस पंथ का ... इस प्रकार है कि हिन्दू की दार्शनिक पृष्ठभूमि और इस्लाम में समन्वय लाने के प्रयास की ओर, ... ओर भी ... इसके ... की

1 तजल्लियात उल अल्लाह का अर्थ है अल्लाह (ईश्वर) के तत्वों का अवतारण।

भावना अधिक थी यद्यपि, अकबर के बाद, इस भावना का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया।

मदरिया पंथ के अनुयायी अपने को मुनी कहते थे और शेख बदरुद्दीन जो शाहमदार के नाम से प्रसिद्ध है, के अनुयायी थे। आज भी शाहमदार को हिंदू और मुसलमान दोनों पूजते हैं। आज भी मकनपुर (जिला कानपुर) में प्रतिवर्ष इनकी मजार पर मेला लगता है। इन्होंने 'मदार' की दैवी महिमा स्थापित की। इस पंथ के अनुयाइयों के अनुसार जब पैगम्बर स्वर्ग द्वार पर पहुंचे तो उन्हें वह द्वार सुई के छेद के आकार का मिला। देवदूत जिबरील ने उनसे मदार की सहायता का आवाहन करने के लिए कहा और जैसे ही उन्होंने 'दम मदार' शब्द का उच्चारण किया, स्वर्ग द्वार चौड़ा हो गया और तब पैगम्बर स्वर्ग में प्रवेश पा सके। इस्लाम में जिन उपवासों और प्रार्थनाओं पर जोर दिया गया है उनका मदरिया लोगों ने पालन नहीं किया। ये गले में हसली और सिर पर काला साफा धारण करते थे और काला झंडा लेकर चलते थे। जटा रखना, नंगे बदन रहना, देह पर भस्म मलना, धूनी रमाना और भांग का अत्यधिक प्रयोग इनकी साधना चर्या में शामिल थे। सूफीवाद के रूप में मदरिया एक प्रकार का वाममार्गी पंथ सा प्रतीत होता है।

जलालियान सैयद जलालुद्दीन बुखारी (1307 1374 ई०) के अनुयायी थे और अपने को शिया मानते थे। जलालुद्दीन मुल्तान के सुहरावर्दी संत बहाउल हक के शिष्य थे। जलालियान पंथियों ने न तो उपवास और प्रार्थना की परवाह की और न सूफियों की आधारभूत मान्यताओं की ही। इस पंथ के अनुयायी भांग का अत्यधिक प्रयोग करते थे और ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने सांप बिच्छू और कीड़े मकोड़ों को भोज्य पदार्थों की श्रेणी में रखा। मदरियों की भांति जलालियान भी नंगे बदन रहते थे और धूनी रमाते थे लेकिन जटायें नहीं रखते थे। विभिन्न प्रमाणों के आधार पर, यासीन ने जलालियान का जो वर्णन किया है, वह इस प्रकार है— जलालियान गले में गुलूबन्द बांधते हैं पशम (ऊन) या बहुरंगी धागा का हार तथा लंगोटी धारण करते हैं और साथ लेकर चलते हैं। पंथ में दीक्षा लेने समय, उनकी दाहिनी बांह के ऊपरी हिस्से में दाग दिया जाता है। वे बाजारों में भिक्षा मांगते रहते हैं और यदि उन्हें भिक्षा नहीं मिलती है तो वे कपड़ा चढ़ी हुयी लोहे की गरम सलाख से अपने को दाग लेते हैं। पंजाब उनका मुख्य गढ़ है जहां वे प्रार्थना पर बहुत ही कम ध्यान देते हैं गांजा पीते हैं बिच्छू और सांप खाते हैं और सिर मूछ तथा भौंहों को मुड़ाते हैं किन्तु सिर पर, दाहिनी ओर चोटी भी रखते हैं। वे सिर पर पटली बांधे रहते हैं गले में ऊनी धागा पहनते हैं और भुजदंड पर शीशे के तावीज बांधे रहते हैं। उनका कोई निश्चित निवास स्थान नहीं होता है—वे सैलानी होते हैं।

दबिस्ता के अनुसार जलालियान का 'गुरु (पीर) प्रतिदिन एक नये स्त्री प्रसंग की टोह में रहता है। जब अपने किसी शिष्य के घर में उसे किसी सुन्दर तरुणी का

पता चलता है तो वह नरसिंह बजाने की जोगी दास के पीठ पर सवार होकर शिष्य के घर जाता है और वहाँ मे मनमाना व्यवहार करता है। जोगी का वह कभी कभी अपने घर भी ले आता है पर उससे विवाह नहीं करता है। इस प्रथा को स्पष्ट करते हुये दबिस्ता के लेखक ने लिखा है कि सम्भवतः इसका सम्बन्ध अली से है क्योंकि अली प्रतिदिन मे ख्वाजा को दूसरे घरों के... विये जाने पर सब जनता ने उसे बताया कि गर का रहे हुए उसकी प्रजा का प्रतीक है और पैगम्बर के परिवार का सब विशेषाधिकार है। अब ... वह जोगी द्वारा प्रदान किसकी नारी का प्रयोग कर सकता है।

वक्रद का मतलब है स्वतन्त्र और ... का निराट। ... ये धे ... मे अलग अलग रूप। ... करना ... (Ritual Law) जोग नाना के लिये है ... कि उनके लिये जो मालिक (... का पान) ... है। ... मे आता है। ... अनुयायी ... मासभक्षण ... उसके लिये ... मिश्रित ... और अपने ... प्रथा करते थे। ... उतना ही ... थे ... कि उनके खान पान का काम ... है। उनका ... का रिश्ता अर्थात ... या ... बनाते थे। ... के अनुयायियों के अनुसार ... ईश्वर आत्मा और मानते थे और ... मे कुछ ... का ... प्रयोग करते थे। ... तपस्वियों मे भी ... थे।

मनूषी (Mlnuuu) के अनुसार ... अनेक प्रकार के फकीर ... जाने वाले गरीब लोग थे किन्तु उनमे दो प्रकार के फकीर ... आजाद और दूसरे बेनवा अथवा निडर। पहले प्रकार के फकीर ... सबके लिये गालियाँ अशिष्ट भाषा का प्रयोग सबके ... मे भुगतान (भिक्षा) मांगना और न मिलने पर गालियाँ देना, उनके लिये साधारण बात थी। ... कभी भी ईश्वर के नाम पर भिक्षा नहीं मांगते क्योंकि उनके ईश्वर नाराज होता है। बेनवा ... हाथ मे लेकर भिक्षा मांगते थे और न मिलने पर अपने ... सिर या पेट मे छुरी मार लेते थे ... भिक्षा ... पर फकीर ... के ... खून छिड़क देते थे। ये ... भिक्षा मांगते थे। ... अथवा निडर प्रकार के ... मे बनिया की दूकानों ... मे मिल जाते हैं। ... मे विभिन्नता ... के ... मूर्दाशीरों (अर्थात मूछ दाढ़ी ... बाल ... था।) ... जाते हैं।

... जहाँगीर के समकालीन ... निवासी ... के अनुयायी थे। ऐसा कहा जाता है कि ... और ... वशीकरण मे ... थे और किसी पर नज़र डालने मात्र से ही उसका ... कर

लेते थे। इब्राहीम के शिष्य मुसल्मान भी थे और हिंदू भी। इब्राहीम ने कभी भी अपने शिष्यों से धर्म परिवर्तन की मांग नहीं की। अल्लाह और राम को छोड़कर वे न तो किसी पैगम्बर का नाम लेते थे और न किसी अवतार का। वे और उनके शिष्य रात में कभी नहीं सोते थे बल्कि पीठ से पीठ जोड़े हुये रात भर बैठे रहते थे। वे सर्वोच्च दैवी सत्ता को एक मानते थे, भांग का अत्यधिक प्रयोग करते थे और ब्रह्मचर्य का नियमित रूप से पालन करते थे। पियारा पंथी, बाबा पियारा जो बंगाल के निवासी थे और सम्भवतः शेख सलीम चिश्ती के शिष्य थे, से सम्बन्धित हैं। भिक्षा मांगते समय ये किसी के घर या दूकान के सामने खड़े हो जाते थे और न तो किसी वस्तु की ओर देखते थे, न कुछ कहते थे और न किसी वस्तु की याचना ही करते थे। जो कुछ मिल जाता था वे स्वीकार कर लेते थे और यदि कुछ नहीं मिलता था तो चुपचाप चले जाते थे। अपने को मुसल्मान कहते थे पर मुसलमानों की तरफ ज्यादा ध्यान नहीं देते थे।

भारत में उत्पन्न होने वाले तथा भारत में ही सीमित रहने वाले इन सूफी पंथों के माध्यम से इस्लाम पर हिन्दू दर्शन, हिन्दुत्व की आगम परम्पराओं, बौद्ध तांत्रिकों और आदिवासियों का प्रभाव पड़ा। यह पहले ही कहा जा चुका है कि जहां हिन्दूकरण की प्रक्रिया अपूर्ण थी, वहीं इस्लाम का प्रवेश हुआ। ऐसा क्षेत्र था भारत का आदिवासी समाज। ऐसा लगता है कि अलग अलग गणजातियां अलग अलग स्थानों में सूफी पंथों के रूप में इस्लाम में प्रवेश कर गयी और अपनी परम्परागत प्रथाओं को इस्लाम के रंग में रंगा। अकबरनामा के आधार पर, मोहम्मद यासीन ने लिखा है कि काकनी पंथ का संस्थापक सम्भवतः कश्मीर की काक गणजाति का था। वास्तव में भारतीय सामाजिक संरचना के निम्नतर स्तरों पर हिन्दूकरण और इस्लामीकरण का साथ-साथ समावेश हुआ है और चूंकि हिन्दूकरण की प्रक्रिया में हिंदू और आदिवासी प्रथाओं का पहले से ही समन्वय हो रहा था इस्लाम के प्रभावों का एक ओर हिन्दूकरण होता तो दूसरी ओर आदिवासीकरण। पियारा पंथियों का भिक्षाटन का तरीका वास्तव में बौद्ध भिक्षुओं और दरवेशों का तरीका है। मदारियों और जलालियान पंथों के अनुयायियों में यदि एक ओर भारत के नागा साधुओं और संन्यासियों की सी विशेषताएं मिलती हैं तो दूसरी ओर औघड़ों और वाममार्गी बौद्ध तांत्रिकों की सी परम्पराएं। भारत में संन्यासियों की न तो कोई जाति है और न कोई पांति। सम्भवतः इसी प्रभाव के अन्तर्गत बकता दी स्वतन्त्र (आजाद) शाखा ने यह निर्धारित किया कि मारिफत की अवस्था में पहुंच जाने वालों पर शरा (इस्लामी कर्माचारी विधि) नहीं लागू होती है। मदार जैसी दैवी शक्ति की धारणा और मदार का झंडा टोटमवादिता (Totemism) के अधिक निकट है न कि हिन्दुत्व या इस्लाम के।

दबिस्ता के लेखक के अनुसार जलालियान के गुरु का अपने शिष्यों के घर की

स्त्रियों के साथ संभोग, यौन-सम्बन्ध स्थापित करना मद्य सेवन तथा आध्यात्मिक तत्त्व 'धर्मों' के जीवन का प्रभाव है। उसी लेखक के अनुसार हिन्दुओं में वल्लभाचार्य सम्प्रदाय के लोगों में भी विवाहोपरान्त सर्वप्रथम वधू गुरु को अर्पित करके, बाद में पति द्वारा प्रसाद के रूप में स्वीकार की जाती थी। यूरोप में मध्यकालीन सामन्तिक व्यवस्था में भी ऐसी प्रथाओं का उल्लेख है। वहाँ गुरु का स्थान पादरी के पास था। बनारस में [illegible] का वर्णन करते हुए मिश्र (1920) ने नग्ननारी पूजा में लगी हुई प्रथा का उल्लेख किया है। भारत के वाममार्गियों में शिव और भैरवी की धारणा तथा [illegible] सम्बन्धित यौगिक [illegible] में ही अधिक उपयोग में था। ऐसी दशा में यह कहना कठिन है कि जलालुद्दीन में यह प्रथा या इस्लाम में आयी थी या भारत के आध्यात्मिकों या वाममार्गियों से। आरम्भ में इन प्रथाओं का वास्तविक रूप क्या था या क्या है और उनके वास्तविक उद्गम स्थान क्या हैं? यह प्रश्न भारत के सांस्कृतिक इतिहास का जटिल प्रश्न है।

अकबर द्वारा स्थापित दीन ए इलाही वस्तुतः वह प्रयास है जिसके द्वारा इस्लाम और हिन्दुत्व के नैतिक तथा व्यावहारिक पक्षों का समन्वय करने की कोशिश की गयी थी। स्मृतियों और पुराणों में वर्णित धर्म शब्द की धारणा में सम्राट में देवत्व का प्रतिरोपण करके उसे धर्मरक्षक माना गया है। इसी प्रकार भारत के राजाओं ने सभी धर्मों का संरक्षण किया है और वर्ण तथा जाति-व्यवस्था के लिए नियमों का निर्धारण किया है। राजाओं ने आचार संहिताओं का संकलन कराया है। अकबर की धार्मिक सामग्री में उच्चतम सत्ता मानकर दीन ए इलाही द्वारा जहाँ एक ओर, इस्लामी कट्टरता पर प्रहार [illegible] स्थान का प्रयास किया गया था वहाँ दूसरी ओर उसे हिन्दू परम्पराओं के अधिक समीप लाने का प्रयास भी किया गया था। अकबर के बाद, दीन ए इलाही का जिक्र रहा पर उसकी आत्मा नष्ट हो गयी क्योंकि जहाँगीर के समय से इस्लामी कट्टरता ने [illegible] तथा रूप ले लिया था [illegible] धीरे धीरे बढ़ती रही। इस सन्दर्भ में सबसे बड़ी विचित्रता तो यही है कि जहाँ एक ओर सूफी सन्तों के द्वारा इस्लाम उदार और समन्वयवादी बना वहाँ दूसरी ओर इन्हीं सन्तों के प्रभाव से उसमें कट्टरता का भी सूत्रपात हुआ। इतिहास के अनुसार, सूफी सन्त साम्प्रदायिकता से [illegible] न थे। इतिहास में वर्णित एक घटना के अनुसार, एक शीशमहल पर [illegible] और [illegible] के [illegible] में, [illegible] में लिया और [illegible] दो बार [illegible] [illegible] लिया। [illegible] [illegible] में लिया और [illegible] का विरोध [illegible] कि [illegible] ने [illegible] पर आक्रमण कर लिया।

इस सन्दर्भ में [illegible] में इस्लाम का [illegible] हुआ है कि प्रारम्भ से ही इस्लाम का [illegible] अनुसरण [illegible] का [illegible] रहा है। [illegible] के बाहर से आये हुए सूफियों और उनके [illegible] —

इस प्रयास मे काफी योग दिया है। सारे इस्लामी भारत मे मुजद्दिद की धारणा की भरमार रही है। यन्हायुनो के अनुसार, जब से भारत मे इस्लाम का प्रवेश हुआ है ईश्वर ने देश मे उस बड़े बड़े शापो का उदय किया है जो धर्म निरपेक्ष सम्राटो के विरुद्ध रहे है। अकबर ने प्रतिक्रिया की इस लहर को दबाये रक्खा किन्तु उसकी मृत्यु के बाद यह और भी प्रबल हो गयी। मुजद्दिद अल्फ सानी शेख अहमद सरहिन्दी, जो पन्द्रह सौ तिरसठ ईसवी मे पैदा हुये थे और चिश्तिया कदरिया और नक्शबन्दिया पन्थो से प्रभावित थे, ने इस्लाम की रक्षा के लिए सम्राट को सुधारने का प्रयत्न किया और दरबार के अमीरो से लिखा पढी की। जहांगीर को भारत सम्राट की गद्दी पर बिठाने मे इनका बड़ा हाथ था। बहुत सम्भव है कि भारत के सिंहासन के बदले मे इस्लाम की रक्षा की प्रतिज्ञा जहांगीर ने शेख अहमद सरहिन्दी और उनके अनुयाइयो को बतौर मूल्य के दी हो[1]।

सरहिन्दी ने सदैव इस बात पर जोर दिया कि शरियत तलवार की ही छत्र छाया मे सुरक्षित है। अकबर की मृत्यु के बाद उन्होने इस्लाम खतरे मे है का नारा लगाया और कट्टरवादिता को प्रोत्साहित किया, जिसका प्रारम्भ जहांगीर मे होता है। खानजहां को लिखे हुये एक पत्र मे उन्होने इस बात पर जोर दिया कि बादशाह के सम्मुख अन्य धर्मो की निन्दा की जाय। सरहिन्दी ने धर्मान्तरण (Proselytization) के काम के लिए लोगो को तयार किया। जहांगीर के कार्यों और नीति मे हिन्दू विरोधी तत्त्व का उद्गम जहांगीर पर सरहिन्दी के प्रभाव मे है। ऐसा कहा जाता है कि उनका कहना जहांगीर इस्लाम के लिए लाभप्रद समझता था। यासीन के अनुसार, सरहिन्दी ने साधारणतया शिक्षा और सूफियो मे और विशेषतया मुसलमानो और गैर मुसलमानो मे उत्तरोत्तर घृणा का प्रचार किया, जिसके कारण प्रतिक्रिया असहिष्णुता और साम्प्रदायिक संघर्ष बढ़ा। शाहजहां पर कट्टरता का प्रभाव था पर उसने मानवता कट्टरता के समक्ष सिंहासन को अधिक महत्व दिया। औरंगजेब, शाह वलीउल्लाह, जिन्होने इस्लाम के पुनर्स्थापन के लिए अहमदशाह अब्दाली को भारत बुलाया था भारत मे वहाबी आन्दोलन के प्रणेता सय्यद अहमद बरेलवी (1770 1831) इकबाल और मुहम्मद अली जिन्ना, ये सब अलग अलग आकस्मिक घटनायें न होकर एक उत्तरोत्तर विकासशील ऐतिहासिक शृंखला की कड़ियां हैं। इसमे कोई अतिशयोक्ति न होगी यदि यह कहा जाय कि भारतीय संस्कृति मे, इस्लाम उत्ताल तरंगो मे फंसे हुए एक जहाज के समान रहा है। इस्लाम का आत्मविच्छेद (Schism) इस्लाम के प्रभाव के कारण, भारतीय संस्कृति का आत्मविच्छेद (Schism) बन गया।

---

1 यासीन, मोहम्मद वही

नौकरशाही के निम्न स्तरा पर हिंदुओ को रखने के सिवा मुसलमाना के पास और कोई चारा ही नहीं था। मसलमाना के भारत म आने के पहले ही भारत म सुनिश्चित नौकरशाही की परम्परा अस्तित्व म आ गयी थी। नौकरशाही के उच्च पदा को ता मुसलमाना ने हाथिया लिया किन्तु निम्न पदो पर हिंदुओ का रखना आवश्यक था, क्याकि पटवारी, मुनीम और खजाची का काम यहाँ की परम्परागत सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के अनुसार हिंदू ही कर सकते थ। मुसलमान अपने साथ सना के अतिरिक्त केवल इस्लाम लाय थ। उनके पास न तो कोई न्यायिक पद्धति थी न कोई आर्थिक तथा भूमि व्यवस्था। मुसलमाना के पास धम अपना था—पर सामाजिक आर्थिक व्यवस्था थी भारत का जिसके चलाने वाले थे हिन्दू। इसीलिए जिले के स्तर पर प्रशासक हुआ करते थे मुसलमान किन्तु प्रशासन को चलाने वाले होते थे हिंदू। इसी सुनिश्चित भारतीय नौकरशाही पर मुस्लिम सम्राट अपने साम्राज्या को खडा कर सके और इसी के आधार पर प्रान्तीय राज्यपाल मौका पाते ही राज्यो की नीव डाल देते थे। आगे चल कर इसी नौकरशाही के बल पर अंग्रेजा ने भारतीय साम्राज्य खडा किया। हा, यह अवश्य है कि न्यायिक प्रशासन का मुसलमाना ने अपने आधिपत्य मे रखा।

इस प्रकार भारत मे इस्लाम के प्रवेश करने पर भी भारत की आर्थिक सरचना वही रही जिसका निर्माण हिंदुओ ने किया था। यहाँ की भूमि व्यवस्था का वही रूप रहा जो पहले से चला आया था[1]। हा यह अवश्य था कि मुस्लिम सम्राट यदा कदा लगान की दर म परिवतन कर दिया करते थे। भारत की इस परम्परागत आर्थिक सरचना और भूमि व्यवस्था पर मुसलमानो ने जागीरदारी की सामन्ती व्यवस्था कायम की क्योकि स्वय मुस्लिम सम्राट एक बडा साम त था जिसकी रक्षा के लिए अनेक साम तो की आवश्यकता थी। जागीरदार भूमि का मालिक न था बल्कि सम्राट की दया पर निभर, भूमि कर वसूल करने वाला एक अधिकारी था। भूमि का वयक्तिक तथा सामूहिक आधिपत्य वस्तुत निहित था ग्रामीण समुदाय म जो सामन्तवादी व्यवस्था का गणत त्रीय धरातल था। मुस्लिम आक्रमणा के काल म लिखी गयी शुक्रनीतिसार से यह पता चलता है कि तत्कालीन भारत की सामाजिक

1 भूमि व्यवस्था को निश्चित आधार पर लाने के लिए अकबर को भी टोडरमल की जरूरत पडी। किन्तु जब अकबर ने राजा टोडरमल को नियुक्त किया तो मुल्लाओं ने इसका विरोध किया और अकबर के पास एक प्रतिनिधि मडल भेजा। इस प्रतिनिधि मण्डल से अकबर ने पूछा, "तुम्हारी भूमि और राजस्व का प्रबन्ध कौन करता है" ? उनका उत्तर था हिन्दू पदाधिकारी। इस पर अकबर ने कहा, 'तो मुझे भी अपनी भूमि के प्रबन्ध के लिए हिन्दू को नियुक्त करने की अनुमति दो'—देखिय, रामगोपाल वही पष्ठ 14

आर्थिक व्यवस्था में ग्राम एक स्वतन्त्र इकाई था। इसी स्वतन्त्रीय धारा पर मुसलमानों ने मनुष्य पर आधारित एक सामन्ती व्यवस्था नहीं की। तुर्की और इधर के हिन्दू भूमि व्यवस्था का चलन था वे हिन्दू पर इन सभी का निर्वाह करने वाले ये मुस्लिम शासन। जिस व्यवस्था में मुसलमानों ने प्रवेश किया था वह भी सामन्ती व्यवस्था थी। यह बात स्पष्ट है कि इस्लाम के प्रवेश के बाद हिन्दू सम्राट का स्थान ले लिया मुस्लिम सम्राट ने और हिन्दू सामन्तों का मुस्लिम सामन्तों ने। इस भारत की सामन्तशाही व्यवस्था में नाम तथा रूप के नाम पर ही बहुतों में बंट गया। भारतीय इतिहास में मुस्लिम और हिन्दू समाज नहीं हुआ और इसी कारण भारत के सामन्तवाद का एक ओर पूँजीवादी व्यवस्था में ढलना पड़ा था, दूसरी ओर स्वयं अपने में हिन्दू और मुसलमान में। मुस्लिम सामन्तों ने हिन्दू सामन्तों का इस्तेमाल था। इसी कारण भारत में पारसी के व्यापार और अपने की भावना उठी और तब तक मुसलमानों जब तक कि अंग्रेजों द्वारा लायी हुयी साम्राज्यवादी-पूँजीवादी व्यवस्था में मुसलमान जनता को अपने प्रभाव में नहीं हटाया। इस परिस्थिति में उनके असुरक्षा की भावना के कारण मुस्लिम सामन्तों में जो असन्तोष फैला वह स्वयं ही व मुसलमानों हुए आगे के समय में साम्प्रदायिक ज्वाला के रूप में धधक उठा।

भारत और उसके बाहर अरबी प्रतीक रही है अरबीकृत इस्लाम का। धार्मिक कर्मचार में, मुसलमानों के लिए अरबी का वही महत्त्व रहा है जो हिन्दुओं के लिए संस्कृत का है।

उत्तरी भारत में तुर्कों के प्रवेश के साथ साथ, फारसी को राज्य कृपाप्राप्त हो गयी। मुगल काल में जब दरबार में ईरानियों का प्रभाव बढ़ गया तब यह कृपा और भी बलवती हो गयी। अतः फारसी एक ओर, राज्य भाषा रही तो, दूसरी ओर, काव्य और साहित्य की भाषा। भारतीय संस्कृति और समाज में ज्यों ज्यों इस्लाम का प्रवेश होता गया त्यों त्यों फारसी को विद्वत्ता और पाण्डित्य की भाषा का स्तर मिलता गया[1]। सम्भवतः यही कारण है कि अरबी की अपेक्षा हिन्दुओं ने फारसी अधिक सीखी और जिस अनुपात में हिन्दुओं ने फारसी और अरबी सीखी उस अनुपात में मुसलमानों ने संस्कृत नहीं सीखी। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू इस्लाम की मान्यताओं में जितना परिचित हुए उतना मुसलमान हिन्दुत्व की मान्यताओं से परिचित न हो सके। इसीकारण दर्शन और मान्यताओं के स्तर पर, इस्लाम का जितना हिन्दूकरण हुआ उतना हिन्दुत्व का इस्लामीकरण नहीं हुआ। भाषा सम्बन्धी इस स्थिति का एक यह भी परिणाम हुआ कि अरबी का अधिकतर पठन पाठन और प्रचार हुआ इस्लाम की भाषा के रूप में और वह अधिक तर मौलवियों और मुल्लाओं तक सीमित रहा। फारसी का प्रचार हुआ राज्य तथा साहित्य की भाषा के रूप में जिसे हिन्दुओं और मुसलमानों ने बराबर सीखा। अरबी फारसी के साथ साथ संस्कृत का भी पठन पाठन चालू था पर हिन्दुओं की धार्मिक भाषा तथा हिन्दू दर्शन और ज्ञान विज्ञान की भाषा के रूप में और इस रूप में संस्कृत केवल धर्माचार्यों और दार्शनिकों तक ही सीमित थी। इस प्रकार इस्लाम के प्रवेश के साथ साथ अरबी फारसी और संस्कृत भाषाओं के रूप में भारत में तीन सांस्कृतिक धाराएं बह निकलीं जो यदा कदा मिलीं किन्तु अधिकतर समानान्तर ही बहती रहीं।

अरबी फारसी और संस्कृत वास्तव में भारत के सामन्ती और अभिजात वर्ग की भाषाएं थीं क्योंकि जिस काल में इस्लाम का प्रवेश हो रहा था भारत में प्रादेशिक भाषाएं भी अंकुरित हो रही थीं। ये प्रादेशिक भाषाएं भारत के जनसाधारण की भाषाएं थीं और इनके स्रोत थे संस्कृत तथा द्राविड़ भाषाओं में। मुसलमानों को, विशेषतया मुस्लिम बादशाहों और प्रशासकों को इन भाषाओं की जानकारी आवश्यक थी। इसीकारण मुसलमान बादशाहों ने प्रादेशिक भाषाओं को संरक्षण और प्रोत्साहन दिया। संस्कृत के ग्रन्थों का यदि एक ओर अरबी फारसी में अनुवाद कराया गया तो दूसरी ओर प्रादेशिक भाषाओं में। प्रादेशिक भाषाओं का साहित्य

---

1 पढ़े लिखे व्यक्तियों के बेकार रहने पर आज भी अवध में यह कहावत कही जाती है—पढ़े फारसी बेचे तेल। ई देखो कुदरत के खेल।

के स्तर पर लाने के लिए मुसलमान ही प्रेरित हुए और इसी कारण भारत की प्रादेशिक भाषाओं में इस्लाम और हिंदुत्व का जो समन्वय हुआ वह अरबी फारसी और संस्कृत के स्तर पर नहीं हुआ[1]। और ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्योंकि हिंदुत्व और इस्लाम का जो समन्वय जनसाधारण के स्तर पर हो रहा था वह अभिजात वर्ग के स्तर पर नहीं था। अभिजात वर्ग के स्तर पर चल रहा था संघर्ष—वह संघर्ष जिसमें हिंदुत्व और इस्लाम की आड़ ली जा रही थी। कोई आश्चर्य नहीं, यदि प्रादेशिक भाषाओं में मानवतावादी विचारों की धाराएं एक साथ फूट निकलीं।

मुस्लिम प्रशासन को स्थायी बनाने के लिए यह आवश्यक था कि मुसलमान भारत को अपना देश समझें और प्रशासितों से भाषा के उस स्तर पर मिलें जहाँ वे एक दूसरे को समझ सकें। इसमें कोई शक नहीं कि मुस्लिम बादशाह विदेश से मुसलमानों को आमन्त्रित करते रहे, उनको उच्चपद प्रदान करते रहे और भारत के मुसलमानों में इस्लाम के अरबीपन के प्रति एक रागात्मक झुकाव रहा। फिर भी, मुसलमान बादशाह इस बात का भी प्रयास करते रहे कि भारत के मुसलमान भारत को अपना देश समझें। सुल्तान मुहम्मद तुगलक इस बात के लिए प्रयत्नशील रहा कि मुसलमान भारत को अपना देश समझें। उसने विदेशी मुसलमानों को काफी संरक्षण प्रदान किया, उन्हें भारत में ही बसने के लिए उत्साहित किया और इस बात पर जोर दिया कि विदेशी मुसलमानों को गरीब (अजनबी) न समझकर, अजीज (म[illegible] दोस्त) समझा जाय[2]। इसी आवश्यकता के कारण जनसाधारण की भाषा को समझना उतना ही आवश्यक था जितना कि भारत को अपना वतन या देश समझना। इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमान जनसाधारण की भाषाओं की ओर झुके।

बंगाल में हुसेनशाह (1493-1518) की आज्ञा से मालाधार बसु ने भागवत पुराण का बंगला में अनुवाद किया और हुसेनशाह के एक सेनानायक परागल खान की प्रेरणा से कवीश्वर परमेश्वर और श्रीकर नन्दी ने महाभारत के कुछ अंशों का बंगला में अनुवाद किया। खुसरो ने दिल्ली के आस पास और बाजार में बोली जाने वाली खड़ी बोली को, रसखान और रहीम खानखाना ने ब्रज को, मलिक मुहम्मद जायसी ने अवधी को और कबीर ने भोजपुरी की एक शाखा मगही को अपनी काव्याभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। यह अनुमान किया जा सकता है कि जिस प्रकार अंग्रेजी काल में अंग्रेज प्रशासक और अंग्रेजी भाषा भाषी लोग अंग्रेजी की संज्ञाओं और विशेषणों के साथ हिन्दी अथवा प्रादेशिक भाषाओं की क्रियाओं का प्रयोग करते रहते थे और आज भी दैनिक बोलचाल की भाषा में अंग्रेजी पढ़े

1 दिनकर वही
2 यासीन वही पृष्ठ 83

लिख लाग वसा करत है उसी प्रकार मुसल्मान प्रशासक और अरबी फारसी भाषा भाषी लाग अरबी फारसी की सनाओ और विशेषणो के साथ साथ स्थानीय भाषाओ की क्रियाओ का प्रयाग करत रहे होगे। सम्भवत, एसे ही प्रयोगो स प्रभावित हाकर अलाउद्दीन खिल्जी ने दिन प्रति दिन प्रयाग मे आन वाले खडी बोली के शब्दो के अरबी फारसी पर्यायो का सग्रह कराया था जिनका प्रयोग दिल्ली के शाही महल के बाहर लगन वाले उदू ए मुअल्ला (शाही सनिक बाजार) मे हाता था। इसी उदू-ए मुअल्ला की भाषा को शाहजहा के समय म उदू की सज्ञा प्रदान की गयी और मुगल बादशाह जफर के राज्यकाल म इसे, फारसी के साथ, राज्य भाषा मान लिया गया। इसकी लिपि अरबी थी सनायें और विशेषण अरबी फारसी के और क्रियायें खडी बोली की।

इस प्रकार, भारतीय सस्कृति म इस्लाम के प्रवेश से भाषा सम्बन्धी दो विकास प्रक्रियाय उत्पन्न हुयी। एक विकास प्रक्रिया म खडी बोली के आधार म, ब्रज, अवधी और भोजपुरी के मिश्रण स हिन्दी का विकास हुआ जिसकी लिपि देवनागरी थी और जिसम सस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता थी क्योकि जिन भाषाओ के मिश्रण स उसका जन्म हुआ था उनके उदगम स्रोत सस्कृत म थे। दूसरी विकास प्रक्रिया म जन्म हुआ उदू का जिसम अरबी फारसी के तत्सम शब्दो की अधिकता से प्रयोग हाता था और जिसका झुकाव अरबी फारसीपन की ओर अधिक था। खडी बोली के आधार पर एक शैली ने हिन्दी का रूप लिया और दूसरी ने उर्दू का। हिन्दी की अरबी फारसीकृत शैली हान के कारण, उदू वस्तुत प्रतीक है अरबी फारसी के भारतीयकरण का यद्यपि इस भारतीयकरण पर अरबी फारसीपन का एक जबरदस्त आवरण चढा रहा है। कुछ भी हो हिन्दी उदू क विकास का श्रीगणेश मुसलमानो के ही हाथो हुआ। उदू का जन्म उत्तर म उदू ए मुअल्ला की भाषा तथा जुबान ए-देहल्वी जिसम खडी बोली पजाबी मारवाडी और फारसी के शब्द थे, के रूप म हुआ, किन्तु उसका पालन पोषण दक्षिण म हुआ। दिनकर का ऐसा मत है कि उत्तर से गय हुये मुसलमानो के साथ खडी बोली दक्षिण गयी और उसने वहा उर्दू का रूप लिया। उनकी यह मान्यता है कि उदू का जन्म उत्तर म न होकर दक्षिण म हुआ है। दक्षिण म उदू को प्रोत्साहन एक उस मुस्लिम भाषा क रूप म मिला जो उत्तर से गयी थी और जिसके माध्यम स उत्तर तथा दक्षिण के मुसलमान विचारो का आदान प्रदान कर सकत थे। दक्षिण म विदशी मुसलमान उस सख्या म नही आते थे जिस सख्या म वे उत्तर मे आते थे। दक्षिण म, उत्तर की अपेक्षा इस्लामी कट्टरता कम थी। इसकारण, दक्षिण म उदू म वह अरबी फारसीपन नही था जो उत्तर म था। दक्षिण की उदू म सस्कृत शब्दो की अपेक्षाकृत अधिकता थी। यह कम ही हुआ जस बगाल म भाषा के माध्यम से मुसल्मान सस्कृत भाषा के अधिक समीप रहे।

एक मत यह भी है कि उर्दू का जन्म खड़ी बोली में से संस्कृत और हिंदी के शब्दों को निकाल कर हुआ है। प्रारम्भिक उर्दू में जब तक संस्कृत शब्दों का प्रयोग होता रहा, तब तक उसका नाम हिन्दवी, हिंदी या रेख्ता रहा। यह कहना कि उर्दू का जन्म खड़ी बोली में से संस्कृत शब्दों को निकाल कर हुआ या हिंदी का जन्म उर्दू को देवनागरी लिपि में लिखकर और उसमें ठूस ठूस कर संस्कृत के तत्सम शब्दों के भरने से हुआ है, भारत की ऐतिहासिक प्रक्रिया की सामाजिक पृष्ठभूमि की अवहेलना करना है। वास्तविकता यह है कि जहां, जैसा कि रसखान और रहीम खानखाना की कविता में मिलता है, भारतीय भावों का आरोपण करना कवियों का ध्येय रहा, वे और उनकी भाषा संस्कृत और हिंदी के अधिक समीप रहे हैं और जहां ध्येय यह था कि भाषा भारत की हो और भाव अरब या फारस के, वहां कवि चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान, भाव, भाषा, प्रतीक, लक्षणा और व्यंजना अरबी फारसी के अधिक निकट रहे हैं। इस परिस्थिति के लिए उत्तरदायी हैं वे परिस्थितियां जिनमें उर्दू हिंदी का जन्म हुआ।

उर्दू को जन्म देने वाली परिस्थितियां कुछ इस प्रकार थीं: भारत में, विशेषतया उत्तरी भारत में विदेशी मुसलमानों का आना जारी था। ये मुसलमान अधिक-तर फारस से आते थे और इस कारण अरबी लिपि तथा अरबी-फारसी भाषाओं से वे अधिक परिचित थे। अरबी इस्लाम की भाषा थी, अतः उससे हटने का मतलब था इस्लाम से हटना। फारसी उस समूह की भाषा थी जो अपने को भारतीय नहीं मानता था और, अन्य मुस्लिम समूहों की अपेक्षा अपने को अधिक सुसंस्कृत मानता था। अतः, उसका अपनी भाषा फारसी से अधिक लगाव था। दूसरी ओर, राज भाषा होने के कारण फारसी अधिक मान्य थी और सूफीवादी विचारों से ओत-प्रोत होने के कारण इसका साहित्य, विशेषतया काव्य साहित्य अपेक्षाकृत अधिक आकर्षक था। अतः, अरबी-फारसी भारत में इस्लाम का प्रतीक बन गयी और अरबी तथा फारसीपन इस्लाम की आत्मा। उधर तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों में अरबी फारसी, विशेषतया फारसी के भारतीयकरण की आवश्यकता थी। अतः, भारत में उर्दू का जन्म हुआ अरबी फारसी के भारतीयकरण के प्रयास और भारत के मुसलमानों की देश भाषा के रूप में, किन्तु उर्दू मुसलमानों की उसी प्रकार भाषा न रही जिस प्रकार फारसी भारत में मुसलमानों की ही भाषा न थी। उसे हिंदुओं ने भी उतना सँवारा, जितना कि मुसलमानों ने। फिर भी अपने भावों, भाषा, प्रतीकों तथा साहित्यिक रूढ़ियों के प्रयोग में उर्दू अरबी-फारसी, विशेषतया फारसी के अवगुंठन से बाहर न निकल पायी। इसी कारण, यह कहा गया है कि उर्दू वस्तुतः भारतीयकृत फारसी या फारसीकृत हिंदी है।

उर्दू हिन्दी की, एक शैली है जिसमें अरबी-फारसीपन का पुट गहरा है और जो यहां की सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों में दृढ़तर होता रहा है। यह

पहले ही कहा जा चुका है कि हिन्दी उर्दू का जन्म लगभग एक साथ हुआ और उनका प्रारम्भिक पालन पोषण मुसल्मानों के ही हाथों हुआ। अरबी फारसी के भारतीय करण की आवश्यकता के कारण ही उर्दू का जन्म हुआ। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है प्रारम्भिक उर्दू में संस्कृत शब्दों का अपेक्षाकृत अधिक होना। अकबर के बाद ज्यों ज्यों इस्लामी कट्टरता बढ़ती गयी उर्दू में अरबी फारसीपन बढ़ता गया। शाहजहां के ही राज्यकाल में अरबी लिपि में लिखी जाने वाली भाषा शैली को उर्दू की संज्ञा प्रदान की गयी। औरंगजेब के राज्यकाल में, इस्लामी कट्टरता के प्रभाव में अरबी-फारसी भाषायें इस्लाम का प्रतीक बन गई और उर्दू पर उनका प्रभाव पड़ा। सम्भवतः, इसी कट्टरता के विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया के कारण, शिवाजी ने शासन और प्रशासन में प्रयुक्त होने वाले फारसी के शब्दों के संस्कृत पर्यायों का संग्रह कराया था[1]। एक समय वह था जब अलाउद्दीन खिल्जी ने खड़ी बोली के, दैनिक प्रयोग में आने वाले शब्दों के अरबी फारसी पर्यायों का संग्रह करवाया था और उसके लगभग पांच सौ वर्षों बाद शिवाजी ने दैनिक प्रशासन में प्रयोग होने वाले फारसी के शब्दों के संस्कृत पर्यायों का संग्रह करवाया था। अलाउद्दीन खिल्जी और शिवाजी के कार्य परस्पर विरोधी से जान पड़ते हैं यद्यपि दोनों के प्रयासों का उद्गम है अरबी-फारसी का भारतीयकृत करने की प्रेरणा में। अलाउद्दीन खिल्जी और शिवाजी के प्रयास इस बात का भी प्रतीक हैं कि अरबी फारसी और संस्कृत को प्रोत्साहन देने वाले थे अभिजात वर्ग के लोग जो, एक ओर हिन्दू थे और, दूसरी ओर मुसल्मान। सारे मध्ययुग में हिन्दू और मुस्लिम अभिजात वर्गों में कभी नहीं बनी क्योंकि वे राजनतिक सत्ता के लिए बराबर संघर्ष करते रहे। इनमें से एक का प्रेरणास्रोत था इस्लाम और उसका प्रतीक अरबी फारसीपन और दूसरे का हिन्दुत्व तथा संस्कृत। एक की प्रेरणाओं का उदगम था अरब और ईरान में और दूसरे का भारत की भूमि से उत्पन्न हिन्दू संस्कृति में। ऐसी दशा में उर्दू को मुस्लिम तथा इस्लाम से सम्बन्धित किया गया और हिन्दी का हिन्दू तथा हिन्दुत्व से।

उर्दू को इस्लामी कट्टरता तथा फारसीपन में रंगने का श्रेय मुस्लिम अभिजात वर्ग का ही है। प्रारम्भ में ही मुस्लिम अभिजात वर्ग को अपने अस्तित्व के लिये लड़ना पड़ा है। भारतीय सामाजिक संगठन में मुस्लिम अभिजात वर्ग का विरोध करते हुये हिन्दू अभिजात वर्ग को भी अपने अस्तित्व और संरक्षण के लिये संघर्ष करना पड़ा है। मुस्लिम राज्य काल में यह संरक्षण राज्य से प्राप्त था और राज्य संरक्षण प्राप्त करने का मुख्य माध्यम था सनातनी साम्प्रदायिकता। किन्तु भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ साथ, भारत में अंग्रेज अभिजात तथा प्रशासक वर्ग का अभ्युदय

---

1 सरकार, विनयकुमार दि पाजिटिव बैकग्राउंड आफ हिन्दू सोसियालोजी पृष्ठ 608 9

हुआ। मुस्लिम अभिजात तथा प्रगामक वर्ग के हाथ में राजनतिक प्रशासन की जो सत्ता थी उसे अंग्रेज अभिजात तथा प्रगामक वर्ग ने हथिया लिया। शासन के विरोधी कुल बाय और देश का व्यापार हिन्दू अभिजात वर्ग के हाथ में रहा। अतएव, अंग्रेजों के राजनतिक प्रभुत्व की स्थापना होने के साथ साथ, हिन्दू अभिजात वर्ग को आगे बढ़ने का मौका मिला, क्योंकि शासन के जिन पदों पर हिन्दू थे वे हिन्दुओं के ही पास रहे और जिन पदों पर मुसल्मान थे वे अंग्रेजों के हाथ में चले गये। इसका परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम अभिजात वर्ग को अपना अस्तित्व खतरे में दिखाई पड़ा और इस भय तथा नराश्य से जो विक्षिप्तता उभरी वह मजहबी कट्टरता और भाषा के अरबी फारसीकरण पर टिक गयी। सरकारी नौकरियों को पाने के लिए उठी हुयी प्रतिद्विंदिता, इस्लाम और हिंदुत्व तथा हिंदी और उर्दू के संघर्ष तथा वाद विवाद में प्रस्फुटित हो उठी। अंग्रेजी राज्य-काल के प्रारंभिक काल में ही हिन्दू सरकारी नौकरियों में आगे बढ़ गये, शिक्षा में वे मुसल्मानों को पीछे छोड़ गये और व्यापार तो पहले ही उनके हाथ में था। इससे मुसल्मानों में अंग्रेजी के प्रति बहिष्कार तथा हिन्दुओं के प्रति विद्वेष का भाव आया जो हिंदू तथा हिंदी विरोधी विचारों और आन्दोलन में बदल गया।

इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि किस प्रकार अंग्रेजी शासन काल में मुस्लिम अभिजात वर्ग ने अपने लिए विशेषाधिकारों की मांग की और उसको अलग रखने का प्रयत्न किया और इसमें सफलता न मिलने पर हिन्दू तथा हिन्दी विरोधी नारा को बुलन्द किया। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पहले अरबी फारसी और संस्कृत स्कूल अलग अलग थे जिनमें उच्च तथा मध्य वर्ग के लोग ही शिक्षा पाते थे। हिन्दू संस्कृत तथा अरबी फारसी पढ़ते थे और मुसल्मान अधिकतर अरबी फारसी। संस्कृत की शिक्षा हिन्दू पंडितों द्वारा दी जाती थी और अरबी फारसी की शिक्षा मौलवियों या अरबी फारसी जानने वाले हिन्दुओं के द्वारा। जब अंग्रेजों ने जन-साधारण के लिए स्कूल खोले तो उनका अधिक विरोध उच्चवर्गी मुसलमानों ने ही किया। सन अठारह सौ बयासी में शिक्षा कमीशन के समक्ष गवाही देते हुए बंगाल के अब्दुल लतीफ ने इस बात पर जोर दिया कि बंगाल के उच्च तथा मध्य वर्गी मुसल-मानों के लिए एक अलग शिक्षा पद्धति की आवश्यकता है क्योंकि इन वर्गों के मुसल-मान बंगाल के बाहर से आए हुए अभिजात वर्ग के मुसल्मान हैं। सन अठारह सौ एक्यानवे में सर सैयद अहमद ने इस बात पर जोर दिया कि सरकारी नौकरियों में जनसाधारण को चाहे वे हिन्दू हों या मुसल्मान, न लिया जाय। सर सैयद ने कांग्रेस का विरोध किया और इस विचार का विरोध किया कि भारत एक राष्ट्र है। बंगाल के मोहम्मडन एसोसियेशन ने मुसल्मानों के लिए सरकारी नौकरियों को आरक्षित रखने की मांग की और प्रतियोगिता के आधार पर नौकरियां देने का विरोध किया। मुस्लिम अभिजात वर्ग की इसी मांग के प्रवाह में हिन्दू मुस्लिम तथा हिन्दी उर्दू को

समस्याओं का जन्म हुआ और इस्लाम तथा उर्दू पर अरबी फारसी की कट्टरता का और भी गहरा रंग चढ़ गया।

जब अंग्रेजी राज्य की स्थापना हुई तो सारे उत्तरी भारत में उर्दू राज्य भाषा थी जिसे अंग्रेजों ने बनाए रक्खा। सन अठारह सौ तिहत्तर में, बिहार में हिंदी को भी राज्य भाषा मान लिया गया किन्तु उसका हिंदू तथा मुसलमान दोनों ने विरोध किया। सन अठारह सौ अठत्तर में जब यू०पी० में उर्दू को अनिवार्य द्वितीय भाषा का रूप दिया गया तो हिंदुओं ने इसका विरोध किया। उधर, बंगाल में अंग्रेजी राज्य का प्रारम्भ होने के बाद से ही, बंगाल का मुस्लिम अभिजात वर्ग अपने लिए विशेषाधिकारों की माँग कर रहा था जिसके फलस्वरूप यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि बंगला में संस्कृत के शब्दों का प्रयोग हो या फारसी के शब्दों का। सन अठारह सौ तिरासी में जब यह राजाज्ञा निकली कि देवनागरी लिपि का ही प्रयोग किया जाय तो मुसलमानों ने इसका विरोध किया और, इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से हिंदी उर्दू की समस्या जोर पकड़ गयी। आर्य समाज के अभ्युदय के साथ साथ, हिंदी उर्दू की समस्या पंजाब में भी उठ खड़ी हुयी। मुसलमान राजनैतिक विशेषाधिकार के इतने पीछे थे कि उन्होंने अपने को धर्म और भाषा के नाम पर एक अलग राष्ट्र समझा। ज्यों ज्यों हिंदू मुस्लिम समस्या जोर पकड़ती गयी उर्दू पर इस्लामी कट्टरता का प्रभाव बढ़ता गया और उर्दू को हिन्दी से अलग एक भाषा माना जाने लगा। इस साम्प्रदायिक संघर्ष में एक ओर भारतीय समाज धर्म के नाम पर सम्भवतः विभाजित हो गया तो दूसरी ओर हिंदी के ही एक रूप पर अरबी फारसी का जामा चढ़ता गया[1]।

७

मुस्लिम कला और साहित्य का भारतीयकरण

मध्ययुगीन भारत के कला और साहित्य में भी भाषा की भाँति, एक ओर, अरबी फारसीपन का प्रभाव रहा तो दूसरी ओर, अरबी फारसीपन के भारतीयकरण की प्रक्रिया भी चलती रही। मुगल राज्य की स्थापना के पहले के मुस्लिम काल में

1 स्वयं मुसलमानों में ही अरबी फारसीकरण तथा भारतीयकरण को लेकर एक नया आत्मविच्छेद उत्पन्न हो गया। कहाँ रहीम का यह कहना कि 'चित्रकूट में रमि रहे रहिमन अवधनरेश, जा पर बिपदा पडत है सो आवत यहि देश' या हाफिज जालंधरी का यह कहना कि 'भारत माता है दुखियारी, दुखियारे हैं सब नर नारी, तू ही उठा ले मुरली सुंदर, तू ही बन जा श्याम मुरारी' और कहाँ सौदा का यह कहना कि 'गर हो कशिशे शाहे खुरासान तो सौदा, सिजदा न करूँ हिंद की नापाक जमीं पर'।

हिन्दू-वास्तुकला पर इस्लामी प्रभाव के प्रमाण नही मिलते हैं। इस काल के हिन्दू मन्दिर और इमारतें हिन्दू शिल्पशास्त्र की परम्पराओं के ही अनुसार बनते रहे। सन बारह सौ पचासी मे बने हुए कोणार्क के सूर्य मन्दिर और उदयपुर के चित्तौरगढ पर नाममात्र भी इस्लामी प्रभाव नही है। के० एम० पानिक्कर की मान्यता मे, इस काल मे, भारतीय मुस्लिम तथा हिन्दू शैलिया अलग-अलग विकसित होती रही[1]। आगे चलकर, मुगलकाल मे, भारत की वास्तुकला पर मुस्लिम ईरानी प्रभाव बढा। किन्तु, इसका यह तात्पर्य नही कि भारत से हिन्दू वास्तुविद्या का लोप हो गया। विनयकुमार सरकार के अनुसार, अधिकतर शिल्पशास्त्रो की रचना सत्रहवी और अठारहवी शताब्दिया में हुयी है। मुसलमानो ने भारत मे जिस वास्तुकला का निर्माण किया उसका मुख्य आधार भारतीय था किन्तु उसकी सजावट ईरानी थी।

चित्रकला मे भी अधिकतर धारणायें परम्परागत थी यद्यपि उनके चित्रित करने के तरीके ईरानी थे। भारतीय और ईरानी चित्र कलाओ के समावेश से, अनेक सम्प्रदाय अस्तित्व मे आए। सगीत मे एक ओर शास्त्रीय सगीत की प्रणाली चलती रही और दूसरी ओर, ईरानी तथा भारतीय सगीत के समावेश से कई राग रागनियो का अभ्युदय हुआ। इस्लाम मे सगीत का निषेध है किन्तु सूफियो ने उसे साधना का एक माध्यम माना। सगीत का धार्मिक निषेध होने पर भी इस काल मे, मुसलमानो ने सगीत साधना मे कुशलता प्राप्त की और उसके कलात्मक रूप को अक्षुण्य बनाए रक्खा। मुसलमानो ने भी शास्त्रीय सगीत की शास्त्रीयता और उसके भाव तथा भाषा को वैसे ही अपनाया जैसे वे उन्हे हिन्दुओं मे मिले थे। दूसरी ओर ईरानी और भारतीय सगीत के समन्वय से, ख्याल, कौव्वाली और गजल इत्यादि राग और छन्द निकले। कौव्वाली और गजल मे फारसी भाषा को रागबद्ध करने की परम्परा बनी और शास्त्रीय सगीत मे परम्परागत हिन्दू-भाषा को। एक ओर, रबाब, सरोद दिलरुबा और ताउस जैसे वाद्ययन्त्र मुसलमानो से आए तो दूसरी ओर, वीणा और मृदग भी चलते रहे। मुसलमानो ने वीणा और मृदग को भी वैसे ही अपनाया जैसे उन्हें हिन्दुओ ने अपनाया था। वीणा के आधार पर, मुसलमानो ने सितार का आविष्कार किया और मृदग के आधार पर तबले का। एक ओर, शास्त्रीय नृत्य और उसके प्रकारो की परम्परा चलती रही तो दूसरी ओर, महफिलों मे होने वाले नृत्य की परम्परा अस्तित्व मे आई। कलाओ के क्षेत्र मे, एक ओर, शास्त्रीय परम्परा चल रही थी तो, दूसरी ओर, शास्त्रीयता पर आधारित भारतीय मुस्लिम परम्परा जिसमे भी हिन्दू प्रभाव अधिक था और कही अरबी अथवा ईरानीपन का। जैसा कि विनय कुमार सरकार ने वास्तुकला तथा हस्तकला के बारे मे कहा है साधारणतया सम्पूर्ण कलाओ के विषय मे यह कहा जा सकता है कि अरबी और ईरानी प्रभावो का आत्मसात करती हुयी कला विषयक हिन्दू विचारधारा, मान्यतायें और परम्परायें वर्तमानयुग तक चली आयी हैं[2]।

---

1 पानिक्कर के० एम० सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री पृष्ठ 124

2 सरकार, विनयकुमार वही पृष्ठ 47-77

इस्लामी संघात से हिन्दू-संस्कृतिकरण

भारत में इस्लाम और हिन्दुत्व का सम्पर्क दो प्रबल ऐतिहासिक, सभ्यता सम्पन्न सांस्कृतिक धाराओं का सम्पर्क है—वे धारायें जिनमें सात्मीकरण की क्षमता रही है। अपने ऐतिहासिक विकास में, दोनों, अलग अलग सामन्ती संरचनाओं में सन्निहित होने के कारण एक ओर, समानान्तर रहीं और, दूसरी ओर, परस्पर सम्पर्क में आने पर भी, अपना-अपना संस्कृतिकरण करती रहीं। जैसा कि पिछले वर्णन और विश्लेषण से स्पष्ट है भारतीय इस्लाम में हिन्दुत्व के सम्पर्क से संस्कृतिकरण की दो प्रक्रियाओं का साथ साथ जन्म हुआ—एक, अरबीवादी तथा पुनरुन्नयनवादी सांस्कृतिक कट्टरता की और दूसरी इस्लाम के भारतीयकरण का जिस पर हिन्दुत्व (आगम निगम) की छाप है। इस्लाम में भारतीयता का प्रस्फुटन धरातल में हुआ है। इसी प्रकार हिन्दुत्व में भी दो प्रक्रियायें चली हैं—एक सांस्कृतिक कट्टरता और पुनरुन्नयन की और दूसरी, इस्लामी प्रभावों को आत्मसात करते हुए हिन्दुत्व में इस्लामी संस्करणों को जन्म देने की। हिन्दुत्व में भी इस्लामी संस्करणों का प्रस्फुटन धरातल से ही हुआ है। हिन्दुत्व और इस्लाम के सम्पर्क से भारत में संस्कृतिकरण की जो प्रक्रिया उत्पन्न हुई उसकी चार धारायें हैं—एक, इस्लामी अरबीवाद, पुनरुन्नयन और कट्टरता की,

दूसरी, इस्लाम के भारतीयकरण की, तीसरी, हिन्दू पुनरुत्थान और कट्टरता की, और, चौथा, हिन्दुत्व में उत्पन्न होने वाले इस्लामी सांस्कृतिक संस्करणों की।

दूसरी और चौथी प्रक्रियाओं के स्तर पर, हिन्दुत्व और इस्लाम का समन्वय हुआ है, जिसका एक रूप है इस्लाम में हिन्दुत्व के समन्वय का, और दूसरा, हिन्दुत्व में इस्लाम के समन्वय का। अतः, इस समन्वय में कोई एक भारतीय सांस्कृतिक-संस्करण न निकल सका क्योंकि हिन्दुत्व और इस्लाम साथ ही साथ कट्टर पुनरुत्थानवादी भी रहे हैं। राजनैतिक प्रभुता से सम्पन्न इस्लाम से त्राण पाने के लिए हिन्दुत्व ने उत्-विकासी पुनरुत्थान का आश्रय लिया जिसमें हिन्दुत्व के ऐतिहासिक उत्विकास की शृंखला में शंकरीय दर्शन, भक्ति आन्दोलन और पंथ-परम्परा के रूप में अनेक कड़ियाँ जुड़ती चली गई। इस्लाम की उत्प्रेरणा से मध्ययुगीन भारत में हिन्दुत्व का पुनरुत्थानवादी विकास हुआ। ताराचन्द जैसे इतिहासकार इस पुनरुत्थान को हिन्दुत्व में इस्लाम की प्रतिकृति मानते हैं और विनयकुमार सरकार जैसे विद्वान हिन्दुत्व का सतत उत्विकास। किन्तु ये दोनों दृष्टिकोण एकांगी हैं। उत्प्रेरक की प्रतिकृति नहीं हो सकती विशेषतया वहाँ जहाँ पराजित संस्कृति अपने में अन्तर्निहित स्रोतों के पुनरुत्थान का आश्रय लेती है। पुनरुत्थानवादी उत्विकास बिना पराजित अवस्था और उत्प्रेरणा के नहीं हो सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मध्ययुगीन हिन्दुत्व का सारा विकास पुनरुत्थानवादी ही है क्योंकि ऐसी मान्यता का अर्थ होगा कि इस काल का हिन्दुत्व एक शाश्वत संस्कृति रहा है। सारी समस्या तब हल होती हुई जान पड़ती है जब सांस्कृतिक सम्पर्क की परिस्थिति, सात्मीकरण, पुनरुत्थान और उत्विकास पर एक साथ ध्यान दिया जाय। सारा प्रश्न इस्लाम बनाम हिन्दुत्व का नहीं है। प्रश्न है हिन्दुत्व और इस्लाम के सम्पर्क से उत्पन्न परिस्थिति में, हिन्दुत्व में आविर्भूत संस्करण की प्रक्रिया के योगदानों के विश्लेषण का।

२

हिन्दू-संस्कृति में कुछ इस्लामी योगदान

वेशभूषा में अचकन और पाजामा, अमीरों में इत्र और गुलाब, हिन्दू व्यंजनों में मध्य एशिया के पुलाव और बिरियानी और मसालेदार व्यंजनों को बनाने की कला का हिन्दू संस्कृति में समावेश हुआ। मुस्लिम बादशाहों की वेशभूषा पर आधारित वेशभूषा को हिन्दुओं ने आनुष्ठानिक समादर दिया। अवध के वर की पोशाक (कामदार जूते के साथ जामा और मौर) मुगल बादशाहों की पोशाक की नकल सी लगती है। तत्कालीन मनोरंजन के प्रसाधनों में शतरंज, चौगान और तमाशा मुसलमानों की देन हैं। हिन्दुओं का चौसर का खेल मुसलमानों में लोकप्रिय हो गया।

अक्षास तथा देशान्तर की धारणायें, जन्मपत्री बनाने की ताजक पद्धति, ताजक और रमलशास्त्र भारतीय ज्योतिष में मुसल्मानों के योगदान हैं। अरबी-पद्धति के आधार पर, महाराजा जयसिंह ने हिन्दू पचाग का सुधार करके दिल्ली तथा जयपुर की बेधशालाओं का निर्माण कराया।

हिन्दुओं में परदे की प्रथा का श्रीगणेश पठानों के प्रभाव के कारण हुआ। इस विषय में दो सम्भावनायें हैं। या तो हिन्दुओं ने परदा प्रथा को मुसलमानों से यथावत लिया है, या मुसलमानों से हिन्दू नारियों की रक्षा करने के लिए परदा प्रथा को अपनाया। यासीन के अनुसार तत्कालीन मुसलमानों में नारी अपहरण एक उच्च प्रकार का जिहाद माना जाता था और इस अपराध में दण्डित व्यक्ति को प्रेम का शहीद समझा जाता था[1]। हो सकता है कि इस जिहाद से त्राण पाने के लिए ही हिन्दुओं में परदा प्रथा का श्रीगणेश हुआ हो। इस सन्दर्भ में एक विचारणीय तथ्य यह है कि परदा प्रथा उच्चवर्णी हिन्दुओं में ही पायी जाती है और वह भी उत्तर में। परदा प्रथा इस कारण हिन्दुओं में सामाजिक प्रतिष्ठा की प्रतीक मानी जाती है। जो जातियां उच्च सामाजिक स्तर पाने का प्रयास करती हैं, वे ब्राह्मणवादी कर्मकाण्ड के साथ परदा प्रथा को भी अपनाती हैं। अतः, हो सकता है कि उच्चवर्णी हिन्दुओं ने, सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रतीक के रूप में परदा प्रथा को अपनाया हो।

२

साहित्य में इस्लामी उत्प्रेरणा

मध्ययुगीन भारत के साहित्य में अनेक विशेषतायें एक साथ उमड़ पड़ी जिन्हें साधारणतया इस्लाम की उत्प्रेरणा का परिणाम माना जाता है, यद्यपि इन विशेषताओं में शायद ही कोई ऐसी विशेषता हो जो पहले से विद्यमान न हो या जिसे इस्लाम से हिन्दूत्व करके न अपनाया गया हो। इस्लामी उत्प्रेरणा के प्रभाव में, भारतीय साहित्य की अनेक सुप्त या गौण विशेषतायें पुनः जाग्रत हुयीं या प्राधान्य पा गयीं। सूफी विचारधारा की उत्प्रेरणा से विरहानुभूति की अभिव्यक्ति तीव्रतर हो गयी और इहलौकिकता को प्रधानता मिली। यह सूफीवाद का ही प्रभाव है कि हिन्दी साहित्य की एक परम्परा में जिसके प्रणेता सन्त महात्मा हैं मृत्यु को काम्य और विकास की सीढ़ी माना जाने लगा। सूफियों की 'इश्क मजाजी' की धारणा ने पार्थिव प्रेम की अभिव्यक्तियों को प्रोत्साहन दिया तो इश्क हकीकी की धारणा ने सगुण के प्रति रहस्यवादी अनुभूति की अभिव्यक्ति की। पार्थिव तथा रहस्यवादी

---

1 यासीन, मोहम्मद वही पृष्ठ 132

प्रेम, जिसका मूल स्रोत योग है की अभिव्यक्ति की इन्ही परम्पराओं ने, आगे चलकर, अंग्रेजी काल में पलायनवादी मनोवृत्ति के प्रभाव में, छायावादी और रहस्यवादी अभिव्यक्ति की परम्पराओं को जन्म दिया। किन्तु, जैसा कि कबीर की अभिव्यक्तियों से स्पष्ट है, सूफीवादी अभिव्यक्तियों को वेदान्त, योग और अन्य भारतीय अभिव्यक्तियों में रूपान्तर कर प्रस्तुत किया गया। कबीर ने ईश्वर को पति और अपने को बहुरिया माना है क्योंकि भारतीय परम्परा में, प्रेम की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति नारी को माना गया है[1]। कबीर ने सूफियों की 'फना' की अनुभूति को योगियों की अनुभूति में व्यक्त किया है क्योंकि उनके लिए फना की स्थिति वह स्थिति है जहाँ न व्यक्ति है, न ईश्वर, न आत्मा और न परमात्मा—वहाँ केवल आग के अंगारों के समान ज्ञान पुंज की अनुभूति होती है[2] जिसमें केवल 'सोऽहम्' रह जाता है वैसे ही जैसे तपने से सोने का विकार नष्ट हो जाता है और केवल खरा सोना ही शेष रह जाता है। यह हठयोग का सूफीवाद पर अभेद्य आवरण है जिसके प्रभाव से सूफीवाद, सूफीवाद न रहकर, हठयोग और वेदान्त हो गया है।

मध्ययुगीन भारतीय साहित्य, विशेषतया हिन्दी और बंगला साहित्य, में शृंगार की जो अतिशयता मिली उसे किसी भी दशा में इस्लामी प्रभाव का एकमात्र परिणाम नहीं माना जा सकता है। भारत के साहित्य में, इस्लाम के प्रभावों के प्रवेश के पहले, शृंगारिक अभिव्यक्तियों की परम्परायें थीं जो कालिदास, जयदेव और पंडितराज जगन्नाथ की रचनाओं में विद्यमान हैं। शृंगारिक अभिव्यक्ति की ये परम्परायें इहलौकिक भी हैं और पारलौकिक भी। वास्तव में, इनकी इहलौकिकता पर पारलौकिकता का आवरण चढ़ा हुआ है। कुछ लोगों की यह भी मान्यता है कि शृंगारिक अभिव्यक्ति की ये परम्परायें संस्कृत-साहित्य से पंडितराज जगन्नाथ की रचनाओं के माध्यम से हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य में आ गयीं। इस कथन की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य में शृंगारिक अभिव्यक्ति का जिन रूढ़ियों का प्रयोग किया गया है वे किसी भी दशा में न तो अरबी कही जा सकती हैं और न ईरानी। वे विशुद्ध भारतीय हैं और उनमें काव्य शास्त्र

---

1 यह परम्परा वर्तमान काल तक चलती रही है। पन्त ने अपनी कविताओं में अपने को स्त्री मानकर ही उस विराट की प्रकृति में अनुभूति की है (देखिए पल्लव में मौननिमंत्रण)। अपनी रहस्यवादी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में प्रसाद ने भी इसी परम्परा को अपनाया है जैसे शशि मुख पर घूँघट डाले अंचल में दीप छिपाए, जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आए, (आँसू)।

2 आगि लगी आकाश में झरि झरि परत अंगार।
कबिरा जरि कंचन भया काँच भया संसार।

मे निर्धारित रूढ़ियों के साथ साथ लाक रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है[1]। इस काल मे हिन्दी और बगला मे प्रस्फुटित होने वाली शृ गारिक अतिशयता के तीन स्रोत है—भागवत पुराण, सिद्धो का वामाचार तथा वज्रवाद और सूफीवाद। हिन्दी और बगला साहित्य म अतिशय शृ गारिकता लाने म इस्लाम का वही तक प्रभाव है जहा तक सूफीवाद के माध्यम स उसने एक उत्प्रेरणा का काय किया और जिसके फलस्वरूप तत्कालीन भारतीय साहित्य मे शृ गारिक अभिव्यक्ति की परम्परा सहसा निखर आयी। इहलौकिक और प्रवृत्तिवादी होने के कारण, इस्लाम ने मुसलमानो मे इहलौकिक और प्रवृत्तिवादी मनोवृत्ति को प्रोत्साहित किया जिसके फलस्वरूप पारलौकिकता म परिसीमित भारत की पारलौकिक शृंगारिक अभि व्यक्ति की परंपरा को मुसलमानो ने इहलौकिकता की ओर मोड दिया और उस इश्कमजाजी (इहलौकिक प्रेम) के अतिशय पुट म भर दिया। हिन्दी भाषा की भाति हिन्दी साहित्य की प्रारम्भिक शृ गारिक अभिव्यक्ति का लालन पालन मुसलमानो के ही द्वारा हुआ। नायिका भेद पर प्रथम पुस्तक रहीम ने लिखी और सबसे अधिक नायिका भेद सयद गुलामनबी रसलीन ने ही बताए हैं।

यह इस्लाम के उत्प्रेरक प्रभाव का ही परिणाम है कि हिन्दी साहित्य म एक साथ अनेक भाव धारायें फूट निकली। एक धारा है इहलौकिक आनन्द के अभि व्यक्ति की जिसके प्रतिनिधि खुसरो और रसलीन हैं[2] दूसरी धारा है रहीम आलम

1 उदाहरण के लिए देखिए बिहारी के य दोहे —

> आजु मिले सो भली करी, भले बने हौ लाल।
> पलन पीक अजन अधर धर महावर भाल॥
>
> और
>
> नहि पराग नहि मधुर रस नहि विकास यहि काल।
> अली कली ही सो बध्यों आगे कौन हवाल।

पहले दोहे में लाल सम्बोधन है श्री कृष्ण के लिए और उनके पलको पर पीक अधरों पर अजन और भाल पर महावर होने की अभिव्यक्ति भारतीय शृ गारिक साहित्य की रूढि है। उसी प्रकार दूसरे दोहे में अली और कली का सम्बन्ध भी भारतीय साहित्य की रूढि है। भारतीय साहित्य म पुष्प और भौंरे के प्रेम को एक आलम्बन रूढि के रूप में प्रयोग किया गया है। ईरानी साहित्य में यही अभिव्यक्ति बुलबुल और गुलाब के आलम्बन से व्यक्त की गयी है जिसका हिन्दी की अपेक्षा उर्दू में अधिक प्रयोग किया गया है—दिनकर

2 गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर अपना रैन भई सब देस। खुसरो
अमी हलाहल मद भरे श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जिहि चितवत इकबार। रसलीन

और रसखान के विरहानुभूति की[1], तीसरी है मानवतावादी निर्गुनिया सन्तों की धारा जिसके प्रतिनिधि हैं कबीर, दादू और नानक और चौथी है प्रेमाख्यान पर प्रबन्ध काव्य लिखने वाले जायसी जैसे कवियों की। इन कवियों में अरबी फारसी के भावों की अभिव्यक्ति नहीं हुयी है। इनका कवित्व और कवित्व अरबी फारसी के भावों में नहीं है। इनके द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले छन्द, आलम्बन, उद्दीपन और विषय वस्तु की अभिव्यंजना के स्रोत भारतीय परम्पराओं में हैं। जायसी सूफी कवि थे पर उनका प्रेमाख्यान भारतीय है और उन्होंने चौपाई और दोहे का उसी प्रकार प्रयोग किया है जिस प्रकार तुलसीदास ने किया है। मत प्रचार के लिये प्रेमाख्यानक लिखने की परिपाटी जायसी से पहले जैन कवियों में मिलती है। रसखान का श्रीकृष्ण प्रेम प्रसिद्ध है और श्रीकृष्ण को उन्होंने विरह और शृंगार की अभिव्यक्ति का आलम्बन बनाया है। रहीम ने हिन्दुओं की पौराणिक कथाओं के माध्यम से अपने विचारों की अभिव्यक्ति की है[2]। निर्गुनिया सन्तों पर, सूफीवाद के साथ साथ, भारतीय परम्पराओं की जबरदस्त छाप है। इस दिशा में विशेष विचारणीय तथ्य यह है कि ये सभी कवि प्रेम और विरह की अनुभूति से सराबोर हैं जो सूफीवाद के उत्प्रेरक प्रभाव का परिणाम है। सम्भवतः, यह इसी प्रभाव का परिणाम है कि मध्ययुगीन भारत के साहित्य में विशेषतया हिन्दी में, एक सतत अभिलाषा के रूप में, अतृप्त प्रेमानुभूति से उत्पन्न विरहानुभूति का प्रवाह बह गया। अतृप्त प्रेमानुभूति से उत्पन्न विरहानुभूति और उससे उत्पन्न एक सतत अभिलाषा की कवित्वमय अभिव्यक्ति ही रोमांटिक काव्य परम्परा है जिसका हिन्दी में श्रीगणेश सूफीवाद के प्रभावों से हुआ और जो आगे चलकर, वर्तमान काल में, छायावादी, रहस्यवादी और प्रयोगवादी अभिव्यक्तियों में प्रस्फुटित हुयी।

हिन्दी तथा बंगला में जहाँ, एक ओर शृंगारिकता बढ़ी वहाँ, दूसरी ओर, उनमें तथा भारत की अन्य वर्तमान भाषाओं में मानवतावादी अभिव्यक्तियों की बाढ़ सी आ गयी। इन मानवतावादी अभिव्यक्तियों में, जाति-पाँति का खंडन किया गया, हिन्दुत्व और इस्लाम की कट्टरवादिता की भर्त्सना की गयी तथा ईश्वरवाद की

---

1 मनसिज माली की उपज कहि रहीम नहिं जाय।
फल स्यामा के उर लगे फूल स्याम उर आय॥ रहीम
जा थल कीन्हें विहार अनेक न ता थल कांकरी बैठि चुन्यो कर।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यो कर।
आलम जौन सी कुंजन में करि केलि तहाँ अब सीस धुन्यो कर।
नैनन में जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो कर। आलम
2 कमला थिर न रहीम कहि, यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय॥

विचारधारा का पुनर्स्थापन किया गया और भक्ति मार्ग से ईश्वर तक पहुँचने पर जोर दिया गया। इन मानवतावादी अभिव्यक्तियों में उसी आन्दोलन की लहरें उद्वेलित हो उठी, जिसका श्रीगणेश वैदिककाल में ही हो गया था, किन्तु जिसे महात्मा बुद्ध ने प्रखरता प्रदान की थी। इन मानवतावादी अभिव्यक्तियों के प्रणेता थे सन्त कवि जिनका जन्म जाति संरचना के निम्नतम स्तरों में हुआ था। तेलगू में वामन, मराठी में ज्ञानेश्वर, नामदेव और तुकाराम बंगाल में चैतन्य, पंजाब में नानक और हिन्दी में कबीर, दादू और रैदास इत्यादि सन्त कवि इन अभिव्यक्तियों के प्रणेता हैं। इन्होंने मानव मात्र की समता पर जोर दिया। ईश्वर को दया का आगार माना और इस बात पर जोर दिया कि ईश्वर तक सभी पहुंच सकते हैं। उपनिषदों में प्रतिपादित ज्ञान मार्ग के स्थान पर, उन्होंने भक्ति मार्ग पर जोर दिया है। मानवतावादी अभिव्यक्तियों के प्रणेता सन्त कवियों ने जाति तथा वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध क्रान्तिकारी विचारों पर जोर दिया और हिन्दू समाज को वह रूप देने की माग की जो इस्लाम में मिलता था है। इस काल के निर्गुनिया सन्त कवियों द्वारा पन्थों का संगठन इस तथ्य का प्रमाण है।

ये मानवतावादी कवि वस्तुतः उस सामाजिक क्रांति के प्रणेता थे जिसके तत्व हिन्दुत्व में विद्यमान थे, किन्तु उन तत्वों को एक साथ उभारने वाली उत्प्रेरणायें इस्लाम में थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है इस्लाम के सम्पर्क ने हिन्दुत्व में दो प्रकार की प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया—एक, समन्वय की ओर दूसरी समन्वय के साथ साथ पुनः संगठन, पुनः संस्थापन और सुधार की। इस्लाम एक ऐतिहासिक प्रवाह था, किन्तु हिन्दुत्व एक समन्वयकारी और बार बार पुनः संगठित और संस्थापित होने वाली ऐतिहासिक सामाजिक सांस्कृतिक प्रक्रिया। इस्लाम का प्रगतिवादी प्रवाह निहित था उसकी समता की भावना निराकारी एकेश्वरवादिता और सरलता में। इस्लाम की मानववादिता ही उसकी शक्ति थी। यह भी कहा जा चुका है कि इस्लाम का सबसे अधिक प्रसार हो रहा था हिन्दू समाज के निम्नस्तरों में। सम्भवतः यही कारण है कि हिन्दू समाज के निम्न स्तरों से ही समता निराकारी एकेश्वरवादिता भक्ति मार्ग और मानववादिता का माग आयी। इसी स्तर पर यह विचार पनपा कि न कोई उच्च है न निम्न न कोई ब्राह्मण है न शूद्र न कोई हिन्दू है न मुसलमान (यदि हैं भी तो वे एक हैं) और अल्ला तथा राम एक हैं—वे निराकार में समाये हुये हैं। प्रेम ही ज्ञान का मार्ग है।

भक्ति-आन्दोलन सामाजिक-सांस्कृतिक आधार

भक्ति तथा प्रपत्ति की धारणा हिन्दुत्व में पहले से विद्यमान थी। गीताकार ने कर्म, ज्ञान और भक्ति का समाहार समत्व, निष्कामता और अविभक्त विभक्तेषु में करके, जिस जीवन-दर्शन का प्रतिपादन किया है उसमें भक्ति को प्रपत्ति के सहज मार्ग के रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु, इस्लाम की उत्प्रेरणा से भक्ति मार्ग का प्रस्फुटन एक सामाजिक आन्दोलन के रूप में हुआ, जिसका एक रूप क्रान्तिकारी और सुधारवादी है और दूसरा कट्टर पुनरुन्नयनवादी तथा परम्परावादी। पहले के प्रणेता हैं निर्गुनिया सन्त जिन्होंने पन्थों के रूप में मजहबी संगठन के सिद्धान्त का हिन्दूकरण किया और दूसरे के सगुण भक्ति के प्रणेता जिन्होंने आगम निगम परम्पराओं को यथावत् पुनः संस्थापित करने पर जोर दिया। किन्तु भक्ति आन्दोलन के इन दोनों रूपों का आधार हिन्दू परम्परा है। क्रान्तिकारी सुधारों की मांगों को देश काल के अनुसार कार्यान्वित करने तथा वैदिक परम्पराओं का समयानुसार निर्वचन करके और आगम को उसमें आत्मसात् करके, वैदिक परम्पराओं के पुनः संस्थापन की परम्परा भी हिन्दुत्व में पहले ही आ चुकी थी। बुद्धवाद यदि एक ओर सुधारवादी आन्दोलन है तो दूसरी ओर, वैदिक परम्पराओं के व्यापक और सुसंस्कृत नव-निर्वचन का प्रयास भी। हिन्दुत्व में लौकिक अलौकिक का विभेद नहीं है। हिन्दू परम्परायें शास्त्रगत हैं और शास्त्र अनिर्वचनीय नहीं है। वर्ण और जाति समानान्तर हैं परस्पर विरोधी भी हैं और एक दूसरे के पूरक भी क्योंकि जहां वर्ण कर्म पर आधारित है और जाति जन्म पर, वहां वर्ण जाति की कठोरता का समुन्नयन भी है। स्मृति परम्परा के पीछे, समयानुसार हिन्दू परम्पराओं के सुधार और पुनर्संस्थापन की ही परम्परा है। हिन्दुत्व एक साथ कट्टरवादी भी है और सुधारवादी भी[1]। इस्लाम की उत्प्रेरणा से, हिन्दुत्व में भक्ति आन्दोलन का जो प्रस्फुटन हुआ, वह कट्टरवादिता पुनरुन्नयन तथा पुनः संस्थापन की ओर भी उन्मुख है और समाज सुधार आन्दोलन की ओर भी।

सम्भवतः, इसी कारण भक्ति आन्दोलन के माध्यम से यदि, एक ओर, क्रान्तिकारी सामाजिक विचारों की अभिव्यक्ति का प्रस्फुटन हुआ तो दूसरी ओर, हिन्दू सामाजिक परम्पराओं का पुनर्निर्वचन करके और उन्हें समयानुकूल शास्त्रगत प्रामाणिकता प्रदान करके उनके पुनः संस्थापन का प्रयास हुआ। क्रान्तिकारी सामाजिक सुधारों की मांग के पीछे बौद्धों और सिद्धनाथों की परम्परा थी तो हिन्दू समाज के पुनःसंस्थापन के पीछे 'सम्भवामि युगे युगे' और स्मृतियों तथा पुराणों की परम्परा।

---

1 विशद अध्ययन के लिए देखिये श्रीधर वी० केतकर द्वारा रचित एन एसे आन हिन्दुइज्म।

देवल स्मृति (ग्यारहवीं सदी) में यह विधान किया गया कि जातिच्युत व्यक्ति पुन जाति में आ सकता है। वास्तव में इस परम्परा को इस्लाम का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं कहा जा सकता है। हिंदू समाज में जाति जन्म से मानी गयी है और जातिच्युत व्यक्ति के लिये शुद्धि का भी विधान रहा है और आज भी है। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस्लाम से मिलने वाली उत्प्रेरणा के कारण इस विधान को सभी स्तरों के लिये शास्त्रोक्त कर दिया गया। किन्तु इस काल में, इससे भी महत्वपूर्ण विकास हुआ सगुण भक्तिधारा का जिसमें राम तथा कृष्ण के आख्यानों का इस प्रकार निर्वचन और वर्णन किया गया कि उनके माध्यम से आवश्यकतानुसार, प्राचीन हिंदू परम्पराओं और आदर्शों की शास्त्रसंगत प्रामाणिकता देकर उन्हें पुन संस्थापित किया जा सके और तत्कालीन हिंदुत्व को एकीकृत करके उसकी रक्षा की जा सके। राधा, गोपी और कृष्ण के माध्यम से तत्कालीन जनता की आकुलता विरहानुभूति की अभिव्यक्तियों में परिणत हो गयी। राधा गोपी और कृष्ण तत्कालीन जन नैराश्य से उत्पन्न एक प्रकार के सामूहिक उदात्तीकरण के प्रतीक हो गये। यहीं से राधा की महिमा बढ़ी—प्रेम की एक अतृप्त चिर अभिलाषा के प्रतीक के रूप में। यही कारण है कि कृष्ण काव्य में तन्मय कर देने वाले गीता की प्रधानता बढ़ी, क्योंकि उनका उद्देश्य मत प्रचार न होकर, सामाजिक आकुलता को इहलौकिक प्रेम के माध्यम से पारलौकिकता की ओर ले जाना है। अपने सामाजिक सांस्कृतिक सन्दर्भ में राधा और गोपियों का विरहानुभूतिमय कृष्ण काव्य केवल 'इश्क मजाजी से इश्क हकीकी की ओर वाली' धारणा की प्रतिकृति नहीं है—वह तत्कालीन हिंदू समाज के मानसिक जगत से उत्पन्न प्रवृत्ति की भावना का एक वह रूप है जिसमें सामूहिक निष्क्रियता उत्पन्न होता है[1]। निराकार ज्ञानानुभूति की वस्तु है किन्तु साकार मनोल्लास से उत्पन्न हृदयानुभूति की वस्तु है। जन नायक बनने की क्षमता साकार में है न कि निराकार में। इस काल की साकारी मुग्ध प्रवृत्ति एक नायकत्व

---

1 सामाजिक असुरक्षा और व्याकुलता की स्थिति में ऐसी अभिव्यक्तियों को प्रोत्साहन मिलता रहा है। अंग्रेजी साहित्य में रोमांटिक अभिव्यक्तियों को तभी प्रोत्साहन मिला जब औद्योगिक क्रांति और तज्जनित आर्थिक प्रतियोगिता और व्यक्तिवादी प्रवाहों के कारण सामाजिक मानसिक असुरक्षा बढ़ी। अफगानी राज्यकाल में जब ऐसी स्थिति आयी तो पुन इसी प्रकार की अभिव्यक्तियों को प्रोत्साहन मिला। वर्तमान हिन्दी साहित्य की छायावादी तथा रहस्यवादी अभिव्यक्तियाँ भी ऐसे विचारों से ओत प्रोत हैं। निराला ने लिखा है, 'हमें जाना है जग के पार', प्रसाद ने 'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे'। यह पलायनवाद नहीं है बल्कि मानसिक अनिश्चितता और थकान पर विजय पाने का एक जन माध्यम है।

जननायक पर निर्भर रहकर मानसिक सुरक्षा प्राप्त करने का एक माध्यम है।

तुलसीदास ने रामायण के प्रबन्ध काव्य द्वारा राम के जिस रूप का आख्यान किया है वह जनादर्श और जन नायक का ही रूप है। तुलसी के लिये सभी राममय है। चाहे कोई शैव हो या शाक्त, अन्ततोगत्वा उसे राम तक ही पहुँचना है। गीताकार ने यह प्रतिपादित किया था कि 'सर्व धर्मान् परित्यज मामेकं शरणं व्रज'। गीताकार ने सभी कुछ कृष्णमय मान लिया, जो साकार का एक रूप है। गीता, एक ओर, निराकार तथा ज्ञानयोग का दर्शन है तो दूसरी ओर साकार भक्तियोग तथा कर्मयोग का। गीता एक प्रयास है साकार तथा निराकार ज्ञान तथा भक्ति और कर्म तथा सामाजिक व्यवस्था मे समन्वय लाने का और हिन्दू समाज को ज्ञान तथा कर्म के स्तरों पर एकीकृत करने का। गीताकार ने ज्ञान, भक्ति और कर्म मार्गों का एक समन्वय में लाकर हिन्दू समाज के आधार को विस्तृत कर दिया था। समयानुकूल तुलसीदास ने इसी परम्परा का पालन किया। अन्तर केवल इतना है कि उन्होंने गीता के कृष्ण के स्थान पर राम का प्रतिपादन किया और ज्ञानमार्गी होने पर भी उन्होंने भक्तिमार्ग को ही अधिक महत्ता दी, क्योंकि भक्तिमार्ग जन सुलभ है। तुलसीदास ने पाखण्ड विवाद और साम्प्रदायिकता की भर्त्सना की। सभी कुछ राममय मानकर एक ओर, हिन्दू समाज के एकीकरण पर जोर दिया तो, दूसरी ओर राम के माध्यम से, उन्होंने आदर्श-परिवार आदर्श पारिवारिक सम्बन्धों, आदर्श राज्य और राजा तथा वर्ण व्यवस्था की मर्यादा के उन रूपों और पक्षों का प्रतिपादन किया जो शाश्वत हैं।

तुलसीदास उस समय हुये थे जब, एक ओर अकबर के समन्वयकारी प्रयासों की लहर उद्वेलित हो रही थी तो दूसरी ओर अन्दर ही अन्दर इस्लामी कट्टरवादिता की अग्नि भी सुलग रही थी। किन्तु उन्होंने न तो समन्वय पर ध्यान दिया और न कट्टरवादिता पर। तुलसीदास ने न तो इस्लामी विचारों को व्यक्त किया है न इस्लाम की प्रशंसा की है और न उसकी भर्त्सना। ऐसा लगता है जैसे वे उस युग में पैदा ही नहीं हुये थे जिसमें भारत मे इस्लाम का प्रसार हो रहा था। उन्होंने केवल स्मृतियों की परम्परा पकड़ी और समयानुकूल आदर्शों का प्रतिपादित करके, भक्ति के माध्यम से, उन्होंने हिन्दू मान्यताओं के पुनर्स्थापन की आवश्यकता और आदर्शों को जनता तक पहुँचाया। पग पग पर उन्होंने शास्त्रों, वेदों, स्मृतियों और पुराणों की दुहाई दी है। रामायण में निहित आदर्श 'नाना पुराणनिगमागम सम्मत' है। और, इसी कारण रामायण हिन्दू-समाज की परम्पराओं का देश काल की आवश्यकतानुसार लागू करने का एक प्रयास है। तुलसीदास और उनकी रामायण इतिहास में प्रवाहित हिन्दुत्व के उत्तरोत्तर उद्विकास की एक अवस्था विशेष की द्योतक हैं।

आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शंकर के अभ्युदय से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी

के उस समय तक, जब तक आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज और प्रार्थनासमाज के रूप में हिंदुत्व की निराकारवादी ज्ञानमार्गी शाखा का पुनः प्रतिरोपण नहीं हुआ, भारत में भक्ति मार्ग की ही प्रधानता रही है। इस काल में भक्ति-मार्ग की तीन परम्परायें रही हैं। एक, जायसी की परम्परा जिसमें सूफीवाद का प्रबल किन्तु अप्रत्यक्ष प्रभाव है और जो रहस्यात्मक है। दूसरी, निर्गुनिया संतों की परम्परा जिसमें एक ओर, निराकार और ज्ञान को भक्ति के रंग में रंग दिया गया और, दूसरी ओर सभी कुछ निराकारमय मानकर और हिन्दुत्व तथा इस्लाम के बंधनों की भर्त्सना करके, मानवतावादी विचारों का प्रचार किया गया और मजहबी सिद्धान्तों को हिन्दुत्व में आत्मसात करते हुए पंथों का संगठन किया गया। तीसरी सगुणोपासना की परम्परा है जिसके माध्यम से हिन्दू समाज की परम्पराओं का पुनर्निवचन करके उन्हें पुनः संस्थापित किया गया और वर्णाश्रमधर्म के द्वारा मानवतावादी विचारों का प्रतिपादन किया गया। पहली परम्परा सूफीवाद के हिन्दूकरण की प्रक्रिया की उत्पत्ति है और दूसरी तत्कालीन आवश्यकतानुसार हिन्दुत्व में सुधार और परिवर्तन लाने की आवश्यकता की। पहली और दूसरी परम्परायें इस्लाम के हिन्दूकरण तथा हिन्दुत्व के इस्लामीकरण के बीच की उत्पत्ति हैं और तीसरी हिन्दुत्व के पुनः संस्थापन की। एक ओर इस बात का प्रयत्न किया जा रहा था कि हिन्दुत्व के प्रतिद्वन्द्वी इस्लाम की विशेष शाखा को हिन्दुत्व के अनुसार ढाल लिया जाय और दूसरी ओर हिन्दुत्व के आधारों को आवश्यकतानुसार बदल कर उन्हें दृढ़तर बनाने का प्रयास किया जा रहा था। यही कारण है कि तत्कालीन हिन्दू समाज तथा संस्कृति में विरोधी तत्वों और प्रक्रियाओं का समावेश हुआ। एक ओर निराकार और ज्ञान का मार्ग लिया गया तो दूसरी ओर साकार और भक्ति का। एक ओर धर्म की निन्दा की गयी तो दूसरी ओर वर्णाश्रम धर्म को प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया। एक ओर वर्णों की निन्दा की गयी तो दूसरी ओर, उन्हें सामाजिक जीवन के आदर्श का प्रमाण माना गया। एक ओर जाति पाँति की भर्त्सना की गयी तो दूसरी ओर जाति प्रथा के नियम और भी कठोर हो गये और इस्लाम के समक्ष जाति व्यवस्था एक प्रकार का सामाजिक प्रतिरक्षा कवच सिद्ध हुआ।

इस्लाम की उत्प्रेरणा से भक्ति-आन्दोलन की उत्पत्ति हिन्दुत्व की उन परम्पराओं में से हुई है जो वैदिक काल से चली आ रहीं थीं। हिन्दुत्व में एक ओर ज्ञानमार्ग की परम्परा है और दूसरी ओर भक्तिमार्ग की। ज्ञानमार्ग का आधार है तर्क और विवेक और भक्तिमार्ग का सबुद्धि रहस्यवादिता कर्मकाण्ड और कर्मचार। ये परम्परायें समानान्तर चलती रही हैं, यद्यपि किसी काल में ज्ञानमार्ग को प्रधानता दी गई है तो किसी काल में भक्ति मार्ग को। गीता में धर्म के माध्यम से, ज्ञान और भक्ति को एक दूसरे का पूरक माना गया है। वेदों की कर्मकाण्डी परम्परा के समक्ष उपनिषदों में ज्ञानमार्ग को प्रधानता मिली। महात्मा

बुद्ध ने ज्ञानमार्ग में सद्बुद्धि का पुट दिया जो आगे चलकर रहस्यवादी सद्बुद्धि में बदल गया। मीमांसकों ने कर्मकाण्ड, बलाचार, बहुदेववाद और साम्प्रदायिक मतमतान्तरों को प्रधानता दी। किन्तु, शंकर ने उन्हें निरर्थक बताकर अद्वैतवाद का समर्थन किया—वह अद्वैतवाद जिसमें व्यष्टि और समष्टि, ज्ञान और कर्म, जाति और वर्ण, ऊँच और नीच, शैव, वैष्णव और शाक्त सभी ब्रह्ममय होकर ब्रह्म में एकाकार हो जाते हैं। शंकर के अद्वैतवादी दर्शन की आलोचना करके रामानुज ने भक्तिमार्ग का प्रतिपादन किया। गीता की 'अनासक्ति', 'ज्ञान और भक्ति' की धारणाओं को भागवत में 'भक्ति' और 'प्रपत्ति' का रूप मिला। भागवत से भक्ति और प्रपत्ति की धारणाओं की अवतारणा, रामानुज के दर्शन में होकर, सारे भारत में फैली। इस्लाम की उत्प्रेरणा का यह प्रभाव अवश्य हुआ कि ज्ञानमार्ग की निराकारवादी परम्परा में भी भक्ति का पुट निखरा यद्यपि इस विकास का बीजारोपण गीता में ही चुका था। इस्लाम की उत्प्रेरणा में निराकारवादी तथा साकारवादी भक्ति मार्गों का एक साथ प्रस्फुटन और समन्वय हुआ।

शंकर और रामानुज

पद्मपुराण में आए एक श्लोक में भक्ति के मुख से यह कहलाया गया है कि 'मैं द्राविड़ देश में जन्मी, कर्णाटक में बड़ी हुई, महाराष्ट्र में कुछ दिन ठहरी और गुजरात में आकर बूढ़ी हो गई[1]। भक्ति के विषय में यह उक्ति प्रचलित है कि 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द' जिसका अर्थ यह निकलता है कि भक्ति की उत्पत्ति तो दक्षिण (द्राविड़) में हुई है और उत्तर में उसके प्रवर्तक रामानन्द हैं। रामानन्द रामानुज की शिष्य-परम्परा में आते हैं और उनके द्वारा उत्तर में भक्ति का प्रचार एक ऐतिहासिक तथ्य है। कबीर और रैदास रामानन्द के शिष्यों में हैं। रामानुज का जन्म बारहवीं शताब्दी में दक्षिण में हुआ था। रामानुज ने शंकर के अद्वैतवादी दर्शन का खण्डन तथा विशिष्टाद्वैती दर्शन का प्रतिपादन करके, भक्तिवाद को दार्शनिक आधार प्रदान किया। मध्यकालीन भारत में, शंकर और रामानुज एक दूसरे से चार सौ वर्ष दूर होते हुए भी, हिन्दू सामाजिक-दार्शनिक उत्विकास में दो बड़े युग प्रवर्तक हैं। शंकर ज्ञानमार्गी शाखा के दार्शनिक थे और रामानुज भक्तिमार्गी परम्परा के। किन्तु, वास्तव में यदि देखा जाय तो रामानुज के प्रपत्तिवादी विशिष्टाद्वैती दर्शन का आधार शंकर का दर्शन है। दोनों का जन्म दक्षिण में हुआ। अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए शंकर और रामानुज दोनों ने गीता पर भाष्य लिखे हैं। कुछ इतिहासकारों के मत में, शंकर का अद्वैतवाद और रामानुज का प्रपत्तिवादी विशिष्टाद्वैतवाद प्रत्यक्षतः इस्लाम से प्रेरित हैं और शंकर तथा रामानुज के देश में पड़ने वाले इस्लामी संघात

---

1 उत्पन्ना द्राविडे साहं कर्णाटे वृद्धिमागता। स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता।

ने भक्ति आन्दोलन को प्रेरित किया है। इसके विपरीत, दूसरा मत यह है कि शंकर और रामानुज हिन्दुत्व के उद्विकास के दो विश्रामस्थल हैं और भक्ति आन्दोलन का जन्म इन दोनों विश्राम स्थलों के बीच में चलने वाली दार्शनिक तथा जन परम्पराओं में है। रामानुज ने गीता के आधार पर, दक्षिण में चलने वाली जन परम्पराओं को समयानुकूल व्यावहारिक दार्शनिक स्तर प्रदान किया है। भक्ति आन्दोलन के सामाजिक सांस्कृतिक आधारों को समझने के लिए इन विकास कड़ियों की व्याख्या अपेक्षित है।

शंकर का दार्शनिक परम्परा भक्तिमार्गी न होकर ज्ञानमार्गी है। किन्तु ज्ञानमार्गी होने पर भी शंकर ने विष्णु, शिव, शक्ति और सूर्य पर स्तोत्र लिखे हैं और भक्ति के मन्दिरों में बलि प्रथा का अवरोध किया है। शंकर के दर्शन का खंडन करके रामानुज ने भक्तिमार्ग की नींव डाली और, इसी कारण शंकर को मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन का उत्प्रेरक माना जा सकता है। जिस दर्शन के आधार पर रामानुज ने भक्ति आन्दोलन की नींव डाली उसकी परम्परा निश्चय ही शंकर से भी प्राचीन है यद्यपि उसके प्रेरणा स्रोत शंकर दर्शन में है। एक दार्शनिक के रूप में, शंकर वस्तुतः समाज सुधारक हैं। उनका अन्तर्निहित उद्देश्य था साम्प्रदायिकता (अर्थात मतमतान्तरों) के भंवर में पड़े हुए हिन्दू समाज को निकाल कर उसे एक एकीकृत दार्शनिक तथा सांस्कृतिक आधार प्रदान करना। शंकर के दर्शन को यदि उनके कार्यों के सन्दर्भ में देखा जाय तो यह तथ्य और भी स्पष्ट हो उठता है। शंकर ने अद्वैतवादी दर्शन का प्रतिपादन किया और सम्बुद्धि, तर्क तथा शास्त्र को ज्ञानार्जन के तीन प्रामाणिक आधार माने। शंकर के लिए संसार निराकारमय है। उन्होंने निराकार की कल्पना 'ब्रह्म' के रूप में की है। शंकर के ब्रह्म में ईश्वरत्व नहीं है। वह शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य निराकार और निर्विकार है। उसे न तो भक्तों की चिन्ता है और न दुष्टों को दंड देने की। संसार मायामय ब्रह्म है। निराकार ब्रह्म और संसार के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए शंकर ने मायावाद का मत प्रतिपादित किया। शंकर का मायावाद वस्तुतः नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित बौद्धों का शून्यवाद है। इस प्रकार, बुद्धवाद पर ब्रह्मवादी दर्शन की स्थापना करके, शंकर ने बुद्धवाद को हिन्दुत्व में समेट लिया और अद्वैत की धारणा के द्वारा मत मतान्तरों की साम्प्रदायिकता को निर्मूल कर दिया। इसके साथ-साथ भारत के चार कोनों पर चार मठों की स्थापना करके उन्होंने हिन्दू समाज के व्यावहारिक तथा दार्शनिक पक्षों को एकता प्रदान करने का प्रयत्न किया। शंकर के प्रयासों में सुधार का अर्थ था समन्वय और उनके लिये समन्वय का अर्थ था परम्परा का व्यापक विवेचन और संस्थापन।

शंकर का दक्षिण में आविर्भूत होना एक ऐतिहासिक संयोग है। किन्तु शंकर-दर्शन का विकास ऐतिहासिक संयोग नहीं है। तिलक के अनुसार शंकर दर्शन की विकास रेखा ऋग्वेद के नासदीय सूक्त तक पहुंचती है। नासदीय सूक्त ने जीवन और

सृष्टि के विषय में जो मौलिक प्रश्न उठाए थे, उन्हीं प्रश्नों का समाधान खोजते खोजते पहले उपनिषदों का आविर्भाव हुआ, फिर बौद्ध दर्शन का और फिर शंकर दर्शन का। शंकर का तटस्थ ब्रह्म बौद्धों से आगे बढ़ा हुआ एक कदम अवश्य है लेकिन तटस्थ ब्रह्म की धारणा की जड़ें वस्तुतः औपनिषदिक दर्शन में हैं। जहां तक शंकर के बौद्धिक पूर्वजों का सम्बन्ध है वे दक्षिण में नहीं उत्पन्न हुए थे। शून्यवादी दर्शन के प्रतिपादक नागार्जुन का जन्म ईसा के जन्म के सौ वर्ष बाद विदर्भ में हुआ था और दार्शनिक वसुबन्धु, जो शंकर के दूसरे बौद्धिक पूर्वज हैं का चौथी शताब्दी में पेशावर में। शंकर के शारीरिक भाष्य पर भामती व्याख्या लिखकर दर्शभर में उसे प्रसिद्ध करने वाले विद्वान, वाचस्पति मिश्र मिथिला में जन्मे थे। शंकर, भारतीय संस्कृति की उन समस्याओं का दार्शनिक उत्तर थे जिन्हें लेकर ब्राह्मण और बौद्ध जूझ रहे थे[1]।

शंकर ने वेदान्त की ब्रह्मवादी व्याख्या की थी किन्तु रामानुज ने वेदान्त की ईश्वरवादी व्याख्या करके शंकर के तटस्थ ब्रह्म में ईश्वरत्व का प्रतिपादन किया—उस ईश्वरत्व का जो शुद्ध बुद्ध निराकार और निर्विकार नहीं है जो विष्णु के रूप में साकार है, भक्तों पर दयालु है और विश्व प्रपंच का प्रहरी तथा कर्ता है। शंकर ने केवल ब्रह्म को ही सर्वोपरि और अनादि माना किन्तु रामानुज ने ईश्वर के साथ-साथ, जीव और प्रकृति को भी अनादि माना यद्यपि शब्द और अर्थ तथा जल और लहर के समान ये अलग अलग नहीं किए जा सकते। रामानुज ने अद्वैत में द्वैत और द्वैत में विशिष्टाद्वैत का प्रतिरोपण किया क्योंकि, उनके अनुसार ईश्वर साकार भी है और केवल ईश्वर ही अनादि नहीं है। शंकर की परम्परा में वेदान्त के इस वाक्य 'तत्त्वमसि' की यह व्याख्या हुयी कि जीव भी ब्रह्म है किन्तु रामानुज की व्याख्या में यह प्रतिपादित किया गया कि 'तत' अर्थात सृष्टि का कारण स्वरूप ईश्वर 'त्वम' है अर्थात् जीव में छिपी हुयी आत्मा से एकाकार है। इसी कारण रामानुज की दर्शन पद्धति विशिष्टाद्वैत की पद्धति कही जाती है[2]।

अद्वैत में द्वैत का प्रतिपादन करके रामानुज ने कर्म और ज्ञान के समक्ष भक्ति की महत्ता को श्रेष्ठतर बताया। रामानुज के अनुसार, ज्ञानयोग से आत्मा केवल इतना ही जान सकता है कि वह परमात्मा का अंश है। किन्तु भक्ति की अनुभूति में आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध का ज्ञान अधिक प्रखर हो उठता है। जीव भी अनादि है, उसकी भी एक सत्ता है अतः न तो ईश्वर में विलीन होना उसके लिए स्वाभाविक है और न उसकी आवश्यकता ही है। भक्त को न तो स्वर्ग चाहिए न लय और न मुक्ति। उसकी मुक्ति तो जीवन पर्यन्त और जीवनोपरान्त आराध्य

1 दिनकर रामधारी सिंह वही पृष्ठ 281
2 वही पृष्ठ 300

-री विह्वलता में लीन हो जाने में है। मृत्यु के बाद एक अन्य शरीर प्राप्त करके और वैकुण्ठ में आराध्य का सामीप्य लाभ करके अनन्त भक्ति-साधना में ही भक्त की मुक्ति है। शंकर-दर्शन में मुक्ति आत्मा ईश्वर का सायुज्य है किन्तु रामानुजी दर्शन में ईश्वर आत्मा का सान्निध्य मुक्ति है। भक्ति में भी सबसे सुलभ मार्ग प्रपत्ति (शरणागति) का है। रामानुज के अनुसार प्रपत्ति का मार्ग सबके लिए है यद्यपि ज्ञान, कर्म और भक्ति केवल द्विजों के लिए है। वर्णाश्रम परम्परा और जन स्तर उठती हुयी सामाजिक क्रान्ति, ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद का यह एक अपूर्व समन्वय था। रामानुज के शिष्य इस सन्तुलन तथा समन्वय की रक्षा न कर सके। उनके वेदमार्गी शिष्यों ने वर्णाश्रम का ही पल्ला पकड़ा और अपेक्षाकृत अधिक कट्टर हो गए। यही वेदमार्गी परम्परा, रामानन्द के माध्यम से, उत्तर भारत में पहुँची और सूर तथा तुलसी में प्रस्फुटित हुयी।

शंकर ने मीमांसकों के कोरे कर्माचार को अद्वैतवाद के पुट से दार्शनिक सार्थकता प्रदान की। शंकर के शुष्क अद्वैत और ज्ञानाचार में विशिष्टाद्वैत तथा भक्ति का पुट देकर, रामानुज ने उसे अधिक सरस सुगम और जनोनुकूल बना दिया। किन्तु शंकर की भांति, रामानुज भी कोई आकस्मिक घटना नहीं थे। रामानुज ने जिस भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन किया उसकी परम्परा एक जन-परम्परा थी, जो रामानुज के बहुत पहले ही से चली आ रही थी। रामानुज और उनके बौद्धिक पूर्वजों के द्वारा यही परम्परा एक दार्शनिक धरातल पर लायी गयी थी। तब भारत में भक्तिमार्गी परम्परा का आदिस्रोत क्या है?

इसका उत्तर इस्लाम नहीं है यद्यपि भारत के इतिहासकार बहुधा इस्लाम पर ही रुक जाते हैं। जिस प्रकार, ज्ञानमार्गी शाखा का आदि स्रोत वेदों तक पहुँचता है, उसी प्रकार, भक्तिमार्गी शाखा की विकास रेखा यदि वेदों से नहीं प्रारम्भ होती है तो वैदिक कालीन समाज तक अवश्य पहुँचती है। वर्गों में वर्णित विचारों के आधार पर भक्ति को एक आर्येतर प्रभव माना जाता है और यह कहा जाता है कि आर्येतर संस्कृति (द्राविड़) से आकर यह प्रभव आर्य द्राविड़ संस्कृतियों की सामासिकता में विलीन हो जाता है। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि पूजा एक द्राविड़ सांस्कृतिक प्रभव है जो आगम की श्रेणी में आता है। पूजा भक्तिमार्ग का आदि-स्रोत है। वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया से उत्पन्न दार्शनिक ऊहापोह ने ज्ञानमार्गी शाखा को जन्म दिया और पूजा की सरलता तथा तन्मयता ने भक्तिमार्गी शाखा को। गीताकार ने निगम आगम और ज्ञानमार्गी तथा भक्तिमार्गी पद्धतियों का समन्वय कर दिया और सम्भवतः तभी से भक्तिमार्गी पद्धति को शास्त्रीय मान्यता मिलने लगी क्योंकि गीता के बाद ही भक्ति के आख्यान के रूप में रामायण और महाभारत के वर्तमान संस्करण पूरे हुए। भक्ति का प्रधान आधार ग्रन्थ भागवत नौ सौ इसवी के आस-पास लिखा गया और रामानुज का आविर्भाव हुआ

बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में। गीता और भागवत तथा भागवत और रामानुज के बीच पड़ने वाले कालों में भक्ति कहाँ थी ?

गीता और रामानुज के बीच में पड़ने वाले काल में भक्ति के उद्विकास की श्रृंखला कड़ियाँ हैं दक्षिण के नायनार और आलवार सन्तों की पद्धतियाँ और उनके द्वारा रचे हुए भक्ति पदों में। उत्तर भारत में भक्तिमार्ग का प्रसार होने के पहले, जब सिद्ध सन्त वेद की निन्दा कर रहे थे, लोगों को यज्ञ याग, मूर्तिपूजा तीर्थ, व्रत और वर्णाश्रम धर्म से विमुख बना रहे थे, तब दक्षिण की भक्ति विभोर जनता को आलवार सन्त विष्णु और नायनार भक्त शिव की भक्ति तथा प्रेम का सन्देश सुना रहे थे[1]। दक्षिण में, इस काल में, भक्ति के केन्द्र हैं शिव और विष्णु जो आर्येतर देवता हैं। तुलसीदास ने भी राम को विष्णु का अवतार माना है और रामचरितमानस की कथा शिव के मुख से कहलायी है। तुलसी के राम ने भी शिव द्रोही को अपना द्रोही माना है और लंका पर चढ़ाई करने के पहले शिव की कृपा का आवाहन किया है। रावण का प्रताप शिव के प्रति अनन्य भक्ति के बदले में मिला वरदान है। भागवत में भक्ति के केन्द्र भगवान कृष्ण को भी अनार्यों के देवता के रूप में माना जाता है। कृष्ण का इन्द्र के बदले में गोवर्धन की पूजा पर जोर देना आगम-पद्धति में ही आता है। जयद्रथ को मारने के लिये, यथायोग्य शक्ति-संचय के लिये श्रीकृष्ण ने अर्जुन को शिव की उपासना करने के लिये कहा था और शिव के द्वारा मिले हुये वरदान तथा बाणों की सहायता से अर्जुन जयद्रथ का वध कर सके थे। इन पौराणिक कथाओं से यह सिद्ध होता है कि भक्ति आर्येतर प्रभव होने के साथ-साथ, द्राविड़ जन की एक परम्परा रही है। *निगम और आगम के रूप में भारत में दो परम्परायें रही हैं*—एक, कर्मकाण्ड ज्ञान और संन्यास की, जो द्विजों के लिये हैं और दूसरी, श्रवण संकीर्तन और वेद तथा पुराणों में बताये हुये उपायों से पवित्र जीवन व्यतीत करने की। दूसरी परम्परा सर्वसुलभ, विशेषतया शूद्रों, के लिए रही है। भक्ति इसी दूसरी परम्परा की उपज है। कोई आश्चर्य नहीं, यदि भक्तिमार्ग के अधिकतर प्रणेता शूद्र वर्ण के थे।

दिनकर द्वारा उद्धृत कृष्णस्वामी आयंगर के मतानुसार, आलवार सन्तों की परम्परा ईस्वी सन की दूसरी शताब्दी तक पहुँचती है, और नवीं शताब्दी तक चलती रहती है। आलवार सन्तों के पदों में प्रपत्ति (शरणागति) के भाव की प्रधानता है, जो बहुत कुछ इस प्रकार है 'मेरा जन्म द्विजाति कुल में नहीं हुआ, न मैं चारों वेदों का जानने वाला हूँ। मैं अपनी इन्द्रियों को भी नहीं जीत पाया हूँ। इस कारण, हे भगवान् ! मुझे तुम्हारे प्रकाशमय चरणों के अतिरिक्त अन्य किसी भी शक्ति का भरोसा नहीं है'। आलवार सन्तों में प्रपत्ति का भाव इतना प्रबल है कि

---

1 दिनकर वही पृष्ठ 296

वे व्रत, उपवास, तीर्थ यात्रा और कभी कभी मूर्ति-पूजा आदि प्रचलित आचारों की निन्दा करते हैं। आलवार सन्तों की परम्परा शंकर से प्राचीन है और कुछ कुछ शंकर के समानान्तर भी। शंकर में भारत की बौद्धिकता और तत्कालीन दर्शन का विकास हुआ है और आलवार सन्तों की अभिव्यक्तियों में रहस्यवादिता, समता, बन्धुता और प्रपत्तिमय भक्ति की भावना का। जिस समय, उत्तर में सिद्ध सन्त बुद्धवाद के प्रभाव में, वर्णाचार और जातिभेद की निस्सारता बताकर, उनकी खिल्ली उड़ा रहे थे, उस समय आल्वार सन्त प्रेम और भक्ति के माध्यम से जाति की निस्सारता बता रहे थे और भगवान की शरण में आने वाले भक्तों के बीच में समता का भाव लाने का प्रयत्न कर रहे थे। आलवार सन्त न तो जाति पांति मानते थे और न वे वर्णाश्रम के विधि निषेध के कायल थे। आलवार सन्तों की भक्तिमय प्रेमोपासना का प्रधान भाव था भक्ति न छाड़ों मुक्ति न मांगों तव जस सुनों सुनावों। जैसा कि दिनकर का मत है नवीं शताब्दी तक प्रपत्ति (शरणागति) आत्म समर्पण और एकान्तनिष्ठा से विभूषित भक्ति का सम्यक विकास और प्रचार दक्षिण की तामिल भाषा भाषी जनता में हो चुका था।

नवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब नाथ मुनि ने आल्वार सन्तों के चार हजार पदों का संग्रह प्रबन्धम नामक चार ग्रन्थों में करवाया तब भक्ति को दर्शन के स्तर पर लाने और भक्ति को दार्शनिक प्रणाली में बांधने के प्रयास प्रारम्भ हुए। नाथमुनि के बाद वैष्णव विद्वानों ने इन्हीं ग्रन्थों पर भाष्य और टीकायें लिखीं। यही ग्रन्थ 'तामिल प्रबन्धम' के नाम से विख्यात है और गीता के बाद तथा भागवत के समकालीन भक्ति के आदिग्रन्थ हैं। प्रबन्धम और भागवत में अन्तर है तो केवल इतना कि प्रबन्धम में भक्तिपदों का संग्रह है जबकि भागवत में भक्ति का पाण्डित्य और दर्शन के आवरण में प्रस्तुत किया गया है। चूंकि भागवत में इस बात का संकेत है कि भक्ति द्राविड़ देश में उत्पन्न हुयी यह माना जा सकता है कि भागवत के प्रेरणा स्रोत प्रबन्धम में हैं और गीता तथा रामानुज के बीच की कड़ी प्रबन्धम और भागवत हैं। रामानुज के विशिष्टताद्वैतवादी दर्शन की जड़ें भी प्रबन्धम् में ही हैं क्यों कि विशिष्टाद्वैत का प्रथम विवेचन यामुनाचार्य (९१६ ई० से १०४० ई०) ने किया है जो प्रबन्धम के सम्पादक श्री नाथमुनि की दूसरी या तीसरी पीढ़ी में हुये हैं। इसके बाद रामानुजाचार्य (१०२७ ११२७ ई०) ने विशिष्टाद्वैत की व्याख्या की और यह मत प्रतिपादित किया कि गीता और पातंजल योग के अतिरिक्त भक्ति का मूल स्रोत आल्वार सन्तों की परम्परा में है। रामानुज इन्हीं आचार्यों की बौद्धिक सन्तान थे।

आल्वार सन्तों की वैष्णवी परम्परा के साथ साथ, दक्षिण में नायनार सन्तों की शैव परम्परा भी चली। आलवार सन्तों की परम्परा विष्णु में केन्द्रीभूत थी और नायनार सन्तों की परम्परा शिव में। आलवार परम्परा के आचार्य वैष्णवाचार्य कहलाये और शैव परम्परा के शैवाचार्य। नायनार सन्तों

के पदों में शिव के प्रति प्रपत्ति की अभिव्यक्ति थी। जिस प्रकार, प्रबन्धम् के माध्यम में वैष्णवीजन परम्परा उन्नतोमुख हुई, उसी प्रकार, तिरुमुरई नामक ग्यारह भागों में संगृहीत ग्रंथ के माध्यम में, शैव जन परम्परा भी उन्नतोमुख हुई। जिस समय वैष्णवाचार्य नाथमुनि ने आलवारों के पदों का संग्रह प्रबन्धम में करवाया था, उसी समय शैवाचार्य नाम्बि आण्डार-नम्बी ने तिरुमुरई (पावन पुस्तक) नामक ग्रंथ में शैव पदों का संग्रह करवाया। दक्षिण की भक्ति धारा में प्रबन्धम का जो महत्व है वही तिरुमुरई का भी है। वैष्णवी परम्परा में सृष्टि में परम अध्यक्ष हैं विष्णु किन्तु शैव परम्परा में वह स्थान शिव का है। जड़, प्रकृति और चेतन जीव सभी शिवमय हैं और शिव ही चेतना के आगार और ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनादि सत्य हैं।

शक्ति, शिव के कार्य व्यापार का माध्यम है। अतः, शक्ति शिव की पूरक है। सृष्टि शिव की कृति है और उसकी पांच प्रक्रियायें (रचना, पालन, विनाश, जीव की मोहाच्छन्नता और मुक्ति) शिव की कृपा और शक्ति के सहयोग से सम्पन्न होती हैं। फिर भी, शिव के साथ साथ, सृष्टि भी अनादि है और उसका विकास जीवों के कल्याण के लिए होता है। शैव पद्धति में, शिव और सृष्टि के साथ साथ, आत्मा भी स्वभावतया अनादि, अनन्त और चेतन है किन्तु बंध में पड़ जाने के कारण, आत्मा अपने को सान्त, क्षणिक और अज्ञानी मानती है। अपने पूर्वकर्मों से मुक्त होकर तथा जड़ की अधीनता से बाहर आकर ही, आत्मा को अपनी अनादिता, अनन्तता और चेतनता का भान हो सकता है। आत्मा की मुक्ति सिद्धान्तविहित साधना-पद्धति के पालन तथा निर्धारण और गुरु ज्ञान तथा शिव की कृपा से ही हो सकती है। शैव परम्परा, इस प्रकार, शंकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत के बीच की परम्परा है[1]। शैव तथा वैष्णवी परम्परायें जन और दर्शन के स्तरों पर, एक साथ, तथा दो अलग-अलग भक्ति सम्प्रदायों के रूप में अवतरित हुईं। शैव और वैष्णवी परम्पराओं का समन्वय तुलसीदास के हाथों हुआ क्योंकि उन्होंने इन दोनों के माध्यम से तथा इनसे अलग राम परम्परा की स्थापना की। प्रपत्ति, गुरु महिमा द्वैत अद्वैताद्वैत और विशिष्टाद्वैत की जो महत्ता इन परम्पराओं में है, उन्हें तुलसीदास ने ज्यों का त्यों अपना लिया।

भारतीय संस्कृति में प्रवाहित इस भक्ति धारा में कितना भाग इस्लामी है और कितना भारतीय यह एक विवाद का विषय है।

समीक्षा

इस विषय पर उपलब्ध ऐतिहासिक साहित्य में जितने मत प्रतिपादित किये गये हैं वे सभी प्रकार स्पष्टतः विभाजित हैं जैसे हिन्दुत्व और इस्लाम। एक ओर हैं ताराचन्द, हुमायूँ कबीर और यूसुफ हुसैन के मत

---

1 दिनकर वही पृष्ठ 302

जिनमे यह प्रतिपादित किया गया है कि शकर को अद्वैतवादी परम्परा और उनके बाद से प्रवाहित होने वाली भक्ति धारा हिंदुत्व पर इस्लाम के प्रत्यक्ष प्रभाव का परिणाम है। दूसरी ओर है दिनकर तथा विनयकुमार सरकार के मत जो इस बात पर जोर देते हैं कि आठवी शताब्दी से लेकर अठारहवी शताब्दी तक प्रवाहित होने वाली मानवतावादी विचारधारायें सुधारवादी आन्दोलन तथा भक्तिमार्गी परम्परायें, वास्तव मे हिंदुत्व के उत्तरोत्तर उदविकास का परिणाम हैं न कि इस्लाम के सघात का। विनयकुमार सरकार के अनुसार चौदहवी तथा अठारही शताब्दियो के बीच म, हिंदुत्व मे चलने वाले मानवतावादी तथा एकेश्वरवादी सुधार आन्दोलनो को इस्लाम के सघात का परिणाम मानने की एक प्रथा सी रही है। किंतु समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण स यह आवश्यक है कि इस परम्परा के आवरण को उठाकर इतिहास का और भी गहराई से देखा जाय क्योकि एकेश्वरवादी तथा मानवतावादी विचारधारायें प्रारम्भ से हिंदू सामाजिक धार्मिक और सामाजिक आर्थिक परम्पराओ मे विद्यमान रही हैं। इन दोनो विभेदी मतो के बीच म सम्यक्मार्गी तथा सामासिकतावादी इतिहासकार हैं जो मध्ययुगीन भारत की भक्तिमार्गी शाखा को हिंदुत्व का इस्लामीकरण या इस्लाम का हिंदूकरण मानकर उसे हिंदू मुस्लिम समन्वय का प्रतीक मानते हैं।

शकर और रामानुज पर इस्लाम के प्रभाव की बात सवप्रथम सर चार्ल्स इलियट न अपनी पुस्तक हिंदुइज्म और बुद्धिज्म (1921) म कही थी और तभी से इतिहासकारो का एक सम्प्रदाय इस बात का सिद्ध करन म लग गया। डा० ताराचन्द इस सम्प्रदाय के प्रमुख इतिहासकार हैं। उनके अनुसार शकर के अभ्युदय के पहले ही स इस्लाम का प्रभाव मालाबार कत तट पर फल गया था। डा० ताराचन्द ने शकर को इस्लाम का अनुकर्ता माना है और अपनी इस मान्यता की पुष्टि के लिये द्वे होन दो बातो पर जोर दिया है—एक, शकर द्वारा अद्वैतवाद के माध्यम स एकेश्वरवाद का प्रतिपादन और दूसरा शकर का दक्षिण म ही उत्पन्न होना। किंतु शकर का अद्वैतवाद और इस्लाम का एकेश्वरवाद मूलत भिन्न हैं। इस्लामी एकेश्वरवाद म ईश्वरवादिता है। इस्लाम म जिस ईश्वर की कल्पना की गई है वह दया और दण्ड दोनो देता है और बन्दा अर्थात व्यक्ति उसका दास है तथा उसकी दया पर निभर है। किंतु शकर का ब्रह्म तटस्थ निराकार और निर्विकार है। इस्लाम म माया का कही स्थान नही है। शकर ने जीव और ब्रह्म को मूलत एक माना है। उनम यदि अतर है तो माया के कारण। शकर वदिक परम्परा म हैं न कि इस्लामी परम्परा मे। शकर का दक्षिण म उत्पन्न होना इस्लाम का प्रभाव नही है वरन उस ऐतिहासिक परिस्थिति का परिणाम है जिसम हिंदुत्व सिमटकर दक्षिण म केन्द्रीभूत हो गया था और वहा उस त्राण मिल रहा था। शकर म बुद्धवाद और वेदान्त का समन्वय है न कि इस्लाम और हिंदुत्व का। यदि शकर इस्लाम के अथ म एकेश्वरवादी होते तो शिव, सूय और शक्ति पर स्तोत्र न रचते और न भारत

के चार कोनों पर मठों की ही स्थापना करने। शांकरीय दर्शन में सृष्टि के स्वरूप और उद्गम का जो वर्णन है वह इस्लाम की मान्यताओं के प्रतिकूल ही पड़ता है।

वैष्णव धर्म और भक्ति-आन्दोलन की आत्मा डा० ताराचन्द और उनके समान मत वाले अन्य इतिहासकारों के अनुसार इस्लामी है जबकि उसका कलेवर हिन्दू। इस मत के मुख्य आधार हैं—भक्ति का तथा भक्ति के प्रणेता वैष्णवाचार्यों तथा शैवाचार्यों का दक्षिण में ही उत्पन्न होना, भक्तिवादी विचारधारा में प्रपत्ति (शरणागति) एकान्त निष्ठा और व्यक्तिवादी भावना का पाया जाना, जातिप्रथा तथा वर्ण व्यवस्था का विरोध तथा खंडन-मंडन, गुरु शिष्य-परम्परा तथा ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरु को ईश्वर से भी बड़ा स्थान देना[1] और भक्ति आन्दोलन के माध्यम से फैलने वाला मानवतावादी दृष्टिकोण। किन्तु यह सिद्ध करना बड़ा कठिन है कि ये विचार और मान्यतायें हिन्दुत्व में इस्लाम से सम्पर्क होने के पहले नहीं थीं। भक्ति की परम्परा हिन्दुत्व की आगम परम्परा में एक जन परम्परा के रूप में उतना ही प्राचीन है जितना कि स्वयं हिन्दुत्व और सम्भवतः उससे भी अधिक। प्रपत्ति का भाव भी हिन्दुत्व के लिए नया नहीं है। भक्ति का और भक्ति मार्गी आचार्यों का दक्षिण में उत्पन्न होना उस प्रक्रिया का परिणाम है, जिसके कारण हिन्दुत्व दक्षिण में केन्द्रीभूत हो गया था। इस्लाम में गुरु शिष्य परम्परा का मूलस्रोत वह आयत है जिसमें यह कहा गया है कि मुहम्मद मनुष्य तथा ईश्वर के बीच की एक कड़ी हैं[2]। किन्तु गीता के एक श्लोक में यह कहा गया है कि ओम का जाप और उसके अर्थरूप में भगवान कृष्ण का ध्यान करता हुआ जो व्यक्ति शरीर छोड़ता है वह परमगति को प्राप्त होता है[3]। यहाँ मनुष्य तथा ईश्वर के बीच में कृष्ण का बहुत कुछ वही स्थान है जो मुहम्मद का है। श्वेताश्वतरोपनिषद के अन्तिम मन्त्र में यह कह कर कि यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ, गुरु में देवत्व की भावना का प्रतिपादन कर दिया गया है। कबीर, दादू और नानक के पौढ़िक पूर्वज सिद्ध कवियों ने गुरु के उपदेश

---

1 कबीर ने कहा है—गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पाय
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दिया बताय।
अर्थात् गुरु की बलिहारी है जिन्होंने गोविन्द की पहचान करायी। तुलसीदास ने भी मानस का प्रारम्भ गुरु-वन्दना से किया है। सिक्ख सम्प्रदाय में नानक के माध्यम से गुरु की महिमा आई और यहाँ तक बढ़ी कि यहाँ 'वाह गुरु का खालसा' पंथ का नारा हो गया। दक्षिण के वीर शैवों ने भी गुरु को ज्ञान का माध्यम माना है। सूफियों में बिना पीर के ज्ञान मिल ही नहीं सकता।

2 लाईलाह इल्लिल्लाह मुहम्मदुर्रसूलिल्लाह।

3 ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्। गीता

को अमत रस के समान मानने तथा गुरु वचन मे दढ भक्ति रखने पर जोर दिया है क्योकि शास्त्राथ क मरुस्थल म केवल गुरु के ~मतरूपी उपदश स ही तृप्ति प्राप्त होती है[4]। उत्तरी भारत म सिद्धो की परम्परा इस्लाम के पहले की है।

वर्णव्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया इस्लाम के पहले ही से भारत म विद्यमान है। 'आत्मवत सर्व भूतेषु (सभी प्राणियो को अपने समान समझो), 'पण्डिता सम दर्शिना' (ज्ञानी समदर्शी होते हैं) और 'वसुधैव कुटुम्बकम' (वसुधा कुटुम्ब के समान है) की भावनायें वैदिक काल स ही हिंदू चिंतन का अग रही है। इन्ही का प्रस्फुटन, बुद्धवाद, मध्ययुगीन भक्त कवियो और स्वामी दयानन्द, राममोहनराय और महात्मा गाधी जस समाज सुधारको के चिन्तनो तथा कार्यों म हुआ है। भारत की सामाजिक परिस्थितियो म, प्रारम्भ स ही मानवतावादी विचार और काय यहा के चिन्तन का एक अग बन गये थे और आज भी हैं। शकर का अद्वैतवाद और तुलसी के राम सम्भवत इसी मानवतावाद की दार्शनिक तथा काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। विनय कुमार सरकार के अनुसार भारत म विशेषतया हिन्दुत्व म एक ओर वर्णाश्रम रहा है तो दूसरी ओर, वर्णाश्रम के विरुद्ध उठने वाली प्रतिक्रियाय। एक ओर कानून और व्यवस्था पर जोर दिया गया है तो, दूसरी ओर कानून और व्यवस्था के प्रति विद्रोह किया गया है। एक ओर जाति शुद्धता की भावना रही है तो दूसरी ओर, वर्णसकर की। इस प्रकार हिन्दुत्व म दो विरोधी शक्तियाँ प्रवाहित होती रही हैं और इन्ही विरोधी शक्तियो क प्रवाह म हिन्दू सास्कृतिक उद्विकास के आदर्श नियम निहित हैं। इस्लामी वातावरण के हिन्दू भारत म प्रवाहित होने वाली समाजवादी तथा प्रजातन्त्रीय विचारधाराओ म इन्ही परम्परागत समाज निर्मात्री प्रक्रियाओ का प्रवाह है जिनके माध्यम स निम्नस्तरीय समूहो का उच्च स्तर की ओर सामाजिक आरोहण होता है। हिन्दू सस्कृति का प्रसार—इन शब्दो स केवल एक ही अर्थ ध्वनित होता है और वह है हिन्द समाज का उत्तरोत्तर प्रजातन्त्रीकरण या हिन्दू सस्थाओ और प्रथाओ पर जनता का उत्तरोत्तर सघात और उसस उत्पन्न होने वाले परिवर्तनो के मध्य वृद्धि तथा उद्विकास। मुस्लिम वातावरण म इस परम्परागत हिन्दू प्रवृत्ति का किसी भी प्रकार हनन नही हुआ। अत जिस डा० ताराचन्द इस्लाम क प्रभाव का परिणाम मानते हैं उस विनयकुमार सरकार हिन्दुत्व का स्वाभाविक विकास मानते हैं।

ताराचन्द क तर्कों म विरोध है और उनकी अध्ययन रीति दोषपूर्ण। एक ओर, व शकर का इस्लाम का अनुवर्त्ता और शकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद का लाईलाह इल्लल्लाह की प्रतिकृति मानत हैं तो, दूसरी ओर मानते है कि इस्लाम ने चौदहवी तथा पन्द्रहवी शताब्दियो मे बौद्धिक उत्प्रेरक का ही काम किया होगा। उत्प्रेरणा और प्रतिकृति क पीछे जो धारणायें हैं वे परस्पर विरोधी हैं क्योकि जो

---

4 दिनकर वही पष्ठ 217

उत्प्रेरक है उसकी प्रतिकृति नही आ सकती। ताराचन्द भक्ति और रहस्यवाद को मानव की सार्वभौमिक और सर्वकालीन धार्मिक प्रवृत्ति मानते हैं और यह भी मानते हैं कि भारत मे भक्ति और रहस्यवाद के तत्त्व पहले ही से विद्यमान थे। फिर भी, वे भारत में भक्ति और रहस्यवाद के उद्विकास का विश्लेषण छोड देते हैं और भक्ति तथा रहस्यवाद को इस्लाम से आया हुआ मान लेते हैं। जैसाकि डा० ताराचन्द की पुस्तक के शीर्षक 'इन्फ्लुएंस आफ इस्लाम आन इण्डिया' से स्पष्ट है उनकी अध्ययन रीति का सबसे बडा दोष यह है कि उनके अध्ययन का विषय है भारत पर इस्लाम का प्रभाव न कि भारतीय संस्कृति में इस्लाम। उनकी दृष्टि केवल इस्लाम पर है और मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति के उन्ही अंशो पर पडती है जहा उन्हें इस्लाम की प्रतिकृति नजर आती है। यदि ऐसा न होता तो उन्हें विष्णुस्वामी, निम्बार्क और मध्व का चिन्तन नज्जाम, अशअरी और गजाली[1] की प्रतिकृति क्यो लगता? इस्लाम मे प्रपत्ति है एक निराकार ईश्वर के प्रति जो दया का आगार है और क्रोध का भी किन्तु भारतीय भक्ति विचार मे प्रपत्ति है साकार के प्रति जिसमे भक्त लीन नही होना चाहता। इस्लाम मे प्रपत्ति का कुछ और रूप है और हिन्दुत्व मे कुछ और। डा० ताराचन्द की दृष्टि केवल प्रपत्ति पर है न कि इस्लाम तथा हिन्दुत्व मे पायी जाने वाली प्रपत्ति विषयक मान्यताओं के अन्तर पर। यदि वे इस आधारभूत अन्तर पर ध्यान देते और उसे हिन्दुत्व की स्वाभाविक उद्विकासी प्रक्रिया के सन्दर्भ मे समझने का प्रयत्न करते तो वे वैष्णवी और शैव परम्पराओ को इस्लाम का प्रत्यक्ष प्रभाव न मानते। किन्तु, ताराचन्द की अध्ययन रीति मे समानान्तर उद्विकासी वृद्धि का कोई स्थान ही नही है।

ताराचन्द के मत मे, मध्ययुगीन रहस्यवादी अभिव्यक्तियो के रूप, प्रतीक, प्रकार और परिवर्तन की दिशायें आन्तरिक वृद्धि का प्रतीक न होकर बाह्य प्रभावो का प्रतीक है। दक्षिण मे इस्लाम से पहले ईसाइयत का प्रवेश हो चुका था। पर, डा० ताराचन्द ईसाइयत को रहस्यवादी परम्पराओ का कारक नही मानते क्योकि हिन्दुत्व और ईसाइयत का सम्पर्क लाने वाली आवश्यक ऐतिहासिक परिस्थितियाँ दक्षिण मे नही थी। 'आवश्यक ऐतिहासिक परिस्थितियो' का क्या अर्थ है, इसे ताराचन्द ने स्पष्ट नही किया है। ताराचन्द इसे स्वीकार करते हैं कि प्राचीन तथा मध्ययुगीन भारत के रागात्मक धर्म सम्बन्धी विचारो तथा परम्पराओ मे जो अन्तर है, उसका बहुत बडा अंश तत्कालीन सामाजिक उथल पुथल, धार्मिक संघर्षो, राजनैतिक आन्दोलनो और हिन्दुत्व के सामाजिक, धार्मिक तथा बौद्धिक विकास का स्वाभाविक परिणाम है। फिर भी, ताराचन्द के मत मे इस पर इस्लाम का प्रभाव है क्योकि धार्मिक आस्था का उत्तरो-

1 नज्जाम, अशअरी और गजाली प्रसिद्ध सूफी चिन्तक हुए हैं और विष्णुस्वामी, निम्बार्क और मध्व वैष्णवी दर्शन के प्रणेता हैं।

त्तर सरलीकरण और उसमे बढ़ती हुयी भावुकता का पुट इस्लामी प्रभावो का ही परिणाम है। जैसाकि ताराचन्द ने लिखा है, 'ऐसा लगता है कि जैसे उत्तरोत्तर सरलीकरण और बढती हुयी भावुकता के पीछे एक निश्चित शक्ति और प्रवृत्ति काम कर रही हो। किन्तु यह 'निश्चित शक्ति और प्रवृत्ति' हिन्दुत्व का आन्तरिक विकास नही है—वह इस्लाम से आयी है। महात्मा बुद्ध द्वारा सरलीकरण की माग और वेदो की रहस्यवादी अभिव्यक्तिया जैसे अस्तित्व मे आकर समाप्त हो गयी हो? यह मानते हुये भी कि रहस्यवादी धार्मिक अनुभव के रूप मे मुसलमानो ने हिन्दुओ को जो कुछ अर्पित किया वह हिन्दुओ के लिए नया नही था और हिन्दू मस्तिष्क मे सात्मीकरण तथा समन्वय की अपूर्व क्षमता है, वे रहस्यवाद को इस्लाम का ही योगदान मानते हैं क्योकि उनका तर्क आधारित है परिस्थिति प्रमाण (Circumstantial Evidence) पर—वह प्रमाण जिसमे अनुमान का अधिक पुट रहता है। दक्षिण मे, भक्ति तथा रहस्यवाद के अधिकतर तत्व, अपने व्यक्तिगत रूप मे हिन्दुत्व के स्वाभाविक विकास का अलग अलग परिणाम थे। यह स्वीकार करते हुए भी ताराचन्द यह प्रतिपादित करते हैं कि ये सारे तत्व अपने सम्मिलित रूप मे और अपने एक विशेष झुकाव के कारण मुस्लिम आस्था (Muslim Faith) का आभास देते हैं और हिन्दुत्व पर मुस्लिम प्रभाव की सम्भावना के तर्क को और भी दृढता प्रदान करते हैं। हिन्दुत्व मे इस्लाम की प्रतिकृत और प्रभाव ही ढूढने वाला विद्वान विरोधी तर्कों की इस भ्रांति मे पड सकता है और एकतरफा मान्यताओ को प्रतिपादित कर सकता है।

यह दोष न तो डा० ताराचन्द का है और न उनके जैसे अन्य इतिहासकारो का। वास्तव मे, यह दोष है ऐतिहासिक विवेचन की उस पुरानी परम्परा का जिसमे इतिहासकार किसी प्रमुख विशेष पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखता है और उसे ही प्रधान मानकर, और सभी कुछ गौण मान लेता है। डा० ताराचन्द के लिए भारत पर इस्लाम का प्रभाव प्रधान प्रमेय है और इस्लाम के पहले तथा बाद का हिन्दुत्व गौण। किन्तु जहा सतत अभ्युदय वृद्धि और उद्विकास है वहा इस्लाम वह प्रवाह है जो एक बडे प्रवाह से मिलता है। हिन्दुत्व पर इस्लाम का क्या प्रभाव पडा यह एक विपर्यासिक प्रश्न है? इस सदर्भ मे सही प्रश्न यह है कि भारत मे इस्लाम के प्रवेश मे हिन्दू सस्कृति की उद्विकासी प्रक्रिया मे क्या परिवर्तन लहरें उठी और, उनके मध्य मे, हिन्दुत्व, या व्यापक अर्थ मे भारतीय सस्कृति का किस प्रकार उद्विकास हुआ। सास्कृतिक उद्विकास सम्भव समन्वयकारी होना है जिसमे प्रत्येक परिवर्तन एक उद्विकासी परिवर्तन शृखला से सम्बद्ध रहता है। जहाँ परिवर्तन मे स्थायित्व न हो और स्थायित्व मे आधारभूत तत्व न बने रहे वहा केवल परिवर्तन होता है, उद्विकास नही। इस्लाम के प्रवेश मे हिन्दुत्व का परिवर्तन ही नही, उद्विकास भी हुआ।

इस्लाम और हिन्दुत्व की तुलना करते समय अधिकतर लोगों का ध्यान, एक ओर, मतवीकृत इस्लाम पर रहता है तो, दूसरी ओर, हिन्दुत्व के उस रूप पर जो निगम अथवा वैदिक है। किन्तु वास्तव में, आगम (अवैदिक) भी हिन्दुत्व का उतना ही अंग है जितना कि निगम। आगम में निगम और आगम तथा निगम का उत्तरोत्तर समन्वय हिन्दुत्व की उदविकासी प्रक्रिया की मूलप्रवृत्ति रही है। जन संस्कृति के तत्व तथा परम्परायें, आगम के माध्यम से, समयानुसार निगम में समन्वित होती रही हैं और, इसी कारण, समय समय पर मिलने वाली उत्प्रेरणाओं के कारण, हिन्दुत्व में आगम का उभार होता रहा है। भारत में इस्लाम तथा पश्चिमी सभ्यता की प्रबल उत्प्रेरणायें रही है, जिनके प्रभाव में आगम का उभार मिला तथा निगम में उसका समन्वय हुआ। मध्ययुग में रहस्यवाद, भक्ति तथा मानवतावादी विचारों का उभार इसी उद्विकासी प्रक्रिया का परिणाम है। भक्ति का एक ओर जन-आन्दोलन के रूप में उभरना तथा दूसरी ओर, उसका भारतीय दर्शन की परम्परा में समन्वित होना इसी तथ्य का प्रमाण है।

सात्मीकरण, समन्वय, पुनरुन्नयन, सुधार और संघर्ष

पंथ परम्परा

इस्लामी सम्पर्क के वातावरण में भक्ति आंदोलन ने यदि एक ओर हिंदू ईश्वरधार्मिता के दार्शनिक निर्वचन तथा पुनर्स्थापन का रूप लिया तो दूसरी ओर, पंथ परम्परा का, जिसके माध्यम से हिंदुत्व में निगमागम का व्यापक समन्वय हुआ पुनरुन्नयनवादी सुधारवाद का आंदोलन बना अनेक इस्लामी विशेषताओं का हिंदुत्व में सात्मीकरण और समन्वय हुआ औपनिषदिक बौद्धिकता के पुनरुन्नयन के द्वारा एकेश्वरवाद के मत का प्रतिपादन करके धर्म और जाति के अंतर को निस्सार बताया गया ज्ञानमय भक्ति को सर्वोपरि माना गया तथा इस्लाम के प्रति विद्रोह का बीजारोपण हुआ। ये सारी प्रक्रियायें एक साथ चलीं और उनके माध्यम थे भक्त-संतों द्वारा संगठित पंथ जिनका आविर्भाव इस काल में सारे भारत में हुआ। ये पंथ हिंदुओं में मजहबी आस्था लेकर प्रस्फुटित हुए। प्रत्येक पंथ के प्रणेता ने भक्तिमार्गी परम्परा में हिंदुत्व का निर्वचन करके, अपने पंथ का संगठन किया। पंथ निर्गुणवादी, भक्तिमार्गी जाति पाँति विरोधी और सहजज्ञानवादी थे। इनके प्रणेताओं ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया, संन्यास को निरर्थक माना, गृहस्थ साधु के आदर्श का प्रतिपादन किया और भगवत भजन को मोक्ष प्राप्ति का

साधम माना। जिस प्रकार, इस्लाम मे सूफी पन्थों का निम्न स्तर की जनता म सगठन हो रहा था, उसी प्रकार, निम्नस्तर की हिन्दू-जनता म भक्तिवादी पथो का सगठन हो रहा था। पथो की भक्तिवादी परम्परा पारलौकिकता की ओर उन्मुख थी यद्यपि इस्लाम का झुकाव इहलौकिकता की ओर था। हिंदू मुस्लिम सघष बादशाहत के बढते हुए वभव और निरन्तर होन वाले युद्धो के कारण जनता पर पडने वाले भार और उसस उत्पन्न होन वाली गरीबी ने सम्भवत पारलौकिकता के भाव को सामाजिक मानसिक जीवन का एक अग बना दिया। अनक विदशी सूफी सम्प्रदायो तथा मुगल राज की बढती हुई कट्टरता ने अनक पथो (सिक्ख सतनामी बैरागी) को उतना ही कट्टर बना दिया जितना कि इस्लाम था। इस कट्टरता ने सघष का जन्म दिया।

इस काल म जिन पथो का अभ्युदय हुआ है उनम स मुख्य हैं—कबीर सिक्ख वष्णवी, राधास्वामी, वीर शव तथा लिंगायत इत्यादि। गुरु परम्परा म य पथ मठाधी सगठनों के रूप म विकसित हुए। प्रत्येक पथ का एक महन्त हुआ और कई पथ कालान्तर म कई महन्तो म बट गए। य पथ परम्परा उन्नीसवी शताब्दी तक चलती हुई वतमान तक आती है। राधास्वामी सम्प्रदाय की स्थापना उन्नीसवी शताब्दी म हुई थी और ब्रह्मकुमारी तथा महर बाबा के पथो के रूप म यह परम्परा आज भी विद्यमान है। एक ओर, पुरान पथ (जस कबीर, रदास और शिवनरायनी) स्थायी रह हैं और, दूसरी ओर, नए पथो की स्थापना हुई। योरोपीय सभ्यता तथा इसाइयत के सम्पक म, इस परम्परा ने समाजो की परम्परा का रूप लकर वतमान समाज सुधार-आन्दोलन का रूप ले लिया है। इसी परम्परा न भोला मे भगत आन्दोलन जस हिन्दुत्व की ओर उन्मुख सुधारवादी आन्दोलनो का रूप लिया है।

निगुण पथो का आविर्भाव उन आदर्शो व भावनाओ के समावश स हुआ है जिनक मूल स्रोत बौद्धधम वैष्णव सम्प्रदाय, वदान्त दशन तथा मार्गमार्गी गोरखनाथी पथ जस धर्मो, दशनो व रहस्यवादी पथो म हैं। सभी निगुण पथो पर अशत उपनिषद तथा वदान्त का, बौद्ध धम का, अशत भारत की योग-परम्परा का, और अशत इस्लाम के सूफीवाद और भक्तिमाग का प्रभाव है। इनके आविर्भाव का कारण है व परिस्थितिया जो इस्लाम के सघात क कारण भारत म उत्पन्न हुई थी। ये पथ वे सुधारवादी आन्दोलन हैं जिनम बौद्ध तथा इस्लामी मजहबो की परम्परा क आधार पर, अलग-अलग सुधारवादी सम्प्रदायो का सगठित करने का प्रयास किया है। अलग-अलग सम्प्रदाय होन पर भी ये पथ साधारणतया सम्प्रदायवादी नही रह हैं, क्योकि इनम से अधिकतर पथो क प्रणेताओ न हिन्दुत्व और इस्लाम क बीच म एक अलग सामाजिक धार्मिक दशन प्रतिपादित करन का प्रयास किया है। इन सुधारवादी आन्दोलनो क सम्बन्ध म 'पथ' और 'सम्प्रदाय' का अथ है उस आध्यात्मिक माग (अथवा मार्गो) स जिसक आधार पर प्रत्येक पथ अथवा सम्प्रदाय सगठित हुआ है। निगुण पथो [redacted] प्रत्येक पथ इसलिए सम्प्रदाय कहा जा सकता है कि

२

पन्थ परम्परा के कुछ उदाहरण

इस्लाम की उत्प्रेरणा से आगम का उभार और निगम से उसका समन्वय न तो रहस्यवाद में उतना स्पष्ट है और न मानवतावादी वीर शैव समाज भक्तिवादी आन्दोलन में, जितना कि वह वीरशैव समाज, सिक्ख सम्प्रदाय राधास्वामी सम्प्रदाय और महाराष्ट्र धर्म की धारणा में निहित हिन्दू राष्ट्रवादिता के अभ्युदय में स्पष्ट है। इनमें यदि, एक ओर जनवादी परम्पराओं को उभारने का प्रयास है तो, दूसरी ओर इस्लाम से लिये तत्वों को जनवादी परम्पराओं के साथ मिलाकर उनका निगमसम्मत निर्वचन करके हिन्दुत्व के पुनःसंस्थापन का प्रयास है। वीरशैव समाज शैव भक्तिधारा का सामाजिक संस्करण है। इसकी स्थापना कालाचुरि वंश के राजा बिज्जल (1156 67) के मंत्री वासव ने की थी। वीरशैवों की प्रधानता बेलगाँव बीजापुर, धारवार जिला तथा मैसूर और कोल्हापुर राज्यों में है। वासव के समकालीन अल्लम प्रभु इस सम्प्रदाय के सबसे बड़े संत थे और वे ही, वास्तव में, इस सम्प्रदाय के प्रणेता थे। कन्नड भाषा में वीरशैव साहित्य की परम्परा ग्यारहवीं सदी तक पहुँचती है। शैव होने के नाते, इस सम्प्रदाय के लोग 'परशिव' को ईश्वर मानते हैं और अल्लम प्रभु को उनका अवतार। कन्नड भाषा में अल्लम का अर्थ अल्ला का अनुचर नहीं है। उसका अर्थ है लिंगायत भक्त। वीरशैव लिंगायत सम्प्रदाय के हैं और लघुलिंग की मूर्ति अपने साथ यज्ञोपवीत की भाँति रखते हैं। ये लोग मन्दिरों में भी पूजा करते हैं। इनका अन्तिम उद्देश्य है 'परशिव' के साथ आनन्द मिलन। इस मिलन के लिये दीक्षा लेने वाले का पुनर्जन्म नहीं होता है। वीरशैव सम्प्रदाय के अनुसार पुनर्जन्म उन्हीं का होता है जो भवी हैं अर्थात जो भव अथवा संसार में फँसे हुये हैं। दिनकर के अनुसार वीरशैव सम्प्रदाय शक्ति विशिष्ट अद्वैतवादी सम्प्रदाय है[1]। डा० ताराचन्द के अनुसार, वीरशैव अपने शवों को गाड़ते हैं। श्राद्ध में उनका विश्वास नहीं है। वीरशैव भक्त संन्यासी तथा युद्धप्रिय होते हैं। इनमें बाल विवाह का निषेध है और तलाक तथा विधवा विवाह जायज है। इनमें जाति का महत्व नहीं है क्योंकि इनके यहाँ अन्त्यज भी दीक्षित होकर ब्राह्मण के समान हो जाता है। इनमें यज्ञ, उपवास और तीर्थयात्रा का महत्व नहीं है। वीरशैवों में मदिरा और आमिष का निषेध है। वीरशैव समाज इस्लाम का अनुकरणमात्र नहीं है। वीरशैव एक उग्र शैव सम्प्रदाय है जिसमें संन्यास और गृहस्थ धर्म की परम्पराओं का समन्वय किया गया है।

---

1 दिनकर वही पृष्ठ 290

सिक्ख पंथ के प्रणेता थे नानक जिन्होंने, जैसा कि 'रहटनामा' से स्पष्ट है, खालसा धर्म (शुद्ध धर्म) की, इस्लाम और हिंदुत्व से अलग स्थापना की।

सिक्ख पंथ

कबीर की तरह वे, एक ओर, हिंदुत्व से असंतुष्ट थे और दूसरी ओर, इस्लाम से। जिस प्रकार, आलवार संतों के पदों के संग्रह में वैष्णवी पद्धति का निखार हुआ और नायनार संतों के पदों में शैव-पद्धति का, वैसे ही नानक के पदों के संग्रह में सिक्ख सम्प्रदाय की नींव पड़ी। यह संग्रह सिक्ख सम्प्रदाय के पांचवें गुरु अर्जुनदेव ने सन् सोलह सौ चार ईसवी में ग्रंथ साहिब के नाम से करवाया[1]। गुरु नानक वेदान्त की निराकारी परम्परा के मानने वाले थे। नानक का सूफी संतों से सम्पर्क था। शाह फरीद और गुरु नानक की गाढ़ी मैत्री के भी प्रमाण मिलते हैं। गुरु नानक बगदाद गये थे और वहां उनकी यादगार में जो मंदिर बनाया गया था, वह आज भी उनके मैयदवानी चेलों की संरक्षता में है[2]। विद्वानों का ऐसा मत है कि उन पर सूफीवाद का विशेषतया ईरानी स्वरूप का प्रभाव है। किन्तु इतना होने पर भी उन्होंने जिस पंथ की स्थापना की वह निराकार-वादी है और उसमें ईश्वर की कल्पना इस्लाम की ईश्वर की कल्पना से भिन्न है। गुरु नानक का ईश्वर निराकार पुरुष है, परमात्मा है और सृष्टि के कण कण में व्याप्त है। सृष्टि ईश्वर का प्रतीक है वह ब्रह्ममय है। वे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शिव को मानते हैं। कर्म पुनर्जन्म, निर्वाण और माया में उनका विश्वास है। वैराग्य साधना में उनकी आस्था थी जिसे पौराणिक प्रभाव कहा जा सकता है और सूफी प्रभाव भी। नानक गुरु शिष्य परम्परा के मानने वाले थे। अतः, वे सिक्ख पंथ के आदि गुरु हुये हैं[3]। यह नानक के द्वारा चलाई हुई परम्परा का परिणाम है कि

---

1 यह संग्रह गुरुमुखी लिपि में किया गया था और तभी से गुरुमुखी और सिक्ख सम्प्रदाय का गठबंधन हो गया। वैसे नानक और अन्य गुरुओं ने अधिकतर हिन्दी के ही शब्दों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिये सिक्ख धर्म-ग्रंथ में लिखा हुआ दोहा देखिये

> राम कथा जुग जुग अटल, जो कोई गावे नेत।
> स्वर्गवास रघुवर कियो सगली पुरी समेत।

2 सेन, क्षितिमोहन दि मेडिवल मिस्टिसिज्म आफ इण्डिया (दिनकर से उद्धृत पृष्ठ 319)

3 सिक्ख पंथ में कुल मिलाकर दस गुरु हुए हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं — नानक, अंगद, अमरदास रामदास, अर्जुनदेव, हरगोविन्द, हरराय, हरकृष्णराय तेगबहादुर और गोविन्दसिंह। प्रत्येक गुरु अपने जीवनकाल में ही अपने शिष्य को चुनकर मनोनीत करता था। किन्तु, गोविन्दसिंह को जब सोते समय

२

पंथ परम्परा के कुछ उदाहरण

वीर शैव समाज

इस्लाम की उत्प्रेरणा से आगम का उभार और निगम से उसका समन्वय न तो रहस्यवाद में उतना स्पष्ट है और न मानवतावादी भक्तिवादी आन्दोलन में, जितना कि वह वीरशैव समाज, सिक्ख सम्प्रदाय, राधास्वामी सम्प्रदाय और महाराष्ट्र धर्म की धारणा में निहित हिन्दू राष्ट्रजागृति के अभ्युदय में स्पष्ट है। इनमें यदि, एक ओर, जनवादी परम्पराओं को उभारने का प्रयास है तो, दूसरी ओर इस्लाम से लिये तत्वों को जनवादी परम्पराओं के साथ मिलाकर, उनका निगमसम्मत निर्वचन करके, हिन्दुत्व के पुनःसंस्थापन का प्रयास है। वीरशैव समाज, शैव भक्तिधारा का सामाजिक संस्करण है। इसकी स्थापना कालाचुरि वंश के राजा बिज्जल (1156 67) के मंत्री बासव ने की थी। वीरशैवों की प्रधानता बेलगाम, बीजापुर, धारवार जिला तथा मैसूर और कोल्हापुर राज्यों में है। बासव के समकालीन अल्लम प्रभु इस सम्प्रदाय के सबसे बड़े संत थे और वे ही वास्तव में इस सम्प्रदाय के प्रणेता थे। कन्नड़ भाषा में वीरशैव साहित्य की परम्परा ग्यारहवीं सदी तक पहुँचती है। शैव होने के नाते, इस सम्प्रदाय के लोग परशिव को ईश्वर मानते हैं और अल्लम प्रभु को उनका अवतार। कन्नड़ भाषा में अल्लम का अर्थ अल्ला का अनुचर नहीं है। उसका अर्थ है लिंगायत भक्त। वीरशैव लिंगायत सम्प्रदाय के हैं और लघुलिंग की मूर्ति अपने साथ यज्ञोपवीत की भाँति रखते हैं। ये लोग मन्दिरों में भी पूजा करते हैं। इनका अंतिम उद्देश्य है 'परशिव' के साथ 'आनन्द' मिलन। इस मिलन के लिये शीघ्रता करने वालों का पुनर्जन्म नहीं होता है। वीरशैव सम्प्रदाय के अनुसार पुनर्जन्म उन्हीं का होना है जो भावी हैं अर्थात जो भाव अथवा संसार में फँसे हुये हैं। दिनकर के अनुसार वीरशैव सम्प्रदाय शक्ति विशिष्ट अद्वैतवादी सम्प्रदाय है[1]। डा० ताराचन्द के अनुसार, वीरशैव अपने शवों को गाड़ते हैं। श्राद्ध में उनका विश्वास नहीं है। वीरशैव भक्त संन्यासी तथा युद्धप्रिय होते हैं। इनमें बाल विवाह का निषेध है और तलाक तथा विधवा विवाह जायज है। इनमें जाति का महत्व नहीं है क्योंकि इनके यहाँ अन्त्यज भी दीक्षित होकर ब्राह्मण के समान हो जाता है। इनमें व्रत उपवास और तीर्थयात्रा का महत्व नहीं है। वीरशैवों में मदिरा और आमिष का निषेध है। वीरशैव समाज इस्लाम का अनुकरणमात्र नहीं है। वीरशैव एक उग्र शैव सम्प्रदाय है जिसमें संन्यास और गृहस्थ धर्म की परम्पराओं का समन्वय किया गया है।

---

1 दिनकर वही पृष्ठ 290

सिक्ख पन्थ

सिक्ख पन्थ के प्रणेता थे नानक जिन्होने, जसा कि 'रहटनामा' से स्पष्ट है, खाल्सा धम (शुद्ध धम) की, इस्लाम और हिन्दुत्व से अलग स्थापना की। कबीर की तरह वह एक ओर, हिन्दुत्व से असतुष्ट थे और दूसरी ओर, इस्लाम स। जिस प्रकार, आल्वार सन्तो के पदो क संग्रह से वैष्णवी पद्धति का निखार हुआ और नायनार सन्तो के पदो स शव पद्धति का, वसे ही, नानक के पदो क संग्रह स सिक्ख सम्प्रदाय की नीव पडी। यह संग्रह सिक्ख सम्प्रदाय के पाचवें गुरु अर्जुनदेव ने सन सोलह सौ चार ईसवी मे ग्रन्थ साहिब के नाम से करवाया[1]। गुरु नानक वदान्त की निराकारी परम्परा के मानने वाले थ। नानक का सूफी सन्तो स सम्पर्क था। शख फरीद और गुरु नानक की गाढी मत्री के भी प्रमाण मिलते है। गुरु नानक बगदाद गये थे और वहा उनकी यादगार म जो मन्दिर बनाया गया था, वह आज भी उनके सैयदवशी चेलो की सरक्षता म है[2]। विद्वानो का ऐसा मत है कि उन पर सूफीवाद का विशेषतया ईरानी तसव्वुफ का प्रभाव है। किन्तु इतना होने पर भी उन्होने जिस पन्थ की स्थापना की वह निराकारवादी है और उसम ईश्वर की कल्पना इस्लाम की ईश्वर की कल्पना स भिन्न है। गुरु नानक का ईश्वर निराकार पुरुष है, परमात्मा है और विश्व के कण कण म व्याप्त है। सष्टि ईश्वर का प्रतीक है वह ब्रह्ममय है। व ब्रह्मा, विष्णु महेश, त्रिदेव को मानते है। कर्म, पुनर्जन्म निर्वाण और माया म उनका विश्वास है। वैराग्य साधना म उनकी आस्था थी जिसे पौराणिक प्रभाव कहा जा सकता है और सूफी प्रभाव भी। नानक गुरु शिष्य परम्परा के मानने वाले थे। अत, वे सिक्ख पन्थ के आदि गुरु हुये है[3]। यह नानक क द्वारा चलाई हुई परम्परा का परिणाम है कि

---

1 यह संग्रह गुरमुखी लिपि में किया गया था और तभी से गुरमुखी और सिक्ख सम्प्रदाय का गठबन्धन हो गया। वसे नानक और अन्य गुरुओ ने अधिकतर हिन्दी के ही शब्दों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिये सिक्ख धर्म-ग्रन्थ में लिखा हुआ दोहा देखिये

राम कथा जुग जुग अटल, जो कोई गावे नत।
स्वर्गवास रघुवर कियो सगली पुरी समत।

2 सेन, क्षितिमोहन दि मेडिवल मिस्टिसिज्म आफ इण्डिया (दिनकर स उद्धृत पृष्ठ 319)

3 सिक्ख पथ में कुल मिलाकर दस गुरु हुए ह जिनके नाम इस प्रकार ह — नानक, अगद, अमरदास, रामदास, अर्जुनदेव, हरगोविन्द, हरराय, हरकृष्णराय तेगबहादुर और गोविन्दसिंह। प्रत्येक गुरु अपन जीवनकाल में ही अपने शिष्य को चुनकर मनोनीत करता था। किन्तु, गोविन्दसिंह को वर्तमान

सिक्ख पंथ में 'वाह गुरु' का धार्मिक नारा प्रचलित है[1]। यह सूफीवाद की उत्प्रेरणा का प्रभाव भी हो सकता है ? नाम (सकीर्तन) ध्यान, समाधि और योग को नानक ने महत्ता दी है। इस पंथ में जाति पाति, मूर्तिपूजा तीर्थ यात्रा, सती प्रथा शराब और तम्बाकू का निषेध है। सिक्ख पंथ में पर्दे को भी अशोभनीय समझा गया। इस प्रकार, जैसा कि इस काल के अन्य पंथों में है, सिक्ख पंथ में भी वैराग्य साधना और गृहस्थ धर्म में समन्वय करके, एक सुलभ व्यावहारिक और जनप्रिय पंथ की स्थापना की गई। खालसा धर्म खानपान की कट्टरता का विरोधी रहा है। किन्तु सिक्ख सम्प्रदाय अपने उस सांसारिक आधार से दूर न जा सका जिस पर उसकी स्थापना हुई थी। सिक्ख सम्प्रदाय में उसी प्रकार से जाति पाति का प्रवेश हुआ जैसे हिन्दू समाज में है। निराकार के साथ साथ साकार भी जुड़ गया। गुरु गोविन्दसिंह ने किसुन बिसुन के अस्तित्व का अस्वीकार किया पर चण्डी की स्तुति करना न भूले। उन्होंने रामकथा पर खण्ड काव्य लिखा है जो 'गोविन्द रामायण' के नाम से प्रकाशित किया गया है। मादक द्रव्यों के निषेध का भी वह रूप नहीं रहा जिस पर जोर दिया गया था। सिक्ख पंथ हिन्दुत्व के ही दायरे में उत्पन्न हुआ था और उसी में रहा। हाँ, यह अवश्य है कि वह एक शांत जिनम्र भावुक और निराकारी तथा भक्तिवादी पंथ के रूप में विकसित होकर सामरिकता की ओर अग्रसर हुआ। इस विकास का कारण इस्लाम नहीं, वरन इस्लामी कट्टरवादिता थी। पहले सिक्ख विवाह भी सनातन वैदिक रीति में होता था। किन्तु, बाद में अंग्रेजों ने आनन्द विवाह अधिनियम (Anand Marriage Act) बनाकर सिक्खों की विवाह पद्धति का अन्त किया। कुछ भी हो, आज सिक्खों में जो विवाह पद्धति प्रचलित है वह सनातन पद्धति से कहीं अधिक सरल है और बहुत सम्भव है वह इस्लामी या ईसाई पद्धति के नमूने पर बनायी गयी हो। सिक्ख पंथ हिन्दुत्व का अंग है और वह हिन्दुत्व के ही दायरे में है। फिर भी उसमें कुछ एक तत्व हैं जो इस्लाम से लिए गये हैं और निराकार पद्धति में उनका समन्वय कर लिया गया है।

गोदावरी के किनारे एक पठान ने छुरे से घायल किया तो उन्होंने ग्रन्थ साहब को गुरु घोषित कर दिया और तभी से सिक्ख पंथ में धर्मग्रन्थ को गुरु का रूप दिया जाता है। सिक्ख पंथ में ग्रन्थ साहिब की महिमा और पवित्रता तथा इस्लाम में कुरान की पवित्रता और महिमा में समानता ढूँढना अनावश्यक ही नहीं भ्रामक भी है।

1 वाह गुरु का नारा मध्ययुगीन भारत के अन्य पंथों में भी है। कबीर पंथी भी वाह गुरु कहकर गुरु की महिमा का बखान करते हैं। किन्तु, एक व्याख्या के अनुसार 'वा' का संकेत है, वासुदेव, 'हा' का 'हरि', 'गु' का 'गोविन्द' और 'र' का 'राम'।

गुरुद्वारों की बनावट पर ईरानी वास्तुकला का प्रभाव है। गुम्बदों और मीनारों के कारण, गुरुद्वारे मन्दिर की नहीं बल्कि मस्जिद की परम्परा में आते हैं। मत्था टेकने की प्रथा इस्लामी पूजा पद्धति में अपनाई जाने वाली मत्था टेकने की प्रथा से मिलती जुलती है।

किन्तु, सिक्ख पंथ पर पड़ने वाले मुस्लिम प्रभावों के सोद्देश्य विश्लेषण के लिये, यह ध्यान में रखना अधिक आवश्यक है कि, एक ओर, सिक्ख पंथ की रचना भारतीय वेदान्त और ईरानी तसव्वुफ के मिलन से उत्पन्न धार्मिक जाग्रति में हुई है तो, दूसरी ओर, इस्लामी कट्टरवादिता और तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों ने भी उसके विकास को प्रभावित किया है। सम्भवतः, इसीकारण सिक्ख पंथ में इस्लामी तत्वों का समावेश इस्लाम के प्रति प्रतिक्रिया और इस्लाम से रक्षा करने के कारण हुआ है। गुरु अर्जुनदेव ने जहांगीर के भाई खुसरो को आर्थिक सहायता दी थी जिसके कारण जहांगीर ने उन्हें कैद करके उन पर अत्याचार किये और उसके परिणामस्वरूप उनका देहान्त हो गया। छठे गुरु हरगोविन्दसिंह ने पंथ की रक्षा के लिये तलवार, सामरिकता और राज्यबल का आश्रय लिया। औरंगजेब के राज्यकाल में, गुरु गोविन्दसिंह ने इस आश्रय को पंथ का आधार बना दिया। जिस परमात्मा को गुरु नानक 'निरंकार पुरुष' कहते थे गुरु गोविन्दसिंह ने उसका नाम रक्खा 'असिध्वज', 'महाकाल' और 'महालोह'[1]। यहीं से पंथ के दो रूप शुरू होते हैं—एक, सामरिकता वाला और दूसरा, संत तथा भक्तों वाला। छठे गुरु के समय से, सिक्ख पंथ में, इस्लाम की भांति, राजा और धर्मगुरु एक ही व्यक्ति में समा गये और सिक्ख पंथ खिलाफत जैसे संगठन का एक भारतीय संस्करण-सा हो गया। यहीं से, विशेषतया गुरु गोविन्दसिंह के समय में, कंघी, कच्छा, कड़ा और कृपाण सिक्खों की वेशभूषा में आ गये। 'अल्ला हो अकबर' का स्थान 'सत श्री अकाल' ने ले लिया, हलाल का स्थान झटके ने और सम्भवतः मुसलमानों से बदला लेने के लिये ही, नाक का मांस भक्षण, गोमांस भक्षण की वृत्ति के उत्तर के रूप में निकाला गया। इस ऐतिहासिक सन्दर्भ में सिक्ख-सम्प्रदाय को न तो इस्लाम का हिन्दुत्व में प्रसार कहा जा सकता है और न सनातन धर्म की सरबी टीका ही। सिक्ख-सम्प्रदाय वेदान्त तथा बुद्धवादी सुधार-आन्दोलन के आधार पर रचा हुआ इस्लामी कट्टरवादिता और

---

1 सेवक सिक्ख हमारे तारिय, चुनि चुनि शत्रु हमारे मारिय।
जो हो सदा हमारे पच्छा, श्री असिधुज जी करियहु रच्छा।
मैं न गनेसहिं प्रथम मनाऊं, किसन विसन कबहू नहिं ध्याऊं।
महाकाल रखवार हमारे, महालोह मैं किंकर थारे।
अपना जान मुझे प्रतिपारिय, चुनि चुनि शत्रु हमारे मारिय।
गुरु गोविन्दसिंह की एक कविता दिनकर से उद्धृत

सामरिकता का हिंदूकृत रूप है। सिक्ख पंथ हिंदू संस्कृतिकरण की प्रक्रिया का एक वह रूप है जिसमें सात्मीकरण, पुनरन्नयन, प्रतिक्रिया और संघर्ष एक साथ समा गये।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना हो चुकी थी, भारत पर योरोपीय प्रौद्योगिकी तथा पूंजीवाद का संघात दृढ़तर होता जा रहा था, बंगाल में ब्रह्मसमाज आंदोलन के रूप में आधुनिक भारत का प्रस्फुटन हो रहा था एक अभिनव मार्ग की तलाश में स्वामी दयानन्द अपने गुरु विरजानन्द के पास निगम परम्पराओं का नव निर्वचन सीख रहे थे इसाइयत का हिंदुत्व पर आक्रमण हो रहा था और शिक्षित वर्ग में योरोपवादिता बढ़ रही थी, उस समय, आगरे में राधास्वामी सम्प्रदाय के रूप में, मध्यकालीन भारत की निर्गुण पंथ परम्परा का अभ्युत्थान पंथ-परम्परा के विकास की एक चरम परिणति है। राधास्वामी पंथ के बाद भी पंथों का संगठन हुआ है किन्तु उनमें पंथ परम्परा के उद्विकास का वह रूप नहीं है जो राधास्वामी सम्प्रदाय में है। जिस सामाजिक आध्यात्मिक दर्शन को लेकर पंथों के प्रणेता चले थे उसका गहनतम रहस्यवादी विकास राधास्वामी सम्प्रदाय में हुआ। कबीर की आनुभूतिक सरलता यहां जटिल हो गई है। राधास्वामी सम्प्रदाय, पंथ परम्परा में विकसित सम्प्रदायों से, दो रूपों में भिन्न है— एक, मध्ययुगीन आध्यात्मिक दर्शन की पृष्ठभूमि में यह सम्प्रदाय आधुनिकता की ओर उन्मुख हुआ है और दूसरा राधास्वामी सम्प्रदाय का अधिकतम प्रभाव मध्यवर्गी जनता पर हुआ है—वह जनता जो मध्यवर्गी है और जिसने, अंग्रेजी राज्यकाल में, सामाजिक सांस्कृतिक आन्दोलन को आगे बढ़ाया है। अंग्रेजी राज के माध्यम से पूंजीवादी प्रभावों ने यदि एक ओर मध्यवर्ग का सामाजिक निखार दिया तो दूसरी ओर, मध्यवर्ग के लिये सामाजिक आर्थिक विपन्नता की स्थिति भी उत्पन्न की। राधास्वामी सम्प्रदाय भी उतना ही परलोकवादी है जितना कि अन्य निर्गुण पंथ। किन्तु यहां परलोकवादिता का अर्थ संसार-त्याग और विराग की अवहेलना नहीं है। जहांगीर के समय से ही भारत में इसाइयत का प्रभाव पड़ने लगा था। समाजों (ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज इत्यादि) की परम्परा इसाइयत तथा योरोपवादिता से हिंदुत्व की रक्षा करने के प्रयास में विकसित हुई जिसके प्रणेता मध्यवर्ग से आये हैं। ऐसी परिस्थिति में, राधास्वामी सम्प्रदाय मध्यवर्गी जनता में, मध्ययुगीन पंथ परम्परा के पुनरन्नयन के रूप में आया। राधास्वामी सम्प्रदाय का शहरों में ही केन्द्रित रहना इस तथ्य का और भी पुष्टि करता है। अन्य पंथों के धर्मगुरु अधिकतर अशिक्षित वर्ग से आये हैं जबकि इस पंथ के गुरु शिक्षित वर्ग से।

राधास्वामी सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक हुजूर राधास्वामी दयालु उर्फ स्वामीजी महाराज, जिनका जन्म का नाम शिवदयालसिंह था आगरे के एक खत्री परिवार

म सन् अठारह सौ अठारह में जन्मे थे। श्री शिवदयालसिंह लगभग पन्द्रह साल तक 'सुरत शब्द योग' की साधना करते रहे और सन अठारह सौ साठ विक्रमी सम्वत उन्नीस सौ सत्रह में, बसन्त पंचमी के दिन उन्होंने एक सार्वजनिक सभा में भाषण करके अपने सम्प्रदाय का प्रतिपादन किया। सन् अठारह सौ अठत्तर में श्री शिवदयालसिंह की मृत्यु के बाद से इस सम्प्रदाय की उत्तरी भारत में अलग अलग गद्दियां स्थापित होती रहीं। सन् अठारह सौ अठानवे में जब इस सम्प्रदाय के दूसरे गुरु राय शालिग्राम बहादुर की मृत्यु हुई तब इस सम्प्रदाय की व्यास, तरनतारन और दिल्ली में तीन अलग-अलग गद्दियाँ स्थापित हो चुकी थी। सन उन्नीस सौ सात में, आगरा में ही दयालबाग की एक अलग गद्दी स्थापित हुई। उसी साल बंगाल के पबना जिले में ठाकुर अनुकूलचन्द्र चक्रवर्ती ने एक अलग गद्दी की स्थापना की और सन उन्नीस सौ तेरह में भैयाजी पंडित योगेशचन्द्र मिश्र तिवारी ने बनारस में एक अलग राधास्वामी सम्प्रदाय की गद्दी की स्थापना की। इस समय इस सम्प्रदाय की असली गद्दी के सिवा, सात अलग-अलग गद्दियाँ हैं।[1]

राधास्वामी सम्प्रदाय एक सामाजिक-आध्यात्मिक मत है, जिसका विकास मध्यकालीन भारत की निर्गुण भक्ति परम्परा की विचारधारा की पृष्ठभूमि में हुआ है। राधास्वामी सम्प्रदाय का एक आधार मध्यकालीन भारत के सामाजिक सुधार आन्दोलन की विचार प्रक्रिया है और दूसरा वह आध्यात्मिक दर्शन प्रणाली, जिसका प्रणयन इस सम्प्रदाय के प्रणेता श्री शिवदयालसिंह ने किया है। जैसाकि सभी निर्गुण सम्प्रदायों में पाया गया है, राधास्वामी सम्प्रदाय में भी जाति पांति के सामाजिक बन्धनों को निस्सार बताया गया है और तीर्थाटन, व्रत, मन्दिर मूर्ति पूजा और जप का निषेध किया गया है। राधास्वामी सम्प्रदाय के सामाजिक संगठन का मूलाधार गुरु परम्परा है। आध्यात्मिक ज्ञान गुरु के द्वारा ही प्राप्त होता है[2]। "सौलिम

1 गौड़, रामदास हिन्दुत्व
बड़थ्वाल, पीताम्बर दत्त हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय पृष्ठ 102

2 राधास्वामी मत के प्रणेता शिवदयाल का कहना है कि 'शिष्य को चाहिये कि गुरु के चरणों को दबावे, उसे पंखा करे, उसका आटा पीसे, पानी भरे, नाबदान साफ करे, चौके के लिये मिट्टी लाये उसे दातून करावे, हाथ धुलावे, उसके पेशाब के पात्र को धोवे, नहलावे, शरीर पोंछे, धोती पहनावे, धोती-अंगोछा साफ करे, बाल झाड़ दे, कपड़े निचोड़ दे, ललाट पर टीका कर दे, रसोई बनाकर परस दे, हुक्का भर दे, सेज लगा दे, पीकदान लेकर उसे पीक करावे, उसका किया हुआ पीक स्वयं पी जाय, संक्षेप में, उसे चाहिये कि अपने गुरु की सेवा सभी प्रकार से करे। अपने गुरु के लिये नीच से नीच काम भी बिना विलम्ब करे और उसकी आज्ञाओं का पालन करे'। तन, मन और धन से गुरु की सेवा, शिष्य का परम कर्तव्य है—बड़थ्वाल वही पृष्ठ 210

इसमे सत्सग पर जोर दिया गया है। सत्सग दो प्रकार का माना गया है—एक, बाह्य और दूसरा अतमुखी। बाह्य सत्सग मे गुरु के साथ सत्सग और निर्गुण के नाम सकीर्तन पर जोर दिया गया है और अतमुखी सत्सग मे अभ्यास (योगाभ्यास) तथा ध्यान द्वारा परमात्मा मे समाधिस्थ होने पर।

निर्गुण पथियो ने निर्गुण परमात्मा की कल्पना पुरुष के रूप मे की है और उसी के प्रति भक्ति की प्रेरणा दी है। निर्गुण पथ सहज ज्ञान की परम्परा के आधार पर विकसित हुए हैं। सहज ज्ञान की परम्परा दर्शन से परे अनुभव और साधना द्वारा ब्रह्म तक पहुचने की परम्परा है। अनुभव के द्वारा ब्रह्म अथवा पुरुष तक पहुचने के विचार ने भक्ति ध्यान और नाम सकीर्तन की परम्पराओ को जन्म दिया और साधना के विचार ने यौगिक विचारो तथा अभ्यासो को। सहज ज्ञान की परम्परा पर आधारित, राधास्वामी सम्प्रदाय, एक ओर शुद्ध भक्ति मार्ग है और, दूसरी ओर एक प्रकार का सुधारवादी पथ जिसमे मध्यकालीन भारत की समाज सुधार परम्परा के साथ साथ प्राचीन योगमत का सुधार तथा सरलीकरण हुआ है। परमात्मा (पुरुष) की भक्ति और उसमे लय होने की लालसा राधास्वामी मत के आध्यात्मिक दर्शन का निचोड है।

बडथ्वाल के अनुसार, निर्गुण पथ मे पहले परमात्मा की कल्पना पुरुष के रूप मे की गई और उसे निरजन की धारणा प्रदान की गई, किन्तु कालान्तर मे, परमात्मा को निरजन से ऊपर समझा जाने लगा और परमात्मा को काल पुरुष की सज्ञा दी गई। शिवनारायणी सम्प्रदाय (जिसका प्रभाव पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले के आसपास अधिक है) के प्रणेता शिवनारायण के अनुसार शब्द' से निरकार का जन्म हुआ जिसने ब्रह्माड और जीवो की रचना की और उन्हे मोह की फास से बाधा[1]। राधास्वामी सम्प्रदाय मे भी निरजन को सष्टि का कर्ता माना गया है लेकिन स्वय निरजन ही सष्टि का कारक नही है। यहाँ सर्वोत्तम सत्ता राधास्वामी दयालु की है जिनकी मौज के कारण और माया के ससर्ग से सष्टि का निर्माण निरजन करता है। बडथ्वाल के मत मे, निर्गुण सम्प्रदायो मे परमात्मा को परे से परे ले जाकर रखने की प्रवत्ति रही है। राधास्वामी सम्प्रदाय के प्रणेता शिवदयाल ने परमात्मा को राधास्वामी के नाम से अभिहित किया किन्तु उनके अनुयाइयो ने उसे काफी ऊपर पहुचा दिया और उसके नीचे अनेक पुरुषो की कल्पना की। निरजन और राधास्वामी के बीच क्रमश ब्रह्म, परब्रह्म, सोहग (सोहम), *पुरुष सत्य पुरुष, अलख पुरुष और अगम पुरुष (अनामी पुरुष) हैं*[2]। *निरजन इस* लोक का सष्टिकर्ता और मालिक है तथा उसके ऊपर के अन्य पुरुष क्रमश अलग

---

1 बडथ्वाल वही पष्ठ 162
2 वही पृष्ठ 143

अलग लोकों के मालिक है। राधास्वामी का लोक परमधाम है और राधास्वामी सबका मालिक है। शिवदयाल ने एक स्थान पर राधास्वामी दयाल से कहलाया भी है कि 'अगम, अलख और सत्य पुरुष मेरा ही पूर्ण रूप है'। यह विचारधारा परमतत्व की कल्पना का प्रयास है जो निर्गुण पंथियों की एक विशेषता रही है और जिसका राधास्वामी सम्प्रदाय में चरम विकास हुआ है।

राधास्वामी सम्प्रदाय में, 'राधास्वामी' शब्द निर्गुण परमात्मा का प्रतीक है और परमात्मा के नामस्मरण का माध्यम है। इस मत में नामस्मरण को जीवन में प्राणों के समान महत्ता है। अधिकतर निर्गुनियों ने स्मरण के लिये राम शब्द को पसन्द किया किन्तु शिवदयाल ने राधास्वामी शब्द को पसन्द किया। राधास्वामियों के अनुसार, राधास्वामी शब्द कबीर से ग्रहण किया गया है। इसके प्रमाण में कबीर की यह साखी[1] उद्धृत की जाती है जिसका अर्थ यह किया जाता है कि सद्‌गुरु ने अगम से आती हुई धारा का प्रत्यक्ष कर दिया, उसे उलटकर स्वामी के साथ मिला दो और उसी का सुमिरन करो। जैसाकि राधास्वामियों का मत है, धारा को उलट देने से 'राधा' शब्द बना उसको 'स्वामी' के साथ जोड़ देने से 'राधास्वामी' शब्द बना जिसके सुमिरन की प्रेरणा कबीर की साखी में की गई है।

राधास्वामी सम्प्रदाय की आध्यात्मिक दर्शन परम्परा में जिसमें सहज योग की भी पुट है 'राधास्वामी' शब्द और उससे सम्बन्धित धारणा का और भी महत्व है। इस सम्प्रदाय के प्रणेता शिवदयाल के मत में 'शब्द' ही सबका आदि और अन्त है। जहां परमात्मा सगुण नहीं निर्गुण है वहां शब्द से ही परमात्मा का आभास होता है और इसीकारण, सभी निर्गुण पंथियों ने 'नाद' की महिमा पर जोर दिया है। राधास्वामी सम्प्रदाय में 'राधास्वामी' शब्द ही परमात्मा और उसके विभिन्न रूपों का प्रतीक है। राधास्वामी का निवास 'अगमपुरुष' से भी ऊपर है। अतः, राधास्वामी कुल का मालिक तो है किन्तु वहां शब्द निहायत गुप्त है। इसी आदि शब्द से 'सत्य पुरुष तथा सोहम्' के शब्द प्रगट हुये। इसीसे त्रलोक्य सृष्टि के आधार परब्रह्म नाद की उत्पत्ति हुई। उसी से उत्पन्न होने वाला चौथा शब्द ब्रह्म शब्द है जिससे सूक्ष्म प्रत्याह और ईश्वरी माया प्रगट हुई। उसी आदि ब्रह्म नाद से क्रमशः माया, विराट पुरुष, जीव और मन के शब्द प्रगट हुये। इसप्रकार, राधास्वामी विचारधारा में आदिसत्ता अगम से भी पर है और नाद ही उसका प्रतीक है। आदिसत्ता और आदि शब्द 'राधास्वामी' है। सृष्टि की रचना में प्रवाह स्थूल से सूक्ष्म की ओर हुआ है। इसी धारा को उल्टकर जब साधक स्वामी तक पहुंच जाता है तब वह राधास्वामी को प्राप्त होता है।

---

1 कबीर धारा अगम की, सतगुरु दई लखाय।
उलटि ताहि सुमिरन करो, स्वामी संग लगाय॥

रामदास गौड़[1] ने राधास्वामी सम्प्रदाय की आध्यात्मिक दार्शनिक विचार धारा का जो निवचन प्रस्तुत किया है उससे राधास्वामी शब्द का एक और अर्थ स्पष्ट होता है। राधास्वामी सम्प्रदाय में राधास्वामी परमात्मा का प्रतीक है और शब्द राधास्वामी का प्रतीक। जीवात्मा के लिये राधास्वामी साहित्य में सुरत शब्द का प्रयोग हुआ है। सुरत (जीवात्मा) और राधास्वामी (परमात्मा) मूलरूप में अवश्य एक हैं किन्तु विस्तार अथवा महत्ता में नहीं। 'सुरत' प्रेमस्वरूप है किन्तु 'राधास्वामी' प्रेम का भंडार है। राधास्वामी (परमात्मा) 'सुरत' (जीवात्मा) को अपने से वियुक्त कर 'कालपुरुष' (यम) को सौंप देता है ताकि राधास्वामी दयाल की दयालुता का उसे पता चल जाय। प्रेमस्वरूप होने के कारण, सुरत (जीवात्मा) प्रेम तथा दयालुता के भंडार राधास्वामी, जिनका प्रतीक केवल शब्द है, की ओर उन्मुख है। 'सुरत' का शब्द की ओर प्रवृत्त करने में साधक का कल्याण है। रामदास गौड़ के अनुसार, आदि 'शब्द' कुल का कर्ता और स्वामी है और आदि सुरत या जीव का नाम राधा है। इन्हीं का नाम सुरत और शब्द है और जब इनकी धारा नीचे आई तब इसी आदि शब्द में और शब्द, तथा आदि सुरत से और 'सुरत' और शब्द से 'सुरत' तथा 'सुरत' से 'शब्द' बराबर प्रगट होते आये और अपनी अपनी जगह पर स्थिर हुए। इस दृष्टिकोण से राधास्वामी उस अवस्था का प्रतीक है जिसमें राधा (आदि सुरत) और स्वामी (परमात्मा आदि शब्द) एक में मिल जाते हैं।

राधास्वामी शब्द का कुछ भी प्रतीकात्मक अर्थ किया जाय यह निर्विवाद है कि राधास्वामी सम्प्रदाय की आध्यात्मिक दार्शनिक विचारधारा में एक ओर सुरत-शब्द योग का पुट है और दूसरी ओर विशिष्टाद्वैत का। वह योग जिसके द्वारा 'सुरत' एवं 'शब्द' का संयोग सिद्ध होता है और उक्त सीमाएं शब्द में फिर लीन हो जाती हैं नाद योग अथवा सुरत नाद योग कहलाता है और वह नाद सर्वप्रथम भगवन्नाम के रूप में मुंह से निकलता है और अन्त में स्वयं शब्दरूप ब्रह्म हो जाता है। इसे सहजयोग भी कहा जाता है क्योंकि इसकी सहायता से भी प्रत्यभिज्ञान का उदय होता है। राधास्वामियों की साधना में हठयोगियों की सी आध्यात्मिक आरोहण की प्रवृत्ति पाई जाती है। राधास्वामी साहित्य में शून्य और महाशून्य शब्द का प्रयोग आये हैं। बड़थ्वाल[2] के अनुसार इन शब्दों का प्रयोग उन स्थानों के लिये किया गया है जहां किसी का निवास स्थान नहीं है और जिनमें प्रत्येक साधक को अपनी यात्रा में अग्रसर होना पड़ता है। ये विचार, जैसी कि सम्भावना है नाथपंथी दार्शनिक धर्म और बौद्ध धर्म से आये हैं।

---

1 गौड़, रामदास हिन्दुत्व पृष्ठ 717

2 बड़थ्वाल वही पृष्ठ 229

राधास्वामी सम्प्रदाय का दार्शनिक आधार विशिष्टाद्वैती है[1]। इस दर्शन में, जगत के उपादान से परमात्मा (राधास्वामी) को अलग रक्खा गया है और 'राधास्वामी', 'सुरत' और सृष्टि की मूल आधार 'माया', तीनों को अनादि माना गया है। राधास्वामी की मौज से उत्पन्न तथा काल के वशीभूत होकर 'सुरत' (जीवात्मा) राधास्वामी से भिन्न होता है और 'राधास्वामी' की दयालुता का भान होते ही, 'सुरत' परमात्मा के सान्निध्य में पहुंच जाता है। शिवदयाल इस बात को मानते हैं कि जीवात्मा का अन्ततः परमात्मा में निवास है लेकिन वह यह नहीं मानते कि जीवात्मा पूर्ण ब्रह्म है। उनके अनुसार, जीवात्मा भी परमात्मा है अवश्य किन्तु पूर्ण नहीं। जीवात्मा अंशी है और परमात्मा अंश, वैसे ही जैसे बूंद और समुद्र। शिवदयाल के अनुसार, बूंद (आत्मा, सुरत), समुद्र (परमात्मा राधास्वामी) में समाकर एक नहीं हो जाती। सागर में जलराशि का वह परिमाण, जो भाप होकर कभी नहीं उड़ता, राधास्वामी है और जो बूंद प्रतिपल उसमें उड़ती तथा उसमें मिलती रहती हैं, वे 'सुरत' हैं। सुरत रूपी बूंदें देखने में तो अवश्य सागर की जलराशि (राधास्वामी) से मिल जाती हैं किन्तु वे रहती वहां ही हैं चाहे हम उन्हें देख पावें या न देख पावें। मुक्त सुरत (जीवात्मा) की अलग सत्ता बिलकुल नष्ट नहीं होती। शिवदयाल के अनुसार, सुरत भी अनादि है और इसीकारण मुक्त सुरत राधास्वामी के साथ सायुज्य मुक्ति भोगा करते हैं और अनन्तकाल तक उनकी शरण में विश्राम पाते हैं[2]। इसीप्रकार राधास्वामी विचार में माया भी अनादि है। राधास्वामी लोक से ऊपर अलख लोक तक माया का निवास नहीं है। माया के दो रूप हैं—एक शुद्ध अथवा सूक्ष्म और दूसरा, प्रबल अथवा स्थूल। माया के शुद्ध रूप को मालिक की शक्ति उसे इतना सूक्ष्म तथा शुद्ध बना देती है कि वह भी सत्य लोक में निवास करती है वहां प्रलय[3] की पहुंच नहीं है। सत्य लोक से क्रमशः नीचे आते-आते, निरंजन लोक में पहुंच कर, माया अत्यन्त स्थूल हो जाती है और नीचे के लोकों में उसकी स्थूलता बढ़ती जाती है। नीचे के लोक क्रमशः ऊपर के लोकों के घेरे में हैं क्योंकि बिना सूक्ष्म चेतन-तत्व के माया भी नहीं रह सकती[4]।

---

1 जीव और परमात्मा की अलग-अलग सत्ता का प्रतिपादन और मोक्ष को सायुज्य न मान करके सान्निध्य की अवस्था मानना विशिष्टाद्वैती दर्शन का मूलाधार है। विशिष्टाद्वैत के आधार हिंदुत्व में हैं किन्तु उसका उद्भव इस्लामी उत्प्रेरणा में है।

2 बड़थ्वाल, पीताम्बरदत्त वही पृष्ठ 123

3 राधास्वामी सम्प्रदाय के विचार में प्रलय स्थूल का सूक्ष्म में प्रविष्ट होना है।

4 वही पृष्ठ 140

राधास्वामियो का आध्यात्मिक उद्देश्य है परमपद की प्राप्ति । जहां केवल सत्यनाम है, वहा विचार का कोई काम नही । शिवदयाल के अनुसार जिन लोगो ने विचार किया उन्होने धोखा खाया और सागर को छोडकर बूद म समा गये[1] । यहा विचार और तर्क नही वरन् प्रपत्तिमयी आस्था की आवश्यकता है जिसकी लौ को निरतर प्रज्वलित रखने के लिये सत्यनाम के निरतर स्मरण की आवश्यकता है । यहा स्मरण जप नही वरन सुरत द्वारा राधास्वामी की ओर प्रवृत्त होने का निरतर ध्यान है जिसके लिए सुरत शब्द योग सर्वसुलभ सहज माग है । यही से राधास्वामियो म कीतन की महत्ता का अभ्युदय होता है । निगुण एकेश्वरवादी होने के कारण, राधास्वामी सम्प्रदाय अवतार विरोधी है और जसाकि सभी निगुण सम्प्रदायवादियो ने माना है, शिवदयाल भी मनुष्य को परमात्मा मानने के पक्ष म नही है । बडथ्वाल के अनुसार, राधास्वामी सम्प्रदाय मध्यममार्गी सम्प्रदाय है । यहा जगत का अस्तित्व केवल सापेक्षिक दृष्टि से है और यह सापेक्षिक अस्तित्व सब नष्ट हो जाता है, जब अन्तिम सत्य का आभास हो जाता है । सभी निगुण सम्प्रदायो की भाति, राधास्वामी सम्प्रदाय की आध्यात्मिक साधनिक विचारधारा म ससार से ऊपर उठने की भावना की अभिव्यक्ति मिलती है और सामाजिक एकता एव वग तथा जातिगत समानता का विचार पाया जाता है । कबीर की भाति शिवदयाल भी सन्यास तथा ससार त्याग के विरोधी है । जसाकि बडथ्वाल ने लिखा है 'शिवदयाल आधुनिक साधुओ की उनके परिवार, उद्योग धधादि त्याग करने तथा व्यथ घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करने के कारण भत्सना किया करते थे । शिवदयाल के अनुसार श्रम के साथ नीचता का कोई सम्बन्ध नही और उद्योग मे कोई दोष नही यदि उसे कोई करना जान जाय । उस श्रम म उल्लास भरा रहता है जो ईश्वर के लिए किया जाता है[2] । वयक्तिक तथा सामाजिक नतिक नियमो के प्रतिपादन तथा उनके आधार पर सघ सगठन की प्रवृत्ति राधास्वामी सम्प्रदाय म ही नही वरन् सभी निगुण सम्प्रदायो म पाई जाती है जिसके प्रेरणास्रोत सम्भवत बुद्धवाद तथा इस्लाम मे है ।

---

1 बडथ्वाल वही पष्ठ 154

2 वही पष्ठ 297

३

महाराष्ट्र धम

महाराष्ट्र धर्म के प्रणेता थे गुरु रामदास और उसका व्यावहारिक रूप देने वाले थे शिवाजी जिन्होंने, शास्त्रों की मान्यताओं के अनुसार, हिन्दवी स्वराज्य स्थापित करने का प्रयास किया। महाराष्ट्र में गुरु रामदास और शिवाजी का अभ्युदय उस सामाजिक सांस्कृतिक प्रक्रिया की परिणति है जो भारत में मुसलमानों के राजनैतिक उत्थान और प्रसार के साथ साथ चलती रही। भारत में ज्यों ज्यों मुसलमानों का राजनैतिक प्रसार हुआ, त्यों त्यों मुसलमानों का विरोध और हिन्दुत्व के पुनरुन्नयन का प्रयास करने हुए हिन्दुत्व के प्रतिष्ठापक पूर्व और दक्षिण की ओर सिमटते गए। पृथ्वीराज चौहान की हार के बाद, देवगिरि के यादवों और बगाल के सेन राजाओं ने इस्लाम के प्रसार को रोकने का प्रयास किया। उसके बाद विजयनगर के रायों (1340 1640) ने इस्लाम के प्रसार को रोकते हुए, हिन्दू राज्य के पुनरुद्धार का प्रयास किया। माता की ओर से देवगिरि के यादवों और पिता की ओर से विजयनगर के हिन्दू शासकों की परम्परायें शिवाजी में सन्निहित हो गई थी। ज्यों ज्यों इस्लामी कट्टरता बढ़ी त्यों त्यों हिन्दुत्व के भी आक्रामक संस्करण प्रादुर्भूत होते गए। पजाब में सिक्ख पंथ का अभ्युदय हुआ जिसमें इस्लामी कट्टरता के प्रति प्रतिक्रिया थी। इसी प्रतिक्रिया ने, आगे चलकर, पजाब में आर्य समाज को जन प्रियता दी। बगाल में भक्ति आन्दोलन शक्ति की उपासना में लीन हो गया, जिसकी पृष्ठभूमि ने आगे चलकर बंकिम में "वन्दे मातरम्" का रूप लिया तथा रामकृष्ण परमहंस और रवीन्द्र में मानवतावादी हिन्दू पुनरुन्नयन का। ज्यों ज्यों भारत में इस्लाम का प्रसार बढ़ा, मुसलमानों की राजनैतिक प्रभुता और कट्टरता बढ़ी, भारत में विशेषतया हिन्दुओं में गीता के सदेश सभवामि युगे युगे और 'अभ्युत्थान अधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यह' में विश्वास बढ़ा। तुलसीदास ने इस विश्वास को काव्य प्रबन्ध के रूप में व्यक्त किया। रामायण से यह आस्था बनी कि जब-जब धर्म का ह्रास होता है, धर्म की संस्थापना के लिए अवतार होता है और अवतार के द्वारा निगमागम सम्मत हिन्दू धर्म की पुनः स्थापना होती है। राम तथा कृष्ण की भक्ति से ओत प्रोत, इस काल की कविता युगावतार के माध्यम से उद्धार पाने की जन आशा का प्रतिबिम्ब है। निर्गुण भक्ति धारा की कविता में ईश्वर की कृपा से कष्ट से त्राण पाने का विश्वास है। इस्लाम से लोहा लेने वाले राजाओं में इस काल की हिन्दू जनता ने, दत्त और युगावतार का आभास देखा। विजयनगर राज्य के संस्थापक बुक्का प्रथम का वर्णन एक उस दिव्य पुरुष के रूप में किया गया है जिसने, ससार का म्लेच्छों से उद्धार करने के लिए, ईश्वर अवतरित हुआ है। विजयनगर राज्य का तत्कालीन जनकाव्य युगावतार की कल्पनाओं और अभिव्यक्तियों से ओतप्रोत है। गुरु रामदास ने भी युगावतार की कल्पना की और

उसे शिवाजी म मर्यादित किया[1] । अन्ततोगत्वा युगावतार के द्वारा धर्म (हिन्दू धर्म) की विजय होती है हिन्दू जनता इस विश्वास से चिपटी रही।

चाणक्य तथा मौर्यों के समय से चली आने वाली धर्म विजय की यह भावना जिससे हिन्दुत्व सराबोर है और जो हिन्दुत्व में निहित समाज तथा संस्कृति को अपने में समेटे हुए है इस्लाम के विरुद्ध उठने वाली प्रतिक्रिया के कारण, शिवाजी के माध्यम से, महाराष्ट्र में हिन्दू राष्ट्रवादिता के रूप में प्रस्फुटित हुई। जिस ऐतिहासिक प्रक्रिया ने सिक्ख सम्प्रदाय को जन्म दिया उसी ने महाराष्ट्र धर्म को भी जन्म दिया। सिक्ख धर्म के प्रणेता थे गुरु नानक और महाराष्ट्र धर्म के प्रणेता थे गुरु रामदास। सिक्ख धर्म के क्रियात्मक रूप थे गुरु गोविन्दसिंह और महाराष्ट्रधर्म के छत्रपति शिवाजी। दोनों हिन्दुत्व की प्रेरक 'चरवेति' की धारणा से प्रेरित थे। सिक्ख सम्प्रदाय का आधार था हिन्दुत्व में इस्लाम का समन्वय और लोहे से लोहा काटने तथा विष से विष दूर करने का प्रयत्न। किन्तु महाराष्ट्र धर्म हिन्दुत्व के सनातन पराक्रमी और दिग्विजयी रूप का एक विकास था। शिवाजी इस्लाम की कट्टरता के विरुद्ध उठने वाली किसी प्रतिक्रियात्मक प्रक्रिया की उत्पत्ति ही नहीं हैं। शिवाजी का उद्देश्य था 'धर्म राज्य तथा हिन्दवी स्वराज्य की स्थापना—वह धर्म तथा स्वराज्य जो वेदों, स्मृतियों और नीति शास्त्रों में प्रतिपादित है, जिससे ब्राह्मण, वेदों तथा गऊ की रक्षा हो जो पराक्रम और दिग्विजय की भावना पर आधारित है, जिसके लिए चन्द्रगुप्त तथा स्कन्दगुप्त ने प्रयत्न किया तथा जो सनातन हिन्दुत्व की आत्मा है। शिवाजी उस परम्परागत सनातन धर्म के पुनर्संस्थापक थे जो बाह्य प्रभावों में पराजित नहीं होता है वरन् उन्हें आत्मसात करता है या उनके समक्ष अपने 'बढ़े चलो बढ़े चलो' के रूप को लेकर समयानुकूल पुनः अवतरित होता है।

मुगल कालीन भारत की परिस्थितियों में शिवाजी हिन्दुत्व के सनातन विकास का एक माध्यम थे। इस्लाम के प्रवेश के समय से हिन्दुत्व के प्रत्यक्ष विकास की जो प्रक्रियायें प्रारम्भ हुई थी वे नानक, रामानुज और तुलसी में होती हुई गुरु रामदास में केन्द्रित होकर शिवाजी के कार्यों में प्रस्फुटित हुई। शिवाजी ने जो लड़ाइयाँ लड़ीं उनका उद्देश्य था धर्म विजय। वे इस्लाम और मुसलमानों के वहीं तक विरोधी थे जहाँ तक वे धर्म विजय और धर्म राज्य की स्थापना में बाधक थे। शिवाजी की धर्म विजय वही धर्म विजय है जिसका वर्णन नीतिशास्त्रों में है। शिवाजी मानवतावादी तथा हिन्दूराष्ट्रवादी थे। उनकी भाषा मनुस्मृति और नीतिशास्त्र की भाषा थी। वे हिन्दूकरण के हामी थे पर साम्प्रदायिक नहीं थे जाति तथा वर्णाश्रम धर्मों के प्रतिष्ठापापक थे समदर्शी की भावना से प्रेरित थे तथा सामाजिक चलिष्णुता (Social Mobility) के हामी थे। शिवाजी ने गोवध का विरोध किया, राजव्यवहारकोश—

---

1 सरकार, विनयकुमार वही

जिसमें प्रशासन में काम आने वाले फारसी के शब्दों के संस्कृत पर्याय हैं—का संग्रह करवाया, पुराने किलों के संस्कृत नाम रक्खे[1], मराठी से फारसी के प्रभाव को दूर करने का प्रयत्न किया, प्राचीन हिन्दू-परम्पराओं को प्रोत्साहित किया और वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्तों के आधार पर सामाजिक चलिष्णुता को प्रोत्साहित किया। महात्मा बुद्ध ने जिस परम्परा को चलाया था वह शिवाजी के समय में भी चलती रही। सेना के माध्यम से अनेक निम्नस्तरीय जातियों को उच्चतर सामाजिक स्तर प्राप्त हो गया। राज्याभिषेक के समय स्वयं शिवाजी को क्षत्रिय घोषित किया गया यद्यपि वे क्षत्रिय नहीं थे।

जिस सामाजिक पृष्ठभूमि में शिवाजी जन्मे थे उसके प्रणेता थे गुरु रामदास और महाराष्ट्र के अन्य संत कवि जिन्होंने जनभाषा में धर्मोत्थान के लिए जन आवाहन किया। उन्होंने पहले जनता का मन इस विश्वास से भर लिया कि तत्कालीन समाज धर्म से दूर था, उसे धर्मोन्मुख बनाने के लिए युगावतार होने वाला था और बाद में शिवाजी में तत्कालीन युगावतार का प्रतिरोपण किया। इस दिशा में गुरु रामदास अग्रणी हैं। उन्हें शिवाजी का प्रेरक माना जाता है। गुरु रामदास ने, एक ओर, दास बोध (1608 1681) की रचना की तो, दूसरी ओर, अपनी रचनाओं में आनन्दवन भुवन की कल्पना के द्वारा एक भावी आदर्श-समाज की धारणा रक्खी। आनन्दवन भुवन रामदास का एक स्वप्निल संसार है, जहाँ जनता म्लेच्छ दैत्य से पीड़ित है। इस दैत्य का संहार करने के लिए युगपुरुष का अवतार होता है। म्लेच्छ दैत्य के नष्ट हो जाने पर, आनन्दवन भुवन में पापियों और नास्तिकों का भी नाश हो जाता है और स्नान संध्या जप-तप स्वधर्म प्रेम और आनन्द की गौरवमयी प्रधानता स्थापित होती है। आनन्दवन भुवन हिन्दुत्व के पुनर्निर्माण के आवाहन में रचा गया एक ऐसा स्वप्न है जिसके द्वारा शिवाजी के कृत्यों के लिए एक सामाजिक मानसिक पृष्ठभूमि तैयार की गई थी। आनन्दवन भुवन भविष्य पुराण का तत्कालीन संस्करण है और शिवाजी को युगावतार मनवाने का एक प्रयास।

गुरु रामदास ने बार-बार इस बात पर जोर दिया है कि म्लेच्छ राज्य की प्रबलता के कारण द्विजकुल को पीड़ा हो रही है[2]। अतः, उसका अन्त होना चाहिए। अधर्म के प्रतीक म्लेच्छ राज्य के विनाश और धर्म के उत्थान पर उन्होंने जोर दिया है। उनके अनुसार, शिवाजी अधर्म का विनाश तथा धर्म का उत्थान करने के लिए उत्पन्न एक अवतार हैं[3]। गुरु रामदास और महाराष्ट्र के अन्य सन्तों ने तत्कालीन

---

1 सरकार, बिनयकुमार वही पृष्ठ 508–509

2 म्लेच्छ राज्य हू सो प्रबल, पीड़ा पावनी द्विजकुल।

3 यह गुरु रामदास का ही प्रभाव था कि शिवाजी को बार बार अवतार कहा गया है। कवीन्द्र परमानन्द ने अपने 'शिव भारत' नामक महाकाव्य में शिवजी

समाज को कलियुग कहा है और औरंगजेब के राज्य को पाप तथा अधर्म का प्रतीक माना है। सम्भवत, यही कारण है कि अपनी काव्याभिव्यक्तियों में गुरु रामदास ने औरंगजेब को 'औरंग्यापापी' कहकर सम्बोधित किया है। यहां पर यह ध्यान देने योग्य है कि उनका विद्वेष औरंगजेब, उसके राज्य और उसके द्वारा चलाए हुए अरबी फारसीकृत इस्लाम के प्रति है न कि इस्लाम के आधारभूत सिद्धान्तों के प्रति। गोवध, वर्ण व्यवस्था तथा जाति व्यवस्था के परित्याग को उन्होंने कलियुगी प्रभाव माना और उनके पुनःसंस्थापन की आवश्यकता की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। गुरु रामदास ने एक ओर, हिन्दू राज्य में शत्रुओं को नष्ट करने का आवाह्न किया तो दूसरी ओर, हिन्दू संस्कृति की दिग्विजय पर जोर दिया। किन्तु, तत्कालीन परिस्थितियों में, इन दो उद्देश्यों की पूर्ति का अर्थ था हिन्दू राज्य का प्रसार क्योंकि उस काल की विचारधारा में, धर्म, संस्कृति और राज्य एक ही में समाए हुए थे। आनन्द-वन भुवन और सुरेशावतार की कथा इसी उद्देश्य की पूर्ति की काव्यात्मक तथा प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति थी। शिवाजी में युगावतार की धारणा के प्रतिरोपण के पीछे इसी उद्देश्य की पूर्ति का प्रयास है। गुरु रामदास ने जिस पुनर्जागरण का शंख फूंका उसका एक रूप है आनन्द वन भुवन में और दूसरा गुरु रामदास के दूसरे ग्रंथ 'दास बोध' में जिसमें भक्ति, राजयोग, तमोगुण, दुख मृत्यु, ब्रह्म, मोक्ष, आत्मा, अनात्मा और युगधर्म का वर्णन है। दास बोध वस्तुतः ज्ञान भक्ति कर्मयोग का उपदेश है। यदि आनन्द वन भुवन भविष्यत पुराण का एक संस्करण है तो दास बोध गीता का एक मराठी संस्करण। ऐसा कहा जाता है कि दास बोध उस उग्र हिन्दू राष्ट्रवादिता का दर्शन है जिसका उपदेश गुरु रामदास ने दिया है और शिवाजी के कृत्य जिसके व्यावहारिक रूप हैं। गुरु रामदास और शिवाजी ने हिन्दुत्व को पुनः शास्त्रावत पुनःसंगठन की ओर मोड़ा।

को विष्णुपुत्र कहकर उनका देव, ब्राह्मण तथा गोरक्षक और यवनों का अन्त करने वाले (देवद्विजगवाममोप्ता, तुरुष्क यवना तक) के रूप में उनका वर्णन किया है। शिवाजी को क्षत्रिय वर्ण में लाने वाले और उनका राज्याभिषेक कराने वाले गंगा भट्ट के अनुसार, शिवाजी यवनाधिपति औरंगजेब से त्रस्त विप्रों का उद्धार करने वाले, एक नए अवतार हैं (औरंगजेब यवनाधिपतिभीता विप्रतारण्य म परिगृहीत नवावतार)। उन्होंने शिवाजी को विष्णु का अवतार कहा और यह प्रतिपादित किया कि जिस प्रकार विष्णु ने कूर्मावतार में वेदों की रक्षा की थी, उसी प्रकार शिवाजी के रूप में विष्णु ने ब्राह्मणों और वेदों की रक्षा की। यह निश्चित है कि ये मत शिवाजी की छत्रछाया में पलने वाले विद्वानों के हैं। पर, साथ ही साथ, यह भी निश्चित है कि इनके द्वारा रचित साहित्य तत्कालीन समाज का प्रतिबिम्ब है—विनयकुमार सरकार के आधार पर।

४

अठारहवीं शताब्दी के बाद

अठारहवीं शताब्दी में, हिन्दुत्व का उग्र राष्ट्रवादी विकास हो रहा था, मुस्लिम साम्राज्य के पैर लड़खड़ा रहे थे और भारत में यारोपीय राजनैतिक सत्ताओं का धीरे धीरे प्रसार हो रहा था। एक ओर हिन्दुत्व में इस्लाम के प्रति प्रतिक्रियावादी विकास हो रहे थे और हिन्दुत्व में इस्लाम के कुछ संस्करण उत्पन्न हो रहे थे तो, दूसरी ओर, 'शुद्ध हिन्दुत्व' के पुनसस्थापन पर जोर दिया जा रहा था। उसी प्रकार, इस्लाम में, एक ओर, अरबीपन की विचारधारा चल रही थी और, दूसरी ओर, हिन्दुत्व के समीप आकर उसमें मिलने की विचारधारा। भारत की सामाजिक सरचना के उच्च स्तरों पर, इस्लाम और हिन्दुत्व लम्बवत (Vertical) विभाजित थे किन्तु निम्न स्तरों पर कहीं इस्लाम में हिन्दुत्व के संस्करण विद्यमान थे तो कहीं हिन्दुत्व में इस्लाम के संस्करण। तत्कालीन परिस्थितियों में, धर्म समाज संस्कृति और राज्य एक में मिले हुए थे और इसी कारण, हिन्दुत्व और इस्लाम का सम्पर्क मुख्यतया राजनैतिक सम्पर्क था। तत्कालीन राजनैतिक परम्परा सामन्तवादी थी जिसमें हिन्दुत्व और इस्लाम, राजनैतिक प्रभुता के लिए लड़ने वाले, सामन्तों के लिए अलग अलग सामाजिक टटिटयां थी जिनकी ओट से हिन्दू मुसलमान सामन्त एक दूसरे पर प्रहार कर रहे थे। यह अवश्य है कि कुछ पूर्वनिर्धारित नियमों पर आधारित होने के कारण इस्लाम में कट्टरवादिता अपेक्षाकृत अधिक थी। फ्रांसीसी दार्शनिक रेनान का कहना है कि इस्लाम में सुधार का स्थान नहीं है क्योंकि सुधरा हुआ इस्लाम वस्तुतः इस्लाम नहीं रह जाता है। वह कुछ और हो जाता है। अठारहवीं शताब्दी में हिन्दुत्व में पायी जाने वाली कट्टरवादिता इस्लाम की इसी कट्टरवादी विशेषता के प्रति प्रतिक्रिया है।

अठारहवीं शताब्दी में भारत और उसके बाहर योरोपीय शक्तियों का अभ्युदय हुआ। अठारहवीं शताब्दी के योरोप का राजनैतिक प्रसार, वहाँ विकसित होने वाली पूँजीवादी तथा औद्योगिक व्यवस्था पर आधारित है। विज्ञान के विकास ने योरोप में धर्मनिरपेक्षिता को जन्म दिया और पूँजीवादी व्यवस्था ने व्यक्तिवाद को। पूर्वी द्वीप समूह से लेकर योरोप तक मुसलमानों का प्रभुत्व छाया हुआ था। योरोप और अन्य देशों के बीच मुसलमान ही सामुद्रिक व्यापार के मुख्य माध्यम थे। योरोप के औद्योगिक अभ्युदय के साथ साथ, योरोप की राज्य शक्तियों और मुस्लिम राज्यों का संघर्ष बढ़ा। पूँजीवादी व्यवस्था का आधार है बाजार। योरोप निवासियों ने, मुसलमानों को हटाकर संसार के बाजारों पर अधिकार करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। भारत में पुर्तगाल का सेनानायक अल्बुकर्क मुसलमानों के हाथ से मसालों का व्यापार छीनने के लिए ही ज्यादा उत्सुक था और इसीकारण मुसलमान ही उसके कोप के शिकार

हुए[1]। अंग्रेजो ने भी भारत में मुसलमानों के हाथ से राजनैतिक प्रभुत्व छीनने के लिए हिन्दुओ से साजिश की। उधर मध्य एशिया में टर्की साम्राज्य का योरोप के राज्यों से संघर्ष चलना शुरू हुआ। उत्तरी अफरीका, भारत और पूर्वी द्वीप समूह में योरोपीय शक्तियो ने धीरे धीरे मुसलमानो के राजनैतिक प्रभुत्व को समाप्त कर दिया। प्रथम महायुद्ध के बाद टर्की का राजनैतिक अस्तित्व ही समाप्त हो गया और मध्य एशिया का शायद ही कोई देश हो जो योरोप की किसी न किसी राजनैतिक शक्ति के प्रभाव में न आया हो। उधर, विज्ञान के बढ़ते हुए प्रभाव ने मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित अरबीकृत इस्लाम में परिवर्तन की माग की जिसके प्रति इस्लाम में परम्परावादी प्रतिक्रिया हुई। जब टर्की के मुस्तफा कमालपाशा ने खिलाफत समाप्त कर दी और योरोपीय जीवन-यापन के तरीको को अपनाने पर जोर दिया तो यह प्रतिक्रिया और भी बढ़ी। भारत में लेकर टर्की तक का मुस्लिम प्रदेश, अठारहवीं शती ही से लेकर आज तक इस प्रतिक्रिया का शिकार रहा है। एक ओर, अरबीकृत इस्लाम को ज्यो का त्यो बनाए रखने की माग रही है और दूसरी ओर, समयानुसार उसमे परिवर्तन करने की माग। इसी परिस्थिति में, सन सत्रह सौ इसवी के लगभग अरब में (नज्द में) वहाबी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। यह आन्दोलन अरबीकृत इस्लाम के पुनर्संस्थापन का आन्दोलन था। यह आन्दोलन वस्तुत पुनरुत्थानवादी था क्योंकि इस आन्दोलन के प्रणेताओ ने इस्लाम की अरबी परम्पराओ के पुनरुत्थान पर जोर दिया, सुन्नती परम्परा में कुरान का अर्थ लगाने का प्रयास किया, संगीत का बहिष्कार किया रेशम साना, चांदी और हीरे के प्रयोग पर रोक लगायी और सूद लेने का निषेध किया। वहाबी इतने उग्र थे कि उन्होंने मुहम्मद साहब की कब्र तोड़ डाली क्योंकि लोगो में कब्र की पूजा की भावना आ गयी थी, काबे के जरी कालीन को लूट लिया और हज के लिए जाने वाले यात्रियो को रोकने के लिए उन्हे भी लूट लिया। जब नज्द के शासक, सऊद खानदान के सरदार मोहम्मद ने वहाबी पंथ में दीक्षा ली तो वहाबी आन्दोलन एक राजनैतिक आन्दोलन बन गया। सरदार मोहम्मद को खलीफा बनाकर सारे मुस्लिम संसार पर पुन खिलाफत के पुनरुत्थान का प्रयास किया गया। उस समय, खिलाफत का ओहदा टर्की के सुल्तान के पास था। अत उसने वहाबियो का विरोध किया जिसका परिणाम यह हुआ कि वहाबी आन्दोलन और भी उग्र अरबी वादी हो गया। इसी उग्रता का परिणामस्वरूप सारे मुस्लिम संसार में वहाबी आन्दोलन की लहरें प्रवाहित हुयी। वहाबी आन्दोलन के कारण, इस्लाम में निहित आत्मविच्छेद और भी प्रसर हुआ।

भारत में मुसलमानो का राजनैतिक पतन, अंग्रेजी राज्य का प्रसार और वहाबी आन्दोलन का प्रचार एक साथ हुआ। मक्का संसार के मुसलमानो का तीर्थ

---

1 ओ मेले इंडिया एण्ड दि वेस्ट पृष्ठ ४५

खिलाफत-आन्दोलन मे जितना प्रभावित थे उतना भारतीय राष्ट्रवादिता से नही। सर सयद के समकालीन थे स्वामी दयानन्द सरस्वती जिन्होने आर्य-समाज की स्थापना करके वदिक धर्म को सवश्रेष्ठ बनाया और हिंदुत्व मे उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न किया। जिस प्रकार वहाबी-आन्दोलन अरबीवाद की ओर उन्मुख था उसी प्रकार आर्य-समाज वेदो की ओर उन्मुख था। वहाबी आन्दोलन म अरबी कट्टरता थी और आर्य समाज आन्दोलन म विशुद्ध वदिक हिंदुत्व के पुनरुत्थान की कट्टरता थी। जिस प्रकार अमीर अली जस लेखक पश्चिमी विचारधारा के सन्दभ म, इस्लाम को सुयुक्तिपूर्ण और सवश्रेष्ठ बता रहे थे उसी प्रकार, आर्य समाज के प्रणेता पश्चिम की विचारधारा के सन्दभ मे वदिक हिंदुत्व (निगम) को सवश्रेष्ठ बता कर उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न कर रह थे। पजाब म वहाबी-आन्दोलन और आर्य समाज को सर्वाधिक जनप्रियता मिली क्योकि वहा सघर्ष भी सबस अधिक था। यही वह काल है जब भारत का पुन आविष्कार (Rediscovery) हुआ। विलियम जोन्स और मक्समूलर न जिस भारत का ढूढ निकाला था और जिसके वे गुण गा रहे थे, वह वदिक तथा उत्तर वदिक काल का हिंदू भारत था। उसम मुसलमानो का नामोनिशान तक न था। दूसरी ओर भारत म पूजीवाद का प्रचार हुआ। धीरे धीरे सामन्तवादी व्यवस्था ढहने लगी। मुस्लिम सामन्त-वग का आर्थिक ह्रास होने लगा जिसम वह विक्षिप्त हुआ। भारत म पूजीवादी प्रभावो के कारण, जिस आधुनिक राष्ट्रीयता और स्वदेशी की माग का श्रीगणेश हुआ उसके प्रणेता हिंदू थे क्योकि व्यापार म तथा तत्कालीन अंग्रेजी शिक्षा मे आगे होने के कारण, उनका अधिकतर लाभ भी हिन्दुओ को ही मिलने वाला था। अत मुसलमानो म मानसिक-असुरक्षा की भावना का उदय हुआ और उन्ह भारत म इस्लाम खतरे म दिखा। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर भारत म राष्ट्रीयता का विकास हुआ तो दूसरी ओर इस्लामी राष्ट्रवादिता का। दोनो के विकास के पीछे नवोदित पूजीवादी सामन्तवग था जो धर्म के नाम पर विभाजित था। हिंदू पूजीवादी वग न स्वराज्य तथा राष्ट्रवादिता का नारा लगाया तो मुस्लिम सामन्तवादी वग ने इस्लामी राष्ट्रवादिता तथा धर्मसापेक्ष राष्ट्र का। यही प्रक्रिया आगे चल कर, एक ओर हिंदी हिंदू और हिंदुस्तान के नारे म प्रस्फुटित हुई तो, दूसरी ओर उर्दू मुस्लिम और पाकिस्तान क नारे म।

हिंदुत्व और इस्लाम का अलग-अलग समानान्तर विकास सारे मुस्लिम काल म चलता रहा। किंतु भारत म अंग्रेजी सत्ता के प्रवेश म इस विकास को और भी प्रोत्साहन मिला। अठारह सौ सत्तावन के आस पास हो वहाबी आन्दोलन की प्रखरता फैली और उस आन्दोलन के पीछे राष्ट्रीय भावना कम था। हिन्दुओ के लिए अठारह सौ सत्तावन की क्रान्ति हिन्दुत्व के पुनर्स्थापन का माध्यम थी और मुसलमानो के लिए इस्लाम की लुप्त गरिमा स्थापित करने का माध्यम। इसके बाद म ही एक ओर सर सयद अहमद खा की परम्परा आई तो दूसरी ओर उसी म मिलती-जुलती

मौलाना शिबली, हाली और इकबाल की परम्परा। सर सयद के लिए दारुल इस्लाम अंग्रेजी राज्य था न कि स्वतन्त्र भारत। शिबली सर सयद के विरोधी थे। हाली भारत में इस्लाम के हिंदूकरण से उतना ही विक्षिप्त थे जितना कि वहाबी आन्दोलन के प्रणेता थे। हाली के अनुसार, जिस इस्लाम का बेड़ा सातों समुद्र पार कर गया, वह गंगा के दहाने में आकर डूब गया और जिस मजहब का रूप सारे संसार में एक है, वह भारत में आकर बदल गया[1]। इकबाल का अभ्युदय भारतीय राष्ट्रवादिता में हुआ। किन्तु बाद में उन्होंने हाली और शिबली की परम्परा पकड़ी और भारतीय राष्ट्रवादिता के कवि होने के स्थान पर, इस्लामी राष्ट्रवादिता के प्रबल कवि-समर्थक हो गये। हाली की तरह उन्होंने भी इस्लाम के भारतीयकरण पर क्षोभ प्रकट किया[2] और उग्र अरबी वादी इस्लाम के कवि हो गये। जिस इस्लाम को सर सयद और अमीरअली ने बौद्धिकता का जामा पहनाने का प्रयत्न किया था उसे इकबाल ने सुयुक्तिपूर्ण पर उग्र तर्कों से भरना प्रारम्भ किया। अपनी कवित्वमय अभिव्यक्तियों में इकबाल ने इस्लाम को वह शाहीं (बाज) माना जिसका काम उड़ाना (परवाज) है जिसके सामने अनेक जहाँ (संसार) हैं, इश्क की कई परीक्षायें (इम्तिहान) हैं और जिसके सामने एक आसमान नहीं बल्कि चन्द आसमाँ है[3]। इकबाल के मत में इस्लाम एक प्रचण्ड लहर है, जिसको सम्बोधित करके वे कहते हैं कि 'तू समुद्र में आकर भी तड़प कर बदल जा और सम्हल जा। तेरी किस्मत में किनारा नहीं है तू जिस तरफ चाहे निकल जा'। इकबाल ने इस्लाम को इहलौकिकता की ओर मोड़ा और उस पर उग्रता और कमठता के आवरण से लपेट दिया। एक ओर, उन्होंने पश्चिमी सभ्यता का विरोध किया था, दूसरी ओर सूफीवाद को अकर्मण्य बताया। इस्लाम को उन्होंने शाकरों में भर दिया क्योंकि उनके अनुसार खतर पसन्द तबीअत को सौदागर नहीं, वो गुलिस्ताँ कि जहाँ घात में न हो सय्याद। इकबाल के लिए तलवार तौहीद का प्रतीक है। उनके लिए

---

1 उदाहरण के लिए देखिये हाली की ये पंक्तियाँ
वो दीने हेजाजी का बेबाक बेड़ा, निशाँ जिसका अक्साये आलम में पहुँचा
मजाहिम हुआ कोई खतरा न जिसका, न अम्माँ में ठिठका, न कुलजम में झिझका।
किये पै सिपर जिसने सातों समन्दर, वो डूबा दहाने में गंगा के आकर।
वो दीं जिससे तौहीद फैला जहाँ में, हुआ जलवागर हक जमीं-आसमाँ में
रहा शिर्क बाकी न वहमो-गुमाँ में, वो बदला गया आके हिन्दोस्ताँ में—मुसद्दस
2 ये मुसल्माँ हैं, जिन्हें देख के शरमायें यहूद।
बुते हिन्दी की मुहब्बत में बिरहमन भी हुये। (जवाब शिक्वा)
3 सितारों के आगे जहाँ और भी हैं, अभी इश्क के इम्तिहाँ और भी हैं।
कनाअत न कर आलमे रंगो बू पर, चमन और भी, आशियाँ और भी हैं।
तू शाहीं है, परवाज है काम तेरा, तेरे सामने आसमाँ और भी हैं।

खिलाफत आन्दोलन से जितना प्रभावित थे उतना भारतीय राष्ट्रवादिता से नहीं। सर सैयद के समकालीन थे स्वामी दयानन्द सरस्वती जिन्होंने आर्य समाज की स्थापना करके वैदिक धर्म को सर्वश्रेष्ठ बताया और हिंदुत्व में उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न किया। जिस प्रकार वहाबी-आन्दोलन अरबीवाद की ओर उन्मुख था उसी प्रकार आर्य समाज वेदों की ओर उन्मुख था। वहाबी आन्दोलन में अरबी कट्टरता थी और आर्य समाज आन्दोलन में विशुद्ध वैदिक हिंदुत्व के पुनरुत्थान की कट्टरता थी। जिस प्रकार अमीर अली जैसे लेखक पश्चिमी विचारधारा के सन्दर्भ में, इस्लाम को सुबुद्धिपूर्ण और सर्वश्रेष्ठ बता रहे थे उसी प्रकार, आर्य समाज के प्रणेता पश्चिम की विचारधारा के सन्दर्भ में वैदिक हिंदुत्व (निगम) को सर्वश्रेष्ठ बता कर उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न कर रहे थे। पंजाब में वहाबी-आन्दोलन और आर्य समाज को सर्वाधिक जनप्रियता मिली, क्योंकि वहां संघर्ष भी सबसे अधिक था। यही वह काल है जब भारत का पुनः आविष्कार (Rediscovery) हुआ। विलियम जोन्स और मैक्समूलर ने जिस भारत को ढूंढ निकाला था और जिसके वे गुण गा रहे थे, वह वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल का हिंदू भारत था। उसमें मुसलमानों का नामोनिशान तक न था। दूसरी ओर, भारत में पूंजीवाद का प्रचार हुआ। धीरे धीरे सामन्तवादी व्यवस्था ढहने लगी। मुस्लिम सामन्त-वर्ग का आर्थिक ह्रास होने लगा जिससे वह विक्षिप्त हुआ। भारत में पूंजीवादी प्रभावों के कारण, जिस आधुनिक राष्ट्रीयता और स्वदेशी की मांग का श्रीगणेश हुआ, उसके प्रणेता हिंदू थे क्योंकि व्यापार में तथा तत्कालीन अंग्रेजी शिक्षा में आगे होने के कारण, उसका अधिकतर लाभ भी हिंदुओं को ही मिलने वाला था। अतः मुसलमानों में मानसिक असुरक्षा की भावना का उदय हुआ और उन्हें भारत में इस्लाम खतरे में दिखा। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर, भारत में राष्ट्रीयता का विकास हुआ तो, दूसरी ओर इस्लामी राष्ट्रवादिता का। दोनों के विकास के पीछे नवोदित पूंजीवादी सामन्तवर्ग था जो धर्म के नाम पर विभाजित था। हिंदू पूंजीवादी वर्ग ने स्वराज्य तथा राष्ट्रवादिता का नारा लगाया तो मुस्लिम सामन्तवादी वर्ग ने इस्लामी राष्ट्रवादिता तथा धर्मसापेक्ष राष्ट्र का। यही प्रक्रिया, आगे चल कर एक ओर हिंदी हिंदू और हिन्दुस्तान के नारे में प्रस्फुटित हुई तो दूसरी ओर, उर्दू मुस्लिम और पाकिस्तान के नारे में।

हिन्दुत्व और इस्लाम का अलग अलग समानान्तर विकास सारे मुस्लिम काल में चलता रहा। किंतु भारत में अंग्रेजी सत्ता के प्रवेश से इस विकास को और भी प्रोत्साहन मिला। अठारह सौ सत्तावन के आस पास ही वहाबी आन्दोलन की प्रखरता फैली और उस आन्दोलन के पीछे राष्ट्रीय भावना कम थी। हिन्दुओं के लिए अठारह सौ सत्तावन की क्रान्ति हिंदुत्व के पुनर्स्थापन का माध्यम थी और मुसलमानों के लिए इस्लाम की लुप्त गरिमा स्थापित करने का माध्यम। इसके बाद से ही, एक ओर सर सैयद अहमद खां की परम्परा आई तो दूसरी ओर, उसी से मिलती जुलती

इस्लामी समाज की स्थापना करना। इकबाल पाकिस्तान बनाने की भावना के मुख्य प्रणेता बने[1]।

जैसा कि अकबर इलाहाबादी, जाग मल्लिहाबादी, जमील मजहरी, सागर निजामी और सीमाब अकबराबादी की कविताओं में स्पष्ट है इस काल में, इकबाल के विरुद्ध, इस्लाम को भारतीयता के रंग में रंगने का भी प्रयत्न किया गया। इकबाल मुसलमानों का ध्यान मक्के की ओर ले गये तो जोश ने भारत को ही मुसलमानों का आराध्य बताया और इस बात पर जोर दिया कि अगर धर्म राष्ट्रीयता के मार्ग में बाधक है तो धर्म को छोड़ दो[2]। उन्होंने इस्लाम को मानवतावाद की ओर ले जाने का प्रयत्न किया। अन्य कवियों ने भारतीय राष्ट्रवाद से प्रेरणा ली और इस्लाम को राष्ट्रवाद की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया[3]। बंगाल के कवि श्री नजरुल इस्लाम ने भी इस्लाम को राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया। वास्तव में, इस्लाम के नवोत्थान में इस्लाम के दो रूप विकसित हुये—एक इस्लामी राष्ट्रवादिता का, और दूसरा भारतीय राष्ट्रवादिता का। भारतीय राष्ट्रवादिता का स्वर कुछ कमजोर ही रहा क्योंकि इस्लाम की आत्मा वस्तुतः मजहबी राष्ट्रवादिता की आत्मा थी। इसका परिणाम यह हुआ कि इस्लाम मजहबी राष्ट्रवादिता की ओर उन्मुख हुआ और उसमें एक प्रकार का द्वन्द्व भी आ गया। ठीक यही दशा हिन्दुत्व की हुई। इस्लाम की भाँति हिन्दुत्व में भी राष्ट्र और धर्म स्पष्ट अलग न थे। यदि ऐसा न होता तो शिवाजी को महाराष्ट्र धर्म के लिये मजहब का आश्रय न लेना पड़ता। राष्ट्रवादिता का असली रूप क्या होगा इसका निर्णय हिन्दुत्व भी न कर सका। राष्ट्रवादी मुसलमान या तो कोरा राष्ट्रवादी हुआ या उसने अपने राष्ट्रवाद

1 गिब, एच० ए० आर० मोहम्मडनिज्म पृष्ठ 161

2 तेरे मुँह कुफ्रो ईमा को मिटा डालूंगा मैं
हड्डियां इस कुफ्रो ईमा की चबा डालूंगा मैं।
डाल दूंगा तोड़ नो अज्मेर और प्रयाग में,
झोंक दूंगा कुफ्रो ईमा को दहकती आग में।

3 उदाहरण के लिए दखिये जमील मजहरी का यह गीत
जिरादराने मोजवा बढ़े चलो, बढ़े चलो।
झुके न हिन्द का निशां, बढ़े चलो, बढ़े चलो।
जो अक्ल राह रोक दे तो दामन उसका छोड़ दो,
जो मजहब आड़े आय दे तो उसकी बन्द तोड़ दो।
जवां हो दर से जग लो सलामे मौजे जग लो,
नजर फिरा लो दूर से, बुला रही है दूर से,
हिमालया की चोटियां, बढ़े चलो, बढ़े चलो।

कबूतर पर झपटने म जो मजा है वह शायद कबूतर के खून म नही है और झपटना, पलटना और पलट कर झपटना लहू गम रखने का एक बहाना है। इकबाल की तमन्ना इस्लाम म एक आतंकित, आक्रामक भावना को जगाना था और सम्भवत इसीकारण उन्होंने इस्लाम को सम्बोधित करके लिखा है, कि 'खुदा तुझे किसी तूफां से आशना कर दे' क्योंकि 'तेरे बहर की मौजो म इज्तराब नही ।

इकबाल ने इस्लाम के प्रति अंधी भक्ति की माग की। उनका आवाहन था 'जो अक्ल का गुलाम हो वो दिल न कर कबूल । प्रजातन्त्र के वे विरोधी थे[1]। इसी कारण विद्वानो का मत है कि इकबाल ने जमन दाशनिक नीत्से के तानाशाहवाद (फासिज्म) का प्रचार किया है। किन्तु, जब हम उनके मत का उनके कथ्य म बहते हुये खुदी को बुलन्द करने के विचारो के सन्दभ मे देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि व इस्लाम मे राष्ट और धम को एकाकार करन के पक्ष थे और यह चाहते थे कि इस्लामी समाज की सामूहिक खुदी का विकास हो क्योंकि, उनके अनुसार, 'मुसलमान सबसे विरत होकर ईश्वर म अनुरक्त रहता है और एलान करता है कि मनुष्य जाति म हमसे आगे जौर कोई नही है। वे भारत के इस्लामी समाज का ही नही वरन ससारव्यापी इस्लामी समाज को एकाकार देखना चाहते है। उन्होंने लिखा है हमारा अस्तित्व किसी एक स्थान के घेरे म नही है। हमारी शराब की तेजी किसी एक प्याल म महदूद नहीं है। हमारी सुराही की मिटटी चीनी भी है और हिन्दुस्तानी भी। हमारे शरीर की धूल टर्की की भी है और सीरिया की भी। मगर हमारा दिल न तो हिन्दुस्तान म है, न सीरिया और न रूम मे। इस्लाम का छोडकर हम किसी भी पितदेश म विश्वास नही करते जैसाकि उनका मत है हिजरत[3] मुसल्मान का ईमान है। हिजरत उसके जीवन म स्थायित्व भरती है। इसका अथ है सकीणता का छोड कर विशालता में पहुचना। शबनम का छोडकर समुद्र पर विजय पाना। अत, इकबाल न भारतीय मुसल्मानो का हिजरत का आवाहन दिया जिससे उन्ह भारत से बाहर अलग स्थान की प्रेरणा मिली। इस्लाम का भारतीयकरण उन्हे वह शान्त प्रक्रिया लगी जिसके माध्यम स पराजित राष्ट विजितो से बदला लेता है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि भारतीय इस्लाम मे एकता (Organic Unity) की कमी है क्योंकि इस्लाम जातियों और सम्प्रदायो म बटा हुआ है। जाति प्रथा म उनके अनुसार, भारत मे इस्लाम हिन्दुओ से भी आगे बढा हुआ है और उसका एक ही इलाज है और वह है, इस्लाम को भारत से बाहर ले जाना और वहा इस्लामी मान्यताओ के अनुसार

---

1 जमहूरियत इक तज हुकूमत है कि जिसमें,
बन्दों को गिना करते है तोला नहीं करते।

2 दिनकर, रामधारीसिंह सस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ 621 622

3 हजरत मुहम्मद का मक्का से भागकर मदीने जाने को हिजरत कहते है।

भारतीय संस्कृति में योरोपीय सभ्यता

को मानवबाद मे मिला दिया। राष्ट्रवादी हिन्दू राष्ट्रवादी भी हुआ और साथ ही साथ सनातनी या आर्यसमाजी भी। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी मे राष्ट्रवादिता की जो लहर दौडी उसने एक ओर हिन्दुत्व तथा इस्लाम मे अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न किया तो दूसरी ओर हिन्दुत्व और इस्लाम का समानान्तर विकसित होने के लिये प्रेरित किया। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है कविवर रवीन्द्र जो, इकबाल के विपरीत मर्यादित हिन्दुत्व के कवि है यद्यपि उनकी चेतना की अभिव्यक्ति पर मानवतावादी विचारो का आवरण चढा हुआ है। इकबाल और रवीन्द्र भारतीय संस्कृति के अर्द्धनारीश्वर हैं। भारत और पाकिस्तान का अलग अलग होना भी इसी समानान्तर विकास का परिचायक है। खिलाफत आन्दोलन के साथ स्वदेशी आन्दोलन का जोड़ना ही इस बात का प्रतीक है कि भारतीय राष्ट्रवादिता का इस्लामी राष्ट्रवादिता से जोडने का प्रयत्न किया गया था। उन दोनो का समन्वय न हो सका। हिन्दुत्व और इस्लाम के समानान्तर विकास को गाधी भी न रोक सके। वे केवल इतना ही कह सके 'ईश्वर अल्ला तेरे नाम सबको सम्मति दे भगवान।

भारत में पाकिस्तान का निर्माण भारत में इस्लाम के समानान्तर विकास उसके अरबीपन और उसकी कट्टरता का प्रतीक है। पाकिस्तान के बनने से इस्लाम और राष्ट्र एक मे समा गये। किन्तु भारत में अब भी दस करोड़ मुसलमान हैं जिनके सामने इस्लाम है और पीछे पिछले तेरह सौ वर्षों का इस्लामी इतिहास। उनकी धार्मिक संस्कृति उन्हे भारत के आर पार की संस्कृतियो के पास ले बिठाती है और भारतीय राष्ट्रवादिता की माग उन्हे भारत में ही सीमित करती है। उधर, भारत में अठारहवी शताब्दी में जो प्रश्न उठे थे उनका अभी तक सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला है क्योंकि हिन्दुत्व भी, एक ओर नवोदित राष्ट्रवादिता से सम्बन्धित है तो दूसरी ओर अपनी ऐतिहासिकता से। अन्तर है तो केवल इतना कि हिन्दुत्व में उद्विकासी समन्वय की प्रक्रिया है जबकि इस्लाम में पुनरुत्थान की प्रेरणा। आज भारतीय संस्कृति मे इस्लाम तथा हिन्दुत्व को लेकर जो द्वन्द्व चल रहा है क्या कोरा राष्ट्रवाद उसका निराकरण कर सकता? जीवन दर्शन से परे राष्ट्रवाद निरर्थक है क्योंकि शायद ही कहीं कोरा राष्ट्रवाद सामाजिक और राष्ट्रीय एकीकरण का कारण बना हो। योरोप में विकसित होने वाला राष्ट्रवाद पूंजीवादी साम्राज्यवाद से उत्पन्न एक शक्ति थी। ऐसी शक्ति भारत में नहीं है और न उसके पुनः उत्पन्न होने के लिये अब अवसर ही है। और फिर आज का भारत उतना प्रबल राष्ट्रवादी हो भी नहीं सकता है जितना कि योरोप के देश थे या रहे हैं। आज मानवतावाद का युग है जो राष्ट्रवाद का स्वतः निषेध है। सारा इतिहास इस बात का साक्षी है कि हिन्दुत्व और इस्लाम का सम्पर्क दो संस्कृतियो के रूप में कम, दो राजनतिक शक्तियों के रूप में ही अधिक हुआ है और इसी कारण उनमें परस्पर द्वन्द्व और टकराव रहा है। जब तक उन पर राजनीति का दबाव रहेगा तब तक उनका द्वन्द्व बना रहेगा।

भारतीय संस्कृति में योरोपीय सभ्यता

भारत और योरोपीय सभ्यता

योरोपीय सभ्यता कुछ पहलू

भारत के सांस्कृतिक उन्विकास म एक ओर, मुगलों और मराठा का उत्थान और पतन, भारत भूमि पर ग्रेट ब्रिटेन फ्रांस, हालैण्ड और पुर्तगाल इत्यादि योरोपीय देशों के बीच भारत की राजनतिक सत्ता हथियाने के लिये चलने वाला संघर्ष और उसमें ग्रेट ब्रिटेन की विजय, भारत म अंग्रेजी राज की स्थापना भारत का स्वातन्त्र्य संग्राम छेड़ना और धीरे धीरे उसमें विजयी होकर स्वतन्त्र होना तथा दूसरा ओर, भारतीय संस्कृति म पश्चिमी सभ्यता का धीरे धीरे समावेश भारतीय संस्कृति म सभ्यता-संस्कृति-संघात की अवस्था का उत्पन्न होना और उसस संस्कृतिकरण की बहुमुखी प्रक्रियाओं का प्रादुर्भूत होना एक साथ हुआ है। वर्तमान भारतीय संस्कृति निश्चय ही वेदों तथा उपनिषदों म निरूपित हिन्दुत्व बुद्धवाद इस्लाम और पश्चिमी सभ्यता के समन्वय से उत्पन्न एक प्रक्रिया है यद्यपि उस प्रक्रिया का वर्तमान स्वरूप योरोपीय सभ्यता से अधिक प्रभावित है। भारत म परम्परा तथा आधुनिकता साम्यवाद तथा संसदीय प्रजातन्त्रवाद, नियोजित और नियन्त्रित तथा स्वतन्त्र प्रतियोगी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था सम्बन्धी वाद विवाद तथा मत मतान्तरों का संघर्ष, पश्चिमी सभ्यता के ही योगदान हैं। भारतीय संस्कृति म, पश्चिमी सभ्यता के

प्रवेश ने, जहां संस्थाओं में परिवर्तन उत्पन्न किया, भारत के राजनीतिक एकीकरण और राष्ट्रीयता को जन्म दिया, सुधारवादी तथा पुनर्नयनवादी आन्दोलनों को उभारा, वहां उन परस्पर विरोधी विचारधाराओं को भी जन्म दिया जिनका कि वह स्वयं शिकार रही है और आज भी है। भारत में समय-समय पर उठने वाली धर्मसापेक्षिता तथा धर्मनिरपेक्षिता का प्रश्न पश्चिमी संघात में उत्पन्न परिस्थितियों की ही उपज है।

भारत में ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण संसार में पश्चिमी संस्कृति के प्रभुत्वमय प्रसार ने ऐसी विरोधात्मक सांस्कृतिक परिस्थितियां उत्पन्न कर दी हैं। पिछले चार सौ वर्षों में, मानव-संस्कृति के ऐतिहासिक उद्‌विकासी प्रवाह में, योरोप में जिन सभ्यतायी तत्वों और तत्व मंकुलों को जन्म दिया, उन्हें योरोप निवासी संसार के कोने कोने में ले गये हैं। आज शायद ही कोई ऐसा महाद्वीप या सांस्कृतिक समूह हो जो पश्चिमी सभ्यता के प्रभुत्वमय संघात से अछूता हो। औद्योगिक विकास के जिस स्तर ने वर्तमान योरोप को जन्म दिया है और जो योरोप तथा संसार का परिवर्तन कर रहा है उसका केन्द्रीकरण योरोप में ही है। औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution) से उत्पन्न, संसारव्यापी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का गढ़ योरोप ही है। वर्तमान संसार की अर्थव्यवस्था पर योरोप का ही प्रभुत्व है और अन्तर्राष्ट्रीय यातायात के अधिकतर मार्ग और साधन योरोपीय राष्ट्रों के नियन्त्रण में हैं। पश्चिमी देशों के जहाज अधिकतम माल ढोते हैं और अधिकतम अन्तर्राष्ट्रीय यात्रियों को ले जाते हैं। योरोप के हवाई जहाज समुद्रों और महाद्वीपों को लांघते हुए संसार के और पार उड़ते हैं और योरोप को अन्य देशों से सम्पर्क स्थापित करते हैं। रेल, तार, टेलीफोन, बिजली, मशीन द्वारा खेती, रेडियो, सिनेमा, मोटर, टाइप करने तथा सीने की मशीन, कमरा, फाउन्टेनपेन और अंग्रेजी चिकित्सा-पद्धति योरोप की ही योगदान है और संसार के सभी देशों में इनका प्रयोग होता है।

योरोप का यह संसारव्यापी, प्रभुत्वमय प्रसार वस्तुतः उन ऐतिहासिक परिस्थितियों की देन है जो पिछले चार सौ सालों में उत्पन्न हुयी हैं। योरोप का यह प्रसार वस्तुतः निर्भर रहा है उस औद्योगिकी (Technology) पर जो पिछले चार सौ सालों में योरोप में विकसित हुयी है। इसी औद्योगिकी की देन, यातायात के साधन, योरोपियनों को अन्य महाद्वीपों के निवासियों के सम्पर्क में लाए। औद्योगिक क्रांति में उत्पन्न पूंजीवादी व्यवस्था ने विश्वव्यापी व्यापार के लिए प्रेरित किया। योरोपीय सभ्यता से पहले पहले वहां के व्यापारी और जहां-जहां वे व्यापार गए वहां वहां उन्होंने पहले कारखाना किले और नौ-सेना की चौकियों को कायम किया और, इसप्रकार, बाद में, आर्थिक प्रभुत्व के साथ-साथ राजनैतिक प्रभुत्व को कायम किया। वहीं उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया और कहीं उपनिवेश। अपना प्रभुत्व स्थापित करने के साथ-साथ, एक ओर, उन्होंने योरोपीय सामाजिक संस्थाओं

की स्थापना की तो दूसरी ओर, ईसाई धर्म का प्रचार किया। जब से योरोपियनों ने अमरीकी महाद्वीप और गुडहोप अन्तरीप के मार्ग से भारत के सामुद्रिक मार्ग का आविष्कार किया है, वे संसार पर राजनैतिक-आर्थिक प्रभुत्व कायम करने के लिये परस्पर लड़ते रहे हैं। उन्नीस सौ चौदह में योरोप ने जो विश्वव्यापी महायुद्ध शुरू किया था वह सम्भवतः आज भी समाप्त नहीं नहीं हुआ है। एक ज्वालामुखी की भाँति वह रह रह कर भड़क उठता है।

पिछले चार सौ वर्षों के संसारव्यापी योरोप के राजनैतिक आर्थिक प्रभुत्व ने संसार की अन्य प्राचीन संस्कृतियों में उनकी सोयी हुयी आत्मशक्ति को जाग्रत किया है जिनके माध्यम से उनमें राष्ट्रीयता जगी है और उनमें उन कौशलों तथा संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ है जिन्होंने उनमें एक ओर, आत्मसजगता की भावना जगायी है तो, दूसरी ओर उन्हें पश्चिमी सभ्यता के विरोध में ला खड़ा किया है। इंगलैण्ड में मैगना कार्टा की घटना अमरीका का स्वातंत्र्य संग्राम और वहाँ की स्वातन्त्र्य घोषणा (Declaration of Independence), फ्रांस तथा रूस की राज्य क्रान्तियाँ और उनके पीछे पनपने वाली अर्हतायें (Values) अटलांटिक चार्टर (The Atlantic Charter) और संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की प्रस्तावना ने करोड़ों व्यक्तियों को सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये प्रेरित किया है और आज भी कर रहे हैं। अमेरिका मिश्र पाकिस्तान, भारत लंका, बर्मा और जापान का राष्ट्रीय शक्तियों के रूप में निखरना बहुत कुछ पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव का ही परिणाम है।

इस्लाम की भाँति पश्चिमी सभ्यता भी एक प्रबल राष्ट्रनिर्मात्री शक्ति रही है। आधुनिक जापान का अभ्युत्थान और विकास, वस्तुतः पश्चिमीकरण (Westernization) का एक एशियायी राष्ट्रीय रूप है। किन्तु साथ ही साथ पश्चिमी सभ्यता के संसर्ग से प्राचीन संस्कृतियों में उसका विरोध करने वाली शक्तियों का भी प्रस्फुटन हुआ। साम्यवादी और उदार तथा संसदीय प्रजातन्त्रवादी विचारधाराओं के कारण दो गुटों में बटा हुआ वर्तमान संसार, योरोपीय सभ्यता के संसारव्यापी प्रभुत्व का ही परिणाम है क्योंकि साम्यवाद तथा उदार संसदीय प्रजातन्त्रवाद और राष्ट्रवादिता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता योरोप की ही देन हैं। राधाकृष्णन ने ठीक ही कहा है कि योरोपीय प्रभुत्व से ही, योरोपीय सभ्यता के विश्रृंखलन की शक्तियाँ उत्पन्न हुयी हैं[1]। साधारणतया, अंग्रजी भाषा भाषी संसार में पश्चिम (The West) और पश्चिमी (Western) अथवा योरोपीय सभ्यता (European Civilization) एक दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। आमतौर पर, पश्चिमी सभ्यता, योरोप और योरोपीय संस्कृतियाँ एक दूसरे के प्रतीक माने जाते हैं और एशिया तथा

---

1 राधाकृष्णन, सर्वपल्ली ईस्ट एण्ड वेस्ट सम रेफलक्शन्स

एशियायी संस्कृतियों को पूर्व का प्रतीक माना जाता है। इसकारण, पूर्व (Thd East) और पश्चिम (The West) में जो अंतर किया जाता है वह योरोप तथा एशिया में पाये जाने वाले विभेदों के आधार पर किया जाता है। किंतु योरोप और एशिया राजनैतिक इकाइयां हैं और न तो योरोप में कोई प्रधान सजातीय संस्कृति है और न एशिया में। और फिर, भौगोलिक क्षेत्र और सांस्कृतिक इकाई परस्पर समानांतर नहीं होते हैं। योरोप और एशिया वस्तुतः एक ही भूभाग के अंग हैं। दुनिया के नक्शे में, योरोप एशिया कहे जाने वाले भूभाग का एक अनुबद्ध अंग सा लगता है, जिसका उत्तरी समुद्रतट एशिया में समाया हुआ है। गंगा के तट से लेकर स्काटलैण्ड (Scotland) तथा आयरलैण्ड तक फैली हुयी भारोपीय (Indo-European) परिवार की भाषाएं, एक ओर, योरोप और एशिया की समान ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की प्रतीक हैं और, दूसरी ओर, 'पूर्व और पश्चिम' में किये जाने वाले अंतर की नगण्यता की द्योतक है। इतिहास के दीर्घकालीन सन्दर्भ में, 'पूर्व और 'पश्चिम' का भेद स्वतः समाप्त हो जाता है क्योंकि मानव संस्कृति के उपादानों में दोनों एक समान हैं और वस्तुतः समान आधारों पर विकसित हुये हैं। मानव-संस्कृति की ऐतिहासिक प्रक्रिया में एशिया ने योरोप को प्रभावित किया है और योरोप ने एशिया को। इसाइयत जो योरोप का प्रधान मजहब है एशिया की योरोप को एक भेंट है यद्यपि आज वही भेंट योरोप एशिया को दे रहा है।

जिसे पश्चिमी सभ्यता कहा जाता है उसका केन्द्रीकरण आज योरोप में ही नहीं है यद्यपि उसका उद्भव और विकास योरोप में ही हुआ है। आज अमरीका में पश्चिमी संस्कृति उतनी ही केन्द्रित है, जितनी कि योरोप में। इसीकारण, अमरीकी मानवशास्त्री, पश्चिम या 'पश्चिमी' के स्थान पर, अधिकतर 'योरोप-अमरीकी (Euro-American) शब्द का प्रयोग करते हैं। और वास्तव में यह है भी सही क्योंकि वर्तमान संसार में जिसे हम पश्चिमी सभ्यता कहते हैं, उसका विकास और प्रसरण योरोप तथा अमरीका दोनों से हो रहा है। लेकिन, अगर ऐतिहासिक प्रक्रिया के सन्दर्भ में देखा जाय तो अमरीका योरोप का एक विस्तार और प्रतिरूप मात्र लगता है यद्यपि, उस प्रतिरूप में, यहां वहां कुछ बदला अवश्य नजर आता है। अमरीका का सांस्कृतिक तथा बौद्धिक गठन वस्तुतः योरोपीय है।

जिस प्रमेय को 'पश्चिम' (The West) अथवा 'पश्चिमी सभ्यता' कहा जाता है वह मानव-संस्कृति की उदविकासी प्रक्रिया का वह रूप और स्तर है जो योरोप की ऐतिहासिक प्रक्रिया में विकसित हुआ है यद्यपि न तो वह एकमात्र योरोप की ही उपज है और न वह योरोप तक ही सीमित है। उसका इतिहास समाया है यूनान और रोम की विचारधाराओं में। इसाइयत, योरोप में इस्लाम के प्रवेश और प्रसार के बाद चलने वाले धर्मयुद्ध (Crusades), योरोप का पुनर्जागरण, योरोप के ज्ञान विज्ञान तथा वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी का विकास, औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolutoin),

की स्थापना की तो, दूसरी ओर ईसाई धर्म का प्रचार किया। जब से योरोपियनों ने अमरीकी महाद्वीप और गुडहोप अन्तरीप के माग से भारत के सामुद्रिक माग का आविष्कार किया है, व ससार पर राजनतिक-आर्थिक प्रभुत्व कायम करने के लिये परस्पर लडते रहे हैं। उन्नीस सौ चौदह में योरोप ने जो विश्व यापी महायुद्ध शुरू किया था वह सम्भवत आज भी समाप्त नहीं नहीं हुआ है। एक ज्वालामुखी की भाति वह रह रह कर भडक उठता है।

पिछले चार सौ वर्षों के ससार यापी योरोप के राजनतिक आर्थिक प्रभुत्व ने ससार की अन्य प्राचीन सस्कृतियों में उनकी सोयी हुयी आत्मशक्ति का जाग्रत किया है, जिनके माध्यम से उनमें राष्ट्रीयता जगी है और उनमें उन कौशलों तथा सस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ है जिन्होंने उनमें एक ओर, आत्मसजगता की भावना जगायी है तो दूसरी ओर उन्हें पश्चिमी सभ्यता के विरोध में ला खडा किया है। इगलण्ड में मगना कार्टा की घटना, अमरीका का स्वातंत्र्य सग्राम और वहा की स्वातन्त्र्य घोषणा (Declaration of Independence), फ्रास तथा रूस की राज्य क्रांतिया और उनके पीछे पनपने वाली अर्हाय (Values) अटलाटिक चार्टर (The Atlantic Charter) और सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर की प्रस्तावना ने करोडों व्यक्तियों को सामाजिक आर्थिक और राजनतिक स्वतत्रता प्राप्त करने के लिये प्रेरित किया है और आज भी कर रहे है। अमेरिका, मिश्र पाकिस्तान, भारत लका, बर्मा और जापान का राष्ट्रीय शक्तियों के रूप में निखरना बहुत कुछ पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव का ही परिणाम है।

इस्लाम की भाति पश्चिमी सभ्यता भी एक प्रबल राष्ट्रनिर्मात्री शक्ति रही है। आधुनिक जापान का अभ्युदय और विकास, वस्तुत, पश्चिमीकरण (Westernization) का एक अनिवार्य राष्ट्रीय रूप है। किन्तु, साथ ही साथ पश्चिमी सभ्यता के ससर्ग से प्राचीन सस्कृतियों में उसका विरोध करने वाली शक्तियों का भी प्रस्फुटन हुआ। साम्यवादी और उदार तथा ससदीय प्रजातत्रवादी विचारधाराओं के कारण दो गुटों में बटा हुआ वतमान ससार, योरोपीय सभ्यता के ससारव्यापी प्रभुत्व का ही परिणाम है क्योंकि साम्यवाद तथा उदार ससदीय प्रजातत्रवाद और राष्ट्रवादिता तथा अतर्राष्ट्रीयता योरोप की ही देन हैं। राधाकृष्णन ने ठीक ही कहा है कि योरोपीय प्रभुत्व से ही योरोपीय सभ्यता के विघटन की शक्तियाँ उत्पन्न हुयी हैं[1]। साधारणतया अग्रजी भाषा भाषी ससार में पश्चिम (The West) और पश्चिमी (Western) अथवा योरोपीय सभ्यता (European Civilization) एक दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। आमतौर पर, पश्चिमी सभ्यता, योरोप और योरोपीय सस्कृतियाँ एक दूसरे के प्रतीक माने जाते हैं और एशिया तथा

1 राधाकृष्णन, सर्वपल्ली ईस्ट एण्ड वेस्ट सम रेफलक्शन्स

एशियायी संस्कृतियों को पूर्व का प्रतीक माना जाता है। इसकारण, पूर्व (Thd East) और पश्चिम (The West) में जो अन्तर किया जाता है वह योरोप तथा एशिया में पाये जाने वाले विभेदों के आधार पर किया जाता है। किन्तु, योरोप और एशिया राजनैतिक इकाइयाँ हैं और न तो योरोप में कोई प्रधान सजातीय संस्कृति है और न एशिया में। और फिर, भौगोलिक क्षेत्र और सांस्कृतिक इकाई परस्पर समानान्तर नहीं होते हैं। योरोप और एशिया वस्तुतः एक ही भूभाग के अंग हैं। दुनिया के नक्शे में, योरोप एशिया कहे जाने वाले भूभाग का एक अनुबद्ध अंग सा लगता है, जिसका उत्तरी समुद्रतट एशिया में समाया हुआ है। गंगा के तट से लेकर स्काटलैण्ड (Scotland) तथा आयरलैण्ड तक फैली हुयी भारोपीय (Indo-European) परिवार की भाषाएं, एक ओर, योरोप और एशिया की समान ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की प्रतीक हैं और, दूसरी ओर, 'पूर्व और 'पश्चिम' में किये जाने वाले अन्तर की नगण्यता की द्योतक है। इतिहास के दीर्घकालीन सन्दर्भ में, 'पूर्व और 'पश्चिम' का भेद स्वतः समाप्त हो जाता है क्योंकि मानव संस्कृति के उषाकाल में दोनों एक समान हैं और वस्तुतः समान आधारों पर विकसित हुये हैं। मानव-संस्कृति की ऐतिहासिक प्रक्रिया में एशिया ने योरोप को प्रभावित किया है और योरोप ने एशिया को। इसाइयत जो योरोप का प्रधान मजहब है एशिया की योरोप को एक भेंट है यद्यपि आज वहीं भेंट वापस एशिया को द रहा है।

फ्रांस और रूस की राज्य क्रांतियाँ और इन सबके सम्मिलित प्रभाव से अवतरित होने वाला सामाजिक सांस्कृतिक रूपान्तरण पश्चिमी सभ्यता के अन्य आधार है। पश्चिमी सभ्यता, वस्तुत योरोप में होने वाले सांस्कृतिक सामाजिक रूपान्तरण की विशेषताओं के उस संकुल में समायी है जो योरोपीय संस्कृतियों में समाया होने पर भी उनसे भिन्न है और जो आज विश्वव्यापी हो रहा है। यह संकुल कोरा पार्थिव नहीं है। एक सामाजिक-आर्थिक प्रौद्योगिक संकुल के रूप में पश्चिमी सभ्यता पार्थिव भी है और अपार्थिव भी क्योंकि उसे उन आदर्शों और अहर्ताओं से अलग नहीं किया जा सकता जो उसको अर्थ प्रदान करती है। अत पश्चिमी सभ्यता के संकुल की विवेचना के पहले उन पार्थिव तथा अपार्थिव ऐतिहासिक प्रवाहों का विश्लेषण आवश्यक है जिन्होंने पश्चिमी सभ्यता को जन्म दिया है।

२

योरोपीय सभ्यता के आधार ऐतिहासिक विवेचन

राधाकृष्णन के अनुसार, मानव संस्कृति के प्रारम्भिक विकास काल में पश्चिम तथा पूर्व के विकास स्तरों में काफी समानता है। वास्तव में वर्तमान योरोप का आधार है यूनान, फिलस्तीन और रोम की बौद्धिक तथा सामाजिक सांस्कृतिक परम्परायें। वर्तमान योरोप की आधारभूत 'मूल्य' (Values) और संस्थायें यूनान फिलस्तीन और रोम की देन हैं। यूनान ने योरोप को आलोचनात्मक दृष्टिकोण निरीक्षण-रीतियाँ और राजनीतिक धारणायें प्रदान की रोम ने धर्मनिरपेक्ष विधि प्रणाली और सामाजिक संगठन के सिद्धान्त और फिलस्तीन ने एकेश्वरवाद तथा मनुष्य के नैतिक अस्तित्व की वह धारणा प्रदान की जिसमें व्यक्ति का अस्तित्व केवल एक नैतिक अस्तित्व (Moral Being) है वह अस्तित्व जो ईश्वर के आदेशों के अधीन है। ईश्वर और व्यक्ति एक दूसरे से परे हैं। ईश्वर अवतार नहीं लेता है वरन इच्छा होने पर किसी चुने हुए व्यक्ति के समक्ष प्रगट होकर, उसके द्वारा नैतिकता के आदेशों को मनुष्य तक पहुचता है जिसका उदाहरण ईसा द्वारा दिया हुआ सन्देश है। इसीकारण, मनन (Thought) कर्म (Action) और निष्ठा (Faith) पश्चिमी परम्परा के तीन तत्व हैं। किन्तु योरोपीय ऐतिहासिक विकास में ये तत्व कभी भी एक सामञ्जस्य में नहीं आये हैं—वे सदैव परस्पर अलग ही रहे हैं। सम्भवत, इसीकारण, योरोपीय विचारधारा में विरोधी तथा विजातीय तत्वों का समावेश हुआ है।

यूनान तथा रोम के योगदान

योरोपीय बौद्धिकता मूलतः यूनानी बौद्धिक परम्पराओं से प्रभावित है। यूनानी बौद्धिकता की एक धारा थेल्स से प्रवाहित हुई है, और दूसरी पैथागोरस से। युक्तियुक्त जिज्ञासा पर आधारित और थेल्स द्वारा प्रतिपादित बौद्धिक परम्परा, प्रकृतिवादिता (Naturalism) में विकसित होती हुई एक ओर, डेमाक्रिटस की परमाणुवादी (Atomism) बौद्धिक परम्परा में विकसित हुई और, दूसरी ओर एपीक्यूरस की, सुखदुःखवादी विचारधारा में जो, आगे चलकर, मनोविज्ञान में सुखदुःखवादी सम्प्रदाय (Hedonistic School) के सिद्धान्तों में प्रस्फुटित हुई। पैथागोरस की बौद्धिक परम्परा, सुकरात, अरस्तू और प्लेटो की बौद्धिक परम्पराओं में विकसित होती हुई, एक ओर ईसाइयत की विचारधारा में लीन हो जाती है और दूसरी ओर, योरोपीय सामाजिक दर्शन और विज्ञानवादिता में—वह विज्ञानवादिता जिसने योरोप के वर्तमान भौतिक तथा सामाजिक शास्त्रों को जन्म दिया है। इन्हीं बौद्धिक परम्पराओं के फलस्वरूप, योरोप की वह बौद्धिक परम्परा विकसित हुई है जो, एक ओर, विज्ञानवादी है और दूसरी ओर युक्तियुक्तवादी जो एक ओर मानव विवेक में आस्था के विचार पर आधारित है और, दूसरी ओर, वास्तविकता को युक्तियुक्त मानने पर, जो एक ओर, प्रत्यक्षवादी तथा वैज्ञानिक है और, दूसरी ओर, दार्शनिक आध्यात्मिक। सुकरात ने युक्तियुक्तवादी बौद्धिक परम्परा में आत्मा की धारणा प्रतिपादित की। प्लेटो ने आदर्शवादी प्रत्ययवादी विश्लेषण पद्धति को और अरस्तू ने प्रकृतिवादी प्रत्यक्षवाद की बौद्धिक परम्परा को जन्म दिया। योरोप में अरस्तू को सभी विज्ञानों का जनक माना जाता है। किन्तु यूनानी बौद्धिक परम्परा की एक और विशेषता है जो योरोप की बौद्धिक परम्परा में लीन हो गई है और वह है, *विज्ञान तथा दर्शन का एकाकार करने की*, जिसकी आधारशिला प्लेटो ने रखी थी। प्लेटो की प्रत्ययवादी विज्ञानवादिता आदर्शवादिता तथा आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख है और सुकरात की प्रत्यक्षवादी प्रकृतिवादिता आनुभूतिकता की ओर। ज्ञान को विज्ञान में सीमित रखने की योरोपीय परम्परा का आधार यूनानी है जिसके कारण योरोपीय बौद्धिक परम्परा, एक ओर, युक्तियुक्तता की ओर उन्मुख है और, दूसरी ओर, द्वन्द्वात्मकता की ओर। द्वन्द्वात्मकता ही आगे चलकर ऐतिहासिक कारणवादिता तथा ऐतिहासिक दर्शन की बौद्धिक परम्पराओं में प्रस्फुटित हुई।

विवेक को सर्वोपरि मानकर, युक्तियुक्त विचार तथा विज्ञानवादी दर्शन के समन्वय से, मानव मस्तिष्क का विश्लेषण करते हुए यूनानी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मानव मस्तिष्क की शक्ति वस्तुतः निहित है व्यक्ति में—वह व्यक्ति जो समष्टि का अनुगामी नहीं है वरन् जो युक्तियुक्त है। इसके फलस्वरूप पहले यूनान में और बाद में योरोप में व्यक्तिवादिता को प्रोत्साहन मिला। यूनानी अपनी ही विचारधारा [illegible] ने केवल यूनानियों को ही सभ्य माना और शेष संसार

को असभ्य। यही वह विचारधारा है, जो आगे चलकर आधुनिक योरोप के उदयकाल मे, इस विचार म परिवर्तित हुयी कि योरोप ही विश्व मे सभ्यता और प्रगति का प्रतीक है। आगे चलकर, जब योरोप का ससार के अन्य क्षेत्रो से सम्पर्क हुआ तो यही विचारधारा मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र के उद्विकासी सिद्धान्तो मे प्रस्फुटित हुई। इन सिद्धान्तो के अनुसार, योरोप विकास की चरम सीमा और इतिहास का गन्तव्य है। उन्नीसवी शताब्दी मे योरोपियनो म जो वर्ण भेद और उच्चता का भाव आया और जिसके रूप आज अफ्रीका और अमरीका म देखने को मिलते हैं, उनका एक स्रोत यूनान की सभ्य असभ्य सम्बन्धी वह विचारधारा भी है जो योरोपीय विचार म व्याप्त है। यूनानियो ने ससार को सभ्य असभ्य म बाटा तो इसाइयो ने धार्मिक-अधार्मिक तथा इसाई और गैर-इसाई म। योरोपीय विचारधारा, इसकारण द्वन्द्वात्मक भी है और विभेदात्मक भी।

यूनानी विचारधारा और यूनानी समाज सगठन परस्पर विरोधी से रहे। मानवतावादी और व्यक्तिवादी होने पर भी यूनानियो ने अपने आर्थिक सगठन का आधार गुलामी प्रथा को ही रक्खा। व्यक्तिवाद को वे इतनी पराकाष्ठा तक ले गये कि उन्होने उन सभी सस्थाओ का विरोध किया जो व्यक्तिवाद के विरोध म आती हैं और। राजनैतिक सगठन म उस सहवासी समुदाय (Community) को ही वाञ्छित ठहराया गया जो अपनी विधि प्रणाली का निर्माण करने म स्वतन्त्र हो। इसका परिणाम यह हुआ कि यूनानी समाज का आर्थिक और राजनैतिक सगठन पोलिस (polis नगर अथवा शहर) म ही केन्द्रित रहा। यूनान सदैव शहर राज्यो (City States) मे बँटा रहा और ये शहर राज्य तब तक परस्पर युद्धरत रहे जब तक कि यूनान रोम साम्राज्य का एक भाग नही हो गया। इन्ही राज्यो के परस्पर सघर्ष स उग्र तथा आक्रामक राष्ट्रवादिता का जन्म हुआ जो, आगे चलकर योरोप के राजनैतिक जीवन का अग बन गई। योरोप म छिड़ने वाले दो विश्वव्यापी महायुद्धो का एक महत्वपूर्ण कारण उग्र राष्ट्रवादिता भी है, यद्यपि यहा वह पूजीवादी साम्राज्यवादिता म अवगुठित है।

यूनान की धार्मिक परम्पराओ म इहलौकिकता और पारलौकिकता का वह मिश्रण मिलता है जिसम एक ओर भारतीय परम्पराओ का आभास मिलता है और दूसरी ओर इसाइयत की पूर्ववर्ती परम्पराओ का। राधाकृष्णन के अनुसार, यूनान के प्रारम्भिक धार्मिक विचारो म वेदो की सी परम्परायें मिलती हैं। प्लेटो ने पुनर्जन्म को स्वीकार किया है और तपस्वी जीवन को मान्यता दी है। प्लेटो म अदृश्य सत्ता मे लीन होने तथा उसकी उपासना का रहस्यवादी विचार मिलता है जो औपनिषदिक विचारधारा के समान है। साथ ही साथ यूनान म कई पूजा पद्धतियां (Cults) भी मिलती है जिनम कुछ यूनानी हैं और कुछ यूनान के बाहर की क्योकि यूनान पर भारत मिश्र और फिलस्तीन की परम्पराओं का प्रभाव पड़ा है। मशाल, मदिरा,

नृत्य और संगीत के वातावरण में, अपने में दिव्य की अनुभूति करने की परम्परा डायनिस्टिक पद्धति (Dionystic Cult) में मिलती है, ज्ञान और वाक् में ही ईश्वरत्व के दर्शन करने की लोगास पद्धति (The Cult of the Logos) में और पैगम्बरी परम्परा ऑरफिक पद्धति (Orphic Cult) में। ऑरफिक पद्धति की परम्परा में ऑरफ्यूज को पैगम्बर माना गया है और तापस क्रियाओं निरामिषता तथा दीक्षा (Initiation) द्वारा मुक्ति प्राप्त करने पर जोर देकर इस तथ्य पर जोर दिया गया है कि न्यायी तथा नैतिक को ही आनन्द का दान मिलता है और अन्यायियों तथा अनैतिकों को दण्ड। इसाइयत में निहित ईश्वरी न्याय का विचार, रहस्यवादिता, आध्यात्मिकता और पैगम्बरी धारणा इस प्रकार, इसाइयत के पहले यूनान में विकसित हो चुके थे।

रोम केवल एक साम्राज्य रहा। रोम ने न तो किसी विशिष्ट संस्कृति का रूप धारण किया, न किसी समाज का और न राष्ट्र का। यूनान की विशिष्टता थी वहाँ की दार्शनिक परम्परा और रोम की धर्मनिरपेक्ष विधि प्रणाली शासन प्रणाली तथा सामाजिक राजनैतिक संगठन के सिद्धान्त और विधि (Law) की सर्वोपरिता के विचार। रोम की परम्परा में इस बात पर जोर दिया गया कि विधि निर्माण में समुदाय के सभी सदस्यों का बराबर सहयोग होना चाहिये और एक बार जब विधि का निर्माण हो गया तो विधि ही सर्वोच्च है। विधि के समक्ष समुदाय के सभी सदस्य समान हैं किन्तु व्यक्ति की तुलना में विधि ही प्रधान और सर्वोपरि है। यूनानियों ने जोर दिया विचार की स्वतन्त्रता पर जब कि रोम में जोर दिया गया कर्मेच्छा (Will to Action) के सम्वर्धन पर। रोम में प्रचलित नैतिकता की मांग थी सामाजिक क्रिया (Social Action) का सचेष्ट नियन्त्रण और व्यक्ति द्वारा समुदाय की आवश्यकताओं के प्रति ऐच्छिक नमन। रोम वस्तुतः, वकीलों का साम्राज्य था जबकि यूनान दार्शनिकों का देश। रूसी संसार में, यूनानी रूमी और इसाई परम्परायें एक साथ प्रवाहित हो रही थीं। रोम और यूनान ने योरोप को विचारस्वातन्त्र्य दार्शनिकता, मानवतावाद, व्यक्तिवाद, युक्तियुक्तवाद (Rationalism) नगरीय जीवन के सद्गुण (Virtues of Civic Life), उग्र राष्ट्रवादिता, रहस्यवादी तथा पैगम्बरी मजहब, धर्मनिरपेक्ष विधि प्रणाली सामाजिक राजनैतिक संगठन के सिद्धान्त, साम्राज्यवादिता विधि की सर्वोपरिता और विधि के समक्ष व्यक्ति-व्यक्ति की समानता सम्बन्धी विचार और सिद्धान्त प्रदान किये हैं। मध्यकालीन योरोप में यूनान को वैसे ही पुनः खोज निकाला गया था जिस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में प्राचीन भारत को। वर्तमान योरोप के निर्माण में इसाइयत का लगभग उतना ही हाथ है जितना कि यूनान और रोम का।

इसाइयत

इसाइयत का जन्म हुआ था फिलिस्तीन में। अतः, इसाइयत एशिया का योरोप को एक भेंट है। अपने आधारभूत रूप में, इसाइयत, वस्तुतः एक ऐसा यहूदी मजहब है जिसकी आत्मा योरोपीय न होकर एशियाई है। इसाइयत इस्लाम से प्राचीन है।

वास्तव मे, इस्लाम के मुख्य प्रेरणास्रोत इसाइयत में ही है यद्यपि दोनो मजहब एक दूसरे से भिन्न हैं। इसाइयत और इस्लाम दोनों ऐतिहासिक मजहब हैं क्योंकि दोनों मजहबों का ऐतिहासिक पुरुषों और घटनाओं से सम्बन्ध है। जिस प्रकार इस्लाम मे ईश्वर ने मुहम्मद साहब के समक्ष अपने को प्रगट किया उसी प्रकार, इसाइयत में भी ईश्वर ने अपने को ईसा के समक्ष प्रगट किया। अन्तर केवल एक है। इस्लाम की मान्यताओं के अनुसार, ईश्वर मनुष्य रूप मे आ ही नही सकता है और न किसी का जन्म ही दे सकता है। किन्तु, इसाइयत में ईश्वर मनुष्य से भिन्न और परे है अवश्य, फिर भी, अपने पुत्र के माध्यम से वह स्वयं इस संसार में आ सकता है। इसाई मजहब के प्रवर्तक, ईसा मसीह (Jesus), जैसा कि इसाइयों की मान्यता है कुमारी कन्या मैरी (Marry) की ईश्वरीय सन्तान हैं। ईसा ने ईश्वरत्व की अनुभूति पर जोर दिया और यह कहा कि मेरी शिक्षायें उस ईश्वर की शिक्षायें हैं जो मुझमें और सभी में है। इसप्रकार इसाइयत में ईश्वर और मनुष्य दो अलग अलग इकाइयाँ हैं। मनुष्य में ईश्वरत्व के गुण हैं। मनुष्य और ईश्वर मनुष्य में ही मिल सकते हैं क्योंकि स्वयं ईसा ईश्वर की भी सन्तान है और मनुष्य की भी। यह संसार ईश्वर का कृति है अतः ईश्वर इस संसार से परे है। फिर भी, मनुष्य के समक्ष, अपने को प्रगट कर सकता है, बशर्ते कि मनुष्य की उसमें आस्था हो। आस्था के द्वारा ही मनुष्य ईश्वरीय जीवन में प्रवेश कर सकता है और दिव्य जीवन की प्राप्ति में ईश्वर का सहयोगी बन सकता है। ईसा के लिये ईश्वर विचारमात्र नहीं है। ईश्वर एक अनुभवगम्य सत्ता है। जिस यहूदी धर्म की पृष्ठभूमि में इसाइयत की अवतारणा हुयी उसमें ईश्वर पैगम्बर द्वारा अपने को प्रगट करता है। किन्तु इसाइयत में, स्वयं ईश्वर वाक् ही सदेह मनुष्य बन गया। इसाइयत इसप्रकार एक आध्यात्मिक रहस्यवादी मजहब है।

इसाइयत में ईसा के उपदेशों और निर्देशों को, ईश्वरेच्छा के रूप में ग्रहण किया जाता है। इसाइयत एक अलौकिक रहस्यवादी, दिव्य ज्ञान है[1]। इसाइयत

1 ईसा के जन्म मे सम्बन्धित अलौकिक घटनाओं को ईसा की दिव्यता और ईसा के उपदेशों को ईश्वरीय निर्देशों के प्रमाण के रूप में ग्रहण किया गया है। ईसा का कुमारी कन्या से उत्पन्न होना, सम्राट हेरोड के प्राणघातक प्रयासों से ईसा का बचे हो बचना जैसे कंस के प्रयासों से कृष्ण बचे थे, ईसा को फांसी देने के समय सहसा आंधी तूफान का आना और उसमें क्रास पर से ईसा की लाश का लापता होकर, दिव्य आत्मा के रूप में पुनः अवतरित होना, ये अलौकिक घटनायें हैं जिनसे ईसा की दिव्यता को प्रमाणित किया गया। इसाइयत की रहस्यवादिता दिव्य पिता (Holy God), दिव्य पुत्र (ईसा) और दिव्य आत्मा (Holy Ghost) के विचार पर आधारित है। ईसा की दिव्य आत्मा

ईश्वरेच्छा के अनुसार प्रतिपादित एक दिव्य विधान (Divine Law) है, जिसके अनुसार जीवन पालन के लिए ईसा ने जनसाधारण का आह्वान किया। मनुष्य, ईसा के अनुसार प्रकृति तथा आत्मा लौकिक तथा अलौकिक और ईश्वरीय तथा मानवीय गुणों का मिलन स्थल है। मानव का कल्याण है इस पृथ्वी पर स्वर्ग साम्राज्य (Kingdom of Heaven) की स्थापना में। स्वर्ग-साम्राज्य स्वयं मनुष्य के अन्तराल में है जिसे खोज निकालना उसका कर्तव्य है। स्वर्ग-साम्राज्य वस्तुतः मस्तिष्क की वह अवस्था है जहाँ मनुष्य को सत्य मान का आभास हो। ईश्वरत्व और सत्य एक में मिले हुए हैं और ईश्वर का अनुभव उसे ही हो सकता है जो अपने विवेक को जाग्रत कर सके और इंद्रिय जगत से ऊपर उठ सके। विवेक को मोड़ने का प्रण पश्चाताप (Repentence) है। स्वर्ग-साम्राज्य में प्रवेश पुनर्जन्म (Rebirth) है। पुनर्जन्म उसका नहीं होता है जो निरा प्राकृतिक है। पुनर्जन्म माना है शुद्ध, आन्तरिक और आध्यात्मिक का। अतः इसाइयत क्राइस्ट के माध्यम से, ईश्वरेच्छा प्राप्ति करके दैवी विधान को प्राप्त करने की एक आस्था है। इसी आस्था में से, एक ओर इसाइयत की रहस्यवादिता विकीर्ण होती है और दूसरी ओर उसका मजहबीपन जो रोमन प्रभाव के अन्तर्गत चर्च (Church) के रूप में संगठित हुआ।

ईसा ने वैसे ही प्रवचन दिये जैसे बोधित्व प्राप्त महात्मा बुद्ध ने। महात्मा बुद्ध की भाँति ईसा ने भी बोधित्व प्राप्ति के लिए आह्वान दिया जिसका प्रमाण ईसा के प्रवचन हैं। बोधित्व प्राप्ति के लिए ईसा ने गृह त्याग किया और बाद में जन साधारण को त्यागमय तपस्वी जीवन बिताने की प्रेरणा दी। मनुष्य समान माना क्योंकि सभी एक ही पिता की सन्तान हैं। अहिंसा ईश्वरीय जीवन का मूलमंत्र है। शत्रु और मित्र सभी समान हैं। ईसा के प्रवचन, एक ओर, आध्यात्मिक और पार लौकिक जीवन के लिए प्रेरणा हैं तो दूसरी ओर, व्यक्ति स्वतन्त्रता समता और बंधुता की भावना के प्रेरक हैं। ईसा के लिए राजा और दास समान हैं। दिव्य जीवन का अनुभव मनुष्य का सतत सुलभ है। अतः मानव-कल्याण की आशा भी सतत सुलभ है। ईश्वरेच्छा का अनुभव और उसके अनुसार जीवन पालन में ही मनुष्य का कल्याण है। इस प्रकार ईसा ने सार्वकालिक नैतिकता का उपदेश दिया। सम्भवतः इसीकारण, उन्होंने ईश्वरेच्छा का संसार में प्रचार करने के लिए कहा। रहस्यवादी आस्था पर आधारित होने के कारण ही इसाइयत में दीक्षा लेने की प्रथा चल पड़ी क्योंकि बिना

में विश्वास इसाइयत का मुख्य आधार है क्योंकि यही मनुष्य और ईसा के बीच की कड़ी है। ईसा के उपदेशों, ईश्वर, ईसा और उनकी दिव्य आत्मा में विश्वास, इसाइयत का मूलाधार है। इसाइयत में निहित विश्वास के अनुसार, ईसा मरे नहीं बल्कि सदेह आत्माओं के संसार में चले गए हैं। अतः, जीवित ईसा में विश्वास इसाइयत का एक मुख्य आधार है।

दीक्षा लिए रहस्यवादी आस्था से मिलने वाली ईश्वरेच्छा का ज्ञान नहीं हो सकता। यहीं से इसाइयत में बपतिस्मा (Baptism) की प्रथा प्रारम्भ होती है और यहीं से इसाइयत का प्रसार और प्रचार करने का आन्दोलन (Proselytization)। स्वयं ईसा ने ईश्वरीय ज्ञान के प्रचार के लिए अपने शिष्यों को आदेश दिया। कोई आश्चर्य नहीं यदि इसाइयत में ईसा द्वारा दिए गए दिव्य ज्ञान को निश्चित, विशुद्ध और अन्तिम (Infallible) माना जाता है। इसी का परिणाम है कि इसाइयत एक जबरदस्त राद्धान्त (Dogma) बन गया जबकि स्वयं ईसा राद्धान्त विरोधी थे।

इसाइयत, इस्लाम और बुद्धवाद की भाँति एक अतिराष्ट्रीय (Supernational) मजहब है जिसका उद्गम और विकास अनेक प्रभावों के अन्तर्गत हुआ है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इसाइयत का आधारभूत रूप यहूदी है और इस कारण, इसका आधार ईसा के पहले प्रचलित यहूदी धर्म में है। व्यक्ति से परे दयावान न्यायी, साधु और विधानकर्त्ता ईश्वर की कल्पना संसार में नैतिक महत्त्वों (Values) और नियमों की सर्वोच्चता तथा एकेश्वरवाद इसाइयत में यहूदी धर्म से आये हैं। ईसा से दो हजार वर्ष से लेकर पाँच सौ वर्ष तक बबीलोन (Babylon) और एशिया माइनर (Asia Minor) के माध्यम से भारतीय प्रभाव यहूदियों पर पड़ चुका था। मिस्र भी इस प्रभाव का माध्यम था। राधाकृष्णन के अनुसार ईसा के पूर्व फिलिस्तीन पर बुद्धवाद का प्रभाव पड़ चुका था और यही कारण है कि इसाइयत की आत्मा बुद्धवाद के अधिक समीप है। बौद्धों का संघ-संगठन ही रोम के प्रभाव में चर्च-संगठन के प्रभाव में अवतरित हुआ। इसाइयत में शैतान की कल्पना इसाइयत को जरथुस्त्र धर्म की देन है। यहूदियों ने यूनानी विचारधारा को प्रभावित किया और बाद में यूनानी विचार और दर्शन ने इसाइयत को। यहूदियों के एकेश्वरवाद को यूनानियों ने अनन्त दार्शनिक और अनन्त रहस्यवादी जामा पहनाया और बाद में पश्चिमी प्रदेश में उत्पन्न होने वाले इसाई मजहब को अर्पित कर दिया। इसाइयत को उसके बौद्धिक आधार यूनान से ही मिले—वे बौद्धिक आधार जिनकी सहायता से इसाइयत योरोपीय सामाजिक विरासत का एक अंग बन गयी। व्यक्ति की गरिमा युक्तियुक्त विचारधारा पर आधार मानवतावाद और स्वतन्त्रता, समता तथा बन्धुता के विचार इसाइयत को यूनान के ही योगदान हैं। इन्हीं योगदानों ने कालान्तर में फ्रांस की राज्यक्रान्ति को प्रेरणा देकर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के लिए एक अभिनव मार्ग खोल दिया। राधाकृष्णन के शब्दों में इसाइयत का हृदय एशियाई है, उसका मस्तिष्क (धर्म विद्या) यूनानी और उसकी देह (चर्च संगठन) रोमन है।

ईसा की प्रथम सात शताब्दियों में योरोप में इसाइयत का प्रचार हुआ जिससे योरोप के विकास में एक निश्चित परिवर्तन हुआ। इसाइयत में निहित रहस्यवाद तथा अन्तिम आशा के सिद्धान्त (Eschatology) और सौहार्द्र समता और मानवता की भावनाएँ इसाइयत के प्रचार में सहायक बने। यूनान से मिले हुए बौद्धिक आधार

न विचारकों को आकर्षित किया तो उनमें निहित चमत्कारी तत्वों ने अंधविश्वासियों को। यूनानियों के सभ्य असभ्य विषयक विचारों के प्रभाव में और उपनिवेशों की प्रथा के कारण ईसाइयत ने संसार को ईसाई (Christian) और गैर ईसाई (Heathen) में बांट दिया और गैरईसाई के प्रति वही रुख अख्तियार किया जो यूनानियों ने गैरयूनानियों के प्रति अख्तियार किया था। इस्लाम के उद्भव को ईसाइयत एक मुख्य प्रेरणास्रोत था किन्तु, बाद में जब इस्लाम का प्रचार यारोप में हुआ तो दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हो गए। ईसाइयों के तीर्थस्थान यरूशलम पर मुसलमानों का अधिकार होते ही यारोप का ईसाई समाज रोष से उबल पड़ा। ग्यारह सौ सत्तानवे से लेकर बारह सौ सत्तर तक यारोप में धर्म युद्धों की आग सुलगती रही। इसके परिणामस्वरूप, इस्लाम और ईसाइयत, दोनों में धर्मान्धता, असहिष्णुता और आक्रामकता की भावना बढ़ी। आगे चलकर औद्योगिक क्रांति के बाद, जब यारोप का संसार में राजनैतिक आर्थिक प्रभुत्व बढ़ा और यूनान की सभ्य-असभ्य विषयक भावना के फलस्वरूप योरोप के लोग योरोप को ही मानव-सभ्यता तथा प्रगति का चरमतम प्रतीक मानने लगे तो ईसाइयत संसार को सभ्य बनाने का एक मिशनरी माध्यम बनी। ईसाइयत को लोग पहले ही से अबाध (Infallible) मानते आए थे किन्तु अब और भी मानने लगे। ईसाइयत के समक्ष अन्य धर्मों को तुच्छ समझा जाने लगा। और, इन सबका परिणाम यह हुआ कि यारोप ने ईसाइयत को साम्राज्यवाद का एक साधन बनाया। योरोपीय साम्राज्यवाद व्यापारियों और धर्म प्रचारकों के ही माध्यम से पनपा और प्रसारित हुआ।

यारोप में इस्लाम के प्रवेश से एक ओर, धर्मान्धता और धर्मयुद्धों का जन्म हुआ तो, दूसरी ओर अरब की कला और विज्ञान का यारोप में प्रचार

धर्मनिरपेक्षता

हुआ। अरबों ने गणित (Mathmatics) ज्योतिष (Astronomy) औषधिशास्त्र (medicine), रसायनशास्त्र (Chemistry), प्राणिशास्त्र (Zoolgy) और बही-खाता पद्धति सम्बन्धी अपना ज्ञान यारोप को अर्पित किया। अपने ज्ञान विज्ञान का एक बड़ा अंश अरबों ने भारत से लिया था। सिकन्दर के बाद और अरबों के उत्थान के पहले, भारतीय ज्ञान विज्ञान की छाप यूनान पर पड़ चुकी थी। अतः, यारोप में अरबों और यूनानियों के माध्यम से आने वाली ज्ञान विज्ञान की धाराओं का मिलन वस्तुतः उन दो धाराओं का मिलन था जो एक ही उद्गम से निकलकर और अलग अलग मार्गों से बहकर पुनः एक स्थान पर आकर मिलती हैं। किन्तु, दसवीं और बारहवीं शताब्दियों के बीच यारोप में अरबों से मिले ज्ञान विज्ञान को, अरस्तू की परम्परा और ईसाइयत के सिद्धान्तों के साथ मिलाने का प्रयत्न किया गया जिसके कारण इस काल के ज्ञान विज्ञान के प्रवाह में धर्मविद्या (Theology) का स्थान प्रधान हो गया। इन्हीं परिस्थितियों में, चर्च अधिराष्ट्रीय (Supernational) हो गया और चिंतन यारोप का मुख्य प्रेरणास्रोत हो

गया। इसी काल मे, योरोप में वह विचारधारा चली जिसके कारण सदियों तक लोगों का यह विश्वास रहा कि ज्ञान की खान वस्तुतः विगत में है। इसी युग मे, योरोप के बौद्धिक जीवन में एक ओर, पाण्डित्यपन (Scholasticism) की परम्परा उत्पन्न होती है तो, दूसरी ओर, उसमे इतिहासोन्मुखता (Historicity) का समावेश होता है। आगे चलकर, यही इतिहासोन्मुखता सेंट आगस्टाइन (St Agustine) कोम्टे (Comte), हरबर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) हीगल (Hegel) और मार्क्स (Marks) मे एक ऐतिहासिक नियतिवादी विचारधारा (Historical Deterministic Thought) में अवतरित होती है। सम्भवतः यही कारण है कि योरोप में जन्मने वाले सभी सामाजिक शास्त्रों का उद्गम दार्शनिक धर्मविद्या (Philosophical Theology) में होकर, इतिहासोन्मुख हो गया है। ऐतिहासिक नियतिवाद (Historical Determinism) की विचारधारा आज भी योरोप के बौद्धिक जीवन मे विद्यमान है और उसके प्रमाण हैं, एक ओर, टवायन वी (Toynbe) और सारोकिन (Sarokin) की कृतियों में तो, दूसरी ओर, रूस में चलने वाली साम्यवादी विचारधारा में। इस ऐतिहासिक नियतिवादी विचारधारा की सबसे बडी विशेषता यह रही है कि इसमें संसार की भूत और वर्तमान गतिविधियों का निर्वाचन योरोपीय इतिहास की गतिविधियों के आधार पर किया गया है। मार्क्स (Marks) में यह एक एकांगी दृष्टिकोण अपनी परीकाष्ठा पर पहुंचा हुआ है।

बारहवीं शताब्दी के बाद, योरोप में उस नवजागरण की लहर दौडी जिसने वर्तमान वैज्ञानिक युग के लिए मार्ग प्रशस्त किया। पुनर्जागरण में, एक ओर, बौद्धिकता बढी तो दूसरी ओर यूनानी रोमन (Graeco Roman) ज्ञान को प्रत्यक्ष प्राप्त करने की प्रबल लालसा। इस लालसा को प्रज्वलित करने का श्रेय अरबी और बइज़न्टाइन (Byzantimo) साम्राज्य के विद्वानों को है। इसका परिणाम यह हुआ कि योरोप में यूनानियों की बौद्धिक साहसिकता और समन्वेषण (Exploration) की भावना का प्रभाव बढा। यह इस नवजागरण का प्रणेता था। अतएव इसके प्रारम्भिक रूप पर चर्च और धार्मिकता की छाप है। किन्तु जब योरोप के धर्मविदों ने इल्हामी मजहब (Revealed Religion) और प्रकृति (Nature) को अलग अलग प्रमेय मानकर प्रकृति के अध्ययन में युक्तियुक्त कार्य कारण विचार को स्थान दे दिया तो अप्रत्यक्ष रूप में उन्होंने वर्तमान वैज्ञानिक विचारधारा के विकास के लिए मार्ग उन्मुक्त कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि योरोपीय विचारक ने, एक ओर, रूढ़ोक्तियों (Dogmas) के प्रति संशय और विरोध का दृष्टिकोण अपना कर उनका विरोध और उनकी अवहेलना करनी प्रारम्भ कर दी तो, दूसरी ओर प्रकृति को स्वचलित मान कर उसमें पाई जाने वाली अनुभवगम्य व्यवस्था में निहित कार्य कारणों के सुदृढ आधार पर उन शाश्वत नियमों की खोज करनी प्रारम्भ की जो सभी स्थान और काल में एक जैसे हों। न्यूटन (Newton) के सिद्धान्त इसका

प्रमाण है। न्यूटन (Newton) ने अपने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का प्रतिपादन पेड़ से गिरते हुए फल को देखकर किया था। यहीं से योरोप में मजहबी रूढ़िवादिता (Religious Dogmas) और कर्मकाण्डवादिता (Ritualism) के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ होती है और आगे चलकर जिसका परिणाम हुआ इसाइयत का कैथोलिक (Catholic) तथा प्रोटेस्टेंट (Protestant) सम्प्रदायों में विभाजन। चौदहवीं शताब्दी के सातवें दशक में, इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप, सुधारवादी आन्दोलन की लहर दौड़ी। सुधारवादी आन्दोलन के प्रभाव में प्राचीन चर्च संगठन की तीव्र आलोचना तथा राष्ट्रीय चर्चों (National Churches) की स्थापना की गयी और मानव के सम्पूर्ण विकास के लिए युक्तियुक्त आदर्शों की तलाश की गयी। योरोप में विश्वविद्यालयों की स्थापना इसी काल में हुयी। विश्वविद्यालयों के माध्यम से उस नये ज्ञान विज्ञान का प्रसार किया गया जो पुनर्जागरण का प्रेरणास्रोत था।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रादुर्भाव के साथ-साथ, योरोप में वैज्ञानिक युग का प्रारम्भ हुआ। योरोप की वैज्ञानिक विचारधारा, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उस दृष्टिकोण और मान्यता से उत्पन्न हुयी जिसमें इल्हामी ज्ञान और प्रकृति को अलग अलग मान लिया था। प्रकृति को स्वाभाविक मानकर, उसके अनुभवगम्य प्रमेयों का निर्माण करने वाले नियमों के कार्य कारण निर्धारित करने के प्रयास में ही उस परम्परा का प्रारम्भ हुआ जिसे अनुभूतिवाद (Empiricism) की संज्ञा दी गयी है और जिसका स्रोत अरस्तू (Aristotle) की परम्पराओं में है। यहीं से विज्ञान की वह परिभाषा प्रारम्भ हुयी जिसमें निरीक्षण और वर्गीकरण तथा आगमन और निगमन की अध्ययन रीतियों द्वारा शाश्वत नियमों को ढूढ़ निकालने का भाव निहित है। योरोप में जन्मे और विकसित सारे भौतिक विज्ञान (Physical Sciences) इसी प्रयास में जन्मे हैं और लगभग सभी का इतिहास अरस्तू (Arestotle) तक जोड़ा जाता है। इस दृष्टिकोण में विज्ञान के क्षेत्र में वही विषय आ सकता है जो अनुभवगम्य है और जिन पर उपरोक्त अध्ययन रीतियों का प्रयोग करके कार्य कारण संबंधी सार्वकालिक तथा सार्वभौमिक नियमों का निर्धारण किया जा सकता है। यही परंपरा वह परम्परा है जिसे विज्ञान की प्रकृतिवादी परम्परा (Naturalism) कहते हैं। भौतिक-संसार में इस परम्परा की सफलता देखकर, इसका प्रयोग समाज और उसके विभिन्न पहलुओं के अध्ययन पर किया गया और जिस दिन में यह मान्यता घर कर गयी कि सामाजिक प्रमेयों का उसीप्रकार में अध्ययन किया जा सकता है जिस प्रकार भौतिक प्रमेयों का, उसी दिन से योरोप के सामाजिक शास्त्र, धर्मविद्या, दर्शन और ऐतिहासिक नियतिवाद के प्रभाव से निकल कर अनुभूतिवाद के प्रभाव में आ गए। योरोप के विद्वानों ने सामाजिक प्रमेयों को भी उसी प्रकार से सार्वकालिक तथा सार्वभौमिक नियमों के आधार पर स्वचालित माना है जिस प्रकार से प्राकृतिक प्रमेय हैं। भौतिक और सामाजिक प्रमेय को समान मानने से ही, सावयवी (Organismic) और

मशीनवादी (Mechanistic) सिद्धान्तों के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया और इन सिद्धान्तों के आधार पर यह प्रतिपादित किया गया कि सामाजिक वास्तविकता वस्तुतः समष्टि में समायी है न कि व्यक्ति में और व्यक्ति समष्टि में उसी प्रकार रहते हैं जिस प्रकार प्राणियों में कोष्ठ या मशीन में पुर्जे। व्यक्ति और समष्टि को लेकर योरोप में जो समस्या है उसका स्रोत इसी परम्परा में है।

इस विकास का परिणाम यह हुआ कि योरोप एक ऐसे न्यूटन (Newton) के लिए लालायित हो उठा जो समाज विषयक सार्वकालिक तथा सार्वभौमिक नियमों का ढूढ़ निकाले। किन्तु यह लालसा केवल लालसामात्र रही क्योंकि सामाजिक और भौतिक प्रमेय वस्तुतः ही भिन्न है जैसे चीनी और गन्ना। योरोप में इस विकास के दो परिणाम हुए—एक ओर, इससे वैज्ञानिक और युक्तियुक्त (Rational) बौद्धिकता का जन्म हुआ जिससे योरोपीय विचार सिद्धान्तों (Dogmas) के प्रभाव से मुक्त हो गया और, दूसरी ओर, इससे आध्यात्मिकता का प्रभाव कम हुआ विज्ञान और धर्म में विरोधाभास उत्पन्न हुआ। दर्शन का स्थान गौण हो गया और मानव जीवन की आशाओं के प्रति एक अधिक भौतिकवादी दृष्टिकोण का अभ्युदय हुआ। सामाजिक नियोजन और नियन्त्रण का विचार और भी प्रबल हो गया। इसाइयत द्वारा जिस स्वर्ग साम्राज्य की कल्पना की गयी थी वह समाज कल्याण समाज सेवा और कल्याणकारी राज्य में बदल गया। सामाजिक और भौतिक विज्ञानों को एक स्तर पर लाने के प्रयास तथा उनमें निहित विरोधाभास ने योरोप के मानव विषयक चिन्तन में विरोध उत्पन्न किया। इसमें योरोपीय चिन्तन में उस नैराश्य का समावेश हुआ जिसे योरोपीय सभ्यता की शीज्म (Schism) कहा जाता है। सामाजिक विज्ञानों में तरंगित भौतिक विज्ञानों की परम्परा में मनुष्य केवल भौतिक या प्राकृतिक माना गया जिसका परिणाम यह हुआ कि वैज्ञानिक स्पष्टीकरण में मानव की भौतिक प्रवृत्तियों पर ही जोर दिया गया। इसाई योरोप यह भूल गया कि मानव में भौतिक तथा आध्यात्मिक और पार्थिव तथा अपार्थिव का संगम है।

सुधारवादी आन्दोलन विज्ञानक्रान्ति और संसार पर योरोप का आर्थिक राजनैतिक प्रभुत्व वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी के योगदान है। वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी का प्रारम्भ उस समय से होता है जब से योरोप में बिजली, भाप और तेल जैसी प्राकृतिक वस्तुओं से शक्ति उत्पन्न करके मनुष्य ने उसका प्रयोग प्रौद्योगिकी के रूप में करना प्रारम्भ किया। वैज्ञानिक युग के पहले की प्रौद्योगिकी श्रम सापेक्ष थी और उसके विकास की गति धीमी थी। चौदहवीं शताब्दी के पहले मनुष्य प्रौद्योगिकी में या तो अपने शरीर की शक्ति का प्रयोग करता था या पालतू जानवरों की शारीरिक शक्ति का। हवा का प्रयोग वह करता था किन्तु केवल जहाज चलाने में या हवा चक्की चलाने में। चौदहवीं शताब्दी के बाद में भाप, बिजली, आयल इंजिन और परमाणु शक्ति के आविष्कार

वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी (margin heading)

के साथ साथ योरोप म होने वाले प्रौद्योगिक विकास के द्वारा धीरे धीरे, योरोप का रूपान्तरण होता रहा है। छापेखाने का आविष्कार और प्रयोग इसका उदाहरण है। छापेखाने से जनसाधारण म ज्ञान का प्रसार और सन्देशवाहकता बढ़ी। योरोप मे बाइबिल का अनुवाद कई भाषाओ के माध्यम से जनसुलभ हुआ। मुद्रित पुस्तकों से ही योरोप म उस जिज्ञासावादी तथा विवेकी भावना का प्रसार हुआ जो सोलहवी शताब्दी म प्रोटेस्टेंट सुधार के लिए उत्तरदायी हुई। समाचार पत्र, आधुनिक प्रौद्योगिकी का दिया हुआ एक सबल सन्देशवाहक उपकरण, छापेखाने पर ही निर्भर है।

भौतिक प्रमेया के कार्य-कारण का पता लगाने के प्रयास म भाप, बिजली और परमाणु जैसी भौतिक शक्तियो को सन्नद्ध करने से प्रौद्योगिकी के प्रयोग के वे साधन निकले जिनसे योरोप म प्रौद्योगिकी और उसके प्रयोग म आमूल चूल परिवर्तन ही नही हुए वरन योरोप म प्रौद्योगिकी का प्रभाव सर्वोपरि हो गया। भाप और बिजली के प्रयोग से यातायात और उत्पादन के साधनो का मशीनीकरण हुआ जिससे उनकी गति और भी बढ गयी। यातायात के द्रुतगामी साधनो के कारण, योरोप का ससार के अन्य भागो से सम्बन्ध स्थापित हुआ। उत्पादन के साधनों की गति बढ़ने से उत्पादन बढ़ा जिसके लिए बाजार और खरीदारो की आवश्यकता हुयी। मशीनो से बने माल के अपेक्षाकृत अधिक सस्ता होने के कारण, बाजार और खरीदार मिलने मे सुविधा हुयी। उत्पादन, उपभोग के लिए न होकर लाभ के लिए होने लगा। बाजार, खरीदार और कच्चे माल की तलाश म योरोपियनो ने अपने उपनिवेश और साम्राज्य स्थापित किए। इस विकास का परिणाम यह हुआ कि योरोप एक कारखाना बन गया और ससार के अन्य देश एक बड़े बाजार का अंग। कारखानो म मजदूरों की आवश्यकता हुयी जिसके परिणामस्वरूप प्रजातन्त्र और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नाम पर सामन्तवाद के विरुद्ध आन्दोलन चला। जहा कारखाने थे, वहा की सख्या बढ़ने लगी और वर्तमान शहर का जन्म हुआ। इसप्रकार, प्रौद्योगिकी के विकास के साथ साथ योरोप म औद्योगीकरण, शहरीकरण और पूजीवाद का विकास हुआ।

पूजीवाद विकास की वह अवस्था है जिसम उत्पादन लाभ और विक्रय के लिए किया जाता है और जिसमे श्रम का क्रय विक्रय पार्थिव वस्तु के समान होता है। प्रौद्योगिकी के प्रभाव के कारण स्त्री स्वातन्त्र्य का आन्दोलन छिड़ा क्योकि, एक ओर, गर्भ निरोधक तरीको ने स्त्री को प्रजनन के भार से मुक्ति दी तो, दूसरी ओर, प्रौद्योगिकी के प्रयोग के कारण ऐसे धन्धे अस्तित्व म आए जिन्हें करके स्त्रिया आर्थिक स्वातन्त्र्य भी पा सकती थी। योरोप की वर्तमान वर्ग प्रथा प्रौद्योगिकी और पूजीवाद की ही देन है। प्रौद्योगिकी ने, एक ओर, विशेषीकरण तथा धर्मनिरपेक्षता को प्रोत्साहित किया तो, दूसरी ओर सामाजिक-सास्कृतिक जीवन पर व्यापारीकरण के प्रभाव का।

सिनमा, टेलीविजन रेडियो, टेलीफोन और तार बिजली की देन हैं। प्रौद्योगिकी के ये उपकरण व सन्देशवाहक साधन हैं जिनम, एक ओर, योरोपीय साम्राज्य

मशीनवादी (Mechanistic) सिद्धान्तों के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया और इन सिद्धान्तों के आधार पर यह प्रतिपादित किया गया कि सामाजिक वास्तविकता वस्तुतः समष्टि में समायी है न कि व्यक्ति में और व्यक्ति समष्टि में उसी प्रकार रहते हैं जिस प्रकार प्राणियों में कोष्ठ या मशीन में पुर्जे। व्यक्ति और समष्टि को लेकर योरोप में जो समस्या है उसका स्रोत इसी परम्परा में है।

इस विकास का परिणाम यह हुआ कि योरोप एक ऐसे न्यूटन (Newton) के लिए लालायित हो उठा जो समाज विषयक सार्वकालिक तथा सार्वभौमिक नियमों को ढूंढ निकाले। किन्तु यह लालसा केवल लालसामात्र रही क्योंकि सामाजिक और भौतिक प्रमेय उतने ही भिन्न हैं जैसे चीनी और गन्ना। योरोप में इस विकास के दो परिणाम हुए—एक ओर, इससे वैज्ञानिक और युक्तियुक्त (Rational) बौद्धिकता का जन्म हुआ जिससे योरोपीय विचार सिद्धान्तों (Logmas) के प्रभाव से मुक्त हो गया और दूसरी ओर इससे आध्यात्मिकता का प्रभाव कम हुआ, विज्ञान और धर्म में विरोधाभास उत्पन्न हुआ। दर्शन का स्थान गौण हो गया और मानव जीवन की आशाओं के प्रति एक अधिक गत्यात्मक दृष्टिकोण का अभ्युदय हुआ। सामाजिक नियोजन और नियन्त्रण का विचार और भी प्रबल हो गया। ईसाइयत द्वारा जिस स्वर्ग साम्राज्य की कल्पना की गयी थी वह समाज-कल्याण समाज सेवा और कल्याणकारी राज्य में बदल गया। सामाजिक और भौतिक विज्ञानों को एक स्तर पर लाने के प्रयास तथा उनमें निहित विरोधाभास ने योरोप के मानव विषयक चिन्तन में विरोध उत्पन्न किया। इसमें योरोपीय चिन्तन में उस नैराश्य का समावेश हुआ जिसे योरोपीय सभ्यता की शीज्म (Schism) कहा जाता है। सामाजिक विज्ञानों में तरंगित भौतिक विज्ञानों की परम्परा में मनुष्य केवल भौतिक या प्राकृतिक माना गया जिसका परिणाम यह हुआ कि वैज्ञानिक स्पष्टीकरण में मानव की भौतिक प्रवृत्तियों पर ही जोर दिया गया। इसीलिए योरोप यह भूल गया कि मानव में भौतिक तथा आध्यात्मिक और पार्थिव तथा अपार्थिव का संगम है।

सुधारवादी आन्दोलन विज्ञानवादिता और संसार पर योरोप का आर्थिक राजनैतिक प्रभुत्व वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी के योगदान हैं। वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी का प्रारम्भ उस समय से होता है जब से योरोप में बिजली, भाप और तेल जैसी प्राकृतिक वस्तुओं से शक्ति उत्पन्न करके मनुष्य ने उसका प्रयोग प्रौद्योगिकी के रूप में करना प्रारम्भ किया। वैज्ञानिक युग के पहले की प्रौद्योगिकी कम सम्पन्न थी और उसके विकास की गति धीमी थी। चौदहवीं शताब्दी के पहले मनुष्य प्रौद्योगिकी में या तो अपने शरीर की शक्ति का प्रयोग करता था या पालतू जानवरों की शारीरिक शक्ति का। हवा का प्रयोग वह करता था किन्तु केवल जहाज चलाने में या हवा चक्की चलाने में। चौदहवीं शताब्दी के बाद से भाप, बिजली, आयल इंजिन और परमाणु शक्ति के आविष्कार

(Margin: वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी)

के साथ साथ योरोप में होने वाले प्रौद्योगिक विकास के द्वारा, धीरे धीरे, योरोप का रूपान्तरण होता रहा है। छापेखाने का आविष्कार और प्रयोग इसका उदाहरण है। छापेखाने से जनसाधारण में ज्ञान का प्रसार और सन्देशवाहकता बढ़ी। योरोप में बाइबिल का अनुवाद कई भाषाओं के माध्यम से जनसुलभ हुआ। मुद्रित पुस्तकों से ही योरोप में उस जिज्ञासावादी तथा विवेकी भावना का प्रसार हुआ जो सोलहवीं शताब्दी में प्रोटेस्टेंट सुधार के लिए उत्तरदायी हुई। समाचार पत्र, आधुनिक प्रौद्योगिकी का दिया हुआ एक सबल सन्देशवाहक उपकरण, छापेखाने पर ही निर्भर है।

भौतिक प्रमेयों के कार्य-कारण का पता लगाने के प्रयास में, भाप बिजली और परमाणु जैसी भौतिक शक्तियों का संनद्ध करने से प्रौद्योगिकी के प्रयोग के वे साधन निकले जिनसे योरोप में प्रौद्योगिकी और उसके प्रयोग में आमूल चूल परिवर्तन ही नहीं हुए वरन् योरोप में प्रौद्योगिकी का प्रभाव सर्वोपरि हो गया। भाप और बिजली के प्रयोग से, यातायात और उत्पादन के साधनों का मशीनीकरण हुआ जिससे उनकी गति और भी बढ़ गयी। यातायात के द्रुतगामी साधनों के कारण, योरोप का संसार के अन्य भागों से सम्बन्ध स्थापित हुआ। उत्पादन के साधनों की गति बढ़ने से उत्पादन बढ़ा जिसके लिए बाजार और खरीदारों की आवश्यकता हुयी। मशीनों से बने माल के अपेक्षाकृत अधिक सस्ता होने के कारण, बाजार और खरीदार मिलने में

वाद को प्रोत्साहन और बल मिला, राष्ट्र राज्य (Nation State) का सर्वोच्च प्रभुता का उदय हुआ तथा उग्र राष्ट्रवादिता को प्रेरणा मिली और दूसरी ओर, ज्ञान विज्ञान के विकास और प्रसार में सहायता मिली। दूरबीन, सूक्ष्मवीन, एक्सरे और सिनेमा के प्रयोग से औषधिशास्त्र (Science of Medicine) जीव विज्ञान (Biology) और ज्योतिषशास्त्र (Astronomy) का आशातीत विकास हुआ। शहरीकरण और पूँजीवाद के प्रभाव के अन्तर्गत, सिनेमा रेडियो और टलीविजन के माध्यम से, परम्परागत मनोरंजनों का व्यापारीकरण हुआ। शहरीकरण, व्यापारीकरण औद्योगीकरण तथा यातायात के साधनों ने जहाँ एक ओर, व्यक्तिवाद को प्रोत्साहित करके सामाजिक आर्थिक संगठन में प्रतियोगिता का समावेश किया वहीं दूसरी ओर, सामाजिक संगठन में द्वितीयक समूहों को प्रधानता देकर तथा राष्ट्र राज्य (Nation State) को सर्वोच्च प्रधानता प्रदान करके, उस समष्टिवादी समाज को जन्म दिया जिसे कार्ल मनहीम ने पुंज समाज (Mass Society) कहा है—वह समाज जो सेना की भाँति सत्ताग्रस्त वर्गीकृत समाज है जिसमें व्यक्ति की भूमिका सक्रिय न होकर निष्क्रिय रहती है।

इस विकास प्रक्रिया ने संस्थाओं का भी रूपान्तरण कर दिया। परिवार को उपभोग की इकाई बनाकर तथा उसके अनेक कार्यों को राज्य समाज के कार्य क्षेत्र में लाकर, एक ओर उसके आकार को स्त्री पुरुष और बच्चों में निहित कर दिया तो दूसरी ओर, परिवार में व्यक्तिवादिता का समावेश किया। विवाह को धार्मिक प्रभाव से निकाल कर उसे एक संविदा (Contract) का रूप प्रदान किया गया। आर्थिक संस्थाओं में औद्योगीकरण तथा व्यापारीकरण का समावेश हुआ। आर्थिक संस्थाएं पूँजीवादी तथा साम्यवादी प्रकारों में बट गयी। धर्म आस्थामात्र रह गया—वह आस्था जो केवल व्यक्तिगत मान्यता की वस्तु है। अलौकिक में विश्वास को अधिक युक्तियुक्त बनाने का परिणाम यह हुआ कि धर्म केवल धर्मविद्या (Theology) मात्र रह गया। सम्पूर्ण धर्मों (Kins) के स्थान में, व्यक्ति पर औपचारिक (Formal) तथा अनौपचारिक (Informal) समूहों का नियन्त्रण अधिक व्यापक हो गया। कला धर्म के प्रभाव से निकल कर व्यापारिकता के प्रभाव में आ गयी। प्रकृतिवादिता के प्रभाव में कला केवल कला के लिए रह गया जबकि युक्तियुक्त विचारधारा के प्रभाव ने कला में उपादेयता के विचार को प्रोत्साहित किया।

प्रौद्योगिकी के उत्तरोत्तर विकास से योरोप का सामाजिक-आर्थिक रूपान्तरण हुआ उससे वर्तमान प्रान्तों का अभ्युदय हुआ और उसके संसारव्यापी विकास के साथ साथ, उसमें सम्पन्नायी तत्वों का विकास हुआ। पूँजीवादी तथा साम्यवादी आदि। और इंगलैण्ड, फ्रांस तथा रूस की जन क्रांतियाँ प्रौद्योगिकी के सतत विकास की पृष्ठभूमि में सम्भव हुई हैं। फ्रांस की राज्यक्रांति (1789) की समता (Equality) स्वतन्त्रता (Liberty) और बंधुता (Fraternity) का नारा यदि, एक

और इंगलैण्ड की मैगना कार्टा तथा रक्तहीन राज्यक्रान्ति वाली घटनाओं से प्रभावित है तो, दूसरी ओर ईसाइयत के सुधारवादी आन्दोलन और पूंजीवादी सामाजिक आदर्शों से। योरोप में तथा योरोप के बाहर निरन्तर बढ़ती हुई जनतन्त्र की माँग और उसकी पूर्ति में प्रौद्योगिकी एक बड़ा हाथ है। समता, स्वतन्त्रता और बन्धुता के आदर्श ईसाइयत के योगदान हैं किन्तु उनकी प्राप्ति, धीरे धीरे प्रौद्योगिकी की सहायता से सम्भव हुई है। व्यक्तिवाद पर आधारित जनसत्तात्मक जनतन्त्र पूंजीवादी विचार धारा की देन है। किन्तु पूंजीवाद से ही एक ओर योरोपीय साम्राज्यवादिता का विकास हुआ और दूसरी ओर लोकतन्त्रीय राष्ट्रवादिता का। योरोपीय साम्राज्यवादिता ने योरोपीय साम्राज्यवाद को जन्म दिया और लोकतन्त्रीय राष्ट्रवादिता ने योरोप के देशों तथा योरोपीय साम्राज्यवाद के प्रभाव में आये देशों में राष्ट्रवादिता को जन्म दिया। जिसके परिणामस्वरूप योरोप में ही योरोप का विभेद उत्पन्न हुआ और योरोपीय सभ्यता का प्रसार संघर्षमय हो गया। जनतन्त्र के आदर्श और पूंजीवादी साम्राज्यवाद स्वतः विरोधी हो गए जिसके परिणामस्वरूप योरोपीय सभ्यता वर्तमान संसार में वैसे ही संघर्ष का कारण बनी जैसे कि मध्ययुग में इस्लाम का प्रचार। इसी विकास की पृष्ठभूमि में साम्यवाद का जन्म हुआ जो योरोपीय सभ्यता की एक वैसे ही विशेषता है जैसे पूंजीवाद।

साम्यवाद (Communism) योरोपीय सभ्यता की देन है। साम्यवाद अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में योरोप में चलने वाली विचार धाराओं की एक उत्पत्ति है। साम्यवाद योरोप के बौद्धिक विकास की एक स्वाभाविक उपज है। साम्यवाद के प्रणेता हैं कार्ल मार्क्स (Karl Marks 1818-1883) जिनका जन्म जर्मनी में हुआ था। साम्यवाद वस्तुतः एक दर्शन है और इसकारण साम्यवाद को मार्क्सवाद (Marxism) भी कहा जाता है। मार्क्सवादी दर्शन के आधार हैं समाज और मानव-व्यवहार का ऐतिहासिक आर्थिक विवेचन भौतिकतावाद और समाजवाद। मार्क्स के अनुसार, मानव-व्यवहार और समाज के कारक तत्व अपार्थिव न होकर पार्थिव और भौतिक हैं। आंगिक उत्विकास की प्रक्रिया में जब मानव नाम के जीवधारी ने पार्थिव पदार्थों से जीवन निर्वाह की वस्तुओं का उत्पादन करना प्रारम्भ किया तभी से वह अन्य प्राणियों से भिन्न होकर मनुष्य कहलाया। अतः, मानव में जो चेतना है वह आध्यात्मिक (Spritual) न होकर पार्थिव (Material) है क्योंकि मानव चेतन पार्थिव परिस्थितियों में ही उत्पन्न होता है। प्रत्येक परिस्थिति (Thesis) अपनी विरोधी परिस्थिति (Anti Thesis) को जन्म देती है और दोनों के संघर्ष से एक नया सन्तुलित और समन्वित परिस्थिति उत्पन्न होती है जो, कालान्तर में, एक नयी परिस्थिति बनकर और पुनः विरोधी परिस्थिति को जन्म देकर, एक नई परिस्थिति को जन्म देती है। इस प्रकार, संसार की विकास प्रक्रिया चला करती है। मानव व्यवहार और समाज इसी

द्वन्द्वात्मक विकास प्रक्रिया की उत्पत्ति है। इस विकास प्रक्रिया का कारण प्रौद्योगिकी है क्योंकि प्रौद्योगिकी के परिवर्तित होने से एक परिस्थिति की विरोधी परिस्थिति उत्पन्न होती है। अत, मार्क्स ने अपने ऐतिहासिक विवेचन को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Matrialism) की संज्ञा देकर वैज्ञानिक होने का दावा किया है। मार्क्स की इस वैज्ञानिकता के दावे का तात्पर्य यह निर्धारित करना है कि उसका ऐतिहासिक विवेचन एक शाश्वत सिद्धान्त पर आधारित है। वह सिद्धान्त है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद जो सभी स्थान और कालों में वैसे ही लागू होता है जैसे भौतिक विज्ञान के नियम।

मार्क्स का ऐतिहासिक विवेचन उद्विकासी (Evolutionary) है क्योंकि मार्क्स की अध्ययन रीति में यह मान्यता स्वयंसिद्ध मान ली गयी है कि मानव इतिहास आदि से अन्त की ओर उद्विकसित (Evolved) हो रहा है। मानव इतिहास का आदि समाया है उस अवस्था में जब मानव ने पार्थिव उपकरणों के द्वारा जीवन निर्वाह की वस्तुओं का उत्पादन करना सीखा। उस अवस्था से सामन्तवादी और पूंजीवादी अवस्थायें विकसित हुयी हैं। पूंजीवाद केवल एक संक्रमण-काल है क्योंकि इतिहास की निर्दिष्ट अवस्था है समाजवादी साम्यवाद। समाजवाद मानव इतिहास के विकास की वह सामाजिक स्थिति है जिसमें व्यक्ति का विकास पूर्णत्व को पहुंच जाएगा क्योंकि उस समाज में सभी व्यक्ति और सभी पेशे समान होंगे, विभिन्न सामाजिक कार्य (Social Functions) सामाजिक क्रिया के विभिन्न वैकल्पिक रूप (Alternative Forms) होंगे, जिनमें से व्यक्ति अपनी योग्यता और आवश्यकतानुसार अपने कार्य का चुनाव करेगा। उत्पादन के सभी साधन समाज के नियन्त्रण में होंगे। व्यक्ति के पूर्ण विकास और योग्यता तथा आवश्यकतानुसार जीवन यापन करने का स्वाभाविक परिणाम होगा राज्य (State) की अनावश्यकता। अत धीरे धीरे राज्य (State) लुप्त हो जायगा। दूसरे शब्दों में तथा योरोप की मार्क्स की पूर्ववर्ती विचार के सन्दर्भ में यदि कहा जाय तो इसका निचोड़ यह होगा कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित काल्पनिक समाजवादी अवस्था इस पृथ्वी पर स्वर्ग साम्राज्य (Kingdom of Heaven) की स्वतः अवतारणा होगी। उसके बाद इतिहास की गतिविधि क्या होगी? मार्क्स ने इस प्रश्न को उठाया ही नहीं। यही उसकी वैज्ञानिकता का दावा समाप्त हो जाता है। यही उसका दर्शन कोरा आदर्श (Utopia) मात्र रह जाता है—वैसा ही आदर्श जैसा कि इसाई मत में प्रतिपादित किया गया था। इसी कारण, मार्टिंडल ने मार्क्स की विचारधारा को रहस्यवादी कहा है और राधाकृष्णन ने मार्क्स द्वारा प्रेरित साम्यवाद को एक प्रकार की धर्मनिरपेक्ष इसाइयत कहा है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) की अध्ययन रीति द्वारा मार्क्स ने यह दिखाने का प्रयास किया कि प्रत्येक उद्विकासी अवस्था में उसके प्रति द्वन्द्वी कारकों की उत्पत्ति होती है जिससे उस अवस्था में वे उद्विकासी परिवर्तन होते

हैं जो इतिहास को उसकी पूर्वनिर्धारित दिशा की ओर ले जाते हैं। चूंकि जीवन निर्वाह की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मनुष्य ही पार्थिव उपकरणों का प्रयोग करता है अत, उत्पादन के पार्थिव उपकरण ही संस्थाओं के कारक हैं। उत्पादन के पार्थिव उपकरणों में परिवर्तन आते ही सामाजिक सम्बन्धों और संस्थाओं में परिवर्तन आता है। जिस जीवन निर्वाह की अवस्था में मनुष्य आखेट और कन्द मूल पर ही निर्भर था, उस अवस्था में सभी मनुष्य समान थे और समाज तथा संस्थाओं का संगठन व्यक्तिवादी न होकर समष्टिवादी था। कृषि के अनुसंधान ने सामंतवाद को जन्म दिया और वर्तमान प्रौद्योगिकी ने पूंजीवाद को। इस परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि मानव समाज निरंतर वर्गों में बटता गया और पूंजीवादी अवस्था में आकर तीन वर्ग हो गये--पूंजीपति, मध्यमवर्ग और सर्वहारा वर्ग। प्रत्येक अवस्था के पार्थिव उपकरणों और उनके परस्पर सम्बन्ध से उस अवस्था की आर्थिक व्यवस्था उत्पन्न होती है जो अपने में सम्बन्धित सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक चेतना को जन्म देती है। सामाजिक व्यवस्था का उद्विकास, वर्ग-व्यवस्था के उत्तरोत्तर विकास और समाप्ति की ओर रहा है। सामंतवादी व्यवस्था में दो वर्ग थे--मालिक और गुलाम। किन्तु जब वर्तमान प्रौद्योगिकी का विकास हुआ तो उत्पादन के पार्थिव उपकरणों पर पूंजीपतियों का आधिपत्य हुआ और ऐसे वर्ग अस्तित्व में आये जिनके कारण मध्य-वर्ग का विकास हुआ। समाज की वर्गव्यवस्था के विभिन्न वर्ग कभी परस्पर सहयोगी नहीं रहे। उनमें निरंतर संघर्ष चलता रहता है और जब एक अवस्था विशेष की प्रतिद्वंद्वी अवस्था आती है तो यह वर्गसंघर्ष तीव्रतम हो जाता है। वर्तमान प्रौद्योगिकी के विकास के साथ साथ, पूंजीवादी प्रजातन्त्रीय आन्दोलन का बढ़ना तथा सफल होना इसका उदाहरण है।

मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था में ही उसके प्रतिद्वन्द्वी तत्व निहित हैं। इसको प्रतिपादित करने के लिये मार्क्स ने राजनैतिक अर्थव्यवस्था (Political Economy) के प्रतिष्ठित सिद्धान्तों (Classical Theories) का आश्रय लेकर, अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इस आर्थिक सिद्धान्त के अनुसार श्रमिक को जो धन मजदूरी के रूप में मिलता है वह उस धन से कम होता है जो वह अपने श्रम के द्वारा उत्पादित करता है। यही अतिरिक्त मूल्य पूंजीपति का मुनाफा है और वह उतना ही बढ़ता जाता है जितना कि उत्पादन बढ़ता जाता है। इसका एक परिणाम यह होता है कि श्रमिक वर्ग दिन पर दिन निर्धन होता जाता है और पूंजीपति वर्ग धनवान। निर्धन पूंजीपति और श्रमिक के बीच संघर्ष बढ़ता जाता है। इस संघर्ष में मध्यम वर्ग के लोग पूंजीपति के साथ रहने का प्रयास करते हैं किन्तु जैसा कि इतिहास का पूर्वनिर्धारित विधान है वे रह नहीं सकते हैं क्योंकि, एक ओर, वे स्वयं निर्धन होकर सर्वहारा वर्ग में मिलते जाते हैं और, दूसरी ओर उनका वर्ग इतना विजातीय होता है कि उनका उत्तरोत्तर विशृंखलन अवश्यंभावी हो जाता है। कतिपय

द्वन्द्वात्मक विकास प्रक्रिया की उत्पत्ति है। इस विकास प्रक्रिया का कारण प्रौद्योगिकी है क्योंकि प्रौद्योगिकी में परिवर्तित होने से एक परिस्थिति की विरोधी परिस्थिति उत्पन्न होती है। अतः मार्क्स ने अपने ऐतिहासिक निवचन को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) की संज्ञा देकर, वज्ञानिक होने का दावा किया है। मार्क्स की इस वज्ञानिकता के दावे का तात्पर्य यह निर्धारित करना है कि उसका ऐतिहासिक निवचन एक शाश्वत सिद्धान्त पर आधारित है। वह सिद्धान्त है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद जो सभी स्थान और कालों में वसे ही लागू होता है जसे भौतिक विज्ञान के नियम।

मार्क्स का ऐतिहासिक निवचन उदविकासी (Evolutionary) है क्योंकि मार्क्स की अध्ययन रीति में यह मान्यता स्वयसिद्ध मान ली गयी है कि मानव इतिहास आदि से अन्त की ओर उदविकसित (Evolved) हो रहा है। मानव इतिहास का आदि समाया है उस अवस्था में जब मानव ने पार्थिव उपकरणों के द्वारा जीवन निर्वाह की वस्तुओं का उत्पादन करना सीखा। उस अवस्था से सामन्तवादी और पूजीवादी अवस्थायें विकसित हुयी हैं। पूजीवाद केवल एक सक्रमण काल है क्योंकि इतिहास की निर्दिष्ट अवस्था है समाजवादी साम्यवाद। समाजवाद मानव इतिहास के विकास की वह सामाजिक स्थिति है जिसमे व्यक्ति का विकास पूर्णत्व का पहुच जाएगा क्योंकि उस समाज में सभी व्यक्ति और सभी पेशे समान होंगे, विभिन्न सामाजिक काय (Social Functions) सामाजिक क्रिया के विभिन्न वकल्पिक रूप (Alternative Forms) होंगे जिनमे से व्यक्ति अपनी योग्यता और आवश्यकतानुसार अपने काय का चुनाव करेगा। उत्पादन के सभी साधन समाज के नियन्त्रण में होंगे। व्यक्ति के पूर्ण विकास और योग्यता तथा आवश्यकतानुसार जीवन यापन करने का स्वाभाविक परिणाम होगा राज्य (State) का अनावश्यकता। अतः, धीरे धीरे राज्य (State) लुप्त हो जायगा। दूसरे शब्दों में तथा योरोप की मार्क्स की पूववर्ती विचार के सन्दर्भ में कहा जाय तो इसका निचोड़ यह होगा कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित काल्पनिक समाजवादी अवस्था इस पृथ्वी पर स्वग साम्राज्य (Kingdom of Heaven) की स्वतः अवतारणा होगी। उसके बाद इतिहास की गतिविधि क्या होगी? मार्क्स ने इस प्रश्न को उठाया ही नहीं। यहीं उसकी वज्ञानिकता का दावा समाप्त हो जाता है। यहीं उसका दर्शन कोरा आदर्श (Utopia) मात्र रह जाता है—वसा ही आदर्श जसा कि ईसाई मत में प्रतिपादित किया गया था। इसी कारण, मार्टिडेल ने मार्क्स की विचारधारा को रहस्यवादी कहा है और राधाकृष्णन ने मार्क्स द्वारा प्रेरित साम्यवाद को एक प्रकार की धर्मनिरपेक्ष ईसाइयत कहा है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) की अध्ययन रीति द्वारा मार्क्स ने यह दिखाने का प्रयास किया कि प्रत्येक उदविकासी अवस्था में उसके प्रतिद्वन्द्वी अवस्था की उत्पत्ति होती है जिससे उस अवस्था में उदविकासी परिवर्तन होते

है जो इतिहास को उसकी पूर्वनिर्धारित दिशा की ओर ले जाते हैं। चूंकि जीवन निर्वाह की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मनुष्य ही पार्थिव उपकरणों का प्रयोग करता है, अत, उत्पादन के पार्थिव उपकरण ही संस्थाओं के कारक हैं। उत्पादन के पार्थिव उपकरणों में परिवर्तन आते ही सामाजिक सम्बन्धों और संस्थाओं में परिवर्तन आता है। जिस जीवन निर्वाह की अवस्था में मनुष्य आखेट और कन्द मूल पर ही निर्भर था, उस अवस्था में सभी मनुष्य समान थे और समाज तथा संस्थाओं का संगठन व्यक्तिवादी न होकर समष्टिवादी था। कृषि के अनुसंधान ने सामंतवाद को जन्म दिया और वर्तमान प्रौद्योगिकी ने पूंजीवाद को। इस परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि मानव समाज निरन्तर वर्गों में बटता गया और पूंजीवादी अवस्था में आकर तीन वर्ग हो गये--पूंजीपति, मध्यमवर्ग और सर्वहारा वर्ग। प्रत्येक अवस्था के पार्थिव उपकरणों और उनके परस्पर सम्बन्धों से उस अवस्था की आर्थिक व्यवस्था उत्पन्न होती है जो अपने से सम्बन्धित सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक चेतना को जन्म देती है। सामाजिक व्यवस्था का उद्विकास, वर्ग-व्यवस्था के उत्तरोत्तर विकास और समाप्ति की ओर रहा है। सामंतवादी व्यवस्था में दो वर्ग थे—मालिक और गुलाम। किन्तु जब वर्तमान प्रौद्योगिकी का विकास हुआ तो उत्पादन के पार्थिव उपकरणों पर पूंजीपतियों का आधिपत्य हुआ और एक नये अस्तित्व में आये जिसके कारण मध्य-वर्ग का विकास हुआ। समाज की वर्गव्यवस्था के विभिन्न वर्ग कभी परस्पर सहयोगी नहीं रहे। उनमें निरन्तर संघर्ष चलता रहता है और जब एक अवस्था विशेष की प्रतिद्वंद्वी अवस्था आती है तो यह वर्गसंघर्ष [illegible] है। वर्तमान प्रौद्योगिकी के विकास के साथ साथ, पूंजीवादी [illegible]

उच्च मध्य वग के लोग पूजीपतियो म मिल जायेंग और निम्न मध्यमवग के लोग सवहारा वग म। और इसका परिणाम यह होगा कि पूजीवादी यवस्था के अन्त मे केवल दो ही वग रह जायेंगे और उनमे सघष इतना तीव्र होगा कि पूजीवादी व्यवस्था समाप्त हो जायगी और समाज पर सवहारा वग की तानाशाही स्थापित होगी। इस तानाशाही की स्थापना ही समाजवादी यवस्था का प्रारम्भ है। इसीलिए, माक्सवाद का नारा है 'ससार के श्रमिको सगठित हो'। इस प्रकार माक्सवाद एक ओर एक पगम्बरी भविष्यवाणी और आवाहन है तो, दूसरी ओर, ऐतिहासिक प्रक्रिया म सघष की अवश्यभावी मानने वाला एक आदश। माक्सवादी विचारधारा के अनुसार इतिहास समाजवाद की ओर जायगा ही किन्तु यदि उस यवस्था को जल्दी लाना है तो एतिहासिक प्रक्रिया को द्रुतगामी बनाना होगा और उसका सबसे सरल उपाय है पूजीपति और सवहारा वग के सघष को प्रोत्साहित करना। क्रान्ति समाजवाद का अग्रद्वार है। समाजवाद से पहले अभीप्सित है क्रान्ति। युद्ध सघष और विनाश पुनर्निर्माण के प्रथम चरण है।

माक्सवाद का जन्म हुआ था जमनी म किन्तु उसको कार्यान्वित किया गया उन्नीस सौ सत्रह के जारशाही रूस म। लेनिन के नेतत्व म अक्टूबर सन् उन्नीस सौ सत्रह मे रूस म राज्यक्रान्ति हुयी जिसम जारशाही को हटाकर साम्यवादी समाज की स्थापना की गयी और माक्सवाद के सिद्धान्तो को क्रियात्मक रूप देने का प्रयास किया गया है। इस क्रान्ति की सफलता के बाद से मास्को (Moscow) माक्सवाद और साम्यवाद का उसी प्रकार से गढ हो गया है जिस प्रकार से रोम पोप की छत्रछाया म ईसाइयत का गढ रहा है। रूस म कहाँ तक माक्सवादी सिद्धान्तो को व्यावहारिक रूप दिया गया है यह एक विवादग्रस्त विषय है। किन्तु यह अवश्य है कि इस राज्यक्रान्ति की सफलता ने अनेक देशो के माक्सवादियो को यह प्रेरणा अवश्य दी है कि ससार म एकछत्र साम्यवादी राज्य की स्थापना हो सकती है और वे इसी दिशा म प्रयत्नशील भी हैं। उनकी यह भी मान्यता है कि क्रान्ति ही इसका एकमात्र आधार है। रूस म साम्यवादी सरकार की स्थापना के बाद से साम्यवादी आन्दोलन दो सम्प्रदायो म बट गया - एक सम्प्रदाय के लोगो का यह विचार था कि ससार मे क्रान्ति को प्रोत्साहन दिया जाय और दूसरे सम्प्रदाय के लोगो का यह विचार था कि पहले साम्यवाद को सगठित किया जाय और बाद म क्रान्ति के लिये प्रयत्न। साम्यवाद को सगठित और मजबूत करके, उसको सवहारा वग की तानाशाही का रूप देने के प्रयास म ही साम्यवाद मे अधिकारग्रस्त समाज और तानाशाही का समावेश हुआ। साम्यवादी ससार म साम्यवाद के प्रसार म वसे ही लगे हुये हैं जसे ईसाई ईसाइयत के प्रचार म। ततीय महायुद्ध के बाद तुर्की और यूगास्लाविया को छोडकर, आज पूर्वी जमनी मे हे जाने वाले प्रदेश तक रूसी साम्यवाद का आधिपत्य है। रूस की ही मान्यता से चीन म साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई। इस सरकार ने उत्तरी

कोरिया, वियतनाम, लाओस और तिब्बत तक अपने अधिकारक्षेत्र का बढ़ाया है। भारत पर चीन का आक्रमण भी इसी आदर्शवादी प्रसार का परिणाम है। मार्क्सवादी आदर्श म दूसरे देशो पर साम्यवादी देश का आक्रमण और प्रसार पूँजीवाद के विरुद्ध युद्ध है, एक प्रकार का जिहाद है और ससार क पुनर्निर्माण का यह आधार प्रयास है।

इसमे कोई सदेह नहीं कि सर्वहारा वर्ग के लिये मार्क्सवाद एक उत्तेजक आवाहन है किन्तु साथ ही साथ, सर्वहारा वर्ग को एक अधिकारग्रस्त तत्र म बाधने का यह एक माध्यम भी है। प्रोफेसर हलेकी (Prof Halecki) ने अपनी पुस्तक, दि लिमिटस एण्ड डिवीजन्स आफ योरोपियन हिस्ट्री म रूस को पश्चिम का अग न मानकर, पूर्व का अग माना है। अत उनकी मान्यता म साम्यवाद पूर्व की देन है न कि पश्चिम की[1]। किन्तु राधाकृष्णन के अनुसार, साम्यवाद का वशानुक्रम वस्तुत प्लेटो इसाइयत के न्यू टेस्टामेंट, सत्रह सौ चैतालीस के इगलैण्ड की ससदीय सेना के लेवलर (Leveller) कहे जाने वाले लोगो के कार्यों और विचार धारा, रिकार्डो और आडम स्मिथ जैसे प्रतिष्ठित (Classical) अर्थशास्त्रियो, डार्विन द्वारा प्रतिपादित सामाजिक डार्विनवाद, हीगल, मार्क्स एजेल्स और लेनिन के विचारो म है और उनकी बहुत सी विशेषतायें निश्चय ही योरोप की हैं। अधिकारतत्री आदर्श समाज की धारणा प्लेटो की देन है और द्वद्वात्मक विचार यूनान के माध्यम से हीगल (Hegel) का। जिस प्रकार यूनानियो ने ससार का सभ्य तथा असभ्य म बाटा था और बाद में इसाइयो ने इसाइयो तथा गैर इसाइयो (Heathens) म उसी प्रकार साम्यवादियों ने ससार को ससदीय प्रजातन्त्र (Parliamentary Democracy) तथा लोकतन्त्रीय प्रजातन्त्र (People s Democracy) मे बॉट दिया है। ससार को दो गुटो म बॉटने वाले इन आदर्शों का वर्तमान सघर्ष वैसे ही है जैसे एथेन्स और स्पार्टा, रोम और कारथेज, यहूदी और गैर यहूदी यूनानी और बर्बर इसाई और गैर इसाई प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक के सघर्ष। द्विभाजन (Dichotomy) पश्चिमी मस्तिष्क की एक विशेषता रही है और वर्तमान समाज के साम्यवादी तथा पूँजीवादी आदर्श इसी विशेषता की एक स्वाभाविक उत्पत्ति है।

साम्यवाद का विकास इसाइयत की पृष्ठभूमि म हुआ है और इस कारण साम्यवाद म इसाइयत की कई विशेषताओ का समावेश हो गया है। जिस प्रकार इसाइयत म ईसा द्वारा प्रतिपादित धर्म सिद्धान्तो को अन्तिम और अगाध माना गया है उसी प्रकार साम्यवाद म मार्क्स के सिद्धान्तो को वैज्ञानिक समाजवाद की परा काष्ठा माना जाता है। मार्क्स द्वारा प्रस्तुत इतिहास का निर्वचन क्रान्ति की अनिवार्यता और अन्ततोगत्वा समाजवाद की स्थापना उसी प्रकार की भविष्यवाणी है जैसे इसाइयत म कयामत और निर्णय दिवस (Day of Judgement) के अवश्यभावी आने

1 राधाकृष्णन, सर्वपल्ली ईस्ट एण्ड वेस्ट पृष्ठ 111

की कल्पना है। इसाइयत के विकास ने पोप संगठन को जन्म दिया और साम्यवाद ने कम्युनिस्ट इंटरनेशनल को। जिस प्रकार, इसाइयत के सिद्धान्तों के अंतिम निर्वचन का अधिकार पोप और उसकी परिषद का रहा है उसी प्रकार मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अंतिम निर्वचन का विशेषाधिकार कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के अधिनायकों का रहा है। साम्यवाद का संसारव्यापी प्रसार करने के पीछे वही भावना है जो मिशनरियों के द्वारा संसार में इसाई धर्म का प्रसार करने के पीछे रही है। जिस प्रकार अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में इसाइयत के प्रचार और प्रसार ने साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन दिया उसी प्रकार आज साम्यवाद साम्राज्यवाद का आधार बन रहा है। साम्यवाद वस्तुतः इसाइयत का वह रूप लगता है जिसमें ईसा का स्थान मार्क्स ने लिया है पादरियों का साम्यवादी देशों के तानाशाही अधिनायकों ने मिशनरियों का साम्यवाद का दम भरने वाले आन्दोलनकारी कम्युनिस्ट राजनीतिज्ञों ने आध्यात्मिकता (Spiritualism) का पार्थिवता (Materialism) ने और स्वर्ग साम्राज्य (Kingdom of Heaven) का आदर्श समाजवाद ने।

यह समझना भूल होगी कि केवल इसाइयत ने ही साम्यवाद को जन्म दिया है। साम्यवाद योरोप के बौद्धिक चिंतन और अठारहवीं शताब्दी तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ चलने वाली विचारधाराओं का एक सहज परिणाम है। मार्क्सवाद को सक्रियता और व्यावहारिकता का जामा पहनाने वाले लेनिन (Lenin) के मत में मार्क्स की प्रतिभा में उन्नीसवीं शताब्दी की विचार पद्धति की तीन मुख्य धाराओं का प्रसार और पूर्ण सम्मिलन है। ये धारायें हैं—प्रतिष्ठित जर्मन दर्शन (Classical German Philosophy) प्रतिष्ठित अंग्रेजी राज्यार्थव्यवस्था (Classical English Political Economy) और फ्रांसीसी क्रान्ति के सिद्धान्तों से मिश्रित फ्रांसीसी समाजवाद। अठारहवीं शताब्दी के उदारवादी और क्रान्तिकारी आन्दोलनों ने एक ओर, सामाजिक सुधारवाद का रूप लिया था, दूसरी ओर उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में काल्पनिक अव्यवहार्य, आदर्श निर्माण (Utopia Building) का रूप लिया। मार्क्सवाद एक काल्पनिक अव्यवहार्य आदर्श है। अठारहवीं शताब्दी में भौतिक विज्ञानों के विकास द्वारा विज्ञानवादिता (Positivism) और वैज्ञानिक अध्ययन रीति (Scientific Method) का विकास हो चुका था। अठारहवीं शताब्दी के समाजवाद में विज्ञानवादिता वैज्ञानिक अध्ययन रीति और समाज सुधारवाद का एक विचित्र मिश्रण हो चुका था जिसे आगे चलकर मार्क्स ने अपनाया। मार्क्स का विवेचन इतिहास का एकतत्वीय (Monistic) निर्वचन है। एकतत्वीय निर्वचन अर्थात् एक ही कारक के आधार पर किसी प्रमेय का निर्वचन तत्कालीन तर्कशास्त्र और विज्ञानवादी दृष्टिकोण की देन है। एकतत्वीयता के कारण ही मार्क्सवाद पर नियतिवाद (Determinism) की जबरदस्त छाप है।

मार्क्सवाद के अभ्युदय के पहले योरोप में तीन मुख्य विचारधारायें चल रही

थी। वे है विज्ञानवाद (Positivism), युक्तियुक्तवाद (Rationalism) और रोमांसवाद (Romanticism)। मार्क्सवाद का उद्भव निश्चय ही जर्मन रोमांसवाद (German Romanticism) की पृष्ठभूमि में हुआ है। रोमांसवाद युक्तियुक्तवाद का विभेद है क्योंकि युक्तियुक्तवादियों ने जो कुछ भी कहा रोमांसवादियों ने उसके विभेद ढूढ निकाले। उदाहरणार्थ, युक्तियुक्तवादियों का मानव प्रकृति (Human Nature) का आधार मिला मीमांसा (Reason) में तो रोमांसवादियों का आत्मा (Spirit) में। युक्तियुक्तवादियों के लिये इतिहास भूलों और गल्तियों का एक लेखा है जब कि रोमांसवादियों के लिए इतिहास की गहराई में शाश्वत सिद्धांत और तत्व छिपे हैं। यही रोमांसवाद मार्क्सवाद की आत्मा है। किन्तु मार्क्सवाद के वास्तविक बौद्धिक आधार निहित हैं डारविन द्वारा प्रतिपादित सामाजिक डारविनवाद और हीगल द्वारा प्रतिपादित द्वंद्वात्मक (Dialectical) निर्वचन पद्धति में। हीगल की द्वंद्वात्मकता पर रूमानी आदर्शवादिता की छाप है जबकि मार्क्सवाद में अपनायी गयी द्वंद्वात्मकता पर पार्थिवता (Materialism) की। आंगिक उद्विकास (Organic Evolution) के सिद्धान्त के माध्यम से डारविन ने यह प्रतिपादित किया है कि संसार के सभी प्राणियों का उद्विकास आधारभूत आंगिक तत्व (Organic Matter) से हुआ है। इस उद्विकास में विचरणशीलता (Variation) और प्राकृतिक प्रवरण (Natural Selection) का मुख्य हाथ है। डार्विन के अनुसार इस संसार में वही जीवित रहने में सफल होता है जो जीवित रहने के लिये सक्षम अथिक फिट है। अतः सारी प्रकृति एक निरीह संघर्ष में रत है और उसी संघर्ष से प्रकृति सर्वोत्तम का चुनाव करती है। मानव-समाज, आंगिक तत्व की भांति उद्विकासोन्मुख है और उसका भी उद्विकास संघर्ष और प्रतियोगिता के माध्यम से हो रहा है। मार्क्स का वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त इसी विचारधारा की देन है। मार्क्सवाद वस्तुतः एक वैज्ञानिक सिद्धान्त न होकर एक समाजवादी संघर्ष विचार पद्धति (Conflict Ideology) है[1]।

३

योरोपीय सभ्यता के तत्व

इस प्रकार, योरोप का ऐतिहासिक विवेचन करने पर योरोपीय सभ्यता-संकुल के विभिन्न पहलू स्पष्ट हो जाते हैं। योरोपीय सभ्यता-संकुल के मुख्य आधार हैं वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी (Scientific Technology) औद्योगीकरण (Industrializa-

1 मार्टिंडेल, डान दि नेचर एण्ड टाइप्स आफ सोशियालाजिकल थ्योरी

tion) और शहरीकरण (Organization)। ये योरोपीय सभ्यता के पार्थिव पहलू हैं। केवल इन्हीं तक योरोपीय सभ्यता को समिति रखना योरोपीय सभ्यता की धारणा को संकीर्ण करना है क्योंकि जहां जहां ये तत्व गये हैं वहां वहां वे विचार पद्धतियां भी गयी हैं जिन्होंने इस सभ्यता को जन्म दिया है या जो इसकी उत्पत्ति हैं। योरोपीय सभ्यता, वस्तुत, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मानव संस्कृति की एक विशेष विकास अवस्था है। अत, उस विकास अवस्था के सामाजिक मानसिक पहलुओं के सन्दर्भ में ही उसके पार्थिव तत्व अधिक सार्थक लगते हैं। इस दृष्टिकोण से योरोपीय सभ्यता की अन्य विशेषतायें हैं वैज्ञानिक विचार पद्धति, धर्मनिरपेक्षिता इसाइयत, पूंजीवाद, राष्ट्रवादिता संसदीय प्रजातन्त्र तथा साम्यवादी प्रजातन्त्र और शहरी सामाजिक संगठन जिसके आधार उद्योग, पूंजी प्रतियोगिता और व्यक्ति हैं। यह अवश्य है कि इन सभी विशेषताओं से मिलकर जो संकुल बनता है उसके मूल में पार्थिवता की मात्रा ही अधिक है। यह विकास अवस्था वस्तुत शहरी संस्कृति है। इसकी विकास प्रक्रिया के आधार द्वितीयक (Secondary) हैं न कि प्राथमिक।

४

भारत और योरोप

ऐतिहासिकता में भारतीय संस्कृति योरोप से प्राचीन है। जब वर्तमान राजनैतिक योरोप का जन्म भी नहीं हुआ था भारत एक सांस्कृतिक राजनैतिक इकाई का रूप ले चुका था और भारतीय संस्कृति उन संस्कृतियों को प्रभावित कर रही थी जिन्होंने वर्तमान योरोपीय सभ्यता के निर्माण में सहयोग दिया है। मिस्र, यूनान, फिलिस्तीन और इसाइयत पर पड़ने वाले भारतीय प्रभावों का पहले ही वर्णन किया जा चुका है। सिकन्दर की विजय के पश्चात, भारत और यूनान का प्रत्यक्ष राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा बौद्धिक सम्बन्ध स्थापित हुआ और यह सम्बन्ध तब तक बना रहा जब तक, एक ओर यूनान रोम साम्राज्य का अंग नहीं हो गया और दूसरी ओर, यूनान तथा भारत के बीच में अरबी इस्लामी साम्राज्य का अभ्युदय नहीं हुआ। सिकन्दर द्वारा स्थापित सिरिया-बक्ट्रिया-साम्राज्य के शासकों और भारत के मौर्य-सम्राटों के माध्यम से भारत और यूनान में सांस्कृतिक आदान प्रदान लगभग तीन सौ साल तक चलते रहे। मेगास्थनीज जैसे राजदूतों ने भारतीय सामाजिक जीवन और ज्ञान विस्तार को यूनानियों के समक्ष रक्खा। तक्षशिला के विश्वविद्यालय में, एक ओर यूनानी पठन-पाठन करते थे तो, दूसरी ओर वहीं ऐसे भारतीय भी थे जो यूनानी भाषा बोलते थे और यूनानी साहित्य का अध्ययन करते थे[1]।

---

1 राधाकृष्णन एस० ईस्ट एण्ड वेस्ट पृष्ठ 60

केरल और नासिक की बौद्ध-गुफाओं में मिलने वाले यूनानी नामों से पता चलता है कि अनेक यवनों (यूनानियों) ने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया था। संस्कृत और हिन्दी में प्रयुक्त होने वाला यवन शब्द ही यूनानी भाषा से आया है। विद्वानों का ऐसा मत है कि भारतीय रंगमंच में यवनिका (Drop Curtion) का प्रयोग भारत को यूनानी नाट्यशास्त्र की भेंट है? सिकन्दर के आक्रमण के लगभग एक सौ साठ साल बाद, जब सम्राट मेनान्डर (Menander) गंगा की घाटी वाले प्रदेश में आया तो उसने बौद्ध दार्शनिकों के साथ द्वन्द्वात्मक (Dialectical) शास्त्रार्थ में भाग लिया। इस शास्त्रार्थ पर आधारित मिलिन्द-पन्ह नामक ग्रन्थ बौद्धशास्त्रों में एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। ओ मैले (O Malley) के अनुसार प्राचीन भारत के ज्योतिष और औषधि शास्त्रों पर यूनानी प्रभाव पाया गया है। भारत की गांधार मूर्तिकला यूनानी और भारतीय कला परम्पराओं का एक समन्वित संगम है। गांधार शैली की मूर्तिकला में एक ओर यूनानी परम्परा के अनुसार बाह्याकार को विराट रूप देने की प्रवृत्ति है तो, दूसरी ओर उसमें भारतीय परम्परा के अनुसार विराट में एक आन्तरिक आध्यात्मिक शक्ति की अभिव्यक्ति लाने की परम्परा भी विद्यमान है। गांधार मूर्तिकला वस्तुतः वैराट्य और आध्यात्मिकता का मिलन है। महात्मा बुद्ध की प्रतिष्ठित प्रतिमा इसी समन्वित कला का एक पुष्प है[1]।

दक्षिणी भारत में पश्चिमी घाट के स्थित आदितनूर नामक स्थान की खुदाई में से प्राप्त रोमन सिक्कों से यह पता चलता है ईसा की पहली शताब्दी के आस-पास दक्षिणी भारत और रोम साम्राज्य का व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी में दक्षिणी भारत में ईसाइयत का प्रवेश हो चुका था। किन्तु योरोप और भारत के ये सम्पर्क उतने क्रान्तिकारी नहीं थे जितने कि बाद के सम्पर्क क्योंकि ये सम्पर्क उस उन्विकासी पृष्ठभूमि में स्थापित हुए थे जिसमें भारत तथा योरोप के औद्योगिक विकास-स्तर लगभग समान थे। इस्लाम का अभ्युदय और प्रसार होने के समय तक यूनान, रोम और ईसाइयत तथा भारत और हिन्दुत्व एक दूसरे को वैसे ही प्रभावित करते रहे जैसे साधारणतया सम्पर्क में आने वाली संस्कृतियाँ, आदान प्रदान के माध्यम से, एक दूसरे को प्रभावित करती हैं।

योरोपीय सभ्यता के संघात से भारतीय संस्कृति में होने वाले क्रान्तिकारी परिवर्तनों का सिलसिला उस समय से प्रारम्भ होता है जब सन् चौदह सौ अट्ठानवे के मई महीने की छब्बीस या सत्ताईस तारीख को किसी अरब नाविक के पथ प्रदर्शन में, एक साहसिक पुर्तगाली नाविक, वास्कोडिगामा, का जहाजी बेड़ा, पश्चिमी घाट के स्थित कालीकट नामक स्थान पर आ लगा था और वहाँ के राजा जमोरिन ने

1 ओ मैले इण्डिया एण्ड दि वेस्ट पृष्ठ ।

उसे भारत के साथ व्यापार करने की अनुमति दे दी थी। सन चौदह सौ अट्ठानवे का योरोप वह योरोप था जिसमे धर्म-युद्धो की ज्वाला शांत होकर सुलग रही थी, ईसाइयत और इस्लाम का द्वेष योरोपियनो के मस्तिष्क से निकला नही था, विज्ञान की फूटती हुयी किरण के साथ, धूप के समान, औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution) का प्रसार बढ रहा था तथा उससे उत्पन्न पूंजीवादी समाज के प्रभाव मे आक्रामक राष्ट्रवादिता बढ रही थी और जिसके दार्शनिक तथा विचारक योरोप को ही प्राचीनतम तथा मानव की आधुनिकतम प्रगति का प्रतीक मानते थे। यह इन्ही परिस्थितियो का प्रभाव था कि तत्कालीन पुर्तगाली सम्राट ने भारत को अपना उपनिवेश मान लिया और व्यापार के साथ साथ वहा ईसाइयत के प्रचार की आज्ञा दी।

तत्कालीन भारत म, एक ओर, इस्लाम का प्रसार बढ रहा था, दिल्ली म मुसलमान शासको के वशो का उत्थान और पतन हो रहा था और, दूसरी ओर, भारत म सामन्तवादी समाज का एक नये सिरे से निर्माण हो रहा था और हिन्दुत्व इस्लाम के प्रसार के कारण सिमट सिमट कर, दक्षिण म केन्द्रीभूत हो रहा था। यह वह भारत था जिसका सामन्त वर्ग धर्म के आधार पर विभाजित था और, इस कारण, धर्म की आड लेकर अपने स्वार्थ के लिये आपस में लड रहा था। पुर्तगाली भारत मे आये थे मसाले का व्यापार करने के लिये और मोहम्मद के अनुयाइयो अर्थात मुसलमानों के हाथ स मसाले का व्यापार और सामुद्रिक सैनिक शक्ति छीन लेने के लिये। इस्लाम विरोधी होने के कारण, दक्षिण के हिन्दू सम्राटो ने उनका स्वागत किया। किन्तु वास्तव मे, इस स्वागत के पीछे वही भावना थी जो इस्लाम के अभ्युदय और प्रसार के पहले अरबो का स्वागत करने के पीछे थी। यह भावना थी विदेशी व्यापार को बढाकर राजस्व बढाने की।

भारत म पुर्तगालियो का प्रभाव समुद्र तट पर ही सीमित रहा यद्यपि लगभग डेढ सौ साल तक अतलान्तिक तथा हिन्द महासागर पर पुर्तगालियो का एकछत्र राजनैतिक प्रभाव रहा। पुर्तगाली सर्वदा बन्दरगाहो मे ही रहे और उन्होने हमेशा समुद्र तथा समुद्रतट पर अपना प्रभाव जमाये रखने का प्रयत्न किया। सन पन्द्रह सौ दस म गुजरात के सुल्तान महमूद बेगडा को हराकर पुर्तगालियो ने गोवा का किला कायम किया और कालान्तर म बम्बई और हुगली म भी अपने किले बनाये। भारत तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया म पुर्तगालियो की नीति थी गोवा म पुर्तगाल का प्रत्यक्ष शासन स्थापित करना, गोवा को वणिकवर्ग का उपनिवेश बनाना समुद्रतट पर युद्धावश्यक (Strategic) स्थानो म सैनिक अड्डे कायम करना और जहाँ सैनिक अड्डे न कायम हो सकें वहा पुर्तगाल का राजनैतिक प्रभाव बढाना। भारत के राजाओं पर राजनैतिक प्रभाव बढाकर व्यापार सुरक्षित करने की नीति की नीव पुर्तगालियों ने डाली थी जिसका, आगे चलकर, अन्य योरोपीय राष्ट्रो ने भी अनुसरण

किया। अपनी इस नीति से पुर्तगाली भारत के समुद्र तट पर व्यापारिक साम्राज्य कायम कर सके। उस समय इससे अधिक सम्भव भी न था क्योंकि तत्कालीन भारत में केन्द्रीय शक्ति सगठित थी।

वास्कोडिगामा द्वारा भारत और योरोप के बीच समुद्री मार्ग को ढूढ निकालने के बाद, योरोप के राजनैतिक जीवन मे जो परिस्थितियां उत्पन्न होती रही हैं उनका प्रसार और प्रभाव हिन्द महासागर भारत और दक्षिणी पूर्वी एशिया पर पडता रहा है। योरोप में औद्योगिक क्रान्ति के प्रस्फुटन के बाद, अतलान्तिक महासागर पर जब जिस राष्ट्र अथवा सन्धिकशक्ति का अधिकार रहा है, तब उस राष्ट्र का अधिकार हिन्द महासागर पर भी रहा है। जब तक अतलान्तिक महासागर पर पुर्तगालियो का एकछत्र राज्य रहा हिन्द महासागर पर भी उनकी प्रभुता कायम रही और भारत से लेकर दक्षिणी-पूर्वी एशिया तक उनका एकमात्र व्यापारी साम्राज्य कायम रहा। किंतु योरोप मे स्पेन और इगलैण्ड के युद्ध मे, स्पेनिश आरमडा (Spanish Armada) की पराजय (1588) के पश्चात, अन्य देशो ने भी पुर्तगाल की प्रतियोगिता मे अपने अपने व्यापारिक क्षेत्र बढाने का प्रयास किया। इसके परिणामस्वरूप, सोलहवी शताब्दी के अन्त मे (सन पन्द्रह सौ पञ्चानवे के बाद से) हालैण्ड निवासियो, डचो ने हिन्दमहासागर मे पदार्पण किया और धीरे धीरे पुर्तगालियो से नाविक सत्ता छीन ली। सन सोलह सौ चौवन मे कोलम्बो पर अधिकार करके, सन् सोलह सौ तिरसठ के आस पास उन्होने मलाबार के तट पर अपने अड्डे कायम किये। डचों और पुर्तगालियो के बीच हुयी एक सन्धि (1614) के अनुसार पुर्तगालियो का सैनिक तथा राजनैतिक प्रभाव गोवा के आस पास एक हजार तीन सौ वर्गमील के क्षेत्र मे ही सीमित हो गया और दिसम्बर सन उन्नीस सौ इकसठ तक वहाँ उनका राज्य रहा। डच भारत मे कोई साम्राज्य स्थापित न कर सके जिसके सम्भवत दो कारण हैं—पहला, व्यापार मे अधिक दिलचस्पी रखने के कारण उनका ध्यान इण्डोनेशिया की ओर अधिक था और वही उन्होने अपना साम्राज्य भी कायम किया और दूसरे अतलान्तिक महासागर पर बढ़ती हुयी अंग्रेजो की सैनिकशक्ति के कारण उन्हें हिन्दमहासागर मे रुकना पड़ा।

सत्रहवी शताब्दी मे, अंग्रेजो ने हिन्दमहासागर मे पदार्पण किया और फ्रांसीसियो ने अठारहवी शताब्दी मे। अंग्रेजो की सबसे पहली व्यापारी कोठी सूरत मे खुली और इसी कोठी के आधार पर भारत मे तम्बाकू का एक नाम सुरती भी पड़ा। फ्रांसीसियो ने अपना सबसे पहला अड्डा पाण्डेचरी मे कायम किया। भारत को एक राजनैतिक इकाई का रूप देने के प्रयास मे निरन्तर सहन लग्न, सन सत्रह सौ सात मे जब औरगजेब की मृत्यु हुयी तो उस समय, एक आर, भारत को एक राजनैतिक इकाई का रूप देने की अकबर की कल्पना समाप्त हुयी तो, दूसरी ओर, मराठा, सिक्खो और सैनिक शक्ति से सम्पन्न मध्यासियो के रूप मे हिन्दू राष्ट्रीयता

प्रबल वेग से फूट निकले और भारत के समुद्रतटो पर योरोपीय राष्ट्रो के सैनिक अड्डे मजबूत होने लगे। सन सत्रह सौ पच्चीस मे, औरंगजेब के मरने के अठारह साल बाद, सूरत, बम्बई, मद्रास, मछलीपटटम और कलकत्ता फोर्टविलियम मे अंग्रेजो के सैनिक व्यापारी अड्डे थे पाण्डचेरी और चन्द्रनगर मे फ्रांसीसियो के और कोचीन, ट्रेंकुबार और मछलीपट्टम मे डचो के। ये व्यापारी अड्डे वस्तुतः सैनिक किलो के समान थे और उनमे रहने वाले विदेशी व्यापारी केवल अपने व्यापार मे ही सरोकार रखते थे। भारत के राजनैतिक जीवन से उनका वही तक सम्बन्ध था जहाँ तक उनके व्यापार की सुरक्षा का प्रश्न था। उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध भारत के उस धनी, व्यापारी मध्यम वर्ग से था जिसके माध्यम से वे भारत मे व्यापार करते थे। यह मध्यम-वर्ग भारत मे योरोप के बढते हुये व्यापार की उपज था। यह वर्ग भारत के वर्तमान पूँजीवादी वर्ग का अग्रिम रूप था। यह वर्ग भी योरोपीय व्यापार की सुरक्षा का उतना ही हामी था जितने कि योरोपीय व्यापारी। तत्कालीन भारत की छिन्न होती हुयी केन्द्रीय राजनैतिक सत्ता मे प्रादेशिक सत्तायें उभर रही थी और समुद्र तटवर्ती प्रदेशो मे उभरने वाली स्थानीय सत्ताओ पर इस धनी वर्ग का प्रभाव बढ रहा था। यह वर्ग अधिकतर हिन्दू वर्ग था। कलकत्ता का यह वर्ग मारवाडी था, सूरत का गुजराती और मद्रास का चेट्टी। अतः तत्कालीन परिस्थितियो मे हिन्दूवादिता और योरोपीय प्रभावो मे उत्पन्न होती हुयी पूँजीवादिता का गठबन्धन हो गया। इसी हिन्दू-राष्ट्रवादी तथा पूँजीवादी वर्ग से इंगलैण्ड के पूँजीवादी वर्ग ने कन्धे से कन्धा मिला कर भारत मे अपने व्यापार को सुरक्षित रखने के लिये धीरे धीरे अपना राजनैतिक प्रभुत्व कायम किया[1]।

भारत मे अंग्रेजी राज की स्थापना का ऐतिहासिक वर्णन विषयातिरेक होगा। हाँ, उसकी मुख्य मुख्य ऐतिहासिक अवस्थाओ का वर्णन ऐसा सन्दर्भ है जिसमे प्रस्तुत विषय अधिक स्पष्ट हो उठता है। सन सोलह सौ उन्नब्बे मे मुगल बादशाह से कलकत्ता की किलेबन्दी करने की अनुमति तथा एक छोटी सी जमींदारी लेकर अंग्रेजों की व्यापारिक संस्था ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक साथ शासक व्यापारी और जमींदार हो गयी। योरोप मे चलने वाले अंग्रेज और फ्रान्सीसी संघर्ष के कारण जब अंग्रेजो और फ्रांसीसियो ने अरकाट के युद्ध मे अप्रत्यक्ष भाग लिया और उसमे अंग्रेज विजयी हुए तो यह स्पष्ट हो गया कि व्यापार की सुरक्षा के लिये भारत के राज-

1 प्लासी के युद्ध में जगत सेठ और अमीचन्द ने अंग्रेजों की जो सहायता की थी, वह इतिहास प्रसिद्ध है। अफगान युद्ध में विजयी होने पर जब अंग्रेजी सेना गजनी से सोमनाथ के मन्दिर का द्वार वापस लाई तो तत्कालीन गवर्नर जनरल ने यह गर्वोक्ति की थी कि अंग्रेजों ने मुसलमानों से सोमनाथ की चढ़ाई का बदला लिया है—पनिक्कर

नतिक जीवन म दखल देकर राजनतिक प्रभुत्व बढाना आवश्यक है। प्लासी (1757) और बक्सर (1764) क युद्धो के द्वारा बगाल बिहार और उडीसा की दीवानी प्राप्त करना इसी प्रयास की ओर उठा हुआ कदम है। भारत मे अँग्रेजी राज का प्रारम्भिक रूप बनिया राज था और यह इसी का परिणाम है कि भारत मे अँग्रेजो न धीरे धीरे परिवतन किय और वही परिवतन किय जो आवश्यक थे। कानवालिस के समय से बनिया राज समाप्त होन लगा। सन अठारह सौ बारह मे, ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत और इगलण्ड के बीच प्रशासन का एक माध्यम थी। यही वह समय है जब इगलण्ड की पार्लियामट न भारत म एक सभ्य सरकार (Civilized Govt) स्थापित करन का भार अपन ऊपर लिया और इगलैण्ड को भारत का ट्रस्टी (Trustee प्रन्यासी) करार दिया। सम्भवत इसी मान्यता का यह परिणाम है कि अँग्रेजो ने भारत को एक राजनतिक सत्ता म बाधन का प्रयास किया। अठारह सौ सतावन की राज्यक्रान्ति क पहले, जब तक भारत अग्रेजी साम्राज्य का एक अग नही हो सका था और पार्लियामेन्ट से उसका प्रत्यक्ष सम्बध नही था ईस्ट इण्डिया कम्पनी की राजनतिक शक्ति मुगल बादशाह क फरमान पर आधारित थी और कम्पनी कम्पनी न कहला कर कम्पनी बहादुर कहलाती थी। मुगल बादशाह स राजनतिक शक्ति ग्रहण करने के कारण, मुगलो स मिले हुये दण्ड क दृष्टी क लिय यह आवश्यक था कि वह उस राजनीतिक इकाई को बनाय रखे जिसकी कल्पना हिन्दू शास्त्रो म की गयी थी जिसे सम्राट अशोक और अकबर ने कायम करन का प्रयास किया था जिसक लिये औरगजेब बराबर लडता रहा और जो अप्रत्यक्ष रूप म मराठा उत्थान की प्रेरक थी[1]।

कुछ भी हो अठारह सौ सतावन का राज्य क्रान्ति के समय ब्रह्मपुत्र स लेकर सिंध तक और हिमालय स लेकर कन्याकुमारी तक अग्रेजो का झडा लहरा रहा था। जिस काय को अशोक और अकबर न कर पाये थे, वह अंग्रेजो क शासको की सहायता स उन्नीसवी शताब्दी म पूरा हुआ। भारत क इतिहास म प्रवाहित उत्तविकासी सास्कृतिक एकता न प्रथम बार राजनतिक एकता का रूप ग्रहण किया और भारत ने एक राष्ट्र राज्य (Nation State) का रूप ग्रहण किया। देशी राज्यो का छोड कर, अग्रेज भी उस राष्ट्र राज्य का अग न द सक जो भारत क सास्कृतिक इतिहास की माग थी। देशी राज्यो म अँग्रेजो का प्रभाव अप्रत्यक्ष था और इस कारण, भारत के सभी भागो म पाश्चात्य प्रभाव समान मात्रा म नही पडा। कही वह पहले आया और कही बाद म, कही वह कम हुआ, कही ज्यादा। इसीकारण, भारत के विभिन्न सास्कृतिक स्तरों म विभिन्न प्रतिक्रियाये उत्पन्न हुयी। फिर भी, सार प्रभाव राष्ट्र

---

1 पनिक्कर, के० एम० ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री

राज्य की ओर ही प्रवाहित होते रहे। सन उन्नीस सौ सतालीस म भारत की स्वतन्त्रता उन्ही प्रवाहो के सम्मिलित प्रभावो का परिणाम है। स्वतन्त्रता के बाद स, योरोप और भारत प्रत्यक्ष सम्बन्ध मे आये हैं और इन सभी सचयी प्रक्रियाओ का एक परिणाम है भारत का उत्तरोत्तर पश्चिमीकरण और दूसरा राष्ट्र-राज्य का उत्तरोत्तर एकीकरण।

५

पुर्तगाली प्रभाव

भारतीय सस्कृति म योरोप क सभ्यतायी प्रभावो का प्रवेश पुर्तगालियो फ्रान्सीसियो और अग्रेजो के माध्यम से हुआ है। इनम अग्रेजो का प्रभाव सर्वाधिक है किन्तु पुर्तगालियो और फ्रान्सीसियो क प्रभाव को उतना नगण्य नही कहा जा सकता है जितना कि अग्रजीकाल के इतिहासकारो ने उसे दिखाने का प्रयास किया है। यह अवश्य है कि अग्रेजो क माध्यम म ही भारत का अधिकतम पश्चिमीकरण हुआ है किन्तु साथ ही साथ यह भी सही है कि इस पश्चिमीकरण का प्रारम्भ पुर्तगालियो से हुआ था। साढ़े चार सौ साल स अधिक समय तक पुर्तगालियो के प्रभाव म रहने वाला गोवा वस्तुत पुर्तगाली भारत का एक रूप है। पुर्तगाल के माध्यम मे गोवा म क्या सामाजिक-सास्कृतिक परिवर्तन हुये हैं उनकी समाजशास्त्रीय विवेचना होना अभी बाकी है।

पुर्तगाली, प द्रहवी शताब्दी क बाद स भारत और योरोप क बीच बढ़ते हुय सम्बन्ध की पहली कड़ी थ। पुर्तगालियो न ही भारत और योरोप क बीच बढ़न वाले सम्बन्धो का माग प्रशस्त किया। अपने व्यापार की सुरक्षा क लिय पुर्तगालियो ने जिन सनिक तथा राजनीतिक उपायो का काम म लिया, आग चलकर योरोप क अन्य राष्ट्रो न उन्ही का अनुसरण किया। भारत म पुर्तगाली प्रभाव न यह सिद्ध कर दिया था कि भारत क व्यापार पर उसी योरोपीय राष्ट्र का अधिकार रहेगा जिसक हाथ मे हिन्दमहासागर की राजनतिक प्रभुता होगी। पुर्तगालियो न समुद्र क माग से भारत के वदशिक व्यापार को बढ़ावा दिया और इस बदलाव का परिणाम यह हुआ कि योरोप म भारत की वस्तुओ का, विशेषतया ममालो और मलमल का उतना प्रचार हुआ जितना पहल कभी भी नहीं हुआ था। दूसरी ओर पुर्तगालियो न भारत म योरोप तथा चीन की बनी वस्तुओ का व्यापारिक प्रचार किया। वतमान भारत को वतमान योरोप ही नही वरन वतमान ससार के सम्पक म लान वाल पुर्तगाली ही थे।

पुर्तगाली सस्कृति तत्कालीन योरोपीय सभ्यता क उपकरणो स मिश्रित एक

जटिल सकुल थी जिसमें पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, प्रजातिवाद, जाति अहमन्यता (Ethnocentrism) और ईसाई धर्मोन्मत्तता का प्रचुर समावेश था। पूँजीवाद तथा साम्राज्यवाद ने उन्हें व्यापारी साम्राज्य स्थापित करने के लिये प्रेरित किया यद्यपि उनका साम्राज्य गोवा से आगे न बढ़ सका। यह पुर्तगालियों की जाति-अहमन्यता और प्रजातिवादी मनोवृत्ति का प्रतीक है कि, एक ओर उन्होंने गोआ को पुर्तगाली वर्णसंकरों का उपनिवेश बनाने का प्रयत्न किया, भारत की जनसंख्या में यूरेशियन (Eurasian) कहे जाने वालों का योगदान दिया और, दूसरी ओर, भारतीयों को गुलाम बनाकर बेचा और भारत में जबरदस्ती ईसाइयत का प्रचार किया। पुर्तगालियों ने ईसाई धर्म के प्रसार का जितना प्रयास किया, सम्भवत, अन्य किसी योरोपीय राष्ट्र ने उतना नहीं किया। पुर्तगाली मिशनरियों में फ्रांसिस जेवियर (Francis Xavier) और अलेक्सिस डी मेजीज (Alexis de Menzes) के प्रयत्न इस दिशा में उल्लेखनीय हैं। जेवियर ने भारतीयों को ईसाई धर्म में दीक्षित करने का अथक्यनीय प्रयास किया और इसमें उसे सफलता भी मिली। मेजीज ने दक्षिण भारत के सीरियाई (Syrian) ईसाइयों के सामाजिक सांस्कृतिक व्यवहार में से हिन्दू परम्पराओं को निकालने का प्रयास किया। यह बहुत कुछ पुर्तगाली मिशनरियों के प्रयत्नों का परिणाम है कि वर्तमान भारत की ईसाई जनसंख्या में कैथोलिक सम्प्रदाय के अनुयाइयों की संख्या सबसे अधिक है। भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से, लगभग पिछले सौ वर्षों में प्रोटेस्टेंट (Protestant) सम्प्रदायों को ईसाइयत के प्रचार की खुली छूट रही है और उन्हें अपने प्रचार के लिये राज्य कृपा भी प्राप्त रही, फिर भी, भारत में कैथोलिक सम्प्रदायों की ही प्रधानता बनी रही। हो सकता है कि यह भारतीयों की परम्परावादी प्रवृत्ति का परिणाम हो। पुर्तगाली साम्राज्य के प्रारम्भिक काल में पुर्तगालियों ने ईसाई धर्म का प्रचार एक हाथ में क्रास (Cross ईसाई धर्मचिन्ह) और दूसरे हाथ में तलवार लेकर किया। इस बर्बर धर्म प्रसार में न उन्होंने हिन्दुओं को छोड़ा और न मुसलमानों को। इसी का परिणाम है कि वर्तमान युग के प्रारम्भ से ही इस्लाम और हिन्दुत्व ईसाइयत के प्रति सशंकित रहे हैं और उसके आक्रमण से बचने के लिए उन्होंने भी धार्मिक कट्टरवादिता का आश्रय लिया है। भारत में आधुनिक प्रेस के संस्थापक पुर्तगाली ही थे। किन्तु इसके साथ ही साथ, पुर्तगालियों ने भारतीय पादरियों की प्रशिक्षा के लिये धर्मविद्या-केन्द्र खोले जिनसे भारत में उसी युक्तियुक्त विचारधारा का प्रसार होना प्रारम्भ हुआ जिसका प्रसार योरोप में पहले हो चुका था।

भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर पुर्तगालियों के सौ साल से भी अधिक एकछत्र अधिकार के कारण तत्कालीन भारत की समुद्रतटवर्ती मण्डियों में अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में पुर्तगाली भाषा का प्रचार हुआ और यह प्रचार यहाँ तक बढ़ा कि

प्रारम्भमे अग्रेजो को भी पुर्तगाली का ही आश्रय लेना पडता था[1]। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदी और भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाओ मे कमरा, नीलाम, पादरी, मारतोल मेज कुर्सी कमीज और तम्बाकू जैसे पुर्तगाली भाषा के शब्दो का प्रवेश हुआ। भारत की पार्थिव संस्कृति मे पुर्तगालियो के अनेक योगदान हैं। भारत मे हुक्के और तम्बाकू का प्रचार पुर्तगालियो से ही हुआ है और यह प्रचार भारतीय सास्कृतिक जीवन मे इतना प्रविष्ट हो गया कि, एक ओर हुक्का पिलाना आथित्य सत्कार का प्रतीक हो गया तो, दूसरी ओर, जाति एकीकरण का माध्यम। जिन जातियो मे हुक्का पीने की प्रथा है उनमे एक जाति के सभी सदस्य एक ही हुक्के से धूम्रपान करते हैं और जिस व्यक्ति को जाति से निकाल दिया जाता है उसको सम्मिलित हुक्का पीने की मनाही रहती है। पचायती हुक्का पिलाकर ही जाति च्युत सदस्य को पुन जाति मे दाखिल किया जाता है। आज हिंदी भाषा भाषी प्रदेश मे 'हुक्का पानी बन्द करना' एक मुहाविरे के रूप में प्रयुक्त होता है जिसका व्यजनात्मक अर्थ है बिरादरी से निकालना।

अन्नानास, पपीता अमरूद, कल्मी आम, गोभी और आलू भी पुर्तगालियो के लाये हुये हैं। कहा जाता है कि बम्बई का प्रसिद्ध आम अल्फाजो पुर्तगालियो का ही विकसित किया हुआ है। योरोपीय सभ्यता के उपकरणो मे से पुर्तगालियो ने भारत को मुद्रण यन्त्र और छापाखाना प्रदान किया है। भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर पायी जाने वाली गाथिक (Gothic) शैली की इमारत और बगला शैली के भवन पुर्तगाली प्रभाव के प्रतीक है। पानिक्कर के अनुसार दक्षिणी भारत के गिरजाघरो का निर्माण निश्चय ही पुर्तगाली शिल्पशैली पर आधारित है और मइलापुर का चर्च इसका प्रमाण है[2]। गोआ के गवर्नर अल्बुकर्क ने जब से सती प्रथा का निरोध किया तब से यह विचार पनपा कि सामाजिक कानून द्वारा सामाजिक सुधार हो सकता है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि पुर्तगालियो के माध्यम से भारत का सम्पर्क ससार के अन्य देशो से बढा। वास्तव मे योरोप का भारत का प्रथम प्रत्यक्ष परिचय पुर्तगालियो के ही माध्यम से मिला। आधुनिक योरोपीय भाषाओ मे भारतीय फल फूलो का सबसे पहला वर्णन पुर्तगाली भाषा मे ही मिलता है। जेवियर ने गोवा की भाषाओ और वहा के निवासियों का वर्णन पुर्तगाली भाषा मे प्रकाशित किया। गारसिया डा ओरटा (Garcia da Orta) ने भारत की जडी-बूटियो का एक व्यारेवार अध्ययन प्रस्तुत किया। किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी, पुर्तगालियो का प्रभाव सीमित रहा। हॉ, यह अवश्य है कि वर्तमान भारत के अभ्युदय का प्रारम्भ भारत और पुर्तगाल के सम्बन्ध के साथ साथ प्रारम्भ होता है।

---

1 दिनकर, रामधारीसिंह सस्कृति के चार अध्याय।

2 पानिक्कर के० एम० ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री।

६

फ्रांसीसी प्रभाव

पुर्तगालियों ने योरोप को भारत से परिचित कराया[1], फ्रांसीसियों ने उस परिचय को प्रगाढ़ बनाया और अंग्रेजों ने भारत में योरोपीय सभ्यता का प्रवेश करके सभ्यता-संस्कृति में घात की वह स्थिति उत्पन्न की जिससे भारत की संस्कृति में सर्वांगीण क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। भारत में फ्रांसीसियों का योगदान सांस्कृतिक न होकर राजनैतिक अधिक था जिसका लाभ, आगे चलकर, अंग्रेजों ने उठाया। पुर्तगालियों की नीति का अनुसरण करते हुये, फ्रांसीसी पहले योरोपीय थे जिन्होंने भारत के तत्कालीन राजनैतिक जीवन में हस्तक्षेप करके भारत में राजनैतिक प्रभाव जमाने की नीति का श्रीगणेश किया। फ्रांसीसी गवर्नर डूप्ले ने ही सर्वप्रथम पाण्डिचेरी में जागीर कायम की थी। डूप्ले ने ही सर्वप्रथम भारतीयों को योरोपीय ढंग की सैनिक शिक्षा देकर, भारत में योरोपीय ढंग से सेना-संगठन प्रारम्भ किया। भारत में काफी दिनों तक फ्रांसीसी सैन्य विशेषज्ञों को नियुक्त करने की प्रथा रही। अरकाट के युद्ध के बाद फ्रांसीसियों का प्रभाव बहुत कुछ कम हो गया था किन्तु, फिर भी, देशी राज्यों में सैन्य विशेषज्ञों के रूप में फ्रांसीसियों को नियुक्त किया जाता रहा। अंग्रेजों के बढ़ते हुये प्रभाव ने फ्रांसीसियों के राजनैतिक महत्व को भी बढ़ावा दिया क्योंकि योरोप तथा भारत में फ्रांसीसी ही अंग्रेजों के राजनैतिक प्रतिद्वंद्वी थे। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति और अंग्रेजों के विरुद्ध नेपोलियन के अभ्युदय ने फ्रांसीसियों को राजनैतिक स्वतन्त्रता का प्रेरक बना दिया। टीपू सुल्तान ने, इसी प्रेरणा से फ्रांसीसियों से अंग्रेजों के विरुद्ध सहायता मांगी थी। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के आदर्श स्वतन्त्रता (Liberty) समता (Equality) और बन्धुता (Fraternity) प्रारम्भ से ही भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम को प्रभावित करते रहे हैं।

भारतीय विचारधारा से योरोप को परिचित कराने में फ्रांसीसियों का योगदान काफी महत्वपूर्ण है। मैक्समूलर (Max Muller) से बहुत पहले फ्रांसीसियों ने भारत के दार्शनिक विचारों का प्रचार योरोप में कर दिया था। योरोप के नव-जागरण काल में जर्मन दार्शनिकों में भारतीय दार्शनिक विचारधारा की जो झलक मिलती है वह फ्रांस के ही माध्यम से जर्मनी पहुँची। पाण्डिचेरी के मिशनरियों ने ला यजुर्वेदम (L Ezurvedam) के नाम से फ्रांसीसी भाषा में यजुर्वेद पर जो

---

1 भारत में आने वाला पहला अंग्रेज जसुवाइट मिशनरी थामस स्टीवेंस सन पन्द्रह सौ उनासी में गोवा में ही आकर ठहरा था। उसने अपने पिता को जो पत्र लिखा था, उसके प्रकाशन से ही ईस्ट इंडिया कम्पनी के स्थापित करने की प्रेरणा मिली और मेले

पुस्तक प्रकाशित की थी उसका फ्रांसीसी विचारक वोल्तेयर (Voltaire) पर काफी प्रभाव पड़ा। सन अठारह सौ सत्रह में फ्रांसीसी मिशनरी एबे डुबाय (Abbe Duboio) की हिन्दू मैनर्स, कस्टम्स और सेरीमनीज नामक पुस्तक प्रकाशित हुयी जिसमें तत्कालीन भारत के रीति रिवाजों का विशद वर्णन है। किन्तु इन सभी प्रकाशनों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रकाशन है डुप्रो (Duperron) नामक फ्रांसीसी द्वारा एक साथ फ्रांसीसी तथा लेटिन भाषाओं में प्रकाशित ओपनिखत (Oupnekhat) नामक ग्रन्थ। यह ग्रन्थ सन अठारह सौ एक और दो में प्रकाशित हुआ था। डुप्रो (Duperron) पारसियों के जरथुस्त्र धर्म का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा से फारसी सीखने तथा पारसियों के मूल ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिए भारत आया था। इस यहीं वह हस्तलिखित फारसी ग्रन्थ मिला जिसे दारा शिकोह ने ओपनिखत के नाम से लिखवाया था और जिसमें उपनिषदों का निचोड़ था। डुप्रो (Duperron) द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ ओपनिखत के ही माध्यम से जर्मनी के दार्शनिक शोपेनहार (Schopenhaur) का भारतीय दर्शन का परिचय हुआ। इस प्रचार का परिणाम यह हुआ कि जर्मनी में भारतीय दर्शन के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हुयी जिसकी अभिव्यक्ति का चरमोत्कर्ष मैक्समूलर द्वारा धर्मों के अध्ययन और नव सकलन में हुआ। मैक्समूलर का पुस्तक सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट के द्वारा यूरोप में भारतीय दर्शन का प्रचार हुआ।

७

अंग्रेजी राज का प्रभाव

यह निर्विवाद है कि भारतीय संस्कृति में योरोपीय सभ्यता का व्यापक प्रभाव अंशतः अंग्रेजी राज की आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में हुआ है और अंशतः भारतीयों के उस प्रयास से हुआ है जिसके द्वारा उन्होंने योरोपीय सभ्यता के उपकरणों का आवश्यकतानुसार अपना कर अंग्रेजी राज इसाइयत तथा योरोपीय प्रौद्योगिकी द्वारा प्रस्तुत चुनौती में लोहा लेने का प्रयास किया है[1]। भारत में अंग्रेजी राज के

1 भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के पहले ही भारत का पश्चिमीकरण होना प्रारम्भ हो चुका था। योरोपीय सैनिक संगठन और शस्त्रों का प्रयोग कलकत्ते में योरोपीय ढंग के भवनों का निर्माण यहाँ के नवाबों और राजाओं द्वारा योरोपीय ढंग की घोड़ा गाड़ियों सजावट के उपकरणों और फरनीचर (Furniture) का प्रयोग इसके प्रमाण हैं। लखनऊ के आसफुद्दौला ने गोथिक

प्रशासकों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है—पहली श्रेणी में आते हैं क्लाइव (Clive) जैसे प्रशासक जिन्होंने धोखाधड़ी का आश्रय लिया, भारत में लूट-पाट का राज्य स्थापित किया और भारत में धोखाधड़ी से कमाये हुए धन को इंगलैण्ड में नवाबों की भाँति खर्च करके तथा भारतीय नवाबों का सा विलासी जीवन बिताकर इंगलैंड के नागरिक जीवन को दूषित किया, दूसरी श्रेणी में आते हैं कार्नवालिस, वारेन हेस्टिंग्ज, विलियम बेंटिंक, वेल्जली, डलहौजी और कर्जन जैसे प्रशासक जिन्होंने भारत में अंग्रेजी साम्राज्य को बढ़ाने के साथ-साथ भारत को, रेल-तार और डाक जैसे सभ्यतायी उपकरण प्रदान किए, भारत में धर्मनिरपेक्ष ठोस प्रशासन की नींव डाली और विधिवत शासन (Rule of Law) की स्थापना की, और तीसरी श्रेणी में आते हैं एडमण्ड बर्क, विलियम जोन्स, मैकाले, कोलब्रुक और चार्ल्स विल्किन्स जैसे लोग जिनके सहानुभूतिक प्रयत्नों से भारत में एक ओर, उदारवादी परम्पराओं का श्रीगणेश हुआ तो, दूसरी ओर, भारत की पुनर्खोज (Rediscovery) प्रारम्भ हुई और भारत ने अपने खोए हुए स्वत्व को पुनः प्राप्त करके अपने को पुनः जागृत और सम्पादित किया।

इन प्रशासकों के प्रयत्नों का थोड़ा ब्योरेवार वर्णन वर्तमान भारत की सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को समझने में काफी सहायता प्रदान करता है। कार्नवालिस ने ही भारत में उस जमींदार वर्ग को जन्म दिया जिसने पहले अंग्रेजी राज की जड़ें मजबूत बनायीं किन्तु बाद में पूंजीवादिता की ओर मुड़कर, अंग्रेजी राज का विरोध किया। वारेन हेस्टिंग्स ने ही यह नीति निर्धारित की थी कि भारत का शासन भारत के धर्मशास्त्रों के अनुसार होगा और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने पहले धर्मशास्त्रों का अनुवाद फारसी में करवाया और बाद में अंग्रेजी में। इसी नीति का परिणाम था कि पहले भारत के जजों को संस्कृत और फारसी सीखनी पड़ती थी और इसके लिए कलकत्ता में मदरसा और बनारस में संस्कृत कालेज की स्थापना की गयी थी। किन्तु विलियम बेंटिक के समय में यह पता चला कि धर्मशास्त्रों में किसी भी विषय को लेकर एकमतता नहीं है। अतः मैकाले के प्रयत्नों से भारतीय दण्ड संहिता (Indian Penal Code) का संग्रह करवाया गया। इसी समय में भारत में, अंग्रेजी को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाया गया। विलियम बेंटिक के समय में सामाजिक

शैली में इमारतें बनवाईं, भारतीय झाड़ फानूस और खिड़की तथा दरवाजों में लगने वाले शीशों और फर्नीचर (Furniture) को एकत्र किया। पंजाब के राजा रणजीतसिंह ने स्टीमर बनवाने का असफल प्रयत्न किया। भारत में, अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से, विशेषतया सन अठारह सौ अठारह के बाद से भारतीयों ने योरोपीय विज्ञान, प्रौद्योगिकी और शिक्षा की उत्तरोत्तर माँग की है और वह माँग आज भी जारी है—ओमेले।

विधान (Social Legislation) के द्वारा सामाजिक समस्याओं के निराकरण का सिल-सिला प्रारम्भ हुआ। वेल्जली ने बनिया राज के स्थान पर, अंग्रेजी ढंग के प्रशासन को स्थान का प्रयास किया। डलहौजी के समय में रेल, तार और डाक का संगठन किया गया। कर्जन पहले प्रशासक थे जिन्होंने भारत के पुरावशेषों की सुरक्षा का प्रबन्ध करके भारतीय इतिहास के सुनियोजित अध्ययन की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया।

बर्क भारत नहीं आये थे और न वे भारत के प्रशासक ही रहे थे। वे इंगलैंड में उदारवादी राजनैतिक विचारों के प्रणेता थे। इंगलैण्ड की पार्लियामेंट में भारत के अंग्रेज प्रशासकों के भ्रष्टाचार के वे तीव्र आलोचक थे। यह उन्हीं के विचारों के प्रभावों का परिणाम है कि इंगलैण्ड की पार्लियामेंट ने भारत में, धीरे धीरे, सभ्य सरकार स्थापित करने के प्रयास को अपने अधिकार-क्षेत्र में लिया। इसी प्रयास का परिणाम है कि धीरे धीरे भारत में एक संविधान का विकास हुआ। बर्क भारत के राजनैतिक जीवन में उदार परम्पराओं के जनक हैं। धर्मशास्त्रों में निरूपित विधि प्रणाली के अनुसार शासन कायम करने की जिस नीति का निर्धारण वारेन हेस्टिंग्स ने किया था उसका रचनात्मक प्रतिफलन हुआ विलियम जोन्स, कोलब्रुक और चार्ल्स विल्किन्स के कार्यों और कृतियों तथा उनसे उत्पन्न प्रभावशाली परिणामों में। जोन्स कलकत्ता हाईकोर्ट के जज होकर आए थे किन्तु वे वस्तुतः भारत के पुनर्खोजी सिद्ध हुए। उन्हीं के प्रयत्न से, सन् सत्रह सौ चौरासी में बंगाल एशियाटिक सोसायटी की स्थापना हुयी जिसमें भारतीय संस्कृति की नृकुलशास्त्रीय (Ethnological) विवेचना प्रारम्भ हुयी। यहीं से इण्डालॉजी (Indology) का विधिवत अध्ययन प्रारम्भ होता है। जोन्स ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने उत्तरी भारत से लेकर आयरलैंड तक फैली हुयी भाषाओं की समान आनुवंशिकता की ओर विद्वत समाज का ध्यान आकर्षित करके, एक ओर, भारतीय संस्कृति की प्राचीनता की ओर ध्यान दिलाया तो दूसरी ओर तुलनात्मक भाषा विज्ञान के लिए मार्ग प्रशस्त किया। जोन्स द्वारा किए हुए शकुन्तला के अंग्रेजी अनुवाद का अध्ययन करके ही गेटे ने शकुन्तला पर अपनी प्रसिद्ध कविता लिखी थी। यह जोन्स के ही प्रयत्नों का परिणाम था कि चार्ल्स विल्किन्स ने गीता का अंग्रेजी में अनुवाद किया, सत्रह सौ चौरासी में मनुस्मृति का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ और सन् अठारह सौ पांच में कोलब्रुक ने वेदों का अंग्रेजी में प्रामाणिक विवरण प्रकाशित किया। मैक्समूलर इन सारे अंग्रेज विद्वानों की बौद्धिक परम्परा में चर्मोत्कर्ष के रूप में आये।

भारत में अंग्रेजों का राज लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक रहा। इस राज्य-काल में अंग्रेजों और भारतीयों का पारस्परिक सम्बन्ध, वस्तुतः, नहीं के बराबर रहा। भारत में अंग्रेज शासक, जज, मिशनरी, सिपाही और व्यापारी के रूप में रहे और जहाँ भी वे रहे उन्होंने अपने सामाजिक जीवन को बनाये रक्खा। मुसलमानों की भांति वे

भारतीय सामाजिक जीवन में पारस्परिक स्तर पर कभी भी नहीं आय। जिन भारतीयों ने ईसाई धर्म का स्वीकार भी किया, वे भी अंग्रेजी मिशनरियों से चर्चों और सभाओं में ही मिलते थे। एंग्लो इंडियनों को अंग्रेजों ने कभी भी अपने सामाजिक जीवन का अंग नहीं माना। इंगलैंड का बौद्धिक प्रभाव भी प्रत्यक्ष न पड़ कर अप्रत्यक्ष रूप में पड़ा। इसीकारण, अंग्रेजों और भारतीयों में पारस्परिक सांस्कृतिक आदान प्रदान बहुत ही कम हुआ। भारत में जो कुछ भी योरोपीय प्रभाव अंग्रेजों के माध्यम से आया वह, भारत में अंग्रेजी राज को बनाए रखने की आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में आया। यही कारण है कि अंग्रेजों के राज्यकाल में भारत का पश्चिमीकरण धीरे-धीरे हुआ। फिर भी, अंग्रेजी राज्यकाल में, भारत के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में आधारभूत परिवर्तन हुए। इस्लाम के संघात से भारत के सामाजिक आर्थिक ढांचे में कोई परिवर्तन नहीं आया था और, इसकारण मुसलमानों के प्रभाव से भारत के धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों में अधिकतर परिवर्तन हुये। किन्तु अंग्रेजी राज के माध्यम से भारतीय समाज और संस्कृति पर जो सभ्यतायी संघात पड़ा उसमें भारत के सामाजिक आर्थिक जीवन में आधारभूत परिवर्तन हुए और उन परिवर्तनों ने समाज और संस्कृति के अन्य अंगों को परिवर्तित किया।

अंग्रेजी राज के माध्यम से भारतीय समाज और संस्कृति पर योरोपीय सभ्यता का जो संघात पड़ा उसके स्वरूप का मूल्यांकन करते हुए गोपालकृष्ण गोखले ने कहा था कि भारत के बाहर के देशों और पश्चिम में जो सम्पर्क स्थापित हुआ है वह केवल ऊपरी सम्पर्क है किन्तु भारत में पश्चिम (The West) का प्रभाव भारत की हड्डियों की मज्जा तक में धस गया है[1]। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अंग्रेजी राज के माध्यम से भारत की समाज तथा स्थिर संस्कृति, एक बाह्य तथा प्रगतिशील सभ्यता के संपर्क में आयी। अंग्रेजी राज के ही माध्यम से भारत में पश्चिमी प्रणाली पर विधि और राज्य का संगठन किया गया, अंग्रेजी भाषा के माध्यम से उस शिक्षा प्रणाली का संगठन किया गया जिसके आदर्श और अर्हायें (Values) एकदम भिन्न थे, राजनैतिक जीवन की योरोपीय धारणाओं का भारतीय जीवन में प्रवेश हुआ योरोपीय दर्शन तथा ज्ञान विज्ञान का प्रचार हुआ, यातायात और उत्पादन के नये साधनों से आर्थिक जीवन का एक नया रूपान्तरण हुआ और नये तथा द्रुतगामी सन्देशवहन के साधनों से नये विचारों का संचार हुआ और इन सबका सम्मिलित प्रभाव हुआ सामाजिक परिवर्तन की उस गति और दिशा का जन्म जो भारत के लिए एकदम नई थी।

प्रारम्भ से ही अंग्रेज प्रशासक दो मतों के रहे हैं। एक श्रेणी में वे लोग आते हैं जो भारतीय ज्ञान विज्ञान और दर्शन से इतने प्रभावित थे कि वे भारत के

1 ओ' मेले इण्डिया एंड दि वेस्ट पृष्ठ 783

की भाषाओं दर्शन, गणित मजहब और प्रजातन्त्र की वास्तविक जननी भारत ही है[1]।

इसप्रकार योरोप की द्विभाजित विचारधारा में भारत का वास्तविक मूल्यांकन न हो सका। इसकारण भारत के अंग्रेज प्रशासक भी यह निर्णय न कर पाये कि भारत और योरोप का कैसा समन्वय हो। दूसरी ओर, इसका परिणाम यह हुआ कि स्वयं भारत की विचारधारा में, योरोप को लेकर द्विभाजिता का समावेश हुआ और परम्परा बनाम आधुनिकता का विवाद चल पड़ा। इसमें कोई शक नहीं कि योरोप का प्रभाव एक झंझावात के समान आया जिसके झकोरों में भारतीय बौद्धिकता वैसे सचेष्ट हुयी जैसे गम्भीर निद्रा में सोया हुआ व्यक्ति सहसा उठ कर और खतरे का अनुभव कर सचेष्ट हो उठता है। भारत ने अपनी बौद्धिक परम्पराओं में योरोपीय सभ्यता का मूल्यांकन करके उसे अपने समन्वय में लाने का प्रयास किया। इसके दो परिणाम हुए—एक ओर, भारत ने अपने को ढूढ निकला[2] और दूसरी ओर योरोप के प्रभाव से उत्पन्न पुनर्जागरण की रोशनी में अपनी संस्कृति को पुनः संस्थापित करने का प्रयास किया। योरोप से आने वाले इसाइयत के आक्रामक प्रहारों, योरोप की निरीह पार्थिवता और उससे उत्पन्न समस्याओं तथा योरोप में छिड़ने वाले दो महायुद्धों की भीषणता को देख कर, भारतीय विचार योरोपीय सभ्यता के प्रति सशंकित हो उठा। पर, साथ ही साथ, योरोपीय सभ्यता के लाभदायक और मानवीय उपादेयों को हृदयंगम करने का लोभ भी भारत न त्याग सका। जिस प्रकार, भारत को लेकर योरोपीय विचारधारा में द्विभाजिता का समावेश हुआ उसी प्रकार योरोपीय संस्कृति को लेकर भारत में द्विभाजित विचारधारा का जन्म हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि, एक ओर भारतीय संस्कृति का पुनर्मूल्यांकन शुरू हुआ तो, दूसरी ओर भारतीय संस्कृति में योरोपीय सभ्यता का समावेश करके उसके पुनर्संस्थापन का प्रयास शुरू हुआ। इसी द्विभाजिता का एक अन्य परिणाम हुआ भारत में कट्टर पुरातन पंथी विचारधारा का अभ्युदय। पश्चिमी सभ्यता के संघात ने भारतीय संस्कृति को झकझोर दिया भारत में एक नए बौद्धिक कोलाहल को जन्म दिया और भारतीय समाज तथा संस्कृति सम्बन्धी अनेक बेकरार प्रश्नों को जन्म दिया, किन्तु फिर भी, यह संघात भारतीय संस्कृति की परम्परात्मक अभिरुचि को न बदल सका। यह संघात, वस्तुतः, समुद्र की उत्ताल तरंगों के समान रहा है जिसमें भारतीय संस्कृति उस चट्टान के समान सिद्ध हुयी जिससे समुद्र की लहरें टकराती ही रहीं और उसे हिला न सकीं[3]।

---

1 राधाकृष्णन एस० ईस्ट एण्ड वेस्ट सम रेफ्लेक्शन्स पृष्ठ 70

2 पानिक्कर, के० एम० ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्टो अध्याय 20 और 21

3 व्यास, के० सी० दि सोशल रिनासां इन इण्डिया पृष्ठ 1

ए० आर० देसाई[1] के अनुसार, जिस समय भारत मे अंग्रेजी राज की जडें जमनी प्रारम्भ हुयी थी उस समय इङ्गलैड की सामन्तवादी व्यवस्था पूंजीवादी व्यवस्था मे बदल चुकी थी। वहाँ एक ओर, मुद्रा, बाजार और मशीनीकृत औद्योगीकरण पर आधारित आर्थिक व्यवस्था तथा, दूसरी ओर, इस अर्थव्यवस्था पर आधारित प्रतियोगी (Competitive), व्यक्तिवादी, चलिष्णु (Mobile) और वर्ग बद्ध सामाजिक व्यवस्थायें अस्तित्व में आ चुकी थी। इङ्गलैड की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के आधार थे धर्मनिरपेक्षिता, प्रतियोगिता (Competition) और उपार्जित सामाजिक प्रतिष्ठा (Achieved Social Status)। इन विशेषताओं के कारण अंग्रेजी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था भारत की अपेक्षा कहीं अधिक गत्यात्मक थी। इस गत्यात्मकता का एक अन्य कारण था अंग्रेजी व्यवस्था पर वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी का प्रभुत्वमय प्रभाव। भारत की अपेक्षा इङ्गलैड का प्रौद्योगिक स्तर अधिक विकसित था और पूंजीवादी प्रवाह में पूर्णतया निमज्जित होने के कारण इङ्गलैड की राष्ट्रवादी भावना अधिक स्पष्ट गत्यात्मक और पुष्ट थी।

इसके विपरीत भारत एक खेतिहर देश था। यहा की आर्थिक व्यवस्था उस कृषि पर आधारित थी जिसमें उत्पादन का प्रत्यक्ष सम्बन्ध था जीवन निर्वाह से न कि मुनाफा और बाजार से। प्रौद्योगिकी का स्तर इङ्गलैड की अपेक्षा निम्न था। कृषि पर आधारित भारतीय आर्थिक-व्यवस्था का सामाजिक पहलू एक ओर भारतीय सामन्तवाद में निहित था तो दूसरी ओर, संयुक्त परिवार जाति ग्राम संगठन और उन धार्मिक धारणाओं में जो अपरिवर्तनशीलता तथा समष्टिवादिता की प्रेरक था। भारतीय सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था समष्टिवादी थी और अभिरोपित सामाजिक प्रतिष्ठा (Ascribed Social Status) पर आधारित थी। भारत का औद्योगीकरण उस प्रौद्योगिकी पर आधारित था जिसमें प्राणिक शक्ति (Organic Power) का प्रयोग होता था। औद्योगीकरण सीधे निर्भर था कृषि पर न कि लाभ और बाजार पर। विभिन्न उद्योगो में लगे हुए कारीगर उत्पादन करते थे केवल स्थानीय उपभोग के लिए और यही कारण है कि जाति-व्यवस्था के रूप मे श्रमिकों और कारीगरों का पारिश्रमिक मुद्रा में न मिल कर धान्य (Kind) के रूप में मिलता था। मुद्रा के स्थान पर बदलौअल का प्राधान्य था। सारी सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था की धुरी था पृथक्कृत ग्राम (Isolated Village) और, इस कारण भारत की राष्ट्रवादी भावना इङ्गलैड की अपेक्षा अत्यधिक क्षीण थी। भारत उस समय एक संस्कृति राष्ट्र था न कि राज्य राष्ट्र (Nation State) जो पूंजीवादी व्यवस्था की उपज है और संस्कृति निरपेक्ष तथा धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवादिता की जननी है। संक्षेप में भारतीय सामाजिक आर्थिक व्यवस्था अनम्य (Rigid) अगत्यात्मक और गतिहीनात्मक थी।

1 देसाई, ए० आर० सोशल बैकग्राउण्ड आफ इण्डियन नेशनलिज्म।

इस प्रकार, भारत में, अंग्रेजी राज की स्थापना से सभ्यता संस्कृति में घात की जो गत्यात्मक परिस्थिति उत्पन्न हुई उसमें, वस्तुतः, इङ्गलैण्ड की पूंजीवादी व्यवस्था का भारत की सामंतवादी-व्यवस्था पर संघात पड़ा। इस संघात में एक ओर थी अपेक्षाकृत कम परिवर्तनशील और स्थायी सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था और, दूसरी ओर, थी एक व्यापारी, साम्राज्यवादी गत्यात्मक, चरिष्णु और सैनिक व्यवस्था, एक ओर थी अविकसित तथा मन्द प्रौद्योगिकी और दूसरी ओर थी एक उत्तरोत्तर विकसित प्रौद्योगिकी। भारतीय व्यवस्था समष्टिवादी अभिरापित, अनाम्य, अप्रतियागी और धर्मोन्मुख थी जबकि अंग्रेजी व्यवस्था व्यक्तिवादी प्रतियागी और धर्मनिरपेक्ष थी। भारतीय व्यवस्था संस्कृतिमूलक, रहस्यवादी और आध्यात्मिक थी जबकि अंग्रेजी व्यवस्था सभ्यतामूलक पार्थिव इहलौकिक और नितान्त प्रौद्योगिक थी। दोनों व्यवस्थायें अलग अलग ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज थी। अंग्रेजी व्यवस्था उपज थी वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी और पूंजीवाद की—वह पूंजीवाद जो वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी के प्रभावों के कारण इङ्गलैण्ड के सामन्तवाद का एक सामाजिक-आर्थिक रूपान्तरण था और जिसकी आधारभूत आवश्यकताय थी व्यक्तिवाद, राष्ट्रवादिता और साम्राज्यवाद। भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना इसी पूंजीवाद की एक आवश्यकता मात्र थी और इसीकारण, अंग्रेजी राज के माध्यम से भारत में वही परिवर्तन हुए जो अंग्रेजी पूंजीवाद के अस्तित्व के लिए आवश्यक थे।

अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद, भारत में सभ्यता संस्कृति संघात की परिस्थिति में उत्पन्न परिवर्तनों का विवेचन मुख्यतया तीन दृष्टिकोणों से किया गया है। एक वह दृष्टिकोण है जो मार्क्सवाद पर नहीं बल्कि मार्क्सवादी अध्ययन रीति पर आधारित है। इस दृष्टिकोण से, आधुनिक भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों को आर्थिक सामाजिक परिवर्तन शृंखला के एक सिलसिले में आंकने का प्रयत्न किया गया है। इस दृष्टिकोण को मानने वाले यह मान्यता लेकर चले हैं कि भारत के सांस्कृतिक इतिहास में अंग्रेजी राज का काल वह काल है जब भारत की आर्थिक व्यवस्था में आधारभूत परिवर्तन हुए और आर्थिक परिवर्तनों ने सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तनों को जन्म दिया। इस मान्यता के मानने वालों के मत में अंग्रेजों के अधीन भारत का इतिहास वस्तुतः एक सामन्तवादी व्यवस्था का धीरे धीरे एक अपूर्ण पूंजीवादी व्यवस्था में परिणत होने का इतिहास है[1]।

दूसरा दृष्टिकोण उन अध्ययन कर्ताओं का है जिनके अध्ययन भारत के आविष्कार (Discovery of India) या भारतीय संस्कृति का एक महान समुत्थान

---

1 विशेष अध्ययन के लिए देखिए सर्वश्री ए० आर० देसाई कृत सोशल बैकग्राउण्ड आफ इण्डियन नेशनलिज्म नजमुल करीम कृत चेंजिंग सोसायटी आफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, डा०पी० मुकर्जी कृत माडर्न इण्डियन कल्चर, और एच०डी० मालविया कृत विलेज पंचायत।

(A Great Recovery) की भावना से ओत प्रोत है। यह दृष्टिकोण इस मान्यता पर आधारित है कि अंग्रेजी राज के माध्यम से पड़ने वाले संघात के प्रभाव में, भारत तथा भारतीय संस्कृति ने, वस्तुतः, अपने को पुनः ढूंढ निकाला है। इसी को नेहरू ने भारत का आविष्कार कहा है और पानिक्कर ने एक महान समुत्थान। पानिक्कर के अनुसार, अंग्रेजी राज का काल ही वह काल है जब भारत की प्राचीन नौकरशाही की परम्पराओं के आधार पर एक नयी प्रशासन-व्यवस्था कायम की गयी, जब यातायात के साधनों के विकास के कारण भारत का सर्वांगीण एकीकरण हुआ, जब भारत में राष्ट्रीयता का विकास हुआ तथा हिन्दुत्व संस्कृत भाषा के अध्ययन और भारतीय कला का पुनरुत्थान हुआ, जब भारत के प्राचीन इतिहास के नवनिर्वचन के प्रयत्न प्रारम्भ हुए और इतिहास के गर्त में से अशोक तथा बुद्धवाद को निकाल कर संसार के समक्ष रक्खा गया और जब इन सभी विकासों के सम्मिलित प्रभाव के कारण धीरे धीरे भारत में एक सामूहिक रूप की चेतना जगी[1]। यही विकास पानिक्कर के अनुसार वह महान समुत्थान है जिससे आधुनिक भारत का सांस्कृतिक इतिहास ओत प्रोत है।

जिस प्रकार इस्लामी सभ्यता के संघात से भारत के सामाजिक विचार में कोलाहल हुआ था और उससे सामाजिक नवजागृति (Social Renaissance) का सिलसिला प्रारम्भ हुआ था—वह सिलसिला जिसने शंकर, रामानुज, रामानन्द, कबीर, तुलसी और रामदास को उत्पन्न किया था और भारत में उन सुधारवादी पंथों को जन्म दिया था जिनकी परम्परा वर्तमान समय तक आती है—उसी प्रकार पश्चिमी सभ्यता के संघात ने भी एक बार फिर एक नए बौद्धिक कोलाहल को जन्म दिया। इसी बौद्धिक कोलाहल ने एक नयी सामाजिक नवजागृति उत्पन्न की जिसने अनेक सुधारवादी आन्दोलनों को जन्म दिया। यह समाजसुधारवादी सामाजिक नवजागृति, वस्तुतः, भारतीय सामाजिक विचार का गत्यात्मक विकास है। अतः, अध्ययन का एक तीसरा दृष्टिकोण है आधुनिक भारत के सामाजिक विचार का गत्यात्मक निर्वचन। यह अध्ययन रीति दर्शन की परम्परा में है और इसके अग्रणी हैं राधाकृष्णन।

इस प्रकार जैसा कि पिछले संक्षिप्त परिचयात्मक सर्वेक्षण से स्पष्ट है भारतीय संस्कृति पर पश्चिमी सभ्यता के संघात को विद्वानों ने कई पहलुओं से देखा है। एक सर्वांगीण विवेचन के लिए इन सभी की आवश्यकता है। एक बार इस बात की आवश्यकता है कि पहले पश्चिमी सभ्यता के संघात के विभिन्न पहलुओं और उनसे उत्पन्न होने वाले संस्थागत रूपान्तरणों को और, फिर इस संघात से उत्पन्न होने वाली सामाजिक नवजागृति तथा सामाजिक विचार का विवेचन किया जाय। संस्थाओं में परिवर्तन, सुधार की आवश्यकता और सुधारवादी आन्दोलन एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। अतः अगला वर्णन दो भागों में विभाजित है—एक संस्थाओं में परिवर्तन और दूसरा सामाजिक नवजागृति का आन्दोलन।

---

1 देखिए जवाहरलाल नेहरू द्वारा रचित डिस्कवरी आफ इण्डिया और के० एम० पानिक्कर कृत ए० सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री।

सामाजिक-सांस्कृतिक रूपान्तरण

आर्थिक व्यवस्था

जैसा कि पहले कहा जा चुका है यूरोपीय सभ्यता का सबसे बड़ा और आधारभूत परिवर्तनकारी प्रभाव पड़ा भारत की परम्परागत आर्थिक-व्यवस्था पर । इस्लाम के संघात से भारत की आर्थिक व्यवस्था में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं आया था । मुस्लिम विजेता भारत के सामाजिक आर्थिक जीवन का एक अंग बन कर रहे और उन्होंने यहाँ की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था को ही अपना लिया था । लेकिन भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना ने एक नयी परिस्थिति को जन्म दिया । यह वह परिस्थिति थी जिसमें भारत में स्थापित अंग्रेजी राज्य इंगलैण्ड की बढ़ती हुयी पूँजीवादी व्यवस्था का एक आधारमात्र था । यही कारण है कि अंग्रेजी राज के संघात से एक ओर पूँजीवादी व्यवस्था का भारत में आगमन और धीरे धीरे विकास हुआ तो दूसरी ओर पूँजीवाद की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये इंगलैण्ड के पूँजीवादी वर्ग ने भारत के प्राचीन सामन्तवादी वर्ग को नष्ट करके, एक नये सामन्तवादी वर्ग को जन्म दिया । ए० आर० देसाई के अनुसार अंग्रेजों के राज्यकाल में भारत का इतिहास वस्तुत, यहाँ की सामन्तवादी व्यवस्था के एक अपूर्ण पूँजीवादी-व्यवस्था

में बदलने का इतिहास है। किन्तु वास्तविकता कुछ और है। अंग्रेजी राज्य-काल में भारत में अंग्रेजी पूंजीवाद सदैव यहां के सामन्तवादी वर्ग को ही स्थायी रखने की ओर उन्मुख रहा जबकि भारत का पूंजीवादी वर्ग जो स्वयं भारतीय समाज की उपज था, एक ओर भारतीय सामन्तवर्ग को मिटाने की ओर उन्मुख हुआ तो, दूसरी ओर, अंग्रेजी पूंजीवाद के विरुद्ध संघर्षरत रहा। कांग्रेस के नेतृत्व में चलने वाला स्वतन्त्रता-संग्राम, उसको मिलने वाली आर्थिक सहायता के स्रोत और स्वदेशी का आन्दोलन इस तथ्य के प्रमाण हैं। आज भारतीय पूंजीवाद अपने पुराने प्रतिद्वन्द्वी अंग्रेजी अमरीकी पूंजीवाद से पुनः आश्रय पाने के लिए उन्मुख है क्योंकि आज उसका ही अस्तित्व खतरे में है।

भारत की इस सामाजिक-आर्थिक गत्यात्मकता को समझने के लिए भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था में होने वाले उन परिवर्तनों के समझने की आवश्यकता है जो अंग्रेजी राज के माध्यम से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में घटित हुए। भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था के मुख्य आधार थे कृषि की प्रधानता, प्राचीन कृषि प्रौद्योगिकी, कृषि पर आधारित आत्मनिर्भरता और इन सबसे सम्बन्धित तथा इनको स्थायित्व प्रदान करने वाली सामाजिक व्यवस्था। यूरोप से सम्पर्क स्थापित होने पर पहले भारत के उद्योगों को प्रोत्साहन मिला क्योंकि यूरोपीय सम्पर्क की प्रथम अवस्था में, भारत विदेशी व्यापारियों का एक बड़ा बाजार हो गया। विदेशी व्यापारी भारत की बनी वस्तुओं को खरीदते थे और विदेशों से लायी हुयी वस्तुओं को यहाँ बेचते थे। इसी बाजार ने भारत के उस मध्यम वर्ग को जन्म दिया जिसके अस्तित्व का मुख्य आधार था विदेशी व्यापार और यूरोप में पनपने वाला पूंजीवाद।

भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना होने के साथ साथ, एक ओर भारत के बाजार में भारतीय माल की बिक्री कम होना प्रारम्भ हुआ क्योंकि मशीनों का बना माल भारत के बने माल की अपेक्षा सस्ता पड़ता था और दूसरी ओर विदेशी माल की खपत बढ़ने लगी। इसी के लिए [illegible] बनाये रखने का प्रयास किया। इसके लिए अंग्रेजी राज को माध्यम बनाया गया और उसके द्वारा भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये गये जो आज सर्वविदित हैं। अंग्रेजी राज में भारत की सामन्तवादी व्यवस्था प्राई पूर्णतया पूंजीवादी व्यवस्था में नहीं बदली। भारत में पूंजीवाद की वह अवस्था ही नहीं जो अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड और यूरोप में थी। वर्तमान भारत की आर्थिक व्यवस्था की गत्यात्मकता पूंजीवाद या समाजवाद की ओर प्रवाहित हो रही है? यह यूरोप के समाज वाली प्रभाव है कि वर्तमान भारत पूंजीवाद तथा समाजवाद के झगड़े में है। इन झगड़ों में उलझा हुआ भारत पूंजीवाद तथा समाजवाद का वैसा ही समन्वय करने में प्रयत्नशील है जैसा कि उसने

इस्लाम और हिंदुत्व का तथा आर्य और द्राविड का समन्वय किया है[1]।

इंगलण्ड की आर्थिक व्यवस्था औद्योगीकृत पूंजीवादी व्यवस्था थी और इस कारण उसका प्रत्यक्ष प्रभाव भारत की कृषि व्यवस्था पर पड़ा। योरोप से सम्पर्क स्थापित होते ही भारतीय कृषि व्यवस्था का आर्थिक सम्बन्ध आधुनिक मशीनीकृत और पूंजीवादी औद्योगीकरण से हो गया था क्योंकि योरोप के लोगों ने भारत में उन्हीं वस्तुओं को अधिकतर खरीदा या प्राप्त करने पर जोर दिया जिनका उपयोग कच्चे माल की तरह विभिन्न उद्योगों में हो सकता था। पहले योरोप के लोगों की दिलचस्पी भारत में बनी उपभोग की वस्तुओं में थी किन्तु जब योरोप में मशीनीकरण बढ़ता गया उनकी दिलचस्पी उपभोग की वस्तुओं में न रह कर कच्चे माल में अधिक हो गयी। अंग्रेजी राज के स्थापित होते होते, यह दिलचस्पी और भी बढ़ गयी। अतः भारत के किसान ने उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करना प्रारम्भ किया जिनकी विभिन्न उद्योगों में आवश्यकता थी और जिनसे फौरन ही नकद रुपया मिल सकता था। पहले किसान अपनी भूमि से अपने लिए आवश्यक वस्तुओं को पैदा करता था और कृषि उसके लिये जीवन निर्वाह का एक साधनमात्र थी। किन्तु योरोप से सम्पर्क स्थापित होने पर भारतीय किसान ने कपास, गन्ना, तिलहन, जूट और तम्बाकू इसलिये बोना शुरू किया कि उनकी बाजार में मांग थी और उनसे ज्यादा लाभ होता था। फलत, भारतीय कृषि में नकद-फसलों (Cash Crops) का समावेश हुआ। भारत के जिन क्षेत्रों में जिस वस्तु के उत्पादन के अनुकूल साधन थे उस क्षेत्र में उसी वस्तु का उत्पादन बढ़ा और उसी उद्योग का प्रादुर्भाव हुआ। बंगाल में जूट की खेती बढ़ी, उत्तर प्रदेश और बिहार में गन्ने की, पंजाब और विन्ध्य प्रदेश व दक्षिण में कपास की और आन्ध्र प्रदेश तथा मद्रास में तम्बाकू की। यही नहीं भारत के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में अलग अलग अन्न की किस्मों का उत्पादन होने लगा। इसप्रकार कृषि में एक ओर विशिष्टीकरण (Specialisation) बढ़ता, दूसरी ओर कृषि का

---

1 योरोप के प्रभाव से भारत में जो सामाजिक नवजागृति फैली उसकी विचारधारा समाजवादी रही है। स्वतन्त्र भारत का आदर्श समाजवादी समाज की स्थापना है—यह समाज जिसमें राज्य जनकल्याण का मुख्य माध्यम है किन्तु उस अनिवार्यतः तन्त्र नहीं माना है। उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार होगा किन्तु वहीं तक जहाँ तक ऐतिहासिक परिस्थिति की आवश्यकता है। समाजवादी समाज वैयक्तिक साम्पत्तिक अधिकारों तथा मिश्रित और सामूहिक मिल्कियत का समन्वय है जो न योरोप के पूंजीवादी आदर्शों से ही प्रभावित है और न साम्यवादी आदर्शों से ही। समाजवादी समाज पूंजीवाद और साम्यवाद का समन्वय है—देखिये पंचवर्षीय योजनाओं की भूमिकाएँ।

व्यापारीकरण (Commercialization)

भारतीय कृषि का उत्तरोत्तर विशेषीकरण और व्यापारीकरण उस सम्पूर्ण की परिस्थिति का परिणाम है जिसमें धीरे धीरे उसका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय बाजार और औद्योगीकरण से स्थापित हुआ। यह इसी प्रक्रिया का परिणाम है कि भारत में, अंग्रेजी राज की स्थापना होते होते, भारतीय किसान का अन्तर्राष्ट्रीय-आर्थिक-सम्बन्ध स्थापित हुआ। इसी प्रक्रिया का एक अन्य परिणाम यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के उतार चढ़ाव का प्रत्यक्ष प्रभाव भारतीय किसान की आर्थिक परिस्थिति पर पड़ने लगा। अंग्रेजों के पहले की आर्थिक व्यवस्था में भारतीय किसान का सम्बन्ध केवल अपने गाँव और उस क्षेत्र तक सीमित था जहाँ से उसके जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। किन्तु अंग्रेजी राज में भारतीय कृषि और किसान का राष्ट्र और संसार के संघात में आया। यह इसी प्रभाव का परिणाम है कि वर्तमान भारत में कृषि और किसान की समस्यायें राष्ट्रीय महत्व की हैं।

भारत की भूमि-व्यवस्था में परिवर्तन एक अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन है। अंग्रेजों के पहले की भूमि-व्यवस्था में भू-स्वामित्व व्यक्तिगत भी था और सामूहिक भी। प्रत्येक परिवार की अपनी भूमि होती थी और परिवार के विभाजित होने पर, परम्परागत उत्तराधिकार के नियमों के अनुसार भूमि का बटवारा भी होता था। किन्तु चूँकि उस काल में भूमि ही जीवन निर्वाह का प्रधान साधन थी, भूमि विभाजन की प्रवृत्ति भी अपेक्षाकृत कम था। गाँव के जंगल और चरागाहों पर गाँव का सम्मिलित अधिकार रहता था और वह अधिकार ग्राम-पंचायत में निहित रहता था। राजस्व नकद धन में न लेकर धान्य के रूप में पैदावार के कुछ अंश में लिया जाता था जो राज्य समय समय पर निर्धारित करता था। राजस्व पैदावार के अनुपात में लिया जाता था। पैदावार के घटने बढ़ने के साथ साथ किसान का राजस्व भी घटता-बढ़ता रहता था। राज्य का राजस्व लेने का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व गाँव पंचायत पर था न कि किसान पर। किसान राज्य के प्रति उत्तरदायी था पर केवल अप्रत्यक्ष रूप से।

अंग्रेजी राज में यह स्थिति बदल गयी। पैदावार पर निर्भर राजस्व परिवर्तनशील है क्योंकि वह पैदावार की मात्रा के साथ घटता बढ़ता रहता है। भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा स्थापित राज्य के सलाहकारों के लिये राजस्व की अनिश्चितता को दूर करने का प्रयत्न स्वाभाविक ही था। कम्पनी राज की प्रथम आर्थिक माँग लगान वसूल करने के प्रशासन का आधार बनाना और भी स्वाभाविक था। दूसरी ओर, जिस सामन्त तथा नव विकसित मध्यम वर्ग के आधार पर कम्पनी ने राज्य कायम किया था उसको भी प्रोत्साहन देने की आवश्यकता थी ताकि अंग्रेजी राज के समर्थकों का एक वर्ग कायम किया जा सके। इसके अलावा अंग्रेजों की आर्थिक तथा सामाजिक पद्धति की धारणायें भारत की परम्परागत धारणाओं से भिन्न

थी। इन सबका सम्मिलित परिणाम हुआ भूमि व्यवस्था सम्बन्धी वे सुधार जिनका प्रारम्भ सन सत्रह सौ तिरानवे म लाड कानवालिस के द्वारा सम्पन्न हुआ। लाड कानवालिस ने ही सबसे पहले स्थायी ब दोवस्त करके, एक ओर, सम्मिलित भू स्वामित्व के स्थान पर यक्तिगत भू स्वामित्व स्थापित किया, लगान की दर नकद रुपयो म निश्चित की और जमीदारो को लगान वसूल करन का ठका दिया। जहा जहाँ रयतवारी प्रथा लागू की गयी वहा वहा भी लगान की दर निश्चित की गयी। समय समय पर भूमि का ब दोबस्त करके, लगान की दर को घटाने बढान का अधिकार सरकार न अपन हाथ मे रक्खा।

इस व्यवस्था क कई सामाजिक आर्थिक परिणाम हुए। व्यक्तिगत भूस्वामित्व क कानूनी सिद्धान्त को मान लन स परिवार तथा भूमि विभाजन अधिक बढ गया। बढते हुये औद्योगीकरण नयी औद्योगिक पेशा सरचना (New Industrial Occupational Structure) नगरीकरण और यातायात के साधनो न व्यक्तिवाद को प्रोत्साहित किया और उसने वयक्तिक भू स्वामित्व की प्रवत्ति को। इसका परिणाम हुआ भूमि का छोट छोट अलाभ टुकडो म बटना। दूसरा परिणाम यह हुआ कि भू स्वामित्व और कृषि काय अलग अलग हो गये और कृषक तथा भू स्वामी अलग अलग व्यक्ति हो गये। इसी विभाजन स भारतीय समाज म जमीदार और तालुकदार नामक एक विशिष्ट सामन्तवग की उत्पत्ति हुयी—वह वग न तो वास्तव म भू स्वामी नहा था किन्तु जिसे लगान वसूल करन का अधिकार प्राप्त था। भारतीय विद्वानो क दृष्टिकोण स यह वग अग्रजो की कृति था किन्तु अग्रज विद्वानो के मत म यह वग अग्रेजो के पहले म चला आ रहा था और भारतीय सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का पहले ही म एक अग था[1]। किन्तु वास्तविकता यह है कि यह वग अग्रजो की ही कृति था यद्यपि यह भारतीय परम्परा पर आधारित था। मुगलो के समय म जागीरदारी प्रथा थी और जागीरदारो को बादशाह की ओर स लगान वसूल करन का उत्तरदायित्व मिला रहता था। इसी परम्परा का अनुसरण करत हुय अंग्रेजो ने भी जमीदारो को लगान वसूल करन का ठका सौपा था। किन्तु यदि अन्तर था तो कवल एक। जागीरदारी प्रथा म भूमि पर गांव का सम्मिलित स्वामित्व रहता था जबकि जमीदारी प्रथा म भूमि पर न तो गाव का सम्मिलित स्वामित्व रहा और न कृषक का। जिस प्रकार सरकार जमीदार को एक निश्चित रकम के आधार पर लगान वसूल करने का ठेका देती थी उसी प्रकार जमीदार किसान को भूमि को एक निश्चित रकम एक निश्चित लगान की दर पर एक निश्चित अवधि के लिये देता था। परती भूमि, चरागाह, बागो, तालाबो और जगलो पर जमीदार का अधिकार रहता था न कि गाँव का। इसप्रकार, जमीदारो का

1 ओ मेले इण्डिया एण्ड दि वेस्ट

वर्ग वस्तुतः उन ठेकेदारों का वर्ग था जो सरकार को एक निश्चित वार्षिक रकम लगान के रूप में देने के उत्तरदायी थे। उनके जीवन निर्वाह का आधार था वह कमीशन जो वह कृषक से लेते थे और जिसके लिये सरकार की ओर से उन्हें कानूनी अधिकार मिला हुआ था। इस प्रथा से कृषक और भूमि का सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया क्योंकि कोई भी कृषक किसी समय अपनी भूमि से वंचित किया जा सकता था। साथ ही साथ इस प्रथा से गांव का समष्टिवादी जीवन भी समाप्त हो गया क्योंकि भूमि और लगान के लिये, गांव पंचायत के स्थान पर किसान उत्तरदायी हो गया जमींदार और सरकारी अफसरों के प्रति।

इसमें कोई शक नहीं कि अंग्रेजी राज में सिंचाई के साधनों तथा कृषि के प्राचीन तरीकों का सुधार करके, कृषि को अधिक लाभकारी बनाने का प्रयास किया गया। किन्तु साथ ही साथ यह भी सही है कि जितनी सुविधा सरकार ने अर्पित की उसके लिये सरकार ने किसान से एक निश्चित रकम भी ली। इसका परिणाम यह हुआ कि कृषि पर नकद खर्च बढ़ता गया। लगान और सिंचाई की वार्षिक रकम किसान को देना आवश्यक हो गया और इन रकमों का पैदावार की मात्रा से कोई सम्बन्ध न था। उदाहरण के लिये यदि एक खेत में दस मन पैदा हो या एक मन लगान और सिंचाई की रकम उतनी ही लगेगी जितनी कि वह पहले से निश्चित है। इसका परिणाम यह हुआ कि फसल तैयार होते ही उसे बेचना किसान के लिये आवश्यक हो गया क्योंकि बिना फसल बेचे किसान के लिये लगान चुकाना सम्भव न था। इस कारण भारत की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में मध्यजनों (Middlemen) के रूप में उस वर्ग का अभ्युदय हुआ जो तैयार होते ही फसल खरीद लेते। किसान के लिये ज्यादा नुकसान हुआ फसल को सस्ता बेचना क्योंकि फसल तैयार होते ही बाजार में माल की अधिकता से भाव गिर जाता है।

इस प्रकार [illegible] औद्योगीकरण के प्रभाव के कारण किसान अन्न के अलावा, जीवन निर्वाह की अन्य वस्तुओं के लिये बाजार और इन उद्योगों पर निर्भर हो गया जिनकी गति विधि पर उसका नियन्त्रण न था। जमींदारी प्रथा के कारण किसान की आर्थिक स्थिति अनिश्चित हुई क्योंकि भूमि उसके हाथ से कभी ली जा सकती थी। उद्योग धंधों के ह्रास के कारण भूमि पर जनसंख्या का दबाव भी साथ ही साथ बढ़ा। इन सभी कारणों का सम्मिलित प्रभाव हुआ किसान की बढ़ती हुई गरीबी और भूमि के लिये एक तीव्रतम प्रतियोगिता। किसान की बढ़ती हुई गरीबी के ही कारण, भारत की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में एक विशेष वर्ग महाजन वर्ग का अभ्युदय हुआ। बढ़ती हुई गरीबी के कारण किसान को उधार लेने की आवश्यकता हुई और उसे उधार मिला महाजनों से। भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापित होने पर, अंग्रेजी राज के माध्यम से जिस सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का अभ्युदय हुआ उसमें महाजन और मध्यजन, वस्तुतः एक दूसरे के पूरक होकर, एक

ऐसा मध्यम वर्ग बन गये जिसका सामाजिक आर्थिक अस्तित्व ब्याज मुनाफा और कमीशन पर निर्भर है। योरोप के संघात से कृषि का ही नहीं बल्कि सामाजिक व्यवस्था का ही व्यापारीकरण हो गया।

योरोप के संघात से भारत की परम्परागत औद्योगिक व्यवस्था का एक ओर, ह्रास हुआ और दूसरी ओर, एक नयी औद्योगिक व्यवस्था का अभ्युदय हुआ। योरोपीय पूँजीवादी व्यवस्था के पहले की भारतीय औद्योगिक व्यवस्था, एक ओर, भारत की कृषि व्यवस्था पर आधारित थी और, दूसरी ओर भारत की सामाजिक संरचना पर। कृषक का पेशा प्रधान पेशा था और सभी जातियों के सदस्य खेती को बतौर पेशा के अपना सकते थे। फिर भी, भारत की संरचना में शिल्पी जातियों (Artisan Castes) के रूप में विशेषीकृत अन्तर्विवाही समूह (Specialized Endogamous Groups) भी थे जो भारत के विभिन्न उद्योग धंधों में लगे हुये थे और खेती जिनके लिये प्रधान नहीं बल्कि गौण पेशा था। इस प्रकार भारत की संरचना यद्यपि कृषि व्यवस्था पर आधारित थी फिर भी, उच्च जातियों के लोग कृषक नहीं थे। वे वस्तुतः सामन्त वर्ग के थे और खेती नहीं करते थे बल्कि खेती से मिलने वाली आय पर निर्भर थे। जाति संरचना की मध्यम श्रेणी में कुछ जातियाँ उस श्रेणी की थीं जिन्हें शुद्ध जातियाँ (Clean Castes) कहा गया है और जिनके सदस्य कृषक का ही काम करते थे। इसी श्रेणी में लोहार, सोनार, कुम्हार, बढ़ई, नाई इत्यादि ऐसी जातियाँ भी थीं जिनके सदस्य कारीगर भी थे और कृषक भी। किन्तु वे कारीगर पहले थे और कृषक बाद में। निम्न स्तर की जातियों में वे जातियाँ थीं जिनके सदस्य अपवित्र कहे जाने वाले पेशों को करते थे और साथ ही साथ खेतिहर मजदूर का काम भी करते थे। इसप्रकार भारत के उद्योग धंधे कृषि व्यवस्था से सम्बन्धित थे और उत्पादन की सीमा कृषि और कृषक की सामाजिक आर्थिक आवश्यकताओं तक ही सीमित थी। ये कारीगर उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करते थे जिनकी खपत उस क्षेत्र में हो जाती थी जिसके कि वे निवासी थे।

इस संरचना में सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का आधार थी जजमानी प्रथा जो परम्परागत विधि प्रमाणों द्वारा मान्य थी। प्रत्येक गाँव में या कई गाँवों को मिलाकर एक कारीगर परिवार को कुछ परिवारों की सेवा करने का अधिकार प्राप्त था। दूसरे शब्दों में प्रत्येक कारीगर को कुछ यजमान परम्परा से मिलते रहते थे और कारीगर का महत्व आर्थिक होने के साथ साथ सामाजिक भी था। जैसा कि वर्तमान ग्राम व्यवस्था में आज भी होता है जन्म, विवाह और मृत्यु तथा धार्मिक उत्सवों के अवसरों पर इन कारीगर जातियों का कर्मकाण्डी (Ritualistic) महत्व भी था। ऐसी दशा में उद्योगों का उत्पादन वहीं तक सीमित था जहाँ तक उनकी स्थानीय खपत थी। इन कारीगर जातियों के सदस्यों द्वारा अधिकतर उत्पादन स्थानीय खपत के ही लिये होता था। पारिश्रमिक वर्ष में दो बार प्रायः

रूप में ही लिया जाता था और वह भी परम्परा से निर्धारित था। इस प्रथा के अवशेष आज भी ग्रामीण समाज में पाये जाते हैं।

मुसलमानों के राज्यकाल में भारत का व्यापार बढ़ने के साथ साथ भारत का औद्योगीकरण भी बढ़ा और उसके फलस्वरूप व्यापारी शहरों में व व्यापारी मण्डियां भी अस्तित्व में आईं जिनमें उस अतिरिक्त माल की खपत होती थी जो कारीगर जातियों के सदस्य अपने अतिरिक्त समय में स्थानीय खपत के अतिरिक्त बनाते थे। भारत के आर्थिक संगठन में धार्मिक मेले साप्ताहिक पैठ और व्यापारी मण्डियाँ ऐसे ही अतिरिक्त माल के आदान प्रदान के साधन रहे हैं और आज भी हैं। हर धार्मिक मेले का एक व्यापारी पक्ष भी है जो यातायात के साधनों के विकास के साथ साथ और भी विस्तृत हुआ है। मुसलमानों के राज्यकाल में बढ़ते हुये औद्योगीकरण के कारण, भारत के विभिन्न भागों में औद्योगिक क्षेत्र भी अस्तित्व में आ गये थे जहाँ निश्चय ही उत्पादन बाजार के लिये होता था। मलमल के लिये प्रसिद्ध ढाका एक ऐसा ही केन्द्र था। किन्तु इस औद्योगिक व्यवस्था में कारीगर का घर ही कारखाना था और कारीगर स्वयं अपना मालिक भी था। वह पूंजीपति भी था और मजदूर भी।

यूरोप के सम्पर्क से यह व्यवस्था उस समय से बदलनी प्रारम्भ हुयी जबसे यूरोप में प्राकृतिक शक्तियों से चलने वाली मशीनों का आविष्कार हुआ और मुनाफे के लिए बड़े पैमाने पर, कारखानों का संगठन हुआ जिसका परिणाम हुआ अपेक्षाकृत अधिक सस्ता उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन। बड़े पैमाने पर उत्पादन का परिणाम हुआ यूरोप के विश्व बाजार का प्रसरण जो अंग्रेजी राज के माध्यम से भारत तक आ पहुँचा। सस्ती उपभोक्ता वस्तुओं की माँग बढ़ी जिसके परिणाम स्वरूप भारत में परम्परागत औद्योगीकरण का ह्रास होना प्रारम्भ हुआ। कृषि तथा उपभोक्ता वस्तुओं के व्यापारीकरण का स्वाभाविक परिणाम हुआ परम्परागत यजमानी प्रथा के आधार का हिलना। यूरोप के सम्पर्क में और अंग्रेजी राज के माध्यम से फैलने वाला व्यापारीकरण मुद्रा की अर्थ व्यवस्था (Monetary Economy) पर आधारित था। अतः आर्थिक आदान प्रदान (Exchange) में मुद्रा का महत्व पहले की अपेक्षा और भी बढ़ गया। किसान की भाँति कारीगर भी जीवन निर्वाह की वस्तुओं के लिये मुद्रा और बाजार पर निर्भर हो गये। इस परिस्थिति का परिणाम यह हुआ कि एक ओर कारीगरों के उद्योग धन्धों का उत्तरोत्तर ह्रास हुआ, उनकी गरीबी बढ़ी वे कृषि पर ही निर्भर हो गये जिससे कृषि पर जनसंख्या का भार बढ़ा और दूसरी ओर अनाज के स्थान पर वे मुद्रा के रूप में पारिश्रमिक लेने के लिए बाध्य हुए। वर्तमान भारत की ग्रामीण सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में अनाज के स्थान पर मुद्रा के रूप में पारिश्रमिक लेने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। भारत की परम्परागत सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का कारीगर अब या तो भृत्ति कमाने वाला (Wage Earner) कुशल कारीगर हो गया या छोटे पैमाने का मध्यवर्गीय व्यापारी।

भारत में योरोपीय ढंग के आधुनिक औद्योगीकरण का श्रीगणेश मुख्यतया अंग्रेजी पूंजी से हुआ। इस औद्योगीकरण की प्रथम अवस्था थी भारत के कच्चे माल को उत्पादन के योग्य बना कर योरोप विशेषतया इंगलैण्ड भेजना। किन्तु धीरे धीरे, विदेशी पूंजी के ही द्वारा उपभोक्ता वस्तुओं के बनाने के कारखाने खुलने लगे। कपड़ा, शक्कर और जूट उद्योग इसके प्रमाण हैं। विदेशी पूंजीपतियों के सम्पर्क से धीरे धीरे भारत के पूंजीपतियों ने इस ओर कदम उठाया। अंग्रेजी साम्राज्य में उन्मुक्त व्यापार की नीति अपना कर अंग्रेजों ने भारतीय औद्योगीकरण को रोकने का प्रयास किया क्योंकि इंगलैण्ड की प्रतियोगिता में भारतीय औद्योगीकरण को प्रशुल्की संरक्षण (Tariff Protection) की आवश्यकता थी। प्रथम महायुद्ध ने भारत की इस आवश्यकता को पूरा किया क्योंकि इस महायुद्ध में अंग्रेजों को यह महसूस हुआ कि आधुनिक ढंग से औद्योगीकृत भारत अंग्रेजी साम्राज्य के लिये लाभदायक ही होगा। प्रथम महायुद्ध में जिस भारतीय पूंजीवाद की जड़ पड़ी थी उसने युद्ध समाप्ति के बाद स्वदेशी आन्दोलन का आश्रय लेकर अपने को और आगे बढ़ाया। प्रथम और द्वितीय महायुद्धों के बीच का ही समय वह समय था जब भारत का औद्योगीकरण आरम्भ हुआ। द्वितीय महायुद्ध की आवश्यकताओं ने भारतीय औद्योगीकरण को और भी आगे बढ़ाया और मजबूत किया। स्वतन्त्रता के बाद से योरोपीय ढंग के औद्योगीकरण की महत्ता और भी बढ़ गयी है। वर्तमान भारत पूंजीवादी तथा समाजवादी ढंगों से अपना औद्योगीकरण कर रहा है।

भारत में बढ़ते हुए औद्योगीकरण के कई सामाजिक आर्थिक परिणाम निकले। पहला, गांव का परम्परागत सामाजिक आर्थिक महत्व समाप्त हो गया और कृषि के स्थान पर औद्योगीकरण सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का मुख्य आधार बन गया। कृषि का सम्बन्ध जीवन निर्वाह की आय मात्र से न रहकर उत्तरोत्तर विकसित औद्योगीकरण से हो गया। औद्योगीकरण तथा यातायात के साधनों ने भारत में शहरीकरण को जन्म दिया और प्राचीन मन्दिरों, राजनैतिक, व्यापारिक और धार्मिक केन्द्रों के स्थान पर बड़े बड़े औद्योगिक नगरों का विकास हुआ। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली, कानपुर, जमशेदपुर और अहमदाबाद जैसे शहरों का विकास पिछले दो सौ वर्षों में ही हुआ है। भारत की नयी औद्योगिक आर्थिक व्यवस्था के आधारों का केन्द्रीकरण भी इन्हीं शहरों में हुआ। भारत की अर्थ-व्यवस्था को चलाने वाली संस्थायें (बड़े पूंजीपतियों, व्यापारियों और मजदूरों के संगठन, स्टाक एक्सचेंज और मण्डियां) इन्हीं नगरों में केन्द्रित हैं। भारत की राजनैतिक शक्ति के केन्द्र भी यही नगर हैं। आज पाश्चात्य विचारों का वह स्वरूप जो भारत के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में परिवर्तन ला रहा है इन्हीं शहरों में हो रहा है। भारत के नये सामाजिक-सांस्कृतिक मानदण्डों का निर्धारण भी इन्हीं शहरों में होता है। शहरों के द्रुतगामी जीवन में और शहरी सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त अनामकता (Anonymity)

और द्वितीयक समूह संगठन (Secondary Group Organization) से, किसी सीमा तक, संयुक्त परिवार तथा जाति जैसी समष्टिवादी संस्थाओं में लचीलापन आ रहा है और व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन मिल रहा है।

यूरोपीय पूंजीवादी औद्योगीकरण को भारत में लाने के लिये यूरोपीय प्रौद्योगिकी, यूरोपीय औद्योगिक संगठन और आर्थिक संस्थाओं का अनुकरण किया गया। यूरोप की ही भांति भारत में भी उत्पादन का उत्तरोत्तर व्यापारीकरण किया गया और यूरोप की ही भांति, भारत में प्रौद्योगिक विशेषीकरण (Technological Specialization) को प्रोत्साहन दिया गया। भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था में पेशागत विशेषीकरण (Occupational Specialization) जाति प्रथा के रूप में सामाजिक विरासत पर आधारित था। किन्तु इस नयी व्यवस्था में पेशागत विशेषीकरण का आधार बना व्यक्ति और उसके द्वारा प्राप्त किया जाने वाला विशेष ज्ञान। औद्योगीकरण के केन्द्र थे औद्योगिक शहर इसकारण गाँव में बढ़ती हुई आर्थिक बेकारी ने कृषकों और कारीगरों को शहर में आकर जीविका कमाने के लिये प्रेरित किया। इसका परिणाम हुआ भारत की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में औद्योगिक मजदूर वर्ग का अभ्युदय और उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि। किसान की भांति, मजदूर भी राष्ट्र की आर्थिक समस्या का एक अंग बन गया। यूरोप की भांति भारत में भी श्रमिकों तथा वेतनभोगी वर्गों ने ट्रेड यूनियन आन्दोलन को अपनाना प्रारम्भ किया। जिस प्रकार यूरोप में औद्योगीकरण तथा उससे उत्पन्न वर्ग व्यवस्था ने राजनैतिक गतिविधि और विचारधारा को प्रभावित किया वैसे ही, भारत में भी औद्योगीकरण के प्रभावों से उत्पन्न होने वाली वर्ग-व्यवस्था ने राजनीति को प्रभावित करना प्रारम्भ किया। भारत की राजनैतिक पार्टियों पर यूरोप के ही राजनैतिक आर्थिक आदर्शों की छाप है यद्यपि उन आदर्शों को भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के सन्दर्भ में लाने का प्रयास भी सभी दलों में विद्यमान है।

इस प्रकार अंग्रेजी राज में भारत की अप्रगतिशील परम्परावादी और स्थैतिक आर्थिक व्यवस्था पर यूरोप की प्रगतिशील और गत्यात्मक व्यवस्था का प्रभाव पड़ा और उसका परिणाम हुआ भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था का अधिक आधुनिक आर्थिक व्यवस्था में धीरे धीरे रूपान्तरण, जिसकी विशेषतायें हैं पूंजीवादी उत्पादन और संगठन, मुद्रा अर्थ-व्यवस्था की प्रमुखता भारत का आर्थिक एकीकरण और आर्थिक जीवन का उत्तरोत्तर व्यापारीकरण। यह रूपान्तरण वस्तुतः एक शांत क्रान्ति है जिसमें सामाजिक प्रतिष्ठा और प्रथा पर आधारित आर्थिक व्यवस्था, धीरे-धीरे, संविदा (Contract), उत्तरोत्तर विशेषीकरण और बड़े पैमाने के उत्पादन पर आधारित एक गतिशील और गत्यात्मक आर्थिक व्यवस्था में बदल गया[1]। वरा

1 लतीफ सय्यद अब्दुल एन आउटलाइन आफ दि कल्चरल हिस्ट्री आफ इण्डिया पृष्ठ 25

आस्टे (Vera Anstay) के मत म भारत की आर्थिक व्यवस्था का यह रूपान्तरण एक आर्थिक व्यवस्था का दूसरी आर्थिक अवस्था मे वह रूपान्तरण नही है जिसका वणन योरोप के आर्थिक विकास मे इतिहासकार पूजीवादी व्यवस्था के विकास के वणन मे करत हैं क्योंकि अग्रेजो के आने के पहले ही भारत म आधुनिक आर्थिक व्यवस्था की विशेषताय आ चुकी थी। यह रूपान्तरण वस्तुत वह रूपान्तर है जिसमे प्रथक्कृत और आत्मनिर्भर गाँव पर आधारित आर्थिक व्यवस्था (जिसम उच्चतर उत्पादन और सगठन कवल कुछ विशेष वर्गों और क्षेत्रो मे निहित था) धीरे धीरे उस आर्थिक व्यवस्था मे परिणत होती है जिसम अधिकतर उत्पादन का व्यापारीकरण हुआ है, मुद्रा की प्रधानता बढी है और जिसम आर्थिक व्यवस्था का लगभग एकीकरण हो गया है[1]। यह रूपान्तरण अब भी जारी है और ज्यो ज्यो यह रूपान्तरण बढता जाता है परम्परा का स्थान विधि (Law) लेता जाता है। जसा कि अग्रेजी राज मे था वैस ही आज भी इस रूपान्तरण का ध्येय है पार्थिव विकास (Material Development), आर्थिक एकीकरण (Economic Unification) को बढाना तथा आवश्यक व्यापारीकरण और देश के आधुनिकीकरण की अवधि को जहा तक हो सके कम करना। इसका परिणाम हुआ है नयी और पुरानी व्यवस्थाओ म विरोधात्मक सघर्ष और वह मानसिक असुरक्षा जो आर्थिक व्यवस्था के सहसा परिवतनो स होती है। महात्मा गाधी के नेतृत्व म चलने वाला स्वदेशी आन्दोलन और परम्परागत कुटीर उद्योगो पर जोर इसका प्रमाण है। वतमान भारत म एक ओर योरोपीय ढग के औद्योगीकरण पर जोर, दूसरी ओर, प्राचीन ढग के कुटीर उद्योगो पर जोर सम्भवत- इसी परिस्थिति की देन है।

योरोपीय तथा अग्रेजी राज के सघात स उत्पन्न होने वाला सामाजिक आर्थिक रूपान्तरण धीरे धीरे हुआ है। अत यह भारत की परम्परागत सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का वह रूपान्तरित उद्विकास है जिसम योरोप, विशेषतया इगलैण्ड और भारत का समन्वय इस प्रकार हुआ है कि आधारभूत देशज तत्व एक नयी व्यवस्था मे सन्निहित हो गये हैं। भारत की भूमि व्यवस्था म परिवतन अवश्य किया गया किन्तु उसका आधार वही व्यवस्था रही जो मुगलों के पहले से चली आ रही थी। भूमि का पमाइश म वही तरीके काम म लाये गय और स्वीकार किए गए जिनका प्रयोग टोडरमल ने किया था। भूमि अभिलेखो की पुस्तकें (Books of Land Records), खसरा और खतौनी वसे ही अपना लिए गए जसे कि पहल स चल आ रहे थे। अग्रजी शासन ने पटवारियो की काय विधि लगभग वसी ही रखी जसी कि वह पहल स चला आ रहा था और पटवारियो का बहुधा उसी जाति क सख्या म से भरती किया गया जिसम स वे मुगलकाल म भरती किए जाते थे। जाति प्रथा क साथ

1 ओ मेले इण्डिया एण्ड दि वेस्ट पृष्ठ 2.0

साथ, जैसा कि पिछले वर्णन में स्पष्ट है, एक नयी वर्ग-व्यवस्था का अभ्युदय हुआ किन्तु नयी आर्थिक व्यवस्था से उत्पन्न वर्ग व्यवस्था का आधार भारत की परम्परागत जाति-व्यवस्था ही बनी। भारत का बढ़ता हुआ व्यापारीकरण, एक ओर, योरोपीय आधार पर विकसित हुआ तो दूसरी ओर, परम्परागत आधारों पर। अंग्रेजों ने नाप-तौल के पुराने तरीकों को जस का तैसा चलन दिया और उसके साथ साथ योरोपीय तरीका भी लागू किया। अंग्रेजी शासन ने अपनी मुद्रा चलाई अवश्य किन्तु पहले से चले आते हुए रुपिया आना पाई का जैसे का तैसा अपना लिया। हाँ, यह अवश्य है कि सोने के सिक्के के रूप में यदि एक ओर गिनी चली तो दूसरी ओर अशरफी भी चलती रही। इसी प्रकार आधुनिक भारत में शहरीकरण को प्रोत्साहन उन्हीं कारकों से मिला जिन्होंने आधुनिक योरोप में शहरीकरण को जन्म दिया। किन्तु, भारत का शहरीकरण भारत की सामाजिक व्यवस्था में उतना क्रान्तिकारी परिवर्तन न कर सका जितना कि योरोपीय सामाजिक व्यवस्था में वहाँ के शहरीकरण ने किया है। भारत के शहरों में योरोपीय प्रौद्योगिकी और गाँव व्यवस्था का एक ऐसा समन्वय हुआ है जो भारत की ही विशेषता है। भारत के अधिकतर शहर प्रौद्योगिकी के दृष्टिकोण से तो शहर लगते हैं किन्तु सामाजिक व्यवस्था के दृष्टिकोण से गाँव। भारत में स्थायी शहरी जनसंख्या का अनुपात योरोपीय देशों की अपेक्षा नगण्य सा है और गाँव तथा शहर की जनसंख्याओं में निरन्तर चलने वाला दुतरफा स्थानान्तरण शहर में ग्रामीण प्रभावों को सस्थापित किया करता है। शहर में संयुक्त परिवार और जाति के बन्धन ढीले अवश्य हुए हैं पर वे टूटे नहीं हैं। शहर के अनामक और गत्यात्मक वातावरण में आज भी व्यक्ति को सर्वाधिक सुरक्षा परिवार और जाति से ही मिलती है और इसीलिए शहर के अनामक वातावरण में जो गत्यात्मक और द्वितीयक समूहों की प्रधानता से उत्पन्न होता है, जाति, एक विशेष प्रकार के प्राथमिक समूह के रूप में रूपान्तरित होकर, और भी मजबूत हो गयी है[1]।

२

प्रौद्योगिकी और विज्ञान,

योरोपीय प्रौद्योगिकी और विज्ञान एक दूसरे से चोली दामन की तरह सबंधित हैं क्योंकि वर्तमान योरोप को जन्म देने वाली प्रौद्योगिकी का विकास, विज्ञान के सिद्धान्तों को मानव जीवन के लिए उपयोगी बनाने के प्रयास में हुआ है। योरोप में

1 भट्ट गौरीशंकर ट्रेन्ड्स एण्ड मेजर्स आफ स्टेटस मोबिलिटी एमांग दि चमार्स आफ देहरादून इस्टन एन्थ्रापालोजिस्ट वाल्यूम 14 न० 3

भौतिक विज्ञानवादी विचारधारा का प्रसार पहले हुआ और प्रौद्योगिकी का विकास और प्रसार उसके बाद। भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना होते होते, योरोप में प्रौद्योगिकी का विकास काफी आगे बढ चुका था और भारत को, अंग्रेजों के माध्यम से, प्रौद्योगिकी के प्रयोग का वह अनुभव मिला जो योरोप तथा इंगलैंड में प्रौद्योगिकी के सफल प्रयोग पर आधारित था। भारत में योरोप की सैनिक प्रौद्योगिकी का प्रसार अंग्रेजों के पहले ही से प्रारम्भ हो गया था। अंग्रेजी राज के फैलते फैलते उसका प्रयोग सम्पूर्ण भारत में फैल गया। दो विश्वव्यापी महायुद्धों ने, भारत में योरोप की समुन्नत सैनिक प्रौद्योगिकी की महत्ता को और भी बढा दिया क्योंकि, अंग्रेजी साम्राज्य का एक प्रधान अंग होने के कारण भारत पर उन युद्धों का प्रभाव पडा और भारत की सेनाओं को इनमें युद्धरत होना पडा। भारत को योरोपीय ढंग की सैनिक व्यवस्था अंग्रेजों की ही देन है। भारत पर चीन के आक्रमण ने योरोपीय सैनिक प्रौद्योगिकी की महत्ता की आवश्यकता और भी बढा दिया है और आज का भारत उसे अपनाने के लिए आगे बढ रहा है। भारत ही नहीं सारा एशिया इस ओर बढ रहा है। भारत तथा एशिया में इसके क्या परिणाम होंगे यह अभी कहना कठिन है।

सेना की भांति, कृषि, चिकित्सा, उद्योग, उत्पादन और यातायात के साधनों में योरोपीय प्रौद्योगिकी का प्रयोग निरन्तर बढता ही रहा है। किन्तु इन सभी में सबसे महत्त्वपूर्ण रहे हैं यातायात के साधन, मुद्रण-यन्त्र और भाप तथा बिजली से चलने वाली मशीनें। भारत में यातायात के आधुनिक साधनों का प्रयोग सर्वप्रथम उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में किया गया और इनके प्रयोग का प्राथमिक प्रयोजन था भारत में बढते हुए अंग्रेजी साम्राज्य का संगठन और सुरक्षा। डलहौजी के समय में एक साथ डाक, तार और रेल का प्रयोग भारतीय इतिहास की कोई अनहोनी घटना नहीं है—यह उस ऐतिहासिक आवश्यकता का परिणाम है जो उन्नीसवीं शताब्दी के भारत पर एक तत्कालीन योरोपीय साम्राज्य के स्थापित होने के साथ साथ अस्तित्व में आयी थी। मुद्रणयन्त्र का सर्वप्रथम प्रयोग गोवा में सोलहवीं शताब्दी के मध्य में हुआ था और भारत की सर्वप्रथम मुद्रित पुस्तक गोवा में ही प्रकाशित हुई थी। भारत में मुद्रण यन्त्र का सर्वप्रथम प्रयोग मिशनरियों ने किया था क्योंकि ईसाई धर्म के प्रसार के लिए प्रचार साहित्य का एक बडे पैमाने पर उत्पादन उनकी मुख्य आवश्यकता थी। भारत का समाचार पत्र और उद्योग योरोपीय परम्परा तथा मुद्रणयन्त्र की ही सन्तान है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में रेल के साथ साथ, भारत में भाप से चलने वाली मशीनों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ और बाद में भाप, बिजली और तेल से चलने वाली मशीनों का, उत्पादन के लिए, उत्तरोत्तर प्रयोग बढा जिससे भारतीय औद्योगीकरण को प्रोत्साहन मिला।

भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था के जिस रूपान्तरण का वर्णन किया जा चुका है उसका प्रधान कारक प्रौद्योगिकी ही रही है। इस रूपान्तरण में प्रौद्योगिकी

दो प्रकार से सहायक हुयी है—एक, भाप, बिजली तथा तेल द्वारा चलने वाली मशीनों के रूप में और दूसरे, यातायात के मशीनीकृत साधनों के रूप में जिसमें रेल, मोटर और हवाई जहाज का प्रभाव मुख्य है। भाप, बिजली और तेल द्वारा चलने वाली मशीनों की सहायता से बड़े-बड़े कारखाने खुले और बड़े पैमाने पर मशीनीकृत उत्पादन का प्रचार बढ़ा। यातायात के साधनों से जिसमें सड़क, मोटर, रेल और हवाई जहाज मुख्य हैं गांव का आर्थिक सामाजिक पृथक्करण समाप्त हुआ, आधुनिक बाजार का क्षेत्र अधिक व्यापक होकर और सारे देश में फैलकर अन्तर्राष्ट्रीय बाजार से मिल गया, कच्चे माल और उत्पादित उपभोग की वस्तुओं को जल्दी-जल्दी ढोने की सुविधा से औद्योगीकरण तथा शहरीकरण को प्रोत्साहन मिला और सारे भारत का आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक सांस्कृतिक एकीकरण बना। यातायात के साधनों की सुविधा के ही कारण अंग्रेज सेना का व्यापक प्रभाव स्थापित करके, भारत को एक राज्य राष्ट्र (Nation State) का रूप देने में सफल हुए। डाक, तार, बेतार का तार, समाचार पत्र और सिनेमा जैसे सन्देशवाहक साधनों ने यातायात के प्रभावों को और भी प्रभावपूर्ण बना दिया क्योंकि यातायात के साधनों के परिणामों को वास्तविक, स्थायी रूप सन्देशवाहक साधनों में ही मिला है। डाक और तार ने, एक ओर, व्यापारीकरण को प्रोत्साहित किया, बाजार को व्यापक बनाया, पत्र-पत्रिकाओं को राष्ट्रीय विचार विमर्श का माध्यम बनाया, स्थानीकरण को प्रोत्साहित करके औद्योगीकरण तथा शहरीकरण को प्रोत्साहित किया और, दूसरी ओर, यातायात के साधनों के सहयोग में भारत में राष्ट्रीय आर्थिक और सामाजिक एकीकरण में योगदान दिया। भारत को एक एकीकृत राजनैतिक इकाई बनाये रखने के लिए ही अंग्रेजों ने डाक, तार, रेल और रेडियो की सेवाओं का केन्द्रीकरण किया।

यातायात तथा सन्देशवाहक साधनों के संघात के अनेक सामाजिक आर्थिक परिणाम निकले। इंगलैण्ड में बढ़ते हुये औद्योगीकरण के कारण, यातायात के साधनों का विकास हुआ किन्तु भारत में बढ़ते हुये यातायात के साधनों के कारण औद्योगीकरण का विकास हुआ। यह मुख्यतया रेल रोड के प्रसार का ही परिणाम है कि भारत कृषि पर आधारित एक सरल आर्थिक-व्यवस्था के स्तर से उठकर, आज आर्थिक विकास की उस अवस्था में पहुँच गया है जिसमें भारत का आर्थिक जीवन संगठित उद्योगों पर निर्भर है न कि कृषि पर। भारत में खेती का प्रसार, विविध फसलों का बोया जाना, कृषि में रोक-सस्य (Cash Crops) का समावेश, कृषि का उत्तरोत्तर व्यापारीकरण तथा उसकी खपत के क्षेत्र का प्रसार और कृषि से उत्पन्न माल के भावों में शीघ्र शीघ्र होने वाली घटा-बढ़ी के स्थान पर अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व का आना रेल के उत्तरोत्तर प्रसार के ही कारण सम्भव हुआ है। भारत के सामाजिक आर्थिक संगठन में गाँव के परम्परागत सन्तुलन का असन्तुलित होना, गाँव का बाह्य संसार से सम्पर्क बढ़ना, शहरों की वृद्धि और गाँव के सामाजिक आर्थिक

जीवन पर बढ़ता हुआ शहरी प्रभाव भी रेल और रोड के कारण हुआ है। रेल रो के सम्मिलित प्रभाव के ही कारण संयुक्त परिवार के आकार और संरचना में परिवर्तन आये तथा जाति के परम्परागत बंधनों में शिथिलता आयी। भारत के राजनैतिक आर्थिक एकीकरण में रेल का योगदान प्रमुख है। रेल के कारण भारत में तीर्थ यात्रा पहले की अपेक्षा अधिक सरल और सुविधाजनक हो गयी, जिससे हिन्दुत्व के पुनरुत्थान को एक नयी प्रेरणा मिली[1]।

रेडियो और सिनेमा, योरोपीय प्रौद्योगिकी में उत्पन्न दो प्रभावपूर्ण संदेश वाहक साधन है। भारत में रेडियो का प्रवेश अँग्रेज सरकार के प्रयत्नों द्वारा हुआ और उसका उद्देश्य था मनोरंजन के साथ साथ जनसम्पर्क बढ़ाकर, अँग्रेज सरकार के पक्ष में व्यापक प्रचार करना। किन्तु रेडियो जन शिक्षा का एक महत्वपूर्ण साधन सिद्ध हुआ। स्वतन्त्र भारत में रेडियो का प्रयोग मनोरंजन और जन शिक्षा के ही लिये हो रहा है। किन्तु रेडियो के सामाजिक सांस्कृतिक परिणाम इससे कहीं अधिक व्यापक रहे हैं। रेडियो के माध्यम से भारत अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क में आया। इसके अतिरिक्त रेडियो के माध्यम से भारत के विभिन्न प्रदेशों में सम्पर्क स्थापित हुआ जिससे भारत के एकीकरण को प्रोत्साहन मिला। वर्तमान भारत में रेडियो भारत के एकीकरण को प्रोत्साहित करने का एक मुख्य माध्यम बन गया है। भारत की प्रादेशिक भाषाओं की प्रगति तथा भारत में अंग्रेजी भाषा के प्रसार में रेडियो भी एक मुख्य माध्यम रहा है। अंग्रेजी राज काल में और आज भी अँग्रेजी रेडियो की मुख्य भाषा रही है। किन्तु, साथ ही साथ भारत की जनता से सम्पर्क बनाने के लिये तथा अधिकाधिक जनता के लिये रेडियो को उपयोगी बनाने के लिये प्रादेशिक भाषाओं तथा क्षेत्रीय बोलियों को भी रेडियो की भाषा बनाने की आवश्यकता रही है। यह इसी आवश्यकता का परिणाम है कि भारत के प्रादेशिक भाषा-क्षेत्रों में रेडियो स्टेशन खोले गये और प्रत्येक भाषा क्षेत्र में बोली जाने वाली बोलियों में भी कार्यक्रम प्रसारित होना प्रारम्भ हुए। इसके दो परिणाम निकले। एक ओर प्रादेशिक भाषाओं को उत्तरोत्तर साहित्यिक रूप मिला और, दूसरी ओर स्थानीय बोलियां प्रादेशिक भाषाओं के साहित्यिक प्रवाह में आयीं और उनका शब्द भण्डार बढ़ा। अंग्रेजी के मुख्य भाषा होने के कारण और अंग्रेजी से ही प्रमुख भारतीय कार्यक्रमों का अनुवाद होने के कारण प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों पर अंग्रेजी भाषा के व्याकरण प्रवाह और अभिव्यक्ति का प्रभाव बढ़ा। इससे भारत की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों में आदान प्रदान भी बढ़ा। आज रेडियो में प्रयुक्त होने वाली पंजाबी अधिक संस्कृत गर्भित है अतः वह हिन्दी के अधिक समीप है। लखनऊ से प्रसारित होने वाला अवधी और भोजपुरी का मिश्रित कार्यक्रम और दिल्ली से प्रसारित होने वाला

1 ओमेले इण्डिया एण्ड दि वेस्ट

ब्रजभाषा, खड़ी बोली और हरियाणी का मिश्रित कार्यक्रम इन बोलियों को अधिक समीप ला रहा है। अंग्रेजी और हिन्दी के माध्यम से भारत के भाषावार एकीकरण में रेडियो का योगदान रहा है।

रेडियो के माध्यम से पड़ने वाले संघात के और दो परिणाम निकले हैं। आज रेडियो के माध्यम से भारतीय संस्कृति के प्रतिष्ठित (Classical) और लोक तत्वों का एक ओर एकीकरण हो रहा है और, दूसरी ओर इस एकीकरण का योरोप से प्रसारित होने वाले विचारों के साथ समन्वय हो रहा है। रेडियो से प्रसारित होने वाले संगीत और नाटकों पर इस द्वन्द्वात्मक एकीकरणीय परिस्थिति का प्रभाव स्पष्ट है। बढ़ते हुये पूंजीवादी औद्योगीकरण, जिसका मुख्य आधार है उत्तरोत्तर व्यापक व्यापारीकरण तथा नगरीकरण के प्रभावों के अंतर्गत रेडियो भारतीय संगीत नाटक, कविता और कहानी-साहित्य के व्यापारीकरण का माध्यम रहा है। कवि सम्मेलन और मुशायरों की साहित्यिक परम्पराओं को रेडियो ने आज एक नया रूप दे दिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय कला और साहित्य के इन पक्षों को रेडियो ने जन सुलभ बना दिया है किन्तु साथ ही-साथ प्रचार का माध्यम होने के कारण रेडियो ने कला और साहित्य में प्रयोजनवादिता को भी जन्म दिया है। भारत में रूपक तथा श्रव्य-नाटकों की परम्परा रेडियो की ही देन है। रेडियो कलाकार तथा साहित्यकार की आज एक अलग श्रेणी ही बन गयी है।

भारत में ही नहीं वरन सारे संसार में रेडियो जनमत के निर्माण का एक प्रभावपूर्ण साधन है। भारत में भी रेडियो का प्रयोग जनमत के निर्माण के लिए किया गया है। इसकारण यदि एक ओर रेडियो प्रचार का माध्यम रहा है तो दूसरी ओर, सामाजिक राजनैतिक जागृति के प्रसार का माध्यम भी। पत्र पत्रिकाओं की भांति रेडियो भी सामाजिक सांस्कृतिक विचार विमर्श का एक आधुनिक मंच रहा है यद्यपि उसका प्रभाव उतना व्यापक नहीं रहा है जितना कि पत्र पत्रिकाओं का। यह पहले ही कहा जा चुका है कि भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के साथ साथ कृषि एक राष्ट्रीय समस्या बन गयी और जब से भारत में रेडियो का प्रवेश हुआ है रेडियो को कृषि-पुनर्निर्माण के लिये जनमत तैयार करने का एक माध्यम बनाया गया है। आज रेडियो वह मंच बन गया है जहाँ सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक समस्याओं का एक नया मूल्यांकन हो रहा है और भारतीय जन इस मूल्यांकन के पथ विपथ से अवगत हो रहे हैं।

रेडियो की भांति सिनेमा भी एक महत्वपूर्ण साधन है जिसका प्रयोग मनोरंजन के लिये होता है और जनशिक्षा तथा जनमत के निर्माण के लिये भी। वास्तव में रेडियो की भांति, सिनेमा भी प्रचार का एक सबल प्रौद्योगिक साधन है। पश्चिम में औद्योगीकरण तथा नगरीकरण के प्रभाव में सिनेमा प्रचार और व्यापार द्वारा मनोरंजन का एक प्रधान आधुनिक साधन है। भारत में सिनेमा का प्रवेश

व्यापारीकृत मनोरंजन के लिये ही हुआ था और आज भी उसका प्रयोग उसी के लिए हो रहा है। रेडियो की भांति सिनेमा से भी नृत्य, संगीत और नाटक जनसुलभ हो गये हैं किंतु व्यापारीकरण के माध्यम से। रेडियो, सिनेमा और प्रेस के प्रभाव के कारण कला की 'स्वान्तः सुखाय' सेवा करने की भारतीय परम्परा आज व्यापारिक प्रयोजनवादिता में बदल रही है। पारलौकिकता के स्थान पर, आज उसमें पार्थिव इहलौकिकता का प्राधान्य बढ़ रहा है। रेडियो की भाँति, सिनेमा से भी, भारतीय कला के सिनेमा से सम्वर्धित पक्षों के प्रतिष्ठित (Classical) तथा लोकतत्व साथ साथ निखरकर एकीकृत हुये हैं और पश्चिमी विचारधारा से समन्वित हुये हैं। सामाजिक विदग्धीकरण (Social Sopthistication) का प्रसार, रेडियो की अपेक्षा, सिनेमा से अधिक हुआ है। योरोप के सम्पर्क से भारतीय समाज तथा संस्कृति में जिन समस्यात्मक परिस्थितियों का जन्म हुआ उनको सिनेमा ने अधिक उभार कर भारतीयों के समक्ष रक्खा और भारत की विचारधारा उस ओर आकर्षित की। अस्पृश्यता, विवाह, दहेज, जाति और अपराध में सम्वर्द्धित सामाजिक समस्याओं पर बनने वाले चित्रों की अधिकता इसका प्रमाण है। जैसा कि पश्चिम में हुआ है एक ओर सिनेमा जनता के अचेतन मन की भावनाओं और प्रतिक्रियाओं की प्रतिच्छाया रहा है और, दूसरी ओर, सामाजिक मूल्यांकन का एक व्यापारीकृत साधन जिसका मुख्य उद्देश्य है मनोरंजन। इसीकारण, सिनेमा का सामाजिक प्रभाव सीमित ही रहा है यद्यपि उसका मानसिक प्रभाव काफी प्रबल रहा है। दूसरी ओर, योरोप की भाँति भारत में भी सिनेमा का व्यापारिक प्रचार का साधन बनाया गया है और सरकार ने सिनेमा को राजनैतिक तथा सामाजिक शिक्षा का साधन बनाया है। सिनेमा का सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिणाम है भारत की अपने प्रति जागरूकता।

डाक तार व्यवस्था भी सन्देशवाहक साधनों की श्रेणी में आती है और भारत में उसका प्रवेश योरोपीय प्रौद्योगिकी के प्रवेश के साथ-साथ हुआ है। रेल, मोटर रेल और हवाई जहाज ने डाक व्यवस्था को उत्तरोत्तर व्यापक तथा द्रुतगामी बनाया है। डाक तार व्यवस्था ने, अन्य यातायात तथा सन्देशवहन के साधनों के साथ साथ, एक ओर भारत के एकीकरण में सहायता दी है तो दूसरी ओर, भारत को अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क में आने में सहायता दी है। अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय डाक व्यवस्थाओं के ही माध्यम से आज अनेक भारतीय विदेशियों के सम्पर्क में हैं और भारत के बाहर बसने वाले भारतीयों का भारत से सम्पर्क बना हुआ है। लेखकों, विचारकों, अध्यापकों तथा वैज्ञानिकों का यह सम्पर्क विचार आदान प्रदान का एक माध्यम होने के साथ साथ, भारत में आधुनिक विचारधारा फैलने का भी माध्यम है। डाक तार व्यवस्था के माध्यम से भारत में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ा है और इसी माध्यम से योरोप तथा अमरीका के अनेक पत्र पत्रिकायें और पुस्तकें भारत में भारतीय विचार और मान्यताओं के प्रचार और प्रसार का माध्यम बन रही हैं।

भारत के राष्ट्रीय जीवन में डाक-तार व्यवस्था के अनेक व्यापक योगदान हैं। भारत में सुदृढ़ अंग्रेजी राज की स्थापना और उसके माध्यम से भारत के राजनैतिक सामाजिक तथा आर्थिक एकीकरण में डाक तार का भी महत्वपूर्ण हाथ है। रेल रोड के अलावा डाक-तार एक अन्य महत्वपूर्ण साधन है जिससे अंग्रेजी राज में, भारत की आर्थिक व्यवस्था के उत्तरोत्तर व्यापारीकरण तथा औद्योगीकरण में सहायता मिली है। डाक-तार के साथ साथ यातायात के अन्य साधनों के सम्मिलित प्रभाव ने भारत की सामाजिक व्यवस्था के दो महत्वपूर्ण आधारों संयुक्त परिवार तथा जाति को प्रभावित किया है। यातायात के साधनों तथा बदलती हुयी आर्थिक व्यवस्था से स्थानान्तरण को प्रोत्साहन मिला। किन्तु, साथ ही साथ डाक तार के माध्यम से परम्परागत सामाजिक सम्बन्ध भी बने रहे। परिवार से अलग रहकर भी व्यक्ति परम्परागत संयुक्त परिवार का अंग बना रहा। प्रोफेसर श्रीनिवास के शब्दों में सड़क और रेल के निर्माण, डाक तार, प्रादेशिक भाषाओं में छापेखाने की सुविधाओं और सस्ते कागज की उपलब्धि ने जातियों को उस स्तर पर संगठित होने के लिए प्रेरित किया जिस स्तर पर वे कभी भी संगठित नहीं हुयी थीं। डाक की सुविधा के कारण जाति सभा की बैठक की सूचना पोस्टकार्ड द्वारा जाने लगी और दूर दूर तक फैले हुए जाति सदस्यों को एक निश्चित स्थान में सम समय में पहुँचने में सहायता करने लगी[1]। डाक की सुविधा ने कुछ जातियों के परम्परागत कार्यों को निष्फल कर दिया। गाँव तथा जाति के सूचनावाहक का स्थान पोस्टकार्ड ने ले लिया और विवाह की सूचना ले जाने वाले नाई का स्थान डाक द्वारा भेजे जाने वाले निमन्त्रण पत्र ने।

अन्य संचारवाहक साधनों की भाँति, छापखाने का प्रभाव भी काफी व्यापक हुआ है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सर्वप्रथम छापखाने का प्रयोग गोआ में ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए किया गया था क्योंकि ईसाई धर्म के प्रचार के लिए ईसाई धर्म प्रचार साहित्य का प्रान्तीय भाषाओं में एक बड़े पैमाने पर उत्पादन, ईसाई मिशनरियों की एक आधारभूत आवश्यकता थी। किन्तु कालान्तर में, छापखाने का प्रयोग इससे भी अधिक लाभदायक सिद्ध हुआ। योरोप की भाँति भारत में भी छापाखाना सामाजिक नवजागृति का एक माध्यम बन गया। छापखाने के माध्यम से, भारत की धार्मिक पुस्तकों का एक बड़े पैमाने पर उत्पादन आरम्भ हुआ और वे जन-साधारण को कम ही सुलभ हुयीं जैसे मैक्समूलर द्वारा वेदों का अंग्रेजी में अनूदित संस्करण। इससे धार्मिक पुस्तकों के पठन-पाठन तथा उनके निर्वचन पर से ब्राह्मणों का एकाधिकार समाप्त हो गया जिसके कारण यदि उत्तर में नहीं, तो कम

1 श्रीनिवास, एम०एन० इण्डियन साइंस कांग्रेस (कलकत्ता 1957) के चवालिसवें सम्मेलन में एन्थ्रोपालोजी तथा आरकियालोजी विभाग के अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण।

से कम दक्षिण में, परम्परागत ब्राह्मणविरोधी सामाजिक आन्दोलन को, बौद्धिक प्रखरता मिली और, बदलती हुई आर्थिक राजनैतिक व्यवस्था में, उसे राजनैतिक आर्थिक आधार प्राप्त हुए[1]। भारत के परम्परागत साहित्य की एक बड़े पैमाने पर उपलब्धि ने, जैसा कि गीता प्रेस, गोरखपुर के प्रयत्नों से स्पष्ट है एक ओर, परम्परावादी साहित्य के प्रचार में सहायता देकर परम्परावादी (सनातन) हिन्दुत्व को प्रोत्साहन दिया और, दूसरी ओर धार्मिक पुस्तकों की जन सुलभता ने हिंदुत्व के पुनर्मूल्यांकन की प्रेरणा दी। इस पुनर्मूल्यांकन का एक मुख्य कारण रही है निम्न स्तर की जातियों की संस्था में आर्थिक सामाजिक चलिष्णुता के लिए उत्पन्न होने वाली प्रेरणा जिसके लिए अंग्रेजी राज में उत्पन्न परिवर्तनों ने अवसर प्रदान किये। अंग्रेजी राज ही वह काल है जब निम्नस्तर की जातियों ने धर्म ग्रन्थों के आधार पर अपने सामाजिक स्तर व उच्च होने का दावा किया और पौराणिक कथाओं का आश्रय लेकर अपने मतों को पुस्तक के रूप में प्रकाशित करवाया। प्रोफेसर घुरे के आधार पर, प्रोफेसर श्रीनिवास ने यह प्रतिपादित किया है कि छापेखाने ने भी जातियों का संगठित होने में सहायता दी। सस्ते कागज की उपलब्धि से जाति के नियमों को लिपिबद्ध करके प्रकाशित करवाया गया और जातीय संगठनों के संविधान प्रकाशित करवाये गये। जाति संगठनों ने अपनी अलग अलग पत्र पत्रिकाएं निकाली जिनमें, एक ओर सुधारवादी विचारों का प्रचार हुआ तो दूसरी ओर, जाति के सामाजिक आधारों को और भी दृढ़ता मिली क्योंकि शायद ही कोई ऐसी जातीय पत्रिका अथवा पुस्तक हो जिसमें उस जाति के जिसमें कि वह सम्बन्धित है ऐतिहासिक गौरव का वर्णन न हो।

---

1 भारत में ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन वस्तुतः उस समय से चला आ रहा है जब से हिन्दू समाज में जाति प्रथा का संगठन हुआ। बुद्धवाद इसकी प्रथम संगठित, सामाजिक अभिव्यक्ति थी। इस्लाम के समान ने जाति प्रथा विरोधी आन्दोलनों को विस्तार कर ब्राह्मण विशेषाधिकारों के प्रति एक प्रकार से बौद्धिक विरोध को जन्म दिया। भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के पहले यह विरोध बजाए मौलिक तथा बौद्धिक था। केवल निम्न स्तर की जातियाँ ही, निगुण पन्थों के माध्यम से जाति प्रथा का मौलिक विरोध करती थीं। किन्तु अंग्रेजी राज की स्थापना से एक ओर, नये आर्थिक अवसर आये तो, दूसरी ओर, मतदान के अधिकार के माध्यम से नये राजनैतिक अवसर मिले। इसके परिणाम स्वरूप, ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन में एक नयी सामाजिक राजनैतिक सक्रियता का जन्म हुआ। इस नये आन्दोलन का श्रीगणेश उस समय हुआ जब 1873 में पूना के ज्योतिराव फुले ने सत्य शोधक समाज की स्थापना की थी और इस बात पर जोर दिया था कि सभी जातियों के सदस्य परस्पर समान हैं। फुले

छापखाने के ही माध्यम से भारत में सस्ती पुस्तकों का उत्पादन सम्भव हुआ जिससे शिक्षा को प्रोत्साहन मिला और, अंग्रेजी राज के माध्यम से स्थापित नयी सामाजिक राजनैतिक व्यवस्था में शिक्षा को जन-सुलभ बनाने का आन्दोलन चला। छापखाने के ही माध्यम से भारत में पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ जिससे भारत में नये विचार फैले और सामाजिक नव जागृति को प्रोत्साहन मिला। चित्र कला और साहित्य के उत्तरोत्तर व्यापारीकरण का एक महत्वपूर्ण कारण छापाखाना भी है। आधुनिक पत्र-पत्रिकाओं के साथ-साथ आधुनिक भारतीय समाचार पत्र भी छापखाने की ही देन हैं। भारत में आधुनिक पत्रकारिता के जन्मदाता अंग्रेज और योरोपियन ही थे[1]। भारत में आधुनिक समाचार पत्र का जन्म ग्रेटब्रिटेन तथा भारत और पूर्व (The East) तथा पश्चिम (The West) को सम्पर्क में लाने वाली शृंखला की एक कड़ी के रूप में हुआ। कम्पनी के राज्यकाल में सम्पादक को सन्देह और अनुत्रास की दृष्टि से देखा जाता था। भारतीय पत्रकारिता का जन्म ही स्वातन्त्र्य (Freedom) और नियन्त्रण (Control) के सिद्धान्तों के झंझावात में हुआ, जिसका प्रभाव आज भी बना हुआ है किन्तु प्रेस (Press) की स्वतन्त्रता और उस पर नियन्त्रण की समस्या भारत की ही समस्या नहीं है।

भारत के सामाजिक मन्थन में सम्पादकीय नेतृत्व का अभ्युदय पत्रकारिता की मुख्य देन है। सम्पादकीय नेतृत्व राजनैतिक नेतृत्व तथा परम्परागत जाति-नेतृत्व, दोनों से भिन्न रहा है। सम्पादकीय नेतृत्व जाति पर निर्भर न होकर योग्यता पर

न अब्राह्मणों की शिक्षा पर जोर दिया और अब्राह्मणों से इस बात का अनुरोध किया कि वे ब्राह्मण पुरोहितों की सेवाओं को स्वीकार न करें। फुले ने सरकारी नौकरियों तथा स्वायत्त शासन के संगठनों में सभी जातियों के समान प्रतिनिधित्व की मांग की। महाराष्ट्र में श्री अम्बेदकर फुले की ही परम्परा में आये। मद्रास का ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन तथा आन्ध्र में दो पुरानी प्रतिद्वन्दी जातियों, कम्मा और रेड्डी, का ब्राह्मणों के विरुद्ध संगठित होना, पूना में फुले द्वारा चलाये हुए आन्दोलन के प्रसार मात्र हैं। श्रीनिवास एम० एन० वही।

1 अंग्रेजी राज की स्थापना से पहले भारत में सन्देशवहन के मुख्य साधन थे लिखित लेख, चित्र और घटनाओं को लेखबद्ध करने की मुगलकालीन परम्परा। औरंगजेब के राज्यकाल में प्रादेशिक राजधानियों में वाकया नवीस रखे जाते थे कहीं-कहीं व्यापारी समाचार-पत्रों (News Letters) के लिखने के लिए समाचार-लेखकों को नौकर रखते थे—ओ मले इण्डिया एण्ड दि वेस्ट पृष्ठ 189।

निर्भर रहा है। यही कारण है कि सम्पादकीय नेतृत्व, एक ओर, भारत की सामाजिक नवजागृति की द्वन्द्वात्मकता की उत्पत्ति रहा है तो, दूसरी ओर, उसकी द्वन्द्वात्मक गत्यात्मकता को प्रभावित करने वाला महत्वपूर्ण कारक भी है। सम्भवत, यह इसी परिस्थिति का प्रभाव है कि भारतीय सम्पादक, जहा शिक्षक और सुधारक रहा है वहा वह राजनैतिक आन्दोलक, (Political Agitator) भी रहा है। भारतीय पत्रकारिता के अग्रदूत व आधुनिक सामाजिक नवजागृति के प्रणेता राजा राम मोहनराय जिन्होंने पत्रकारिता को धार्मिक सामाजिक नवजागृति का माध्यम बनाया। किन्तु, बाद में कांग्रेस आन्दोलन के साथ साथ भारतीय पत्रकारिता राजनैतिक आन्दोलन का माध्यम बन गई। इसीलिए एक ओर, यह कहा जाता है कि आन्दोलकता (Agitation) भारतीय पत्रकारिता की विशेषता रही है और दूसरी ओर यह कहा जाता है कि भारतीय पत्रकार, एक ही साथ, भाषाविद, दार्शनिक, धर्म सुधारक, सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए आन्दोलनकर्ता, लेखक और शिक्षक भी रहा है। भारत के मुख्य मुख्य आधुनिक आन्दोलनों की आधारशिलायें भारतीय पत्रकारिता ने ही रक्खी है[1]।

भारत के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में पत्रकारिता के इस व्यापक प्रभाव के कई परिणाम निकले। पत्रकारिता, अंग्रेजी भाषा के प्रचार और प्रसार का प्रादेशिक भाषाओं के विकास का माध्यम बनी। बगला, हिन्दी और मराठी के आधुनिक विकास का सूत्रपात पत्रकारिता के माध्यम से हुआ। आधुनिक हिन्दी के जनक, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एक ओर, कवि और नाटककार थे तो दूसरी ओर पत्रकार भी। जैसे रेडियो के माध्यम से अंग्रेजी का प्रभाव प्रादेशिक भाषाओं पर पड़ा वैसे ही पत्रकारिता के माध्यम से, प्रादेशिक भाषाओं पर अंग्रेजी का और भी व्यापक प्रभाव पड़ा। भारतीय पत्रकारिता की आन्दोलकता ने अंग्रेजी और प्रादेशिक भाषाओं में आन्दोलक शैली को जन्म दिया। भारत में प्रकाशित होने वाले तथा भारत से बाहर से आने वाले पत्र पत्रिकायें भारतीय तथा योरोपीय ज्ञान विज्ञान के प्रसार का माध्यम बनी। अन्य सन्देशवाहक साधनों की भांति, समाचार पत्र भी भारत के एकीकरण, और व्यापारीकरण में सहायक हुआ। समाचार पत्र वह मंच बन गया है जहां सामाजिक सांस्कृतिक समस्याओं का मूल्यांकन होता रहता है—यह मूल्यांकन जो समालोचनात्मक दृष्टिकोण के विकास में सहायक है। प्रारम्भ से ही भारतीय पत्रकारिता का दृष्टिकोण राष्ट्रीय होने के साथ साथ, अंतर्राष्ट्रीय रहा है। पत्रकारिता के माध्यम से, आधुनिक भारत का सामाजिक दृष्टिकोण विस्तृत और व्यापक हुआ है जिसकी झलक सामाजिक नवजागृति व आधुनिक आन्दोलन में मिलती है।

योरोपीय प्रौद्योगिकी के प्रयोग के साथ-साथ भारत की परम्परागत प्रौद्योगिकी

---

1 ओ मेले इण्डिया एण्ड दि वेस्ट पृष्ठ 180 213

का भी प्रयोग चलता रहा। एक ओर, रेल, मोटर और वायुयान का प्रयोग बढ़ा तो, दूसरी ओर, बैलगाड़ी का भी प्रयोग चलता रहा। बड़े बड़े शहर योरोपीय प्रौद्योगिकी के आधार पर बने, किन्तु ग्राम भी वर्तमान योरोपीय प्रौद्योगिकी के साथ साथ, परम्परागत जीवन चलता रहा। एक ओर, उत्पादन में मशीनों का प्रयोग बढ़ा तो, दूसरी ओर परम्परागत कुटीर उद्योग भी चलते रहे। वास्तव में स्वदेशी-आन्दोलन के माध्यम से, भारत ने योरोपीय प्रौद्योगिकी और भारत की परम्परागत प्रौद्योगिकी के समन्वय का प्रयास किया। एक ओर योरोपीय प्रौद्योगिकी के प्रभाव के कारण मशीनीकरण बढ़ा तो दूसरी ओर जैसा कि बुनियादी शिक्षा, खादी उद्योग और अन्य कुटीर उद्योगों के विकास के कार्यक्रमों से स्पष्ट है, भारत की परम्परागत प्रौद्योगिकी को भी बनाये रखने का प्रयास किया गया है। यह प्रयास आज भी चल रहा है और भारतीय नियोजन के आधारभूत सिद्धान्तों में यह प्रयास शामिल है। योरोपीय औद्योगीकरण में भारत के परम्परागत कुटीर उद्योगों का क्या स्थान हो सकता है और किस प्रकार उसका समन्वय हो सकता है इसका स्थायी सैद्धान्तिक उत्तर भारत के वर्तमान नियोजन कार्यक्रम की सफलता और असफलता पर निर्भर है।

प्रौद्योगिकी के साथ-साथ, भारत में वह योरोपीय ज्ञान विज्ञान भी फैला जिसने योरोपीय प्रौद्योगिकी को जन्म दिया था। भारत में अंग्रेजी शिक्षा के साथ-साथ, एक ओर, भौतिक विज्ञानों के पठन पाठन का प्रसार हुआ तो, दूसरी ओर, सामाजिक शास्त्रों का। योरोप के भौतिक तथा सामाजिक विज्ञान विज्ञानवादी और प्रकृतिवादी विचारधारा पर आधारित थे। अतः, भारत में प्रकृतिवादी और विज्ञानवादी विचारधारा का समावेश हुआ। इसके विपरीत, भारत की विचारधारा रहस्यवादी और आध्यात्मिक थी। भारत के भौतिक विज्ञान भी इस विचारधारा से ओतप्रोत थे। भारतीय सामाजिक शास्त्रों का प्राण था भारत का रहस्यवादी दर्शन। योरोपीय भौतिक विज्ञान के परिणाम प्रत्यक्षतः उपयोगी थे। अतः भारत में उनकी ओर झुकाव बढ़ा। योरोपीय सामाजिक शास्त्रों और मार्क्सवादी विचारों के प्रसार के कारण प्रकृतिवादी विज्ञानवादिता का प्रसार बढ़ा, जिसका परिणाम हुआ नूतन और प्राचीन का संघर्ष। योरोपीय प्रौद्योगिकी और ज्ञान विज्ञान के संघात से भारतीय समाज तथा संस्कृति में भारतीय तथा योरोपीय की प्रवरणात्मक समन्वय प्रक्रिया चल रही है और नूतन तथा प्राचीन के संघर्ष के रूप में योरोपीय बनाम भारत का संघर्ष भी चल रहा है।

२

प्रशासन तथा विधि-प्रणाली

भारत में अँग्रेजी राज की मुख्य धुरी थी वह प्रशासन जिसका निर्माण अँग्रेजों ने किया था और जो अंग्रेजी राज के साथ साथ बढ़ता और विकसित होता रहा था। वर्तमान भारत की राज्य व्यवस्था भी उसी प्रशासकीय आधार पर खड़ी हुयी है। भारत में अंग्रेजी राज और उसके प्रशासन के दो मुख्य ऐतिहासिक काल हैं—एक, अठारह सौ सत्तावन की राज्यक्रांति के पहले का काल और दूसरा उसके बाद का अवसान का काल। अठारह सौ सत्तावन के पहले का काल कम्पनी का राज्यकाल था जिसमें प्रारम्भ में प्रशासक व्यापारी भी हुआ करते थे। भारत में स्थायी प्रशासन की समस्या वस्तुत लार्ड कार्नवालिस के समय से प्रारम्भ हुयी और तभी से ही वर्तमान प्रशासन का प्रारम्भ भी होता है। भारत में अंग्रेजी प्रशासन का जनक कार्नवालिस को ही कहा जाता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि भारत में उच्च अंग्रेज प्रशासक दो विचारों के रहे हैं—एक श्रेणी में वे लोग हैं जिन्होंने भारत को भारतीय परम्पराओं के अनुसार प्रशासित करने का प्रयास किया और दूसरी श्रेणी में वे लोग हैं जिन्होंने भारत में योरोपीय विशेषतया इंगलैण्ड की परम्पराओं का प्रवेश किया। कार्नवालिस दूसरी श्रेणी के प्रशासक थे और उन्होंने भारत की नौकरशाही को इंगलैण्ड की नौकरशाही के आधार पर संगठित करने के प्रयास का जन्म दिया। राजकीय प्रशासन के साथ साथ सेना का प्रशासन भी इंगलैण्ड की परम्पराओं और नियमों के आधार पर संगठित किया गया।

कार्नवालिस ने जिस प्रशासन की आधारशिला रखी थी उसका मुख्य आधार था तत्कालीन व्यापार की आवश्यकतायें क्योंकि उस काल में अंग्रेज प्रशासकों के सामने केवल दो आदर्श थे—एक भारत में अंग्रेजी राज को बनाना और दूसरे अंग्रेजी व्यापार को सुरक्षित रखकर उसे अधिकाधिक लाभदायक बनाना। उस समय का अंग्रेजी राज एक कल्याणकारी राज्य न था। यही कारण है कि अंग्रेजी प्रशासन का जन्म एक व्यापारी प्रशासन की परम्पराओं में हुआ। जैसा कि वेल्जली की उक्ति[1] से स्पष्ट है भारत का अंग्रेजी प्रशासन बनिया राज की देन है। कम्पनी का प्रधान अधिकारी प्रेसीडेंट (President) कहलाता था और इसीकारण बंगाल, मद्रास और बम्बई के प्रान्त प्रान्त न कहला कर प्रेसीडेंसी (Presidency) कहलाये। व्यापारी

---

1 लार्ड वेलेजली (1798 1805) ने इस बात की शिकायत की थी कि भारत पर राज्य राजधानी से नहीं बल्कि, पैसा गिनने वाले दफ्तर से चलाया जा रहा है। यहाँ राज्य राजा नहीं बल्कि, वे लोग चला रहे हैं जो मलमल और नील की खुदरा बिक्री का काम करते हैं'—दिनकर वही पृष्ठ 412

संगठन में किरानी (Writer) का प्रधान स्थान होता है। इसी आधार पर बंगाल के सचिवालय का नाम राइटर बिल्डिंग (Writer Building) पड़ा। इंडियन सिविल सर्विस का विकास ईस्ट इंडिया कम्पनी की नौकरशाही में हुआ है। अंग्रेजों के व्यापारिक संगठन में उच्च अधिकारी व्यापारी भी होता था और साथ ही साथ राजनैतिक प्रशासक भी। इसी परम्परा का परिणाम है कि इंडियन सिविल सर्विस के अधिकारी सभी विषयों और मामलों के विशेषज्ञ माने जाने लगे और आज भी माने जाते हैं[1]। इसीकारण इंडियन सिविल सर्विस के अधिकारी उस साधारण ज्ञान के आधार पर कार्य करते हैं जो उन्हें प्रशिक्षण और अनुभव से मिलता है। किसी भी विभाग के विशेष ज्ञान से उनका कोई सरोकार नहीं है क्योंकि किसी विभाग में उनको स्थाई रूप से नहीं रखा जाता है।

कम्पनी के प्रधान कार्यालय में और भारतीय कार्यालय में काफी दूरी थी। अतः सारा प्रशासन विवरण (Report) वृत्त (Minutes) और टिप्पणियों (Notes) के आधार पर चलता था। इसका परिणाम यह हुआ कि विवरण वृत्त और टिप्पणी ही प्रशासन की मुख्य धुरी बन गये। इससे एक ओर, कलम को प्रशासन में महत्व मिला और दूसरी ओर सबसे योग्य अफसर वह समझा जाने लगा जो विवरण वृत्त और टिप्पणी लिखने में कुशल हो। प्रशासन की सारी कुशलता, सिमट कर कलम में समा गयी। कोई आश्चर्य नहीं यदि इंडियन सिविल सर्विस के सदस्यों के चुनाव का आधार बनी वह परीक्षा पद्धति जिसका प्रयोग स्कूल और कालेजों में किया जाता है और जिसमें उम्मीदवार की लेखन-कुशलता का ही अधिक पता चलता है। साहित्यिक कुशलता ही इंडियन सिविल सर्विस में स्थान पाने का मुख्य आधार बन गयी। भारत में नौकरशाही की परम्परा मौर्यकाल से चली आ रही थी और अलाउद्दीन तथा अकबर ने जिस प्रशासन के आधार पर अपने साम्राज्यों का खड़ा किया था उसका आधार जातिगत नौकरशाही थी। किन्तु, जाति पर आधारित होने के कारण वह नौकरशाही कार्यात्मक विशेषीकरण (Functional Specialization) पर आधारित थी। प्रशासन के एक विभाग, विशेष का कार्य करने वाले व्यक्ति उस विभाग विशेष चलाने के लिए आवश्यक विशेष ज्ञान, अपनी जाति परम्परा के अनुसार प्राप्त करते थे। अंग्रेजों ने तो इस परम्परा का उपयोग किया। अंग्रेजों ने भारत में

1 प्रान्तीय सेवाओं और अखिल भारतीय सेवाओं में यह परम्परा आज भी विद्यमान है। कुछ विभागों को छोड़कर अन्य विभागों में विशेषीकरण की आवश्यकता को महत्व नहीं दिया जाता है। इसीकारण यह देखने में आता है कि जो अधिकारी आज डिप्टी मजिस्ट्रेट है, वह कल को नियोजन अधिकारी हो जाता है। जो अधिकारी आज जिलाधीश है वह कल को उद्योग विभाग का संचालक हो जाता है।

जिस नौकरशाही को सगठित किया उसके सदस्यो को उन्होने ब्राह्मण, खत्री और कायस्थो से ही लिया क्योकि इन्ही वर्गों के सदस्य मोघकाल से भारत का प्रशासन चलाने आये थे[1]। किन्तु इन जातियो के विशेष ज्ञान का उपयोग अग्रेजो ने नौकरशाही के निम्नस्तरो पर किया। उच्चस्तर के अग्रेज अधिकारी इनकी सलाह से, वह प्रशासन करते थे जिससे अग्रेजी राज और व्यापार का लाभ हो। इसीकारण अग्रेजी शासन, एक ओर, प्रचारात्मक होकर दफ्तर और फाइल मे समा गया और, दूसरी ओर, अग्रेजी प्रशासन का अधिकारी उस निष्क्रियता का शिकार हो गया जो अधीनस्थ या उच्च अधिकारी पर उत्तरदायित्व टाल कर आती है। कर की वसूली और व्यापार वृद्धि अग्रेजी प्रशासन के दो मुख्य प्रारम्भिक उद्देश्य थे। इसी कारण, अग्रेजी प्रशासन के सबसे मुख्य अधिकारी का नाम पडा कलक्टर (Collector) जिसका शाब्दिक अर्थ है एकत्र करने वाला[2]।

बनिया राज की पृष्ठभूमि से अग्रेजी प्रशासन का मुख्य विकास हुआ के० एम० पनिक्कर के शब्दो मे, राज्यक्रान्ति (1857) के बाद, भारत मे जिस प्रशासकीय व्यवस्था का विकास हुआ, उसका जवाब ससार के इतिहास मे नही है। इसीकाल मे एक ओर प्रान्तो की सेवाओ का, जिनमे यान्त्रिक और राजस्व की सेवाये मुख्य हैं विकास हुआ और दूसरी ओर इन्डियन सिविल सर्विस (Indian Civil Service) भारतीय पुलिस सर्विस (Indian Police Service) और इडियन आडिट एण्ड एकाउण्ट सर्विस (Indian Audit and Account Service) जसी अखिल भारतीय सेवाओ का विकास हुआ। अग्रेजी राज काल मे भारत मे जो प्रशासकीय व्यवस्था सगठित हुयी उसका जोड ससार के उन साम्राज्यो ब्रेटाइन और चीन मे भी नही है जो नितान्त नौकरशाही पर आधारित थे। भारत मे इतना बडा सगठन इसीलिये सम्भव हो सका क्योकि भारत मे, अग्रेजो के पहले ही से, नौकरशाही की प्रशासकीय परम्परायें विद्यमान थी। अपनी कमियो के बावजूद भी भारत मे अग्रेजी प्रशासन उस उद्देश्य मे सफल और कुशल रहा है जिसके लिये उसका निर्माण किया गया था। इसी प्रशासन मे, भारत को अपने इतिहास मे सबसे अधिक शान्ति और सुरक्षा मिली जिससे भारत का सामाजिक आर्थिक विकास हुआ। अखिल भारतीय सेवाओ ने अखण्ड भारत की राजनैतिक कल्पना को और भी वास्तविक बना दिया। भारत के इतिहास अग्रेजी प्रशासन ही पहला प्रशासन था जिसके अधिकारियो का चुनाव जाति के आधार पर न करके योग्यता के आधार पर किया गया जिससे जाति की परम्परागत कल्पना मे ढीलापन आया। किन्तु अग्रेजी प्रशासन की सबसे

1 पानिक्कर, के० एम० ए सर्वे आफ इन्डियन हिस्ट्री पृष्ठ 209

2 दिनकर वही पृष्ठ 414

बढ़ी कमी थी अप्रत्यक्ष शासन Indirect Rule) और इसीकारण, भारत में, सर्वत्र समान प्रशासकीय विकास न हो सका। एक ओर, अंग्रेजी राज का शासन चलता रहा तो, दूसरी ओर, देशी रियासतों का। इसी अप्रत्यक्ष शासन के सिद्धांत का परिणाम है कि भारतीय प्रशासन में प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व न ग्रहण करने की परम्परा चल पड़ी है। शिक्षा, सहकारिता, और सामुदायिक विकास योजना के कार्यक्रम अप्रत्यक्ष शासन के सिद्धान्त पर आधारित हैं।

भारत की वर्तमान विधि प्रणाली पर इंग्लैण्ड की विधि-प्रणाली की जितनी छाप है सम्भवतः इंगलण्ड की उतनी छाप भारतीय संस्कृति के किसी

विधि प्रणाली

पहलू पर नहीं है। वर्तमान विधि प्रणाली का अंग्रेजी विधि-प्रणाली के आधार पर, धीरे धीरे विकास हुआ है। वर्तमान विधि-प्रणाली की आत्मा अंग्रेजी है किन्तु उसका कलेवर भारतीय। शासक होने पर अंग्रेज व्यापारियों को जो विधि प्रणाली और न्यायिक व्यवस्था मुसल्मानों और मराठों से प्राप्त हुआ थी वह न तो सारे भारतवर्ष में समान ही थी और न वह इस योग्य ही थी कि उसके आधार पर उस भारत का प्रशासन किया जा सके जिसमें व्यक्तिक संविदा (Individualistic Contract) के सिद्धान्तों के आधार पर यौरोपीय ढंग की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था जन्म ले रही थी। अंग्रेजी राज के प्रसार से उत्पन्न होने वाली नयी व्यवस्था में वैधानिक तथा न्यायिक प्रशासन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत में अंग्रेजी विधि प्रणाली और उसके सिद्धान्तों का समावेश किया गया और उन्हें स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार बदल लिया गया। अंग्रेजी राज के माध्यम से भारत में वैधानिक शासन (Rule of Law) की स्थापना समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अंग्रेजी शिक्षा से भी अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि अंग्रेजों ने जिस वैधानिक तथा न्यायिक व्यवस्था का संगठन किया उसके दो परिणाम निकले—एक, समता सिद्धान्त (Principle of Equality) की स्थापना और दूसरे, विधि (Law) द्वारा मिलने वाले निश्चित अधिकारों के प्रति सचेष्ट भावना का अभ्युदय। विधि के समक्ष व्यक्तियों की समानता और उससे मिलने वाले वैधानिक अधिकारों के प्रति सचेष्टता से भारत की समष्टिवादी सामाजिक व्यवस्था में, वैधानिक व्यक्तिवादिता का जन्म हुआ और, प्रथाओं के स्थान पर, लिखित विधि तथा न्यायालयों द्वारा विधि-निर्वचन को अधिक महत्व मिला।

अंग्रेज प्रशासकों को भारतीय वैधानिक तथा न्यायिक व्यवस्था से उस समय सामना पड़ा जब सन् सत्रह सौ पैंसठ में कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी मिली थी और कम्पनी को दीवानी के मुकदमों में न्याय करने का अधिकार मिला। सन् सत्रह सौ तिहत्तर के एक्ट के द्वारा कम्पनी को न्यायालय स्थापित करने का अधिकार भी मिल गया था। किन्तु, दीवानी के मुकदमे स्वीय विधि (Personal Law) के अन्तर्गत आते थे। सम्भवतः, इसीकारण, वारन हेस्टिंग्ज ने यह

सिद्धान्त निर्धारित किया था कि उन मुकदमों में जिनमें पारिवारिक सम्बन्धों और धार्मिक संस्थाओं का मामला है, न्यायालय, आवश्यकतानुसार हिन्दू और इस्लामी स्वीय विधि को लागू करेंगे। वारेन हेस्टिंग्ज द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के दो आधार थे—पहला, हिन्दू और मुसलमानों में स्वीय विधि पहले ही से विद्यमान थी और दूसरा, वारेन हेस्टिंग्ज का यह मत था कि भारत में अंग्रेजी सत्ता निश्चय ही एक भारतीय सत्ता होगी—वह सत्ता जो भारत की प्रचलित प्रथाओं में उतना ही फेर बदल करेगी जितना नितान्त आवश्यक होगा और जिसका आधार देश की प्राचीन विधि प्रणाली होगी।

भारतीय विधि प्रणाली के विद्यार्थियों के मत में वस्तुस्थिति इतनी सरल न थी जितनी कि हेस्टिंग्ज ने कल्पना की थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत में स्वीय विधि पहले ही से विद्यमान थी किन्तु उसके वैधानिक तथा व्यावहारिक स्तरों में इतना असामञ्जस्य था कि दोनों परस्पर निर्मूल लगते थे। हिन्दू स्वीय विधि के स्वरूप और उसके निर्वचनों पर मतैक्य न था जिसके परिणामस्वरूप हिन्दू धर्मशास्त्रों से स्वीय विधि का जो रूप निखरता था वह नितान्त अनिश्चित था। दूसरी ओर हिन्दू सामाजिक तथा वैयक्तिक व्यवहार में प्रथाओं का प्राधान्य था—उन प्रथाओं का जो स्थान-स्थान पर भिन्न थीं और जो बहुधा शास्त्रप्रणीत सिद्धान्तों के प्रतिकूल पड़ती थीं। हिन्दू दण्ड तथा न्यायिक विधान भी एक ओर अनिश्चित था और, दूसरी ओर उस प्रकार के व्यक्तिवादी समता सिद्धान्त पर आधारित नहीं था जो नयी व्यवस्था की आवश्यकता थी। परम्परागत दण्ड विधान में जहाँ एक ओर यह विधान था कि शूद्र के साक्ष्य के आधार पर ब्राह्मण को दण्ड नहीं दिया जाना चाहिये वहाँ दूसरी ओर अलग-अलग अपराधों के लिये अलग अलग जातियों को अलग अलग दण्ड देने का विधान था। नयी पूँजीवादी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के लिए आवश्यक संविदा विधि का हिन्दू विधि प्रणाली में पूर्णतया अभाव था[1]। जिनका पालन उचित माना गया है किन्तु जिनका वास्तविक विधिवत प्रशासन कभी नहीं किया गया है।

इसी प्रकार मुस्लिम विधि प्रणाली में भी संविदा विधि का अभाव था। इस्लामी स्वीय विधि (Personal Law) हिन्दू स्वीय विधि की अपेक्षा अधिक निश्चित थी किन्तु योरोपीय मापदण्डों के अनुसार वह आधुनिक न थी। दूसरी ओर हिन्दुओं की भाँति मुसलमानों पर प्रथाओं का अधिक प्रभाव था और उनकी प्रथायें

---

1 सर मेंजमिन लिंडम के अनुसार हिन्दू विधि प्रणाली का ज्ञान कुछ उन धार्मिक पुस्तकों से होता है जिनको ईश्वरीय मान कर उन पर लम्बे-लम्बे काल्पनिक भाष्य लिखे गये हैं। हिन्दू विधि प्रणाली वस्तुतः धार्मिक नगरीय और औपचारिक आदेशों का संग्रह है जो मेले।

हिन्दुओं के ही अधिक समीप थी। मुसलमानों से मिलने वाली व्यवस्था में इस्लामी दण्ड विधान का प्रचलन था किन्तु यह दण्ड विधान बर्बर और पक्षपात पूर्ण था, क्योंकि जिस प्रकार हिन्दू विधान में शूद्र के साक्ष्य पर ब्राह्मण के दण्ड न देने का विधान था, उसी प्रकार इस्लामी दण्ड विधान में मुसलमानों के विरुद्ध गैर मुसलमान का अभिसाक्ष्य (Testimony) न स्वीकार करने का विधान था। इन परिस्थितियों में जैसा कि पनिक्कर का मत है, यह सिद्धान्त लागू करना कि विधि के समक्ष सभी समान हैं वास्तव में, एक वैधानिक क्रान्ति (Legal Revolution) से कम नहीं है।

अंग्रेजों के पहले की न्यायिक व्यवस्था में न्याय प्रशासन के तीन स्तर थे—एक, बादशाह या उसके प्रतिनिधि और काजी का दूसरा, गाँव पंचायत का और तीसरा जाति पंचायत का। इन तीनों स्तरों में दूसरे और तीसरे ही प्रधान थे और इन स्तरों पर पाये जाने वाले संगठनों (गाँव-पंचायत तथा जाति-पंचायत) में कार्यपालक (Executive) न्यायिक (Judicial) और वैधायी (Legislative) कार्य तथा अधिकार निहित थे। किन्तु इन संगठनों में भी जाति पंचायत का स्थान मुख्य था क्योंकि व्यक्ति पर परिवार के बाद प्रत्यक्ष नियंत्रण जाति-पंचायत का ही था। इन संगठनों द्वारा लागू की जाने वाली सारी विधि प्रणाली प्रथाओं पर आधारित थी और वह बाइबिल वाले उस सिद्धान्त पर आधारित थी जिसमें यह कहा गया है कि दाँत के लिए दाँत और आँख के लिए आँख । सारा दण्ड विधान निदर्शनात्मक और प्रतिरोधक (Exemplary & Deterrent) था[1]। इसमें सन्देह नहीं कि राज्य और उसके प्रतिनिधि, सम्राट अथवा बादशाह को धर्मनिरपेक्ष अधिकार प्राप्त थे और वह जाति पंचायत अथवा ग्राम-पंचायत के विधि विधान को आवश्यकतानुसार बदल सकता था क्योंकि वही राज्य का सर्वोच्च पुनर्विचार-न्यायालय हुआ करता था। किन्तु, भारतीय न्यायिक प्रशासन की परम्परा का आधारभूत सिद्धान्त यह था कि प्रजा पर उसकी प्रथाओं के अनुसार शासन करना राजा का कर्त्तव्य है और सम्भवतः इसी कारण जहाँ एक ओर स्मृतिकारों ने समय-समय पर विधि विधान का निर्माण किया और पहले से निरूपित विधि विधान पर भाष्य लिख कर उन्हें स्पष्ट करने का प्रयास किया वहाँ दूसरी ओर, राज्य ने स्मृतिकारों की वैधिक मन्त्रणाओं को तो माना किन्तु वैधिक तथा न्यायिक प्रशासन में जहाँ तक हो सका प्रथाओं को ही सर्वोपरि रखा। इसी परम्परा का परिणाम यह हुआ कि एक ओर, धर्मशास्त्रीय विधि प्रणाली चलती रही तो दूसरी ओर प्रथा पर आधारित व्यावहारिक विधि-प्रणाली। जहाँ शास्त्रीय विधि तथा प्रथायी विधि में असामंजस्य हो वहाँ स्मृतिकारों ने भी प्रथा को ही महत्व देने की सलाह दी है।

---

1 हटन, जे० एच० कास्ट इन इण्डिया

अंग्रेजी राज की स्थापना के पहले, अखिल भारतीय विधि प्रणाली के निरूपण की आवश्यकता नहीं पड़ी थी क्योंकि उसके पहले ग्राम पंचायत तथा जाति-पंचायत को ही राजनैतिक तथा न्यायिक प्रशासन का आधार माना जाता था। किन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अंग्रेजी राज के संघात से जो व्यवस्था उत्पन्न हो रही थी उसमें गाँव तथा जाति का परम्परागत महत्व समाप्त हो रहा था। दूसरी ओर अंग्रेजों की 'सभ्य सरकार' की कल्पना भिन्न थी। अंग्रेजी राज केन्द्रीय सत्तावादी राजनैतिक विधान था और जिस समय भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना हुयी थी उस समय तक इंगलैंड में पार्लियामेंट इतनी सबल हो चुकी थी कि उसकी अनुमति से सरकार सामाजिक सुधारों के लिए भी विधि का निर्माण कर सकती थी। भारत में विधि को ईश्वरीय समझा जाता था जबकि इंगलैंड में विधि को मनुष्य की अच्छाई के लिए मनुष्य द्वारा बनाया हुआ एक ऐसा साधन माना जाता था जो आवश्यकतानुसार बदला जा सकता था। योरोप से सम्पर्क स्थापित होने पर सती, बाल विवाह और बहुविवाह जैसी प्रथायें असामाजिक प्रतीत होने लगी और उनको विधि द्वारा दूर करने की माँग भारतवासियों ने की। इस माँग पर दो प्रकार की विचारधारायें चलीं—एक, नवजागरणवादी और दूसरी परम्परावादी। जिन नवजागरणवादियों ने अमानवीय कहकर दूर करने की माँग की उसे परम्परावादियों ने शास्त्रप्रणीत सिद्ध किया। वास्तव में दोनों मतों के मानने वालों ने अपने-अपने तर्कों को शास्त्र प्रणीत सिद्ध करने का प्रयास किया और ऐसी ही दशा में यह स्पष्ट होने लगा कि परम्परागत विधि प्रणाली विरोधात्मक तथा अनिश्चित है। साथ ही साथ, अंग्रेजी राज के माध्यम से जिस सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का जन्म हो रहा था उसके संविदात्मक सम्बन्धों (Contractual Relations) को नियमित करने का कोई भी वैध विधान न था। अतः सन अठारह सौ तैंतीस के आस पास की परिस्थितियों में भारत के अंग्रेज प्रशासकों को, भारत की परम्परागत विधि प्रणाली असमान अस्पष्ट और अनिश्चित लगी।[1]

भारत की आधुनिक विधि प्रणाली के इतिहास के दृष्टिकोण से सन अठारह सौ तैंतीस का साल एक महत्वपूर्ण साल है क्योंकि इसी साल में गवर्नर जनरल की परिषद में विधि-सदस्य (Law Member) की नियुक्ति किया गया, विनियमन (Regulation) द्वारा विधि निर्माण रचना की गति को समाप्त कर दिया गया और उस साल के गवर्नमेंट आफ इण्डिया एक्ट (Govt of India Act of 1833) के द्वारा यह निर्धारित किया गया कि जो विधियाँ भारत के सभी वर्गों पर लागू हों वे अधिनियमित की जायें। इसी साल से अखिल भारतीय विधि का अधिनियमित करने

1 पूनम एम० सलाहुद्दीन सय्यद अब्दुल लतीफ द्वारा सम्पादित पुस्तक एन० आउटलाइन आफ दि कल्चरल हिस्ट्री आफ इण्डिया पृष्ठ 2,8 2,0

का प्रयास प्रारम्भ हाता है और वतमान भारत की विधि प्रणाली इसी प्रयास का परिणाम है। गवनर जनरल की परिषद क प्रथम विधि-सदस्य न विधि निरूपण के लिए यह सिद्धात प्रतिपादित किया कि जहाँ हो सके समानता लाई जाय जहाँ अत्यन्त आवश्यक हो और कोई चारा न हो वहाँ विभिनता बनी रहने दी जाय किन्तु प्रत्यक दशा म, निश्चितता अवश्य लायी जाय। निश्चितता लान क लिए विधि क सहिताकरण (Codification of Law) की आवश्यकता पडी जिसके लिए समय-समय पर विधि आयोगा (Law Commissions) के सगठन का विधान किया गया। सन अठारह सो चालीस म प्रथम विधि-आयोग ने यह सिफारिश की कि हिन्दू और मुसल्मानो की स्वाय विधि (Personal Law) को ज्यो का त्यो रहने दिया जाय और अन्य अखिल भारतीय विधि की रचना अग्र जी विधि क आधार पर हो। दूसर विधि आयाग न भी उसी प्रकार हिन्दू तथा मुस्लिम विधियो का छोड कर सम्पूर्ण भारत के लिए मौलिक विधि (Substantive Law) की रचना करने की सिफारिश की। तीसरे विधि आयोग (1861) ने इसी दिशा म प्रयास प्रारम्भ किया। इन्ही प्रयत्नो क परिणाम हैं दि कोड आफ सिविल प्रासीजर (The Code of Civil Procedure 1859) दि पिनल कोड (The Penal Code 1860) दि क्रिमिनल प्रासीजर कोड (The Criminal Procedure Code 1861) दि इण्डियन सक्सेशन एक्ट (The Indian Succession Act 1865) दि इवीडेंस एक्ट (The Evidence Act of 1872) और दि इण्डियन कन्ट्रैक्ट एक्ट (The Indian Contract Act 1872)।

कहा था, 'मेरे विचार म भारत के अलावा शायद ही कोई ऐसा देश हो जिसे विधि संहिता (Code of Laws) की इतनी आवश्यकता हो जितनी कि भारत को है और भारत के अलावा शायद ही कोई ऐसा देश हो जहा यह आवश्यकता इतनी आसानी स पूर्ण हो सकती हो जितनी आसानी से वह भारत मे पूर्ण हो सकती है । किन्तु, साथ ही साथ, उसने यह भी कहा था "भारत मे समान विधि प्रणाली का उद्देश्य वांछनीय अवश्य है किन्तु वह अप्राप्य है।' अठारह सौ पचपन के पहले के विधि आयोगो ने भी इसी बात पर जोर दिया था कि हिन्दू और मुस्लिम स्वीय विधियो के अधिनियमन (Enactment) की आवश्यकता नही है क्योंकि, एक ओर, ये समाज ही विषम और विजातीय ह और दूसरी ओर हिन्दू और मुस्लिम स्वीय विधिया का आधार धर्म है और चूंकि अंग्रेजी विधान सभा हिन्दू और मुस्लिम धर्मों का निर्माण नही कर सकती है, वह हिन्दू और मुस्लिम विधियो का अधिनियमन नही कर सकती है[1]। इसका परिणाम यह हुआ कि सन अठारह सौ अट्ठावन के घोषणापत्र म क्वीन विक्टोरिया ने यह नीति निर्धारित की कि विधियो के अधिनियमन और प्रशासन म हिन्दुओ की प्राचीन रूढियो रीति रिवाजो और प्रथाओ का ध्यान रक्खा जायगा। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वीय विधि का अधिनियमन तो किया गया किन्तु उसम स्थानीय प्रथाओ को अपवाद माना गया। उन्नीस सौ पचपन का हिन्दू विवाह अधिनियम (The Hindu Marriage Act) ऐसे उदाहरणो स भरा पडा है। हिन्दू विवाह के आधारो का निर्धारित करते हुए सपिण्ड विवाह का निषेध किया गया है किन्तु जहाँ प्रथा स सपिण्ड विवाह जायज है वहाँ उसकी अनुमति द दी गयी है। सपिण्ड की परिभाषा भी हिन्दू प्रथा पर आधारित है न कि शास्त्र पर। इसीप्रकार, विवाह-कर्मकाण्ड के विषय म यह निर्धारित किया गया है कि वर या वधू म से किसी के यहाँ प्रचलित कर्मकाण्ड के आधार पर विवाह सम्पन्न हो सकता है और यदि अपनाये जाने वाले कर्मकाण्ड म सप्तपदी का विधान है तो वधिक रूप स विवाह तभी सम्पन्न माना जायगा जब सप्तपदी का कर्मकाण्ड पूर्ण हो जायगा[2]।

अंग्रेजो द्वारा अपनायी जाने वाली इस विधि प्रणाली के दो परिणाम निकले। एक, भारत मे अंग्रेजी विधि प्रणाली के लागू करने पर भी भारतीय संस्कृति का ऊर्ध्वगामी विकास होता रहा। सर बेंजमिन लिंडस ने यह स्वीकार किया है कि भारत म हिन्दू और मुस्लिम विधियो का संहिताकरण एक दुष्कर कार्य रहा है और इस कारण भारत म अंग्रेजी विधि प्रणाली का उस रूप म स्वीकार किया गया है जिस रूप म वह भारत म लागू की जा सके। किन्तु वास्तविकता यह है कि भारत की स्वीय विधियो

---

1 भारत सरकार द्वारा प्रकाशित सोशल लेजिसलेशन पृष्ठ 18

2 सक्सेना काली प्रसाद दि कमेंटरीज आन हिन्दू मैरिज एक्ट 1955 पृष्ठ 67

व संहिताकरण (Codification) में प्रथाओं का, अंग्रेजी विधि प्रणाली के अनुसार, अधिनियमन किया गया है। इसका परिणाम हुआ है भारतीय विधि का ऊर्ध्वगमन और भारतीय संस्कृति में अंग्रेजी विधि प्रणाली का समन्वय। इसका दूसरा परिणाम हुआ है भारतीय विधि प्रणाली की विषमता। अपने वर्तमान रूप और आकार में भारतीय विधि प्रणाली उस मकान की तरह है जिसकी यहाँ-वहाँ मरम्मत कर दी गयी है और, यहाँ वहाँ इतनी मरम्मत के बाद भी, जिसमें सूराख बाकी है[1]। वर्तमान भारत की स्वीय विधि प्रणाली पूर्वोदाहरण (Precedent) रूढ़ि (Custom) और परम्परा (Tradition) का एक वह विचित्र जमघट है जो पिछले सौ वर्षों से अनियमित रूप से एकत्र होता रहा है, जो हमेशा वर्तमान प्रथाओं के अनुरूप भी नहीं पड़ता है और समता (Equality), सामाजिक न्याय (Social Justice) या समानता (Uniformity) के सिद्धान्त पर खरा ही उतरता है[2]। इसी विकास परम्परा का परिणाम है कि विरोधी प्रथायें भी चलती रहती हैं क्योंकि जिस प्रथा पर विधि आधारित है उसका अपवाद भी उतना ही वैध है जितनी कि प्रथायी विधि। जौनसार के निवासी अपनी परम्पराओं और प्रथाओं में हिन्दू हैं किन्तु उनमें बहुपतित्व वैध है जबकि हिन्दू मैरिज एक्ट (1955) के अनुसार हिन्दुओं में बहुपतित्व अवैध है।

अंग्रेजी राज के माध्यम से यूरोप के सम्पर्क में आने पर, भारत में भी यूरोप की सी राजनैतिक जागृति फैली। यूरोप की भाँति भारत में भी कल्याणकारी राज्य की स्थापना की भावना का प्रचार हुआ। इसके परिणामस्वरूप भारत में भी सामाजिक विधान द्वारा सामाजिक सुधार की माँग बढ़ी। उधर अंग्रेजी सरकार ने अनेक सुधारों के लिए सामाजिक विधान का आश्रय लिया। इसका परिणाम हुआ भारत में सामाजिक विधान की उत्तरोत्तर रचना। स्वीय विधि के समान सामाजिक विधान का निर्माण भी धीरे धीरे और अलग-अलग हुआ है और, इसी कारण, भारत का सामाजिक विधान भी समय-समय पर पास किए गए अधिनियमों का एक जमघट है। सामाजिक विधान भी सामाजिक समस्याओं को दूर करने के लिए बनाया गया है न कि भारतीयों की उस सामूहिक चेतना की माँग के रूप में जिसका उद्देश्य है सामाजिक समस्याओं के शिकार व्यक्तियों को उचित और शान्तिपूर्ण जीवन के योग्य बनाना। अंग्रेजी राज में सामाजिक विधान का उद्देश्य रहा है सामाजिक समस्याओं से पीड़ित व्यक्तियों से समाज की रक्षा करना न कि सामाजिक समस्याओं का निराकरण। इसी कारण, अंग्रेजी विधि प्रणाली पर आधारित सामाजिक विधान और प्रथाओं में कहीं-कहीं विरोध भी पैदा हुआ और उसके कारण परम्परागत प्रथायें सामाजिक अपराध का कारण

---

1 धनुस, एम० सलाहुद्दीन वही

2 विरधान, सी०सी० भारत सरकार द्वारा प्रकाशित सोशल लेजिस्लेशन में पृष्ठ १

धर्म[1]। भारत का अधिकतर सामाजिक विधान मुख्यतया दण्डिक (Punitive) रहा है और, इसकारण, पुलिस-व्यवस्था ही समाज सुधार का मुख्य माध्यम रही है क्योंकि दण्डिक विधान के अनुसार कार्य न करने वाले को पुलिस ही दण्ड दिलवाती है फिर भी अंग्रेजी राज-काल में जो भी सामाजिक विधान बना उससे उन समस्याओं के प्रति जागरूकता फैली जिनके लिए सामाजिक विधान का निर्माण किया गया। नारियों के सम्पत्ति अधिकार बाल विवाह, अन्तर्जातीय विवाह विधवा विवाह अस्पृश्यता और व्यवसायिक तथा प्रथायी धार्मिक वेश्यावृत्ति ऐसी समस्यायें हैं जिनका सामाजिक विधान से निराकरण तो नहीं हो सका किन्तु उनके प्रति सामाजिक विधान के कारण सामाजिक चेतना अवश्य फैली। सामाजिक विधान रचने के सरकारी तथा गैर-सरकारी प्रयत्नों के कारण भारत में कल्याणकारी राज्य और सामाजिक कल्याण सम्बन्धी आधुनिक विचारों का प्रसार हुआ और उनका परिणाम हुआ स्वतन्त्र भारत के संविधान में बुनियादी अधिकारों और कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों का निरूपण।

भारत में सांविधानिक विधि (Constitutional Law) का विकास इंगलैंड तथा यूरोप की सांवधानिक विधियों और प्रथाओं से प्रेरित रहा है। भारत की सांवधानिक विधि पर इंगलैण्ड का प्रत्यक्षतम प्रभाव है क्योंकि भारत में सांवधानिक विधि की रचना का श्रीगणेश ही अंग्रेजों के हाथों हुआ है। भारत में सांवधानिक विधि का प्रवर्तन उन्नीस सौ उन्नीस के मिंटो मार्लो के सांवधानिक सुधारों के साथ साथ प्रारम्भ होता है और उसकी पराकाष्ठा उन्नीस सौ पैंतीस के गवर्नमेंट आफ इण्डिया एक्ट में होती है। अंग्रेजी राज में चलने वाला स्वतन्त्रता-संग्राम वस्तुतः सांवधानिक सुधारों और मांगों का इतिहास है और वह इंगलैंड के राजनैतिक दार्शनिकों और वर्गों की सांवधानिक प्रथाओं से प्रेरित रहा है। भारत की आधुनिक सामाजिक नवजागृति के प्रणेता राजा राममोहन राय ने यही मांग की थी कि जैसा राजनैतिक विधान इंगलैण्ड में है वैसा ही भारत में हो।

वर्तमान भारत का संविधान अंग्रेजों द्वारा निर्मित उन्नीस सौ पैंतीस के

---

1 (अ) हैरबाल विजय शंकर सोशियो-इकनामिक आस्पेक्ट्स आफ क्राइम इन इण्डिया

(ब) इसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण है सन उन्नीस सौ उन्तीस का चाइल्ड मैरिज रेस्ट्रेंट एक्ट जो जनसाधारण में शारदा एक्ट के नाम से प्रसिद्ध है। यह एक्ट केवल दण्डिक (Punitive) है। इसमें बाल विवाह करने वालों के लिए दण्ड का तो विधान है पर बाल विवाह की प्रथा को रोकने का कोई विधान नहीं है। ऐसी ही अधिक परिस्थितियों में प्रथा अपराध का कारण बन जाती है।

गवनमन्ट आफ इण्डिया एक्ट की वस्तुत एक प्रतिकृति है। इंग्लैंड का संविधान अलिखित है किन्तु अंग्रेजों ने भारत में लिखित संविधान बनाने की प्रथा डाली। वर्तमान भारत के संविधान को लिखित बनाने की प्रेरणा अन्तत भारत में अंग्रेजी सांवैधानिक प्रथाओं की देन है और अंशत अमरीकी संविधान में मिलने वाली प्रेरणा की। भारतीय संविधान में निहित बुनियादी अधिकार और संघात्मकता (Federalism) अमरीकी संविधान से लिये गये हैं और राज्य-नीति के निदेशात्मक नियम (Directive Principles of State Policy) आयरलैंड के संविधान से। भारतीय संविधान एक ओर, व्यक्तिवादी है और दूसरी ओर, समष्टिवादी। यह पश्चिम के ही प्रभाव का परिणाम है कि भारत के संविधान में पारस्परिक विरोधी व्यक्तिवादी तथा समष्टिवादी धारणाओं का समावेश हुआ है। व्यक्तिवाद और समष्टिवाद दोनों योरोप की देन हैं। सर आइवर जेनिंग्स का उद्धरण देते हुए, सलाहुद्दीन युनुस ने लिखा है कि भारतीय संविधान वस्तुत एक व्यक्तिवादी प्रलेख (Individualistic Document) है जिसके प्रेरक हैं बर्क (Burke), मिल (Mill) और डाइस (Dicey) जैसे अंग्रेज विचारक। किन्तु साथ ही-साथ, जहां उसमें, एक ओर, उन्नीसवीं शताब्दी की व्यक्तिवादी धारणा के प्रभाव में और स्वतन्त्रता (Liberty) के स्वत्व के हित में, राज्य के अधिकारों को सीमित करने का विधान किया गया है वहां, दूसरी ओर, बीसवीं सदी की समष्टिवादी विचारधारा के प्रभाव में राज्य के अधिकारों को यथा सम्भव विस्तृत करने का प्रयास किया गया है ताकि राज्य आर्थिक जीवन का नियमन कर सके। भारतीय संविधान जिस स्वतन्त्रता का प्रतिपादन करता है, उसे सीमित भी करता है। भारतीय संविधान में झलकती हुयी यह द्विभाजिता वस्तुत, वर्तमान योरोपीय जीवन की द्विभाजिता (Dichotomy) है[1]।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि अंग्रेजी राज की स्थापना के पूर्व भारत की विधि प्रणाली का वास्तविक रूप प्रथागत था और उसका एक बहुत बड़ा अंग गांव और जाति में निहित था। भारत के परम्परागत सामाजिक आर्थिक संगठन में, गांव (ग्राम) और जाति दो ऐसी इकाइयां रही हैं जिनमें सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा वैधिक (Legal) तत्वों का समावेश हुआ है। ग्राम का आधार सहवासी-समुदायिक होने के साथ-साथ, राजनैतिक भी था क्योंकि ग्राम-संगठन, ग्राम पंचायत, में निष्पादक (Executive), न्यायिक (Judicial) और विधायी (Legislative) अधिकार और कार्य निहित थे। इसीप्रकार, जाति भी अन्तत आर्थिक, अंशत सामाजिक, अंशत सांस्कृतिक, अंशत आर्थिक, अंशत राजनैतिक और वैधिक आधारों में निहित थी और ग्राम पंचायत की भांति जाति-पंचायत में भी न्यायिक (Judicial) निष्पादक (Executive) और विधायी (Legislative) अधिकार और

1 युनुस एम० सलाहुद्दीन वही

काय निहित थे। ग्राम और जाति दोनो परम्परागत राजनैतिक संगठन के दो मुख्य अंग थे और प्रशासन के मुख्य माध्यम भी।

अंग्रेजी राज मे, भारत में जिस विधि प्रणाली की रचना की गयी उससे ग्राम तथा जाति से उनके विधायी तथा न्यायिक अधिकार और काय ले लिए गये जिससे उनके सामाजिक आधार हिले और, उनका व्यक्ति पर से प्रभाव कम होने लगा। अंग्रेजी राज में विधि रचना का अधिकार और काय राज्य के हाथ में चला गया निष्पादक काय सरकार के हाथ मे और न्याय प्रशासन का काय न्यायालयों के हाथ मे। इण्डियन पेनल कोड (Indian Penal Code), कोड्स आफ सिविल एण्ड क्रिमिनल प्रोसीजर (Codes of Civil and Criminal Procedure) और अठारह सौ बहत्तर के इवीडेंस एक्ट (Evidence Act 1872) के द्वारा ग्राम पचायत तथा जाति पचायत के न्यायिक और विधायी काय ग्राम तथा जाति पचायतो से लेकर, राज्य के विभिन्न विभागो को सौंप दिये गये। नयी आर्थिक व्यवस्था ने ग्राम के आर्थिक महत्व को पहले ही समाप्त कर दिया था। नयी विधि प्रणाली ने ग्राम के राजनैतिक न्यायिक तथा विधायी महत्व को समाप्त कर दिया। इसका परिणाम हुआ ग्राम पचायत का स्वत विघटन। जाति पचायत का महत्व कम अवश्य हुआ किन्तु उसका विघटन न हो सका और उसका सबसे महत्वपूर्ण कारण है कि जाति के मुख्य आधार अन्तर्विवाह का बना रहना। हां यह अवश्य हुआ कि नयी वधिक और आर्थिक व्यवस्था में जाति-पचायत का ही निर्णय अन्तिम न रहा। जाति के वे सभी वधिक और दण्डिक नियम समाप्त हो गये जो राज्य द्वारा निर्मित विधि प्रणाली के विरोध में आते हैं[1]।

---

1 दण्ड के रूप में अपराधी का सिर मुंडा देना उसे जूतों से पिटवाना या सारे पचों के जूतों को कपड़ों में बांध कर अपराधी के सिर पर रखवा कर उसे अपमानित करना एक साधारण बात थी। किन्तु, आज ये दण्ड कम हो गये हैं और अधिकतर दण्ड जुर्माने के रूप में दिया जाता है। पहले अपनी सत्यता सिद्ध करने के लिए तथाकथित अपराधी को उबलते हुए तेल या घी में हाथ डालने की बात भी सुनी जाती है। यह भी सुना जाता है कि अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए अपराधी हाथ में जलता हुआ अंगारा रख लेता था। इसके पीछे यह भावना थी कि निर्दोष न तो अंगारा लेकर जलेगा और न उबलते हुए तेल या घी में हाथ डाल कर। अठारह सौ बहत्तर के इवीडेंस एक्ट में ऐसे साक्ष्यों का कोई महत्व नहीं है। और फिर, आज जाति पचायतों के निर्णय के विरुद्ध न्यायालय में अपील हो सकती है। नयी विधि प्रणाली पर आधारित दण्ड विधान के समक्ष परम्परागत दण्ड विधान किन्हीं किन्हीं अवस्थाओं में अपराध हो गया है। मध्यप्रदेश की कलवलिया नामक गणजाति में बलात्कार के अपराध के लिए डाम लगाने की प्रथा सुनी जाती है। डाम लगाने का अर्थ है लाल गर्म लोहे से अपराधी पुरुष के मस्तक या गुप्तांग पर निशान लगाना। किन्तु वर्तमान इण्डियन पेनल कोड के अनुसार ऐसे दण्ड का देने वाला ही दण्ड का भागी होगा।

४

शिक्षा

अंग्रेजी राज काल में भारत की परम्परागत शिक्षा पद्धति का भी योरोपीय रूपान्तरण हुआ। भारत की वर्तमान शिक्षा पद्धति इसी रूपान्तरण की देन है। भारतीय शिक्षा पद्धति का योरोपीय रूपान्तरण, भारतीय विधि प्रणाली और आर्थिक व्यवस्था के रूपान्तरण की भांति, एक मुख्य समाजशास्त्रीय तथ्य माना जाता है क्योंकि इस रूपान्तरण ने अनेक क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तनों और प्रक्रियाओं को जन्म दिया। अंग्रेजी राज काल में ही सर्वप्रथम यह सिद्धान्त निश्चित किया गया कि शिक्षा के संगठन का उत्तरदायित्व राज्य पर है और शिक्षा जन साधारण के लिये सुलभ होनी चाहिए। स्वतन्त्र भारत के संविधान में, राज्य को शिक्षा का जो उत्तरदायित्व सौंपा गया है उसका सैद्धांतिक बीज-वपन अंग्रेजी राज्य काल में हुआ था। अंग्रेजों ने भारत में जो शिक्षा प्रणाली संगठित की उसके द्वारा भारत में योरोपीय दर्शन, विज्ञान साहित्य और प्रौद्योगिकी का प्रसार हुआ। वास्तव में, अंग्रेजी राज्य काल में शिक्षा योरोपीय सभ्यता के संघात का एक मुख्य माध्यम रही है और आज भी है। इसी शिक्षा के माध्यम से, एक ओर भारत में अंग्रेजी भाषा का प्रचार हुआ, उसकी गरिमा बढ़ी तथा अंग्रेजी भाषा का भारतीय भाषाओं पर प्रभाव पड़ा और दूसरी ओर योरोपीय ज्ञान विज्ञान के प्रसार के साथ-साथ, भारत की परम्परावादिता धीरे धीरे कम हुई।

अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से, भारत में योरोप के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, प्रजातन्त्र, समता और साम्यवाद सम्बन्धी राजनैतिक-सामाजिक विचारों का समावेश हुआ और उसके फलस्वरूप भारत की परम्परागत सामाजिक व्यवस्था के मुख्य आधारों, संयुक्त परिवार और जाति, में परिवर्तन आया। भारत में, अंग्रेजी शिक्षा का वह माध्यम समझ कर लागू किया गया था जिसके द्वारा भारतीयों को योरोपीय विचारों के एक नये संसार में प्रवेश करने का अवसर मिलेगा और भारतीयों का सांस्कृतिक जीवन उन्नतर बनेगा? इसमें कोई सन्देह नहीं कि अंग्रेजों द्वारा लागू की हुयी शिक्षा से भारत योरोपीय ज्ञान विज्ञान के संघात में आया और उससे, कुछ समय के लिए भारत के बौद्धिक चिंतन में एक कोलाहल और असंतोष का प्रवेश हुआ। किन्तु, इस असंतोष के समाप्त होते ही, एक ओर, सांस्कृतिक राष्ट्रवादिता और भारतवाद की विचारधारा पनपी और, दूसरी ओर, योरोपवाद की। भारत में अंग्रेजी शिक्षा का जन्म और संगठन ही भारतवाद बनाम योरोपवाद की परस्पर विरोधी विचारधाराओं में हुआ है। भारतीय शिक्षा में व्याप्त यह द्विभाजिता अंग्रेजी योरोपीय विचारधारा की देन है और अन्तत योरोप के संघात से भारतीय संस्कृति में उत्पन्न होने वाली द्विभाजिता और आत्मविच्छेद की। यह अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव है कि एक ओर भारत योरोप से परिचित हुआ और दूसरी ओर, अपने से, एक ओर, भारत ने योरोप का

अपनाने की कोशिश की तो, दूसरी ओर, अपने पुनरुत्थान की। इन्ही द्विभाजक प्रवृत्तियो ने उन्नीसवी शताब्दी मे उस सामाजिक नवजागति की गत्यात्मकता को जन्म दिया, जो एक ओर योरोपवादी रही है और दूसरी ओर भारतवादी, तथा जिसके संघात से भारत मे उन अभिनवमार्गी महापुरुषो की अवतारणा हुआ है जिन्होने योरोपीय सामाजिक संगठन और भारतीय आध्यात्मिकता के समन्वय का प्रयास किया है।

अंग्रेजी शिक्षा पद्धति का संगठन उतना क्रांतिकारी नही रहा है जितना कि उसका संघात और उससे उत्पन्न होने वाले प्रभाव। भारत मे अंग्रेजी शिक्षा का विकास एक ऐसा उपरोपित (Grafted) विकास है जिसमे योरोपीय-अंग्रेजी शिक्षा पद्धति का भारत की परम्परागत शिक्षा पद्धति पर उपरोपण किया गया है। जिस आधार पर उपरोपण किया जाता है उसके तत्व उपरोपित विकास मे आ जाते है। यही कारण है कि भारत की शिक्षा पद्धति के योरोपीय रूपान्तरण मे उसके मुख्य परम्परागत आधार बने रहे और अंग्रेजी प्रशासन के कारण बदली हुई परिस्थितियो मे उन्हे नये ढग मे लागू किया गया। भारत मे जिसे हम अंग्रेजी या योरोपीय शिक्षा पद्धति कहते हैं उसके तत्व और उपकरण तो योरोपीय-अंग्रेजी रहे हैं किन्तु उसका संगठन और कलेवर परम्परागत भारतीय। शिक्षा की आत्मा न तो भारतीय रही है और न योरोपीय—वह भारतवाद और योरोपवाद के संघर्ष से उत्पन्न आत्मविच्छेद से ओत प्रोत रही है। प्रारम्भ से ही, भारत मे एक ओर, शिक्षा के योरोपीयकरण की माग रही है और, दूसरी ओर उत्तरोत्तर योरोपीयकरण के भारतीयकरण की। भारत मे योरोपीय शिक्षा का श्रीगणेश अंशत मिशनरियो अंशत भारतीयो और अंशत भारत मे योरोपीयकरण को प्रोत्साहित करके अंग्रेजी राज को मजबूत करने वाले अंग्रेज प्रशासको की माग के कारण हुआ। इसीकारण भारतीय शिक्षा न तो योरोपीय हो सकी और न भारतीय और न वह कोई सुसगठित रूप ही ले सकी। शिक्षा के विकास मे परम्परागत शिक्षा पद्धति के संगठन के आधारो का नये ढग से समावेश हुआ।

भारतीयो ने एक ओर, अंग्रेजी शिक्षा को आभार और अनुग्रह के साथ ग्रहण किया तो दूसरी ओर वे उसके तीव्र आलोचक भी रहे हैं। हिन्दुओ और मुसलमानो ने अलग अलग इस शिक्षा की आलोचना की किन्तु वे उसे त्याग न सके। भारतीय सामाजिक नवजागति के नेताओ ने इस शिक्षा की तीव्र आलोचना की है। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द ने इस अभारतीय शिक्षा और वेद तथा संस्कृत भाषा मे अध्ययन और गुरुकुल पद्धति के पुनरुत्थान पर जोर दिया। किन्तु आर्यसमाज के तत्वावधान मे भी यदि एक ओर गुरुकुल की परम्परा चलायी गयी तो, दूसरी ओर एंग्लो वैदिक कालेजो की परम्परा जहाँ वैदिक की अपेक्षा एंग्लो प्रभाव ही अधिक रहा है। राष्ट्रवादिता के प्रचार के साथ-साथ इस शिक्षा का विरोध बढ़ा और इसे बाबूओं तथा गुलाम मनोवृत्ति को जन्म देने वाली शिक्षा कहा गया। इसका परिणाम यह

हुआ कि एक ओर, हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना हुयी और दूसरी ओर, मुस्लिम विश्वविद्यालय की एक ओर काशी विद्यापीठ जैसी संस्थायें संगठित की गयी तो, दूसरी ओर जामिया मिलिया जैसी संस्थायें। इन संस्थाओं में एक ओर यूरोपीय शिक्षा पद्धति का धर्म से गठबन्धन किया गया तो, दूसरी ओर राष्ट्रवादिता से। जिसे भारतीय शिक्षा का क्रान्तिकारी रूपान्तरण कहा जाता है वह वस्तुतः भारत की परम्परागत शिक्षा पद्धति का अज्ञात यूरोपीय रूपान्तरण है। अंग्रेजी राज्य काल में शिक्षा-पद्धति का रूपान्तरण भारतीय संस्कृति की शिक्षा-सम्बन्धी परम्पराओं के ऊर्ध्वगामी रूपान्तरण से प्रभावित हुआ है।

भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना के पहले जो शिक्षा-पद्धति चलती थी उसमें, राज्य शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए उत्तरदायी अवश्य समझा जाता था किन्तु, राज्य ने कभी भी जनसाधारण की शिक्षा का उत्तरदायित्व नहीं लिया था। शिक्षाप्राप्त करना उत्तम अवश्य समझा जाता था किन्तु जनसाधारण के लिए शिक्षा का कोई प्रबन्ध न था। शिक्षा, हिन्दू और मुसलमान दोनों समाजों में केवल एक वर्ग विशेष के लिए ही थी। इस वर्ग में परम्परा से पठन-पाठन के काम में लगे तथा समाज के धनीमानी वर्ग के लोग आते थे। शिक्षा कोई सामाजिक-आर्थिक आवश्यकता न थी—वह एक वर्ग विशेष का विलासमात्र समझी जाती थी। नारियों के लिए शिक्षा अनावश्यक समझी जाती थी। हिन्दुओं में केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के लोग शिक्षा के अधिकारी समझे जाते थे। शूद्र, अपनी परम्परागत आर्थिक स्थिति के कारण, न तो कभी शिक्षा पाने का प्रयास ही करते थे और न वे शिक्षा के अधिकारी ही समझे जाते थे।

अंग्रेजी शासन के पूर्व चलने वाली शिक्षा प्रणाली में जैसा कि पहले कहा गया है राज्य शिक्षा संरक्षक की भूमिका अदा करती थी और साधारणतः, राज्य की ओर से यहाँ-वहाँ और वह भी उच्च शिक्षा के लिए, आदर्श विद्यालय खोले दिये जाते थे। भारतीय इतिहास में, हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों कालों में, न्याय, व्याकरण दर्शन साहित्य और आयुर्वेद की उच्च शिक्षा देने के लिए विद्यापीठों के स्थापित किये जाने की परम्परा मिलती है[1]। किन्तु मुसलमानों के राज्य काल में इस परम्परा के दो रूप मिलते हैं—एक हिन्दू परम्परा और दूसरी इस्लामी परम्परा। हिन्दू परम्परा में पठन-पाठन की भाषा थी संस्कृत और शिक्षा के विषयवस्तु थे वेद, पुराण व्याकरण न्याय दर्शन और साहित्य। इस्लामी परम्परा में शिक्षा का माध्यम अरबी-फारसी था और पठन-पाठन के मुख्य विषय थे इस्लामी धर्म विद्या (Islamic Theology) और अरबी-फारसी साहित्य। दोनों परम्पराओं में शिक्षा वृत्ति में न तो नौकरशाही संगठन का समावेश था और न व्यावसायिकता का। शिक्षण-कार्य का आधार वैयक्तिक स्वाध-

---

1 दिनकर, रामधारी सिंह वही पृष्ठ 414

अपनाने की कोशिश की तो दूसरी ओर, अपने पुनरुत्थान की। इन्ही द्विभाजक प्रवृत्तियो ने उन्नीसवी शताब्दी में उस सामाजिक नवजागृति की गत्यात्मकता को जन्म दिया, जो एक ओर योरोपवादी रही है और दूसरी ओर भारतवादी, तथा जिसके सघात से भारत मे उन अभिनवमार्गी महापुरुषो की अवतारणा हुयी है जिन्होने योरोपीय सामाजिक सगठन और भारतीय आध्यात्मिकता में समन्वय का प्रयास किया है।

अंग्रेजी शिक्षा पद्धति का सगठन उतना क्रान्तिकारी नही रहा है जितना कि उसका सघात और उससे उत्पन्न होने वाले प्रभाव। भारत मे अंग्रेजी शिक्षा का विकास एक ऐसा उपरोपित (Grafted) विकास है जिसमे योरोपीय अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति का भारत की परम्परागत शिक्षा पद्धति पर उपरोपण किया गया है। जिस आधार पर उपरोपण किया जाता है उसके तत्व उपरोपित विकास मे आ जाते हैं। यही कारण है कि भारत की शिक्षा पद्धति के योरोपीय रूपान्तरण मे उसके मुख्य परम्परागत आधार बने रहे और अंग्रेजी प्रशासन के कारण बदली हुई परिस्थितियो मे उन्हे नये ढग से लागू किया गया। भारत मे जिसे हम अंग्रेजी या योरोपीय शिक्षा पद्धति कहते हैं उसके तत्व और उपकरण तो योरोपीय-अंग्रेजी रहे हैं किन्तु उसका सगठन और कलेवर परम्परागत भारतीय। शिक्षा की आत्मा न तो भारतीय रही है और न योरोपीय—वह भारतवाद और योरोपवाद के मथन से उत्पन्न आत्मविच्छेद से ओत प्रोत रही है। प्रारम्भ से ही, भारत मे एक ओर, शिक्षा के योरोपीयकरण की माग रही है और, दूसरी ओर उत्तरोत्तर योरोपीयकरण के भारतीयकरण की। भारत मे योरोपीय शिक्षा का श्रीगणेश अशत मिशनरियो अशत भारतीयो और अशत भारत मे योरोपीयकरण को प्रोत्साहित करके अंग्रेजी राज को मजबूत करने वाले अंग्रेज प्रशासको की माग के कारण हुआ। इसीकारण भारतीय शिक्षा न तो योरोपीय हो सकी और न भारतीय और न वह कोई सुसगठित रूप ही ले सकी। शिक्षा के विकास मे परम्परागत शिक्षा पद्धति के सगठन के आधारो का नये ढग से समावेश हुआ।

भारतीयो ने एक ओर अंग्रेजी शिक्षा को आभार और अनुग्रह के साथ ग्रहण किया तो, दूसरी ओर वे उसके तीव्र आलोचक भी रहे हैं। हिन्दुओ और मुसलमानो ने अलग-अलग इस शिक्षा की आलोचना की किन्तु वे उसे त्याग न सके। भारतीय सामाजिक नवजागृति के नेताओ ने इस शिक्षा की तीव्र आलोचना की है। आर्य समाज के सस्थापक स्वामी दयानन्द ने इस अभारतीय शिक्षा और वेद तथा सस्कृत भाषा के अध्ययन और गुरुकुल पद्धति के पुनरुत्थान पर जोर दिया। किन्तु आर्यसमाज के तत्वावधान मे भी यदि एक ओर गुरुकुल की परम्परा चलायी गयी तो दूसरी ओर एग्लो-वैदिक कालेजो की परम्परा जहाँ वैदिक की अपेक्षा एग्लो प्रभाव ही अधिक रहा है। राष्ट्रवादिता के प्रचार के साथ-साथ, इस शिक्षा का विरोध बढ़ा और इसे बाबू तथा गुलाम मनोवृत्ति को जन्म देने वाली शिक्षा कहा गया। इसका परिणाम यह

हुआ कि, एक ओर हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना हुयी और दूसरी ओर, मुस्लिम विश्वविद्यालय की, एक ओर काशी विद्यापीठ जैसी संस्थायें संगठित की गयीं तो, दूसरी ओर, जामिया मिलिया जैसी संस्थायें। इन संस्थाओं में, एक ओर, पारंपरीय शिक्षा पद्धति का धर्म से गठबन्धन किया गया तो, दूसरी ओर, राष्ट्रवादिता में। जिसे भारतीय शिक्षा का क्रांतिकारी रूपान्तरण कहा जाता है वह वस्तुतः भारत की परम्परागत शिक्षा पद्धति का अन्तर योरोपीय रूपान्तरण है। अंग्रेजी राज्य-काल में, शिक्षा पद्धति का रूपान्तरण, भारतीय संस्कृति की शिक्षा-सम्बन्धी परम्पराओं के ऊर्ध्वगामी रूपान्तरण से प्रभावित हुआ है।

भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना के पहले जो शिक्षा-पद्धति चलती थी उसमें, राज्य शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए उत्तरदायी अवश्य समझा जाता था किन्तु, राज्य ने कभी भी जनसाधारण की शिक्षा का उत्तरदायित्व नहीं लिया था। शिक्षा प्राप्त करना उत्तम अवश्य समझा जाता था किन्तु जनसाधारण के लिए शिक्षा का कोई प्रबन्ध न था। शिक्षा, हिन्दू और मुसलमान दोनों समाजों में, केवल एक वर्ग-विशेष के लिए ही थी। इस वर्ग में परम्परा से पठन पाठन के व्यवसाय में रत तथा स्थान के धनीमानी वर्ग के लोग आते थे। शिक्षा कोई सामाजिक-आर्थिक आवश्यकता न थी—वह एक वर्ग विशेष का विलासमात्र समझी जाती थी। नारियों के लिए शिक्षा अनावश्यक समझी जाती थी। हिन्दुओं में केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और अन्य वर्ग के लोग शिक्षा के अधिकारी समझे जाते थे। शूद्र, अपनी परम्परागत आर्थिक स्थिति के कारण, न तो कभी शिक्षा पाने का प्रयास ही करते थे और न वे शिक्षा के अधिकारी ही समझे जाते थे।

साधना न थी। शिक्षण कार्य के पीछे विद्या-दान की भावना थी और विद्यार्थी द्वारा विद्यार्जन के पीछे शिक्षक द्वारा मिले हुए दान का ग्रहण करने की भावना। इस कारण, शिक्षण कार्य एक सामाजिक उत्तरदायित्व था और, राज्य की अपेक्षा, समाज उस उत्तरदायित्व का निभाने वाले की अधिक चिन्ता करता था। चूंकि शिक्षण कार्य विद्यादान था, शिक्षण संस्थायें भी दान की आय से चलती थी। किन्तु उस व्यवस्था में संगठित शिक्षण संस्थाओं की अधिकता न थी। सारा पठन पाठन गुरु शिष्य की परम्परा में चलता था – उस परम्परा में जिसमें केवल जीवन यापन और वयक्तिक सफलता के लिए अध्यापन करने का बंधन न था जिसमें शिक्षण-कार्य और विद्यार्थी जीवन स्वान्तःसुखाय ग्रहण किये जाते थे और शिक्षक को यह विशेषाधिकार मिला हुआ था कि वह चाहे तो केवल उसे ही विद्यालाभ दे जिसे वह योग्य पात्र समझता हो।

अन्य सामाजिक आर्थिक पहलुओं की भांति शिक्षा-संगठन भी विकेन्द्रीकृत था और शिक्षा का आधार थे साहित्य भाषा और धर्म। इसकारण, विद्यालयों का संगठन और नियन्त्रण जनता के हाथ में था और जहाँ की जैसी जनता होती थी, वहाँ का विद्यालय भी उसी ढंग से संगठित किया जाता था। ऐसी दशा में शिक्षा का विषयवस्तु अध्यापक के दृष्टिकोण धर्म और सम्प्रदाय पर अधिक निर्भर था। पठन पाठन की भाषा बोल चाल की भाषा न थी। अरबी फारसी और संस्कृत भाषायें बोल चाल की भाषायें न थी। अत, उनके माध्यम से दिया जाने वाला ज्ञान, संकुचित होने के साथ साथ परम्परावादी और अंधविश्वासी भी था। जनसाधारण की बोलचाल की भाषा में शिक्षा न मिलने के कारण और पुस्तकों का अभाव होने के कारण शिक्षा वस्तुतः एक रहस्य थी जिसका ज्ञान गुरु की कृपा ही से मिल सकता था। बोल चाल की भाषा में शिक्षा न होने के कारण शिक्षा के द्वारा पूर्ण मानसिक विकास न हो पाता था और शिक्षा व्यावहारिक जीवन में उपयोगी न होकर केवल दार्शनिक तथा वैयाकरणिक विद्वत्ता का एक माध्यममात्र थी। कंठस्थता (Cramming) शिक्षा पद्धति का मुख्य आधार थी। प्रौद्योगिक शिक्षा का कोई संगठन न था। न अलग प्रशिक्षण देने का प्रबन्ध था। जातियों के सदस्यों के अपने अपने पेशा सम्बन्धी ज्ञान के रूप में विकेन्द्रीकृत थी और व्यक्ति को यह सामाजिक विरासत के रूप में मिलती थी। प्रौद्योगिक शिक्षा अभ्यास और अनुभव से मिलती थी न कि पठन-पाठन के माध्यम से।

अंग्रेजी प्रशासन में जो शिक्षा पद्धति विकसित हुयी उसकी दो अवस्थायें हैं-- एक सात मार्च सन अठारह सौ पैंतीस के पहले की और दूसरी उसके बाद की क्योंकि सात मार्च सन् अठारह सौ पैंतीस ही वह तिथि है जिस दिन अंग्रेजी शासन ने भारत में योरोपीय ढंग की शिक्षण-संस्थाओं और अंग्रेजी भाषा के माध्यम से योरोपीय विज्ञान और साहित्य के शिक्षण को संगठित करने का निश्चय किया था।

पहली अवस्था अंग्रेजी राज में प्रशासकों की शिक्षा-सम्बन्धी ढुलमुल और अनिश्चित नीति का काल है जिसमें परम्परागत शिक्षा पद्धति को एक राजकीय प्रशासकीय स्तर में लाने का अनोखा विभ्रम प्रयास (Trial and Error Attempt) है। इस प्रयास का प्रारम्भ वारेन हेस्टिंग्ज के शासन-काल में उस समय से होता है जब सन् सत्रह सौ इक्यासी में मुसलमानों को धार्मिक शिक्षा देने के लिये एक मदरसा खोला गया था और इसी प्रशासकीय परम्परा में सन् सत्रह सौ इक्यानवे में कार्नवालिस के शासनकाल में बनारस में हिन्दुओं के लिये संस्कृत कालेज की स्थापना की गई थी। भारतीय शिक्षा को राजकीय स्तर पर संगठित करने के प्रयास में पहले अंग्रेजों ने अरबी, फारसी और संस्कृत के पठन-पाठन के साथ साथ, धार्मिक शिक्षा को उसी प्रकार संगठित करने का प्रयास किया जैसी भारतीय शिक्षा-पद्धति की प्राचीन परम्परा थी। किन्तु, अरबी, फारसी और संस्कृत जन भाषायें न थीं—वे केवल विद्वता ग्रहण करने की भाषायें थीं। मुसलमानों के राज्य काल में प्रादेशिक भाषाओं में साहित्यिक अभिव्यक्ति की क्षमता विकसित हो चुकी थी और जन-साधारण में प्रादेशिक भाषाओं का प्रचार भी हो रहा था। जिस प्रकार, जन सम्पर्क बनाये रखने के लिये मुसलमान-शासक प्रादेशिक भाषाओं की अवहेलना न कर पाये थे उसी प्रकार अंग्रेजों के लिये भी प्रादेशिक भाषाओं की अवहेलना करना कठिन हो गया। अतः सन् अठारह सौ एक में, फोर्ट विलियम में अंग्रेज अफसरों को देशी भाषाओं की शिक्षा देने के लिये एक कालेज की स्थापना की गयी। इस कालेज की स्थापना से भारत में देशी भाषा-शिक्षा पद्धति की परम्परा (The System of Vernacular Education) का जन्म हुआ।

सन् अठारह सौ तेरह से लेकर सन् अठारह सौ पैंतीस तक एक ओर भारत की प्राचीन शिक्षा प्रणाली को राजकीय प्रशासकीय आधार पर संगठित करने का प्रयास किया गया तो दूसरी ओर, इस समस्या पर विवाद चलता रहा कि भारत में योरोपीय शिक्षा को संगठित किया जाय या नहीं। भारतीय साहित्य के सुधार और पुनरुत्थान, भारतीयों में शिक्षा को प्रोत्साहन देने तथा भारत में योरोपीय विज्ञान के प्रचार और प्रचलन के लिये, सन् अठारह सौ तेरह में अंग्रेजी सरकार ने पहली बार एक लाख रुपये का अनुदान निर्धारित किया। सन् अठारह सौ तेरह और पैंतीस के बीच में, सरकार ने एक ओर, प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने के लिये ग्राम-पाठशालाओं और, दूसरी ओर, कलकत्ता तथा दिल्ली में, उच्च शिक्षा के लिये अरबी फारसी और संस्कृत के कालेजों की स्थापना की। अंग्रेजी सरकार का दृष्टिकोण, पण्डित प्रधान पद्धतियों और मौलवियों द्वारा दी जाने वाली परम्परागत शिक्षा प्रणाली को संगठित करना था। भारत में योरोपीय शिक्षा के संगठन के प्रश्न को लेकर अंग्रेज प्रशासकों में दो प्रकार के मत थे। जैसा कि जे॰ आर॰ कनिंघम ने लिखा है उस काल के अंग्रेज

प्रशासक भारत की परम्परागत शिक्षा पद्धति को सगठित करके, उस पर योरोपीय विज्ञानी ज्ञान के उपरोपण के हामी थ। लेकिन, इसके बावजद, सन अठारह सौ तेईस मे नियुक्त शिक्षा समिति ने लगातार दस वर्षों तक, भारत म योरोपीय शिक्षा को लागू करने का विरोध किया। योरोपीय शिक्षा को लागू करने का विरोधी मत लार्ड म्वैरा के निरीक्षणो से स्पष्ट है। लार्ड म्वैरा न लिखा था 'भारत म योरोपीय विज्ञानो की शिक्षा देना बुद्धिमत्ता नहीं है क्योंकि भारतीयो को उसकी चाह नही है। दूसरी ओर, प्राचीन शिक्षा प्रणाली को सगठित करने क लिय पुस्तको, अध्यापको और धन की कमी है।

इसी बीच म कई और विकास हुए जिनके कारण सन अठारह सौ पतीस मे भारत म योरोपीय शिक्षा के सगठन का निणय किया गया। लार्ड मकाले को भारत म योरोपीय शिक्षा का जनक माना जाता है किन्तु वास्तविकता यह है कि मेकाले उन नई सामाजिक सास्कृतिक शक्तियो के अधिवक्ता थे जो भारत और इगलण्ड म उत्पन्न हो रही थी। भारत मे अग्रेजी शिक्षा लाने म मेकाले के दो उद्देश्य थे--एक, मकाल क ही शब्दो म 'यह सम्भव है कि एक उत्तम सरकार द्वारा हम अपन शासितो को उत्तमतर सरकार क लिये प्रशिक्षित कर सक। यह भी सम्भव है कि योरोपीय ज्ञान म दीक्षित होने पर, भविष्य मे हमारे शासित योरोपीय सस्थाओ की माग करें जब कभी ऐसा दिन आयगा, वह इगलण्ड क इतिहास म सर्वोत्तम दिन होगा और उस दिन की सम्भावना को रोकन का प्रयास मैं नही करूगा[1] और दूसरे थोड़ी सी पाश्चात्य शिक्षा से बगाल म मूर्ति पूजन वाला नहीं रह जायगा[2]। इसप्रकार, मेकाले का उद्देश्य था योरोपीय शिक्षा क द्वारा भारत का उत्तरोत्तर योरोपीयकरण जिसके पीछे भारतीयो को योरोपीय ढग से सभ्य बनाने की प्रेरणा थी। इस विचार क पीछे जहाँ इगलण्ड की उदारवादी विचारधारा है वहाँ इसम तत्कालीन साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का भी पुट है। उधर विलियम बैन्टिक, तत्कालीन गवनर जनरल, ने शिक्षा-समिति से यह सिफारिश की कि राज्य-भाषा अग्रेजी को सब प्रकार स प्रोत्साहन देना आवश्यक था। अग्रेजी भाषा के द्वारा राज काज चलान की आवश्यकता क कारण अग्रेज प्रशासक वग म यह विचार पनपने लगा था कि जिस वग का प्रशासन स प्रत्यक्ष सम्बन्ध था उसको अरबी फारसी और सस्कृत की अपेक्षा, अग्रेजी के माध्यम स योरोपीय ज्ञान की शिक्षा देना अधिक श्रेयस्कर होगा[3]।

---

1 मेकाले द्वारा इगलण्ड की पार्लियामेंट के समक्ष दिए गए भाषण का एक अश--देखिये ओ मेले इण्डिया एण्ड दि वेस्ट

2 दिनकर वही पष्ठ 431

3 कनिघम जे० आर०, ओ मेले की पुस्तक इण्डिया एण्ड दि वेस्ट में

भारत में ऐसा वर्ग उत्पन्न भी हो रहा था—वह वर्ग जो सामान्यतः हिन्दू था और सरकारी नौकरियों तथा योरोपीय व्यापार से लाभ उठा रहा था। यह वर्ग एक ओर, योरोपीय शिक्षा तथा योरोपीयकरण की ओर उन्मुख था तो, दूसरी ओर भारत के नवपुनरुन्नयन की प्रेरणा से भी प्रेरित था। यह वर्ग योरोप और भारत के समन्वय से नये भारत के नव निर्माण का हामी था। सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिये विजिता को उन्हीं के तर्क से काटना तब तक भारत की विशेषता बन चुकी थी। जिस वर्ग ने मुसलमानों के राज्यकाल में, अरबी फारसी सीख कर इस्लाम का सैद्धान्तिक विरोध किया था वही वर्ग अंग्रेजों के माध्यम से इसाइयत और अंग्रेजी सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का अध्ययन करके और इसाइयत तथा योरोपीयता के तत्वों को आत्मसात करके राजनैतिक तथा सांस्कृतिक पुनरुन्नयन की ओर प्रेरित हुआ। राजा राममोहनराय इस वर्ग के अगुवा थे। उन्होंने अरबी, फारसी, संस्कृत, हिब्रू और अंग्रेजी सीखी ईसा के उपदेशों की सराहना की किन्तु इसाई मिशनरियों और ईसा के जीवन से सम्बन्धित चमत्कारों की आलोचना की अंग्रेजों की उदारवादिता तथा न्यायप्रियता की दुहाई देकर भारतीयों के लिये अधिकाधिक अधिकारों की माँग की और सामाजिक विधान द्वारा समाज-सुधार के लिये आन्दोलन किया। राजा राममोहनराय योरोपीयकरण नहीं नवजागृति और पुनरुन्नयन चाहते थे, जिसके लिये उन्होंने अंग्रेजी भाषा के माध्यम से योरोपीय शिक्षा की माँग की। राजा राममोहनराय के साथ-साथ, इसाई मिशनरी, जिनमें डफ और करी मुख्य हैं, भी अंग्रेजी भाषा के माध्यम से योरोपीय शिक्षा की माँग कर रहे थे। किन्तु, उनके उद्देश्य भिन्न थे। डफ के शब्दों में, जिस जिस दशा में पाश्चात्य शिक्षा प्रगति करेगी, उस-उस दशा में हिन्दुत्व के अंग टूटते जायेंगे। और अन्त में जाकर ऐसा होगा कि हिन्दुत्व का कोई भी अंग साबित नहीं रहेगा[1]। मिशनरियों के दृष्टिकोण में, इस प्रकार अंग्रेजी भाषा के माध्यम से योरोपीय शिक्षा इसाइयत के लिये मार्ग प्रशस्त करने का एक माध्यम थी।

सरकार द्वारा अंग्रेजी शिक्षा को संगठित करने की नीति अपनाने से बहुत पहले से ही अंग्रेजी भाषा के माध्यम से योरोपीय शिक्षा देने के प्रयोग चलने लगे थे। इन प्रयोगों के पीछे भारत में योरोपीय शिक्षा के समर्थक अंग्रेज प्रशासकों, मध्यवर्गी हिन्दुओं और इसाई मिशनरियों के प्रयास थे। इसाई मिशनरी इसाई विद्यालयों में इसाई धर्मशिक्षा की शिक्षा में अंग्रेजी भाषा और योरोपीय शिक्षा पद्धति का प्रयोग करते थे। बम्बई के तत्कालीन गवर्नर माउण्ट स्टुअर्ट एल्फिन्स्टन ने भी अंग्रेजी भाषा के माध्यम से योरोपीय शिक्षा देने के प्रयोग को प्रोत्साहित किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारत में जिस वर्ग के पास पठन पाठन का समय है,

---

1 दिनकर से उद्धृत पृष्ठ 435

उसका यदि अंग्रेजी के माध्यम से योरोपीय शिक्षा दी जाय तो भारत मे ज्ञान का प्रसार दस गुना बढ सकता है। राजा राममोहनराय ने डफ और अन्य लोगों की सहायता से कलकत्ता म हिंदू कालेज (1816) की स्थापना की जो आगे चलकर प्रेसीडेंसी कालेज कहलाया।

इस विकास क्रम का परिणाम हुआ सन अठारह सौ पतीस का वह ऐतिहासिक निणय जिसके आधार पर अंग्रेजी सरकार ने यह तय किया कि भारत के सभी वर्गों म योरोपीय ज्ञान का प्रसार करना भारतीय शिक्षा का उद्देश्य होगा और इस उद्देश्य का पूरा करने के लिये उच्चस्तरीय शिक्षा का पाठ्यक्रम योरोपीय और माध्यम अंग्रेजी भाषा होगी और जन साधारण की शिक्षा का माध्यम होंगी स्थानीय भाषायें। इसप्रकार, अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के दो स्तर विकसित हुए— एक उच्च स्तरीय (विश्वविद्यालयी) जो पूर्णतया अंग्रजी योरोपीय था और दूसरा प्राथमिक-माध्यमिक जो अंशत अंग्रेजी योरोपीय और अंशत योरोपीय भारतीय था। केम्ब्रिज स्कूल पद्धति के माध्यम से प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा को अंग्रेजी योरोपीय ढग पर सगठित किया गया और ग्राम पाठशालाओं तथा वर्नाक्यूलर माध्यमिक पाठशालाओं द्वारा योरोपीय और भारतीय विषय वस्तु के पठन पाठन म स्थानीय भाषाओं का प्रयोग शुरू किया गया। हाई स्कूलों और इटरमिडियट कालेजो मे स्थानीय भाषाओं को भी स्थान दिया गया और अंग्रेजी को भी यद्यपि यहाँ अंग्रेजी भाषा और योरोपीय पाठ्यक्रम की ही प्रधानता रही। उच्चस्तरीय शिक्षा उस वग विशेष के लिए थी जिसके पास उस शिक्षा को प्राप्त करने के साधन थे। यह योजना इस मान्यता पर आधारित थी कि उच्च वग को मिला हुआ योरोपीय ज्ञान, क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से जनता मे प्रसारित होगा।

अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के विकास मे, इसप्रकार, भारतीय शिक्षा प्रणाली की अनेक परम्परायें सन्निहित हो गई। भारत मे उच्च शिक्षा को बोलचाल की भाषा म न देने की परम्परा बन गई थी। संस्कृत, अरबी और फारसी कभी भी बोलचाल की जन भाषाएं नहीं रही हैं। उन्हें राज्य भाषा और पाण्डित्य की भाषा के रूप म अपनाने की परम्परा थी। इसी परम्परा मे अंग्रेजी राज्य भाषा और पाण्डित्य की भाषा के रूप म आई। इसका परिणाम यह हुआ है कि भारतीय विद्वान और प्रशासक जन साधारण से अलग एक विशेष वग रहे हैं। अंग्रेजी भाषा और योरोपीय शिक्षा ने इसी वग को एक नये विशेषाधिकारी वग के रूप मे जन्म दिया क्योंकि अंग्रेजी काल म भी उच्च ज्ञान केवल एक वग विशेष तक ही सीमित रहा। मुसलमान शासक भी प्रादेशिक भाषाओं की अवहेलना नहीं कर पाये थे और अंग्रेज भी ऐसा न कर सके। फलत एक ओर, अंग्रेजों ने भी अपनी भाषा और योरोपीय पाठ्यक्रम पर जोर दिया और दूसरी ओर प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने पर। परम्परानुसार, अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली म जहाँ

राष्ट्रीय उद्देश्य का अभाव था, वहाँ उच्चस्तरीय शिक्षा और प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा में असामञ्जस्य था। राष्ट्रीय आन्दोलन और सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रक्रिया में, जब सम्प्रदायों (जैसे आर्यसमाज) और जातियों के अलग अलग स्कूल खुले तो यह असामञ्जस्य और राष्ट्रीय निरुद्देश्यता और बढ़े। भारतीय शिक्षा प्रणाली में न तो पहले से एकरूपता थी और न वह अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली में ही आई। लार्ड कर्जन ने इस बात पर जोर दिया था कि भारत में शिक्षा के लिये धन की कमी है। यह कमी पहले भी महसूस की जाती थी। अंग्रेजों के पहले के शासकों ने शिक्षा को प्रोत्साहन अवश्य दिया था किन्तु एक जन-आन्दोलन के रूप में नहीं। अधिकतर शिक्षा दान से चलती थी। शिक्षा राज्य का उत्तरदायित्व न थी। अंग्रेजों ने भी इसी परम्परा का अनुसरण किया। अंग्रेजी राज ने शिक्षा के उत्तरदायित्व का अंशतः ग्रहण किया जिसका परिणाम निकला सहायक अनुदान-पद्धति (Grants in aid System) की नीति जो अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली का सबसे बड़ा दोष है।

कनिंघम के अनुसार, भारतीय आर्थिक साधनों के आधार पर शिक्षा सम्बन्धी यूरोपीय स्वप्नों को साकार करने का प्रयत्न अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली की एक आधारभूत कमजोरी रही है[1]। किन्तु वास्तविकता कुछ और है। पूँजीवादी साम्राज्यवादिता से प्रेरित अंग्रेजी सरकार ने शिक्षा पर किये जाने वाले व्यय को वहीं तक लाभप्रद समझा जहाँ तक प्रशासन चलाने की समस्या का हल निकालना था। मुगलों की परम्परा का अनुसरण करते हुए, अंग्रेजी सरकार ने शिक्षा का उत्तरदायित्व वहीं तक लिया जहाँ तक आवश्यक था। भारत में जैसा कि भारतीय शासन की परम्परा थी, राज्य ने व्यापक जन शिक्षा के उत्तरदायित्व को लिया ही कब था। परम्परानुसार, राज्य तो केवल शिक्षा का संरक्षक था और, मार्ग निर्देशन के लिए, यहाँ-वहाँ आदर्श विद्यालयों की स्थापना करता था। अपनी शिक्षा का प्रबन्ध जनता अपने आप करती आई थी। जैसा कि राजा राममोहनराय के प्रयत्नों से स्पष्ट है अंग्रेजी शासनकाल में भी भारतीय जनता ने अपने प्रयत्नों से नई शिक्षा-प्रणाली का संगठन प्रारम्भ कर दिया था, जिसे, आगे चलकर अंग्रेजी सरकार ने अपनाया। भारतीय परम्परा का अनुसरण करते हुए अंग्रेजी सरकार ने भी यहाँ-वहाँ आदर्श विद्यालयों की स्थापना करना शुरू किया—ऐसे आदर्श विद्यालय जो जनता के लिये नमूने बन सकें। उधर, सरकारी नौकरियों में प्रवेश पाने के लिये जनता में शिक्षा की माँग बढ़ रही थी। इस परिस्थिति के दो परिणाम निकले—एक बार अंग्रेजी सरकार ने सहायक अनुदान प्रणाली का आश्रय लेकर, शिक्षण संस्थाओं का आंशिक भार उठाना शुरू किया और, इसप्रकार, सरकारी शिक्षण संस्थाओं के

1 कनिंघम, जे० आर०: ओ मेले द्वारा सम्पादित इंडिया एण्ड दि वेस्ट में

अलावा प्राइवेट विद्यालयों के संगठन को प्रोत्साहित किया और दूसरी ओर शिक्षा के संरक्षक तथा अभिभावक के रूप में शिक्षा संगठन को नियमित करने के लिये शिक्षा विभाग और उसकी नौकरशाही को संगठित किया जिसके फलस्वरूप शिक्षा पर अप्रत्यक्ष प्रशासन की जो परम्परा विकसित हुई वही वर्तमान शिक्षा पद्धति का सबसे बड़ा अभिशाप बन गई।

अंग्रेजी राज्य काल में, एक ओर, योरोपीय आदर्श के अनुसार शिक्षा को अधिकाधिक राज्य के नियन्त्रण और नियमन में लाने का प्रयास किया गया और, दूसरी ओर भारत में अपनाये गये अप्रत्यक्ष प्रशासन की परम्परा में उसे सरकार के प्रत्यक्ष नियंत्रण से दूर भी रक्खा गया। यह इसी परम्परा का परिणाम है कि सन उन्नीस सौ इक्कीस से शिक्षा को प्रादेशिक सरकारों के उत्तरदायित्व में रक्खा गया किन्तु यहां वहां जैसा कि दिल्ली, अलीगढ और बनारस के विश्वविद्यालयों के संगठन में हुआ केन्द्रीय सरकार ने उच्च शिक्षा के संगठन को सहायता भी दी। आज भारतीय शिक्षा इसी अप्रत्यक्ष प्रशासन चक्र में है। प्राथमिक शिक्षा संस्थाओं को स्थापित और संगठित करने का उत्तरदायित्व अन्तरिम जिला परिषदों और म्युनिसिपलिटियों पर है किन्तु उस स्तर के पाठ्य क्रम का उत्तरदायित्व सरकार के शिक्षा विभाग पर है। प्राइमरी पाठशालाओं के आर्थिक पक्ष और अध्यापक की नौकरी का नियन्त्रण होता है जिला अन्तरिम परिषद और म्युनिसिपल्टियों द्वारा और उनकी योग्यता तथा अध्यापन कार्य की देखभाल की जाती है शिक्षा विभाग द्वारा। प्रादेशिक भाषाओं में चलने वाले अर्ध सरकारी प्राइमरी पाठशालाओं के साथ-साथ कान्वेन्टस के रूप में इंगलैण्ड की कम्ब्रिज पद्धति की प्राइमरी शिक्षा को भी रक्खा गया और साथ ही साथ मौलवियों के इस्लामिया प्राइमरी स्कूल और पण्डितों की संस्कृत पाठशालायें भी चलती रहीं जिनको सरकार का उतना ही संरक्षण प्राप्त था जितना कि अन्य पाठशालाओं को।

यही हाल माध्यमिक स्तर के विद्यालयों का हुआ। एक ओर, सरकार ने अपने विद्यालय खोले किन्तु उनकी संख्या पर्याप्त न थी। अतः, जनता को अपने विद्यालय संगठित करने की अनुमति दे दी गयी। सामाजिक नवजागृति के साथ-साथ, ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय आन्दोलन से जन चेतना बढ़ी त्यों त्यों अंग्रेजी शिक्षा की तीव्र आलोचना की गयी और गैर सरकारी विद्यालयों का संगठित करने का प्रयास किया गया। भारत की सामाजिक नवजागृति में एक साथ कई धारायें प्रवाहित हो रही थीं—एक ओर आर्यसमाजी धारा थी दूसरी ओर सनातनी हिन्दू धारा, तीसरी ओर इस्लामी धारा और चौथी ओर धर्म निरपेक्ष धारा। ऊपर जैसा कि पहले कहा जा चुका है अंग्रेजी राज्य के मध्यान से अखिल भारतीय जाति संगठनों को प्रेरणा मिली और जाति चेतना जाग्रत हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि शासनेतर विद्यालयों की भरमार हो गयी। अंग्रेजी सरकार पहले ही से ईसाइयों को

शासनेतर विद्यालय संगठित करने की अनुमति दे चुकी थी। अत, जनता की इस माँग को रोकना कठिन था। शासनेतर विद्यालयों में एकरूपता लाने के लिये, सरकार ने विश्वविद्यालयों और माध्यमिक शिक्षा परिषदों द्वारा पाठ्यक्रम में तथा परीक्षा प्रणाली में एकरूपता लाने का तथा सरकारी और गैर-सरकारी विद्यालयों के लिये समान न्यूनतम पाठ्यक्रम रखने का अंग्रेजी सरकार ने प्रयास किया। किन्तु, विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों और धर्म-संगठनों के तत्वावधान में चलने वाले विद्यालयों में यह न्यूनतम पाठ्यक्रम धर्मसापेक्षी और सम्प्रदायवादी विचारधाराओं के साथ मिला दिया गया। अत, एक ओर सरकारी शिक्षा धर्मनिरपेक्ष हुयी तो गैर-सरकारी शिक्षा सम्प्रदायवादी। अठारह सौ पतीस के निर्णयानुसार, यह निर्धारित किया गया था कि प्रादेशिक भाषाओं में जनशिक्षा दी जायगी और वह राष्ट्रीय शिक्षा होगी। किन्तु वास्तव में राष्ट्रीय शिक्षा का कोई रूप न निखर सका और अंग्रेजी सरकार की शिक्षा प्रणाली में उसी प्रकार जातीय और धार्मिक साम्प्रदायिकता घुस गयी जैसी कि वह पहले से चली आ रही थी।

विश्वविद्यालयी शिक्षा का भी यही हाल हुआ। कलकत्ता, मद्रास और बम्बई के जिन विश्वविद्यालयों की सरकार ने सन अठारह सौ चौवन में स्थापना की थी वे संघात्मक (Federal) विश्वविद्यालय थे और लन्दन विश्वविद्यालय के प्रतिरूप (Pattern) पर आधारित थे। बाद मे अधिकतर विश्वविद्यालय भी इसी प्रतिरूप पर संगठित हुये। ये विश्वविद्यालय केवल परीक्षण-संस्थाय थी जिनका उच्च शिक्षा से यही तक सम्बन्ध था और रहा है जहाँ तक पाठ्यक्रम के निर्धारण और परीक्षा स्तर निर्धारण का सम्बन्ध है। इन विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत जिन कालेजों में उच्च शिक्षा दी जाती रही है उनके प्रबन्ध तथा उनमें काम करने वाले अध्यापकों की सेवा परिस्थिति पर इन विश्वविद्यालयों का अल्पतम नियन्त्रण रहा है। उच्च शिक्षा देने वाले कालेज सरकारी अनुदान पर निर्भर रहे हैं किन्तु उनके प्रबन्ध पर सरकार का अल्पतम नियन्त्रण रहा है। ये कालेज भी उसी प्रकार जातीय और साम्प्रदायिक रहे हैं जिस प्रकार माध्यमिक शिक्षा देने वाले कालेज। इन कालेजों में दी जाने वाली शिक्षा के मापदण्ड पर विश्वविद्यालयों का नियन्त्रण केवल पाठ्यक्रम और परीक्षा प्रणाली के ही माध्यम से रहा है। इसके साथ-साथ, कुछ निवास विश्वविद्यालय (Residential Universities) भी खोले गये जिनका शिक्षा-स्तर निश्चय ही अपेक्षाकृत अच्छा रहा है। ऐसी परिस्थिति में संघात्मक विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत उच्च शिक्षा देने वाले कालेजों का स्तर निम्न श्रेणी का होने लगा और वे उच्च स्तरीय शिक्षा के पश्चजल (Back Waters) मात्र रह गये और आज भी है। उधर, बनारस और अलीगढ़ के विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा के धार्मिक स्वरूप में बल ही साम्प्रदायिकता का समावेश हुआ जैसे उसका प्रवेश माध्यमिक शिक्षा में हुआ था।

अतएव राज्यकाल की अधिकारी कही जाने वाली शिक्षा का

संगठन वहीं तक क्रान्तिकारी था जहाँ तक योरोपीय पाठ्यक्रम के उपरोपण का सम्बन्ध है। अंग्रेजी राज में विकसित होने वाले शिक्षा प्रबन्ध का संगठन वहीं तक क्रान्तिकारी था जहाँ तक उसका पहले से अधिक मिलने वाले सरकारी संरक्षण और आर्थिक सहायता का सम्बन्ध है। अन्य मामलों में, अंग्रेजों द्वारा लागू की हुयी शिक्षा पद्धति वस्तुतः भारत की परम्परागत शिक्षा पद्धति की मुख्य-मुख्य विशेषताओं का एक बड़े पैमाने पर स्थानान्तरणमात्र थी। अंग्रेज राज के पहले का शिक्षा एक ओर, धर्मसापेक्ष थी और दूसरी ओर साम्प्रदायिक। अंग्रेजी शिक्षा भी धर्मसापेक्ष और साम्प्रदायिक रही। वास्तव में, अंग्रेजों द्वारा लागू की हुई शिक्षा पद्धति में साम्प्रदायिकता का संगठित सामाजीकरण हो गया। अंग्रेजों के पहले की शिक्षा जनता के प्रयत्नों से पहले चलती थी। अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली भी अधिकतर शासनेतर संस्थाओं द्वारा चलती रही। अंग्रेजों के पहले की सामाजिक व्यवस्था में, राज्य और शिक्षक का प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था। अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली में राज्य और अध्यापक का कभी भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ और न आज है। अंग्रेजी राज्यकाल में, राष्ट्रीयता के प्रभाव में, अध्यापक राज्य तथा समाज का प्रबल आलोचक बना।

जब से संस्कृत भाषा बोलचाल की भाषा न रह कर केवल विद्वत्ता और पाण्डित्य की भाषा रह गयी थी तब से संस्कृत द्वारा मिलने वाली शिक्षा का आधार था कंठस्थ करने की परम्परा। इस परम्परा के कारण भारत में जनसाधारण मौलिकता और रचनात्मकता का अभाव रहा है। इस्लामी परम्परा में शिक्षा का माध्यम बोलचाल की भाषा न थी। अतः उसमें भी वही दोष था जो संस्कृत द्वारा दी जाने वाली हिन्दू शिक्षा में था। भारत में अंग्रेजी भाषा के द्वारा योरोपीय शिक्षा की जनप्रियता का एक यह भी कारण हो सकता है कि भारत में बोलचाल की भाषा में शिक्षा न देने की परम्परा सी बन गयी थी और आज भी अंग्रेजी से चिपटे रहने के पीछे सम्भवतः उसी परम्परा का प्रभाव है। कुछ भी हो, विदेशी भाषा और विषयवस्तु में शिक्षा न होने के कारण रटना ही पठन पाठन का मूलमन्त्र रहा। जिस प्रकार संस्कृत, फारसी और अरबी के माध्यम से मिलने वाली शिक्षा अमौलिकता को जन्म देती रही थी उसी प्रकार अंग्रेजी भाषा के माध्यम से मिलने वाली शिक्षा ने भी अमौलिकता को ही प्रश्रय दिया। भारत की सारी शिक्षा योरोपीय विद्वानों का जूठन मात्र रहा है। जिस प्रकार, अंग्रेजों के पहले शिक्षा के मुख्य विषय वस्तु थे साहित्य और दर्शन। उसी प्रकार, अंग्रेजी शिक्षा के मुख्य विषय वस्तु बने अंग्रेजी साहित्य योरोपीय दर्शन और वे विषय जिन्हें कण्ठस्थ कर लिया जाता है। अंग्रेजी शिक्षा उतनी ही अव्यावहारिक रही जितनी कि पहले की शिक्षा थी। विद्वत्ता प्राप्ति और अंग्रेजी भाषा के पठन-पाठन का ज्ञान अंग्रेजी शिक्षा के मुख्य उद्देश्य थे।

सारी शिक्षा पद्धति पर सरकार के अप्रत्यक्ष नियन्त्रण ने, शिक्षा और शिक्षक का सामाजीकरण तो किया किन्तु सारी व्यवस्था को उस सामाजिक परिस्थिति में

डाल दिया जहाँ शिक्षा की सांस्कृतिक प्रभाव प्रवणता समाप्त हो गयी। अंग्रेजों द्वारा लागू की हुयी शिक्षा पद्धति में शिक्षा और शिक्षक पर एक प्रकार का त्रिमुखी नियंत्रण प्रारम्भ हुआ—एक ओर सरकार का नियंत्रण, दूसरी ओर विद्यालय के संस्थापक अथवा संस्थापक संघ का नियंत्रण और तीसरा ओर पाठ्यक्रम और परीक्षा को नियमित करने वाले संगठन का नियंत्रण। स्थानीय विश्वविद्यालयों के तत्वावधान में चलने वाले सम्बन्ध-महाविद्यालय (Affiliated Colleges) इसका प्रमाण हैं। इन महाविद्यालयों पर सरकार का वहीं तक नियंत्रण है जहाँ तक सम्बन्धित अधिनियम सरकार को नियंत्रण का अधिकार देता है, किन्तु जैसी परम्परा रही है यह नियंत्रण केवल नियमन का नियंत्रण है। सरकार के नियमन नियंत्रण को अन्ततः विश्वविद्यालय लागू करता है और अन्ततः महाविद्यालय का प्रबन्धक। इस परिस्थिति में प्रबन्धक की ही प्रभुता बढ़ जाती है। सरकार द्वारा लागू किए जाने वाले नियमन नियंत्रण की विधियाँ जितनी अस्पष्ट और अप्रत्यक्ष होंगी उतना ही प्रबन्धक की सर्वोपरिता बढ़ जाती है और ऐसी दशा में कालेज सरकार के नियंत्रण में एक प्रकार की अधीनता मात्र रह जाता है। अतः शासनेतर विद्यालय न तो सरकारी रहे और न सार्वजनिक। उनमें दी जाने वाली पाश्चात्य शिक्षा ने एक ओर धर्मनिरपेक्षता और सामान्य बौद्धिक विकास को प्रोत्साहित किया तो दूसरी ओर जातीय, धार्मिक तथा राजनैतिक साम्प्रदायिकता को। इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा में न तो कोई धार्मिक उद्देश्य विकसित हुआ और न राष्ट्रीय। शिक्षा केवल परीक्षा की तैयारी का माध्यम मात्र रह गयी और अध्यापक एक उद्देश्य विहीन मध्यजन—ऐसा मध्यजन जिसका एक मात्र उद्देश्य था पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार।

सहायक अनुदान-पद्धति के कारण ही विलक्षण परिणाम निकले। सहायक अनुदान-पद्धति (Grants-in aid System) स्व-सेवा (Self Help) के सिद्धान्त पर आधारित है। शासनेतर विद्यालयों को संगठित करने वालों को तभी सरकारी अनुदान मिलता है जब वे कुछ धन अपनी ओर से व्यय करके विद्यालय का संगठन करें। विद्यालय के चलने के बाद, एक ओर आमदनी होती है विद्यार्थियों से मिलने वाले शिक्षा शुल्क से और दूसरी ओर विद्यार्थियों की संख्या के अनुपात से मिलने वाले सरकारी अनुदान से। इस परिस्थिति में शिक्षा के व्यापारीकरण का श्रीगणेश हुआ क्योंकि जिस विद्यालय में जितने विद्यार्थी होंगे उसकी आय उतनी ही बढ़ेगी और जिस कालेज में जितने अधिक विद्यार्थी होंगे सरकार से उतना ही अधिक अनुदान मिलेगा। केवल परीक्षा के लिए ही संगठित विश्वविद्यालयों की आय की ही समस्या ने शिक्षा को बड़े पैमाने पर प्रसारित करने के लिए प्रेरित किया। शासनेतर महाविद्यालयों (Degree Colleges) और माध्यमिक कालेजों में इसका यह परिणाम हुआ कि विद्यार्थियों की संख्या के बढ़ाने पर ही जोर दिया जाने लगा। इससे एक ओर शिक्षा का स्तर गिरा तो दूसरी ओर शिक्षक, शिक्षा के अतिरिक्त, अन्य

स्वार्थों का अभ्युदय हुआ। अंग्रेजों द्वारा लागू की हुयी शिक्षा पद्धति व्यापारीकरण के दुष्परिणामों से पीड़ित रहा है। शिक्षा विद्यादान न होकर लाभ का माध्यम हो गयी। इसमें आश्चर्य नहीं यदि शासनेतर संस्थाओं के प्रबन्धकों को उसी प्रकार से शिक्षा संस्थाओं को खोलने की प्रेरणा मिली जिस प्रकार व्यापारी को दूकान या मिल खोल कर अपना व्यापार बढ़ाने की प्रेरणा मिली है।

अंग्रेजों द्वारा लागू की हुयी शिक्षा पद्धति के संघात से शिक्षण कर्म और शिक्षक तथा विद्यार्थी के सम्बन्धों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं। शिक्षण-कार्य स्वान्त सुखाय न होकर एक वेतनभुक्त नौकरशाही सेवावृत्ति हो गयी। शिक्षण का मुख्य ध्येय हो गया शिक्षार्थी को परीक्षार्थी बनाना क्योंकि शिक्षार्थी की सफलता का मापदण्ड परीक्षा में मिलने वाली सफलता हो गयी। शिक्षा को उसी प्रकार ढाला गया जैसी सरकारी नौकरियों की आवश्यकता थी। सरकारी नौकरियों के चुनाव के लिए लिखित परीक्षाओं का संगठन किया गया। अतः शिक्षा में भाषा (वह भी अंग्रेजी भाषा) और साहित्यिकता में प्रवीणता पाने पर अप्रत्यक्ष जोर दिया जाने लगा। शिक्षा की विषय वस्तु योरोपीय हो गयी जिसका भारतीय जीवन से सम्बन्ध न था। दूसरी ओर शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा थी। इन दोनों विकासों का परिणाम यह हुआ कि शिक्षालयों का वातावरण एक शुष्क एवं नीरस विदेशी वातावरण से भर गया। ऐसी दशा में शिक्षार्थी न शिक्षार्थी रहा और न विद्यार्थी—वह एक स्म परीक्षार्थी हो गया। विषय वस्तु और शिक्षा माध्यम के विदेशी होने के कारण शिक्षा ग्रहण करने में कंठस्थता ही प्रधान हो गयी। शिक्षार्थियों की शिक्षा में वहीं तक दिलचस्पी रहती जब तक परीक्षा पास करने का सम्बन्ध था। ऐसी परिस्थिति के दो परिणाम निकले—एक, शिक्षा के माध्यम से विद्यार्थी को कुछ नीरस तथ्यों के अलावा और कुछ नहीं मिला और इस कारण उसमें रचनात्मक विचारों का प्रवाह न फल सका। रचनात्मक विचारों की कमी के कारण मस्तिष्क की उच्छृंखलता का आना स्वाभाविक ही था। दूसरे शिक्षा साधना तथा प्रयासों में क्षय (Wastage) की मात्रा बढ़ी। शिक्षा में दिलचस्पी न लेना या कुछ दिन तक शिक्षा ग्रहण करके उसे छोड़ देना या जिस विषय की शिक्षा ग्रहण की जाय, बाद में उस विषय को छोड़ कोई अन्य कार्य करना ये शिक्षा और शिक्षा साधना के क्षय और अपव्यय के ही परिचायक हैं। शिक्षार्थी न शिक्षक से केवल उतने ही की मांग की जो परीक्षा और पाठ्य क्रम की पूर्ति के लिए आवश्यक था और शिक्षक भी शिक्षार्थी को केवल उतना ही देने के लिए विवश हो गया। इस परिस्थिति में एक ओर शिक्षक की बौद्धिक रचनात्मकता क्षीण हुयी तो दूसरी ओर शिक्षार्थियों के लिए शिक्षक बौद्धिक प्रेरणा का प्रतीक न रहकर केवल एक वेतनभोगी सेवक हो गया।

ऐसी दशा में शिक्षा के स्तर का गिरना स्वाभाविक ही था। शिक्षालयों को चलाने के लिए, आर्थिक दृष्टिकोण से शिक्षार्थियों की बढ़ती हुयी संख्या आवश्यक

हो गयी और सभी स्तरों पर उस बढ़ती हुयी संख्या को प्रोत्साहित करने के लिए विद्यार्थियों के अधिकाधिक पास होने की आवश्यकता बढ़ी। शिक्षक की सफलता का भी यही मापदण्ड हो गया कि उसके द्वारा शिक्षित विद्यार्थी परीक्षा में सफलता प्राप्त करें। परीक्षण संस्थाओं के द्वारा परीक्षा को नियमित तथा संचालित करने के कारण शिक्षक का न तो शिक्षार्थियों पर नियन्त्रण रहा और न उसके पास अपने शिक्षार्थियों की योग्यता मापने का कोई साधन। शिक्षा और शिक्षा पद्धति एक प्रकार के व्यवसायिक वातावरण में फँस गए जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि परीक्षा का मापदण्ड औसत विद्यार्थी की योग्यता पर निर्धारित होना चाहिए और जहाँ तक हो सके अधिकाधिक विद्यार्थी पास हों। इसी दशा में शिक्षक भी अधिकाधिक विद्यार्थियों को पास करने के लिए प्रेरित हुआ। औसत पर आधारित परीक्षा मापदण्डों में पास होने वाले विद्यार्थियों में अधिक की योग्यता औसत थी और जब उन्होंने शिक्षण कार्य सम्भाला तो जिस औसत के आधार पर उन्होंने पास किया था उसका औसत और भी गिरा। इसप्रकार एक ओर, शिक्षा की सफलता का मापदण्ड संख्यात्मक हो गया और, दूसरी ओर, औसत मापदण्ड गिरता ही रहा और आज भी गिर रहा है। इसका प्रमाण हैं वे प्रशिक्षण संस्थायें जो अध्यापकों को प्रशिक्षण देने के लिए खोली गयीं। इन प्रशिक्षण-संस्थाओं में अध्यापन कार्य के ढंग और अध्यापन-कार्य के आधार पर उतना जोर नहीं दिया जाता है जितना कि उस विषय वस्तु को ध्यान पर जो प्रशिक्षण लेने वाले पढ़ कर आए हैं। सारा ध्यान प्रशिक्षण लेने वालों के सामान्य ज्ञान को बढ़ाने की ओर रहता है। यह इस बात का प्रतीक है कि हम यह मानते हैं कि शिक्षा का स्तर गिर रहा है हम उसे रोक नहीं सकते हैं, यहाँ नहीं उसका सुधार अवश्य कर सकते हैं।

अंग्रेजी राज काल में विभिन्न पेशों और व्यावसायिकों की जो उच्चोच्च परम्परा विकसित हुयी उसमें शिक्षण कार्य को एक निम्न अप्रतिष्ठित स्तर मिला क्योंकि सरकारी नौकरों और व्यापारियों की अपेक्षा, शिक्षक का आर्थिक स्तर निम्न रहा है। जिसप्रकार प्राइमरी, माध्यमिक और उच्च शिक्षा में अन्तर रखा है इसीप्रकार इन स्तरों में कार्य करने वाले अध्यापकों की योग्यता और वेतन में भी जमीन आसमान का अन्तर रखा है। इसके दो परिणाम निकले हैं—एक सरकारी नौकरियों व्यापार और वकालत जैसे, उन पेशों की ओर, जहाँ धनोपार्जन की अधिक गुंजाइश थी, लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। अध्यापन कार्य की ओर वही प्रवृत्त हुआ जो धनोपार्जन के अन्य साधनों को अपनाने में असमर्थ हुआ। दूसरे, अध्यापन-कार्य के लिए जो न योग्य लोगों की प्रवृत्ति उन स्तरों में पहुँचने की रही है जहाँ अधिक धन प्राप्त हो सके। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक ही था कि प्राइमरी तथा माध्यमिक शिक्षण के लिए योग्य व्यक्ति न मिल सकें। अंग्रेजों द्वारा लागू की हुयी शिक्षा-पद्धति में प्राइमरी तथा माध्यमिक शिक्षा स्वतः उपेक्षित हो गयी।

अंग्रेजी राज के माध्यम से पड़ने वाले योरोपीय संघात के कारण भारतीय जीवन में सांस्कृतिक पुनर्नवन की जो प्रक्रिया आई उसका भारतीय संस्कृति पर व्यापक प्रभाव पड़ा और शिक्षा भी उससे मुक्त न रह सकी। शिक्षा को, एक ओर, पुनर्नवन का माध्यम बनाया गया और, दूसरी ओर, भारतीय शिक्षा के पुनर्नवन का प्रयास किया गया। भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से भारतीय शिक्षा के विकास में दो विचार प्रवाह अस्तित्व में आए—एक भारतीय शिक्षा को योरोपीय बनाया जाए और दूसरा भारतीय शिक्षा को भारतीय पद्धति के अनुसार ढालकर, उसमें भारतीय तथा योरोपीय विषय वस्तु का समन्वय किया जाए। दूसरे विचार प्रवाह को ही प्रधानता मिली और वर्तमान भारत के शिक्षा प्रयास इसी दिशा में प्रवाहित हो रहे हैं यद्यपि इस समन्वय के स्थायी आधार नहीं तैयार हो पाये हैं और सम्भवतः वे तब तक नहीं तैयार हो पायेंगे जब तक भारत में शिक्षा का माध्यम भाषा अंग्रेजी है और भारतीय ज्ञान विज्ञान के प्रेरणास्रोत अंग्रेजी भाषा भाषी संसार में हैं। किन्तु साथ ही साथ भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति के पुनर्नवन का प्रयास भी चलता रहा है। शिक्षा पुनर्नवन का यह प्रयास स्वामी दयानन्द के समय से प्रारम्भ होता है। आर्यसमाज के तत्वावधान में गुरुकुलों की स्थापना इसी दिशा में एक प्रयास है। मुसलमानों में इस प्रयास ने अन्दोम ध्यम में दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा का रूप लिया। जिस प्रकार आर्य समाज के तत्वावधान में चलने वाले एंग्लो-वैदिक कालेजों में योरोपीय शिक्षा को वैदिक हिन्दुत्व के साथ मिलाया गया उसी प्रकार इस्लामिया कालेजों और अलीगढ़ मुस्लिम यूनीवर्सिटी में योरोपीय शिक्षा को इस्लाम के साथ मिलाया गया।

महात्मा गांधी की प्रेरणा से चलने वाले स्वराज्य आन्दोलन में इस पुनर्नवन ने एक नयी दिशा ग्रहण की। भारत में विदेशी कल कारखानों के स्थान पर कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन और हिन्दी उर्दू को मिलाकर हिन्दुस्तानी को राष्ट्रीय भाषा बनाने के प्रयास इस नए पुनर्नवन के ही परिचायक हैं। शिक्षा के क्षेत्र में इस पुनर्नवन ने बुनियादी शिक्षा का रूप ग्रहण किया। बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य भारत में उस शिक्षा को स्थापित करना था जिसमें साक्षरता के स्थान पर कला कौशल को भी प्रश्रय हो ताकि शिक्षा आर्थिक दृष्टिकोण से भी उपयोगी हो सके। किन्तु इस प्रयास ने एक विचित्र विभाजिता को जन्म दिया। प्रौद्योगिकी के बढ़ते हुए प्रयोगों ने मशीनीकरण औद्योगीकरण और आर्थिक केन्द्रीकरण को प्रोत्साहित किया। कुटीर उद्योगों पर आधारित उस विकेन्द्रीकृत आर्थिक समाज का अभ्युदय न हो पाया जिसकी कल्पना की गयी थी। अतः बुनियादी शिक्षा भी अव्यावहारिक हो गयी। बुनियादी शिक्षा के अध्यापक को वह कार्य करना पड़ा जिसमें उसका आत्म विश्वास न विकसित हो सका। इसका परिणाम यह हुआ कि कला-कौशल की शिक्षा केवल एक मनोरंजनमात्र रह गयी।

यह निर्विवाद है कि भारत में अंग्रेजी शिक्षा का आधार मुख्यतः साहित्यिक रहा है न कि तकनीकि। प्रौद्योगिकी बढ़ते हुए प्रयोग और यूरोप से मिलने वाली प्रेरणा से भारत में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की शिक्षा की माँग बढ़ती रही है। धनाभाव और योग्य शिक्षकों की कमी के कारण उसका आवश्यक संगठन न हो सका। सरकार ने उत्पादन तथा प्रशिक्षण केन्द्रों के रूप में, प्रौद्योगिक शिक्षा को संगठित करने का प्रयास किया। किन्तु, ऐसी शिक्षा भी व्यावहारिक न हो पायी क्योंकि प्रशिक्षण पाने वाले लोगों को न तो वे साधन उपलब्ध हो सके जिनके माध्यम से उन्होंने शिक्षा पायी थी, न उनको समग्र काम ही मिल सका और यदि किसी ने प्रयास भी किया तो उसके उत्पादन की बिक्री का प्रबन्ध न हो सका। प्रौद्योगिक शिक्षा का सीधा सम्बन्ध समाज के आर्थिक-औद्योगिक संगठन से है। ज्यों ज्यों हम इस विषय में स्पष्ट होते जायेंगे कि भारत का आर्थिक औद्योगिक संगठन क्या हो, प्रौद्योगिक शिक्षा की रूपरेखा भी स्पष्ट होती जायगी। कुछ भी हो अंग्रेजी राज के समाप्त होने से यह विचार घर करता गया है कि यदि भारतीय समाज को यूरोपीय औद्योगिक ढाँचे में लाना है तो प्रौद्योगिक शिक्षा के एक व्यापक संगठन की आवश्यकता है। साथ ही साथ यह भी स्पष्ट होता जा रहा है कि शिक्षा के गिरते हुए स्तर का प्रधान कारण यह है कि समयानुसार शिक्षा का बहुमुखीकरण (Diversification) न होने के कारण शिक्षा-संस्थाओं में उन लोगों की भीड़ बढ़ती जाती है जो उच्च शिक्षा के योग्य नहीं हैं किन्तु उच्चशिक्षा के लिए इसलिए आते हैं कि वह सरकारी नौकरी में जाने का एक साधन है और उच्चशिक्षा में जाने के अलावा उनके पास कोई चारा नहीं है।

भारत में यूरोपीय शिक्षा का स्वागत भी हुआ और विरोध भी। स्वागत के दो प्रेरणा स्रोत थे—एक भारत के पश्चिमीकरण की भावना और दूसरे सरकारी नौकरियों में प्रवेश पाने की प्रेरणा। यही कारण है कि अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार शहरों में और उन जातियों में अधिक हुआ जो परम्परा से बुद्धिजीवी थीं और जिनके सदस्य भारत की नौकरशाही-परम्परा की रीढ़ थे। जिन जातियों अथवा वर्गों के सदस्यों के पास सीमित आर्थिक साधन थे, वे इस शिक्षा की ओर कम आकृष्ट हुए। सम्भवतः यही कारण है कि अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार नारियों में कम हुआ क्योंकि भारतीय परम्परा में नारियों द्वारा नौकरी करने की परम्परा नहीं रही है। नारी आर्थिक स्वातन्त्र्य की धारणा यूरोप की देन है और आधुनिक प्रौद्योगिकी तथा औद्योगीकरण की उत्पत्ति है[1]। कारीगर-जातियों के सदस्यों में भी इस शिक्षा का अपेक्षाकृत कम प्रसार हुआ क्योंकि पढ़ा लिखा व्यक्ति आनुवंशिक पेशों को अपनाने में असमर्थ रहा है। सम्भवतः यही कारण है कि गाँवों में आज भी एक उदाहरण मिल

---

1 पान्निकर, के० एम० वही

जाते हैं जहाँ परिवार के एक ही व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति मिली है। इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि भारत के परम्परागत सामाजिक-आर्थिक संगठन ने अंग्रेजी शिक्षा पद्धति को प्रोत्साहित भी किया है और उसके व्यापक प्रसार का विरोध भी। इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्राइमरी शिक्षा की अवस्था है। जहाँ अनिवार्य शिक्षा है वहाँ भी फसल की कटाई और बुवाई के दिनों में पाठशालाओं में बालकों की उपस्थिति कम हो जाती है क्योंकि उन दिनों खेतों में बालकों की उपस्थिति अधिक लाभप्रद होती है और जब जून के महीने में ग्रीष्म अवकाश रहता है तब बालकों को न तो खेती का काम करना पड़ता है और न पढ़ना ही। निम्न स्तर की जातियां के बालक इसीलिए स्कूल नहीं गये कि वे उच्चस्तर की जाति के बालकों के साथ पठन के अयोग्य थे और उनके अभिभावकों का यही विचार रहा है कि यदि खेती, मजदूरी और घर का ही काम करना है तो शिक्षा की क्या आवश्यकता?

योरोपीय संघात के भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक सन्दर्भ में, अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति वरदान भी सिद्ध हुयी। अंग्रेजी भाषा और योरोपीय शिक्षा के कारण, उच्चशिक्षा प्राप्त लोगों में यदि पश्चिमीकरण बढ़ा तो उनमें भारत के प्रति जागरूकता भी विकसित हुयी। अंग्रेजी शिक्षा के ही माध्यम से भारत में योरोपीय विचारों का संघात बना जिसमें भारतीय सामाजिक विचार में एक तीव्र गत्यात्मकता आयी जिसने भारत की आधुनिक सामाजिक नवजागृति को जन्म दिया। भारत की आधुनिक सामाजिक नवजागृति के नेता अंग्रेजी शिक्षा पद्धति की उपज थे। इसी शिक्षा के माध्यम से भारत में उस ज्ञान विज्ञान का विकास हुआ है जिसकी उत्पत्ति आज का भारत है। इसी शिक्षा के माध्यम से भारत में प्रजातन्त्र समाजवाद, पूँजीवाद साम्यवाद सम्बन्धी विचारों का समावेश हुआ और भारत में एक साथ राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता की लहर दौड़ी। इसी शिक्षा के माध्यम से व्यक्तिवादी विचारों का प्रसार हुआ और सामाजिक संगठन के अप्रजातांत्रिक आधारों के प्रति विद्रोही विचार पनपे। इसी शिक्षा के माध्यम से प्रान्तीय भाषाओं के विकास के अवसर अस्तित्व में आए और उनके साहित्य पर योरोप तथा अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव पड़ा। इसी शिक्षा के माध्यम से भारत के पुनरुत्थान की ओर भारत तथा योरोप के समन्वय का विचार पनपा। किन्तु यह समन्वय किस प्रकार हो यही वर्तमान भारत और शिक्षा की समस्या है।

५

कला, साहित्य और भाषा

संस्कृति के अन्य पक्षों की भाँति भारतीय संस्कृति के कला पक्ष पर भी योरोप का सघात पड़ा। इस सघात से, किन्हीं किन्हीं क्षेत्रों में कला का पुनरुन्नयन हुआ और किन्हीं किन्हीं में भारतीय कला का योरोपीयकरण और किन्हीं में योरोपीय टकनीक, प्रतीक और प्रवाहों का भारतीयकरण हुआ। संगीत में एक ओर शास्त्रीय संगीत का पुनरुन्नयन हुआ और दूसरी ओर योरोपीय प्रभावों तथा सांस्कृतिक पुनरुन्नयन के प्रवाह में सुगम संगीत की उत्पत्ति हुयी और उसमें लोकतत्वों का समावेश हुआ। बंगाल में टैगोर संगीत एक ऐसा ही विकास है। योरोपीय संगीत के प्रभाव में संगीत के छन्द बंध और वाद्य-यन्त्र भी बदले और सिनेमा के माध्यम से एक ऐसे संगीत का अभ्युदय हुआ जिसकी आत्मा और कलेवर दोनों ही योरोपीय हैं। ईसाई मिशनरियों ने चर्चों में योरोपीय आधार पर भारतीय भाषाओं में वृन्दगान (Chorus) का समावेश किया। वास्तव में, वृन्दगान और वृन्दवाद्य-संगीत (Archestra) योरोप की ही देन है और आज इन दोनों का भारतीय संगीत और वाद्य में समावेश हो रहा है। एक ओर शास्त्रीय संगीत के वे घराने और शैलियाँ चलती रहीं जो मुस्लिम काल में अस्तित्व में आयी थीं और दूसरी ओर योरोपीय, शास्त्रीय और लोक-संगीत के समावेश से एक नयी सवर्गुम्फन संगीत परम्परा का प्रारम्भ हुआ। योरोपीय प्रभाव ने शास्त्रीय और लोक-शैली को परस्पर समीप कर लिया है। नृत्य कला का भी यही हाल हुआ है। एक ओर प्रतिष्ठित शास्त्रीय शैलियाँ (कत्थक कथकली भरत-नाट्यम और मणिपुरी) चलती रही हैं तो दूसरी ओर इन शैलियों का लोक शैलियों में समावेश किया गया है और उसमें योरोपीय शैली का पुट दिया गया है। सिनेमा में कथकली के नृत्य इसी नवीन परम्परा के प्रतीक हैं।

चित्रकला पर योरोपीय प्रभाव का विश्लेषण करते हुए बालकृष्ण राव ने लिखा है अंग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप चित्रकला की राजपूत और मुगल शैलियाँ समाप्त हो गयीं। भारतीय चित्रकला के आधुनिक युग का प्रारम्भ उस समय से होता है जब भारतीय चित्रकारों ने (जैसा कि राजा रवि वर्मा ने किया) योरोपीय शैली का अन्ध अनुकरण करना प्रारम्भ किया और (जैसा कि आगे चलकर अवनीन्द्रनाथ टैगोर नन्दलाल बोस, सुरेन्द्रनाथ गांगुली, असितकुमार हल्धर और मगुर के बंगालियों ने किया) योरोपीय प्रभावों का अजन्ता मुगल और राजपूत शैलियों के साथ समन्वय करना प्रारम्भ किया। कलकत्ता, बम्बई और आन्ध्र के आधुनिक शैली के सम्प्रदाय इसी समन्वय प्रवाह की उत्पत्ति हैं। चित्रकारों द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले रंगों और अन्य उपकरणों का निर्माण आज योरोपीय प्रौद्योगिकी की ही सहायता से होता है जिसके कारण चित्रकला की विषय वस्तु का अर्थ ग

उपकरणों का अधिक योरोपीयकरण हुआ है। एक समय था जब चित्रकार स्वयं अपने रंगों का उत्पादन करता था किन्तु आज उनका उत्पादन कारखानों में होता है। यह योरोपीय प्रभाव का ही परिणाम है कि चित्रकला में अमूर्त और अपरम्परावादी प्रतीकात्मकता का अभ्युदय हुआ। चित्रकला के विषय-वस्तु में दिव्य उच्च और असाधारण के स्थान पर, साधारण सामान्य, इहलौकिक और वास्तविक का समावेश हुआ। योरोप की सामाजिक नवजागृति (Social Renaissance) और प्रकृतिवादी तथा विज्ञानवादी दर्शन के प्रभाव से उत्पन्न यथार्थवादिता का सबसे अधिक प्रभाव, साहित्य के अलावा, चित्रकला पर ही पड़ा। यह यथार्थवादिता का ही प्रभाव है कि चित्रकार एक ओर नग्न शरीरों चित्रण की ओर उन्मुख हुआ और दूसरी ओर इहलौकिक मानवी जीवन और उसके प्रकारों के चित्रण की ओर। आधुनिक भारतीय चित्रकला में एक ओर उद्देश्यरहित यथार्थवादिता का प्रभाव है और, दूसरी ओर यथार्थ मानवतावाद के अवगुंठन में लिपटा हुआ है। ये दोनों प्रभाव योरोपीय हैं—प्रथम, उस वाद की उत्पत्ति है जिसमें कला का कला के लिए ही माना जाता है और दूसरा उस वाद की जिसमें कला को वह उपादेय माध्यम माना जाता है जिसका प्रयोग जीवन के अभिनव मार्गों का सृजन करने के लिए किया जाता है।

नाट्यकला जिसमें अभिनय और रंगमंच दोनों शामिल हैं भी उसी प्रकार योरोपीय प्रभाव में आये। नाट्यकला के दो पक्ष हैं—एक अभिनय और रंगमंच का और दूसरा साहित्य का। नाट्यकला के साहित्यिक पक्ष का वर्णन आगे किया जायेगा। यहाँ इतना जान लेना आवश्यक है कि संगीत की भाँति भारतीय नाट्यकला के भी दो स्तर रहे हैं—एक शास्त्रीय और दूसरा लोकस्तरीय। रामलीला, रासलीला, स्वांग और नौटंकी लोक नाट्य परम्परा की श्रेणी में आते हैं। शास्त्रीय नाट्यकला और रंगमंच प्राचीन तथा मध्यकालीन योरोपीय नाटक की भाँति भारत में भी राजमहलों के मनोरंजन का साधन रहे हैं। सम्भवतः यही कारण है कि संस्कृत के नाटक सुखान्त हैं और उनके कथानक या तो राजपुरुषों से सम्बन्धित हैं या दिव्य पुरुषों से और पदों के माध्यम से भारतीय नाटकों में भव्य तथा पारलौकिक दृश्यों की प्रधानता रही है तथा हास्य दरबारी होने के कारण बनावटी है। ऐसी परिस्थिति में अभिनय में नाटकीयता का अधिक होना स्वाभाविक है और अभिनय में जितनी ही नाटकीयता होगी यथार्थ से वह उतना ही दूर होगा। मुस्लिम काल में भारतीय रंगमंच में कोई खास परिवर्तन नहीं आया क्योंकि इस काल में, जैसा कि लखनऊ के नवाब वाजिदअली शाह के समय में रचित इन्दर सभा में स्पष्ट है नाट्यकला का प्रवाह संगीत-नाटिका (Opera) की ओर रहा है।

नौटंकी संगीत-नाटिका की एक निम्न लोकप्रिय परम्परा है। योरोप के प्रभाव से नाट्य-कला और रंगमंच का पुनरुत्थान हुआ। भारत का व्यापारीकृत पारसी रंगमंच इसी पुनरुत्थान की प्रथम अभिव्यक्ति था। पारसी रंगमंच में भारतीय और

यूरोपीय प्रभावों का सम्मिलन है यद्यपि इस सम्मिलन में भारतीय प्रभाव और परम्पराएं ही प्रधान हैं। भारत की अभिनय और नाट्य कलाओं पर यूरोपीय प्रभाव सिनेमा और कला सम्बन्धी वादों (Isms) की विचारधाराओं के प्रभाव के माध्यम से आया है। जैसा कि कला के अन्य क्षेत्रों में हुआ है अभिनय और नाट्यकला के क्षेत्र में भी यथार्थ की माँग बढ़ी और व्यस्त जीवन के कारण, सरल और छोटे छोटे कथानकों की माँग बढ़ी। एकांकी नाटक इसी माँग की उत्पत्ति है। यथार्थवादी प्रभावों की माँग के कारण, इस बात की आवश्यकता बढ़ी कि यथा-सम्भव मंच में जितने ही कम दृश्य हों उतना ही अच्छा। नाटकों से संगीत निकालने की बात यूरोपीय प्रभाव की ही देन है। पात्रों द्वारा गाये जाने वाले संगीत की जगह, पार्श्व वाद्य-संगीत को संकेतवाहक और भाव संचारी माध्यम के रूप में अधिक प्रधानता मिली। बिजली तथा माइक्रोफोन के प्रयोग से रंगमंच तथा अभिनय में अपेक्षाकृत अधिक यथार्थता आयी। श्रव्य नाटक जो दृश्य प्रधान न होकर ध्वनि प्रधान हैं, यूरोप में आई हुयी रेडियो प्रौद्योगिकी की देन है।

कला की भाँति साहित्य भी यूरोपीय परम्पराओं से प्रभावित हुआ है। अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी शिक्षा इस प्रभाव का मुख्य माध्यम हैं। काव्य में दो परम्पराओं का अभ्युदय हुआ—एक, प्रगतिमय निराकारी और रहस्यवादी परम्परा जो मध्यकालीन सूफीवादी पुट के साथ एक ओर, राधास्वामी पंथों जैसे निर्गुनिया पंथों में अपने प्राचीन रूप में चलती रही और दूसरी ओर, टैगोर, पन्त प्रसाद निराला और महादेवी की कविताओं के रूप में वह एक नवीन रूप लेकर अवतरित हुयी जो समयानुसार प्राचीन की अपेक्षा अधिक सॉफिस्टीकेटेड था। हिन्दी और बंगला की आधुनिक रहस्यवादी काव्य शैली को अंग्रेजी साहित्य का प्रथम प्रभाव मानना वस्तुतः इतिहास की अवहेलना करना है। जिस प्रकार, इस्लाम के प्रभाव ने रहस्यवादी काव्याभिव्यक्तियों में भावुकता का पुट दिया था[1] उसी प्रकार यूरोपीय प्रभाव ने उसमें सोफिस्टीकेशन का एक गहरा पुट दिया। जिसकी अभिव्यक्ति हुयी टैगोर की गीताञ्जलि में। हिन्दी में एक अन्य शैली उत्पन्न हुयी जिसे छायावाद की संज्ञा दी गई जो अपनी भावानुभूति में रहस्यवाद का एक चिन्तनपरक इहलौकिक, ऐन्द्रिक किन्तु धारा उसका रूप है और अपनी अभिव्यक्ति शैली में अपरम्परागत छन्दों और प्रतीकों स्थानीय विचार और प्रकृति के कोमलता उर्जित प्रयोग से बनी हुयी है। छायावाद का वास्तविक आधार रूमानीपन (Romanticism) है जिसे पश्चिम के समाजशास्त्री सामाजिक व्यवस्था के औद्योगीकरण और शहरीकरण की उत्पत्ति मानते हैं[2]।

---

1 जोशी निवलास रीतिकालीन साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

2 रायमर माइन सिटी

यदि फ्रायड के मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों के सन्दर्भ से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि एक, अतृप्त, सतत अभिलाषा के रूप मे, रूमानी विचार सभी समाजों में स्वाभाविक रूप में व्याप्त है और उसकी अभिव्यक्ति विभिन्न समाजों की सांस्कृतिक मान्यताओं और अर्हताओं के अनुसार होती है[1]। भारत की लोक-काव्य परम्परा में रूमानी विचार थे और यहां की रीतिकालीन शैली में प्रकृति का आलम्बन उद्दीपन के रूप में प्रयोग करने की परम्परा भी थी। वास्तव में रहस्यवाद और छायावाद के विकास के दो मुख्य आधार रहे हैं एक भारत की मध्यकालीन रहस्यवादी परम्परा और दूसरा वह हतोत्साह मनोवृत्ति जो योरोप के प्रभुत्वपूर्ण संघात के कारण भारतीय समाज में उत्पन्न हुयी थी। छायावाद का मानसिक प्रेरणा स्रोत पलायनवाद है न कि अंग्रेजी साहित्य की रूमानी परम्परा। हाँ यह अवश्य है कि योरोप के प्रभाव ने उसे निखरने की परिस्थिति प्रदान की। साम्यवादी विचारधारा के प्रभाव में जिस प्रयोजनवादी साहित्य का सृजन हुआ उसे प्रगतिवाद की संज्ञा दी जाती है। प्रगतिवादी रचना को माध्यम बनाया जाता है उस बौद्धिक उद्बोधन का जिसके माध्यम से वर्तमान की मान्यताएं नष्ट होकर एक नय समाज की मान्यताओं में विकसित होंगी। वर्तमान भारतीय काव्य साहित्य के मुख्य आधार रहे हैं राष्ट्रवाद सांस्कृतिक पुनरुन्नयन पलायनवाद फ्रायडवाद और साम्यवाद। ये आधार योरोप की देन हैं और योरोप के संघात से उत्पन्न हुए हैं।

गद्य और गद्य साहित्य का विकास निश्चय ही अंग्रेजी भाषा का प्रत्यक्ष प्रभाव है। भारत में गद्य की परम्परा काव्य शैली में निहित थी। अंग्रेजी राज की स्थापना के समय जैसा कि ग्रियर्सन का मत है हिन्दी गद्य अस्तित्व में आ चुका था किन्तु वह इतना सुगठित और विकसित नहीं था जितना कि वर्तमान गद्य है। गद्य साहित्य में कहानी, उपन्यास और नाटक का विकास मुख्य है। कहानी और उपन्यास की परम्परा भारत में थी। बाणभट्ट की कादम्बरी भारत का पहला उपन्यास है। सिंहासन बत्तीसी और बैताल पच्चीसी जैसी कहानियाँ भी भारत में थी। किन्तु यहां के उपन्यास और कहानी में यथार्थ जीवन का चित्रण और भाव प्रवणता उस योरोपीय परम्परा से आए हैं जो यथार्थवादी परम्परा के रूप में सामाजिक नव जागृति के प्रभाव से योरोप में जन्म ले चुकी थी। यह योरोपीय प्रभाव का परिणाम कहा जा सकता है कि वर्तमान भारत के उपन्यास और कहानी वास्तविक जीवन के अधिक समीप आ गये। नाटक सम्राटों और देवताओं के संसार से निकल कर इहलौकिक सामान्य जीवन के अधिक समीप आ गया। राष्ट्रीयता, पुनरुन्नयन और सामाजिक समस्याओं का निराकरण और नव निर्माण कहानी और उपन्यास के मुख्य प्रेरक हो

---

1 भट्ट गौरीशंकर जौनसारी लोकगीतों में रोमांस प्राच्य मानव वैज्ञानिक वाल्यूम III

गये। प्रेमचन्द के उपन्यास राष्ट्रीयता, पुनरुत्थान और सामाजिक नवनिर्माण की भावनाओं से प्रेरित हैं, जबकि द्विजेन्द्रलाल राय और प्रसाद के नाटक राष्ट्रीयता की भावना को उद्बोधित करने की प्रेरणा से। इनके नाटकों के कथानक भारतीय इतिहास की उन्हीं परिस्थितियों और घटनाओं से सम्बन्धित हैं जिनमें राष्ट्र संकट में था और राष्ट्रीय भावना तथा गौरव को जगाने की आवश्यकता थी। द्विजेन्द्रलाल राय तथा प्रसाद के नाटकों में योरोपीय रंगमंच की परम्पराओं के प्रभाव का भारतीय रंगमंच की परम्पराओं से समन्वित भारतीय रूप देखने को मिलता है। जिस प्रकार योरोप में फ्रायड के सिद्धान्तों की बढ़ती हुई लोकप्रियता के प्रभाव के कारण, उपन्यासकारों तथा नाटककारों को अपने पात्रों के मानसतल में पैठ कर उनमें अन्तर्निहित मानसिक द्वन्द्व तथा संघर्ष को चित्रित करने की प्रेरणा मिली, उसी प्रकार भारत में भी ऐसे चित्रण की प्रेरणा मिली। किन्तु, जिस प्रकार लेखकों के फ्रायड के सिद्धान्तों और उनकी कमियों से परिचित न होने के कारण योरोप के साहित्य सृजन में यथार्थता के नाम पर ऐन्द्रियता का समावेश हुआ, वैसा ही भारत में भी हुआ। जिस प्रकार, चित्रकला के क्षेत्र में कला के लिए कला वाले योरोपीय सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा, वैसे ही नाटक, उपन्यास और कहानी पर इस सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा। किन्तु, जैसा कि योरोप में आयी हुयी मानवतावादी विचारधारा की माँग थी, नाटक, उपन्यास और कहानी प्रयोजनवादिता से अछूते न रह सके। योरोप की भाँति भारत में भी कला और साहित्य का सृजन वादों (isms) के चक्रव्यूह में फँसा गया।

काव्य के क्षेत्र में सबसे क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा छन्द, उपमा उपमेय के प्रयोगों और अभिव्यक्ति की शैली पर। हिन्दी-काव्य के इतिहास में आधुनिक काल के विकास के पहले की अवस्था को रीतिकाल की संज्ञा दी जाती है और उसे रीतिकाल इसलिए कहा जाता है कि उस काल में काव्याभिव्यक्ति के माध्यम प्रतीक, उपमा उपमेय और विषय-वस्तु परम्परागत थे और जहाँ वे नये थे वहाँ उनका किसी-न-किसी रीति से योजन का प्रयास किया जाता था। उदाहरणार्थ, उस काल का सारा भक्ति और शृंगारिक काव्य राधा और कृष्ण के माध्यम से वर्णित होता था। नायिका-भेद और नायिका के नख शिख का वर्णन भी इसी माध्यम से होता था। चन्द्र, चकोर, पुष्प और भ्रमर ही सौन्दर्य के मुख्य उपमान थे। सारी काव्याभिव्यक्ति, रूढ़िगत होने के कारण पद्धति-सी थी और इस कारण, उसमें प्रसाद गुण और स्वाभाविकता (Spontaneity) और जन-सुलभता का अभाव था। योरोपीय सम्पर्क का मुख्य प्रभाव यह हुआ कि साहित्यिक रूढ़ियों के प्रति एक प्रकार का विद्रोह सा उठ खड़ा हुआ। जिस प्रकार, तत्कालीन समाज में रूढ़ि के प्रति विद्रोह की भावना पनपी उसी प्रकार काव्य में भी हुआ। छायावादी कविता का जन्म इसी विद्रोह से हुआ था और छायावादी कवि ने प्रतीक, छन्द, उपमाओं और उपमान का नये सिरे से

गढा[1]। किन्तु, छायावादी कविता स्वयं अपने द्वारा निर्मित रूढ़ियों में ग्रसित हो गयी। दूसरी ओर, यदि परम्परागत काव्य आलम्बनों का प्रयोग भी किया गया तो उन्हें नये सामाजिक सन्दर्भों में ढाला गया। उदाहरणार्थ, मैथिलीशरण गुप्त ने साकेत प्रबन्ध-काव्य में, परम्परागत रामकथा के आधार पर नयी मानवतावादी सामयिक अर्हाओं का प्रतिपादित करने का प्रयास किया। भाव प्रवण छोटे छोटे गीत और अतुकान्त छन्द लिखने की परम्परा इसी काल में विकसित हुयी है और वह अंग्रेजी भाषा की रूमानी परम्परा की लिरिकल प्वटरी (Lyrical Poetry) और ब्लैक वर्स (Blank Verse) से प्रेरित है। काव्याभिव्यक्ति में व्यक्तिवादिता और परम्परा के अतिक्रमण की भावना का चरम विकास उस शैली में हुआ है जिसे प्रयोगवाद कहा जाता है।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि अंग्रेजी राजकाल में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा हो गयी थी। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से, यूरोपीय ज्ञान विज्ञान का भारत में प्रसार करने का प्रयास किया गया। किन्तु साथ ही साथ, ज्ञान विज्ञान को जन सुलभ बनाने की समस्या बनी रही। यह अवश्य है कि संस्कृत ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद होने के कारण अंग्रेजी भाषा भाषी लोगों को भारत का प्राचीन ज्ञान विज्ञान सुलभ हो गया। किन्तु फिर भी समस्या बनी ही रही। उधर, ईसाई मिशनरियों के सामने बोल चाल की भाषा में ईसाई धर्म का प्रसार करने की समस्या थी। अतः, जिस प्रकार मुसलमानों ने (बोलचाल की भाषा को साहित्यिक अभिव्यक्ति के स्तर पर लाने का प्रयास किया था उसी प्रकार ईसाई मिशनरियों ने बोल चाल की प्रादेशिक भाषाओं को साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ किये। सन् सत्रह सौ उनसठ में टामस स्टीफेंस नामक मिशनरी ने कोंकणी में ईसा-पुराण लिखा। मदुरा मिशन का बेस्ची नामक मिशनरी तामिल का पण्डित था। बिशप काल्डवेल को द्राविड़ भाषाओं का उद्धारक माना जाता है। सिरामपुर (बंगाल) के मिशनरी हिन्दी, उर्दू और बंगला में ईसाई धर्म का प्रचार करते थे। मिशनरियों ने प्रादेशिक भाषाओं के व्याकरण लिखे उनकी लिपियों को निर्धारित किया, टाइप बनाकर प्रेस खोले और अखबार निकाल कर गद्य को विकसित किया।"[2] इसका परिणाम यह हुआ कि प्रादेशिक भाषाओं का गद्य और व्याकरण अंग्रेजी के गद्य और व्याकरण से प्रभावित हुआ। भारत में योरोपीय ज्ञान-विज्ञान अंग्रेजी भाषा के माध्यम से आया और जब उस ज्ञान विज्ञान को प्रादेशिक भाषाओं में लाने का प्रयास किया गया तो अंग्रेजी भाषा के शब्द और वाक्य विन्यास का प्रभाव और भी बढ़ा। दूसरी ओर, अंग्रेजी भाषा के मुहावरों का प्रादेशिक

---

1 देखिये सुमित्रानन्दन पंत द्वारा रचित पल्लव की भूमिका और प्रसाद की कविता विशेषतः उनका आँसू नामक खण्ड काव्य।

2 दिनकर रामधारीसिंह संस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ 410

भाषाओं में भारतीयकरण हुआ है। भारत में अंग्रेजी, विद्वत्ता और पाण्डित्य की भाषा रही है जिसके कारण, भारत में अंग्रेजी की आलंकारिक और जटिल शैली का विकास हुआ। अंग्रेजी की इस शैली के प्रवाह ने भारतीय भाषाओं, विशेषतया हिन्दी, में आलंकारिक और जटिल शैली को जन्म दिया। अंग्रेजी में जटिल शैली के विकास का एक अन्य कारण भी है। आज हिन्दी का प्रयोग योरोपीय विषय वस्तु को अभिव्यक्त करने के लिये किया जा रहा है—वह विषय वस्तु जो अंग्रेजी में है और जिसके लिये हिन्दी में शब्द नहीं है। ऐसी दशा में सारा अभिव्यक्ति विधान अंग्रेजी के प्रतिरूप के अनुसार ढलकर शैली को जटिल बना देता है। योरोपीय विषय-वस्तु को अंग्रेजी से हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं में लाकर उन्हें सुगम बनाने की समस्या योरोपीय संघात से जन्मी है और इसी संघात ने अंग्रेजी बनाम हिन्दी के प्रश्न को जन्म दिया है। योरोपीय संघात के कारण आज यह समस्या उठ खड़ी हुई है कि हिन्दी का कितना अंग्रेजीकरण हो और कितना उसे स्थानीय बोली या बोलियों के समीप लाया जाय तथा कितना संस्कृत के समीप।

६

धर्म : हिन्दुत्व और ईसाइयत

जिस प्रकार, भारत में मुसलमानों के प्रवेश और उनकी राजनीतिक सत्ता स्थापित होने के साथ-साथ, हिन्दुत्व पर इस्लाम का संघात पड़ा उसी प्रकार, ज्यों-ज्यों भारत का योरोप से सम्पर्क बढ़ा और ज्यों-ज्यों भारत पर योरोप का राजनीतिक-आर्थिक प्रभुत्व बढ़ता गया, त्यों-त्यों भारत में ईसाइयत का प्रचार किया गया और, उसके फलस्वरूप, भारत ईसाइयत के संघात में आया। इस्लाम की भाँति, ईसाइयत भी मिशनरी मजहब था और उन लोगों का मजहब था जिनका भारत पर राजनीतिक प्रभुत्व था। जिस प्रकार, मुसलमानों के राज्य काल में इस्लाम को राजनीतिक संरक्षण मिला हुआ था, उसी प्रकार पुर्तगालियों और अंग्रेजों के शासन में ईसाइयत को भी राजनीतिक संरक्षण मिला हुआ था। जिस प्रकार मुसलमानों का राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित होने के पहले भारत का इस्लाम से सम्पर्क स्थापित हो चुका था उसी प्रकार भारत पर योरोपीय राष्ट्रों का राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित होने के पहले, भारत में ईसाइयत का आगमन हो चुका था। जिस प्रकार, मुसलमानों की राजनीतिक सत्ता स्थापित होने के पहले इस्लाम एक शान्तिप्रिय, रहस्यवादी, मजहबी आस्था के रूप में भारत आया था उसी प्रकार ईसाइयत भी एक संन्यासमूलक रहस्यवादी अहिंसक किन्तु मजहबी तथा मठवादी आस्था के रूप में भारत आयी था। जिस प्रकार मुसलमानों की राजनीतिक सत्ता स्थापित होने के बाद, इस्लाम ने एक [illegible]

परिवर्तक के आन्दोलन का रूप ग्रहण किया उसी प्रकार ज्यों ज्यों भारत में योरोपीय सत्ताओं का राजनीतिक प्रभुत्व बढ़ा इसाइयत ने भी एक आक्रामक धर्म परिवर्तक आन्दोलन का रूप ग्रहण किया। शासकों का धर्म होने के कारण इसाइयत ने भारतीय धर्मों, जिनमें हिन्दुत्व, इस्लाम और आदिवासी धर्म मुख्य हैं, के प्रति अनादर और तिरस्कार का रुख अख्तियार किया जिसका परिणाम हुआ वह बौद्धिक कोलाहल जिसने हिन्दू धर्म में स्व आलोचना, पुर्नविवचन, पुनर्नयन और सुधार की उस प्रक्रिया को जन्म दिया जिसे आधुनिक भारत की सामाजिक नवजागृति की प्रक्रिया का नाम दी जाती है।

यह कहना कि आधुनिक भारत की सामाजिक नवजागृति का एकमात्र कारण इसाइयत ही है वस्तुत, एक जटिल बहुकारकी प्रक्रम के प्रति एकांगी दृष्टिकोण अपनाना है।[1] वास्तविकता यह है कि जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ में कहा जा चुका है, योरोपीय सभ्यता का बौद्धिक पक्ष इसाइयत के ही पहलू में पला है और इस कारण, जहां जहां योरोपीय सभ्यता का संघातकारी प्रभाव पड़ा है इसाइयत का भी प्रभाव पड़ा है। इसाइयत योरोपीय सभ्यता के प्रसार का एक मुख्य माध्यम और अग्रदूत रही है। इसी कारण ज्यों ज्यों भारत में योरोपीय सभ्यता का संघातकारी प्रभाव बढ़ा इसाइयत का भी संघात बढ़ता गया। भारत के वर्तमान सुधारवादी आन्दोलन एकमात्र इसाइयत के प्रभाव की ही उत्पत्ति नहीं हैं। इसाइयत ने अपने युक्तियुक्त और मानवतावादी विचारों के कारण सुधार के लिए बौद्धिक प्रेरणा दी और पूंजीवाद तथा प्रौद्योगिकी के प्रभाव ने इसाइयत द्वारा प्रेरित सुधारों के लिए माग प्रशस्त किये। भारतीय समाज और संस्कृति के जिन रूपान्तरणों का वर्णन किया जा चुका है वे भी उतने सशक्त परिवर्तनकारी कारक थे जितना कि इसाइयत थी।

इसाइयत के संघात से धर्म में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या के लिए भारत में इसाइयत के संक्षिप्त इतिहास और संघात का विश्लेषण आवश्यक है। भारत में इसाइयत के दो रूप रहे हैं—एक ईसा मसीह द्वारा प्रतिपादित और उनके जीवन में निहित संन्यासवादी संन्यासयुक्त पारलौकिक मनुष्य में देवत्व का दर्शन करने वाला भक्ति मार्गी रूप जिसे एशियायी इसाइयत कहा जाता है। यह रूप भारत में ईसा की पहली शताब्दी में आ गया था और इसके लाने वाले थे सीरिया के इसाई जो करल में आ बसे थे। भारत के लिए वह एक शान्तिप्रिय मजहबी मार्ग था उसी

1 ईसा की पहली शताब्दी में इसाइयत का जो रूप भारत में आया था, उसके प्रणेता सेंट टामस थे और यह सेंट पीटर तथा सेंट पाल द्वारा प्रतिपादित रूपों से भिन्न था। योरोप वालों को भारत में प्रतिपादित इसाई धर्म का पता था। कहते हैं इंग्लैण्ड वालों को मद्रास के मैलापुर के सेंट टामस के गिरजाघर का पता था और वहां के राजा अल्फ्रेड ने इस गिरजाघर में उपहार चढ़ाने के लिए अपना दूत भी भेजा था—दिनकर

प्रकार से जैसे हिन्दुत्व के अन्य भाग थे। यही कारण है भारत में उसे स्वीकार किया गया और उसके प्रति आदरपूर्ण सहनशील दृष्टिकोण अपनाया गया। जैसा कि केरल के सीरियाई ईसाई (Syrian Christian) कहे जाने वाले ईसाईयों के सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन से स्पष्ट है, उनमें ईसाइयत का काफी भारतीयकरण हुआ है। इन ईसाइयों में पांच सम्प्रदाय हैं जो उसी प्रकार के अन्तर्विवाही समूह हैं जैसे हिन्दू जातियाँ[1]।

ईसाइयत का दूसरा वह रूप है जो आचार धर्मविद्यायुक्त (Ethical-Theological) इहलौकिक और मिशनरी है और जो यूनानी और रोमन प्रभावों के अन्तर्गत पश्चिम में विकसित हुआ है। यही वह रूप है जिस पर रोमन सामाजिक संगठन और साम्राज्यवादिता का प्रभाव रहा है जिसका प्रतीक है पोप अथवा महान धर्माधिकारी। इसी रूप पर उस यूनानी विचारधारा का प्रभाव पड़ा है जो संसार को सभ्य असभ्य (ईसाइयत के सन्दर्भ में ईसाई और गैर ईसाई) की द्विभाजिता में बाँटती रही है। पूँजीवादी, योरोपीय सभ्यता सम्बद्ध ईसाइयत का यह रूप उसी प्रकार से आक्रामक रहा है जिस प्रकार से योरोपीय सभ्यता। ईसाइयत का यही वह रूप है जिसे इसके प्रतिष्ठापकों ने संसार में फैलाने का प्रयास किया है। जिस मध्यकालीन तथा अर्वाचीन योरोप में इसका जन्म हुआ है, वह अपने को संसार में सर्वश्रेष्ठ मानता रहा है क्योंकि संसार पर उसका राजनैतिक आर्थिक प्रभुत्व रहा है और आज भी है। ईसाइयत का यह रूप मुख्यतः योरोपवादी रहा है और इस कारण सभ्यता संस्कृति के संघर्ष का कारण भी। भारत में ईसाइयत के इस रूप का प्रवेश पुर्तगालियों के साथ-साथ होता है। भारत में सोलहवीं सदी में पुर्तगाली मिशन आया। मदुरा में स्थापित और मदुरा मिशन के नाम से विख्यात इटली का मिशन सत्रहवीं शताब्दी में और डेनमार्क का मिशन अठारहवीं शताब्दी में।

पुर्तगाली मिशनरियों के कार्यों और प्रभावों का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। यहां पर यही कहना यथेष्ट होगा कि पुर्तगाली मिशनरियों ने, एक ओर, केरल के ईसाइयों में से भारतीय विश्वास और प्रभावों को हटाने तथा दूसरी ओर जबरदस्ती धर्म परिवर्तन करके धर्म प्रचार का प्रयास किया। इसमें उनको सफलता मिली किन्तु भारत में ईसाई धर्म तथा मिशनरी बदनाम भी हुए[2]। जेसुवाइट

---

1. कोबर, ए० एल० एन्थ्रोपालोजी पृष्ठ 433
2. अबे डूबे के अनुसार, सन् सोलह सौ सोलह में एक अंग्रेज पादरी श्री टरी को यह बताया गया था कि ईसाई धर्म शैतान का धर्म है, ईसाई अत्यधिक शराब पीते हैं, बुरे काम करते हैं, दूसरों को सताते हैं और बुरा भला कहते हैं। उसी पादरी के अनुसार, भाव-ताव करते समय दुकानदार अपने ग्राहक से अक्सर यह कह देता था कि 'मैं ईसाई नहीं हूँ जो तुम्हें धोखा दूंगा'।

पादरियों को अकबर और जहांगीर से संरक्षण मिला और इस कारण उनका प्रचार अधिक प्रभावपूर्ण रहा। जहांगीर के राज्य काल में जेसुवाइट पादरियों ने आगरे में एक कालेज और गिरजाघर की स्थापना की थी। जेसुवाइट मिशनरियों के प्रभाव का एक कारण यह भी है कि उन्होंने धर्म को छोड़ कर, अन्य बातों में भारतीय बाने को अपना लिया था। यह जेसुवाइट पादरियों की ही धारणा थी कि जब तक किसी देश में वहीं के पादरी ईसाइयत का प्रचार नहीं करेंगे तब तक वहां ईसाइयत का प्रचार नहीं होगा। मदूरा मिशन के लोगों ने, भारतीय जाति प्रथा के आधार पर, अलग-अलग जातियों के लिए अलग अलग चर्चों को संगठित करने का प्रयास किया। इन लोगों ने ईसाई धर्म में दीक्षा लेने वालों को अपनी अपनी जाति की प्रथाओं को बनाये रखने के लिए प्रोत्साहित किया। इस मिशन के मिशनरियों ने अपने को दो श्रेणियों में बांटा—एक ओर वे मिशनरी थे जो ब्राह्मणों में ईसाइयत का प्रचार करते थे, ब्राह्मणों की भांति जनेऊ धारण करते थे, ब्राह्मणों के अलावा किसी अन्य का अभिवादन नहीं करते थे और न तो किसी को छूते थे और न किसी का छुआ हुआ भोजन करते थे। दूसरी ओर, वे मिशनरी थे जो निम्न जातियों में धर्म प्रचार करते थे उन्हीं की भांति फटे कपड़े पहनते थे और उन्हीं जैसा सादा भोजन करते थे। ब्राह्मणों में धर्म प्रचार करने वाला मिशनरी निम्न जातियों में काम करने वाले मिशनरी से वैसे ही दूर रहता था जैसे ब्राह्मण निम्न जाति के लोगों से दूर रहता था। डेनमार्क के मिशन के मिशनरियों ने भी मदूरा मिशन के मिशनरियों की भांति ईसाइयत का परम्परावादी हिन्दू-सामाजिक संरचना के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया किन्तु उसमें उन्हें सफलता न मिली। ईसाई सिद्धान्तों के विरुद्ध होने के कारण आगे चलकर, पोप ने ऐसी क्रियाओं को रोक दिया।

ज्यों-ज्यों योरोप का संसार पर प्रभुत्व बढ़ा और योरोप में मिशनरीवाद, मुक्तिमुक्त और प्रसारवादी ईसाइयत के रूप में विभिन्न राष्ट्रवादी प्रोटेस्टैंट सम्प्रदायों का अभ्युदय हुआ ईसाइयत का मिशनरीवादी रूप भी फलता रहा। लार्ड विलियम बैंटिंक के समय से भारत में अनेक कैथोलिक (Catholic) और प्रोटेस्टेंट चर्च संगठित होकर ईसाई धर्म का प्रचार कर रहे थे। यह ईसाइयत का आक्रामक रूप था और भारत में उसके प्रचारात्मक और मिशनरी आक्रमण का मुख्य निशाना था हिन्दुत्व। यह प्रचारात्मक आक्रमण इतना उग्र हो रहा था कि लार्ड मिन्टो को विवश होकर हिन्दुत्व के विरुद्ध मिशनरी प्रचार पर रोक लगानी पड़ी। किन्तु सन् अठारह सौ तेरह में ईसाइयों को धर्म प्रचार की पुनः छूट मिल गयी क्योंकि इस काल के अंग्रेज शासकों और मिशनरियों का यह विश्वास था कि अंग्रेजी शिक्षा और ईसाइयत के माध्यम से भारत का सांस्कृतिक योरोपीयकरण होगा और उससे योरोप का राजनैतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक प्रभाव भी स्थायी रहेगा।

भारत दो प्रकार से ईसाइयत के सम्पर्क में आया—एक ईसाई मिशनों (Christian Missions) के सम्पर्क से और दूसरे अंग्रेजी शासन, अंग्रेजी शिक्षा, योरोपीय साहित्य और योरोपीय जीवन यापन के तरीकों के बढ़ते हुए प्रभाव से। योरोपीय सभ्यता का एक बड़ा अंश ईसाई विचार और सिद्धान्तों से प्रेरित रहा है और उन्हीं के आधार पर निर्मित भी हुआ है। पहले प्रकार का सम्पर्क प्रत्यक्ष रहा है जबकि दूसरे प्रकार का अप्रत्यक्ष। भारत में ईसाई मजहबी आस्था के दो पहलू रहे हैं—एक गतानुगतिक और मिशनरी और दूसरा विवेकी, उदारवादी और मानवतावादी[1]। ईसाइयत के गतानुगतिक और मिशनरी रूप ने कभी भी हिन्दुत्व को उस उदार दृष्टि से नहीं देखा जिस रूप से हिन्दुत्व ने अन्य धर्मों को देखा। यह ईसाइयत के गतानुगतिक और मिशनरी रूप का परिणाम था कि सन अठारह सौ तेरह के बाद से, ईसाई मिशनरियों ने गली गली में हिन्दू समाज और संस्कृति के व्यावहारिक पक्ष की एक तीव्र, अनुदार आलोचना प्रारम्भ कर दी[2]। बहुदेववाद, अवतारवाद, कर्मवाद और अनेक रीति रिवाजों की ईसाईयों ने निरीह आलोचना प्रारम्भ की और यह दिखाने का प्रयत्न किया कि ईसाइयत हिन्दुत्व से श्रेष्ठ है और हिन्दुत्व की अपेक्षा अधिक सुनिश्चित है। योरोप के सुधारवादी आन्दोलन के प्रभाव में, ईसाइयत में उदार मानवतावादी दृष्टिकोण का भी समावेश हुआ था। इस दृष्टिकोण के आधार पर, ईसाइयों ने, एक ओर, समतावादी विचारों का प्रचार किया और दूसरी ओर, उन

---

1 महेन्द्र, ए० आई० ओमेले द्वारा सम्पादित माडर्न इण्डिया एण्ड दि वेस्ट में पृष्ठ 305

2 डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने अपनी पुस्तक आधुनिक साहित्य में ईसाई मिशनरियों द्वारा की जाने वाली ऐसी आलोचना के कुछ उदाहरण दिये हैं जो इस प्रकार हैं —

"वह (ईसा मसीह) तुम्हारे देवताओं के समान नहीं है जो मरमिटे हैं। रामचन्द्र लक्ष्मण के शोक में सरयू नदी में डूब मरा। कृष्ण प्रभास-क्षेत्र के वन में भील के शर से मारा गया। ब्रह्मा का सिर शिव ने काटा। विष्णु को शिव, जो उसके काले बाल का अवतार था, निगल गया। शिव ने भीमसेन के डर के मारे हिमालय में प्राण तजा। इस रीति से सब देवता जिन पर तुम मुक्ति की आशा रखते हो मरमिटे ... मैं बुरा तो हूं, परन्तु देवताओं से बुरा नहीं हूं। वरन उनसे कहीं भला हूं। शिव के समान जाति से अनादरित और अप्रतिष्ठित नहीं हुआ और ब्रह्मा की नाईं कामातुर होके अपनी कन्या से कुकर्म नहीं किया और विष्णु की नाईं पराई स्त्री को नहीं ठगा और उनके अवतारों की भांति रीति प्रतिज्ञा भजक और निर्दोषियों का घातक और नास्तिक मत और अधम का उपजायक नहीं हुआ और इन्द्र के समान गुरु की पत्नी को भ्रष्ट नहीं किया"— विनकर से उद्धृत पृष्ठ 430

धार्मिक मान्यताओं की आलोचना करना आरम्भ कर दी जो बाल विवाह, विधवा-विवाह निषेध, स्त्री अधिकार निषेध और जाति प्रथा को समयक समझी जाती थी। यह आलोचना वैसी ही थी जैसी कि बुद्ध और मध्यकालीन भारत के सुधारक सन्त कर चुके थे और जो हिन्दुत्व की उस गत्यात्मकता में निहित थी जिसका जन्म वैदिक काल में हो चुका था और जिसके आधार पर हिन्दुत्व में पुनर्परीक्षण, पुनर्निर्वचन, सुधार और गत्यात्मक समन्वय की प्रक्रिया का अभ्युदय हुआ था। राजाराम मोहन राय से प्रारम्भ होने वाली सामाजिक नवजागृति की प्रकृया हिन्दुत्व में निहित इसी प्रक्रिया का आधुनिक ऊर्ध्वगामी विकास है। किन्तु, इस प्रकार की आलोचना ने पहले प्रतिक्रिया, विक्षुब्धता, कट्टरवादिता और गतानुगतिकता को उसी प्रकार जन्म दिया जैसा कि इस्लाम के सम्पात से हुआ था। हिन्दुत्व इसाइयत की ओर आकर्षित हुआ और उसके प्रति क्षुब्ध भी। राधाकृष्णन ने ठीक ही कहा है कि हिन्दुत्व में धार्मिक राष्ट्रीयता के प्रति जितना असन्तोष और विद्रोह है उतना किसी अन्य वस्तु के प्रति नहीं। धर्म के रूप में, हिन्दुत्व जीवन को एक स्वस्थ सामञ्जस्य में लाने का प्रयास जबकि इसाइयत और इस्लाम जीवन को अलग अलग पूर्वनिर्धारित, अटल और शाश्वत समझे जाने वाले सत्य में ढालने के प्रयास। एक स्वस्थ सामञ्जस्य के लिए हिन्दुत्व ने इसाइयत को अपनाया किन्तु वहीं तक जहां तक सामञ्जस्य सम्भव था[1]।

इसाइयत का जितना प्रभाव हिन्दुत्व पर पड़ा, उतना किसी अन्य धर्म पर नहीं पड़ा। हिन्दुत्व में इसाइयत की जितनी उदार समालोचना हुई तथा हिन्दुत्व में

---

1 एक बार कलकत्ते के एक मिशनरी सम्मेलन में जब महात्मा गांधी से कहा गया कि ईसा की शिक्षाओं का कोई कितनी ही तत्परता से पालन क्यों न करे किन्तु वह तब तक इसाई नहीं है जब तक वह ईसा के अमरत्व का अनुभव न करे, तो महात्मा गांधी का उत्तर था, "मैं नहीं कह सकता कि ईसा से आपका क्या तात्पर्य है। यदि आपका तात्पर्य ऐतिहासिक पुरुष ईसा से है, तो मुझे उसके अस्तित्व का अनुभव नहीं होता है। यदि आपका तात्पर्य एक ऐसी सत्ता से है जो मुझे भाग दर्शन कराती है, जिसका अस्तित्व मेरे हाथ, पैर और श्वास की अपेक्षा मेरे अधिक समीप है तो, मैं उसके अस्तित्व का अवश्य अनुभव करता हूं। अगर उसके अस्तित्व का मुझे आभास न होता तो सम्भवतः बहुत पहले ही मेरा हुब्दरपान गंगाजल में होता। आप चाहे उसे ईसा कहें या कृष्ण मुझे कोई सरोकार नहीं"। राधाकृष्णन के अनुसार महात्मा गांधी का उत्तर वही उत्तर है जिसकी एक हिन्दू से आशा की जा सकती है (राधाकृष्णन ओ मेमे द्वारा सम्पादित माडर्न इण्डिया एण्ड दि वेस्ट में पृष्ठ 349।

ईसाइयत के सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जितना समावेश किया गया, उतना किसी अन्य धर्म में नहीं हुआ। मैक्डेल के अनुसार ईसा की शिक्षाओं का जितना हिन्दुओं ने सराहा उतना मुसलमानों ने नहीं सराहा[1]। किन्तु, हिन्दुत्व में ईसाई राद्धान्त (Christian Dogmas) को निश्चित करके अपनाया गया। हिन्दुत्व एक सतत रूपान्तरण प्रक्रिया रहा है। ईसाइयत के प्रभाव ने इसी रूपान्तरण प्रक्रिया को प्रोत्साहित किया। पश्चिम के साथ साथ, ईसाइयत के संघात के फलस्वरूप, हिन्दुत्व में नारी शिक्षा पर जोर दिया गया, जाति प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन चला, युक्तियुक्त विचारधारा फैली, अस्पृश्यों और आदिवासियों को आदरपूर्ण सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान करने के आन्दोलन और प्रयास हुए तथा हिन्दुत्व को उसी प्रकार के सामाजिक मजहबी सम्प्रदायों में बाँधने का प्रयास किया गया जैसा कि ईसाइयत में है। ईसाइयत के संघात से निराकारी एकेश्वरवाद को एक बार फिर प्रोत्साहन मिला। ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज और आर्यसमाज उसी प्रकार से निराकार एकेश्वरवादी सम्प्रदायों के रूप में आये जिस प्रकार ईसाइयत के सम्प्रदाय हैं। इन सम्प्रदायों को, मध्यकालीन भारत की परम्परा में, 'पंथ' न कह कर 'समाज' की संज्ञा दी गई जो ईसाइयत के मजहबी संगठन का प्रभाव है। आर्यसमाज मन्दिर और ब्रह्मसमाज के प्रार्थना-मन्दिर हिन्दुत्व के आँगन में प्रोटेस्टेंट चर्च की प्रतिकृति सी लगते हैं। ईसाइयत में धर्मनिरपेक्ष और धर्मसापेक्ष में अन्तर किया जाता है। इस कारण, ईसाइयत के प्रभाव से हिन्दुत्व में भी धर्मनिरपेक्षिता तथा धर्मसापेक्षिता की समस्या उत्पन्न हुयी। इस्लाम और ईसाइयत के सम्मिलित संघात ने हिन्दू राष्ट्रवादिता को जन्म दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू समाज धर्मनिरपेक्ष तथा धर्मसापेक्ष राष्ट्रवादिता के प्रवाहों में बँट गया। ईसाई मिशनरियों ने हिन्दुत्व के दार्शनिक आधारों की निरन्तर ही आलोचना की है। उनकी आलोचना के मुख्य विषय रहे हैं हिन्दू कर्मवाद, मायावाद, अवतारवाद और हिन्दुत्व की बहुमूर्तिपूजकता। इस आलोचना के फलस्वरूप हिन्दुत्व में कर्मवाद को सरल बनाने पर जोर दिया गया, मायावाद विरोधी आन्दोलन चला और पुरोहितवाद की आलोचना की जाने लगी। ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज में कर्मों (Rituals) को सरल और संक्षिप्त बनाने पर जोर दिया गया और एक सीमा तक उसमें सफलता भी मिली। आर्यसमाज के द्वारा पहली बार यह घोषित किया गया कि पौरोहित्य कार्य किसी भी जाति के सदस्य द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है बशर्ते कि उसे पौरोहित्य कार्य की विधि आती हो।

राधाकृष्णन ने लिखा है कि पश्चिम के प्रभाव से हिन्दुत्व में अभिनव विचार धाराओं के मार्ग प्रशस्त हुए उसके मानसिक क्षितिज का क्षेत्र और भी बढ़ा और हिन्दुत्व में सार्वभौमिक विचारोन्मुखता बढ़ी। राज्य-संरक्षण से विहीन होने से, हिन्दुत्व

---

1 ओ मैले वही

अपनी धार्मिक सम्पन्नता और सुरक्षा के लिए, अपने में निहित सत्य तथा सनातन सामाजिक संरचना पर आधारित होना पड़ा। जैसाकि इस्लाम के संघात से हुआ था, पश्चिम के संघात से भी, हिन्दुत्व में जाति प्रथा को सुरक्षावादी कवच के रूप में अपनाया गया। हिन्दुत्व में, प्राचीन के प्रति श्रद्धालु दृष्टिकोण विकसित हुआ तो अर्वाचीन के प्रति निषेधनात्मक और रागात्मक दृष्टिकोण। इसीकारण, पश्चिम के संघात में, हिन्दुत्व की गत्यात्मकता प्राचीन और अर्वाचीन के समन्वय की गत्यात्मकता है। पश्चिम के संघात के प्रभाव में हिन्दुत्व के आधारभूत तत्वों को सार्वभौमिक विचार के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया जिसका प्रमाण है गुण कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था के रूप में, जाति व्यवस्था को सुयुक्तिकृत सिद्ध करके, उसे ससारव्यापी स्वाभाविक व्यवस्था के रूप में प्रतिपादित करना।

जैसाकि ब्रह्मसमाज आर्यसमाज और प्रार्थनासमाज के विकास से स्पष्ट है पश्चिम के संघात के प्रभाव में, हिन्दुत्व का एक ऐसे मजहब का रूप देने का प्रयास किया गया जिसका आधार, ईसाइयत की भाँति कुछ आचार नियमों के साथ, एक सामाजिक धार्मिक सिद्धान्त हो। किन्तु ये प्रयास सफल न सके। हिन्दुत्व को सामाजिक धार्मिक सिद्धान्त में ल्याने के साथ-साथ एक आचारी मजहब (Ethical Religion) बनाने की माग और प्रयास अब भी जारी हैं। हिन्दुत्व किसी एक ऐसे मजहब का रूप ले सकेगा या नहीं, यह कहना कठिन है। हाँ इतना अवश्य है कि किसी एक शाश्वत समझे जाने वाले सत्य के आधार पर, एक आचारी मजहब का रूप लेना हिन्दुत्व के स्वभाव के प्रतिकूल है। पर साथ ही साथ, हिन्दुत्व के आदर्श और व्यवहार में अन्तर रहा है। हिन्दुत्व में एक ओर समदर्शी का आदर्श रहा है तो, दूसरी ओर, जातिगत ऊँच-नीच के भेदभाव पर आधारित व्यवहार। जैसाकि राधाकृष्णन ने लिखा है हिन्दुत्व राष्ट्र राज्य पर आधारित, एक स्वस्थ नागरिक जीवन यापन का ढालने में असफल रहा है। हिन्दुत्व की यही कमजोरियाँ इस्लाम, ईसाइयत और पश्चिमी सभ्यता से मिलने वाली चुनौतियों का आधार रही हैं। हिन्दुत्व की ये कमजोरियाँ अप्राचीन नहीं प्राचीन हैं। हिन्दुत्व की वृद्धि और विकास में इन्हीं कमजोरियों को समयानुसार दूर करने का प्रयास है। यही कारण है कि ईसाइयत और पश्चिम के संघात से, हिन्दुत्व में नवनिर्माण की जिन समस्याओं और प्रक्रियाओं का जन्म हुआ है, हिन्दुत्व उनके प्रति सजग हुआ जिसके फलस्वरूप हिन्दुत्व में परिवर्तन के स्थान पर पुनरुत्थान हो अधिक हुआ है।

ईसाइयत के संघात से हिन्दुत्व को इस प्रश्न का सामना करना पड़ा कि आखिर हिन्दू धर्म और हिन्दुत्व है क्या ? न तो हिन्दुत्व के दार्शनिक स्तर समान रहे हैं और न व्यावहारिक स्तर। हिन्दुत्व के सामाजिक वैधिक आधारों का निरूपित करने वाले धर्मशास्त्र भी एकमत नहीं हैं। दार्शनिक हिन्दुत्व पर आधारित व्यवहार तथा प्रथायें और आदिरागी प्रथायें भारतीय समाज की दो सीमायें रही हैं और उनके

बीच में चलने वाली उत्तरोत्तर हिंदूकरण की प्रक्रिया के कारण जातियों और गण जातियों के रूप में अनेक समूह हैं जिनमें हिन्दू विश्वास और प्रथाओं का समन्वय हुआ है और हो रहा है जिसके कारण ये सभी एक ऊर्ध्वगामी सामाजिक सांस्कृतिक विकास प्रक्रिया में रहे हैं। हिंदूकरण की यह प्रक्रिया अभी सुगठित न हो पायी थी कि बुद्धवादी सुधार आन्दोलन ने उसे एक द्विभाजक विचार में बांध दिया। इस द्विभाजक विचार का जो समन्वय हो रहा था कि उसे इस्लाम ने ललकार दिया और इस्लाम के धक्के से हिंदुत्व अभी सम्हल न पाया था कि ईसाइयत के अभिघात ने उसे जकड़ लिया। इन सभी संघातों का परिणाम यह हुआ कि यह प्रश्न किया जाने लगा कि हिंदुत्व है क्या? ईसाई मिशनरियों ने समग्र हिंदू समाज को निम्नवर्णी तथा उच्चवर्णी हिंदुओं में विभाजित किया और निम्नवर्णी हिंदुओं को एक अलग सामाजिक समूह माना। इसी प्रकार हिंदू-समाज के सीमावर्ती समाज, आदिवासी समाज को भी उन्होंने हिंदू समाज से अलग करने की कोशिश की। अतः ईसाइयत के संघात से हिंदुत्व के सामने एकीकरण की समस्या आयी। बौद्धिक स्तर पर इसी समस्या ने हिंदुत्व को पुनः परिभाषित करने की समस्या का रूप लिया। यह इसी प्रभाव का परिणाम है कि आर्यसमाज के रूप में हिंदुत्व ने इस्लाम और ईसाइयत के मिशनरीपन को अपनाने की कोशिश की। दूसरी ओर हिंदुत्व क्या है यह एक समाजशास्त्रीय प्रश्न बन गया। इस प्रश्न के उत्तर दो रूपों में दिए जा रहे हैं—एक, धर्मशास्त्रों में निरूपित हिंदुत्व का निर्वचन करके और, दूसरा सामाजिक मानवशास्त्र की परम्परा में हिंदू प्रथाओं का निरीक्षणात्मक विश्लेषण करके[1]।

इस्लाम की भांति, भारत में ईसाइयत का प्रवेश भी उन्हीं सामाजिक स्तरों और प्रदेशों में हुआ जहां हिंदूकरण की प्रक्रिया अपूर्ण रही है। उच्चवर्णी जातियों के सामाजिक स्तर की अपेक्षा निम्नवर्णी जातियों के सामाजिक स्तर में ही ईसाइयत का अधिक प्रसार हुआ है। जिन प्रदेशों और स्थानों में निम्नवर्णी जातियों और आदिवासियों की संख्या अधिक रही है उन्हीं प्रदेशों और स्थानों में ईसाइयत का अधिक सम प्रवेश हुआ है। आसाम बिहार उड़ीसा, मध्यप्रदेश आंध्र मद्रास और केरल में

---

1 पहली अध्ययन प्रणाली में किए गए अध्ययनों में प्रमुख हैं के० एम० कपाड़िया द्वारा रचित हिंदू किनशिप स्ट्रक्चर, मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया, पी० एच० प्रभु द्वारा रचित हिंदू सोशल आरगनाईजेशन और हरीदत्त वेदालंकार द्वारा रचित हिंदू परिवार मीमांसा। दूसरी परम्परा के प्रमुख अध्ययन हैं एम० एन० श्रीनिवास द्वारा रचित रिलीजन एण्ड सोसाइटी इन इण्डिया, ललिता प्रसाद विद्यार्थी द्वारा रचित सेक्रेड काम्प्लेक्स आफ हिंदू गया। इधर कुछ वर्षों में इन दोनों प्रणालियों का समन्वय हुआ है जो उनकी पुस्तक हिंदू सोसाइटी से स्पष्ट है।

इसाइयों का अधिक पाया जाना इसका प्रमाण है। जहां और जिस स्तर पर हिंदुत्व का दार्शनिक-सामाजिक आधार सगठित था वहां इसाइयत को प्रवेश न मिल सका। इस्लाम की भांति इसाइयत का भी वहीं प्रवेश मिला जहां हिन्दुत्व की धार्मिक चेतना अस्पष्ट थी और जहां हिंदूकरण की प्रक्रिया या तो प्रारम्भ ही नहीं हुयी थी या यदि प्रारम्भ भी हुई थी तो वह कमजोर थी।

भारत में इसाइयत की अनेक कमजोरियां और कठिनाइयां रही हैं जिनके कारण भारत में इसाइयत का उतना प्रभावपूर्ण और व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा जितना कि भारत के बाहर अन्य देशों में पड़ा है। इसाई मिशनरी योरोपीय साम्राज्यवाद की धार्मिक सेना के रूप में आए और, इसकारण न तो उन्हें हिन्दुओं में जनप्रियता मिली और न मुसलमानों में। इसाई मिशनरियों ने अन्य धर्मों की कटु आलोचना करके यह दिखाने का प्रयास किया कि इसाई धर्म अन्य धर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। इसाइयत की पृष्ठभूमि और उससे प्रादुर्भूत असंतोष से उत्पन्न इस्लाम जैसे राष्ट्रवादी मजहब के लिए यह असहनीय था। अन्य धर्मों की अपेक्षा केवल एक ही धर्म की सर्वश्रेष्ठता निर्धारित करना हिन्दुत्व की आधारभूत मान्यता के विरुद्ध था क्योंकि हिन्दुत्व के लिए धर्म के मार्ग एक नहीं अनेक हैं। यही कारण है कि इस्लाम में इसाइयत को दूर रखा गया और हिन्दुत्व में उसे वहां तक अपनाया गया जहां तक जीवन के स्वस्थ समन्वय की मांग थी। इसाइयत का केवल एक भारतीय सत्य पर जोर देना, ईसा को अमर ईश्वरपुत्र मानना, इसाई मिशनरियों का एक नौकरशाही परम्परा में संगठित होना, मिशनरियों द्वारा अन्य धर्मों की निन्दा और इसाई मिशनरियों की सामाजिकता असहिष्णुता धर्मप्राण हिन्दुओं का कभी नहीं भाये[1]।

हिन्दू के लिए धर्म और दर्शन का उद्देश्य है आत्मज्ञान किन्तु, इसाइयत, एक धर्मविश्वास के रूप में सामाजिक भावों और अनुभूतियों पर आधारित है। अत, हिंदू की उन भारतीय जिज्ञासाओं की पूर्ति इसाइयत से नहीं हो पाई। इसाइयत व्यक्ति विशेष तथा उसके द्वारा निर्दिष्ट आचारों नियमों पर आधारित है न कि जीवन की शाश्वत समस्याओं पर प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्तों पर। आचार नियमों पर आधारित मतमतान्तरों के असामञ्जस्य में सामञ्जस्य ढूंढना और यदि सामञ्जस्य न मिले तो असामञ्जस्य का मंथन करना इस परम्परागत हिंदू आत्मा के सम्मुख यह इसाई मान्यता कि संसार में अलौकिक सत्यानुभव

---

1 यह सम्भव है कि आज सारा भारत नहीं तो कम से कम उसका एक बड़ा भाग इसाइयत का वरण कर सकता यदि भारत में आने वाले इसाई अपने प्रभु ईसा मसीह की भांति अपना जीवन ढाल सकते। यह निश्चित है कि पिछले पचास वर्षों में पश्चिमी संसार का जो दशा रही है उसके कारण अनेक भारतीयों ने ईसा के नाम में इसाइयत को ठुकराया है—नेहरु

का एक ही भाग है, कहाँ तक ठहर सकता है ? सम्भवतः इसी परम्परा से प्रेरित होकर स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि संसार की धार्मिक एकता, धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर हो सकती है न कि किसी व्यक्ति विशेष द्वारा किसी विशेष स्थान और काल में निर्देशित जीवन-यापन के नियमों से। हिन्दुत्व में अलौकिक सत्य के अनुभव का माध्यम है विचार और ध्यान। अतः जहाँ मानव मस्तिष्क ने दर्शन के आधार पर अलौकिक सत्य के अनुभव का प्रयास किया है वहाँ उस धर्म प्रणाली का महत्व स्वतः समाप्त हो जाता है जिसमें किसी व्यक्ति विशेष के अलौकिक सत्यानुभव को ही अंतिम मान कर दूसरों को उसका अनुभव कराने का प्रयास निहित है।

मेह्यु (Mayhew) के अनुसार, हिन्दू मस्तिष्क की परम्परानिष्ठा सहिष्णु दृष्टिकोण जिसमें राद्धान्तों (Dogmas) के विरुद्ध स्वाभाविक असन्तोष निहित है, हिन्दू सिद्धान्तों की अस्पष्टता और हिन्दू संस्थाओं की स्पष्ट सुनिश्चितता के कारण, हिन्दू विचार आक्रमण से परे हैं। समयानुसार जो आवश्यक हो उसे आत्मसात कर लेने की हिन्दू मस्तिष्क की क्षमता के कारण, वह किसी भी विरोधी अथवा अत्यधिक सुनिश्चित विचार अथवा सिद्धान्त से अपनी रक्षा करने में सफल होता है। हिन्दुत्व की शक्ति किसी एक विचार में केन्द्रित नहीं है और न उसमें कोई विचारों की पूर्व-निर्धारित उच्चावच परम्परा है—हिन्दू विचार रहस्यात्मक और लचीला है और इस कारण आघात प्रतिघात को सहते हुए हिन्दू विचार संरचना अक्षुण्ण बनी रहती है। अपनी इसी विशेषता के कारण, हिन्दुत्व ने तो अपने ढंग से ईसाइयत का वरण किया किन्तु ईसाइयत भारतीयता का वरण न कर सकी। मेह्यु (Mayhew) के ही अनुसार, अभी तक भारत में स्वयं ईसाइयत का कोई ऐसा भारतीय निर्वचन उस प्रकार नहीं कर गया है जिस प्रकार यूनानी, लैटिन, फ्रांसीसी और अंग्रेजी चर्चों ने ईसाइयत का अपना अलग निर्वचन करके, ईसाइयत को प्रभावित किया है। हिन्दू और मुस्लिम विचार पर भारतीय ईसाइयत का प्रभाव बहुत ही कम पड़ा है।

मेह्यु (Mayhew) के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दुत्व की कमजोरियाँ ही ईसाइयत के आघात में उसकी सहयोगियाँ सिद्ध हुयीं। हिन्दू विचार का बहुमुखीपन यदि एक ओर उसकी आलोचना का आधार बना तो, दूसरी ओर, उसकी सबलता का कारण भी। जिस जाति प्रथा के आधार पर ईसाइयों ने हिन्दुत्व की आलोचना की उसी जाति प्रथा ने ईसाइयत को भी अपने पंजे में जकड़ लिया। चूँकि निम्न-जातियाँ ईसाइयत की ओर उन्मुख हुयीं उच्च जाति के लोग ईसाइयत से विमुख ही न हो गए वरन निम्नजातियों का हिन्दूकरण करके उनमें जाति-संगठन का ढाँचा मजबूत बना लिया कि ईसाइयत उनमें भी प्रवेश न कर पाई[1]। इस्लाम की भाँति, ईसाइयत का भी

---

1 आर्यसमाज आन्दोलन के द्वारा उच्चवर्णी हिन्दुओं ने निम्नवर्णी हिन्दुओं में धार्मिक चेतना जगाई और उन्हें हिन्दुत्व के समीप लाए तथा उनमें यह

भारत मे बदलना पडा और किसी सीमा तक उसके मिशनरीपन का चुनौती भी मिली। पुर्तगाली मिशन के प्रसिद्ध मिशनरी फ्रांसिस जेवियर ने, जिसने पुर्तगाल के राजा का यह सलाह दी थी कि वह भारत म पुर्तगाल के शासको की योग्यता इस आधार पर निर्धारित करे कि किस शासक ने कितने इसाई बनाए है, अत मे यह कहा कि इस देश म तो ईसा की शरण म जाने के उपदेश को लोग मत्यु की शरण मे जाने का उपदेश मानते हैं। प्रसिद्ध फ्रासीसी मिशनरी एबे डुबाय ने लिखा है, मन आसू तो बहुत बहाए, किन्तु वे नगे पत्थरो पर गिरे हैं। जो लोग इसाइ हुए थे, उनमे से दो तिहाई धम को छोड कर अपने मूलवत्त म वापस चले गये है उच्चवर्णी हिन्दुओ पर हमारा कोई प्रभाव नही पडा है हिन्दुओ का धम बदलना आसान नही है। इनके बीच मे प्रचलित किसी भी रिवाज को छूते ही सारी जनता विरोध मे खडी हो जाती है[1]।

इसाइयत के प्रभाव से हिन्दू धम बदला तो नही, हा उसमे परिवतन अवश्य हुए। पश्चिम और इसाइयत के सम्मिलित सघात से ही हिन्दुत्व म पहले धार्मिक-सामाजिक और बाद म, सामाजिक धार्मिक नवजागति की वह प्रक्रिया प्रारम्भ हुई है जो आज भी चल रही है इस्लाम इसाइयत के प्रभाव और पृष्ठभूमि म उत्पन्न हुआ था और योरोपीय परिस्थितियो म दोनो परस्पर विरोधी भी हो गए थे। अत, इस्लाम भी इसाइयत से दूर ही रहा। हा पश्चिम के प्रभाव को इस्लाम न रोक सका। जिस प्रकार हिन्दुत्व म पश्चिम के प्रभाव न परम्परा और पश्चिम के सम वय के प्रश्न को जन्म दिया उसी प्रकार इस्लाम म भी हुआ। इस्लाम मे विभक्त भारतीय इस्लाम मे, अरबीवाद और धम निरपेक्ष भारतीय राष्ट्रवाद की द्विभाजिता पश्चिम के सघात से ही निखरी थी। आदिवासी सस्कृति मे इसाइयत का प्रवेश सबसे अधिक हुआ है। इससे आदिवासी सस्कृति मे परिवतन भी आए हैं और समस्याए भी उठ खडी हुयी हैं। इन परिवतनो और समस्याओ का वणन यथास्थान आगे दिया जायगा।

भारत मे इसाइयत केवल धमपरिवतन का ही माध्यम नही रही है। एक ओर इसाइयत भारत के योरोपीयकरण का माध्यम रही है तो, दूसरी ओर भारत के पुनर्नयन, पुन आविष्कार (Pe Discovery) और ऊर्ध्वगामी सास्कृतिक विकास मे भी सहायक रही है। इसाई मिशनरियो ने धम प्रचार के साथ साथ समाज-सेवा काय को भी अपनाया। शिक्षा का प्रसार शिक्षा के माध्यम से योरोपीय ज्ञान विज्ञान का प्रसार, अस्पतालो के माध्यम से योरोपीय चिकित्सापद्धति का विकास और ग्राम

भावना भर दी कि यदि वे साफ रहें, मास मदिरा का सेवन त्याग दें और शिक्षा ग्रहण करें तो वे भी उतने उच्च और मान्य हो सकते ह, जितने कि उच्चवर्णी हिन्दू ह।

1 दिनकर स उदधृत पष्ठ 431

समाज सेवा इनके मुख्य सेवा कार्य रहे हैं। आदिमजाति सेवक-संघ और हरीजन-सेवक-संघ की स्थापना मिशनरी कार्य के ही आधार पर की गयी थी। इन समाज-सेवा कार्यों के साथ-साथ, मिशनरियों ने भारत की प्रादेशिक भाषाओं के व्याकरण तैयार किए उनकी लिपियों को निर्धारित करके छापखाने के योग्य बनाया और भारत के धर्मग्रन्थों का अनुवाद अंग्रेजी तथा अन्य योरोपीय भाषाओं में किया। यह ईसाइयत के ही चुनौतीमय संघात का प्रभाव था कि हिन्दुत्व की सामाजिक कमियाँ और शक्तियाँ निखर कर सतह पर आ गई और हिन्दुत्व में उनका पुनर्परीक्षण किया गया। यह पहले ही कहा जा चुका है कि ईसाई मिशनरी अंग्रेजी प्रशासकों की अपेक्षा योरोपीय शिक्षा और अंग्रेजी भाषा के अधिक पक्ष में थे और उनके लाभ में सहायक भी हुए। इस्लाम की अपेक्षा, भारतीय ईसाइयत अधिक राष्ट्रवादी रही है क्योंकि भारतीय राष्ट्रीयता को लेकर इस्लाम में जो द्विमाजिता उठ खड़ी हुयी थी वह भारतीय ईसाइयत में नहीं आयी किन्तु फिर भी ईसाइयत को लेकर भारत के सामने एक आधारभूत प्रश्न है और वह यह है कि एक धर्मनिरपेक्ष राज्य में जहाँ का मुख्य धर्म मिशनरी धर्म नहीं है उस मिशनरी धर्म को क्या और कहाँ तक अनुमति दी जाए जो विदेशी पैसे से और मुख्यतः विदेशियों द्वारा संचालित होता है? केवल धर्म प्रचार के लिए धर्म-प्रचार कहाँ तक जायज है?

७

राष्ट्रवादिता

राष्ट्रवादिता केवल राष्ट्रनिष्ठा या देशभक्ति नहीं है। राष्ट्रवादिता वह राष्ट्रनिष्ठा या देशप्रेम है जिसकी अभिव्यक्ति उग्र अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वंदिता में होती है। राष्ट्रवादिता एक आधुनिक आक्रामक सामाजिक मानसिक प्रपंच है जिसका आधार राष्ट्र और राष्ट्र राज्य में है। ज्यों ज्यों राष्ट्र को एकीकृत तथा राष्ट्र राज्य को संगठित बनाने के उपकरण तथा शक्तियाँ अस्तित्व में आती रही हैं राष्ट्रवादिता को प्रोत्साहन मिलता रहा है। मसीही सम्प्रदायें (जैसे बुद्धवाद और इस्लाम) मानव इतिहास में राष्ट्र-निर्माता ऐतिहासिक शक्तियाँ रही हैं। अरब, इराक, ईरान और पाकिस्तान वे राष्ट्र हैं जिनका निर्माण इस्लामी सभ्यता के प्रभाव के कारण हुआ है। योरोप की वर्तमान औद्योगिकीय सभ्यता, जिसका विकास और प्रसार पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद होना प्रारम्भ हुआ, इस्लाम से अधिक शक्तिशाली राष्ट्र निर्मात्री शक्ति रही है। राष्ट्रवादिता को इस्लाम ने उतना प्रोत्साहित नहीं किया जितना कि योरोपीय सभ्यता ने। रेल, तार, डाक रेडियो, सिनेमा, टेलिविजन और छापाखाना जैसे यातायात और संचारवहन के औद्योगिक उपकरणों ने, एक ओर, राष्ट्र का गठन निखरा और,

दूसरी ओर, राष्ट्र राज्य अधिक सगठित और शक्तिशाली हुआ। योरोपीय सभ्यता में जिस आर्थिक व्यवस्था का विकास हुआ उसने राष्ट्रवादिता को प्रोत्साहित किया। योरोपीय आर्थिक व्यवस्था वह पमाने के उत्पादन, लाभ और बिक्री पर आधारित है। यही कारण है कि योरोप में, जब वतमान सभ्यता के प्रभाव के कारण, राष्ट्र राज्य सबल होने लगे तब आर्थिक प्रतिद्वन्दिता ने राजनतिक प्रतिद्वन्दिता का रूप ले लिया। राजनतिक आर्थिक प्रतिद्वन्दिता ने एक ओर योरोपीय साम्राज्यवादिता को जन्म दिया और, दूसरी ओर राष्ट्रवादिता को प्रोत्साहित किया। योरोपीय सभ्यता के गर्भ से उत्पन्न पूजीवाद तथा साम्यवाद ने, एक साथ साम्राज्यवादिता तथा राष्ट्रवादिता को प्रोत्साहित किया। योरोपीय साम्राज्यवादिता चाहे वह पूजीवादी हो या साम्यवादी, एक ओर, शोषणकारी तथा परजीवी रही है और दूसरी ओर, अनेक राष्ट्रों को सगठित करने वाली तथा राष्ट्रवादिता का जन्म देने वाली। वतमान अफरीका में जन्म लेने वाले राष्ट्र इन्ही परिस्थितियों की उत्पत्ति है। पाकिस्तान, लका भारत चीन, जापान मलेशिया इण्डोनेशिया, बर्मा और मिस्र जैसे अनेक राष्ट्र योरोपीय सभ्यता के सघात के प्रभाव से ही जन्मे हैं।

इसका यह तात्पय नही कि भारत पहले राष्ट्र नही था और न यहाँ राष्ट्रीय भावना पाई जाती थी। भारत तो उस समय एक स्वाभाविक भौगोलिक इकाई का रूप ले चुका था जब आज से लगभग सात करोड वष पूव टेथीज नामक समुद्र के स्थान पर हिमालय अस्तित्व में आया था और दक्षिणी भारत अफरीका तथा आस्ट्रेलिया के महाद्वीपो से अलग हो गया था। आय द्राविड संस्कृतियों के सगम के समय भारत विभिन्न जनपदो में बटा हुआ था। लेकिन ज्यो ज्यो आर्यों का भारत में प्रसार हुआ, यहाँ का आदिवासी समाज विश्रृंखलित होता गया और 'आसिधो सिन्धुपर्यन्ता' का विचार भी दृढ़तर होता गया। आय द्राविड संस्कृतियों के सम वय से उत्पन्न संस्कृति (हिन्दुत्व) ने भारत की भौगोलिक एकता में सास्कृतिक एकता को पुष्ट किया। एक ओर हिन्दूकरण की प्रक्रिया के द्वारा आधारभूत सास्कृतिक एकता को प्रोत्साहन मिलता रहा और दूसरी ओर उत्तरोत्तर बढती हुयी सास्कृतिक एकता को एक राष्ट्र राज्य में सगठित करने के प्रयास भी चलते रहे। आर्यों के उत्तरोत्तर प्रसार और प्रभाव से विश्रृंखलित आदिवासी संस्कृति की पृष्ठ भूमि से बुद्धवाद का विकास हुआ। बुद्धवाद यदि एक ओर, महान पुनरुन्नयनवादी आन्दोलन था तो दूसरी ओर वह हिन्दुत्व की भांति भारत के विजातीय समाज में एकता लाने का प्रयास भी था। बुद्धवाद और चक्रवर्ती सम्राट की धारणा का अभ्युदय भारत में लगभग साथ साथ होता है। प्रत्येक सम्राट ने दिग्विजय और अश्वमेध यज्ञ द्वारा सम्पूर्ण भारत पर एक राष्ट्र राज्य को स्थापित करने का प्रयास किया है। चन्द्रगुप्त मौय, अशोक चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, अलाउद्दीन खिलजी अकबर और औरगजेब जैसे सम्राटो ने सम्पूर्ण भारत को एक राष्ट्र राज्य में बाधने

का प्रयास किया है। यद्यपि वे अपने प्रयासों में सफल न रह सके क्योंकि उस काल की परिस्थितियां ऐसी नहीं थीं कि सम्पूर्ण भारत पर एक दीर्घकालिक, सबल केन्द्रीय सत्ता स्थापित की जा सकती।

अशोक ने बुद्धवाद को राज्य धर्म घोषित करके, अपने साम्राज्य को भावनात्मक एकता प्रदान करने की कोशिश अवश्य की लेकिन बौद्ध-ब्राह्मण संघर्ष में यह प्रयास सफल न हो सका। अकबर ने दीन ए इलाही के द्वारा भारत के राज्य-राष्ट्र को सुदृढ़ आधार प्रदान करने की कल्पना की। औरंगजेब के राज्यकाल में, मराठा अभ्युत्थान के साथ-साथ, राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत महाराष्ट्र धर्म की धारणा अस्तित्व में आई। सारे मुस्लिम काल में एक ओर इस्लाम की अरबीवादी विचारधारा प्रवाहित होती रही और, दूसरी ओर, हिन्दू पुनरुत्थान से ओतप्रोत राष्ट्रीय विचारधारा। भारत में एक राष्ट्र राज्य का संगठन न तो हिन्दू-काल में हुआ और न मुस्लिम-काल में क्योंकि कोई भी हिन्दू सम्राट या मुस्लिम शहंशाह कभी भी सम्पूर्ण भारत पर अधिकार न कर पाया। भारत में जो भी केन्द्रीय सत्ता विकसित हुई वह विभिन्न क्षेत्रीय राज्यों को मिटाकर नहीं वरन उनको अपने अधीन करके विकसित हुई जिसका परिणाम यह हुआ कि सभी कालों में केन्द्रीय सत्ता के होते हुए भी क्षेत्रीय शासक बने रहते थे जो मौका पाते ही स्वतन्त्र हो जाते थे। यही कारण है कि भारत के विभिन्न सांस्कृतिक समूहों में भाषा, धर्म, विचार, आदर्श, मूल्यों तथा सामाजिक संगठन के आधार पर ही आदान प्रदान और समन्वय अधिक हुआ है। राष्ट्रीय भावना के आधार पर, विभिन्न सांस्कृतिक समूहों का आदान प्रदान तब तक नहीं के बराबर हुआ जब तक कि अंग्रेजी राज और यूरोपीय सभ्यता के संघात के फलस्वरूप भारत में राष्ट्र निर्माणकारी तथा राष्ट्रवादिता को जन्म देने वाली ऐतिहासिक परिस्थितियाँ उत्पन्न नहीं हुई। अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद ही, हिन्दुओं और मुसलमानों को राष्ट्रीयता के आधार पर संगठित होने की आवश्यकता का अनुभव हुआ जो भारत की सामाजिक एतिहासिक परिस्थितियों में केवल अंशतः ही पूर्ण हो पाई।

उपरोक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि भारत को एक राष्ट्र राज्य का रूप देने तथा भारत में राष्ट्रवादिता के प्रादुर्भाव का एकमात्र श्रेय अंग्रेजों तथा अंग्रेजी राज्य को है। वास्तविकता यह है कि भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के साथ-साथ, उन अनेक ऐतिहासिक परिस्थितियों तथा शक्तियों का प्रस्फुटन हुआ जिनसे, एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में, भारत एक राष्ट्र राज्य में ढला और यहाँ एक जनान्दोलन तथा जन विचार के रूप में राष्ट्रवादिता का विकास हुआ। यह प्रक्रिया अभी भी समाप्त नहीं हुई है और न पूर्ण हो चुकी है। भारत में राष्ट्रवादिता का अभ्युदय और विकास तो युग-युग से चलने वाली, एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसका पूर्ण समाहार होना अभी भी बाकी है। ... ... सतार्थ ... जब से भारत स्वतन्त्र हुआ है, इस प्रक्रिया ने एक ...

गत्यात्मकता धारण कर ली है। भारत पर चीन के आक्रमण तथा भारत के प्रति पाकिस्तान की स्पर्धा ने इस प्रक्रिया की महत्ता और गत्यात्मकता को और भी तीव्र तर कर दिया है। भावनात्मक एकीकरण भारत का आदर्श रहा है और आज भी उसी पर जोर दिया जाता है। अंग्रेजी राज की स्थापना के माध्यम से, भारत तथा योरोपीय सभ्यता मे जो सघातिक सम्पर्क स्थापित हुआ और उससे जो ऐतिहासिक परिस्थितिया तथा शक्तिया अस्तित्व म आइ, उनसे भारत के भावनात्मक एकीकरण के विचार की सम्भावना और भी बलवती होकर, एक सामाजिक शक्ति के रूप म प्रस्फुटित हुइ।

एक मानसिक प्रमेय के रूप म, राष्ट्रवादिता एक ओर, राष्ट्र चेतना म निहित है और, दूसरी ओर, राष्ट्रीय गव (National Pride) मे जिसका एक स्रोत स्वय राष्ट्र चेतना है और दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धा। राष्ट्र एक वह स्वाभाविक सिलसिलेवार तथा सस्पर्शी भौगोलिक क्षेत्र माना गया है जिसके निवासियो म अपने प्रकार के प्रति चेतना (Consciousness of Kind) की भावना पाई जाती है, जिनका एक समान सास्कृतिक जीवन यापन होता है और जो एक राष्ट्र राज्य मे सगठित रहते हैं। नये राष्ट्रो म पाकिस्तान और मलेशिया स्वाभाविक सस्पर्शी भौगोलिक क्षेत्र नही हैं जो इस बात का प्रमाण है कि राष्ट्र के निर्माण म सस्पर्शी भौगोलीक क्षेत्र उतना महत्वपूर्ण नही है जितना कि राष्ट्र राज्य राष्ट्र चेतना और समान सास्कृतिक जीवन-यापन। अमरीका जैसा राष्ट्र जहाँ सास्कृतिक विजातीयता (Cultural Heterogeneity) पाई जाती है इस तथ्य का प्रमाण है कि राष्ट्र के निर्माण मे राष्ट्र राज्य तथा राष्ट्र चेतना का अस्तित्व ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। वतमान परिस्थितियो मे, राष्ट्र राज्य ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारक माना जा सकता है क्योकि राष्ट्र चेतना को विकसित करने म राष्ट्र राज्य एक महत्वपूर्ण कारक रहा है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है वतमान परिस्थितियो म, राष्ट्र राज्य का सबल तथा स्थायी अस्तित्व उन अनेक सन्देशवाहक तथा यातायात के उपकरणो पर निर्भर है जो योरोपीय सभ्यता की देन है। अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धा योरोपीय सभ्यता की आर्थिक व्यवस्था की देन है। अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धा की परिस्थितियो म, राष्ट्र चेतना राष्ट्रीय गव का रूप ले लेती है जिस, एक ओर, विभिन्न राष्ट्रो की सास्कृतिक ऐतिहासिकता से प्रेरणा मिलती रही है और, दूसरी ओर, साम्राज्यवादी परिस्थितियो म साम्राज्यवादिता के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया और उनसे उत्पन्न होने वाली सामाजिक सास्कृतिक पुनरुन्नयन की प्रक्रिया स। भारत के एक राष्ट्र म ढलने तथा भारत मे राष्ट्र चेतना और राष्ट्रीय गव के विकास मे इन्ही एतिहासिक तथ्यो तथा प्रक्रियाओ का समावेश हुआ है। भारत मे राष्ट्रीयता का विकास पूजीवादी साम्राज्यवादिता की परिस्थितियो म हुआ है जिसके फल स्वरूप, भारत की राष्ट्रवादिता म अन्तर्राष्ट्रीय पूजीवादी आर्थिक शोषण, साम्राज्य-

वादिता और योरोप की मशीनीकृत सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया और भारतीय सांस्कृतिक पुनरुन्नयन की भावना का समावेश हुआ है।

जिस ऐतिहासिक प्रक्रिया से भारतीय राष्ट्रवादिता का उद्भव हुआ है, उसे पानिक्कर[1] ने महान पुनरुन्नयन (The Great Recovery) की प्रक्रिया कहा है। राष्ट्रीय गर्व को जन्म देने वाली, पुनरुन्नयन की यह महान प्रक्रिया धीरे धीरे चलती रही है। सन् अठारह सौ अड़तीस में सी० ई० टेवलिन ने यह लिखा था— हमारे साहित्य से परिचित होने के कारण, भारतीय नौजवान हमको विदेशी नहीं समझते। वे हमारे महान् पुरुषों की उतने ही उत्साह से चर्चा करते हैं जितने उत्साह से हम लोग करते हैं। हमारे ही ढंग की शिक्षा पाये हुए, उन्हीं विषयों में रुचि रखते हुए जिनमें कि हम रखते हैं और उन्हीं उद्योगों का अनुसरण करते हुए जिनका कि हम करते हैं हिंदू नौजवान हिंदू होने की अपेक्षा उसी प्रकार अधिक अंग्रेज हो गए हैं, जिस प्रकार रोम साम्राज्य के प्रभाव से, इटली के निवासी इटलियन कम किन्तु रोमन अधिक हो गए थे। किन्तु, सन् अठारह सौ बयासी में जैसा कि सर रिचर्ड टेम्पिल के एक उद्धरण से स्पष्ट है स्थिति कुछ और ही हो गई थी। टेम्पिल के अनुसार वे (भारतीय) किसी मजहबी या धर्मनिरपेक्ष सिद्धान्त को केवल इसीलिये नहीं स्वीकार करते कि वह योरोपीय सभ्यता की देन है। वे योरोपीय तरीकों और योरोप से अलग, जीवन के नये मापदण्डों की तलाश में लगे हुए हैं पश्चिम से प्रभावित होने पर भी उनकी दृष्टि उनकी दराज परम्पराओं की ओर है। शेक्सपियर, मिल्टन, बेकन और लाक के अध्ययनों के बावजूद भी, एशियाई नायकों, कवियों, महात्माओं और प्राचीन धर्मग्रन्थों के रचयिताओं के प्रति उनके आदरपूर्ण लगाव में कमी नहीं आती।

ज्यों ज्यों भारत पर अंग्रेजी राज और योरोप का सघात बढ़ा, त्यों त्यों यह विचार जोर पकड़ता गया कि भारत को योरोप की प्रतिकृति नहीं होना है, बल्कि उसे अपनी आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक विरासत से प्रेरणा लेते हुए आगे बढ़ना है। इसी विचारधारा का परिणाम यह हुआ कि भारतीय राष्ट्रवादिता, एक ओर, राष्ट्रीय गर्व में तथा सांस्कृतिक पुनरुन्नयन में परिणत हुई तो, दूसरी ओर, जो कुछ योरोपीय था, उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया में। योरोप के प्रजातन्त्रवादी विचारों के आधार पर, भारत ने योरोप की साम्राज्यवादी लिप्सा को चुनौती दी और अपने राष्ट्रीय गर्व तथा राष्ट्रवादिता में मानवतावादी विचारों तथा अन्तर्राष्ट्रीयता का समावेश किया। इसाई तथा इस्लामी मजहबों के कट्टरपन से आक्रान्त होने पर, भारत ने सभी धर्मों की समानता तथा अनेकान्तवादी विचारधारा को अपनाया जिसका प्रमाण भारत में ब्रह्मसमाजी विचारधारा का अभ्युदय है। लेकिन साथ ही साथ, जैसा

---

1 पानिक्कर के० एम० ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री अध्याय 21

कि आर्यसमाज के अभ्युदय, विकास और प्रसार से स्पष्ट है, भारत ने ईसाई और इस्लामी मजहबों के मिशनरीपन तथा उनकी प्रसारवादी कट्टरता को अपनाकर, अपने उस रूप का पुनरुन्नयन किया जो इन मजहबों से टक्कर ले सकता था। सत्यार्थप्रकाश सम्भवतः पहला ग्रन्थ है जिसमें अन्य मजहबों का खण्डन मण्डन करके वैदिक धर्म की सर्वोपरिता को स्थापित करने का प्रयास किया गया है। आर्यसमाज का शुद्धि-आन्दोलन उसी राष्ट्रीय गर्व से प्रेरित रहा है जो ईसाई और इस्लामी मजहबों के आक्रान्त मिशनरीपन के कारण अस्तित्व में आया। योरोपीय व्यवस्था पूंजीवादी, शोषक और साम्यवादी थी। भारत ने स्वदेशी आन्दोलन को अपनाया और योरोपीय वस्तुओं का बहिष्कार किया तथा पूंजीवाद और साम्यवाद का एक साथ विरोध किया[1]। गांधीवादी विचारधारा में उस आर्थिक व्यवस्था का निरूपण किया गया जो, एक ओर भारत की प्राचीन ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था का पुनरुन्नयन थी और, दूसरी ओर, पूंजीवादी व्यवस्था का एक उत्तर थी। योरोपीय सभ्यता भौतिकतावादी थी। भारत ने आध्यात्मिकतावादी विचारों को बुलन्द किया। योरोप की संसार-विजय भौतिकतावादी थी। भारत ने अपनी राष्ट्रवादिता में आध्यात्मिक संसार-विजय का नारा लगाया[2]। आध्यात्मिकता से संसार विजय के विचार का उद्भव राजा राममोहन के काल में ही हो चुका था, लेकिन उसका चर्मोत्कर्ष स्वामी विवेकानन्द में हुआ। भारतीय विचार से संसार विजय की कल्पना को स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय राष्ट्रीय जीवन का एक आधार बनाने का प्रयास किया। इसप्रकार, भारतीय राष्ट्रवादिता यदि एक ओर पुनरुन्नयनवादी रही तो, दूसरी ओर, उसमें निहित राष्ट्रीय गर्व इस भावना से ओतप्रोत रहा है कि भारत को योरोप से नहीं वरन् योरोप को भारत से बहुत कुछ सीखना है।

राजनैतिक एकीकरण

अंग्रेजी राज्यकाल में भारत का धीरे धीरे राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक एकीकरण और पुनरुन्नयन दो ऐसी ऐतिहासिक प्रक्रियायें हैं जिनसे भारतीय राष्ट्रवादिता की भावना निर्मित हुई है। भारत को एक राजनैतिक संगठन में लाने का विचार मुगलों के पहले से ही चला आ रहा था और मुगल काल में, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, इस विचार को वास्तविक रूप देने का भरसक प्रयास होता रहा। लेकिन, भारत को राजनैतिक एकता में बांधने का श्रेय अंग्रेजों को ही है। यह श्रेय वस्तुतः अंग्रेजों

---

1 सम्भवतः, भारत ही एक ऐसा देश है जो साम्यवाद तथा पूंजीवाद से एक साथ संघर्ष और सहयोग कर रहा है। भारत में समाजवादी समाज की स्थापना का आदर्श इसी प्रक्रिया की उत्पत्ति है। भारत की योजनायें न तो साम्यवादी हैं और न पूंजीवादी यद्यपि उनमें पूंजीवादी तथा साम्यवादी विचारों और सिद्धान्तों का समावेश और समन्वय अवश्य है।

2 देखिये विवेकानन्द के भाषण

का नहीं वरन् यूरोपीय प्रौद्योगिकी को है जिसकी सहायता से अंग्रेज भारत को एक राजनैतिक सूत्र में बांधने में सफल हुए। सन् अठारह सौ सतावन के बाद, जब इंगलैण्ड की सम्राज्ञी ने भारत के सम्राटत्व को ग्रहण किया तो यह सत्ता और भी दृढ़तर हुई और उसके बाद में दिल्ली में होने वाले तीन दरबारों से भारत की राजनैतिक एकता को एक दृढ़तर अभिव्यक्ति और प्रोत्साहन मिले। इंगलैण्ड के एकछत्र सम्राट की प्रजा होने की भावना ने, भारतवासियों में एक राष्ट्र और एक राज्य के विचार को और भी दृढ़तर किया जो, आगे चलकर, राजनैतिक स्वतन्त्रता संग्राम के जनआन्दोलन के रूप में फूट निकला।

अपनी राजसत्ता को दृढ़तर बनाने के लिये अंग्रेजों ने जिन प्रौद्योगिक उपकरणों का प्रयोग किया उनसे भारत में अंग्रेजों की राजनैतिक सत्ता दृढ़तर अवश्य हुई लेकिन, साथ ही साथ, उनसे भारत की राष्ट्रीय एकता भी बढ़ी। अंग्रेजों द्वारा लागू की हुई प्रशासन प्रणाली, रेल, तार, सड़क, डाक-व्यवस्था और रेडियो में यदि, एक ओर, अंग्रेजों की केन्द्रीय राजनैतिक सत्ता को दृढ़तर होने में सहायता मिली तो, दूसरी ओर, उनसे भारत की एकता को प्रोत्साहन मिला। यातायात के साधनों से भारतीयों में सम्पर्क बढ़ा और सन्देशवहन के साधनों से विचार विमर्श के लिये अवसर। छापाखाना और अखबार से भारतीयों में वैचारिक सम्पर्क बना जिसमें एकता की भावना को बराबर बल मिलता रहा। अंग्रेजों ने भारत को एक राज्य-सूत्र में बांधने के लिये मुगलों की ही परम्परा का अनुसरण किया जिसका प्रमाण हैं देशी रियासतें जिनको अंग्रेजों ने मुगलों की भांति कायम रखा। अंग्रेजी राज्य काल में, भारत का लगभग एक तिहाई भाग देशी रियासतों और नरेशों के अधिकार में रहा है। जिस प्रकार मुगलों के अधीनस्थ राजे मुगल सम्राट की अधीनता में राज्य करते थे उसी प्रकार अंग्रेजी राज्यकाल में देशी नरेश अंग्रेजों की अधीनता में राज्य करते रहे और अंग्रेज सम्राट उनको उसी प्रकार पदों से सुशोभित करता तथा छत्रछाया प्रदान करता रहा जिस प्रकार मुगल सम्राट् करता था। लेकिन मुगलों और अंग्रेजों की राजनैतिक परम्पराओं में एक अन्तर था। अंग्रेजी राज्य में यातायात, रेल, तार, और मुद्रा प्रणाली की व्यवस्था केन्द्रीय सत्ता के हाथ में थी जिससे देशी नरेशों की स्वतन्त्रता केवल आंतरिक प्रशासन की ही स्वतन्त्रता रही। भारत को एक राजनैतिक शक्ति में बांध रखने की अंग्रेजों की भावना और अंग्रेजों की सबल सैनिक शक्ति के कारण देशी नरेशों पर अंग्रेजों का अधिक व्यापक प्रभाव था। देशी नरेशों के द्वारा देशी रियासतों में अच्छा प्रशासन लाने का उत्तरदायित्व अंग्रेजी सम्राट तथा उसकी सरकार का था। अंग्रेजी सरकार द्वारा कई देशी नरेशों को गद्दी से उतार देने के कारण जनता पर देशी नरेशों का अपना, अंग्रेजी सरकार की प्रभुता के विचार का प्रभाव रहा।

प्रथम महायुद्ध के बाद, जब राजनैतिक स्वतन्त्रता का आन्दोलन अंग्रेजी

भारत और देशी रियासतो में एक साथ फलने लगा, तब अंग्रेज प्रशासकों को अनुभव हुआ कि भारत को एक दृढ राजनैतिक एकता मे बाधना भूल थी। भारत की बढती हुई राजनैतिक एकता को रोकने के लिए यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया कि देशी नरेशो का प्रत्यक्ष सम्बन्ध अंग्रेजी सम्राट से है न कि भारत की अंग्रेजी सरकार से। इसी अवस्था में अंग्रेज मानवशास्त्री, एक ओर, अछूतों को हिन्दू समाज से अलग एक सामाजिक इकाई सिद्ध करने की ओर प्रयत्नशील हुए और, दूसरी ओर यह सिद्ध करने में कि भारत के आदिवासी हिन्दुओ से भिन्न है उनकी एक अलग सत्ता है और उनकी समस्यायें सारे भारत से अलग विशिष्ट समस्यायें हैं जिसके लिये आदिवासी पृथक्करण (Tribal Isolation) की नीति को शास्त्रीय तथा सैद्धान्तिक जामा पहनाने का प्रयास किया गया। भारत के बढते हुए एकीकरण को रोकने के लिये ही, सन उन्नीस सौ पैंतीस के संविधान में आदिवासियों तथा अछूतों के कल्याण का उत्तरदायित्व सीधे गवर्नर और गवर्नर जनरल के अधिकार में रखा गया। लेकिन यह वैधिक (Legal) तथा मानवशास्त्रीय सिद्धान्त भारत के उस एकीकरण को न रोक सके जो अंग्रेजी राज की केन्द्रीय सत्ता की स्थापना के बाद से, भारत में उत्पन्न हो चुका था। अंग्रेजो द्वारा स्थापित केन्द्रीय सत्ता का प्रशासकीय, आर्थिक और मुद्राई (Fiscal) जाल इतना विस्तृत हो चुका था, और यातायात तथा सन्देशवहन के साधनो से भारतीय एकता इतनी बढ गई थी, कि प्रयत्न करने पर भी अंग्रेज भारत को एक राष्ट्र में ढलने और उसकी स्वदेशी, स्वतन्त्र राष्ट्र राज्य की स्थापना को न रोक सके।

अंग्रेजो द्वारा स्थापित राजनैतिक एकता से ही भारत के राजनैतिक पुनरुन्नयन के आन्दोलन को प्रेरणा मिली। भारत एक राष्ट्र राज्य है इस विचार की व्यावहारिक अभिव्यक्ति सबसे पहले अंग्रेजो द्वारा स्थापित सबल केन्द्रीय राजसत्ता तथा राजनैतिक एकता के रूप में ही प्रत्यक्ष हुई। इसी राजसत्ता तथा राजनैतिक एकता को, एक स्वदेशी प्रजातन्त्रीय व्यवस्था मे धीरे धीरे बदल कर भारत में भारतीय राष्ट्र-राज्य की स्थापना की माग और उसकी पूर्ति के लिए आन्दोलन ही भारत के राजनैतिक पुनरुन्नयन की कहानी है। अंग्रेजो के आगमन के बाद, राष्ट्रवादिता की भावना से प्रेरित जिस स्वतन्त्रता आन्दोलन का भारत मे जन्म हुआ है उसके दो पहलू हैं—एक अठारह सौ सत्तावन के पहले का और दूसरा, उसके बाद का। अठारह सौ सत्तावन के पहले का आन्दोलन सैनिक आन्दोलन था और अठारह सौ सत्तावन के बाद का संवैधानिक सुधारो की माग का आन्दोलन। भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन में सदैव इस बात का ध्यान रखा गया है कि भारत की केन्द्रीय राजनैतिक सत्ता छिन्न भिन्न न होने पाय। भारत के राजनैतिक पुनरुन्नयन के पीछे जो राष्ट्रवादिता की भावना थी वह एक ओर योरोप के राजनैतिक तथा राष्ट्रवादी विचारो से प्रेरित थी और, दूसरी ओर अंग्रेजो की दासता से मुक्ति पाने की प्रेरणा से।

इस काल के योरोप के राजनैतिक विचार प्रजातन्त्रवादी तथा राष्ट्रवादी रहे हैं। भारत में भी उन्हीं विचारों को अपनाया गया और उन्हीं योरोपीय संस्थाओं की मांग की गई जिनसे भारत में प्रजातन्त्र की स्थापना हो सके। भारत में योरोपीय, विशेषतया अंग्रेजी ढंग की, राजनैतिक संस्थायें, विधि प्रणाली, राजनैतिक दलों का संगठन और संविधान, भारत के राजनैतिक एकीकरण से उत्पन्न राष्ट्रवादिता से प्रेरित राजनैतिक पुनरुन्नयन की प्रक्रिया के परिणाम हैं।

राजनैतिक एकीकरण तथा पुनरुन्नयन की भांति, अंग्रेजी राज्यकाल में, भारत के

आर्थिक एकीकरण

आर्थिक एकीकरण तथा पुनरुन्नयन से भी राष्ट्रवादिता को प्रोत्साहन मिला है। भारत में ज्यों-ज्यों अंग्रेजी राज और उसकी केन्द्रीय सत्ता का विकास हुआ, भारत इंग्लैंड के पूंजीवादी उद्योग तथा व्यापार का एक बड़ा बाजार बनता गया। सत्रह सौ सत्तर से लेकर सन अठारह सौ आठ के बीच में भारत की प्रौद्योगिकी तथा यहाँ के उद्योग धन्धों का ह्रास हुआ। भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना होने के साथ-साथ भारत योरोप की पूंजीवादी औद्योगिक व्यवस्था का एक अंग हो गया जिसमें, भारत की औद्योगिक तथा आर्थिक व्यवस्था की आधार, ग्राम प्रणाली का आर्थिक महत्व समाप्त हो गया। भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था के दो आधार थे—एक ग्राम और दूसरा, जाति। ग्राम की आर्थिक महत्ता समाप्त होने के बाद जाति-व्यवस्था में निहित अचलिष्णुता के कारण, भारत की औद्योगिक व्यवस्था का नई परिस्थितियों से सन्तुलन न स्थापित हो पाया जिससे एक ओर, भारत के उद्योग धन्धों का ह्रास हुआ और, दूसरी ओर भारत की निर्धनता बढ़ी। उधर, यातायात तथा सन्देशवहन के साधनों से भारत के विभिन्न भागों में व्यापारिक सम्पर्क बढ़ा जिससे, भारत की आर्थिक समस्याओं के प्रति भारत के व्यापारी वर्ग में चेतना तथा विचार विमर्श बढ़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत की बढ़ती हुई निर्धनता के प्रति ध्यान आकर्षित हुआ, उसके कारणों का विश्लेषण किया जाने लगा। दादा भाई नौरोजी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारत की निर्धनता के लिए अंग्रेजों की पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था को दोषी ठहराया।

आधुनिक भारत के अर्थ-शास्त्रियों की पहली पीढ़ी के लोगों ने इसी बात पर जोर दिया कि भारत की गरीबी का प्रधान कारण रहा है भारत में औद्योगीकरण का ह्रास तथा भारत से सस्ता कच्चा माल लेकर और उसमें बनी हुई उपभोग की वस्तुओं का भारत ही में बेच कर मुनाफा कमाने की अंग्रेजों की नीति। भारत का औद्योगीकरण इन दशाओं में, एक राष्ट्रीय समस्या बन गई। भारत के अर्थ शास्त्रियों ने इस बात पर जोर दिया कि भारत के पास योरोपीय ढंग के औद्योगीकरण के आधार उपलब्ध हैं जिनका उपयोग करके भारत के औद्योगिक स्तर को बढ़ाया जा सकता है और निर्धनता दूर की जा सकती है। लेकिन, यह तब तक

सम्भव नही है जब तक भारत मे अंग्रेजो की पूंजीवादी व्यवस्था है और भारत मे विदेशी माल आता है। विदेशी वस्तुओ का बहिष्कार और स्वदेशी आदोलन, इस दशा मे, राष्ट्रीय आदोलन के मुख्य आधार हो गये जिनमे राष्ट्रवादिता को प्रेरणा और प्रोत्साहन मिले। महात्मा गांधी के नेतृत्व मे इस आन्दोलन को और भी व्यापकता मिली और वह स्वराज्य आदोलन का एक अग बन गया। प्रथम महायुद्ध के बाद जब जापान का योरोपीय ढग से औद्योगीकरण हुआ तो भारत की आर्थिक राष्ट्रवादिता को और भी प्रेरणा मिली। विदेशी वस्तुओ के बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओ के ही उपयोग का आन्दोलन उस समय प्रस्फुटित हुआ था जब लार्ड कर्जन ने बगाल के दो हिस्से कर दिये थे। कर्जन ने बगाल का विभाजन प्रशासन की सुविधा के दृष्टिकोण से किया था लेकिन इससे भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन की तीन सम्मिलित धारायें—'बहिष्कार (Boycott) स्वदेशी' और 'स्वराज्य'—फूट निकली। विदेशी वस्तुओ का बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओ का प्रयोग राष्ट्रीय गर्व का प्रतीक बन गया जिससे, धीरे धीरे भारत के मशीनीकृत तथा घरेलू उद्योगो को प्रोत्साहन मिला और भारत का आर्थिक पुनरुन्नयन प्रारम्भ हुआ।

पूंजीवादी औद्योगिक व्यवस्था के प्रभाव से कृषि का क्षेत्रीय विशेषीकरण (Regional Specialization) बना जिससे अलग-अलग विशेषीकृत क्षेत्रो मे विशेषीकृत उद्योगो का विकास होने से भारत के विभिन्न क्षेत्रो मे आर्थिक अतःनिर्भरता बढी, जिसे यातायात के साधनों ने आर्थिक एकीकरण का रूप दिया। भारत के शहरी औद्योगिक केन्द्र इस सतुलन की एकता के माध्यम बन गये। भारतीय शहर प्रारम्भ से भारतीय परम्परा के प्रसार के केन्द्र रहे हैं। लेकिन योरोपीय औद्योगीकरण के सघात से विकसित औद्योगीकृत शहर भारत की आर्थिक एकता का माध्यम बने। नयी औद्योगिक व्यवस्था मे गाव का परम्परागत आर्थिक अस्तित्व समाप्त हो गया और आर्थिक दृष्टिकोण से, गाव एक ओर, शहर तथा दूसरी ओर राष्ट्र का अग हो गया। आर्थिक पुनरुन्नयन के आन्दोलन के रूप मे राष्ट्रवादी आन्दोलन का श्रीगणेश पहले औद्योगिक शहरो मे ही हुआ और, बाद मे, उसका प्रसार गावो मे हुआ।

पूंजीवादी व्यवस्था के सघात से जब भारत के परम्परागत औद्योगीकरण का ह्रास हुआ तो एक ओर भूमि पर जन सख्या का दबाव बढ़ा और, दूसरी ओर नयी लगान व्यवस्था तथा इग्लैण्ड की पूंजीवादी आर्थिक नीति के कारण, कृषक की निर्धनता बढी। जमींदारी व्यवस्था के कारण यह निर्धनता और भी बढी। सिंचाई की व्यवस्था न होने के कारण अकाल पर अकाल पड़े। इसका परिणाम यह हुआ कि कृषि और कृषक की समस्यायें राष्ट्रीय समस्यायें बन गई। स्वदेशी के साथ साथ, कृषि और कृषक की समस्यायें भी राष्ट्रीय आन्दोलन का अग बन गई। योरोप की बढती हुई आर्थिक समृद्धि से मिलने वाली प्रेरणा तथा भारत मे योरोपीय सघात से उत्पन्न

पूँजीवादी वर्ग के स्वार्थों की रक्षा के लिये भारतीय कृषि तथा उद्योग का पुनरुन्नयन राष्ट्रवादी आन्दोलन के दो मुख्य आधार बन गये। भारत के आर्थिक पुनरुन्नयन की समस्या जो योरोप, विशेषतया इंग्लैंड, की औद्योगिक पूँजीवादी व्यवस्था के संघात और भारत के नये आर्थिक एकीकरण से उत्पन्न हुई थी, राष्ट्रीय पुनरुन्नयन का आधार बन गई। राष्ट्रवादी आर्थिक पुनरुन्नयन की प्रक्रिया जो अंग्रेजी राज्यकाल में प्रारम्भ हुई थी, आज भी चल रही है। यह उसी प्रक्रिया का प्रभाव है कि भारत का औद्योगीकरण और कृषि की नई व्यवस्था के अनुसार आर्थिक उद्धार राष्ट्रीय समस्यायें मानी जाती हैं और आज भी राष्ट्रीय स्तर पर उनके समाधान का प्रयत्न किया जा रहा है। भारत में नियोजन का प्रयोग इन्हीं समस्याओं के समाधान के लिए किया जा रहा है।

भारत के राष्ट्रवादी आर्थिक पुनरुन्नयन के दो मुख्य प्रेरणा स्रोत रहे हैं— एक, योरोप की औद्योगिक तथा पूँजीवादी या साम्यवादी आर्थिक प्रणाली और दूसरी, भारत में योरोप के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया से उत्पन्न पुनरुन्नयनवादी विचार धारा। भारत के पूँजीवादी वर्ग के प्रभाव के अन्तर्गत राष्ट्रवादी आन्दोलन में जहाँ, एक ओर स्वदेशी आन्दोलन का समावेश हुआ वहाँ दूसरी ओर, भारत में योरोपीय ढंग के उद्योगों के लिए आर्थिक संरक्षण (Economic Protection) की भी माँग हुई। दो महायुद्धों के बीच में, विदेशी सरकार को भी औद्योगीकृत भारत की सैनिक महत्ता का अनुभव हुआ जिससे भारत का औद्योगीकरण बढ़ा और भारत के आर्थिक पुनरुन्नयन का सूत्रपात हुआ। सन् उन्नीस सौ सत्रह की साम्यवादी राज्य क्रान्ति की सफलता और उससे प्रतिफलित होने वाले रूस के आर्थिक तथा राजनैतिक समुत्थान से, जहाँ भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को किसानों और मजदूरों का आन्दोलन बनाने की प्रेरणा मिली वहाँ, भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन में साम्यवादी विचारों का समावेश भी हुआ। लेकिन, अंग्रेजी राज्यकाल में, भारत का राष्ट्रवादी आन्दोलन पूँजीवाद तथा साम्यवाद के उग्र पारस्परिक विरोध से बचा रहा क्योंकि भारत की ऐतिहासिक परिस्थिति, उस ऐतिहासिक परिस्थिति से भिन्न थी जिसमें साम्यवाद को रूस में राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप मिला था। भारत में स्वदेशी आन्दोलन के प्रचार के साथ साथ, इसके कुछ नेताओं ने इस बात पर जोर देना प्रारम्भ किया कि भारत एक सैनिक ग्रामीण देश है। अतः, भारत का कल्याण खादी और ग्राम व्यवस्था के पुनर्निर्माण में है। उधर, इंग्लैंड एवं योरोप की पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के आक्रामक प्रभावों तथा इंग्लैंड की राजनैतिक दासता के कारण भारत में योरोपीय सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के प्रति प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई जिसे दो महायुद्धों की विभीषिका ने और भी तीव्र कर दिया।

एक भारत में यह विचार पनपा कि योरोपीय-व्यवस्था मानव के लिए कल्याणकारी नहीं है जिसके फलस्वरूप, भारत में सांस्कृतिक-आर्थिक पुनरुन्नयन की यह

प्रक्रिया प्रारम्भ हुई जिसका चर्मोत्कर्ष महात्मा गांधी के विचारों और कार्यों में हुआ। गांधी ने योरोपीय व्यवस्था का विरोध किया और भारत की परम्परागत सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के पुनरुन्नयन को राष्ट्रीय आंदोलन तथा भारत के आर्थिक पुनरुन्नयन का आधार बनाया। गांधी के आंदोलनकारी कार्यक्रम से, ग्राम तथा कृषक की समस्याओं की ओर राष्ट्र का ध्यान आकर्षित हुआ, राष्ट्रीय आंदोलन को देशव्यापी जनांदोलन का रूप मिला और राष्ट्रीय गर्व की भावना को प्रोत्साहन मिला लेकिन उससे भारत के आर्थिक पुनरुन्नयन की वह ऐतिहासिक प्रक्रिया न रुक सकी जिसका श्रीगणेश अंग्रेजी राज और योरोपीय संघात से हो चुका था। यही कारण है कि भारत के स्वतन्त्र होते ही गांधीवादी आर्थिक कार्यक्रम में शिथिलता आ गई। योरोप में जन्मी वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी से उत्पन्न औद्योगीकरण की आवश्यकतायें ही कुछ और और है। लेकिन अंग्रेजी राज्यकाल में समन्वयकारी पुनरुन्नयन की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी उसका प्रभाव भारत की राष्ट्रवादिता पर बना रहा। घरेलू उद्योग धंधों और योरोपीय ढंग के औद्योगीकरण तथा पूंजीवादी और साम्यवादी सामाजिक आर्थिक व्यवस्थाओं के आधारभूत सिद्धान्तों का समाजवादी समाज की धारणा के द्वारा समन्वय करने की प्रवृत्ति और प्रेरणा स्वतन्त्र भारत की आर्थिक राष्ट्रवादिता का आधारभूत लक्षण है जिनका उद्गम उसी समन्वयकारी पुनरुन्नयन की राष्ट्रवादी प्रक्रिया में है जो अंग्रेजी राज्यकाल में अस्तित्व में आ गई थी। योरोप के बढ़ते हुए संघात के कारण जहां, एक ओर समन्वयवादी विचार पनप रहा है वहां दूसरी ओर आर्थिक पुनरुन्नयन की राष्ट्रवादी विचारधारा में पूंजीवादी तथा साम्यवादी विभेद का वह वैचारिक संघर्ष भी पनप रहा है जिसका प्रसरण योरोप से हुआ है।

सांस्कृतिक एकीकरण

अंग्रेजी राज्यकाल में भारत का सांस्कृतिक एकीकरण तथा पुनरुन्नयन भारतीय राष्ट्रवादिता का तीसरा आधार रहा है। हिन्दुत्व के आधारभूत वैचारिक आधार जिनका कि पहले वर्णन किया जा चुका है हिन्दुत्व के प्रसार के साथ साथ, भारत के विजातीय समाज को सांस्कृतिक एकीकरण प्रदान करते रहे हैं। हिन्दू संस्कृति में बनारस और गया जैसे तीर्थस्थान व शहरी केन्द्र रहे हैं जहां से हिन्दुत्व की आधारभूत सांस्कृतिक अर्हाओं का प्रसरण होता रहा है। लेकिन हिन्दुत्व में इतने विजातीय तत्वों का समन्वय होता रहा है कि भारत में हिन्दुत्व के चतुर्मुखी प्रसार के बावजूद भी क्षेत्रीय, जातीय तथा गणजातीय भिन्नतायें बनी ही रही। अंग्रेजी राज की स्थापना के पहले, प्रत्येक काल में विभिन्न राज्यों में बंटे रहने के कारण भारत की सांस्कृतिक भिन्नता बनी रही। जैन तथा बौद्धधर्म हिन्दुत्व से प्रेरणा ग्रहण करते हुए भी एकीकरण के स्थान पर सांस्कृतिक भिन्नता के भी कारण बने। इस्लाम और हिन्दुत्व के बीच में चलने वाली समन्वयकारी प्रक्रिया के बावजूद भी इस्लाम और उसके प्रभाव से उत्पन्न होने वाले पंथों के कारण भी सांस्कृतिक भिन्नता को प्रोत्साहन

मिला। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, ईसाई मिशनरियों ने सांस्कृतिक भिन्नता को ही अधिक प्रश्रय दिया। फ्रांसिस जेवियर ने दक्षिण के ईसाइयों की प्रथाओं में से हिन्दू प्रभाव को हटाने का काम अंग्रेजी राज की स्थापना के बहुत पहले प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार, भारत में अंग्रेजों के राज्य की स्थापना के पहले, यहाँ की ऐतिहासिक परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी रही थीं कि जैनवाद, बुद्धवाद, इस्लाम और ईसाई धर्मों द्वारा उस सांस्कृतिक एकीकरण को बराबर धक्का पहुँचता रहा जिसका श्रीगणेश आर्य द्राविड़ संस्कृतियों के समन्वय से उत्पन्न उत्तरोत्तर विकसित हिन्दूकरण की प्रक्रिया में हुआ था।

अंग्रेजी राज की स्थापना के समय भारत की सांस्कृतिक भिन्नता में आधारभूत एकता अवश्य थी, लेकिन उस एकता की चेतना अस्पष्ट तथा विकीर्ण थी। मुस्लिम राज्यकाल में हिन्दूकरण की प्रक्रिया लुप्त नहीं हुई थी, हाँ, मन्द अवश्य पड़ी थी। इस्लामी राज्यकाल में इस्लाम के साथ समन्वय होने तथा इस्लाम के आक्रामक संघात के कारण, सांस्कृतिक एकीकरण की प्रक्रिया एक ओर कई धाराओं में प्रवाहित हो उठी और दूसरी ओर सांस्कृतिक एकता की चेतना निश्चेष्ट होने के साथ साथ क्षीण हो गई। आठवीं शताब्दी में भारत के चार कोनों में चार मठों की स्थापना तथा अद्वैतवादी दर्शन का प्रतिपादन करके, शंकर ने सांस्कृतिक एकता को सचेष्ट करने का प्रयास किया। यह प्रयास सफल भी हुआ किन्तु इस्लामी संघात के सामने टिक न सका। मराठा अभ्युत्थान के साथ साथ महाराष्ट्र धर्म की धारणा के रूप में, एक राष्ट्र, एक राज्य और एक संस्कृति की धारणा का अभ्युदय अवश्य हुआ लेकिन, योरोप के राजनीतिक तथा आर्थिक संघात के कारण यह धारणा वास्तविक रूप न ले सकी। जिस समय, भारत में, अंग्रेजों का राजनीतिक प्रभुत्व बढ़ रहा था, उस समय, एक ओर हिन्दुत्व की 'अविभक्तं विभक्तेषु' एको अहं बहुस्याम्, 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' और 'पंडिता समदर्शिनः' जैसी धारणायें थीं जो अप्रत्यक्ष रूप से भावनात्मक एकता की प्रतीक थीं तथा उस पर जोर भी देती थीं और, दूसरी ओर भारतीय समाज हिन्दू मुसलमान और आदिवासी समाजों में बँटा हुआ था। स्वयं हिन्दू-समाज मायाचार आत्मा की उपसंस्कृतियों और उपसंस्कृतियाँ विभिन्न जातियों में बँटी हुई थीं। हिन्दुत्व के वैचारिक आधार ही सांस्कृतिक एकता के एकमात्र आधार थे किन्तु उनके प्रति जनसाधारण की चेतना अस्पष्ट, विकीर्ण और निश्चेष्ट थी।

अंग्रेजी राज की स्थापना से एक नई ऐतिहासिक परिस्थिति अस्तित्व में आई। भारत के राजनीतिक तथा आर्थिक एकीकरण से सामाजिक सांस्कृतिक एकीकरण के विचार को बल मिलना प्रारम्भ हुआ। यातायात के साधनों के विकास तथा शान्ति और सुरक्षा की स्थापना से हिन्दुओं का उन तीर्थस्थानों से सम्पर्क बढ़ा जहाँ से अत्यन्त प्राचीन काल से, हिन्दू सांस्कृतिक एकता का प्रसारण होता आया

था। छापाखाना तथा प्रादेशिक भाषाओं के विकास के कारण, जनसाधारण उन धर्म ग्रंथों से परिचित होने लगे जो एक वर्ग विशेष तक ही सीमित थे। अंग्रेजी भाषा के अध्ययन से यदि, एक ओर, योरोपीय विचारों का प्रसार हुआ तो, दूसरी ओर, अंग्रेजी में अनुवादित प्राचीन ग्रंथों से अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों को भारत, विशेषतया हिन्दुत्व की प्राचीनता, उसके ज्ञान भण्डार और उसकी गरिमा का परिचय मिला। सर विलियम जोन्स, मोनियर विलियम्स और मैक्समूलर जैसे विद्वानों के प्रयत्नों से संस्कृत भाषा, प्राचीन साहित्य और संस्कृति का पुनरुद्धार हुआ। इसी काल में अंग्रेज, योरोपीय तथा भारतीय विद्वानों के प्रयत्नों से भारत के इतिहास का अध्ययन प्रारम्भ हुआ जिससे एक ओर भारत की ऐतिहासिकता प्रकाश में आई और, दूसरी ओर, भारत ने अपने को पुनः ढूंढ निकाला। ऐसी परिस्थिति में निष्प्राण हिन्दुत्व में एक नयी चेतना और आशा की किरण फूटी। धर्मग्रंथों में निहित ज्ञान के प्रसार भारत की ऐतिहासिक प्राचीनता और यहाँ के प्राचीन साहित्य तथा कला की गरिमा के प्रकाश में आने के कारण, हिन्दुओं में राष्ट्रीय गर्व तथा सांस्कृतिक चेतना की भावना फूट निकली। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के कारण एक अन्य परिस्थिति अस्तित्व में आई जिसमें हिन्दुओं के राष्ट्रीय गर्व और सांस्कृतिक चेतना की भावना को प्रोत्साहन मिला। अंग्रेजी राज की स्थापना से मुसलमान न अपने राजनैतिक प्रभुत्व से अपदस्थ हुए जिसके कारण इस्लाम की प्रभुता का विचार भी अपदस्थ हुआ। अंग्रेज केवल राजनैतिक प्रभुता और आर्थिक शोषण के इच्छुक थे। उनका कोई राजधर्म न था। दूसरे, प्रारम्भ में वे मुसलमानों को अपना शत्रु समझते थे, जिसके दो कारण थे—एक, योरोप में ईसाइयत तथा इस्लाम का स्पर्धापूर्ण सम्पर्क और संघर्ष तथा दूसरा यह विचार कि मुसलमान अंग्रेजों के स्वाभाविक दुश्मन थे क्योंकि अंग्रेजों ने मुसलमानों को अपदस्थ करके, उनसे भारत का राज छीना था। ऐसी दशा में लगभग पाँच सौ वर्षों के बाद अंग्रेजी राज में, हिन्दुत्व को पुनः धर्म स्वतन्त्रता प्राप्त हुई जिसके फलस्वरूप हिन्दुत्व को अन्य धर्मों के समक्ष समानता का अनुभव हुआ।

अंग्रेजी राज्यकाल में, एक ओर हिन्दुत्व को स्वतन्त्रता मिली तो, दूसरी ओर उस पर ईसाइयत तथा अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से योरोपीय संघात के प्रहार भी होने लगे। एक ओर विलियम जोन्स और मैक्समूलर जैसे विद्वान थे जो हिन्दू साहित्य और दर्शन की गरिमा के गुण गा रहे थे तो दूसरी ओर ईसाई मिशनरी हिन्दुत्व की खिल्ली उड़ा रहे थे। अवतारवाद, पूजा पाठ, मूर्ति पूजा, कर्मकाण्ड छुआछूत और जातिभेद इनके आक्रमण के मुख्य केन्द्र थे। योरोप की व्यक्तिवादी प्रजातन्त्रीय तथा धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था के समक्ष, संयुक्त परिवार तथा जाति जैसी समष्टिवादी संस्थायें आद्यता (Primitiveness) का प्रतीक की जाती थीं। ईसाई

मिशनरियों तथा राज्यसेवा में लगे अंग्रेज मानवशास्त्रियों[1] ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस बात पर जोर देना प्रारम्भ किया कि भारत न तो एक संस्कृति है, न एक राष्ट्र और न एक समाज। आदिवासियों को एक अलग विजातीय सांस्कृतिक समूह माना गया, मुसलमानों को एक अलग सांस्कृतिक राष्ट्र समूह और हिन्दुओं का एक ऐसा समूह जिसमें न तो सांस्कृतिक एकीकरण था, न सामाजिक। भारत में आदिवासी अलग अलग विशिष्ट सांस्कृतिक समूहों में बटे हुए हैं इस रूढ़ात्मक मान्यता के आधार पर, आदिवासियों के लिए पृथक्करण की नीति अपनाई गई। ईसाई मिशनरियों तथा अंग्रेज प्रशासकों ने अछूत जातियों को एक अलग सामाजिक इकाई माना। मुसलमानों को विशिष्ट राजनैतिक अधिकार प्रदान किए गए।

सांस्कृतिक राष्ट्रवादिता

अंग्रेजी राज के माध्यम से, योरोपीय सभ्यता तथा हिन्दुत्व में सम्पर्क की जो स्थिति आई, वह इस प्रकार थी। एक ओर, हिन्दुत्व को सांस्कृतिक पराधीनता से मुक्ति हुई थी और, दूसरी ओर, उस पर मजहबी (ईसाइयों के), सांस्कृतिक तथा राजनैतिक प्रहार हो रहे थे। जैसा कि कलकत्ता के हिन्दू-कालेज के प्रारम्भिक इतिहास से स्पष्ट है अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा जहाँ, एक ओर योरोपीय विचार फैल रहे थे वहाँ दूसरी ओर, नवशिक्षित लोगों की हिन्दुत्व पर से आस्था भी उठती जा रही थी। ईसाई मिशनरी खुले आम हिन्दू देवताओं, प्रथाओं, विश्वासों और पूजा पद्धतियों की आलोचना किया करते थे। भारत राजनैतिक तथा आर्थिक एकता का रूप तो ले चुका था किन्तु उसकी सामाजिक विजातीयता की तह में छिपी सांस्कृतिक एकता अब भी प्रच्छन्न थी। ऐसी दशा में, भारत में सांस्कृतिक की अनेक प्रक्रियायें फूट निकलीं। इनमें सबसे प्रधान है हिन्दुत्व के पुनरुत्थान की प्रक्रिया। यह पहले ही कहा जा चुका है कि अंग्रेजी राज्य की स्थापना से हिन्दुओं को धार्मिक स्वतन्त्रता मिली और इतिहास की खोजों से उनमें राष्ट्रीय गर्व का अभ्युदय हुआ। सरकारी नौकरियों व्यापार तथा राजनीति के क्षेत्र में हिन्दुओं को आगे बढ़ने का मौका मिला जिससे उनकी राष्ट्रीय चेतना को और भी प्रोत्साहन मिला। भारत के राजनैतिक एकीकरण से हिन्दुओं में राष्ट्रराज्य की भावना का अभ्युदय हुआ। किन्तु योरोपीय सभ्यता तथा ईसाइयत का प्रत्यक्ष प्रहार परम्परागत हिन्दू समाज, धर्म और संस्कृति पर था। इस प्रकार की स्थिति में जाति प्रथा में निहित ऊँच नीच की भावना, मूर्ति-पूजा, गरीबी, अशिक्षा और कर्मकाण्ड की रक्षा कठिन हो रही थी। ऐसी दशा में राष्ट्रवादिता समन्वय, सुधार और पुनरुत्थान के रूप में प्रस्फुटित हुई।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान की एक प्रक्रिया सुधारवादी तथा समन्वयकारी रही

---

1 देखिए जे० एच० हटन द्वारा रचित कास्ट इन इण्डिया में परिशिष्ट बी, हिन्दुइज्म इन इट्स रिलेशन टु प्रिमिटिव रिलीजन्स इन इण्डिया।

है और दूसरी आक्रामक तथा प्राचीनतावादी। मिशनरी मजहबों में समष्टिवादिता और सामाजिक नैतिकता प्रधान रही है। इस्लाम के मिशनरी तथा मजहबी संघात के उत्तर में हिन्दुत्व में पंथ-संगठन की परम्पराओं का विकास हुआ और इसाइयत के संघात में समाज संगठना की प्रक्रिया का। समाज संगठना की प्रक्रिया पर, एक ओर, सुधारवादी तथा समन्वयकारी प्रक्रिया का प्रभाव रहा है और, दूसरी ओर, आक्रामक तथा प्राचीनतावादी सांस्कृतिक पुनरुन्नयन की प्रक्रिया का। ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज और गांधीवाद सुधारवादी तथा समन्वयकारी सांस्कृतिक पुनरुन्नयन की प्रक्रिया की उत्पत्ति है और रामकृष्ण मिशन आर्यसमाज, हिन्दू महासभा, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ तथा जनसंघ आक्रामक तथा प्राचीनतावादी सांस्कृतिक पुनरुन्नयन की प्रक्रिया के। लेकिन, इन दोनों प्रक्रियाओं का प्रेरणास्रोत भारतीय सामाजिक विचार तथा संस्कृति ही रहे हैं। ब्रह्मसमाज तथा रामकृष्ण मिशन का प्रेरणास्रोत वेदान्त है गांधीवाद का गीता जनवाद तथा बुद्धवाद और आर्यसमाज का वेद। इन दोनों प्रक्रियाओं से जो आन्दोलन उत्पन्न हुए, उनमें उस सांस्कृतिक पुनरुन्नयन पर जोर दिया गया है जिसमें योरोपीय विज्ञानवाद, नैतिकता प्रजातन्त्र और सामाजिक संगठन के जीवन सौष्ठव के सिद्धान्तों के भारतीय संस्करणों का समावेश हो। सांस्कृतिक पुनरुन्नयन की इन प्रक्रियाओं का एक अन्य पहलू भी है। यह इन्हीं प्रक्रियाओं के प्रभाव का परिणाम है कि भारत के इतिहासकारों तथा समाजशास्त्रियों का ध्यान भारतीय संस्कृति की आधारभूत एकता को स्पष्ट करने की ओर गया। हिन्दुत्व तथा इस्लाम के सम्पर्क से बनी सामाजिक संस्कृति को इतिहासकारों ने पुनः खोज निकाला। भारत के मानवशास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों ने, हिन्दू समाज के बहुमुखी सांस्कृतिक आधारों को स्पष्ट करने के लिए भारतीय समाज को बहुमुखी समाज (Plural Society) की और सांस्कृतिक विजातीयता को, संस्कृति-संघात (Federation of Cultures) की धारणाओं में बांधा। असंख्य जातियों तथा आदिवासियों को हिन्दू समाज तथा संस्कृति का अभिन्न अंग माना।

इन्हीं प्रक्रियाओं के फलस्वरूप, इतिहास में एक ओर हिन्दुत्व के सतत विकास की शृंखला कड़ियों को जोड़ने का प्रयास किया गया और दूसरी ओर, यह दिखाने का कि किस प्रकार विभिन्न ऐतिहासिक युगों में भारतीय विशेषतया हिन्दू संस्कृति का, भारत में तथा भारत के बाहर की अन्य संस्कृतियों तथा सभ्यताओं पर प्रभाव पड़ा है। इन्हीं प्रक्रियाओं के फलस्वरूप वेद, उपनिषद, वेदान्त और गीता के माध्यम से हिन्दू आध्यात्मिक तथा सामाजिक विचार को इस ढंग से प्रस्तुत किया गया कि हिन्दुत्व इस्लामियत तथा योरोप के संघातिक प्रहारों से लोहा ले सके। दूसरी ओर इसी प्रभाव के अन्तर्गत हिन्दू विश्वासों प्रथाओं और संस्थाओं को युक्तियुक्त आधार प्रदान करने का प्रयास किया गया। इसका प्रारम्भ रामकृष्ण परमहंस के द्वारा हुआ था। स्वामी विवेकानन्द दयानन्द, गांधी, अरविन्द और राधाकृष्णन ने

अलग अलग ढंगों से इसी आन्दोलन में योगदान दिया है। जहां संस्कृति-सम्पर्क में विजय और पराजय का सम्पर्क होता है वहां पराजित में विजयी के प्रति प्रतिक्रिया, पराजित में पुनरुन्नयन तथा अन्ततोगत्वा उद्धार के लिए मसीहा के अवतार की कल्पना का अभ्युदय होता है। हिन्दू पुनरुन्नयन की प्रक्रिया में, एक ओर, यूरोप के प्रति प्रतिक्रिया रही है और दूसरी ओर, अवतारी पुरुष के द्वारा अन्ततोगत्वा उद्धार पाने की कल्पना। अंग्रेजी राज्य काल की परिस्थितियों में कल्कि अवतार के विचार का प्रसार हुआ। गांधी को वैसे ही युगावतार माना गया जैसे शिवाजी को माना गया था।

भारत के राष्ट्रवादी सांस्कृतिक पुनरुन्नयन में दो विरोधी प्रक्रियाओं का अभ्युदय और समावेश हुआ। इस काल में एक ओर भारत की सामासिक संस्कृति और उनमें निहित राष्ट्रीय एकीकरण के पुनरुन्नयन का प्रयत्न किया गया है तो, दूसरी ओर, हिन्दू मुस्लिम तथा आदिवासी संस्कृतियों को अलग अलग एकीकृत तथा संगठित होने का अवसर भी मिला है। प्रादेशिक भाषाओं के विकास के कारण, भाषावार क्षेत्रों की संस्कृतियों का भी एकीकरण हुआ और प्रत्येक भाषावार प्रान्त एक अलग विशिष्ट सांस्कृतिक क्षेत्र बन गया। अंग्रेजी भाषा तथा शिक्षा ने भारत को एकता प्रदान की तो प्रादेशिक भाषाओं ने विभिन्नता तथा क्षेत्रीय पृथक्करण की भावना को प्रोत्साहित किया। अंग्रेजी राज्य की स्थापना से इस्लाम को उसी प्रकार पुनरुन्नयन की प्रेरणा मिली जिस प्रकार हिन्दुत्व को। इसका परिणाम यह हुआ कि यदि, एक ओर राजनैतिक तथा सांस्कृतिक एकीकरण की प्रक्रिया उत्पन्न हुई तो दूसरी ओर पृथक्करण की प्रक्रिया भी अस्तित्व में आई। इस्लाम का द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त और पाकिस्तान का निर्माण, बिहार के आदिवासियों द्वारा झारखण्ड प्रान्त, नागाओं द्वारा नागालैण्ड और बस्तर के आदिवासियों द्वारा एक अलग राज्य की मांग तथा तामिलनाडु का डी० एम० के० आन्दोलन इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

भारत की राष्ट्रवादिता में सन्निहित इन दो प्रक्रियाओं के अंकुर भारत की सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों में ही पनप हैं। भारतीय समाज में दो प्रकार की परम्परायें पाई जाती हैं—एक, महान परम्परा (Great Tradition) और दूसरी, लघु परम्परा (Little Tradition)। महान परम्परायें अखिल भारतीय परम्परायें हैं। उनमें सार्वभौमिकता (Universalization) की प्रक्रियात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है। सार्वभौमिकता का सम्बन्ध अखिल भारतीय प्रसरण की प्रवृत्ति से है। लघु परम्परा प्रादेशिक तथा स्थानीय स्तरों पर पाई जाती है और उसका सम्बन्ध उस प्रक्रिया से है जिसे मेरियट (Marriot) ने प्रान्तीकरण (Parochialization) की परम्परा कहा है। महान परम्परा का उद्गम हिन्दू-परम्पराओं के वैचारिक निरूपण की परम्परा में रहा है। धर्म पुरुषार्थ, वर्णाश्रम, संस्कार, बड़े-बड़े हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा महान् परम्पराओं के मुख्य रूप हैं। इनका प्रसरण एक ओर, भारत

की साहित्य परम्पराओं के माध्यम से होता रहा है और, दूसरी ओर, भारत के पवित्र तीर्थों से। लघु परम्परायें महान के स्तर पर आती रही हैं और महान लघु के स्तर पर। इस्लाम और ईसाइयत तथा योरोपीय सभ्यता के संघात से लघु और महान परम्पराओं का सामञ्जस्य और आदान प्रदान असंतुलित हो गया। अंग्रेजी राज्य काल में हिंदुत्व और इस्लाम का तथा हिंदुत्व और आदिवासी संस्कृतियों का सम्पर्क बढ़ा लेकिन, साथ ही साथ स्थानीय बोलियों और प्रादेशिक भाषाओं के विकास के कारण प्रादेशीकरण की प्रक्रिया को भी प्रोत्साहन मिला। ईसाइयत तथा अंग्रेजी काल की राजनैतिक परिस्थितियों के प्रभाव से भारत के आदिवासियों में उसी प्रकार से आदिवासीकरण की प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति का जन्म हुआ जिस प्रकार हिंदुत्व में हिंदूकरण का और इस्लाम में इस्लामीकरण का। भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से एक ओर, राष्ट्रीयकरण की राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक सांस्कृतिक शक्तियों का प्रभाव बढ़ा और दूसरी ओर, भाषा, संस्कृति तथा मजहब के आधार पर प्रादेशीकरण की शक्तियों का। एक ओर, राष्ट्रवादिता में समन्वयकारी दृष्टिकोण का समावेश हुआ तो, दूसरी ओर, प्रादेशिक तथा साम्प्रदायिक दृष्टिकोणों का। भारतीय राष्ट्रवादिता, एक ओर प्रादेशिक तथा साम्प्रदायिक सांस्कृतिक पुनर्नयन और सुधार में सम्मिलित रही है तो दूसरी ओर धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवादी राजनैतिक आन्दोलन में—वह आन्दोलन जिसका उद्देश्य रहा है भारत का राजनैतिक तथा भावात्मक एकीकरण।

जमाकि राजा राम मोहनराय, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती और गोपालकृष्ण गोखले के कार्यों तथा उनके द्वारा चलाए हुए आन्दोलनों से स्पष्ट है भारतीय राष्ट्रवादिता का उद्गम हिंदुत्व के पुनर्नयन तथा सुधार आन्दोलन में हुआ था। ईसाइयत के विरुद्ध हिंदुत्व की प्रतिक्रिया से ही भारतीय राष्ट्रीयवादिता की प्रथम किरण फूटी थी। ब्रह्मसमाजियों ने हिंदू समाज, संस्कृति तथा धर्म में उन सुधारों की मांग की जिससे हिंदुत्व ईसाइयत के संघात को आत्मसात करके अपने अस्तित्व को बनाये रख सके और हिंदू समाज एकीकृत हो सके। ब्रह्मसमाज तथा प्रार्थनासमाज सुधारवादी हिंदू पुनर्नयन के राष्ट्रवादी आन्दोलन थे। स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त का सार्वभौमिक धर्म और स्वामी दयानन्द ने वैदिक धर्म का ही सर्वश्रेष्ठ धर्म प्रतिपादित करके पुनर्नयनवादी हिंदू राष्ट्रवादिता को प्रोत्साहित किया। सन् अठारह सौ अठारह से लेकर अठारह सौ पचासी तक भारतीय राष्ट्रवादिता हिंदू सांस्कृतिक पुनर्नयन तथा सुधार का आन्दोलन मात्र रही है। सन् अठारह सौ पचहत्तर के आस पास जब कलकत्ता की इण्डियन एसोसियेशन तथा पूना की सार्वजनिक सभा जैसी संस्थाओं का संगठन हुआ तो हिन्दू पुनर्नयन का प्रवाह भारत की सुषुप्त राजनैतिक राष्ट्रवादिता में प्रतिबिम्बित होने लगा[1]।

1 पनिक्कर, के० एम० ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री पृष्ठ 217

हिन्दू पुनर्जागरण के अतिरिक्त, भारतीय राष्ट्रवादिता के अन्य प्रेरणास्रोत भी

राष्ट्रवादिता के अन्य स्रोत

है। इनमें सबसे प्रमुख है अंग्रेजी शिक्षा। अंग्रेजी भाषा के द्वारा अखिल भारतीय प्रदेशवहन तथा विचार विमर्श का एक प्रभावपूर्ण साधन अस्तित्व में आया। अंग्रेजी शिक्षा से योरोप के राष्ट्रवादी तथा उदार प्रजातन्त्रवादी विचारों का भारत के शिक्षित वर्ग में प्रसार हुआ। अंग्रेजी शिक्षा तथा अंग्रेजी भाषा के प्रभाव के फलस्वरूप भारतीय समाज में समान भाषा तथा विचारों वाले एक वर्ग का अभ्युदय हुआ। योरोपीय सभ्यता के सघात में भारत का जो आर्थिक रूपान्तरण हुआ उसमें वह मध्य वर्गीय व्यापारी वर्ग अस्तित्व में आया जो आधुनिक भारत के पूंजीपति वर्ग का अग्रज था और जिसने भारत के आर्थिक स्वातन्त्र्य, औद्योगीकरण तथा आर्थिक पुनर्जागरण के आन्दोलन को जन्म दिया। शिक्षा के माध्यम से जिस वर्ग का अभ्युदय हुआ वह भी एक मध्य वर्ग ही था जिसकी उत्पत्ति ब्राह्मण, कायस्थ और खत्री इत्यादि उन जातियों में से हुई थी जो परम्परानुसार भारत के नौकरशाही वर्ग में आती थीं। प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत में यह वर्ग सामन्त-सेनानी वर्ग के अधीन रहता था। अंग्रेजी राज की स्थापना से, सत्ता के उच्चपद अंग्रेजों के हाथ में चले गए जिससे सामन्त-सेनानी वर्ग की सामाजिक राजनैतिक प्रभुता का ह्रास हुआ। अंग्रेजी राज में भी नौकरशाही के सदस्य उन्हीं जातियों से लिए गए जो परम्परानुसार राज्य-नौकरशाही के पेशों में लगी हुई थी। ऐसी दशा में, अंग्रेजों के अधीन भारतीय समाज की राजनैतिक सत्ता वस्तुतः उन जातियों के हाथ में चली गई जिनके सदस्यों में से नौकरशाही के अफसरों का चुनाव होता था। अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी शिक्षा की ओर भी इन्हीं जातियों के सदस्य सबसे अधिक झुके क्योंकि बुद्धिजीवी जातियों के सदस्यों के लिए सरकारी नौकरी ही एकमात्र अवसर रह गया था। अंग्रेजी राज की स्थापना के साथ-साथ, भारत में वकालत, डाक्टरी, शिक्षण और पत्रकारिता जैसे बुद्धिजीवी पेशे भी अस्तित्व में आये जिनकी ओर अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवी वर्ग के लोग अग्रसर हुए। ज्यों ज्यों अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार हुआ, अध्यापकों, वकीलों, डाक्टरों, शिक्षकों और पत्रकारों से बना बुद्धिजीवी मध्य वर्ग भी बढ़ता गया।

अंग्रेजी शिक्षा तथा अंग्रेजी राज के द्वारा पड़ने वाले योरोपीय सघात से प्रादुर्भूत सामाजिक-आर्थिक रूपान्तरण की प्रक्रिया से उत्पन्न यह मध्य वर्ग उस नई रोशनी, नयी चेतना तथा नवजागृति का प्रतीक था जो योरोपीय सघात से भारत में उत्पन्न हुई थी। अन्य वर्गों की अपेक्षा अधिक शिक्षित और अधिक जाग्रत, इस वर्ग के लोगों को देश की तत्कालीन आवश्यकताओं की अधिक अनुभूति थी। इस वर्ग के लोगों में देश की एकता के प्रति अधिक चेतना थी। वे एक ओर, योरोपीय आधुनिकता, विज्ञानवाद तथा उदारवादी सामाजिक दृष्टिकोण से प्रभावित थे तो, दूसरी ओर, देश की राजनैतिक पराधीनता की कठिनाइयों और सर्वांगीण सामाजिक सुधार

की आवश्यकताओं के प्रति सजग थे। यही वह वर्ग है जिसके लोग आधुनिकता के अग्रज थे और जिन्होंने राजनतिक राष्ट्रवादिता तथा सुधार-आन्दोलन को जन्म दिया। राजा राममोहन राय, केशव चन्द्रसेन, विवेकानन्द, दयानन्द ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, गोपालकृष्ण गोखले बाल गंगाधर तिलक लाला लाजपत राय, मदन मोहन मालवीय, मोहनदास कर्मचन्द गांधी और जवाहरलाल नेहरू इसी मध्य वर्ग से उत्पन्न हुए हैं। इस युग के लगभग सभी लेखक पत्रकार, सुधारक और राजनतिक राष्ट्रीय आन्दोलन के कार्यकर्ता इसी मध्य वर्ग से आये हैं। यह मध्यवर्ग ज्यों-ज्यों स्वतन्त्रता का हामी होता गया, त्यों त्यों अंग्रेजी सरकार ने निरन्तर विशृंखलित होते हुए सामन्त वर्ग को आगे बढ़ाने का प्रयास किया। यही प्रयास, आगे चल कर, भारत में अंग्रेजी राज के पतन का एक मुख्य कारण बना। प्राचीन अभिजात तथा सामन्तवर्ग के लोग अंग्रेजी साम्राज्यवादिता तथा प्राचीनता के हामी हुए और नव विकसित मध्य वर्ग के लोग राष्ट्रवादिता तथा स्वतन्त्रता के हामी। नव विकसित मध्य वर्ग में भी दो प्रकार के लोग थे--एक श्रेणी में वे लोग थे जो उदारवाद तथा धर्मनिरपेक्षिता से प्रेरित थे और दूसरी श्रेणी में वे लोग जिनका प्रेरणास्रोत हिन्दू पुनरुत्थान में था। इस्लाम भी इसीप्रकार प्राचीन सामन्त वर्ग और नव विकसित मध्यवर्ग में विभाजित था। सरकारी नौकरियों के लिए चलने वाली होड़ के कारण मुस्लिम समाज का एक वर्ग जिसमें प्राचीन सामन्त तथा नव-मध्य वर्ग के लोग थे, साम्प्रदायिकता की ओर उन्मुख हुआ और दूसरा वर्ग धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादिता तथा साम्राज्य विरोध की ओर। इन परिस्थितियों में, भारत के पुनरुन्नयन में हिन्दू राष्ट्रवादिता तथा मुस्लिम राष्ट्रवादिता का समावेश हुआ।

आधुनिक भारत की राष्ट्रवादिता का अभ्युदय इसप्रकार, एक साथ कई प्रेरणास्रोतों से हुआ। राष्ट्रवादिता का एक प्रेरणास्रोत था हिन्दू-पुनरुन्नयन तथा हिन्दू राष्ट्रवादिता का विचार जिसका प्रभाव सन अठारह सौ पचहत्तर के आस पास भारत की राजनतिक गतिविधियों पर पड़ने लगा था। दूसरा प्रेरणास्रोत था योरोप का उदारवादी तथा राष्ट्रवादी पूंजीवादी दृष्टिकोण जिसकी अभिव्यक्ति सन अठारह सौ पचासी में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के द्वारा हुई। इस्लाम के पुनरुन्नयन और इस्लामी राष्ट्रवादिता के अग्रदूत सर सयद अहमद खां थे। पहली पीढ़ी के कांग्रेसी अंग्रेजी सरकार के प्रशंसक और उत्तरोत्तर संवधानिक सुधारों के पक्षपाती थे। पहली पीढ़ी के कांग्रेसी उदारवादी विचारों के पक्षपाती थे और वे इस तथ्य के प्रति सजग न थे कि वे हिन्दू विचार के प्रतिनिधि थे। किन्तु, कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन के बाद से, जब में मदनमोहन मालवीय का प्रभाव बढ़ा और बंगाल तथा महाराष्ट्र में हिन्दू पुनरुत्थान का आन्दोलन बना, कांग्रेस द्वारा प्रेरित राष्ट्रवादी आन्दोलन हिन्दू राष्ट्रवादिता और हिन्दू पुनरुन्नयन से प्रेरित होने लगा और बराबर उससे प्रेरित होता रहा। महाराष्ट्र का हिन्दू पुनरुन्नयनवादी तथा

राष्ट्रवादी आन्दोलन एक ओर, शिवाजी के आंदोलन से प्रेरित था और दूसरी ओर, सुधारवाद से। पहले प्रकार के प्रणेता थे लोकमान्य बालगंगाधर तिलक और दूसरे के गोपालकृष्ण गोखले तथा महादेव गोविन्द रानाडे। तिलक ने, एक ओर, जन्मसिद्ध स्वराज्य-अधिकार की धारणा रक्खी और, दूसरी ओर 'गीता रहस्य' नामक गीता पर भाष्य लिख कर उस कर्मयोगी की धारणा भारतीयों विशेषतया हिन्दुओं के सम्मुख रक्खी, जिसका कर्तव्य था निस्पृह कर्म करना। तिलक के लिए निस्पृह कर्म का अर्थ था स्वतन्त्रता के लिए निरन्तर निस्पृह युद्ध। राष्ट्रवादी स्वातन्त्र्य आंदोलन को व्यापक जनान्दोलन बनाने के लिए, तिलक ने एक ओर, शिवाजी के आंदोलन का आदर्श सामने रक्खा और दूसरी ओर गणेश पूजा का प्रचार किया। जब महाराष्ट्र में गणेश पूजा का प्रचार बढ़ रहा था तब बंगाल में दुर्गा (शक्ति)-पूजा का राष्ट्रवादी प्रचार बढ़ रहा था। महाराष्ट्र में शिवाजी राष्ट्रीय उद्बोधन के प्रेरक बने और बंगाल में असुर संहारिणी दुर्गा राष्ट्रीय उद्बोधन की प्रेरक। राष्ट्रीय उद्बोधन का बंकिम चन्द्र चटर्जी का प्रसिद्ध गीत 'वन्दे मातरम्' इसी आंदोलन से प्रेरित है। लाल (लाला लाजपत राय) बाल (बाल गंगाधर तिलक) और पाल (विपिन चन्द्र पाल) के प्रभाव में कांग्रेस का राष्ट्रवादी आंदोलन, अप्रत्यक्ष रूप से, हिंदू पुनरुन्नयन तथा हिंदू राष्ट्रवादिता से प्रेरित था[1]।

बीसवीं शताब्दी की अनेक राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने भारतीय राष्ट्रवादिता के विचार तथा आंदोलन को सबल बनाया। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, एक ओर पुनरुन्नयनवादिता का ज़ोर था और दूसरी ओर, उग्र, हिंसावादी क्रांतिकारी आन्दोलन का। उस समय कांग्रेस का राष्ट्रवादी आंदोलन छिन्न भिन्न और निष्प्राण था। सन् उन्नीस सौ में, लार्ड कर्जन ने इंग्लैंड को भेजी गई अपनी रिपोर्ट में यह लिखा था कि उनकी सबसे बड़ी महत्वाकांक्षा कांग्रेस और उसके आंदोलन का शांतिपूर्ण दाह-संस्कार करने की थी। किन्तु जब लार्ड कर्जन ने बंगाल के दो हिस्से

---

1 के० एम० पाणिक्कर के मत में, कांग्रेस के तत्वावधान में चलने वाले, राष्ट्रीय आन्दोलन का दूसरा दौर निश्चय ही हिंदू राष्ट्रवादिता तथा पुनरुन्नयन से प्रेरित था। तिलक कट्टर परम्परावादी थे और उन्होंने राजनैतिक आन्दोलन को गीता के दर्शन की पृष्ठभूमि प्रदान की थी। लाला लाजपत राय, एक ओर, कट्टर आर्यसमाजी थे और दूसरी ओर, राष्ट्रवादी कांग्रेसी नेता। लाजपतराय, तिलक और मोतीलाल घोष को अपनी रूढ़िवादिता पर गर्व था। नयी पीढ़ी के उग्र विचार वाले लोगों ने, जिनमें अरविन्द का स्थान मुख्य है राष्ट्रवादिता को धार्मिक तथा रहस्यवादी रंग में रंग दिया और इस विकास का परिणाम यह हुआ कि, बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, भारतीय राष्ट्रवादिता विशिष्ट रूप से हिंदूवादी हो गई—पाणिक्कर वही पृष्ठ 218

कर दिये तो राष्टवादिता की आग प्रज्वलित हो उठी। बंगाल के विभिन्न वर्गों तथा धर्मों के लोग राष्टवादी विचारों से प्रेरित हो उठे और उसके फलस्वरूप विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार, स्वदेशी तथा स्वराज्य आंदोलन का जन्म हुआ। सन उन्नीस सौ पांच में जब जापान ने रूस को तुशीमा (Tushima) के युद्ध में पराजित किया तो भारतीय राष्टवादिता के आन्दोलन को एक नई प्रेरणा मिली। जापान की विजय से यह विचार जोर पकड़ने लगा कि कोई भी एशियाई देश अपनी प्राचीन संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रख कर भी, राजनैतिक तथा सामरिक दृष्टि से किसी भी योरोपीय राष्ट्र से अधिक सशक्त हो सकता है बशर्ते कि वह योरोपीय तौर तरीकों को अपनाये। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला गया कि स्वतन्त्रता के लिए भारत को योरोपीय राजनैतिक, व्यापारिक तथा शिक्षण पद्धतियों को अपनाने की आवश्यकता है न कि अपनी प्राचीन संस्कृति और सामाजिक तथा धार्मिक आदर्शों को छोड़ने की।

बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक के मध्य में जब प्रथम महायुद्ध छिड़ा तो भारत के सिपाहियों का अन्य देशों से सम्पर्क बढ़ा और भारत की ओर अन्य देशों का ध्यान आकृष्ट हुआ, क्योंकि इस युद्ध में सबसे बड़ा योगदान भारतीयों का था। इस युद्ध के पश्चात, कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथ में आया। महात्मा गांधी ने नमक सत्याग्रह, डांडी यात्रा चम्पारन के किसान तथा अहमदाबाद के मजदूर आंदोलनों विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तथा खादी, चरखा और ग्रामोद्योग के विकास के आन्दोलनों के द्वारा राष्ट्रीय आंदोलन को, एक मध्यवर्गी आंदोलन के स्थान पर, एक जन आंदोलन बना दिया।

महात्मा गांधी के नेतृत्व-काल में भारतीय राष्ट्रवादिता में जनवादी तथा समन्वयकारी प्रवाह चले तो, साथ ही साथ, हिंदू तथा मुस्लिम राष्टवादी विचारों का समानान्तर विकास भी हुआ। प्रथम तथा द्वितीय महायुद्धों के बीच में, भारतीय राष्ट्रवादिता का चरम विकास हुआ और अन्तर्राष्ट्रीय जनमत उसके पक्ष में आया। इसकाल में, भारत ने एक ओर, राष्ट्रवादिता के नारे को बुलन्द किया तो, दूसरी ओर, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज उठाकर अन्तर्राष्ट्रीय भाई चारे के विचार को प्रोत्साहित किया। इसकाल में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' 'आत्मवत सर्वभूतेषु' 'अविभक्तं विभक्तेषु' 'पंडिता समदर्शिना', 'अनेकान्तवाद' तथा 'स्याद्वाद' जैसी भारतीय धारणाओं ने भारत के राष्ट्रवादी विचारों को इतना प्रभावित किया कि भारतीय राष्ट्रवादिता में अन्तर्राष्ट्रीयता का वह पुट आया जो आज भी विद्यमान है। उग्र मुस्लिम राष्ट्रवादिता से निरन्तर समझौता करने की ऐतिहासिक प्रक्रिया इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की उत्पत्ति है। इस्लाम का जन्म और प्रसार ही उग्र राष्ट्रेतर (Supernational) मजहबी राष्ट्रवादिता में हुआ था। इस्लाम के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में खिलाफत का महत्वपूर्ण स्थान इसका एक ऐतिहासिक प्रमाण रहा है। खिलाफत के ही प्रश्न को लेकर, कुछ काल के लिए हिंदुओं तथा मुसल-

मानो का राष्ट्रीय आन्दोलन मे सहयोग भी हुआ। लेकिन यह सहयोग स्थायी न रह सका। हिन्दुत्व और इस्लाम ने राष्ट्रवादिता को अलग अलग प्रेरित किया जिसका परिणाम हुआ भारत का हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान नामक दो राष्ट्रों म विभाजन।

भारतीय राष्ट्रवादिता के कुछ सास्कृतिक ऐतिहासिक सन्दर्भ रहे हैं जिन पर यहा विचार करना आवश्यक है क्योकि बिना उनके विश्लेषण के भारतीय राष्ट्रवादिता के सामाजिक स्वरूप को नही समझा जा सकता है। अग्रेजी राज में, भारत के राजनैतिक एकीकरण तथा औद्योगिक पूजीवादी सामाजिक रूपान्तरण से जो एकीकरण तथा मध्यवर्गीय आन्दोलन उत्पन्न हुआ था उससे राष्ट्रवादिता के उन्नयन को प्रेरणा मिली। लेकिन, यह सामाजिक ऐतिहासिक प्रक्रिया वस्तुत उस प्रक्रिया से उत्पन्न हुई थी जो अग्रेजी राज के पहले ही भारत म उत्पन्न हो चुकी थी। हिन्दुत्व की उत्पत्ति ही इस राष्ट्रवादी ऐतिहासिक प्रक्रिया म हुई थी जिसका अन्ततोगत्वा उद्देश्य था भारत का एक राजनैतिक सगठन, एक सस्कृति और एक समाज। यह पहले ही कहा जा चुका है कि, अपने सास्कृतिक ऐतिहासिक सन्दर्भ म, हिन्दुत्व वस्तुत यह सामाजिक सास्कृतिक आन्दोलन रहा है जिसका उद्देश्य रहा है भारत के विजातीय समाज को सामाजिक सास्कृतिक एकता प्रदान करना। अशोक द्वारा बुद्धवाद को राजधर्म के रूप मे अपनाए जाने पर जो हिन्दू-बौद्ध सघर्ष उठ खडा हुआ वह वस्तुत दो विभिन्न राष्ट्रवादी तरीको का सघर्ष था। बौद्धो ने, पराजित होने पर, इस्लाम का स्वागत किया जिसके फलस्वरूप हिन्दुत्व, एक ओर प्रबल बौद्ध विरोधी हुआ और, दूसरी ओर, इस्लाम विरोधी। इस्लाम के कट्टर अरबीपन से हिन्दुत्व में कट्टर राष्ट्रवादिता आई जिसकी परिणति, शिवाजी के तथा गुरु गोविन्दसिंह के आन्दोलनो म हुई।

अग्रेजी राज की स्थापना से हिन्दू राष्ट्रवादिता को पनपने का अवसर मिला और वह पनपी भी। अग्रेजी राज की स्थापना के बाद, राष्ट्रवादिता की पहली लहर हिन्दुओ म ही आई और हिन्दू ही राष्ट्रवादिता के अग्रदूत हुए। खिलाफत आन्दोलन के कुछ वर्षों को छोड कर, कांग्रेस के तत्वावधान म चलने वाले राष्ट्रीय आन्दोलन की सजीवनी शक्ति मुख्यत हिन्दू जनता तथा हिन्दू पुनरुन्नयन के आन्दोलन म रही है और भारतीय राष्ट्रवादिता को हिन्दू-सस्कृति से प्रेरणा मिलती रही है। शिवाजी और गुरु गोविन्द सिंह दोनो ने शक्ति (देवी) से प्रेरणा ली थी। भारत के इतिहास म जब-जब राष्ट्रीय सकट का वार आया है तब-तब रणचण्डी, भवानी और दुर्गा से प्रेरणा ली गई है। चीन के आक्रमण से जो राष्ट्रीय सकट की स्थिति आई है, वह भी इसका अपवाद नही है। अरविन्द ने इसी शक्ति परम्परा का क्रान्तिकारी राष्ट्रवादी आन्दोलन म समावेश किया। क्रान्तिकारी दल के लोग देवी भगवती की प्रतिमा के सामने देश को आजाद करने का व्रत लिया करते थे[1]। क्रान्तिकारी आन्दोलन का प्रसार बगाल, महाराष्ट्र

1 पानिक्कर वही पृष्ठ 218

और पंजाब में ही अधिक हुआ क्योंकि वहां हिंदू राष्ट्रवादी आन्दोलन पहले ही से विद्यमान था। तिलक और गांधी दोनों ने गीता की कर्मयोगी की धारणा से प्रेरणा ली है। गांधी की स्वराज्य की कल्पना रामराज्य से प्रेरित थी और मुस्लिम राष्ट्रवादिता के प्रति उनका दृष्टिकोण अनेकान्तवादी भावना से प्रेरित था। महात्मा गांधी के राष्ट्रवाद का एक प्रेरणास्रोत हिंदू आध्यात्मिकता थी और दूसरा, वर्णाश्रम व्यवस्था जो गांधी के आदर्श समाज का आधार है। यदि तिलक ने गणेशपूजा को अपने राजनैतिक आन्दोलन का आधार बनाया तो महात्मा गांधी ने कीर्तन, भजन और प्रार्थनासभा को अपने राष्ट्रवादी विचारों को व्यक्त करने का माध्यम बनाया।

अंग्रेजी राज्यकाल में प्रादेशिक भाषाओं का विकास हुआ और प्रादेशिक भाषाओं में प्रकाशित साहित्य तथा समाचारपत्रों से राष्ट्रवादी विचारों का काफी प्रचार हुआ। प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य पर भी भारतीय राष्ट्रवादिता के विभिन्न प्रवाहों का प्रभाव पड़ा। इसकाल में ऐसे कवि और लेखक उत्पन्न हुए जिन्होंने राष्ट्रवादी विचारों को व्यक्त करने के लिए हिंदू जीवन तथा हिंदू काल की ऐतिहासिक घटनाओं से प्रेरणा ली। बंगाल में द्विजेन्द्रलाल राय और हिन्दी में जयशंकर प्रसाद जैसे नाटककारों ने मुख्यतः हिंदूकाल के राष्ट्रीय संकट की उन्हीं विपन्न परिस्थितियों को अपने कथानक का विषय चुना जिनमें भारतीयों ने अपनी राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहित करके किसी बाह्य शत्रु का सामना किया है। जयशंकर प्रसाद के चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त नामक नाटकों में ऐसी ही संकटकालीन परिस्थितियों का चित्रण किया गया है। चन्द्रगुप्त का काल यूनानियों के साथ संघर्ष का काल है और स्कन्दगुप्त का काल हूणों से संघर्ष का। यह सतत विकसित हिंदू राष्ट्रवादिता का ही प्रभाव कहा जा सकता है कि जयशंकर प्रसाद तथा द्विजेन्द्रलाल राय ने अलग अलग चन्द्रगुप्त मौर्य पर नाटक लिखे और उसके द्वारा राष्ट्रवादिता के विचार के प्रवाह को आगे बढ़ाया। द्विजेन्द्रलाल राय में एक और विकास मिलता है। एक ओर उन्होंने चन्द्रगुप्त पर नाटक लिखा तो, दूसरी ओर मेवाड़ पतन पर। सम्राट चन्द्रगुप्त जो चन्द्रगुप्त नाटक का नायक है सम्पूर्ण देश को एक साम्राज्य में बांधने का इच्छुक और यूनानियों की पराजय का प्रतीक है। चन्द्रगुप्त प्रेरणा है उस राष्ट्रवादिता को जो यूनानियों की भांति अंग्रेजों को हरा कर, भारत को एकसूत्र में बांधने की प्रेरणा देती है। किन्तु मेवाड़ पतन का नायक राणा अमरसिंह मुगलों से युद्ध करने में रत है और मुगल मेवाड़ को तहस नहस करने के लिए तत्पर हैं। मेवाड़ पतन हिंदू मुस्लिम संघर्ष का प्रतीक है। इसकाल में अकबर को हिंदू मुस्लिम एकता का राष्ट्रीय आदर्श माना गया तो अकबर के विरोधी महाराणा प्रताप को देश के लिए मर मिटने वालों का आदर्श माना गया। एक ओर हिंदू मुस्लिम एकता का प्रयास किया गया और दूसरी ओर मुगल-साम्राज्य के विरुद्ध लड़ने वाले शिवाजी को राष्ट्रनायक के रूप में प्रस्तुत किया गया। जय सोमनाथ में कन्हैयालाल

माणिकलाल मुंशी ने, एक ओर, यह चित्रित किया कि हिन्दुओं में एकता की कमी के कारण महमूद के आक्रमणों के समक्ष उनकी हार होती रही और दूसरी ओर, उन्होंने मुस्लिम आक्रमणकारियों की नृशंसता तथा हिन्दू शौर्य को चित्रित किया। उर्दू साहित्य भी हिन्दू राष्ट्रवादी तथा मुस्लिम राष्ट्रवादी अभिव्यक्तियों से भर गया। हिन्दू राष्ट्रवादिता ने टगौर को जन्म दिया और मुस्लिम राष्ट्रवादिता ने इकबाल को। इकबाल का, एक ओर, यह लिखना कि 'मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना, हिन्दी हैं हम वतन है हिन्दोस्ताँ हमारा' और, दूसरी ओर, भारतीयतावादी मुसलमानों का यह कह कर लताड़ना कि 'बुने हिन्दी कि मुहब्बत में बिरहमन भी हुए तुम' उस संघर्षात्मक राष्ट्रवादी विभेद का परिचायक है जो भारतीय समाज में समा चुका था।

प्रादेशिक भाषाओं में लिखा जाने वाला साहित्य, एक ओर भारतीय राष्ट्रवादिता का प्रतिबिम्ब और प्रेरक बना तथा दूसरी ओर, हिन्दू राष्ट्रवादिता तथा मुस्लिम राष्ट्रवादिता का प्रेरक। इसीके फलस्वरूप एक ओर सरकार द्वारा स्थापित धर्मनिरपेक्ष स्कूल तथा कालेजों का संगठन हुआ और, दूसरी ओर, आर्यसमाजी, सनातनधर्मी तथा इस्लामिया स्कूलों और कालेजों के संगठन को प्रोत्साहन मिला। साम्प्रदायिक शिक्षा-संस्थाओं ने साम्प्रदायिक राष्ट्रवादिता को ही बढ़ावा दिया। साम्प्रदायिक राष्ट्रवादिता ने, एक ओर, हिन्दू कट्टरता तथा पुनरुन्नयन को जन्म दिया तथा, दूसरी ओर, इस्लामी कट्टरता तथा पुनरुन्नयन को। राजनैतिक राष्ट्रवादी आन्दोलन में एक ओर इण्डियन नेशनल कांग्रेस का प्रधान उदारवादी और अन्तत हिंदूवादी आन्दोलन उत्पन्न हुआ था, दूसरी ओर, हिन्दू महासभा, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, जनसंघ तथा मुस्लिम लीग जैसी राष्ट्रवादी साम्प्रदायिक संस्थायें अस्तित्व में आईं। अंग्रेजी राज्यकाल में ये संस्थायें कभी भी केवल राजनैतिक संस्थायें नहीं रही हैं। राजनैतिक तथा सांस्कृतिक साम्प्रदायिक राष्ट्रवादिता ने उन्हें एक साथ प्रेरणा दी है। इसी कारण, भारतीय राष्ट्रवादिता, प्रगतिवादी रही है और, साम्प्रदायिक प्रतिक्रियावादी भी।

विवाह, परिवार और जाति

योरोपीय सभ्यता और अंग्रेजी राज के संघात से जो परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं, उनका परिवर्तनकारी प्रभाव विवाह, परिवार और जाति पर पड़ा और उनके फलस्वरूप उनमें परिवर्तन आए। आर्थिक रूपान्तरण ने उन नई परिस्थितियों को जन्म दिया जिनसे पहले विवाह परिवार और जाति के परम्परागत आर्थिक आधार बदले और फिर उन आधारों के बदलने से, विवाह परिवार और जाति में परिवर्तन आए। शहरीकरण और औद्योगीकरण ने नए व्यक्तिवादी सामाजिक आदर्शों को जन्म दिया। अंग्रेजी शिक्षा तथा ईसाइयों के प्रचार के द्वारा नई योरोपीय मान्यताओं का प्रचार हुआ जिनके प्रभाव में विवाह परिवार और जाति से सम्बन्धित आधारभूत मान्यताओं और आदर्शों की समालोचना और पुनर्परीक्षण किया गया। रूमानी प्रेम, विवाह में वैयक्तिक स्वच्छन्दता यौन-सन्तुष्टि के प्रति प्रकृतिवादी दृष्टिकोण नारी अधिकार, पारिवारिक सम्बन्धों में प्रजातन्त्रवादी विचारों की मांग के विचार इसी काल में पनपे। इन विचारों का प्रसरण योरोप से हुआ है—उस योरोप से जिसमें वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी, शहरीकरण औद्योगीकरण, पूंजीवाद, उदारवाद, साम्यवाद, ईसाइयत और रोमन विधिप्रणाली ने, इन विचारों को जन्म दिया था। यह पहले

कहा जा चुका है कि अंग्रेजी राज में, गोरा विधि प्रणाली के मूल सिद्धांतों का अनुसरण करते हुए, इस काल के भारत में, हिंदू और मुस्लिम स्वीय विधि प्रणालियों का संहिताबद्ध करने तथा उन्हें निश्चित ढंग से निर्वचित करने का प्रयास किया गया। अदालतों के स्थापित होते ही यह प्रश्न उठा कि वैधिक दृष्टिकोण से हिंदू कौन है, मुसलमान कौन है और विभिन्न हिंदू मुस्लिम-परम्पराओं के वैधिक आधार क्या है?

शरिअत के कारण इस्लामी परम्पराओं में, हिंदू परम्पराओं की अपेक्षा, अधिक निश्चितता थी। उधर, नई मान्यताओं के कारण, अनेक सुधारों को कार्यान्वित करने तथा उनको वैध आधार प्रदान करने की समस्या उठ खड़ी हुई जिसके कारण नये अधिनियमों को पास करने की आवश्यकता पड़ी। उदाहरणार्थ, जब ब्रह्मसमाजियों ने वैवाहिक कर्मकाण्ड को सम्पन्न करने के लिए, एक अलग अनुष्ठान-पद्धति की रचना की तब यह प्रश्न उठा कि अनुष्ठान पद्धति के आधार पर सम्पन्न विवाह वैध है या नहीं। सरकार की ओर से यह कहे जाने पर कि हिंदू विधि प्रणाली के अनुसार, ब्रह्मसमाजी अनुष्ठान-पद्धति के आधार पर किया हुआ विवाह वैध नहीं है, ब्रह्मविवाह को वैधता प्रदान करने के लिए एक नए कानून की आवश्यकता पड़ी। किन्तु जब सरकार ने ब्राह्मो विवाह अधिनियम पारित किया, तो उसका विरोध किया गया और उसके फलस्वरूप स्पेशल मैरिज एक्ट (1872) का जन्म हुआ, जिसमें अन्तर्जातीय तथा अन्तर्साम्प्रदायिक विवाहों को मान्यता देकर, बालिग नवयुवक और नवयुवतियों को अपना जीवन साथी स्वयं चुनने का अधिकार देकर और तलाक के लिए विधान बनाकर विवाह को जाति परिवार, सम्प्रदाय और सम्बन्धियों के अधिकार से मुक्त करके, संस्कार के स्थान पर समझौता बना दिया गया। यही कदम आर्यसमाजी तथा सिक्खसमाजी विवाहों को वैधता प्रदान करने के लिए उठाया गया।

परम्परागत हिन्दू विधि प्रणाली में, नारी को सम्पत्ति तलाक और विधवा होने पर पुनर्विवाह करने का अधिकार न था। विधवा-पुनर्विवाह और तलाक के स्थान पर हिंदू शास्त्रकारों ने नियोग का विधान रखा था, जो वास्तविक काम पर आदर्श अधिक था। इसी प्रकार निम्नस्तर की जाति के सदस्य अनेक सामाजिक आर्थिक निर्योग्यताओं के शिकार थे। अंग्रेजी राज के संघात से जो नई सामाजिक आर्थिक परिस्थितियाँ अस्तित्व में आईं और समतावादी, बन्धुतावादी, स्वतन्त्रतावादी और राष्ट्रवादी जो आन्दोलन भारत में फैले, उनके सन्दर्भ में ये व्यावहारिक मान्यतायें सामाजिक समस्यायें बन गईं। ईसाई मिशनरियों ने ऐसी ही समस्याओं को लेकर हिंदुत्व की आलोचना करनी शुरू की। फलतः, हिन्दुओं ने अपना पुनर्मूल्यांकन प्रारम्भ किया। धर्मशास्त्रों का मंथन और निर्वचन शुरू किया गया और इस निर्वचन के द्वारा यह सिद्ध किया जाने लगा कि शास्त्रों में सती, विधवा-पुनर्विवाह

नारी को सम्पत्ति और तलाक का अधिकार न देने, बाल विवाह, स्त्री शिक्षा को न अपनाने तथा अस्पश्यता और ऊंच-नीच के भेदभाव का अनुमोदन नहीं है। एक नये प्रगतिशील तथा नई परिस्थितियों के अनुसार सुयुक्तिपूर्ण समाज की स्थापना के लिये स्वयं हिन्दुओं ने सुधारों की मांग की और सामाजिक विधान द्वारा, समाज और संस्थाओं के सुधार के लिए आन्दोलन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे धीरे उन अनेक अधिनियमों[1] को पास किया गया जिनसे विवाह परिवार और जाति में परिवर्तन आए।

विवाह, परिवार और जाति में परिवर्तन लाने वाले कारकों को तीन श्रेणियों में रक्खा जा सकता है—पहली श्रेणी में आर्थिक सामाजिक कारक आते हैं दूसरी में वैधिक न्यायिक कारक और तीसरी में नई सामाजिक सांस्कृतिक मर्यादायें आदर्श, प्रहार्यें और उत्प्रेरणायें, जिनका अभ्युदय पश्चिम के सघात से हुआ। किन्तु इन सभी कारकों का अभ्युदय धीरे धीरे हुआ है जिसके कारण विवाह, परिवार और जाति में होने वाले परिवर्तन विशृंखलक न होकर उद्विकासी रहे हैं। योरोप के संघात से भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन पुनरुन्नयनवादी रहा है। विवाह परिवार और जाति में होने वाले परिवर्तन भी पुनरुन्नयनवादी विचारधारा से प्रभावित रहे हैं और, इसकारण अंग्रेजी राजकाल में विवाह, परिवार और जाति से सम्बंधित अनेक परम्पराओं और परम्परागत विचारों का, अस्पष्ट धार्मिक बंधता के स्थान पर, निश्चित सामाजिक बंधता मिली है।

विवाह का मूल अर्थ कपाडिया के अनुसार, वर द्वारा वधू को अपने घर ले जाने से है किन्तु अपने इन्गित अर्थ में विवाह प्रतीक है उन सभी समारोहों और कर्मकाण्डों का जो वरीच्छा से लेकर सोहागरात और गौने तक किए जाते हैं और जिनके द्वारा नर-नारी समाज द्वारा मान्य पति पत्नी के सम्बन्धों में बंधकर माता पिता की भूमिका ग्रहण करते हैं और परस्पर सामाजिक आभारों तथा अधिकारों को निभाते हैं। विवाह का यह मूलरूप, भारत की विभिन्न जातियों, गणजातियों, सामाजिक सांस्कृतिक समूहों (हिन्दू मुस्लिम आदिवासी) और क्षेत्रों (जैसे जौनसार बावर नीलगिरि, केरल और आसामी प्रदेश) में विभिन्न रूपों में पाया जाता है।

---

1 हिन्दू संस्थाओं में परिवर्तन और स्थायित्व लाने वाले मुख्य अधिनियम ये हैं — दि कास्ट डिजेबिलिटीज रिमूवल एक्ट (18५0), हिन्दू विडोज रिमैरिज एक्ट (18५6), हिन्दू डिस्पोजीशन आफ प्रापर्टी एक्ट (1916), हिन्दू गेंस आफ लर्निंग एक्ट (1930), दि हिन्दू ला आफ इनहरिटेंस एक्ट (1929), हिन्दू वुमंस राइटस टु प्रापर्टी एक्ट (1937) दि स्पेशल मैरिज एक्ट (19५4) दि हिन्दू मैरिज एक्ट (1955), दि हिन्दू सक्सेशन एक्ट (1956), दि हिन्दू माईनारिटी एण्ड गार्जियनशिप एक्ट (1956) दि हिन्दू एडाप्शन एण्ड मेंटनेंस एक्ट (1956)—देखिए आयवाला एन० एच० कृत प्रिंसिपल्स आफ हिन्दू ला।

सामाजिक-सांस्कृतिक समूहों के सन्दर्भ में विवाह के तीन मुख्य प्रकार—हिन्दू, मुस्लिम और आदिवासी—पाए जाते हैं। पश्चिमी सभ्यता के संघात से इन तीनों प्रकारों में परिवर्तन आया है। आदिवासी विवाह का वर्णन आदिवासी संस्कृति के सन्दर्भ में किया जायगा। यहाँ हिन्दू और मुस्लिम विवाहों पर यूरोपीय सभ्यता का संघात और उससे उत्पन्न परिवर्तनों का वर्णन किया जाता है।

२

हिन्दू-विवाह

हिन्दू विवाह के दो रूप रहे हैं—एक शास्त्रीय, जिसका प्रतिपादन शास्त्रों में किया गया है और दूसरा, व्यावहारिक अर्थात् जो विभिन्न जातियों और क्षेत्रों में मिलता है। हिन्दू विवाह का व्यावहारिक रूप विचरणशील रहा है और विवाह के शास्त्रीय प्रतिपादन में एकमतता नहीं रही है। उदाहरणार्थ शास्त्रों में विधवा विवाह का अनुमोदन नहीं है किन्तु हिन्दू सामाजिक संरचना के मध्य तथा निम्नस्तरों में पाई जाने वाली अनेक जातियों में विधवा विवाह होता रहा है। शास्त्रों में सामान्यतः विवाह-विच्छेद का अनुमोदन नहीं है किन्तु मध्य तथा निम्नस्तर की जातियों में विवाह विच्छेद का विधान रहा है। जिन कर्मकाण्डों का शास्त्रों में वर्णन है उनका प्रयोग उन्हीं जातियों में होता रहा है जिनमें ब्राह्मण-पुरोहित विवाह सम्पन्न करवाता रहा है। कन्यादान की धारणा ने विवाह में कन्यादान लेने वाले को दक्षिणा देने की आवश्यकता को जन्म दिया जिसने, मुद्रायुक्त आर्थिक व्यवस्था में दहेज का रूप लिया। किन्तु, दहेज केवल उच्चवर्णी जातियों में ही सीमित रहा। मध्य तथा निम्नवर्णी जातियों में वधू धन की प्रथा चलती रही। अवध की उच्च जातियों में वर की बारात आती है किन्तु निम्न स्तर की जातियों में वधू की बारात (पयन्जी) जाती है। यूरोपीय सभ्यता के संघात से बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियों में जब निम्नस्तरीय जातियों की आर्थिक स्थिति सम्हली और नये आन्दोलनों के कारण जब निम्नस्तर की जातियों ने अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के उठान का प्रयास किया, तो उन्होंने शास्त्रीय विधि विधान, ब्राह्मण द्वारा सम्पन्न कर्मकाण्ड, कन्यादान, बारात, दहेज, विधवा पुनर्विवाह—तथा तलाक निषेध अपनाना प्रारम्भ किया। पश्चिमी सभ्यता के संघात से उत्पन्न परिस्थितियों में उच्चवर्गीय जातियाँ विवाह-संस्कार के कर्मकाण्डों के सरलीकरण तथा पश्चिमीकरण की ओर अग्रसर हुईं और निम्नवर्णी जातियाँ शास्त्रीय कर्मकाण्ड की जटिलता की ओर।

पश्चिमी सभ्यता के संघात से इस प्रकार हिन्दू समाज के एक स्तर पर विवाह सम्बन्धी शास्त्रीय विधि विधान और कर्मकाण्ड को अपनाने पर जोर दिया

गया तो दूसरे स्तर पर शास्त्रीय विधि विधान के पुनपरीक्षण, पुनर्निवचन, सरलीकरण, सुधार और उन्हें अधिक बनाने पर जोर दिया गया। इसके फलस्वरूप, परम्परा में पुनरून्नयन और सुधार पर एक साथ जोर दिया गया। योरोपीय मापदण्डों और नई परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार ज्यों ज्यों प्रचलित विवाह परम्पराओं की आलोचना की गई त्यों त्यों शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित वैवाहिक मर्यादाओं और परम्पराओं के सुधार और पुनरून्नयन पर जोर दिया गया और शास्त्रों के ही प्रमाणों पर नये सुधारों और पुनरून्नयन की माग की गई। सुधारवादी पुनरून्नयन प्रगतिवादी विचार बना और यथावत पुनरून्नयन सनातनी विचार। इसीकारण एक ओर ब्रह्मसमाजी तथा आर्यसमाजी विवाह पद्धतियों का अभ्युदय हुआ और दूसरी ओर, परम्परागत सनातनी पद्धति था। कि तु साथ ही साथ विवाह को वधिक आधार प्रदान करने का विचार भी चलता रहा जिसके परिणामस्वरूप सिविल मैरिज (अदालती विवाह) के रूप में एक तीसरी पद्धति अस्तित्व में आई। यह पद्धति अशास्त्र हिन्दू है और अदालती। हिन्दू मैरिज एक्ट (1955) उन विवाहों पर लागू होता है जो सजातीय हैं और परम्परानुसार सगोत्र सप्रवर और सपिण्ड नहीं हैं। यदि परम्परा सगोत्र, सप्रवर और सपिण्ड विवाह की अनुमति देती है तो हिन्दू मैरिज एक्ट के अनुसार ऐसा विवाह वध है। विवाह संस्कार और कमकाण्ड वर या वधू या दोनों पक्षों की सम्मिलित प्रथाओं के अनुसार सम्पन्न किए जा सकते हैं किन्तु जहाँ परम्परानुसार सप्तपदी वैवाहिक कमकाण्ड का एक भाग है वहाँ बिना सप्तपदी के विवाह वध नहीं समझा जायगा। साधारणत हिन्दू मैरिज एक्ट के अनुसार विवाह होम और सप्तपदी हिन्दू विवाह की वधता के दो कमकाण्डी आधार हैं। किन्तु स्पेशल मैरिज एक्ट (1954) में जिसका उद्देश्य अन्तर्जातीय और अन्तर्सम्प्रदाय विवाहों को वधता प्रदान करना है विवाह होम सप्तपदी और ब्राह्मण पुरोहित के स्थान पर तीन गवाहों और विवाह अफसर की उपस्थिति में वर वधू से एक दूसरे को पति पत्नी बनने की प्रतिज्ञा कराने तथा विवाह के निबन्धन (Registration) का विधान है। पति पत्नी विवाह अफसर से अपने विवाह का सर्टीफिकेट ले सकते हैं। यह विवाह-पद्धति उस विवाह पद्धति की प्रतिकृति है जो इसाइयत के प्रभाव से योरोप में विकसित हुई है।

हिन्दू विवाह का विधिकरण और उससे उत्पन्न होने वाले परिवर्तन, योरोपीय सभ्यता के संघात के मुख्य योगदान हैं। कि तु इन योगदानों को समझने के लिए हिन्दू विवाह की शास्त्र प्रतिपादित सामाजिक सांस्कृतिक विशेषताओं को समझना आवश्यक है। हिन्दू विवाह नर नारी के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके अर्थ और काम की साधना का

परम्परागत आधार

मुख्य माध्यम है। विवाह के बिना पुरुषार्थ की साधना सम्भव नहीं है। अतः, विवाह धर्म-साधना आत्मानन्द और देव, पितृ ऋषि तथा समाज के ऋणों को चुकाने का

एक आवश्यक माध्यम है, जिसकी अवहेलना व्यक्ति नहीं कर सकता है। विवाह एक संस्कार है जिसमें धर्म, प्रजा (संतान) और रति (आनन्द) की साधना होती है। विवाह के उद्देश्यों में रति का स्थान निम्नतम है। हिन्दू के लिए पत्नी पुरुषार्थ और गृहस्थाश्रम का मूलाधार है। विवाह से पितृऋण से उऋणता मिलती है नर-नारी के सम्बन्ध नियमित होते हैं, अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न करने के लिए पुत्र की प्राप्ति होती है समाज में व्यवस्था आती है और व्यक्ति को धर्म तथा मोक्ष की साधना में सहायता मिलती है। पुत्र प्राप्ति और प्रजनन क्रिया हिन्दू के लिए धार्मिक क्रियायें हैं। विवाह शरीर-संस्कार भी है और धार्मिक संस्कार भी। केवल शूद्र विवाह में ही हर्ष, प्रेम-सुख की प्रधानता दी जाती है। नर-नारी का पति-पत्नी के रूप में मिलन आदि पुरुष और आदि प्रकृति के दो इहलौकिक प्रतीकों का मिलन है और इसलिए यह मिलन शरीरी भी है और रहस्यात्मक भी। यह मिलन, इसी कारण अविच्छेद्य है, शाश्वत है जिसे कर्मकांडों द्वारा सम्पन्न करके, पति पत्नी के रूप में मिलने वाले नर नारी को उस अविच्छेद्य और शाश्वत मिलन की गरिमा का अनुभव कराया जाता है। विवाह अलौकिक बन्धन है जिसे कर्मकाण्ड के द्वारा और भी अलौकिक रूप देने का प्रयास किया गया है। वैवाहिक कर्मकांडों में देव पितरों का आवाहन, कन्यादान, विवाह होम के द्वारा अग्नि को साक्षी बनाना और सप्तपदी विवाह में अलौकिक पुट देते हैं। विवाह पति-पत्नी के बीच एक अलौकिक, अविच्छेद्य और शाश्वत गठबन्धन है। पत्नी सहधर्मिणी है क्योंकि बिना पत्नी के गृहस्थ का कोई भी धार्मिक कृत्य सम्पन्न नहीं हो सकता है। धर्म, अर्थ, काम और गृहस्थाश्रम के आधारों का निर्वाह के लिए पत्नी आवश्यक है। पुरुष गृहपति है तो नारी गृहलक्ष्मी और गृहस्वामिनी।

संस्कार के रूप में विवाह एक सामाजिक धार्मिक कृत्य है। इसकारण, विवाह सूत्र में बंधन मात्र नर नारी नहीं वरन विवाह के सामाजिक पहलू महत्वपूर्ण हैं। व्यक्ति पितृ का ऋणी है, इसलिए विवाह में पितृ का और पितृ के माध्यम से परिवार का महत्व बढ़ जाता है। विवाह, पति-पत्नी के सम्बन्ध में बंधन मात्रे नर-नारी में, समझौतामात्र नहीं है वरन उनकी आत्मोन्नति अभ्युदय और निःश्रेयस के लिए एक विधान है। अतः, विवाह में नर नारी के अभिभावक का महत्व बढ़ जाता है। ऐसी दशा में व्यक्ति के स्थान पर कुल और परिवार की सत्ता बढ़ जाती है। विवाह केवल मनमाना नहीं वरन सामाजीकृत संयोजन है। व्यक्ति से अधिक महत्वपूर्ण है संयोजन की सामाजिक वैधता जो संयोजन नियमों के द्वारा प्रतिपादित होती है। हिन्दू अगम्यागमन की धारणा में सपिण्ड, सप्रवर और सगोत्र विवाह अवैध हैं। याज्ञवल्क्य के अनुसार वधू न तो वर की सपिण्ड होनी चाहिए और न वर के गोत्र और प्रवर की होनी चाहिए। वधू को वर की माता की पांच पीढ़ियों और पिता की सात

पीढियो के उस पार की होना चाहिए[1]। मिताक्षरा के अनुसार, जिन व्यक्तियो मे एक ही पूवज का रक्त है, वे सपिण्ड हैं। दायभाग के अनुसार, जो पिण्डदान और अन्त्येष्टि क्रिया स बध हैं वे सपिण्ड है। एक ही पूवज की सतान पिण्डदान और अन्त्येष्टि क्रिया स बधते है। मिताक्षरा विधान के अनुसार, वे सपिण्ड जो एक ही पूवज की सतान है और माता की ओर से पाच पीढी तथा पिता की ओर स सात पीढी म आते है, विवाह के अधिकारी नही है। साधारण नियम यह है कि वर और वधू एक ही कुल के न हो, क्योकि कुल एक विस्तृत परिवार है जिसकी एकता बनाए रखने के लिए सपिण्ड, सगोत्र और सप्रवर विवाह का निषेध वाछनीय है।

सपिण्ड सप्रवर और सगोत्र विवाह निषेध एक ऐसा आदश शास्त्र नियम है जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वश्य जातियो म सामान्यत पाया जाता रहा है यद्यपि इन जातियो म भी इसके अपवाद मिल जाते हैं। हटन के अनुसार बिहार के शाकद्वीपी ब्राह्मणो मे सगोत्र विवाह का नही बल्कि 'सुपुर विवाह का निषेध है। शूद्रवर्णी जातियो म साधारणत सपिण्ड सबन्ध और मा की पाच पीढियो और पिता की सात पीढियो म सबधन निषेध का व्यावहारिक विधान मिलता है। सपिण्ड, सप्रवर और सगोत्र तथा मा की ओर पाच पीढियो तथा पिता की ओर सात पीढियो म विवाह निषेध करने के कारण भाई बहिन और पिता के भाई-बहिन मा के भाई बहिन और सौतेली माताओ के लडके लडकियो म विवाह स्वत अगम्यगमन की श्रेणी म आ जाता है यद्यपि भाई-बहिन क विवाह निषेध को छोडकर सवत्र इस आदश विधान को नही अपनाया गया है। मा के भाई और पिता की बहिन के लडके या लडकी से विवाह दक्षिण के हिन्दुओ म उत्तम माना जाता है। शास्त्र की मान्यताओ के अनुसार विवाह सपिण्ड क सबधन तथा एकीकरण का आधार है। अत, तलाक नही नियोग

---

1 गोत्र का तात्पय उस समूह से है जिसके व्यक्ति अठारह गोत्रकार ऋषियों में से किसी एक को अपना पूवज मानकर, आपस में विवाह नहीं करते है। वदिक परम्परा क अनुसार गोत्र अठारह ह किन्तु, वास्तविक व्यवहार में गोत्रों की सख्या अठारह स अधिक है। सभी गोत्र वदिक ऋषियों पर ही आधारित नहीं ह—कुछ स्थानवाची ह और कुछ टोटेमवादी। वदिक गोत्र बहुधा उच्चवर्णी जातियो में पाये जाते ह और स्थानवाची तथा टोटेमवादी गोत्र निम्नवर्णी जातियो में। सगोत्र विवाह का आदश केवल उच्चवर्णी जातिया ही मानती ह क्योंकि निम्नवर्णी जातियों में इसके अपवाद भी पाये जाते ह। बगाल क राजवशी सगोत्र विवाह करते ह। एक गोत्र कई जातियों में पाया जाता है। प्रवर का तात्पय उन ऋषियों से है जो विभिन्न गोत्रों में उत्पन्न हुए ह और जिनसे प्रत्येक गोत्र की गरिमा बढ़ी है। हर गोत्र क अलग-अलग प्रवर ह।

महत्वपूर्ण है क्योंकि तलाक से सपिण्ड खण्डित होता है जबकि नियोग से बढ़ता है। इसी दृष्टिकोण से देवर और साली के साथ विवाह वांछनीय माना गया है।

सपिण्ड, सगोत्र और सप्रवर विवाह अवांछनीय हैं किन्तु सवर्ण विवाह वांछनीय और उत्तम। अन्तर्वर्ण का भी विधान है पर एक शर्त के साथ। पुरुष अपने से निम्न वर्ण की नारी से विवाह कर सकता है किन्तु नारी अपने से निम्न वर्ण के पुरुष के साथ विवाह नहीं कर सकती है। इसी आधार पर अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों में अन्तर करके अनुलोम को वांछनीय और प्रतिलोम को अवांछनीय माना गया है। किसी भी पुरुष का अपने या अपने से निम्नवर्ण की नारी या नारियों से विवाह करना अनुलोम विवाह है और किसी नारी का अपने से निम्नवर्ण के पुरुष के साथ विवाह करना प्रतिलोम विवाह। अनुलोम विवाह के नियमानुसार, ब्राह्मण, अपने वर्ण के अलावा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों, क्षत्रिय अपने वर्ण

समाज वर्ण संगठन के आदर्श सिद्धान्त पर संगठित जातियों में विभक्त रहा है। हिन्दू समाज ब्राह्मण जातियां क्षत्रिय जातियों वैश्य जातियों तथा शूद्र जातियों में संगठित रहा है। एक वर्ण में कई अन्तर्विवाही समूह रहे हैं और प्रत्येक अन्तर्विवाही समूह बहिर्विवाही गोत्रों और कुलों में बटा रहा है। कुलों में सामाजिक प्रतिष्ठा की उच्चनीच परम्परा पाई गई है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मणों में सारस्वत, कान्यकुब्ज गौड़ उत्कल, मैथिल (पंचगौड़) तथा कर्णाटक, महाराष्ट्र तैलंग द्रविड़ और गुर्जर (पंच द्राविड़) समूह हैं जिनमें से अधिकतर अन्तर्विवाही हैं। कान्यकुब्ज गोत्रों में बटे हैं और प्रत्येक गोत्र कर्मकाण्ड पर आधारित समूह (मिश्र शुक्ल वाजपेई उपाध्याय इत्यादि) और प्रत्येक समूह अलग अलग सामाजिक प्रतिष्ठा वाले कुलों में[1]। प्रत्येक कान्यकुब्ज अपने समान या उच्च कुल में लड़की देता है और अपने से नीचे कुल की लड़की ले लेता है। इसप्रकार, वास्तविक व्यवहार में सवर्ण विवाह सजाति विवाह के रूप में रहा है और अनुलोम प्रतिलोम विवाह जाति अन्तर्विवाहिकी के अन्दर अन्तःकुल विवाहों के रूप में। शास्त्रीय प्रतिपादन कुछ और रहा है और वास्तविकता कुछ और।

वरण की भिन्नता के आधार पर हिन्दू शास्त्रकारों ने आठ प्रकार के विवाह माने हैं—ब्राह्म दैव आर्ष प्राजापत्य असुर गान्धर्व, राक्षस और पैशाच। इनमें पहले चार प्रकार वाछनीय हैं और दूसरे चार प्रकार अवांछनीय। इन प्रकारों की वाछनीयता और अवांछनीयता का आधार वैधिक भी है। शास्त्रकारों के अनुसार पहले चार प्रकारों में नारी को पति का गोत्र मिलता है अतः नारी के स्त्रीधन का अधिकारी पति होता है। किन्तु दूसरे चार प्रकारों में चूंकि नारी को पति का गोत्र नहीं मिलता है अतः उसका स्त्रीधन उसके माता पिता के परिवार को जाता है। इस परम्परागत वैधिक अन्तर को न्यायालयों ने नहीं स्वीकार किया है। किन्तु फिर भी यह अन्तर चल रहा है। वास्तविक व्यवहार में हिन्दुओं में ब्राह्म और आसुर प्रकार ही प्रचलित हैं। ब्राह्म का मुख्य आधार वर का चुनाव करके कन्यादान करना है और आसुर का वधूधन। वधूधन प्रथा पर आधारित है न कि किसी वध संविदा पर। इन आठ प्रकार के विवाहों को शास्त्रीय मान्यता देने का उद्देश्य सभी प्रकार के विवाहों से उत्पन्न सन्तान को सामाजिक वैधता प्रदान करना है।

वर और कन्या का शास्त्रों द्वारा निर्धारित मर्यादाओं के अनुसार ब्रह्मचारी होना अपेक्षित है। वर को अविलुप्त ब्रह्मचारी श्रुतवान (वेद का ज्ञाता) वयस्क और पुंसक होना चाहिये। कन्या रोगी न हो उसके बाल और आंखों का रंग रक्ताभ न हो उसके शरीर पर बालों की अधिकता न हो और उसकी चाल-ढाल

---

1 विशेष विवरण के लिये देखिये मिश्र मनोलाल की पुस्तक कान्यकुब्ज वंशावली।

तथा रूप रंग पुरुषों का सा न हो। जिस प्रकार वर के लिये अविलुप्त ब्रह्मचारी होना आवश्यक है उसी प्रकार कन्या के लिये यह आवश्यक है कि वह परपरिगृहीता न हो। जिस परिवार में शास्त्र और वेदों का निरादर हो, जिसमें कन्यायें ही हों, जिसके सदस्यों के शरीर पर अत्यधिक बाल हों तथा जिसके सदस्य रक्तस्राव, तपेदिक, अपाचन, मिरगी और सफेद या काला कोढ़ इत्यादि बीमारियों के शिकार हों, वहाँ विवाह नहीं करना चाहिये[1]।

संस्कार गणपति के अनुसार ब्राह्मविवाह पंचांग होता है। वाग्दान, वरण, प्रदान (कन्यादान), पाणिग्रहण और सप्तपदी उसके पांच अंग हैं। वाग्दान और वरण अभिभावकों और गुरुजनों द्वारा सम्पन्न होना है। कन्यादान भी अभिभावक द्वारा सम्पन्न किया जाता है। कन्यादान का अर्थ यह नहीं है कि कन्या पर उसके पिता माता या किसी अभिभावक का वैसा ही अधिकार है जैसे कि किसी चल या अचल सम्पत्ति पर। कन्यादान से न किसी स्वत्व का सृजन होता है, न विसर्जन और न हस्तान्तरण का। यह अवश्य है कि कन्यादान में कन्या वर को सौंपी जाती है। कन्या का पिता दाता होता है और उसके न होने पर जैसा कि याज्ञवल्क्य ने विधान किया है, क्रमशः पितामह, बड़ा भाई, माता या कोई बड़ा सम्बन्धी कन्या वर को सौंपने का कार्य सम्पन्न कर सकता है। दाता कई हो सकते हैं पर आदाता हर दशा में वर ही होता है। गीता में निष्काम दान को सात्विक माना गया है। इस दृष्टिकोण से कन्यादान शब्द का प्रयोग उचित ठहराया जा सकता है। किन्तु, दान की यह परिभाषा वैधानिक नहीं है। दानक्रिया कौमुदी में गोविन्दानन्द ने यह कहा है कि दान वह त्याग है जो युगपत् उद्दिष्ट (नामाङ्कित) व्यक्ति में स्वामित्व उत्पन्न करता है जिसका तात्पर्य यह हुआ कि स्वामित्व दाता से आदाता में चला जाता है। तो फिर क्या जामाता दान में ली हुई पत्नी का दान कर सकता है? स्मृतिकारों का उत्तर है नहीं। तब कन्या में पिता का स्वामित्व नहीं ठहरता है। वसिष्ठ स्मृति में माता पिता को सन्तान बेचने, दान करने और त्यागने का अधिकार है किन्तु मनु के अनुसार विद्वान पिता कन्या के लिये थोड़ा-सा भी शुल्क न ले। लोभवश शुल्क लेने से मनुष्य अपत्य विक्रयी—सन्तान बेचने वाला—हो जाता है। कन्यादान विवाह का एक अंग है अवश्य पर कन्यादान उतना वैधानिक नहीं है जितना सप्तपदी है। कन्यादान के द्वारा पति स्वत्व नहीं कर्तव्य प्राप्त करता है। फिर कन्या को वर को सौंपने की क्रिया के लिये दान शब्द क्यों प्रयुक्त हुआ? यह सम्भवतः भाषा की वैसी ही गलती है जैसी सूरज उगता है या डूबता है की अभिव्यक्ति में व्याप्त है[2]।

---

1 विशद वर्णन के लिये देखिये—पी० एच० प्रभु कृत हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन
2 श्री सम्पूर्णानन्द हिन्दू विवाह में कन्यादान का स्थान।

तब, प्रश्न उठता है कि क्या परम्परा के रूप में कन्यादान एक वैधानिक प्रतीक (Legal Fiction) मात्र है ? इस प्रश्न पर दो मत हो सकते हैं। किन्तु, यह एक प्रकार से निश्चित है कि वाग्दान, वरण और प्रदान (कन्यादान) से सम्बन्धित कर्मकाण्ड और मर्यादायें विवाह में कन्या के अभिभावक की अनुमति को वैधानिकता प्रदान करती हैं और पाणिग्रहण तथा सप्तपदी से सम्बन्धित कर्मकाण्ड कन्या की अनुमति को। किन्तु किस आयु में कन्या को यह अधिकार मिलता है और कन्या विवाह के योग्य होती है, इस पर शास्त्रकारों में मतविपर्यय है। इसकारण, जब भारत पर योरोप का संघात हुआ और भारत में व्यक्तिवादी तथा समतावादी वैधानिक विचारधारा का प्रसार हुआ तो इस प्रश्न को लेकर दो मत अस्तित्व में आए—एक, उन परम्परावादियों का जिन्होंने 'दशवर्षा भवेत भार्या' वाले स्मार्त के वचन को लेकर दस वर्ष की आयु को विवाह की आयु मानकर बाल विवाह का पक्ष लिया और दूसरा उन लोगों का जिन्होंने शास्त्रों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि शास्त्रों में बाल विवाह का अनुमोदन नहीं है और इस बात पर जोर दिया कि आक्रमणकारियों से लड़कियों की रक्षा करने के लिये ईसवी सन की पहली पाँच या [illegible] शताब्दियों में स्मृतिकारों में कन्या की विवाह आयु को कम से कम करने की प्रवृत्ति रही है। स्मृतिकारों का यह मत है कि रजोदर्शन के बाद यदि कन्या पिता के घर रहती है तो वह वृषला व शूद्रा हो जाती है और ऐसी कन्या का विवाह न करने वाले पिता को भ्रूण हत्या का पाप लगता है। मनु ने यह विधान किया है कि ऋतुमती होने के बाद, कन्या के अभिभावक यदि उसका तीन साल तक विवाह नहीं करते हैं तो उसे स्वयं अपना पति चुनने का अधिकार है। मनु ने वर की आयु तीस वर्ष और कन्या की आयु बारह वर्ष रक्खी है। विवाह योग्य कन्या के लिये 'नग्निका' और 'प्राप्तयौवना' विशेषणों का भी प्रयोग किया गया है जिनका अर्थ षोडशी लगाया गया है अर्थात वह आयु जब कन्या शरीर से पत्नीत्व और मातृत्व का भार उठाने योग्य हो। वर की आयु के विषय में शास्त्रकार चुप हैं। हाँ, एक यह साधारण नियम अवश्य पाया जाता है कि पुरुष का विवाह समावर्तन संस्कार के बाद होना चाहिये जो पचीस वर्ष के करीब आता है। हर दशा में इस बात का विधान अवश्य है कि वर की आयु कन्या से अधिक होनी चाहिये।

योरोप के सम्पर्क में आने के बाद जब बाल विवाह और बाल विधवाओं को लेकर हिन्दुओं की योरोपियनों ने आलोचना शुरू की तब एक ओर इस बात पर जोर दिया गया कि सामाजिक विधान द्वारा विवाह की आयु निर्धारित कर दी जाय और, दूसरी ओर यह सिद्ध करने पर कि शास्त्रों में वयस्क विवाह का पहले ही से विधान है। डाक्टरों की राय के आधार पर केशव चन्द्र सेन ने कन्या की विवाह-आयु चौदह साल और वर की आयु अठारह साल निर्धारित की जिसे सन् अठारह सौ बहत्तर में, स्पेशल मैरिज एक्ट द्वारा, वैधता प्रदान की गई। दयानन्द ने सुश्रुत के

आधार पर यह निर्धारित किया कि कन्या की आयु कम से कम सोलह और अधिक-से अधिक चौबीस वर्ष और वर की कम-से-कम पचास और अधिक से अधिक अड़तालीस वर्ष होनी चाहिये। स्पेशल मैरिज एक्ट (1872) का सम्बन्ध हिन्दू विवाह से न था—उसका उद्देश्य ब्रह्म समाजी विवाह को वैधता प्रदान करना था। अतः इस काल में, हिन्दू विवाह में आयु को कानूनन निर्धारित करके बाल विवाह को रोकने का प्रयास किया गया। यह प्रयास ईश्वरचन्द विद्यासागर के प्रयत्नों से शुरू हुआ। अठारह सौ साठ में विवाह की आयु दस साल रखी गई। अठारह सौ इक्यानवे में कन्या की तरह साल और वर की चौदह साल और अठारह सौ उन्तीस में शारदा एक्ट द्वारा कन्या की चौदह साल और वर की अठारह साल। इस एक्ट में बाल विवाह को रोकने का कोई विधान न था। अतः, यह एक्ट पुलिस एक्ट ही रहा। ग्रामों में बाल विवाह चलते रहे और शहरों में जहां जहां शिक्षा का प्रसार हुआ विवाह की आयु बढ़ती रही। अन्तर्जातीय विवाहों में कन्या को अठारह और वर को इक्कीस साल का होना आवश्यक है क्योंकि इस आयु में अभिभावक की अनुमति की आवश्यकता नहीं है। कृषि पर आधारित ग्रामीण व्यवस्था से बाल विवाहों को प्रोत्साहन मिला है तो शहरी, औद्योगिक व्यवस्था से वयस्क विवाह को जो धीरे-धीरे लेट विवाह का रूप ले रहा है। आज, एक ओर यदि बाल विवाह की समस्या है तो, दूसरी ओर, लेट विवाह और चिरकुमारित्व की।

पुनर्विवाह सम्बन्धी मान्यताओं में भी एकमतता नहीं है, जिसके कारण, अंग्रेजी राजकाल में, एक ओर, यह निश्चित करने का प्रयास किया गया कि शास्त्रों में पुनर्विवाह का विधान है और, दूसरी ओर, पुनर्विवाह सम्बन्धी शास्त्रीय और प्रथागत मान्यताओं को वैधता प्रदान की गई। पुनर्विवाह के कई रूप हैं—एक, जब एक पत्नी के रहते हुए पुरुष दूसरा विवाह करता है। ऐसा विवाह बहुपत्नीत्व को जन्म देता है जिसे शास्त्रकारों ने मान्यता प्रदान की है[1]। दूसरा, विधुर पुनर्विवाह जो शास्त्रों द्वारा मान्य है। तीसरा, पति को तलाक देकर पुनर्विवाह और चौथा विधवा-पुनर्विवाह। इन दोनों विवाहों को लेकर शास्त्रकारों में मतभेद है। शास्त्रकार

1 उदाहरणार्थ, कौटिल्य के अनुसार पुत्र की कामना करने वाला एक पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है यदि पहले विवाह के आठ से लेकर बारह सालों के बीच में उसकी पत्नी से पुत्र न हुआ है। मनु ने यह विधान किया है कि यदि किसी की पत्नी रोगी है तो वह उसका त्याग न करे वरन उसकी इच्छा से दूसरा विवाह कर ले—कपाडिया, मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया, पृष्ठ 172 और मनुस्मृति (9.82)। स्त्री के शराबी, बदचलन, रोगी, झगड़ालू, खर्चीली और बांझ होने पर भी पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है (मनु० 9.80, 81)।

यदि एक मत है तो इस बात पर कि एक पति के रहते हुए, कोई भी स्त्री किसी भी दशा मे, दूसरा विवाह नही कर सकती है। साधारणत, यह माना जाता है कि शास्त्रो म तलाक का विधान नही है। किन्तु, यह मान्यता निर्मूल है। वास्तव मे, शास्त्रो मे तलाक पर कम उन परिस्थितियो पर अधिक ध्यान दिया गया है जिनमे स्त्री को दूसरा विवाह करने की आवश्यकता उत्पन्न हो सकती है और इसकारण पुर्नविवाह की वधता का प्रश्न उठ सकता है। अपहरण की हुई ऐसी स्त्री जिसका विवाह वदिक मन्त्रो द्वारा न सम्पन्न हुआ हो पुन विवाह कर सकती है। कौटिल्य ने ऐसी स्त्रियो को पुर्नविवाह का अधिकार दिया है जिनका पति काफी अर्से से बाहर चला गया हो या ससार त्यागकर स यासी हो गया हो। धमसूत्रो म भी दीघकाल से बाहर गए हुए पुरुष की पत्नी का दूसरा विवाह करने का अधिकार है। नारद और पाराशर ने खोये हुए (नास्त) प्रव्रजित, क्लीव (नपुसक) और पतित (जातिच्युत) पुरुष की पत्नी का पुर्नविवाह का अधिकार दिया है। नारद क अनुसार, इन अवस्थाओ मे, नारी के सम्ब धी उससे पुनर्विवाह के लिये जोर दें चाहे नारी इसके लिय अनिच्छुक ही क्यो न हो। पाराशर स्मृति पर किये भाष्य मे, मनु का हवाला देते हुए माध्वाचाय ने यह विधान किया है कि पति के नास्त (खो जाने) होने पर, निस्सन्तान ब्राह्मण स्त्री को पति के वापस आने का चार साल क्षत्रिय-स्त्री को तीन साल और वश्य स्त्री को दो साल तक इन्तजार करके पुर्नविवाह करना चाहिये। सन्तानवती नारी को इन्तजार की अवधि दोहरी कर देनी चाहिये। गौतम ने इन्तजार अवधि छ साल रक्खी है[1]। इस प्रकार, जिन अवस्थाओं म पुर्नविवाह का विधान किया गया है, उनम इन्तजार अवधि (*Waiting Period*) भी रक्खी गई है, जिसे अग्रेजी राज मे वधता मिली।

किन्ही किन्ही अवस्थाओ मे विवाह विच्छेद का भी विधान मिलता है। यदि विवाह के समय पुरुष अपने शारीरिक तथा नतिक दोषो को छिपाता है और यदि पुरुष क्लीव है तो स्त्री को विवाह विच्छेद का अधिकार है (नारद पराशर)। कौटिल्य के अनुसार अपने शारीरिक तथा नतिक दोषों को छिपा कर विवाह करने वाला पुरुष दण्ड का भागी है—वह शुल्क और स्त्रीधन का अधिकारी नही रहता है और उसी अपराध के लिए नारी और उसके अभिभावक पर जो जुर्माना लगता उससे दुगने जुर्माने का भागी हो जाता है। इसीप्रकार, यदि स्त्री मे कामुकता और लम्पटता है और उसम ऐसे नतिक या शारीरिक दोष हैं जो विवाह के पहले छिपाये गये थे तो पुरुष को विवाह विच्छेद करने का अधिकार है। कन्या के शारीरिक तथा नतिक दूषणो को छिपाने वाले अभिभावक दण्ड के भागी हो जाते हैं। लेकिन यदि अभिभावक विवाह से पहले, कन्या के दूषणों को स्पष्ट कर देते हैं तो कोढ जैसी

1 प्रभू, पी॰ एच॰ हिन्दू सोशल आरगनाइजेशन पृष्ठ 194

बीमारियों और कौमार्यभंग जैसे गम्भीर दोषों के लिए भी न तो वे उत्तरदायी हैं और न दण्ड के भागी ही हैं। स्पेशल मैरिज एक्ट और हिन्दू मैरिज एक्ट में, थोड़े परिवर्तन के साथ आज इन मान्यताओं को वैधता मिल गई है।

मनु के अनुसार धर्मग्रन्थों में जहाँ कहीं भी विवाह का प्रसंग आया है वहाँ, न तो विधवा पुनर्विवाह के नियमों का निरूपण हुआ है और न विधवा को नियोग के लिए नियुक्त करने का उल्लेख है (मनु० 9.64-65)। किन्तु मनु के द्वारा प्रतिपादित मत में विरोध है। एक ओर वे विधवा नियोग की अनुमति देते हैं (9.60) और, दूसरी ओर यह प्रतिपादित करते हैं कि द्विजों में विधवा से नियोग नहीं करवाना चाहिए (9/64)। सधवा को सन्तानोत्पत्ति के लिए मनु नियोग की अनुमति देते हैं (9/59) किन्तु विधवा के प्रश्न पर वे अपने ही मत का खण्डन करते हैं। याज्ञवल्क्य भी विधवा पुनर्विवाह के पक्ष में नहीं हैं। कौटिल्य पाराशर और नारद विधवा-पुनर्विवाह का अनुमोदन करते हैं[1]। दयानन्द ने भी क्षतयोनि तथा अक्षतवीर्य द्विज स्त्री पुरुषों का पुनर्विवाह की अनुमति नहीं दी है और नियोग को मान्यता प्रदान की है।

इसप्रकार विधवा पुनर्विवाह को लेकर दो प्रकार के मत मिलते हैं। प्रभु के अनुसार साधारणतः विधवा पुनर्विवाह का पक्ष नहीं लिया गया है। विवाहित विधवा के लिए 'पुनर्भू' की संज्ञा का प्रयोग किया गया है। किन्तु विधवा पुनर्विवाह को संस्कार नहीं माना गया है। सच्ची स्त्री को पति की मृत्यु के बाद भी अपने सतीत्व को बनाये रखना चाहिए जैसे कि वह पति के जीवनकाल में करती है। मनु और याज्ञवल्क्य के अनुसार विधवा को दूसरे पति का नाम तक नहीं लेना चाहिए। वात्स्यायन पुनर्विवाहित विधवा को कामासुख कहते हैं और यह मानते हैं कि 'पुनर्भू' और वेश्या से स्थापित किए गए यौन सम्बन्धों में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों का उद्देश्य केवल विषय-वासना की तुष्टि है। ब्रह्मचारिणी विधवा को निस्सन्तान होने पर भी स्वर्ग मिलता है। जो विधवा अपने पति के प्रति वफादार नहीं रहती है वह पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी नहीं है और न वह अपने पति के परिवार से भरण पोषण की ही अधिकारिणी है। जिस स्त्री का पति बिना यौन सम्बन्ध स्थापित किए ही मर जाता है वह विवाह संस्कार की अधिकारिणी है। ये विचार 'सती' और 'पतिव्रता' की धारणाओं के स्वाभाविक परिणाम हैं। सती की धारणा दूसरी-तीसरी शताब्दी से मिलती है। पुराणों के काल में पतिव्रता की धारणा का प्रतिपादन जोरों से मिलता है—यह धारणा जो अनुसुइया के माध्यम से सुस्पष्ट रूप रखती है। पाराशर स्मृति (छठी-सातवीं शताब्दी) में विधवा-पुनर्विवाह का विधान है। परव-पठानों के आक्रमण के काल की स्मृतियों में नारी पुनर्विवाह का निषेध मिलता है और साथ ही-साथ बाल विवाह का प्रतिपादन। कपाडिया के मत में सातवीं शताब्दी

---

1 प्रभु और कपाडिया के आधार पर।

के आस पास विधवा पुनर्विवाह के पक्ष का सामान्यत लोप सा हो गया क्योंकि उस काल में वैधव्य को अपनाने तथा सती होने पर जोर है न कि विधवा पुनर्विवाह पर। कपाडिया के अनुसार, यह अवस्था, एक ओर पतिव्रता की धारणा के प्रति और, दूसरी ओर तान्त्रिक प्रथाओं में पाई जाने वाली यौन-उच्छृंखलता के प्रति होने वाली प्रतिक्रियाओं का स्वाभाविक परिणाम सा लगती है[1]।

विधवा को पुनर्विवाह की यदि अनुमति मिली भी है तो सीमित अर्थ में। जैसा कि कौटिल्य पाराशर और नारद की मान्यताओं में मिलता है यदि विधवा-पुनर्विवाह की अनुमति दी भी गई है तो साथ ही साथ इस बात का भी विधान किया गया है कि विधवा का मृत पति के छोटे भाई (देवर) या किसी सपिण्ड के साथ पुनर्भू बनना वांछनीय है। वास्तव में जिस अवस्था में भी स्मृतिकारों ने नारी को पुनर्विवाह की अनुमति दी है, उसमें उन्होंने देवर या पति के किसी सपिण्ड के साथ पुनर्विवाह करने पर जोर दिया है। पुनर्विवाह और तलाक के स्थान पर अधिकतर नियोग का ही पक्ष लिया गया है। नियोग का उद्देश्य काम सुख नहीं है। नियोग का उद्देश्य है प्रजा अथवा सन्तान की प्राप्ति। मनु ने नियोग के द्वारा दो से अधिक सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा नहीं दी है। नियोग या पुनर्विवाह उसी के साथ हो सकता है जो सपिण्ड है और जिसका पद देवर का है। तलाक और पुनर्विवाह यदि स्त्री को सपिण्ड के बाहर ले जाते हैं तो स्त्री को अपने पति के कुल से विच्छेद करना पड़ता है जो स्मृतिकारों को मान्य नहीं है क्योंकि इससे जहां पति के परिवार में स्त्री के अधिकार समाप्त होते हैं वहां कुल के नैरन्तर्य में बाधा पड़ती है। कृषि पर आधारित सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में परिवार से बाहर न तो पुरुष का आर्थिक स्वत्व रहता है और न नारी का और, इसी कारण सम्भवतः पुनर्विवाह की समस्या पर कुल की समष्टिवादिता के दृष्टिकोण से विचार करने पर जोर दिया गया है। यारोपीय सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के संघात ने इस स्थिति को बदल दिया जिसके कारण विवाह, तलाक और पुनर्विवाह पर वैयक्तिक दृष्टिकोण में विचार करने पर जोर दिया जाने लगा, जिसका परिणाम हुआ बहुपत्नीत्व को अवैध करार देना और तलाक तथा विधवा-पुनर्विवाह को वैधता प्रदान करना।

प्रथाओं का विधिकरण

हिन्दू वैवाहिक प्रथाओं और उनमें समयानुसार आवश्यक सुधारों को वैध बनाने के प्रयास में, अंग्रेजी राज के तत्वावधान में विधि निर्माण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी उसका वर्तमान समाहार एक ओर स्पेशल मैरिज एक्ट (1954) और दूसरी ओर हिन्दू मैरिज एक्ट (1955) में हुआ है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब ब्रह्मसमाज में वैवाहिक कर्मकाण्ड के लिए एक ऐसी

---

1 कपाड़िया वही पृष्ठ 172

अनुष्ठान पद्धति रची गई जिसमे उन सनातनी वैवाहिक कर्मकाण्डों को निकाल दिया गया जिनसे मनुष्य को मूर्तिपूजा का आभास मिलता था और अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन दिया गया। तो ब्रह्मसमाजी अनुष्ठानपद्धति के आधार पर सम्पन्न और ब्रह्मसमाज के तत्वावधान में होने वाले अन्तर्जातीय विवाहों को वैधता प्रदान करने के लिए सन अठारह सौ बहत्तर में स्पेशल मैरिज एक्ट पास किया गया था। यह एक्ट उन्हीं पर लागू होता था जो ब्रह्मसमाजी थे या जो हिन्दू नहीं थे। ऐसी दशा में, इस एक्ट के तत्वावधान में विवाह करने वालों को हिन्दुत्व से बाहर जाना आवश्यक था। किन्तु, वर्तमान एक्ट में ऐसा नहीं है। इसीप्रकार, आर्य समाज के तत्वावधान में होने वाले अन्तर्जातीय विवाहों को वैधता प्रदान करने के लिए आर्य मैरिज वैलिडेशन एक्ट (1937) पास किया गया था, जिसके अनुसार दो भिन्न जातियों के स्त्री पुरुषों का विवाह तभी वैध होता था जब पहले से आर्य समाजी हों। इसप्रकार, अंग्रेजी राज में, एक ओर, योरोपीय विचारधारा और दूसरी ओर हिन्दू-समाज में चलने वाली सुधारवादी विचारधारा के फलस्वरूप अन्तर्जातीय विवाहों को वैधता प्रदान करने का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। यह नहीं माना जा सकता कि अंग्रेजी राज की स्थापना के पहले अन्तर्जातीय विवाह होते ही नहीं थे। हां, यह अवश्य है कि पहले स्त्री-पुरुषों को इतनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता नहीं थी, जितनी की अंग्रेजी राज्य-काल में मिली और, इसकारण यदि अन्तर्जातीय विवाह होते भी थे तो उनकी संख्या कम होती थी। यदि ऐसे विवाह होते भी थे तो उनका निर्णय जाति-पंचायतों द्वारा होता था। जाति-अन्तर्वैवाहिकी के नियमों की अवहेलना करने वाले जाति पंचायतों द्वारा लगाया हुआ दण्ड देकर पुनः अपनी जाति में शामिल हो जाते थे। जाति के नियमों को भंग करने वालों को जाति से हमेशा के लिए निकाल देने की प्रथा नहीं रही है। एक ही जाति के दो अन्तर्विवाही समूहों (उपजाति) के स्त्री-पुरुष के विवाहों को भी अधिकतर अन्तर्जातीय विवाह मान कर, जाति पंचायतें उनके लिए भी वैसा निर्णय करती थीं जैसा कि अन्तर्जातीय विवाहों के लिए। यह प्रथा आज भी विद्यमान है यद्यपि धीरे धीरे यह टूट रही है। उदाहरणार्थ, लखनऊ के चमारों में यदि कुरील चमार, जैसवारा चमारों में विवाह करता है तो वह अपनी पंचायत के समक्ष दंड का भागी होता है। पंचायत का नियम दोनों ओर लागू होता रहा है। यदि कोई व्यक्ति अपने अन्तर्विवाही समूह के बाहर की औरत से विवाह करता है तो वह पंचायत के समक्ष दंड का भागी है और यदि कोई व्यक्ति अपनी लड़की को अपने अन्तर्विवाही समूह के बाहर के व्यक्ति को देता है या उसकी लड़की किसी अपने ही जाति के सदस्य या दूसरी जाति के सदस्य के साथ भाग जाती है तो भी वह पंचायत के समक्ष दण्ड का भागी है। किन्तु, अंग्रेजी राज्य-काल के न्यायालयों में एक ही जाति के अन्तर्विवाही समूहों को, एक ही जाति या उपजातियां मानकर, उनके स्त्री-पुरुषों के विवाह को वैध माना जाने लगा और अन्तर्जातीय विवाहों में अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह सिद्धान्तों के

आधार पर, उन विवाहो को वध माना जाने लगा जिनमे वर उच्च जाति का और कन्या निम्न जाति की थी और उन विवाहो को अवैध माना जाने लगा जिनमे वर निम्न जाति का और कन्या उच्च जाति की थी।

इसमे कोई शक नही कि हिन्दु विधान मे अन्तरउपजातीय विवाहो का निषेध नही है किन्तु हिन्दु सामाजिक व्यवस्था मे उपजाति के नाम की कोई चीज भी तो नही है। हिन्दू सामाजिक व्यवस्था मे प्रत्येक अन्तर्विवाही समूह जाति है। उपजाति की अवधारणा विदेशियो का प्रतिरोपण है। अनुलोम प्रतिलोम का सम्बन्ध वर्ण व्यवस्था से रहा है न कि जाति व्यवस्था से। हिन्दू शास्त्रकारो ने प्रतिलोम को दोषी माना है न कि अवैध। अनुलोम भी हिन्दू शास्त्रकारो के अनुसार मात्रदोष को जन्म देता है। हिन्दू शास्त्रकारो की मान्यता मे प्रतिलोम अवाछनीय रहा है न कि अवैध। किन्तु अग्रेजी विधिप्रणाली के आधार पर सगठित न्यायालयो ने इस नियम को दूसरे ढग से लागू किया। न्यायालयो ने एक ओर यह नियम प्रतिपादित किया कि ब्राह्मण कन्या और राजपूत (क्षत्रिय) वर का विवाह अवैध है (देखिये लक्ष्मी बनाम कल्याणसिंह 2 बम्बई एल० आर० 128) और दूसरी ओर यह कि एक ब्राह्मण स्त्री शूद्र पुरुष से वैध विवाह नही कर सकती है (देखिये बाई काशी बनाम जमनादास 14 बम्बई एल० आर० 547)। इसप्रकार अन्तर्जातीय विवाहो की वैधता के प्रश्न को लेकर विवाह सम्बन्धी हिन्दू विधि का जो निर्वचन न्यायालयो मे प्रस्तुत किया गया उसमे विरोध आ गया जिसके फलस्वरूप अन्तर्जातीय तथा अन्तर्सम्प्रदाय विवाहो को वैधता प्रदान करने के लिए एक अखिल भारतीय अधिनियम की आवश्यकता उत्पन्न हुई। उधर योरोपीय शिक्षा नई व्यक्तिवादी आर्थिक-व्यवस्था और नगरो मे बढती हुई व्यक्तिवादिता ने अन्तर्जातीय विवाहो को प्रोत्साहित किया जिससे अन्तर्जातीय विवाहो की वैधता प्रदान करने की आवश्यकता और भी बढी। स्पेशल मैरिज एक्ट (1954) इसी सामाजिक आवश्यकता का प्रतिफल है। स्पेशल मैरिज एक्ट की प्रस्तावना मे यह कहा गया है कि इस एक्ट का उद्देश्य विशेष अवस्थाओ मे, विशेष विवाह प्रकार उसके निबन्धन और तलाक को वधिक मान्यता प्रदान करना है। ये विशेष अवस्थाये उसी समय उत्पन्न होती हैं जब दो जातियो सम्प्रदायो और धर्मों के व्यक्ति विवाह बन्धन मे बधते हैं। इस एक्ट द्वारा मान्य विवाह प्रकार सस्कार नही समझौता है। उसमे कर्मकाड का कोई स्थान नही है। यह योरोपीय सघात से उत्पन्न सामाजिक आवश्यकता का प्रतिफल है।

हिन्दू मैरिज एक्ट (1955) इसके विपरीत हिन्दू विवाह परम्पराओ का सामाजिक परिवर्तन से उत्पन्न मर्यादाओ के अनुसार विधिकृत करने की आवश्यकता का प्रतिफल है। इससे जहा इस काल के हिन्दू सास्कृतिक पुनर्नयन तथा सामाजिक नवजागृति की आकाक्षाओ की तुष्टि होती है वहा इससे शास्त्रीय तथा लोक परम्पराओं को वैधता मिलती है। यह एक्ट शास्त्रीय तथा लोक-परम्पराओ के

वधिक समन्वय का प्रयास सा लगता है। ऐसा लगता है कि मानो यह ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज द्वारा चलाये गए उस आंदोलन की मांग का प्रतिफल हो जिसका उद्देश्य रहा है हिन्दू समाज का उत्तरोत्तर निश्चित एकीकरण। यह एक्ट भी एक वैधानिक विकास प्रक्रिया का परिणाम है जिसका प्रारम्भ उस समय हुआ था जब अंग्रेजी प्रशासकों ने हिन्दू स्वीय विधि प्रणाली को लेखबद्ध करने के लिए यह सिद्धांत निर्धारित किया था कि जहां शास्त्रीय मान्यताओं में विरोध हो वहां प्रथा या विधि मानी जाय और हर दशा में वैधानिक निश्चितता लाने का प्रयास किया जाय किन्तु उस शास्त्रीय मान्यता या प्रथा को वैध न माना जाय जो राज्य-नीति (Public Policy) के विरुद्ध हो। यह पहला अखिल भारतीय एक्ट है जिसके पीछे एक वैधानिक विकास क्रम है। इसके पहले बम्बई में दो अधिनियम पास किए गए थे—एक, दि हिन्दू मैरिज डिसेबिलिटीज रिमूवल एक्ट (1946) जिसमें सगोत्र सप्रवर और अन्त उपजातीय विवाहों को वैधता प्रदान की गई थी और दूसरा, दि हिन्दू मैरिजेज वैलिडिटी एक्ट (1949) जिसमें हिन्दुओं, जैनों और सिक्खों तथा उनकी उपजातियों में होने वाले विवाहों को वैध मान लिया गया था। पहला एक्ट शास्त्रीय मान्यताओं के विरोध में पड़ता था और दूसरा नई सामाजिक मान्यताओं के अनुकूल था। वास्तव में, आवश्यकता ऐसे विधान की थी जो शास्त्रीय मान्यताओं को भी वैधता प्रदान करे और उन परम्पराओं को भी जो हिन्दू तो हैं किन्तु शास्त्रीय नहीं है। हिन्दू मैरिज एक्ट इसी दिशा में उठा हुआ एक कदम है।

हिन्दू मैरिज एक्ट (1955) और स्पेशल मैरिज एक्ट (1954) की उत्पत्ति भारतीय समाज की गत्यात्मकता से हुई है। हिन्दू मैरिज एक्ट का उद्देश्य परम्परागत हिन्दू विवाह प्रथाओं को तथा हिन्दू-नारी को नई परिस्थितियों में उच्चतर वैध सामाजिक स्तर प्रदान करना है जबकि स्पेशल मैरिज एक्ट का उद्देश्य उन विवाहों को वैधता प्रदान करना है जो ऐसे विषमलिंगी व्यक्ति धर्म और जाति से परे स्वतन्त्र रूप से स्थापित करते हैं। स्पेशल मैरिज एक्ट के रूप में, भारत के नर-नारियों को विवाह में पहले की अपेक्षा अधिक वैयक्तिक स्वतन्त्रता मिल गई है, जो लाभप्रद भी हो सकती है और हानिकारक भी। स्पेशल मैरिज एक्ट उन नई सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न हुआ है जो पाश्चात्य सभ्यता के संघात से उत्पन्न हुई हैं और जिनके कारण व्यक्ति की धार्मिक जातीय और साम्प्रदायिक परम्परावादिता से स्वतन्त्रता का विचार अस्तित्व में आया है। स्पेशल मैरिज एक्ट उन सभी भारतीय नर-नारियों पर लागू होता है जो इस एक्ट के तत्वावधान में विवाह करते हैं। हिन्दू मैरिज एक्ट हिन्दू विवाह पर लागू होता है। इसकारण, हिन्दू मैरिज एक्ट में सबसे पहले हिन्दू की परिभाषा की गई है। यह परिभाषा, एक दृष्टिकोण से व्यापक है और दूसरे दृष्टिकोण से सीमित। उदाहरणार्थ, इस एक्ट के अनुसार, हिन्दू वह है जो धर्म से हिन्दू हो या किसी भी हिन्दू-सम्प्रदाय (जैसे वीरशैव

लिंगायत, ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज, बौद्ध, जैन और सिक्ख) का मानने वाला हो। दूसरे शब्दों में, जो भी अपने को हिन्दू कहता है या हिन्दुत्व में विकसित किसी भी सम्प्रदाय का अनुयायी है, वह हिन्दू है। इस एक्ट के अनुसार वह सन्तान हिन्दू है जिसके माता पिता हिन्दू बौद्ध, जैन या सिक्ख हैं चाहे वह सन्तान वैध हो या अवैध। यदि माता पिता में से कोई भी हिन्दू हो तो उसकी वैध या अवैध सन्तान हिन्दू है बशर्ते कि सन्तान का पालन पोषण उस गणजाति (Tribe), समुदाय (Community) समूह (Group) या परिवार में हुआ हो, जिसके कि हिन्दू माता या पिता सदस्य हैं। हिन्दू धर्म में दीक्षित होने वाले और हिन्दू धर्म का त्यागकर पुनः उसमें दीक्षा लेने वाले भी हिन्दू हैं। किन्तु, साथ ही साथ यह एक्ट उन पर लागू नहीं होता है जो धर्म से मुसलमान, ईसाई, पारसी और यहूदी हैं या जो यह सिद्ध कर दें कि हिन्दू विधि या परम्परा या इस एक्ट की कोई भी धारा उन पर लागू नहीं होती है। यह एक्ट अनुसूचित गणजातियों पर भी लागू होता है। इस प्रकार इस एक्ट में हिन्दू और आदिवासी में अन्तर किया गया है। यह अन्तर वर्तमान युग की उपज है। शास्त्रकारों ने ऐसा अन्तर नहीं किया है। शास्त्रकारों ने समय समय पर हिन्दू प्रथाओं का इस ढंग से निर्वचन किया है कि स्थानीय प्रथाओं का शास्त्रीय प्रथाओं के साथ समन्वय हो सके। यही कारण है कि शास्त्रकारों ने प्रथाओं को महत्व दिया है। इन मान्यताओं के बावजूद भी इस एक्ट में यह कहा गया है कि इसके क्षेत्र में वे व्यक्ति या समूह भी आते हैं जो चाहे धर्म से हिन्दू न हों, किन्तु जिनपर इस एक्ट की धारायें स्वतः लागू होती हैं। यहाँ विचारणीय यह है कि जहाँ एक ओर यह निश्चित करने का प्रयास किया गया है कि हिन्दू कौन है वहाँ दूसरी ओर इस बात पर भी जोर दिया गया है कि हिन्दू समाज में सीमावर्ती क्षेत्र के लोग भी हिन्दू हैं। अनेक ऐसे समूह जो अनुसूचित गणजाति नहीं है और न पूर्णतया हिन्दू ही हैं भी इस एक्ट के अन्तर्गत आते हैं। यह वैधानिक व्यवस्था हिन्दू समाज के विकास का स्वाभाविक परिणाम सा लगती है।

हिन्दू मैरिज एक्ट का अभिभूतक वैधानिक प्रभाव पड़ा है क्योंकि इस एक्ट में कहा गया है कि इस एक्ट में जिन नियमों का विधान किया गया है उनसे सम्बन्धित हिन्दू विधि के मूलपाठ, नियम और निर्वचन, जो इस एक्ट के पहले लागू थे, की वैधता समाप्त हो जायगी और जो विधि इस एक्ट के पहले लागू थी और जो इस एक्ट में प्रतिपादित मान्यताओं के विरोध में है, वैध नहीं रहेगी। इसप्रकार हिन्दू मैरिज एक्ट में जिन नियमों का प्रतिपादित किया गया है, उनके विरोध में आने वाली पूर्व विधियों को समाप्त कर दिया गया है। किन्तु साथ ही साथ इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि इस एक्ट में, हिन्दू विवाह सम्बन्धी जिन परम्पराओं का समावेश नहीं है और जो इस एक्ट की धाराओं के विरोध में नहीं है, वे परम्परागत हिन्दू विधि के अनुसार चलती रहेंगी, बशर्ते कि वे राज्यनीति के विरोध

मे न हो। इसप्रकार, इस एक्ट के द्वारा हिंदू विवाह-सम्बन्धी उन अनन्त परम्पराओं को वैध मान लिया गया है जो अनेक जातियों के स्तर पर पाई जाती हैं और जो इस एक्ट की धाराओं के विरोध में नहीं हैं। यह पहले ही कहा गया है कि हिंदू मैरिज एक्ट, एक लिखित अधिनियम होने के बावजूद भी अनेक शास्त्रीय तथा जन परम्पराओं को एक साथ मान्यता देता है। उदाहरणार्थ, इस एक्ट के अनुसार, जैसा कि शास्त्रकारों की मान्यता है, अगोत्र सप्रवर और माता की ओर से पाँच पीढ़ियों तथा पिता की सात पीढ़ियों के व्यक्तियों में होने वाले विवाह अवैध हैं किन्तु जहां परम्परानुसार ऐसे विवाह मान्य हैं वे अवैध नहीं है। इस एक्ट में केवल विवाह-होम और सप्तपदी को वैध कर्मकाण्ड माना गया है किन्तु साथ ही साथ परम्परागत कर्मकाण्डों की भी अनुमति दी गई है। सप्तपदी वहीं वैध है जहां परम्परानुसार उसका होना आवश्यक है। इसप्रकार कन्यादान परम्परानुसार किया जा सकता है किन्तु, उसकी वैधानिक महत्ता कुछ भी नहीं है। इस एक्ट के उन्तीसवें सेक्शन की दूसरी धारा में यह विधान किया गया है कि हिन्दू-समाज में जहां प्रथा के द्वारा या किसी विशेष अधिनियम द्वारा तलाक का अधिकार मिला हुआ है, वह इस एक्ट द्वारा प्रभावित नहीं होता। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जहां जातीय प्रथाओं में पारस्परिक अनुमति द्वारा पति पत्नी को एक दूसरे को तलाक देने का अधिकार है वहां यह अधिकार वैसा ही बना रहेगा यद्यपि इस एक्ट में पारस्परिक अनुमति (Mutual Con ent) द्वारा पति पत्नी को तलाक देने का अधिकार नहीं है।

हिंदू विवाह सम्बन्धी सभी प्रथाओं को इस एक्ट के अधिकार क्षेत्र में लाने के लिये प्रथा की व्यापक परिभाषा की गई है। प्रथा इस एक्ट के अनुसार, वह नियम है जो समानरूप से लगातार काफी दिनों तक व्यवहार में आने के कारण, किसी क्षेत्र, गणजाति, सम्प्रदाय, समूह या परिवार के हिन्दुओं में विधि की सत्ता ग्रहण कर लेता है। किन्तु इस एक्ट के अनुसार वही प्रथा वैध है जो राज्य नीति के विरोध में न हो और जिस प्रथा का सम्बन्ध केवल परिवार से है तथा परिवार के सदस्यों द्वारा वह कभी त्यागी न गई हो। यही प्रथा की वही परिभाषा अपनाई गई है जो परम्परागत हिन्दू विधि में मान्य रही है। प्रथा को ही वैधता प्रदान करने के दृष्टिकोण से दोनों एक्ट में अन्य अनेक परिभाषायें दी गई हैं। हिन्दू शास्त्रकारों ने पूर्वज की श्रेणी में पिता और उसके वंशज को ही स्वीकार किया है किन्तु, इन नये विधानों में माता और पिता दोनों को पूर्वज स्वीकार किया गया है। नये विधान के अनुसार, वे दो व्यक्ति पूर्ण रक्त सम्बन्धी हैं जो एक ही पुरुष और स्त्री की सन्तान हैं किन्तु, जो एक पुरुष और उसकी भिन्न भिन्न स्त्रियों की सन्तान हैं वे अर्द्ध रक्त सम्बन्धी हैं। जो अलग-अलग पतियों से उत्पन्न एक स्त्री की सन्तान हैं वे मातृ-रक्त-सम्बन्धी हैं। इसप्रकार इन एक्टों में तीन प्रकार के रक्त-सम्बन्धी मान गये हैं। माँ की ओर से तीन पीढ़ी और पिता की ओर से पाँच पीढ़ी में आ---

व्यक्ति सपिण्ड सम्बन्धी मान गये हैं। जो स्त्री पुरुष एक दूसरे की पूर्वज शाखा में आते हैं जो स्त्री और पुरुष एक दूसरे की ऊपर या नीचे की पूर्वज शाखाओं में किसी व्यक्ति या पत्नी रह हैं जो स्त्री किसी पुरुष के भाई, पिता माता पितामह या दादी के भाई की पत्नी रही हो भाई बहिन, चाचा और भतीजी, चाची और भतीजा तथा भाई बहिन की सन्तान प्रतिषधी सम्बन्धी श्रेणी (Prohibited Degrees of Relationship) में आते हैं।

हिन्दू मैरिज एक्ट के अनुसार एक पुरुष और एक नारी का विवाह तभी सम्पन्न हो सकता है जब विवाह के समय पुरुष की कोई जीवित पत्नी न हो और नारी का कोई जीवित पति न हो दोनों में से कोई भी हतबुद्धि (Idiot) या पागल (Lunatic) न हो, वर की आयु अठारह साल की हो गई हो और कन्या की पन्द्रह साल की (जहां कन्या की आयु अठारह साल की न हुई हो, वहां उसके अभिभावक की अनुमति ले ली गई हो) और दोनों प्रतिषधी तथा सपिण्ड सम्बन्धी श्रेणी मे न आते हों या जब तक कि प्रचलित प्रथा द्वारा प्रतिषेधी तथा सपिण्ड सम्बन्धी श्रेणी के व्यक्तियों में विवाह मान्य न हो। इसप्रकार इस एक्ट के अनुसार, वर कन्या कुंवार भी हो सकते हैं विधुर और विधवा भी तथा तलाक दिये हुए भी। इस एक्ट से बहुपत्नीत्व तथा बहुपतित्व अमान्य हैं। एक पुरुष अपना दूसरा विवाह तभी कर सकता है जब उसकी पत्नी मर जाय या वह अपनी पत्नी को तलाक दे दे या उसकी पत्नी उसे तलाक दे दे। स्त्री भी इसीप्रकार अपने पति के जीवित रहते दूसरा विवाह नहीं कर सकती है। विवाह में वर कन्या की अनुमति और उनमें यौन सम्बन्धों की क्षमता का होना आवश्यक है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि शास्त्रकारों ने वर कन्या की अनुमति की आवश्यकता पर प्रत्यक्ष जोर नहीं दिया है। शास्त्रों में कन्या की अनुमति की आवश्यकता का प्रश्न ही नहीं उठाया गया है यद्यपि शास्त्रकारों की मान्यताओं से यह अवश्य ध्वनित होता है कि कन्या पर उसके पिता या अभिभावक का वैसा स्वत्व नहीं है जैसा कि किसी व्यक्ति का उसकी भौतिक वस्तुओं पर होता है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि कन्यादान से ही हिन्दू विवाह सम्पन्न और वैध नहीं होता है[1]। अभिभावक कन्या का संरक्षक है और जहां कन्या बालिग नहीं है अभिभावक की अनुमति की आवश्यकता आती है। हिन्दू मैरिज एक्ट में दोनों प्रकार का विधान किया गया है। जहां कन्या अठारह वर्ष की है उसके अभिभावक की अनुमति की आवश्यकता नहीं है किन्तु जहां उसकी आयु अठारह वर्ष से कम है अभिभावक की अनुमति की आवश्यकता है। यह नई परिस्थितियों और परम्परा का समन्वय है[2]।

---

1 श्री सम्पूर्णानन्द हिन्दू विवाह में कन्यादान

2 कन्या का मूल अभिभावक पिता है। उसके बाद क्रमशः पितामह भाई, चाचा

स्पेशल मैरिज एक्ट में विवाह के वैध आधारों को थोड़ा बदलकर रक्खा गया है, क्योंकि इसका उद्देश्य धर्मनिरपेक्ष विवाह को वैधता प्रदान करना है। इस एक्ट के अनुसार, उसी वर और कन्या का विवाह वैध है जिनके, विवाह के समय, क्रमशः भार्या या भर्ता जीवित न हों, जिनमें से कोई भी हतबुद्धि या पागल न हो, दोनों परस्पर प्रतिषेधी सम्बन्धी श्रेणी में न आते हों और विवाह के समय वर कन्या क्रमशः इक्कीस और अठारह साल की आयु के हो गए हों। भारत के बाहर जहाँ यह एक्ट लागू होता है, वहाँ इस एक्ट के अन्तर्गत तभी विवाह हो सकता है, जब वर और कन्या दोनों भारतीय नागरिक हों। इस एक्ट का उद्देश्य अन्तर्जातीय, अन्तर्धर्म और अन्तस्सम्प्रदाय विवाहों को वैधानिक मान्यता देना है जिसके कारण इसमें अभिभावक की अनुमति आवश्यक नहीं है। इस एक्ट के अनुसार विवाह की वैयक्तिक स्वतन्त्रता तभी मिल सकती है जब वर और कन्या वयस्क हों। यहाँ प्रथा को वैध अपवाद के रूप में नहीं रक्खा गया है। इस एक्ट के अनुसार विवाह में अभिभावक की अनुमति नहीं वरन विवाह-अधिकारी की अनुमति आवश्यक है। विवाह-सम्बन्ध में बंधने के इच्छुक वर और कन्या के लिये यह आवश्यक है कि वे उस क्षेत्र के विवाह अधिकारी के पास अनुमति प्राप्त करने के लिये प्रार्थना पत्र भेजें, जिसमें वर या कन्या प्रार्थना पत्र देने के तीस दिन पहले तक निवास कर चुका हो। प्रार्थना-पत्र विवाह का नोटिस है, जिसे विवाह अधिकारी मैरिज नोटिस बुक में दर्ज करके अपने दफ्तर में उसी जगह टांगने के लिये बाध्य है, जहाँ सर्वसाधारण की पहुँच हो। प्रस्तावित विवाह की नोटिस मिलने के तीस दिन बाद विवाह हो सकता है, उसके पहले नहीं। प्रस्तावित विवाह के प्रति कोई भी इस बात पर एतराज कर सकता है कि प्रस्तावित विवाह से एक या कई वैध आधार भंग होते हैं। किसी के एतराज उठाने पर, विवाह-अधिकारी के लिये जाँच करना आवश्यक हो जाता है और जबतक कि वह इस बात से सन्तुष्ट न हो जाय कि एतराज निराधार है या जब तक कि एतराज वापस न ले लिया जाय यह एक्ट विवाह-अधिकारी को विवाह की अनुमति देने का अधिकार नहीं देता है। विवाह-अधिकारी को सिविल कोर्ट के अधिकार दिये गये हैं। विवाह अधिकारी के अनुमति न देने पर, जिस क्षेत्र में विवाह अधिकारी आता है उस क्षेत्र के जिला अधिकारी के न्यायालय में विवाह अधिकारी के निर्णय के प्रति अपील की जा सकती है। जिला-अधिकारी का निर्णय अन्तिम माना गया है। यदि एतराज निराधार साबित होता है तो एतराज करने वाला हर्जे-खर्चे के दण्ड का भागी है। इसप्रकार, विशेष विवाह अधिनियम से एक विशेष प्रकार का विवाह

और मामा इत्यादि आते हैं। यह तालिका लगभग वही है जो शास्त्रकारों ने दी है। इसमें एक अन्तर है। इस एक्ट में माँ को भी विवाह में कन्या देने का अधिकार है।

अस्तित्व मे आया है, जिसमे विवाह की वैयक्तिक स्वतन्त्रता तो है किन्तु, अभिभावक का स्थान अदालत ने ले लिया है।

हिन्दू मरिज एक्ट (1955) से हिन्दू विवाह को वधता प्रदान की गई है और इसकारण उसम ववाहिक कमकाण्ड को भी वध स्तर प्रदान किया गया है। हिन्दू मरिज एक्ट के अनुसार वर या कन्या म से किसी भी एक पक्ष की वैवाहिक प्रथाओ के अनुसार विवाह सम्पन्न किया जा सकता है। किन्तु, जहा ववाहिक प्रथा के कमकाण्ड म सप्तपदी का विधान है, वहा विवाह तभी वैध समझा जायगा जब सप्तपदी का कमकाण्ड पूरा हो जाय। साथ ही साथ, इस एक्ट मे यह भी विधान है कि जहा कोइ जातीय कमकाण्ड, जाति के अनुसार, विवाह के लिय आवश्यक हो वहा वही कमकाण्ड विवाह को वध बनाने के लिय काफी है बशर्ते कि अन्य बातें एक्ट के अनुसार हो। इस एक्ट म विवाह के बाद यौन सम्ब धो के आधार पर विवाह को वधता प्रदान करने के स्थान पर सप्तपदी को अधिक महत्ता दी गई है। इसका यह तात्पय नही है कि इस एक्ट मे विवाहोपरान्त यौन सम्ब ध आवश्यक नही माने गए हैं। वास्तविकता यह है कि हिन्दू विधिप्रणाली की परम्पराओ के अनुसार सप्तपदी से ही विवाह पूण समझा जाता रहा है[1] और इसी परम्परा को इस एक्ट के द्वारा वधता मिली है।

जसा कि हिन्दू विवाह विधान की परम्परा रही है नये विधान म भी विधवा-पुनर्विवाह के लिय किसी कमकाण्ड का विधान नही किया गया है। स्पशल मरिज एक्ट क अन्तगत होन वाल विवाह धार्मिक नही अदालती विवाह है। अत उसम कमकाण्ड का स्थान ही नही है यद्यपि एक्ट मे इस बात का विधान किया गया है कि वर कन्या अपनी मर्जी स किसी भी प्रकार के कमकाण्ड से अपना विवाह सम्पन्न कर सकत हैं। कि तु स्पेशल मरिज एक्ट के अनुसार, विवाह तभी वध होगा जब विवाह अधिकारी और तीन गवाहो की उपस्थिति मे वर और कन्या लिखित रूप से एक दूसरे के पति पत्नी बनने की घोषणा कर[2] और उस घोषणापत्र पर गवाहो के साथ साथ विवाह-अधिकारी क भी हस्ताक्षर हो। विवाह-अधिकारी द्वारा मिलने वाला सर्टीफिकेट जिस पर वर कन्या और गवाहो के हस्ताक्षर हो और जिसकी नकल मरिज सर्टीफिकेट बुक म नत्थी कर दी गई हो विवाह का प्रमाण है। हिन्दू मरिज एक्ट के अनुसार होने वाल विवाह के लिये सर्टीफिकेट (प्रमाणपत्र) की आवश्यकता नही है। इसप्रकार, हिन्दू विवाह अधिनियम क अनुसार होन वाला विवाह समझौता मस्कार है जबकि विशष विवाह अधिनियम के अनुसार होन वाला विवाह कयल एक समझौता है। किन्तु नये विधान के अनुसार जसा कि

---

1 सम्पूर्णानन्द वही।

2 घोषणापत्र का फाम भी एक्ट द्वारा निर्धारित है।

न्यायालयों के निर्णयों में स्पष्ट है हिन्दू विवाह मूलतः समझौता माना जाता है। वैधानिक दृष्टिकोण से न्यायालयों में यह माना गया है कि हिन्दू विवाह, संस्कार और संस्था होने के साथ साथ, एक संविदा भी है जो पति पत्नी उस संविदा से सम्बन्धित अधिकार और कर्तव्यों के दृष्टिकोण से निर्धारित करते हैं। संस्कार होने के साथ साथ हिन्दू विवाह एक व्यावहारिक कानूनी समझौता भी है। एक कानूनी संविदा के रूप में विवाह की धारणा का अभ्युदय यारोपीय विधि प्रणाली के प्रभाव का परिणाम है। हिन्दू सामाजिक आदर्शों में विवाह आज भी एक अविच्छेद्य संस्कार है किन्तु हिन्दू विधान में विवाह एक संविदा पहले है संस्कार बाद में।

दोनों एक्टों में विवाह के निबंधन (Registration) का विधान है। किन्तु, हिन्दू विवाह बिना निबन्धन के भी वैध है। विशेष विवाह (Special Marriage) भी, जो स्पेशल मैरिज एक्ट के अनुसार होता है निबंधित करवाया जा सकता है। दोनों एक्टों में इस बात का भी विधान है कि यदि विवाह के बाद ऐसा पाया जाय कि विवाह से वैध वैवाहिक आधारों की अवहेलना हुई है तो अदालत द्वारा विवाह अवैध कराया जा सकता है। यदि पति पत्नी के सहवास से या पत्नी पति के सहवास से अकारण अलग हो जाते हैं तो परित्यक्त पति या पत्नी को इस बात का अधिकार है कि वह अदालत द्वारा अपने सहवासी अधिकारों की माँग करें और यदि अदालत इस बात से सन्तुष्ट है कि परित्यक्त व्यक्ति (पति या पत्नी) अकारण ही अपने सहवासी अधिकारों से वंचित है, तो अदालत को सहवासी अधिकारों को पुनः संस्थापित करने की आज्ञा देने का अधिकार है। सहवासी अधिकारों की माँग करने वाले प्रार्थना-पत्र के उत्तर में, विरोधी पार्टी का व्यक्ति केवल उन्हीं तथ्यों का सहारा लेकर सहवास से अलग रहने की माँग कर सकता है, जो इन दोनों अधिनियमों में न्यायिक पृथक्करण (Judicial Separation) और तलाक के आधार के रूप में स्वीकार किए गए हैं।

दोनों अधिनियमों में तलाक का भी विधान किया गया है और साथ ही-साथ, इस बात की भी कोशिश की गई है कि जहाँ तक हो सके तलाक का दुरुपयोग को वस्तुतः मन से रोक कर विवाह की पवित्रता को बनाए रखा जाय। दोनों अधिनियमों में एकदम तलाक माँगने का विधान नहीं है। सहवासी अधिकारों की पुनः संस्थापना के विधान के आधार पर, परित्यक्त पति या पत्नी अपने सहवासी अधिकारों की माँग कर सकता है और उसमें असफल होने पर, न्यायिक पृथक्करण की माँग कर सकता है। दोनों अधिनियमों के अनुसार, न्यायिक पृथक्करण तलाक की भूमिका है। न्यायिक पृथक्करण तलाक के पहले का कदम है जिसमें पति-पत्नी का तलाक नहीं होता है किन्तु अदालत की अनुमति लेकर दोनों एक दूसरे से सहवास से अलग रहते हैं। यह वह काल है जिसमें पति पत्नी को अपनी समस्या पर मनन का और यदि वे चाहें तो परस्पर समझौता करने का मौका भी मिलता है। जाति-पंचायतों में भी इस ही नियम का अनुसरण किया जाता रहा है क्योंकि जाति पंचायतों

मे एकदम तलाक नही मिलता है। पहले पति पत्नी एक दूसरे से अलग हो जाते हैं और बाद म पचायत द्वारा तलाक का फैसला चलता रहता है। कभी कभी इसी बीच म पति पत्नी म समझौता भी हो जाता है। न्यायिक पृथक्करण का विधान भारतीय परम्परा की देन है।

हिन्दू विवाह अधिनियम के अनुसार पति पत्नी म से कोई भी तब न्यायिक पृथक्करण की माग करने का अधिकारी है जब प्रार्थी के जीवन साथी ने प्रार्थनापत्र देने के समय तक लगातार दो वर्षो से उसका परित्याग किया हो जब प्रार्थी के साथ उसने इस प्रकार निदयता से व्यवहार किया हो कि प्रार्थी के मन म यह आशका उत्पन्न हो गई हो कि प्रार्थी का अपने जीवन साथी के साथ और भी अधिक रहना, प्रार्थी के लिए नुकसानदह या खतरनाक है, जब प्रार्थी का जीवन साथी प्रार्थनापत्र देने के समय तक एक साल से सघातिक कोढ की बीमारी का शिकार रहा हो, जब प्रार्थी का जीवन साथी गुप्त सक्रामक यौनिक रोग का शिकार रहा है और वह रोग उस प्रार्थी से न लगा हो जब प्रार्थी का जीवन साथी, प्रार्थनापत्र देने के समय तक, कम-से कम दो साल तक पागल रहा है और जब प्रार्थी के जीवन साथी ने विवाह के बाद प्रार्थी के अलावा किसी अन्य से यौन सम्बन्ध स्थापित किया है। हिन्दू मैरिज एक्ट के अनुसार इसप्रकार विवाह के कम से कम एक साल बाद ही न्यायिक पृथक्करण की माग की जा सकती है।

स्पेशल मैरिज एक्ट के अतगत, पति या पत्नी द्वारा सहवासी अधिकारो के पुन सस्थापन की माग तभी की जा सकती है जब उनका विवाह इस एक्ट के ही अन्तर्गत हुआ हो और प्रार्थी के जीवन-साथी ने बिना किसी सगत कारण के उसके सहवासका त्याग किया हो। स्पेशल मैरिज एक्ट मे न्यायिक पृथक्करण के आधार हिन्दू मैरिज एक्ट की अपेक्षा अधिक ज्यादा और कठिन है। इस एक्ट के अतगत पति या पत्नी के द्वारा सहवासी अधिकारो के पुन सस्थापन की अवहेलना करने विवाह के बाद परसम्बन्ध स्थापित करने प्रार्थनापत्र देने के पहले तीन साल तक जीवन साथी का परित्याग करने किसी अपराध म सात साल की सजा हो जाने पर जिसमे प्रार्थनापत्र देने के समय तीन साल की सजा भुगती जा चुकी हो निदय व्यवहार करने प्रार्थनापत्र देने के समय तक तीन साल तक पागल रहने या कोढ या गुप्त सक्रामक यौनिक रोगो का शिकार होने पर तथा सात साल तक लापता रहने पर न्यायिक पृथक्करण की माग की जा सकती है। ये नियम पति पर भी लागू होते हैं और पत्नी पर भी। यदि न्यायिक पृथक्करण की माग का आधार कोढ या सक्रामक गुप्त यौनिक रोग है तो वे तभी न्यायिक पृथक्करण का आधार बन सकते हैं जब वे प्रतिवादी को प्रार्थी से न लगे हो। इसप्रकार स्पेशल मैरिज एक्ट म विवाह के तीन साल के बाद ही न्यायिक पृथक्करण की माग की जा सकती है। इसके अतिरिक्त, यदि विवाह के बाद पति ने बलात्कार गुदा मथुन या पशुमथुन का अपराध हो गया

हो तो पत्नी को न्यायिक पृथक्करण की माँग करने का अधिकार है।

दोनों अधिनियमों में तलाक को वैध कर दिया गया है किन्तु तलाक के लिए प्रार्थनापत्र विवाह के तीन साल बाद ही दिया जा सकता है। हिन्दू मैरिज एक्ट के अनुसार तलाक के आधार हैं परसम्बन्ध, धर्म परिवर्तन, तलाक के लिए प्रार्थनापत्र देने के समय तक कम से कम तीन साल तक पति या पत्नी का पागल रहना, असाध्य कोढ़ या गुप्त यौन रोगों से पीड़ित रहना, विरक्त होकर संन्यासी होना, सात साल तक लापता रहना, न्यायिक पृथक्करण की डिगरी के बाद दो साल तक यौन सम्बन्ध न रखना और दो साल तक सहवासी अधिकारों के पुन संस्थापन की डिगरी की अवहेलना करना। दो आधारों पर पत्नी को तलाक माँगने का अधिकार मिला हुआ है—एक, विवाह के पहले या बाद में यदि पति ने दूसरा विवाह किया हो और तलाक के लिए प्रार्थनापत्र देने के समय यदि दूसरी पत्नी जीवित हो और दूसरा, यदि विवाह के बाद पति बलात्कार, गुदामैथुन या पशुमैथुन का अपराधी हुआ हो। स्पेशल मैरिज एक्ट में इन आधारों के अलावा दो और आधारों का विधान किया गया है—एक, क्रूरता और दूसरा आपसी समझौता (Mutual Consent) द्वारा तलाक की माँग। क्रूरता क्या है? इसकी विवेचना स्पेशल मैरिज एक्ट में नहीं की गई है जो इस एक्ट की कमजोरी है। इस एक्ट से विवाह में वैयक्तिक स्वतन्त्रता, स्वैच्छिक विवाह और रूमानी विवाहों को प्रोत्साहन मिलने की सम्भावना है। ऐसे ही विवाहों में विवाह विच्छेद की भी सम्भावना अधिक है। ऐसी दशा में केवल क्रूरता शब्द को लिखकर उसका निर्वचन न्यायालयों और वकीलों पर छोड़ना एक ऐसी वैधानिक कमी है जिससे हानि ही अधिक हो सकती है।

आपसी समझौते द्वारा विवाह विच्छेद का अधिकार देने के कारण स्पेशल मैरिज एक्ट की आलोचना भी की गई है। इस विधान का दुरुपयोग न हो, इसकारण, इसपर कुछ वैधानिक शर्तें भी लगाई गई हैं। पति-पत्नी आपसी समझौते द्वारा तभी तलाक की माँग कर सकते हैं जब उनका विवाह इस एक्ट के अन्तर्गत हुआ हो, जब विवाह सम्पन्न या निर्धारित होने के तीन साल बाद तलाक के लिए प्रार्थनापत्र दिया गया हो, जब प्रार्थनापत्र देने के समय पति पत्नी एक साल से अलग अलग रहते आए हों और प्रार्थनापत्र देने के समय से लेकर उसका निर्णय होने तक अलग अलग रहें। इस अधिनियम में दिए गए विधान के अनुसार आपसी समझौते के आधार पर माँगे गए तलाक के केस की सुनवाई प्रार्थनापत्र देने की तारीख के एक साल बाद होगी और इस बीच में आपसी फैसले द्वारा तलाक लेने का निर्णय पति-पत्नी के बीच में बना रहना चाहिए। अधिनियम के अनुसार अदालत तभी तलाक की अनुमति देगा जब अदालत को यह निश्चय हो जाय कि आपसी समझौते द्वारा तलाक लेने का निर्णय पति-पत्नी ने अपनी अपनी सही राय से किया है।

परम्परागत हिन्दू विधि प्रणाली में, पति या पत्नी में से किसी एक के

धर्मपरिवर्तन करने से उनके विवाह का स्वतः ही विच्छेद नहीं हो जाता है। यदि पति या पत्नी में से कोई भी धर्म परिवर्तन कर ले तो नये विधान के अनुसार, हिन्दू विवाह अधिनियम के आधार पर, विवाह विच्छेद की मांग की जा सकती है। उनमें से यदि कोई भी ईसाई हो जाता है और दूसरा हिन्दू रहता है, तो ईसाई धर्म ग्रहण करने वाला नेटिव कन्वर्टस मैरिज डिसाल्यूशन एक्ट के आधार पर अपने जीवन साथी को तलाक दे सकता है क्योंकि इस एक्ट का उद्देश्य उसी अवस्था में तलाक का विधान करना है जहाँ पति या पत्नी में से कोई भी ईसाई हो जाए। अदालत से तलाक की डिगरी मिलने के बाद, वादी प्रतिवादी को पुनर्विवाह करने का अधिकार मिल जाता है।

विधवा विवाह को वैधता मिलना योरोपीय संपर्क से उत्पन्न एक विशेष क्रान्तिकारी सांस्कृतिक विकास है। यह पहले ही कहा चुका है कि हिन्दू शास्त्रकार हर दशा में विधवा पुनर्विवाह के विरोधी नहीं रहे हैं यद्यपि उन्होंने इसकी खुली छूट नहीं दी है। शास्त्रकार नियोग के पक्ष में रहे हैं और नियोग के लिए उन्होंने देवर और सपिण्ड को उत्तम माना है। शास्त्रीय मान्यताओं में देवर से नियोग उत्तम माना गया है और निम्नवर्णी जातियों में विधवा का देवर से पुनर्विवाह अधिमान्य माना गया है। दोनों दशाओं का आधार एक ही मान्यता रही है और वह यह है कि विधवा और उसके पहले पति से उत्पन्न बच्चे पति के परिवार में ही रहें और विधवा का अपने पति के परिवार से भरण पोषण चलता रहे। पुनर्विवाह करने पर विधवा का अपने मृत पति के परिवार से भरण-पोषण का अधिकार समाप्त हो जाता है। किन्तु, योरोप से सम्पर्क स्थापित होने के समय उच्चवर्णी जातियों में विधवा पुनर्विवाह अमान्य हो गया था। भारत के समाज सुधारकों ने शास्त्रों का हवाला देकर यह साबित किया कि शास्त्रों में विधवा-पुनर्विवाह का एकदम निषेध नहीं है और सामाजिक विधान द्वारा विधवा पुनर्विवाह को वैध बनाने की मांग की। इसके फलस्वरूप हिन्दू विडोज रिमैरिज एक्ट (1856) पास हुआ जिसमें विधवा-पुनर्विवाह और उससे उत्पन्न सन्तान को वैध करार दिया गया।

हिन्दू विडोज रिमैरिज एक्ट (1856) के द्वारा बालिग हिन्दू विधवा को पुनर्विवाह का अधिकार दिया गया है। यदि विधवा बालिग नहीं है तो पुनर्विवाह के लिए उसके अभिभावक की अनुमति आवश्यक है। अभिभावक वही सम्बन्धी हैं जिनका उल्लेख हिन्दू मैरिज एक्ट में हुआ है। विवाह की इच्छुक विधवा के मार्ग में रुकावटें डालने वालों के लिए इस एक्ट में दण्ड का विधान किया गया है। विधवा के पहले विवाह में किए गए कर्मकाण्डों को फिर से किया जा सकता है या बिना उनके ही विवाह को सम्पन्न किया जा सकता है। यदि विधवा बालिग है तो उसकी अनुमति ही विवाह को वैध बनाने के लिए काफी है। इस एक्ट से जहाँ विधवा को पुनर्विवाह का अधिकार मिलता है वहाँ, जैसा कि हिन्दू परम्परा रही है पुनर्विवाह से विधवा

के कुछ अधिकार समाप्त भी हो जाते हैं। उदाहरणार्थ पुनर्विवाह करने पर मृत पति की सम्पत्ति में विधवा का उत्तराधिकार या मृत पति के परिवार से विधवा का भरण-पोषण अधिकार समाप्त हो जाता है। पुनर्विवाहित विधवा अपने मृत पति के नाम पर दत्तक पुत्र नहीं ले सकती है। हां, यह अवश्य है कि पुनर्विवाह के बाद, विधवा के जो अधिकार बनते हैं, वे इस एक्ट से प्रभावित नहीं हैं। पुनर्विवाहित विधवा अपने पहले पति के पुत्र की सम्पत्ति की तब उत्तराधिकारिणी है जब उसका पुत्र उसके पुनर्विवाह के बाद लावारिस मर जाता है। इस विषय पर न्यायालय एकमत नहीं है कि यदि पुनर्विवाह से पहले विधवा धर्म-परिवर्तन करे और बाद में पुनर्विवाह करे तो वह मृत पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी रहती है या नहीं। इलाहाबाद हाई-कोर्ट के अनुसार धर्म-परिवर्तन के बाद यदि विधवा पुनर्विवाह करती है तो मृत पति की सम्पत्ति में उसका जो भी अधिकार था वह अक्षुण्ण रहता है क्योंकि धर्म परिवर्तन के बाद पुनर्विवाह इस एक्ट के अंतर्गत, पुनर्विवाह नहीं है। किन्तु अन्य हाई कोर्टों के अनुसार धर्म परिवर्तन करके पुनर्विवाह करने वाली विधवा का अपने मृत पति की सम्पत्ति पर से वैसे ही अधिकार समाप्त हो जाता है जैसे कि पुनर्विवाह से होता है।

नए विधान में बहुपत्नीत्व तो समाप्त हो गया है किन्तु अदालतों के निर्णयों में अवरुद्ध स्त्री को भरण-पोषण का वैसे ही अधिकार दिया गया जैसे कि विधवा का है। अवरुद्ध स्त्री दासी है जो रखैल के स्तर पर आती है। रजवाड़ों में ऐसी स्त्रियों की संख्या अधिक रही है। अवरुद्ध स्त्री वह स्त्री है जो हिन्दू हो जो अपने हिन्दू प्रेमी के जीवन पर्यन्त लगातार उसके साथ रहे और उसके तथा उसके प्रेमी के यौन-सम्बन्ध न तो पर-सम्बन्धों की श्रेणी में आते हों और न अगम्यगमन की श्रेणी में। इसका तात्पर्य यह हुआ कि रखैल और उसका स्वामी दोनों हिन्दू हों और स्वामी के मरने तक दोनों का सम्बन्ध बना रहा हो तथा रखैल कभी भी किसी दूसरे के पास न रही हो। रखैल विवाहित भी हो सकती है और अविवाहित भी। उसकी सन्तान को दासी पुत्र की संज्ञा दी गई है। रखैल, अपने स्वामी के जीवन-काल में भरण-पोषण की मांग के लिए वैध अधिकार का प्रश्न नहीं उठा सकती है। स्वामी की मृत्यु के बाद ही उसे भरण पोषण का अधिकार मिलता है बशर्ते कि उसमें वे सब आधार हों जिन का ऊपर वर्णन किया गया है। दासी-पुत्रों को भी अपनी माता के स्वामी की सम्पत्ति से भरण-पोषण का अधिकार मिलता है। किन्तु यदि स्वामी शूद्र है तो रखैल और उसके पुत्र को स्वामी के मरने के बाद उसकी सम्पत्ति में उत्तराधिकार का अधिकार मिलता है। इसप्रकार इसकाल में, दासी रखैल को हिन्दू-परम्पराओं ने वैध माना गया है। उत्तराधिकार की संशोधित विधि से संयुक्त कुटुम्बों को ठेस पहुंची है तो अवरुद्ध स्त्री की वैधता ने संयुक्त गृहस्थों को प्रश्रय दिया है। हां, यह अवश्य है कि इस एक्ट द्वारा रखैल की परिभाषा इसप्रकार से की गई है कि रखैल के लिए सामाजिक स्थान कम हो गया है। इस एक्ट के अनुसार, रखैल वह है जिसके साथ

यौनिक सम्बन्ध पर सम्बन्धों की श्रेणी में न आते हों। जहां विवाह में दासी देने की प्रथा रही है वहां दासी और स्वामी के सम्बन्ध पर सम्बन्धों की श्रेणी में नहीं आते हैं। इस क्रम में, जहां रखैल दासी या अवरुद्ध स्त्री को परम्परागत मान्यता को वैध माना गया है वहां दूसरी ओर दासों की वैध परिभाषा इस प्रकार से की गई है कि दासी का स्थान वस्तुतः समाप्त हो गया है।

इस प्रकार, अंग्रेजी राजकाल में और उसके बाद, हिन्दू विवाह परम्पराओं का जो विधिकरण हुआ है उसमें एक ओर, अनेक हिन्दू वैवाहिक परम्पराओं का परिवर्तित उद्विकास हुआ है और, दूसरी ओर, उस उद्विकास पर अनेक उन योरोपीय मान्यताओं का प्रतिरोपण हुआ है जिनके अनुरूप सांस्कृतिक स्रोत पहले ही से भारत में विद्यमान थे। यह इसी विकास का परिणाम है कि आज हिन्दू विवाह संस्कार भी है और संविदा भी। यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दू विवाह केवल संस्कार ही रहा है। यदि ऐसा होता तो शास्त्रकार उन परिस्थितियों का प्रतिपादन न करते जिनमें पत्नी पुनर्विवाह की अधिकारिणी मानी गई है। वास्तव में हिन्दू समाज में विवाह के संस्कारों और संविदायी पक्ष साथ साथ रहे हैं और आज दोनों एक में मिल गए हैं। सिविल मैरिज की धारणा योरोप की देन है। वैधिक दृष्टिकोण से विवाह कर्मकांडों में केवल विवाह होम और सप्तपदी ही महत्वपूर्ण है। कन्यादान के कर्मकांड का व्यावहारिक महत्व अवश्य है किन्तु आज उसका कोई वैधानिक महत्व नहीं है। हिन्दू परम्परा के अनुसार, अभिभावक की अनुमति वैध है पर केवल एक सीमा तक। आज बालिग हिन्दू कन्या को अपना जीवन साथी चुनने का वैध अधिकार मिला हुआ है। परम्परागत हिन्दू विधि प्रणाली में यह पहले ही विद्यमान था। योरोप के प्रभाव से उसका निखार हुआ है। वैसे ही, विधवा विवाह की अप्रत्यक्ष सीमित अनुमति थी यद्यपि हिन्दू समाज के एक बड़े भाग में विधवा विवाह हेय नहीं समझा जाता था। आज विधवा पुनर्विवाह को वैध अनुमति मिली हुई है यद्यपि उसकी व्यावहारिक समस्या बहुत कुछ पहले जैसी है। योरोप के प्रभाव से जो सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन हुए हैं उनमें विवाह-आयु बढ़ी है किन्तु केवल शहरी और शिक्षित तबके में। ग्रामीण समाज में जहां आज भी कृषि-व्यवस्था का बहुत कुछ पहले जैसा प्राधान्य है अब भी बाल विवाह होते हैं।

विधवा पुनर्विवाह की भांति तलाक का भी हिन्दू समाज के एक बड़े तबके में प्रचलन रहा है। शास्त्रकारों के मत इस विषय में विरोधी हैं। यह नहीं कहा जा सकता है कि सभी शास्त्रकार एक मत से तलाक के विरोधी हैं। तलाक विवाह-विच्छेद और पुनर्विवाह को शास्त्रकारों ने एक अवांछनीय आवश्यकता के रूप में देखा है। भारत के नये विधान में भी तलाक को इसी दृष्टिकोण से देखा गया है क्योंकि इसमें, एक ओर तलाक को वैध माना गया है, उसकी अनुमति दी गई है और, दूसरी ओर, तलाक को ऐसे विधान से बांधने का प्रयास किया गया है कि

तलाक इतना आसान न हो जाय कि उससे विवाह और वैवाहिक जीवन की गरिमा ही लुप्त हो जाय। जीवन के प्रति प्रकृतिवादी दृष्टिकोण यूरोप की देन है और उसके अनुसार यह माना जाता है कि जहाँ पति-पत्नी में मानसिक अन्तर इतना बढ़ जाय कि वे परस्पर पति-पत्नी की भूमिका निभाने में असफल हो जाय, वहाँ तलाक आवश्यक है क्योंकि उसमें वैयक्तिक सुख तथा सामाजिक व्यवस्था को प्रश्रय मिलता है। पर, साथ ही साथ यूरोप से हमें स्वच्छन्द प्रेम, मनमाने निरोधक उपकरण, यौन-आवश्यकता की पूर्ति के प्रति प्रकृतिवादी मान्यतायें, स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता जैसी चीजें भी मिली हैं जिनके कारण यौन-स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला है। इन परिस्थितियों में तलाक एक ऐसी सामाजिक समस्या का रूप ले रहा है जिसके कारण अंशतः नये विधान में हैं और अंशतः उन नयी सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों में जो यूरोप के संपर्क से उत्पन्न हुई हैं[1]। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि तलाक की वैधानिक अनुमति ही अवांछनीय है और वही तलाक के लिए उत्तरदायी है। यूरोप के संपर्क से जो सामाजिक सांस्कृतिक परिस्थितियाँ और मानदण्ड उभरे हैं उन्होंने यदि तलाक को वैध बनाने के लिए प्रेरित किया है तो उन्होंने ही तलाक को सामाजिक समस्या भी बनाया है। तलाक पति-पत्नी के बीच सामंजस्य की समस्या से सम्बन्धित है और इस रूप में तलाक एक शाश्वत सामाजिक समस्या है। इस समस्या का निराकरण बहुत कुछ नर-नारियों की तलाक और विवाह विषयक मनोवृत्ति और तलाक के विधान के उपयोग पर निर्भर है। कुछ भी हो, प्रस्तुत विषय के संदर्भ में विचारणीय तथ्य यह है कि आज हिन्दू समाज के सभी वर्गों के लिए तलाक वैध है, विवाह अविच्छेद्य संस्कार नहीं है और विवाह तथा तलाक के प्रश्न परिवार और जाति के अधिकार से निकलकर अदालत

1 दिल्ली के हिन्दुस्तान टाइम्स (नवम्बर 10, 1967) अखबार में प्रकाशित एक विवरण के अनुसार, दिल्ली में पिछले ८ सालों में होने वाले तलाकों के कारणों में यौन (५०%) तलाक का मुख्य कारण रहा है। श्रीमती कौशल्या पट्या, जो तलाक तथा बाल अपराधों के केसों का निर्णय करने के लिए मजिस्ट्रेट हैं, के अनुसार, नर-नारियों में, परसनैलिटियों की बढ़ती हुई संख्या तलाक का मुख्य कारण बन रही है। शहर का शायद ही कोई मुहल्ला परसनैलिटियों की समस्या से मुक्त हो। उन्हीं के अनुसार गत उनचास सौ उनचास में दिल्ली में तलाकों की संख्या पाँच-छः तलाक प्रतिमास थी किन्तु, आज तलाकों की संख्या पचास से लेकर साठ प्रतिमास तक है। अदालत के सामने जितने तलाक के केस आते हैं उनमें से चालीस प्रतिशत केसों में तलाक के लिए अदालती अनुमति मिल जाती है। श्रीमती पट्या के अनुसार परसनैलिटियों के अलावा गलत व्यवहार, मानसिक कष्ट और शारीरिक तथा मानसिक ताड़नायें तलाक के अन्य मुख्य कारण हैं।

अधिकार म आ गए हैं। विवाह और तलाक के प्रश्न धीरे धीरे वयक्तिक बनते जा रहे हैं।

यारोपीय सपात के कारण हिन्दू विवाह परम्पराओं का जो विधिकरण हुआ है उसम अनेक परपरायें अपने परम्परागत रूप म या परिवर्तित रूप म वध मान ली गई हैं और अनेक परम्पराय अवध हो गई है। इन परम्पराओं म शास्त्रीय, जातीय तथा स्थानीय परम्परायें शामिल हैं। शास्त्रीय परम्पराओं के साथ साथ, अनेक प्रचलित परम्पराओं को वधता मिलना इस काल का एक प्रमुख सास्कृतिक विकास है। हिन्दू मरिज एक्ट से अनेक प्रचलित जातीय और स्थानीय परम्परायें वध अपवाद के रूप म स्वीकार कर ली गई हैं बशर्ते कि वे राज्य नीति के विरोध मे न हो। इस दृष्टिकोण से यह विधान हिन्दू समाज के एकीकरण के विरुद्ध पडता है। लेकिन, साथ ही साथ इससे किसी दशा तक हिन्दू समाज के एकीकरण को प्रोत्साहन भी मिलता है। नय विधान म सभी वर्गों और सभी जातियो के लिए बहुविवाह अवध है। नये विधान के दृष्टिकोण स जौनसार बावर की बहुपतित्व की प्रथा एक वधानिक अपवाद ही नही वरन एक वधानिक पहेली बन गई है। एक स्त्री के रहते हुए दूसरा विवाह करने वाला, हिन्दू मरिज एक्ट के अनुसार, दण्ड का भागी है। हिन्दू विवाह के आठ प्रकारो म, हिन्दू मरिज एक्ट केवल ब्राह्म विवाह को मान्यता प्रदान करता है। इस एक्ट की मान्यता म सभी हिन्दू विवाह ब्राह्म हैं जब तक कि यह प्रमाणित न किया जाय कि अमुक विवाह ब्राह्म नही है। आसुर विवाह मान्य है पर एक वध प्रथायी अपवाद के रूप म। वधू धन दिया जा सकता है पर वह विवाह सविदा का वध अग नहा है। उसी प्रकार स दहेज भी विवाह सविदा का वध अग नही है। इस एक्ट स विवाह वयक्तिक हो गया है किन्तु, व्यवहार म विवाह अब भी वर और कन्या के परिवारो के बीच म एक समझौता है। दहेज और वधूधन अवध होते हुए भी तब तक चलते रहेगे जब तक विवाह पूर्णतया वर और कन्या के बीच म स्वतन्त्र समझौता नही बन जाता है। ब्राह्म और दव विवाह वस्तुत एक ही हैं। आर्ष और प्राजापत्य समयातिरेक होकर विलीन हो गए हैं तथा गान्धर्व राक्षस और पशाच आज सामाजिक अपराध बन गए हैं और भारतीय दण्ड सहिता के नियमानुसार दण्डनीय हो गए हैं।

स्पेशल मरिज एक्ट के द्वारा गान्धर्व विवाहो को वधानिक आधार प्रदान किया गया है। गान्धर्व विवाह वहा अपराध है जहा कन्या नाबालिग है क्योंकि नाबालिग कन्या स विवाह करने वाले वर पर कन्या अपहरण का अपराध लगाया जा सकता है। नये विधान के अनुसार अठारह वर्ष की कन्या और इक्कीस वर्ष का वर ही गान्धर्व विवाह कर सकते हैं। किन्तु स्पेशल मरिज एक्ट ने गान्धर्व विवाह के परम्परागत रूप को बदल दिया है। परम्परागत गान्धर्व विवाह म वर और कन्या परस्पर सम्मति से ववाहिक बन्धन म बधकर बाद म अभिभावकों या समाज का अनुमोदन प्राप्त करते थे। किन्तु स्पेशल मरिज एक्ट म बालिग वर और कन्या को

विवाह से पहले अदालत की अनुमति लेना आवश्यक है। हिन्दू-परम्परा के अनुसार गान्धर्व विवाह वैकल्पिक रहा है। स्पेशल मैरिज एक्ट के अनुसार भी वह वैयक्तिक है किन्तु, वस्तुतः, वह एक विशेष विवाह बन गया है—वह विवाह जिसमें विवाह के लिए कर्मकाण्डों का विधान नहीं है, वर-कन्या के अभिभावकों की अनुमति की आवश्यकता नहीं है जो पूर्णतया वैयक्तिक है दो परिवारों के बीच में समझौता नहीं है और जाति धर्म तथा सम्प्रदाय के प्रभावों से मुक्त है। यह विवाह वर-कन्या के बीच में वैवाहिक बन्धन में बंधने का समझौता है। इसीलिए विशेष विवाह प्रेम-विवाह होता है और वर तथा कन्या के बीच में वैयक्तिक समझौता होने के कारण दहेज और वधूधन की समस्याओं से मुक्त होता है। अतः, स्पेशल मैरिज एक्ट को नये भारत के नये समाज का वैवाहिक विधान कहा जा सकता है। किन्तु नये पुराने के संघर्ष के कारण कहीं-कहीं विशेष विवाह व्यक्ति और परिवार तथा जाति और सम्प्रदाय के संघर्ष का कारण बन जाता है। यदि वर और कन्या बालिग हैं और एक ही जाति के हैं तो वह हिन्दू विवाह अधिनियम के अन्तर्गत विवाह सम्पन्न कर सकते हैं यदि वे भिन्न भिन्न जातियों के हैं तो उन्हें इस बात की छूट है कि चाहे वे हिन्दू मैरिज एक्ट के अन्तर्गत अपना विवाह सम्पन्न करें या स्पेशल मैरिज एक्ट के अन्तर्गत। यदि वे भिन्न धर्मों या सम्प्रदायों के हैं तो स्पेशल मैरिज एक्ट का आश्रय लेना आवश्यक है। धर्मगत विधि प्रणाली (जैसे हिन्दू या मुस्लिम या ईसाई) का तभी आश्रय लिया जा सकता है जब वर और कन्या जन्मतः या धर्मपरिवर्तन से एक ही धर्म के हों। जिस प्रकार स्पेशल मैरिज एक्ट वर-कन्या को वैवाहिक बन्धन में बंधने का वैयक्तिक अधिकार प्रदान करता है, उसी प्रकार यह एक्ट पति-पत्नी को पारस्परिक स्वेच्छा से विवाह विच्छेद का भी अवसर प्रदान करता है बशर्ते कि उनका विवाह इसी एक्ट के आधार पर हुआ हो। यह विधान वर्तमान भारत में एक विशेष विधान है।

स्पेशल मैरिज एक्ट के चौथे अध्याय की उन्नीस से लेकर इक्कीस धाराओं का परिवार के परम्परागत गठन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। इन धाराओं के अनुसार जब कोई हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख और जैन, जो अपने संयुक्त परिवार का सदस्य है, इस एक्ट के अन्तर्गत विवाह सम्पन्न करके अपने विवाह का निबन्धन करता है तो उसका अपने परिवार से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है किन्तु परिवार में उसका उत्तराधिकार ज्यों का त्यों बना रहता है। हाँ, यह अवश्य है कि उसका तथा उसकी संतान का उत्तराधिकार हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम से नियन्त्रित न होकर, भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम से नियन्त्रित होता है।

३

मुस्लिम विवाह

जिस प्रकार हिंदू वैवाहिक परम्पराओं ने निश्चित विधिकरण और उनके अदालती निवचनों से हिंदू वैवाहिक परम्पराओं में परिवर्तन भी आया और उनका पुनरुन्नयन भी हुआ, उसी प्रकार मुस्लिम विवाह परम्पराओं का, इस काल में संहिताकरण हुआ उन्हें वैधता मिली अनेक गौण परम्परायें वैध मानकर निश्चित बनाई गई (जैसे डिसाल्यूशन आफ मुस्लिम मैरिजेज एक्ट 1939 के द्वारा स्त्री को तलाक देने के वैध अधिकारों का मिलना) और अदालती निवचनों के द्वारा अनेक मुस्लिम परम्पराओं में परिवर्तन आया। अंग्रेजी राजकाल में जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हिंदू और मुस्लिम स्वीय विधियों को लेखबद्ध करके संहितावद्ध किया गया जिसके कारण हिंदू मुस्लिम विधि परम्पराओं का समयानुसार परिवर्तित पुनरुन्नयन हुआ। उदाहरणार्थ डिसाल्यूशन आफ मुस्लिम मैरिजेज एक्ट (1939) का उद्देश्य मुस्लिम विधि के अन्तर्गत विवाहित पत्नी द्वारा विवाह विच्छेद करने तथा पत्नी द्वारा इस्लाम के परित्याग करने पर उसके वैवाहिक सम्बन्धों पर पड़ने वाले प्रभावों से सम्बन्धित मुस्लिम विधि परम्पराओं को एकत्र तथा स्पष्ट करना है। इस एक्ट की भूमिका में कहा गया है कि यह एक्ट एकत्रक होने के साथ-साथ घोषणात्मक है। किन्तु इस पर, मुल्ला की यह टिप्पणी है कि इससे मुस्लिम विवाह सम्बन्धी विधि में सारगर्भित परिवर्तन होता है[1]। अतः इस एक्ट को केवल घोषणात्मक ही नहीं कहा जा सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस्लाम की परम्परागत विधि प्रणाली में स्त्री को तलाक देने का अधिकार नहीं है। हनाफी विधि सम्प्रदाय में नहीं किन्तु मालिकी विधि सम्प्रदाय में स्त्री को यह अधिकार है। ऐसी दशा में यह एक्ट तलाक सम्बन्धी गौण विधि परम्परा को प्रधान बनाता है और परम्परा के एक नये निवचन के लिए अवसर प्रदान करता है। लेकिन साथ ही साथ यह अवश्य है कि हिंदू वैवाहिक विधि प्रणाली की अपेक्षा मुस्लिम वैवाहिक विधि प्रणाली में परिवर्तन कम पुनरुन्नयन अधिक हुआ है क्योंकि मुस्लिम वैवाहिक प्रणाली धर्मगत और हिंदू विधि प्रणाली की अपेक्षा अधिक निश्चित रहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि योरोपीय सघात के अन्तर्गत इस्लामाइजेशन दवाज परम्पराओं के विधिकरण के स्थान पर अरबी इस्लामी परम्पराओं का ही विधिकरण हुआ है। योरोपीय सघात में मुस्लिम विवाह परम्पराओं में जो परिवर्तन आए हैं वे इस्लामी विवाह विधि के अदालती निवचनों में प्राय हैं क्योंकि इस्लामी विधि में स्वतन्त्र विधान की रचना नहीं के बराबर हुई है[2]।

---

1 मुल्ला डी० एफ० प्रिंसिपिल्स आफ मोहम्मडन ला पृष्ठ 209

2 सक्सेना, काशीप्रसाद आपरेशन आफ मुस्लिम ला इन इंडिया एण्ड पाकिस्तान पृष्ठ 72

अंग्रेजी राज्यकाल में मुस्लिम स्वीय विधि का यथावत लागू करने की नीति नहीं है। किंतु साथ ही साथ मुस्लिम स्वीय विधि का निर्वचन करते समय न्यायिक वांछनीयता और समता पर भी ध्यान दिया गया है जिसके कारण मुस्लिम विधि में अंग्रेजी न्याय प्रणाली के तत्वों का भी समावेश हुआ। इस काल में हिंदू विधि प्रणाली के अनुसार मुस्लिम विधि प्रणाली अंग्रेजी मुस्लिम विधि प्रणाली बनी। एक ओर मुस्लिम परसनल ला (शरियत) एप्लीकेशन एक्ट (1937) पास करके मुस्लिम स्वीय विधि में निश्चितता लाने का प्रयास किया गया था, दूसरी ओर डिजोल्यूशन ऑफ मुस्लिम मैरिजेज एक्ट (1939) पास करके मुस्लिम स्वीय विधि के उन पक्षों का निरसन किया गया जो समयानुकूल थे और जो अंग्रेजों की वैधानिक नीति न्यायिक वांछनीयता तथा समता की कसौटी पर खरे उतरते थे। अंग्रेजों ने भारत में जो विधि प्रणाली निर्मित की वह एक ओर हिन्दू और मुस्लिम विधि प्रणाली थी और, दूसरी ओर वह अखिल भारतीय दीवानी और फौजदारी की विधि प्रणाली पर आधारित थी। अंग्रेजी विधि प्रणाली ने मुस्लिम विधि प्रणाली को प्रत्यक्षतः और अप्रत्यक्षतः दोनों प्रकार से प्रभावित किया। उदाहरणार्थ उन्नीस सौ उन्तीस के चाइल्ड मैरिज रेस्ट्रेंट एक्ट ने मुसलमानों में भी बाल विवाह पर प्रभाव डाला। किंतु सबसे अधिक परिवर्तनकारी प्रभाव पड़ा न्यायालयों के निर्णयों का क्योंकि न्यायालयों के निर्णय धीरे धीरे वैधानिक नजीर बनते गए और उनसे अनेक अरबी परम्पराओं में परिवर्तन आए। इन निर्णयों में जो असामंजस्यता उत्पन्न हुई उसे दूर करने में और परिवर्तन हुए। इस प्रकार अंग्रेजी राज्यकाल में जहाँ एक ओर मुसलमानों की अरबी वैवाहिक परम्पराओं को वैध आधार मिला वहाँ दूसरी ओर उनमें परिवर्तन भी आए। किन्तु ये परिवर्तन उतने अधिक नहीं हैं जितना कि अरबी परम्पराओं का पुनर्स्थापन।

भारत की मुस्लिम वैवाहिक परम्पराओं में देशज परम्पराओं का समावेश हुआ है किन्तु यह समावेश वैवाहिक रस्मों तक ही सीमित है। मुस्लिम विवाह के मूलाधार अरबी परम्पराओं में हैं—वे परम्परायें जिनका एक आधार इस्लाम के विकास के पहले की अरबी परम्पराओं में है और दूसरा, मुहम्मद और उनके आधार पर मुस्लिम विधि प्रणाली के संस्थापकों द्वारा प्रतिपादित परम्पराओं में। जिस प्रकार हिन्दू वैवाहिक परम्पराओं को लेकर शास्त्रकारों में मतभेद रहा है, उसी प्रकार मुस्लिम विधि प्रणाली के विभिन्न सम्प्रदायों में इस्लामी वैवाहिक परम्पराओं को लेकर मतभेद रहा है। सुन्नी सम्प्रदाय में 'मुता विवाह' वैध नहीं है जबकि शिया सम्प्रदाय में 'मुता विवाह' वैध है। भारतीय मुस्लिम स्वीय विधि में यह परम्परा मान्य है। इस परम्परा का स्रोत इस्लाम के पहले की अरबी परम्परा में है। इस प्रकार, भारतीय मुसलमानों की विवाह परम्परायें मूलतः अरबी हैं और अंशतः भारतीय। इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों और मुस्लिम विधि प्रणाली के व्याख्याताओं की यह मान्यता है कि मुस्लिम वैवाहिक परम्परायें इस्लाम के पहले की अरबी परम्पराओं

के आधार पर विकसित हुई हैं। इस्लाम के द्वारा अनेक अरबी परम्पराओ का ह्रास हुआ और अनेक परम्पराओ का इस्लामीकृत उदविकास[1]।

लेवी की यह मा यता है कि शरिअत मे प्रतिपादित परम्पराआ और विभिन्न देशा के मुसलमाना की स्थानीय परम्पराओ म अ तर रहा है। यह अ तर किसी न किसी रूप म सभी देशो मे पाया गया है। विवाह तलाक और उत्तराधिकार म कही-कहीं शरा की परम्पराओ की अवहेलना सी प्रतीत होती है। हिमालय के दक्षिण मे बसने वाले मुसलमान (इसमे लेवी का तात्पय भारत के मुसलमाना स है, पष्ठ 244) इस्लाम क अनुयायी होते हुए भी उन अनक परम्पराओ को अपनाये हुये हैं जो वहा के गैर मुसलमाना स भिन्न नही है। इस्लाम मे मूर्तिपूजक स्त्री स विवाह करने का विधान नही है फिर भी मुस्लिम पुरुषो और हिन्दू स्त्रिया का विवाह होना है जिसम स्त्री विवाह के पहले इस्लाम स्वीकार करती है। मुसलमान स्त्रिया सिक्खो से विवाह कर लेती हैं जो शरा के विरुद्ध है क्योकि इस्लाम के नियमानुसार मुस्लिम स्त्री को मुसलमान म ही विवाह करना चाहिए। इस्लाम म विधवा विवाह जायज है कितु, उन मुस्लिम सम्प्रदायो मे जिनकी उत्पत्ति हिदुत्व म हुई है विधवा विवाह सराहनीय नही माना जाता है। उसी प्रकार हिन्दू प्रभाव क कारण कुछ मुस्लिम सम्प्रदायो म तलाक विरला ही होता ह। लेवी के इस वणन का आधार वे विवरण हैं जो उन्नीसवी शताब्दी के अ त या बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ म लिखे गये थे। इस बीच म मुस्लिम स्वीय विधि का जो सहिताकरण हुआ है उसमे देशज परम्पराओ के समक्ष अरबी परम्पराओ का प्रधानता दी गई है जिसके फलस्वरूप देशज परम्पराआ पर धीर धीर शरीअत की परम्पराआ का प्रतिरोपण हुआ है और उसस मुस्लिम विवाह का जा रूप उभरा है वह अरबी परम्पराओ म ही निहित है।

मुस्लिम ववाहिक परम्पराओ का विकास

पूव इस्लामी अरबी परम्परायें विवाह सम्बन्धी उन अरबी परम्पराआ के आधार पर हुआ है जा इस्लाम के अभ्युदय के पहले अरब मे प्रचलित थी। उस काल का अरबी सामाजिक सगठन गणजातीय था। गणजातिया मे परम्परागत कुल वर और सघष पूव इस्लामी अरबी समाज की विशषता थी। इन गणजातिया म मातसत्तात्मकता की प्रधानता थी। गुन्नेरी के अनुसार पितवशीयता की भी प्रथायें थी यद्यपि मात सत्तात्मकता और मातवशीयता का पाया जाना अधिक निश्चित है। मातसत्तात्मकता

---

1 देखिए के० एम० कपाडिया कृत मरिज एण्ड फमिली इन इण्डिया अध्याय 9, गाडीफ्राय डिमाम्बींस कृत मुस्लिम इस्टीटयूशन्स, अध्याय 8, रिबेन लेवी कृत दि सोशल स्ट्रक्चर आफ इस्लाम अध्याय 2, गुन्नेरी ए० एम० ए० कृत आउट लाइ स आफ इस्लामिक कल्चर अध्याय 14 और अमीर अली कृत दि स्प्रिट आफ इस्लाम, भाग 2 अध्याय 5

तथा मातृवंशीयता के साथ-साथ बहुविवाह के दोनों रूप, बहुपत्नीत्व तथा बहुपतित्व, पाये जाते थे। इस्लाम के पहले के अरबी समाज में, एक ओर, नायरों जैसे मातृसत्तात्मकता बहुपतित्व की प्रथा थी तो, दूसरी ओर भ्रातृक बहुपतित्व की परम्परा[1]। नारी को अपना पति चुनने की स्वतन्त्रता थी। वह या तो स्वयं या अपने पिता, भाई या अन्य सम्बन्धियों द्वारा अपना पति चुनती थी। पति और पत्नी दोनों को विवाह विच्छेद करने का अधिकार था। नारी अपनी इच्छानुसार जब चाहे तब पति का परित्याग कर सकती थी। किनशिप एण्ड मैरिज इन अर्ली अरेबिया के लेखक डब्ल्यू० राबर्टसन स्मिथ के आधार पर कपाडिया ने यह लिखा है कि अपने तम्बू का रुख बदलकर पत्नी पति से विवाह विच्छेद करती थी और पति के कथन मात्र से ही पत्नी से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता था। विवाह धार्मिक संस्कार न होकर संविदामात्र था जिसका प्रमाण है महर की प्रथा जो इस्लामी वैवाहिक परम्पराओं में प्रधान थी। महर का रूप वधू धन का रूप था—वह धन जो वर कन्या के पिता को देता था। विवाह विच्छेद के समय पति को यह धन पत्नी के पिता या सम्बन्धियों को वापस करना पड़ता था। स्मिथ के अनुसार वधू धन के दो पहलू थे—एक वह धन (महर) जो वर कन्या के पिता या उसके अभिभावक को देता था और दूसरा वह धन (सिदाक) जो वर कन्या को देता था और जिसके बिना वह पत्नी से यौन सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकता था। आगे चलकर, महर की ही प्रथा रह गई और इस्लाम में वैध विवाह का एक आधार बन गई।

इस्लाम के पहले के अरबी समाज में अनेक प्रकार के विवाहों का वर्णन मिलता है। तत्कालीन महर की प्रथा को विद्वानों ने पत्नी क्रय कहकर यह प्रतिपादित किया है कि क्रय विवाह तत्कालीन समाज की प्रधान वैवाहिक परम्परा थी। इसके साथ-साथ अपहरण विवाह की भी परम्परा थी जिसका कारण था तत्कालीन अरब की गणजातियों में चलने वाला कुलवैर। महर, अपहरण की हुई नारी को दासी के रूप में रखने तथा उसे रखैल बनाने की प्रथाओं के कारण, यह कहा गया है कि तत्कालीन अरबी समाज में नारी सम्पत्ति समझी जाती थी। कोई भी अरब निवासी अपनी दासी को बेच सकता था या उधार भी दे सकता था। इसके अतिरिक्त, बहुपतित्व और बहुपत्नीत्व की आम प्रथा थी। सौतेली माँ पिता के मरने पर, पुत्र को उत्तराधिकार में मिलती थी। कोई भी व्यक्ति अपनी सौतेली माँ से विवाह कर सकता था या मेहर लेकर किसी दूसरे के साथ उसका विवाह कर सकता था।

---

1 यूनानी लेखक स्ट्राबो का हवाला देते हुए गुस्तेरी ने यह लिखा है कि वयोवृद्ध पुरुष परिवार का मुखिया होता था और कई भाइयों की एक ही सम्मिलित पत्नी होती थी। जब एक भाई पत्नी के पास होता था तो वह दरवाजे पर अपनी छड़ी गाड़ देता था ताकि दूसरा न आ सके।

इस परम्परा को भी नारी को सम्पत्ति मानने के विचार का प्रमाण माना गया है। नियोग जैसी प्रथा भी तत्कालीन अरबी समाज में पाई जाती थी। जब कोई व्यक्ति बुद्धिमान तथा गौरवान या साहसवान पुत्र की कामना करता था तो वह अपनी पत्नी को बुद्धि गौरव और साहस के लिये प्रसिद्ध व्यक्ति के साथ सहवास करने के लिये भेज देता था और सहवास से उत्पन्न सन्तान पति की वैध सन्तान समझी जाती थी। मित्रता के नाते मित्र को पत्नी से सहवास करने का अधिकार देना भी एक आम प्रथा था[1]। विदेश जाने वाला व्यक्ति अपनी पत्नी को अपने मित्र या किसी अन्य व्यक्ति के पास छोड़ जाता था और वापस आकर पुनः अपनी पत्नी को वापस ले लेता था। अल्पकालीन विवाहों का भी वर्णन मिलता है। विदेश में जाकर अल्पकाल के लिये विवाह करना (यह विवाह जो केवल यौन-सुख के लिये संविदा-मात्र होता था) एक साधारण अरबी रिवाज था। इस्लाम में मुता विवाह की धारणा और परम्परा इसी अरबी आधार पर विकसित हुई है।

रावट सन स्मिथ के अनुसार[2] इस्लाम के अभ्युदय के पहले अरब में जो बहुविवाह प्रथा प्रचलित थी उसकी तीन विशेषतायें थीं—एक नारी को अपना पति चुनने की स्वतन्त्रता थी दो पति अपनी पत्नी के तम्बू में रहता था और पत्नी अपनी मर्जी के अनुसार कभी भी पति परित्याग कर सकती थी और तीन सन्तान पर नारी के सम्बन्धियों का अधिकार रहता था और बच्चे उन्हीं के संरक्षण में पलते थे। रावट सन ने इस विवाह प्रकार को तत्कालीन अरबी परम्परा के आधार पर बीना विवाह कहा है। इस्लाम के अभ्युदय के प्रारम्भिक काल में इसी विवाह परम्परा के आधार पर जो पितसत्तात्मक तथा पितवंशी परम्परा विकसी उसे रावटसन ने बअल विवाह की संज्ञा दी है। बअल विवाह में पत्नी के स्थान पर पति का प्रभुत्व बढ़ गया और मातृत्व निश्चितता के स्थान पर पितृवंशीयता का अभ्युदय हुआ जिसके फलस्वरूप सन्तान पर माता और उसके सम्बन्धियों के स्थान पर पिता और उसके सम्बन्धियों के अधिकार और प्रभुता की स्थापना हुई। बीना विवाह में अपनी मर्जी के अनुसार जब चाहे तब पति को तलाक देने के नारी के अधिकार का हनन हुआ और तलाक में पति की स्वच्छाचारिता का अधिकार मिला। बअल विवाह में

---

1 अरबी में बअल शब्द पति का पर्याय है किन्तु पिता का पर्याय है अब (ab) जिसका अर्थ सरक्षक या जनक न होकर पालक होना है। यह इस बात का प्रमाण माना जा सकता है कि इस्लाम के पहले के अरबी समाज में पिता की जनक की भूमिका पर उतना जोर नहीं था जितना कि उसकी पालन पोषण कर्ता की भूमिका पर—चतुर्वेदी वही पृष्ठ 412

2 कपाडिया की पुस्तक मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया में उद्धृत रावट सन के मत के आधार पर पृष्ठ 185

मेहर की प्रथा का समावेश हुआ और मेहर नारी के पिता की सम्पत्ति हो गई। नारी को परपुरुषों से बचाये रखना पति का उत्तरदायित्व हो गया[1]। परपुरुषों से अपने को बचाना नारी का अपना उत्तरदायित्व न था। सजाति में ही परसम्बन्ध सह्य थे किन्तु सजाति के बाहर होने वाले परसम्बन्ध संघर्ष का कारण। नारी, एक ओर पिता की सम्पत्ति हो गई और, दूसरी ओर पति की। विवाह में 'वली' (अभिभावक) की महत्ता का अभ्युदय हुआ जो मातृसत्तात्मकता पर पितृसत्तात्मकता के प्रतिस्थापन का प्रतीक है। विधवा होने पर अपना पति स्वयं चुनने की प्रथा के रूप में नारी का प्राचीन अधिकार बना रहा। नारी से विवाह विच्छेद का अधिकार छिन गया किन्तु मातृसत्तात्मकता परम्परा के अवशेष के रूप में नारी को पति से भरण पोषण का अधिकार मिला। मेहर इस्लाम में स्त्री धन हो गया। पुत्री हनन[2] की प्रथा का निषेध हुआ किन्तु पुत्री पर पिता को वली का अधिकार मिला। बन्य विवाह में नारी की यौन-स्वच्छन्दता का निषेध हुआ किन्तु साथ ही साथ नारी अपहरण और सतीत्व-हरण भी चलता रहा। सतीत्वहर्ता आदर का पात्र बन गया। कपाडिया और लेवी के अनुसार मुहम्मद के समय में यदि, एक ओर मुख्य विवाह के रूप में पितृसत्तात्मक परम्परायें उभर रही थीं तो दूसरी ओर मुता विवाह के रूप में प्राचीन परम्परायें चल रही थीं।

मुस्लिम विवाह परम्पराओं का उद्गम और विकास [illegible] पितृसत्तात्मक तथा मातृसत्तात्मक परम्पराओं के संघर्ष और मातृसत्तात्मक परम्पराओं में पितृसत्तात्मक परम्पराओं के संक्रमण में हुआ है। इस्लाम का अभ्युदय एक सुधारवादी, राजनैतिक मजहबी आन्दोलन के रूप में हुआ—एक आन्दोलन के रूप में जिसमें पति को पत्नी पर प्रभुत्व मिला किन्तु पति पर मेहर का बंधन लगा, जिसमें विवाह एक संविदा बना, नारी के स्थान पर पति को विवाह विच्छेद में अधिक अधिकार मिले, तलाक को वैध माना गया पर अनेक बंधनों के साथ, रखैल की परम्परा का निषेध किया गया, बहुपत्नीत्व की एक सीमा प्रदान की गई और कुमारी लड़की से विवाह उत्तम माना गया। लेवी के अनुसार, कुरान में मुहम्मद साहब ने जिन वैवाहिक परम्पराओं को प्रतिस्थापित किया है उनसे यह प्रतीत होता है कि मुहम्मद

1 लेवी रियेन वही पृष्ठ 91

साहब ने इस्लामी ववाहिक परम्पराओं को वहा तक इसाई परम्पराओं के अनुसार ढालने का प्रयास किया, जहा तक वे स्वय इसाई परम्पराओं से परिचित थे[1]। किन्तु, लेवी के ही अनुसार जहा इसाई विवाह एक धार्मिक कृत्य है, वहा मुस्लिम विवाह एक कानूनी संविदा है। यह अन्तर एक महत्वपूर्ण अन्तर है जो यह एकतरफा राय कायम करने में विरोध म पड़ता है कि मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित विवाह तथा स्त्री-प्रतिष्ठा सम्ब धी मान्यतायें इसाइयत से प्रेरित हैं। यह हो सकता है कि मुहम्मद साहब पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष इसाई-प्रभाव रहा हो। मुहम्मद साहब द्वारा प्रतिपादित ववाहिक मान्यताओं और परम्पराओं पर तत्कालीन अरबी परम्पराओं के प्रति होने वाली उनकी प्रतिक्रिया का अधिक प्रभाव है। यही कारण है कि, जसा कि कपाडिया ने प्रतिपादित करने का प्रयास किया है मुस्लिम वैवाहिक परम्पराओं का विकास उन विवाह-परम्पराओं और मान्यताओं के आधार पर हुआ है, जो मुहम्मद साहब के पहले और उनके जीवन-काल मे अरब म प्रचलित थी और जिनको उन्होंने सुधारने का प्रयत्न किया। मुहम्मद साहब के बाद मुहम्मद साहब के कृत्यों और कथनों के आधार पर मुस्लिम विधि प्रणाली के निवचकों ने उन परम्पराओं को निश्चित रूप देने का प्रयास किया। मुस्लिम विवाह मातृसत्तात्मक तथा पितृसत्तात्मक परम्पराओं के समन्वय से उत्पन्न हुआ है। जब सुधार की आवश्यकता पड़ी, मुहम्मद साहब के कथनों को निर्वचित करके ही सुधार का आश्रय लिया गया—बस ही जसे हिन्दू विवाह मे सुधार का पक्ष शास्त्रीय मान्यताओं का निर्वचन करके लिया गया। हिन्दू विवाह की भांति मुस्लिम विवाह भी एक सतत सांस्कृतिक विकास का परिणाम है—वह विकास जो एक साथ पुनरुन्नयनवादी और सुधारवादी रहा है।

मुसलमानों म अरबी भाषा का शब्द 'निकाह' विवाह के पर्याय के रूप म प्रयुक्त होता है। मुस्लिम विधि प्रणाली मे निकाह से विवाह का अर्थ लिया जाता है। वसे, निकाह का शाब्दिक अर्थ है नर-नारी का विषयी समागम। निकाह के शाब्दिक और वधिक अर्थों म जो

निकाह

अन्तर है उससे यह स्पष्ट होता है कि एक वैध विवाह की अवधारणा के रूप म, निकाह का वतमान रूप इस्लाम के प्रभाव म उन परम्पराओं से उत्पन्न हुआ है, जो इस्लाम के पहले व अरब म विद्यमान थीं। निकाह के तीन उद्देश्य माने गये हैं—एक यौनिक सायुज्य की वैधता दूसरा, सन्तानोत्पत्ति और सन्तान की वैधता, तीसरा, पति पत्नी के रूप म नर-नारी तथा उनकी सन्तान के मध्य अधिकार और कर्तव्यों का निश्चित करके समाज के हित मे सामाजिक जीवन को नियमित करना। इस दृष्टिकोण स, निकाह एक प्रकार का संविदा है जिसके द्वारा नर-नारी पति-

---

1 लेवी वही पृष्ठ 100

पत्नी के सम्बन्ध में बंधन का प्रस्ताव करके, उसे स्वीकार करते हों, परस्पर अनेक अधिकारों और कर्तव्यों में बँध जाते हैं। इस्लामी वैधानिक मान्यताओं के अनुसार निकाह एक कानूनी संविदा है जिसका उद्देश्य पति पत्नी के सम्बन्ध में बँधे नर-नारी के यौन-सम्बन्धों, उनकी संतानों, उनके तथा उनकी संतान के सम्बन्धों और उनके पारस्परिक अधिकारों तथा कर्तव्यों को वैधता प्रदान करना है। विषयानन्द और संतानोत्पत्ति निकाह संविदा के दो आधारभूत उद्देश्य हैं। निकाह के बाहर यौन-सम्बन्ध परसम्बन्धों की श्रेणी में आते हैं जिन्हें इस्लाम में जिना कहा गया है। जिना अवैध है। अतः जिना से उत्पन्न संतान भी अवैध है।

मुल्ला[1] के अनुसार निकाह की परिभाषा एक संविदा के रूप में की जाती है जिसका उद्देश्य संतानोत्पत्ति और संतान को वैधता प्रदान करना है। अमीरअली के अनुसार, मुस्लिम विवाह एक कानूनी संविदा है, जिसके लिये न तो किसी पुरोहित (मुल्ला) की आवश्यकता है और न किसी धार्मिक कर्मकाण्ड की[2]। निकाह संविदा में पुरुष को नारी की प्रतिष्ठा और सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं मिलता है। इस संविदा से पुरुष को नारी पर अधिकार अवश्य मिलता है किन्तु वहीं तक जहां तक मुस्लिम विधि में इस अधिकार की परिभाषा की गई है। संविदा होने के नाते निकाह अविच्छेद्य नहीं है। विवाह विच्छेद के लिये अरबी में तलाक शब्द आता है जिसका अर्थ है डिसमिस करना या निकाल देना। निकाह सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता प्रत्येक उस मुसलमान को है जिसका दिमाग सही है और जो वयःसन्धि की अवस्था पार कर चुका है क्योंकि इस्लामी विधि प्रणाली में निकाह तभी वैध माना जाता है जब वर-कन्या ने उसके लिये अनुमति दी हो। जिसका दिमाग सही न हो और जिसने वयःसन्धि न पार किया हो वह निकाह के लिये अक्षम है[3]।

निकाह में निकाह प्रस्ताव और उसकी स्वीकृति कभी भी निकाह की

---

1 मुल्ला, डी० एफ० प्रिंसिपिल्स आफ मुस्लिम ला पृष्ठ 223

2 अमीर अली दि स्प्रिट आफ इस्लाम (पृष्ठ 237) में और अब्दुल नबी बनाम सय्यद अजमत हुसैन (1935, नागपुर 121) नामक मुकदमे के फैसले में।

3 फतवा-ए आलमगीरी के अनुसार निकाह संविदा के बन्धन में बंधने वाले वयस्क होने चाहियें, उन्हें निकाह संविदा स्थापित करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये, उन पर किसी प्रकार का जोर दबाव नहीं होना चाहिये और उनमें इतनी बौद्धिक स्वतन्त्रता तथा क्षमता होनी चाहिये कि वे निकाह-संविदा के ठीक-ठीक स्वरूप और उसमें निहित उत्तरदायित्व को समझ सकें। अगर किसी व्यक्ति में ये क्षमताएं हैं तो वह बिना किसी दूसरे की सलाह या स्वीकृति के स्वयं निकाह-संविदा को तय कर सकता है—सक्सेना, काशी प्रसाद वही-पृष्ठ 151

साहब ने इस्लामी ववाहिक परम्पराओं को वहा तक इसाई परम्पराओं के अनुसार ढालने का प्रयास किया, जहा तक वे स्वय इसाई परम्पराओ से परिचित थे[1]। किंतु, लेवी के ही अनुसार, जहा इसाई विवाह एक धार्मिक कृत्य है, वहा मुस्लिम विवाह एक कानूनी सविदा है। यह अ तर एक महत्वपूण अन्तर है जो यह एकतरफा राय कायम करने के विरोध म पडता है कि मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित विवाह तथा स्त्री-प्रतिष्ठा सम्बन्धी मान्यतायें इसाइयत से प्ररित हैं। यह हो सकता है कि मुहम्मद साहब पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष इसाई-प्रभाव रहा हो। मुहम्मद साहब द्वारा प्रतिपादित ववाहिक मान्यताओ और परम्पराओ पर तत्कालीन अरबी परम्पराओं के प्रति होने वाली उनकी प्रतिक्रिया का अधिक प्रभाव है। यही कारण है कि, जसा कि कपाडिया ने प्रतिपादित करने का प्रयास किया है, मुस्लिम ववाहिक परम्पराओं का विकास उन विवाह-परम्पराओं और मान्यताओं के आधार पर हुआ है, जो मुहम्मद साहब के पहल और उनके जीवन-काल में अरब म प्रचलित थीं और जिनको उन्होंने सुधारने का प्रयत्न किया। मुहम्मद साहब के बाद मुहम्मद साहब के कृत्यों और कथनों के आधार पर, मुस्लिम विधि प्रणाली के निवचकों ने उन परम्पराओं को निश्चित रूप देने का प्रयास किया। मुस्लिम विवाह मातसत्तात्मक तथा पितसत्तात्मक परम्पराओं के समन्वय से उत्पन्न हुआ है। जब सुधार की आवश्यकता पडी, मुहम्मद साहब के कथनों का निर्वचन करके ही सुधार का आश्रय लिया गया—वसे ही जैसे हिन्दू विवाह म सुधार का पग शास्त्रीय मान्यताओं का निवचन करके लिया गया। हिन्दू विवाह की भांति मुस्लिम विवाह भी एक सतत सांस्कृतिक विकास का परिणाम है—वह विकास जो एक साथ पुनः नयनवादी और सुधारवादी रहा है।

निकाह

मुसलमानों म अरबी भाषा का शब्द 'निकाह' विवाह के पर्याय के रूप म प्रयुक्त होता है। मुस्लिम विधि-प्रणाली मे निकाह से विवाह का अर्थ लिया जाता है। वसे, निकाह का शाब्दिक अर्थ है नर-नारी का विषयी समागम। निकाह के शाब्दिक और वधिक अर्थों म जो अन्तर है उसम यह स्पष्ट होता है कि एक वैध विवाह की अवधारणा के रूप मे निकाह का वतमान रूप इस्लाम के प्रभाव मे उन परम्पराओं से उत्पन्न हुआ है जो इस्लाम के पहले के अरब म विद्यमान थीं। निकाह के तीन उद्देश्य माने गये हैं—एक यौनिक माधुर्य की वधता दूसरा, सन्तानोत्पत्ति और सन्तान की वधता तीसरा पति पत्नी के रूप म नर-नारी तथा उनकी सन्तान के मध्य अधिकार और कर्तव्यों का निश्चित करके समाज के हित म सामाजिक जीवन का नियमित करना। इस दृष्टिकोण म, निकाह एक प्रकार का सविदा है जिसके द्वारा नर नारी पति-

1 लेवी वही पृष्ठ 100

पत्नी के सम्ब धा मे बधन का प्रस्ताव करने, उस स्वीकार करते ही, परस्पर अनेक अधिकारा और कतव्या मे बँध जात हैं। इस्लामी वैधानिक मा यताओ के अनुसार निकाह एक कानूनी सविदा है जिसका उद्देश्य पति पत्नी के सम्ब ध म बँधे नर-नारी के यौन-सम्ब धो, उनकी स ताना, उनके तथा उनकी स तान के सम्ब धो और उनके पारस्परिक अधिकारो तथा कतव्या का वैधता प्रदान करना है। विषयान द और स तानोत्पत्ति निकाह सविदा के दो आधारभूत उद्देश्य हैं। निकाह के बाहर यौन-सम्ब ध परसम्ब धा की श्रेणी म आते हैं जि ह इस्लाम म जिना कहा गया ह। जिना अवध ह। अत, जिना से उत्प न स तान भी अवध है।

मुल्ला[1] क अनुसार निकाह की परिभाषा एक सविदा क रूप म की जाती ह जिसका उद्देश्य स तानोत्पत्ति और स तान का वधता प्रदान करना है। अमीरअली के अनुसार, मुस्लिम विवाह एक कानूनी सविदा है, जिसके लिये न तो किसी पुरोहित (मुल्ला) की आवश्यकता है और न किसी धार्मिक कमकाण्ड की[2]। निकाह-सविदा स पुरुष को नारी की प्रतिष्ठा और सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं मिलता ह। इस सविदा स पुरुष को नारी पर अधिकार अवश्य मिलता है कि तु वहीं तक जहा तक मुस्लिम विधि म उस अधिकार की परिभाषा की गई है। सविदा होन क नाते निकाह अवि छेद्य नहीं है। विवाह विच्छेद के लिये अरबी म तलाक श द आता है जिसका अर्थ है डिसमिस करना या निकाल दना। निकाह सम्ब ध स्थापित करन की क्षमता प्रत्येक उस मुसलमान का है जिसका दिमाग सही है और जो वय संधि की अवस्था पार कर चुका है क्योंकि इस्लामी विधि प्रणाली म निकाह तभी वध माना जाता है जब दोनों पक्षों ने उसके लिये अनुमति दी हो। जिसका दिमाग सही न हो और जिसने वय सधि न पार किया हो, वह निकाह के लिये अक्षम है[3]।

ह प्रस्ताव और उसकी स्वीकृति करना निकाह के

अनुमति, निकाह के इकरारनामे पर दो गवाहों के हस्ताक्षरों की आवश्यकता, मेहर, और तलाक होने पर फारखती लिखने की आवश्यकता की मान्यता पर सामाजिक वैधानिक जागरण से निकाह का जो रूप निखरा है उसमें वैधानिक संविदा का ही अधिक पुट है। मुस्लिम परम्परा में निकाह तभी बन पाता है जब एक पक्ष की ओर से प्रस्ताव किया जाता है और दूसरा पक्ष उसे स्वीकार करके उसकी अनुमति ही नहीं देता है वरन स्वीकृति की इस प्रकार में घोषणा करता है कि दूसरे विशेषतया निकाह के साक्षी उसे सुन लें। प्रस्ताव, स्वीकृति और उसकी घोषणा एक ही साथ एक मीटिंग में होना आवश्यक है। वयस्क के लिये प्रस्ताव स्वीकृति और स्वीकृति की घोषणा नितान्त आवश्यक है। इस्लामी विधि इतनी छूट अवश्य देती है कि वयस्क व्यक्ति निकाह के प्रस्ताव स्वीकृति और स्वीकृति की घोषणा के लिये एजेंट नियुक्त कर सकते हैं। निकाह में प्रस्ताव स्वीकृति और घोषणा को न तो लिखबद्ध करने की आवश्यकता है और न उसके लिये किसी कर्मकाण्ड और समारोह की। यदि निकाह का प्रस्ताव और उसकी स्वीकृति एक साथ और एक ही मीटिंग में नहीं किये जाते हैं तो निकाह अवैध है। हनाफी विधि सम्प्रदाय के प्रतिपादकों के अनुसार यदि निकाह का प्रस्ताव जोर दबाव के कारण किया गया हो और बिना निकाह के इरादे के भी प्रस्ताव की स्वीकृति दे दी गई हो तो भी निकाह सर्वथा जायज है। यह मान्यता मुहम्मद साहब के इस कथन पर आधारित है कि विवाह, तलाक और तलाक की हुई स्त्री को वापस लेना हर दशा में वैध है चाहे यह हंसी मजाक में किया जाय या सोच समझ कर[1]। किन्तु योरोपीय प्रभाव में मुस्लिम विधि की भारतीय व्याख्या में जो विवेचन हुआ है उसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि जोरजबरी और अवांछनीय दबाव में किया निकाह अवैध है। किन्तु ऐसे निकाह में भी यदि निकाह के बाद यौनसम्बन्ध स्थापित हो गए हों तो निकाह वैध है और पत्नी मेहर की अधिकारिणी है।

यह अवश्य है कि मुस्लिम कानून में निकाह को एक संविदा का रूप देने का प्रयास किया गया है। भारत के अंग्रेजी मुस्लिम कानून में भी विवाह को संविदा के ही रूप में स्वीकार किया गया है। निकाह संस्कार नहीं है। विवाह में विवाह से सम्बन्धित कर्मकाण्डों के कारण आधिदैविक का भाव निहित रहता है जो निकाह में नहीं है। निकाह यदि संस्कार नहीं है तो वह एक सामान्य कानूनी संविदा भी नहीं है। निकाह में इबादत का भी पुट है और मुवामलात (मानव सम्बन्धों) का भी। मुहम्मद साहब के एक वचनानुसार किया निकाह मेरी सुन्नत है और जो इसकी आज्ञा का पालन नहीं करते हैं वे मेरे अनुयायी नहीं हैं। किसी भी नारी का विवाह उसकी चार विशेषताओं के कारण होता है—एक उसकी सम्पत्ति दो दूसरे वंश की

---

1 सक्सेना वही पृष्ठ 152

उच्चता, तीन, उसका सौंदर्य और चार उसकी धर्मनिष्ठा। तुम धर्मनिष्ठा से निकाह करो। अतः, निकाह एक ऐसी संविदा है जो एक सामाजिक परम्परागत धार्मिक कृत्य है। साधारण संविदा कोई भी दो वयस्क व्यक्ति कर सकते हैं। किन्तु निकाह ऐसी संविदा है जिसके साक्षी दो मुस्लिम (वयस्क मुस्लिम) ही हो सकते हैं, जिसमें वली एवं निकाह और मुल्ला का परम्परागत महत्व है और जिसके द्वारा नर-नारी पति पत्नी तथा माता पिता की वैध सामाजिक भूमिका में प्रवेश करते हैं। निकाह कानून के दृष्टिकोण से एक विशेष संविदा है, मजहब के दृष्टिकोण से एक मजहबी (सुन्नता) कृत्य है और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से एक संस्था जो परिवार का आधार है।

डिमाश्कीस के अनुसार निकाह के लिये पति पत्नी की सम्मति आवश्यक है। यदि पति वयस्क है तो उसे स्वयं या किसी अपने प्रतिनिधि द्वारा अनुमति देने का अधिकार है। डिमाश्कीस का यह मत है कि इस्लाम में नारी हमेशा अपने निकाह की अनुमति देने के लिये अक्षम मानी गई है। इस्लामी कानून की परम्परा के अनुसार, नारी वली एवं निकाह[1] द्वारा ही अपनी अनुमति दे सकती है[2]। वली अनुमति देता है और कन्या मौन स्वीकृति देती है। वली को कन्या का जब्र निकाह करने का अधिकार है अर्थात वली कन्या की अनुमति लिये बिना ही उसका विवाह कर सकता है लेकिन तभी तक जब तक कन्या वयस्क नहीं है। हतबुद्धि (Lunatic) पुरुष होने पर निकाह के लिये माता स्वयं अनुमति दे सकती है या किसी अपने प्रतिनिधि द्वारा किन्तु अवयस्क कन्या को निकाह की अनुमति देने के लिये अपना प्रतिनिधि या वकील नियुक्त करने की आज्ञा नहीं है। कन्या की ओर से वैध अभिभावक ही अनुमति दे सकता है। किन्तु यदि कन्या वयस्क या विधवा या तलाक दी हुई है तो वली की अनुमति ही वैध नहीं है। जहां पर कन्या वयस्क है वहां निकाह की वैधता के लिये उसकी स्वतन्त्र अनुमति आवश्यक ही नहीं वरन् नितान्त आवश्यक है। वहां वली की अनुमति कन्या की अनुमति का स्थान नहीं ले सकती है[3]। कन्या को अपने निकाह की अनुमति देने का अधिकार है या नहीं, इस्लाम में इस प्रश्न पर मतभेद है। भारत के इस्लामी कानून में वली की भूमिका को दो पहलुओं से देखा गया है—एक यदि वली ने अल्पवयस्क का निकाह कर दिया है तो

1 वली का अर्थ है अभिभावक या संरक्षक। पिता, पितामह, भाई, पिता की ओर के अन्य सम्बन्धी, माता, मातुल और माता की ओर के अन्य प्रत्यक्ष सम्बन्धी क्रमशः अभिभावक की श्रेणी में आते हैं। यदि किसी कन्या का कोई भी अभिभावक न हो तो शासक उसका अभिभावक हो सकता है।

2 डिमाश्कीस, माडोक्काप वही पृष्ठ 129

3 सक्सेना, कालाप्रसाद वही पृष्ठ 151

वयस्क होने पर कन्या उस निकाह को अस्वीकार नहीं कर सकती। दो, जहाँ वली ने छल से निकाह किया हो, या जो निकाह कन्या के लिये स्पष्टत असुविधाजनक हो या निकाह किसी पागल (हतबुद्धि) से हो गया हो वहाँ वयस्क होने पर कन्या को वली द्वारा किया हुआ निकाह अस्वीकार करने का अधिकार है। किन्तु, जहाँ निकाह के बाद वर कन्या के यौन सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं वहाँ कन्या का यह अधिकार समाप्त हो जाता है। दि डिसोल्यूशन आफ मुस्लिम मैरिजेज एक्ट के अन्तर्गत, वयस्क होने पर कन्या को वली द्वारा किए हुए निकाह को समाप्त करने का अधिकार दिया गया है यदि कन्या यह सिद्ध कर सके कि (अ) निकाह के बाद वर कन्या में यौन-सम्बन्ध नहीं हुए हैं, (ब) यदि निकाह कन्या की पन्द्रह साल की आयु पूर्ण होने के पहले हुआ है (स) यदि कन्या अठारह साल की आयु पूर्ण होने के पहले वली द्वारा सम्पन्न निकाह को अस्वीकार करती है। कुछ अदालतों की राय है कि ऐसे निकाह का अस्वीकार करने के लिये अदालत की अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं है और कुछ की राय है कि अदालत की अनुमति लेने की आवश्यकता है। किन्तु विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इस एक्ट द्वारा अवयस्क कन्या को वयस्क होने पर वली द्वारा सम्पन्न अपने निकाह का अस्वीकार करने का अधिकार दिया गया है और इस अधिकार पर जो रोक थी, उसे दूर कर दिया गया है[1]। अन्य इस्लामी देशों में भी इस प्रकार के वैधानिक परिवर्तन किये गए हैं जिनका उदगम यारोप के प्रभाव में है।

निकाह एक संविदा है जिसकी वैधता के लिये वर-कन्या की स्वीकृति आवश्यक है यदि दोनों वयस्क हैं। वर्ना वैध वली की अनुमति से किया हुआ निकाह वैध है। इंडियन मेजोरिटी एक्ट के अनुसार अठारह वर्ष की आयु पूर्ण हो जाने पर ही कोई व्यक्ति किसी संविदा में पार्टी बन सकता है। किन्तु निकाह-संविदा पर यह नियम नहीं लागू होता है। निकाह के साथ मेहर और तलाक में निहित संविदा पर भी यह एक्ट लागू नहीं होता है। इस विषय पर इस्लामी विधि के अपने नियम हैं जिन्हें अंग्रेजी राज में वर्तमान कानूनी स्तर मिला है। इस्लामी विधि के अनुसार वयस्क वर-कन्या तभी निकाह के बंधन में बंध सकते हैं जबकि उनमें निर्णय बुद्धि का विकास हो चुका हो और वे निकाह प्रस्ताव को स्पष्टतया स्वीकार करने में समर्थ हों। जिस स्त्री का एक बार विवाह हो चुका है, उसके लिये यह आवश्यक है कि वह निकाह प्रस्ताव का स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करे किन्तु जिसका निकाह पहली बार हो रहा है निकाह प्रस्ताव पर उसका हँसना, मुस्काना या चुप रहना स्वीकृति

---

[1] मुल्ला डी० एफ वही पृष्ठ २३०

…ा प्रतीक माना जायगा[1]। किन्तु, यहां प्रश्न उठता है कि किस आयु में वर-कन्या …निकाह की स्वीकृति देने के वैध अधिकारी हैं। मुस्लिम-विधि के अनुसार, वयःसंधि …ी आयु प्राप्त होने पर, वर और कन्या निकाह के वैध अधिकारी हो जाते हैं। …न्द्रह वर्ष की आयु के पूर्ण होने पर, साधारणतः, वयःसंधि की आयु की पूर्णता …ानी जाती है।

…न्द्रह वर्ष की आयु वयःसंधि की अधिकतम सीमा मानी गई है। सुन्नी विधि-प्रणाली में यह माना गया है कि वर बारह साल के बाद और कन्या नौ साल के बाद वयःसंधि को प्राप्त होते हैं। शिया विधि-प्रणाली में वर पन्द्रह वर्ष की आयु में और कन्या नौ वर्ष की आयु में वयःसंधि को प्राप्त हुये माने जाते हैं। इसप्रकार, मुस्लिम विधि प्रणाली के दृष्टिकोण से वयःसंधि की आयु प्राप्त होने पर वर कन्या निकाह-संविदा में बंधने के अधिकारी हो जाते हैं। जहां अन्य कोई प्रमाण न हो वहां वयःसंधि पन्द्रह वर्ष पर मानी जाती है। इस दृष्टिकोण से यदि कोई लड़की वयःसंधि को प्राप्त कर चुकी है और उसकी आयु पन्द्रह वर्ष से कम है वह निकाह करने के लिए सक्षम है। आगे चलकर, यदि यह पाया जाय कि कन्या में वयःसंधि की आयु की न होने के कारण उसे निकाह करने की क्षमता न थी तो ऐसा विवाह अनियमित माना जायगा न कि अवैध। लेकिन निकाह की वैधता के लिये वयःसंधि की आयु ही एकमात्र आवश्यकता नहीं है। निकाह की वैधता के लिये निकाह प्रस्ताव और निकाह-स्वीकृति देने के अर्थ का समझने की मानसिक क्षमता भी आवश्यक है। यदि वर और कन्या वयःसंधि को प्राप्त हो गए हों और उनमें निर्णय बुद्धि की क्षमता न हो या निर्णय बुद्धि की क्षमता हो और वयःसंधि की आयु पूर्ण न हुई हो तो दोनों अवस्थाओं में, निकाह तभी वैध है जब वैध वली की स्वीकृति से निकाह सम्पन्न हुआ हो। इस प्रकार जहां हिन्दू विवाह में वर-कन्या को क्रमशः इक्कीस और अठारह वर्ष की आयु पूर्ण करने पर विवाह-संविदा करने का अधिकार है वहां निकाह में उसके पहले

निकाह-आयु

---

1 इस्लामी विधि के एक सम्प्रदाय (शाफी, मालिकी) के अनुसार निकाह-संविदा की पूर्ति के लिए वयस्क कुमारी की स्वीकृति ही काफी नहीं है। शिया और सुन्नी विधि-सम्प्रदायों के अनुसार स्वस्थचित्त और वयस्क तथा कुमारी या विधवा नारी को वह निकाह-संविदा करने का अधिकार है। किन्तु साथ ही साथ वयस्क कुमारी के निकाह में उसकी स्वीकृति तथा उसके वली की स्वीकृति पर एक साथ जोर दिया गया है जिसका तात्पर्य यह है कि कुमारी के निकाह में वली की स्वीकृति एक आवश्यक आधार है। कानून के दृष्टिकोण से बलात्कार से जिसका कुमारित्व नष्ट हुआ है वह कन्या भी कुमारी ही है।

बशर्ते कि जिस आयु में निकाह किया जाय, उसमें वर-कन्या वयसंधि को प्राप्त होने के साथ-साथ निर्णय बुद्धि की क्षमता को भी प्राप्त हो गए हों।

मुस्लिम विधि परम्परा के अनुसार निकाह दो गवाहों की उपस्थिति में तथा उनको सुनाई देते हुए प्रस्ताव और स्वीकृति के रूप में होना चाहिये।

निकाह साक्षी

बिना साक्षी के किया हुआ निकाह अवैध है। जो निकाह अभिभावक द्वारा सम्पन्न होता है उसके लिए भी दो गवाहों की आवश्यकता है। गवाहों का स्थिरचित्त वयस्क और मुसलमान होना आवश्यक है। गैर मुसलमान निकाह का साक्षी नहीं हो सकता है। हनाफी विधि सम्प्रदाय के अनुसार, दो गवाहों में एक का पुरुष होना आवश्यक है। गवाही के मामले में, इस्लाम में दो स्त्रियां एक पुरुष के बराबर मानी गई हैं। अतः जहां दोनों गवाह पुरुष नहीं हैं वहां गवाहों में एक पुरुष और दो स्त्रियों का होना आवश्यक है। शफी विधि सम्प्रदाय में स्त्रियों को निकाह की साक्षी बनने की अधिकारिणी नहीं माना गया है। शिया सम्प्रदाय में निकाह संविदा की वैधता के लिये साक्षियों का होना *आवश्यक नहीं है। अमीर अली ने यह मत प्रतिपादित किया है कि निकाह के अव*सर पर मुल्ला या काजी की उपस्थिति आवश्यक नहीं है क्योंकि निकाह न तो संस्कार है और न धार्मिक कर्मकाण्ड। किन्तु, भारत में मुसलमानों की वैवाहिक परम्पराओं में मुल्ला या काजी ने पुरोहित का रूप ले लिया है। ऐसी दशा में मुल्ला अपने आप विवाह का साक्षी बन जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी में, भारत के विभिन्न भागों में मुल्ला की स्थिति को अधिक नियमित और नियन्त्रित बनाने के लिए अनेक अधिनियमों[1] को पास किया गया किन्तु उनमें भी इस प्रश्न पर एकमतता नहीं है। बहुमत इसी पक्ष में है कि निकाह सम्पन्न करने के लिये काजी या मुल्ला की आवश्यकता नहीं है।

मेहर की परम्परा निकाह का आवश्यक अंग है। मेहर वह निश्चित रकम है जो निकाह और उसके बाद पति को सम्भोग का अधिकार देने के कारण पत्नी को पति से मिलती है। मेहर पति तथा पत्नी के बीच समझौता है क्योंकि पति और पत्नी ही मेहर की रकम

मेहर

निश्चित करते हैं। मेहर की रकम निकाह के पहले या निकाह के समय या निकाह के बाद निश्चित की जा सकती है। निकाह के बाद, यदि पति पत्नी में तलाक न हुआ हो तो पहले से निश्चित की हुई मेहर की रकम बढ़ाई भी जा सकती है। मेहर निकाह का एक आधारभूत अंग है क्योंकि मेहर निकाह में निहित है। मुस्लिम कानून में बिना मेहर के निकाह की सम्भावना ही नहीं है। निकाह के बाद कोई स्त्री मेहर की रकम अपने पति को दे सकती है या मेहर की सारी रकम उस व्यक्ति

1 अधिनियमों के लिए देखिये सक्सेना, काशीप्रसाद वही पृष्ठ 150

कर सकती है किन्तु निकाह के पहले या निकाह के समय नहीं क्योंकि उस समय वह महर की अधिकारिणी नहीं है। महर निकाह संविदा से उत्पन्न पति का उत्तरदायित्व है जिसे निकाह संविदा की रक्षा के लिए निभाना पति के लिए आवश्यक है। यदि निकाह के समय महर तय न की गई हो तो इस्लामी कानून के अनुसार काजी या न्यायाधीश को, पति पत्नी की हैसियत के अनुसार महर की रकम तय करने का अधिकार है। महर के बिना निकाह अवैध नहीं अनियमित है क्योंकि इस्लामी कानून में जहाँ निकाह है वहाँ महर है चाहे वह निकाह के समय निश्चित की जाय या बाद में।

मुस्लिम नारी का महर का अधिकार निकाह में निहित है। किन्तु महर पाने का अधिकार केवल निकाह पर ही निर्भर नहीं है। पति का सम्भोग की अनुमति देने के बाद ही नारी महर की अधिकारिणी होती है। दूसरी ओर बिना महर के अधिकार के पत्नी पति को सम्भोग से वंचित रख सकती है। महर का अधिकार पाने के बाद पति को सम्भोग की अनुमति देने की प्रथा वस्तुतः नारी के उस अधिकार की स्वीकृति है जिसका सम्बन्ध नारी की सामाजिक आर्थिक सुरक्षा से है। पत्नी के लिए दाम्पत्य के रूप में पति द्वारा स्वीकृति धन राशि (महर) उन परिस्थितियों में नारी की सुरक्षा प्रदान करने का प्रयास है जो पति द्वारा पत्नी को अस्वीकार करने, तलाक देने, एक से अधिक विवाह करने और पति के मरने की अवस्थाओं में उत्पन्न हो सकती हैं। इस्लाम में पुरुष को मिले एकतरफा अधिकार और उससे उत्पन्न होने वाली सम्भव विषमताओं के प्रति महर एक प्रकार का सुरक्षा साधन है। महर की परम्परा इस्लाम के पहले के अरबी समाज में आई है। इस्लाम के पहले अरबी समाज में वर कन्या को भी धन देता था और उसके पिता को भी वर जो धन देता था वह उस धन का एक अंश हुआ करता था जो वह अरिस्त में अपनी पत्नी के तलाक करने पर उस को वापस किया करता था। पति पत्नी कभी भी एक दूसरे को तलाक दे सकते थे। यदि पति तलाक देता था तो वह प्राप्ति की हुई धन राशि को नहीं पाते। वे सम्बन्धियों को देता था और यदि पत्नी विवाह विच्छेद करती थी तो उसके सम्बन्धी पति से प्राप्त धन पति को लौटा दिया करते थे। महर का कुछ अंश निकाह के अवसर पर लिया जाता था कुछ पत्नी को तलाक करने की अवस्था में या उसके विधवा होने की अवस्था में। इस्लाम में महर की परम्परा इसी अरबी परम्परा से आई है।

इस्लाम के प्रादुर्भाव से महर की अरबी परम्परा पत्नियों के साथ इस्लाम में एक दृढ़ परम्परा बन गई। कुरान (2:229) में कहा गया है कि यदि तुम अपनी पत्नियों से विवाह विच्छेद करना चाहो तो तुम्हारे लिए उचित नहीं है कि जो कुछ उन्हें दिया है उसमें से कुछ भी वापस लो। इस्लाम की इस अनुज्ञा का परिणाम यह हुआ कि महर नारी के सम्बन्धियों की सम्पत्ति न रह कर, नारी की

सम्पत्ति हो गई। पैगम्बर ने यदि पति का विवाह विच्छेद का असीमित अधिकार दिया तो पत्नी को मेहर की धन राशि पर एकमात्र अधिकार दिया। इस्लाम के प्रभाव से, मेहर निकाह की वैधानिकता का एक आवश्यक अंग बन गई। कुरान में निहित अनुज्ञा के द्वारा मेहर स्त्री की सम्पत्ति बनी किन्तु वास्तविक व्यवहार में जैसा कि इस्लाम के पहले मेहर सम्बन्धी अरबी प्रथा थी, मेहर पर वली का अधिकार बना रहा। यह प्राचीन अरबी परम्परा का ही परिणाम है कि निकाह में वली कन्या की अनुमति का माध्यम बना। मेहर पर अधिकार होने के साथ-साथ, वली के कुछ विशेषाधिकार भी बने रहे। मेहर की धन राशि तय करने में वली का महत्वपूर्ण हाथ रहता है। वली का यह विशेषाधिकार है कि वह यह देखे कि निकाह में दोनों पक्षों की समानता बनी रहे और कन्या अपने लिए अनुपयुक्त या अवांछनीय पति का चुनाव न करे। निश्चित मेहर की धनराशि में से कुछ अंश के मिलने पर ही वली कन्या वर को सौंपता है। इसी परम्परा से जब निकाह की धारणा का विकास हुआ है। इसप्रकार, मेहर पर वली का अधिकार उन विशेषाधिकारों के कारण मिलता है जो प्राचीन अरबी समाज से इस्लाम में आकर वैध हुए हैं। मेहर पर वली का अधिकार प्रत्यक्ष नहीं है। प्रत्यक्ष अधिकार कन्या का है। मेहर पर वली का अधिकार उसके संरक्षक अधिकार से सम्बन्धित है[1]।

मेहर के भुगतान के प्रकारों के आधार पर मेहर के कई रूप पाये जाते हैं। भुगतान की अवधि के आधार पर दो प्रकार की मेहर पाई जाती है—एक, तत्कालीन और दूसरी स्थगित। तत्कालीन मेहर निकाह संविदा के बाद माँग किये जाने पर फौरन भुगतान की जाती है। सम्भोग के बाद भी तत्काल मेहर को स्थगित नहीं किया जा सकता है जब तक कि इकरारनामा में तत्काल मेहर को स्थगित करने का विधान न हो। स्थगित मेहर, मेहर की वह धनराशि है जिसका भुगतान तलाक या पति पत्नी की मृत्यु के बाद होता है। मेहर की धनराशि का निर्णय

---

1 निकाह में वली का क्या स्थान है इस पर इस्लाम में मतभेद है। वली की अनुमति के बिना निकाह वैध है या नहीं इस पर दो मत हैं—एक मत यह है कि अवयस्क कन्या के लिए ही वली की अनुमति की आवश्यकता है और दूसरा यह कि बिना वली की अनुमति के निकाह वैध ही नहीं है। आधुनिक ईरान के नियमानुसार प्रथम विवाह बिना वली की अनुमति के नहीं हो सकता है चाहे कन्या वयस्क हो क्यों न हो। हाँ, यदि उसे अनुमति नहीं मिलती है तो वह उस संगठन के माध्यम से विवाह कर सकती है जो इसके लिए राज्य द्वारा संगठित किया गया है। हर दशा में यह अवश्य है कि निकाह के बाद वली की आवश्यकता तभी पड़ती है जब किसी स्त्री के पुनर्विवाह का प्रश्न आता है—लेवी वही पृष्ठ 111

बहुधा मौखिक समझौते द्वारा होता है। कुरान और हदीस में इस तथ्य का उल्लेख नहीं है कि मेहर की धनराशि का भुगतान कब हो। अत मेहर के कुछ अंश को तत्काल और कुछ को स्थगित करने की परम्परा चल पड़ी है। मेहर की धन राशि का निश्चय करने के आधार पर मेहर को दो श्रेणियों में बांटा गया है—एक, निश्चित जो पारस्परिक समझौते द्वारा पहले ही से निश्चित कर दी जाती है और दूसरी उचित या परम्परागत (मेहर उल मिस्ल) जो पहले से निश्चित नहीं रहती है किन्तु मौका पड़ने पर, पति-पत्नी की योग्यता या सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार निर्धारित की जाती है। मेहर उल मिस्ल का वहां आश्रय लेना पड़ता है जहां निकाह में मेहर पूर्वनिर्धारित नहीं रहती है। परम्परानुसार, कम-से कम, दस दीनार की मेहर होना चाहिए। किन्तु शिया सम्प्रदाय में इस परम्परा को नहीं माना जाता है।

सुन्नी सम्प्रदाय की विधि प्रणाली में पत्नी को मेहर का अधिकार तीन अवस्थाओं में मिलता है—एक निकाह के बाद सम्भोग होने पर, या दो, वैध एकान्त सेवन (Valid Retirement) से अर्थात पति पत्नी के इसप्रकार एकान्त सेवन से जिससे सम्भोग की सम्भावना की पुष्टि होती हो और तीसरे पति पत्नी में से किसी की भी मृत्यु होने पर। शिया विधि प्रणाली में वैध एकान्त सेवन से मेहर अधिकार मिलने का विधान नहीं है। शिया विधि प्रणाली में पांच प्रकार की मेहर मिलती है—एक परम्परागत (मेहर ए-सुन्नत) जो पैगम्बर की परम्परानुसार पांच सौ दिरम आती है दूसरी उचित या वाजिब (मेहर उल मिस्ल) जो पत्नी की हैसियत के अनुसार निर्धारित की जाय तीसरी पूर्वनिर्धारित (मेहर ए मुसम्मा) चौथी जो पति-पत्नी के द्वारा निकाह के बाद तय की जाय (मेहर ए-तफवीज) और पांचवीं जो जज द्वारा निर्धारित की जाय (मेहर ए-तहीम)। सुन्नी विधि प्रणाली में कम-से-कम धनराशि का विधान किया गया है और शिया प्रणाली में अधिक-से-अधिक का (पांच सौ दिरम)। किन्तु ऐसे भी उदाहरण आते हैं जहां पति अपनी आर्थिक हैसियत से अधिक मेहर देने का वादा करता है। यह वादा वैध है और पत्नी को मेहर की धनराशि पाने का अधिकार है चाहे वह पति की क्षमता से बाहर ही क्यों न हो। किन्तु इस्लामी विधि-परम्परा में जहां मेहर की धनराशि अत्यधिक हो और पति के हैसियत के बाहर हो, वहां काजी को उसे घटाने का अधिकार है। अंग्रेजी राजकाल में अवध और अजमेर-मरवाड़ा की दीवानी अदालतों को यह अधिकार मिला था[1]।

मेहर की धनराशि का आधार क्या है? एक आधार है परम्परा का जिसमें दस दिरम से लेकर पांच सौ दिरम की धनराशि को उचित मेहर माना गया है और दूसरा पत्नी का कुंवारापन या विधवापन, उसकी सुन्दरता, उसकी योग्यता और पत्नी के पिता की सामाजिक तथा आर्थिक प्रतिष्ठा। ऐमी के अनुसार, साधारणतया,

---

1 सक्सेना, काली प्रसाद वही पृष्ठ 329

कुवारी का मिलने वाली मेहर की धनराशि विधवा और तलाक दी हुई स्त्री की अपेक्षा अधिक होती है। किन्तु साथ ही-साथ, चाहे मक्का हो या चीनी तुर्किस्तान, सभी जगह उस औरत को अधिक पसन्द किया जाता है जिसे विवाह का अनुभव रहा हो और जो सुन्दरता और चतुराई में साधारण नारी से बढ़ कर हो। अतः, ऐसी औरत के लिए मेहर की धनराशि निश्चय ही अधिक होती है। कुवारेपन को, यह कहा जा सकता है, अधिक पसन्द किया जा सकता है। विवाह संविदा में बहुधा यह घोषणा की जाती है कि वधू कुवारी है या नहीं। मास्को में, यदि वर कन्या को कुवारी नहीं पाता है तो वह उसे उसके पिता के घर वापस भेज देता है। किन्तु यह तभी होता है जब विवाह संविदा में यह कहा गया हो कि कन्या कुवारी है और पति को वह कुवारी न लगे[1]। कामी प्रसाद सक्सेना के अनुसार मेहर की धनराशि क्या हो इसका कोई निश्चित नियम नहीं है यद्यपि इस्लामी विधि के निर्वचकों ने मेहर की निम्नतम राशि (दस दिरहम) निर्धारित करने की कोशिश की है क्योंकि मुहम्मद साहब ने अपनी पत्नियों में से प्रत्येक को इतनी ही धनराशि बतौर मेहर के दी थी। किन्तु, आज मेहर की धनराशि अन्य विचारों और तथ्यों पर निर्भर करती है। ये विचार और तथ्य हैं पति पत्नी की परिस्थितियाँ, तलाक विषयक मिले हुए पति के विवेकाधिकारों पर रोक लगाने की आवश्यकता, पत्नी के पितृ परिवार की सामाजिक स्थिति, उसकी सुन्दरता और बौद्धिक तथा वैयक्तिक योग्यताएं पति की आर्थिक दशा पत्नी की सामाजिक परिस्थितियाँ और उसके पितृ सम्बन्धियों में ऐश्वर्य प्रदर्शन की भावना की मात्रा।

मेहर की धनराशि की मात्रा वर की स्थिति और कन्या की माग पर निर्भर करती है। कहीं कहीं यह धनराशि साधारण होती है और कहीं कहीं हिन्दू दहेज की भांति लेन देन की सामर्थ्य के बाहर और अपव्यय तथा वैभव के दिखावे का प्रतीक होती है। जिन दिनों अरबों की सत्ता अपने चरम विकास पर थी उस समय मेहर की धनराशि की मात्रा काफी बढ़ गई थी। मुगल शहजादों और अभिजात वर्गों में मेहर की धनराशि काफी बढ़ी चढ़ी थी। आज भी हैदराबाद और उत्तरी भारत के मुस्लिम उच्च वर्गों में मेहर की धनराशि की मात्रा दिखावटी उपभोग (Conspicuous Consumption) का प्रतीक है। ईरान के गावों में मेहर के अलावा वर को कन्या की माता को एक निश्चित धनराशि देनी पड़ती है जिसे शीर बहा (मां के दूध का मोल) कहा जाता है[3]। ईरान में शिया (अस्थाई मुता) विवाह में मुट्ठी भर मक्का में ही मेहर का काम चल जाता है[4]। गुजरात के खोजा मेमन-मानों में जो तरीका पाया

1 लेवी, वही पृष्ठ 114–15

2 सक्सेना, कामी प्रसाद वही पृष्ठ 22

3 मनारी आउटलाइन्स ऑफ इस्लामिक कल्चर पृष्ठ 518

4 लेवी वही पृष्ठ 117

जाता है यह प्रतिष्ठित इस्लामी परम्परा से भिन्न है। यहां वर का पिता कन्या के पिता को पाँच रुपये और चार आने (Rs 5.25) देता है जो कन्या का पिता एक सम्मिलित पण्ड (जमाअत खाना) में जमा कर देता है[1]।

मुस्लिम समाज और संस्कृति के अधिकतर विद्वानों के अनुसार निकाह में महर का जो स्थान है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो निकाह पत्नी व पत्नी से सम्भोग पर सम्भोग अधिकारों का क्रय विक्रय हो और पत्नी सम्पत्ति हो। मुस्लिम न्याय विधि का निर्वचन करने वाले अनेक जजों ने, महर के कारण निकाह को एक ऐसी संविदा माना है जिसमें क्रय विक्रय का भाव पाया जाता है। उदाहरणार्थ, जस्टिस महमूद के अनुसार, विक्रय-संविदा की उपमा के आधार पर, महर को दाम्पत्तिक सम्भोग के लिए दिया हुआ धन माना जा सकता है[2]। निकाह, इस दृष्टिकोण से, एक प्रकार का विक्रय संविदा है जिसमें पत्नी सम्पत्ति है, मेहर उसका मूल्य है और मूल्य देकर पत्नी का हस्तान्तरण किया जाता है। तब क्या महर को वधूधन माना जा सकता है? प्राचीन अरब की वैवाहिक परम्पराओं में क्रय विक्रय का भाव था जो निकाह में केवल अप्रत्यक्ष विद्यमान है। महर, पत्नी की नहीं पत्नी की सम्पत्ति है। निकाह में कन्या की अनुमति आवश्यक है। अतः महर कन्या मूल्य नहीं है और न कन्या सम्पत्ति। किन्तु साथ ही साथ महर से पति को अपनी पत्नी पर सम्भोग अधिकार मिलता है और मेहर वापस करके पत्नी अपने को पति से स्वतन्त्र कर सकती है। इन परम्पराओं से यह प्रतिभासित होता है कि मानो पत्नी पति की सम्पत्ति हो।

महर को वधूधन या कन्यामूल्य मानना अनुपयुक्त है क्योंकि मेहर कन्या के बदले में दिया हुआ मुआवजा नहीं है। निकाह विक्रय भी नहीं है क्योंकि महर निकाह का प्रतिफल नहीं है। महर का सम्बन्ध, निकाह से प्रतिफलित होने वाले, पति के पत्नी पर सम्भोग अधिकारों से है—वे अधिकार जो खरीदे नहीं जाते हैं परन्तु निकाह से उत्पन्न होते हैं। महर से बिना निकाह का प्रवेश न होता और, बिना मेहर के निकाह में, महर का निर्धारित करने की क्या मुआवजा था होता। इस बात का प्रमाण है कि महर केवल सम्भोग अधिकारों का मूल्य नहीं है। इस्लामी परम्परा में सम्भोग और महर परस्पर कई प्रकार से सम्बन्धित हैं। सम्भोग की अनुमति देने से पहले पत्नी महर की माँग कर सकती है किन्तु उसका अधिकारिणी वह सम्भोग के ही बाद होती है। यदि स्त्री के किसी दोष के कारण निकाह निष्फल होता है और उसके पूर्व पति पत्नी से सम्भोग (दुख्त) कर लेता है तो पत्नी महर की अधिकारिणी हो जाती है। किन्तु यदि पति के किसी दोष के कारण बिना सम्भोग हुये ही तलाक हो जाता है तो पत्नी निर्दिष्ट महर का पारस्परिक आधे की अधिकारिणी

---

1 लातरा वही पृष्ठ ३१

2 श्यामा प्रसाद रस्तोगी से उद्धृत पृष्ठ 219

हो जाती है[1]। इसप्रकार, जैसा कि कपाडिया का मत है मेहर मूलत पत्नी पर सम्भोग-अधिकारो स सम्बन्धित रहा है और कन्याधन के काफी समीप रहा है। किन्तु इस्लाम के प्रभाव के साथ-साथ मेहर सिदाक (पत्नी धन) म मिल गया जिसके परिणामस्वरूप निकाह के समय मेहर की धन राशि निश्चित न करने से भी निकाह अवध नही होता है। इस दृष्टिकोण स मेहर बुजा (रति) का प्रतिदेय है--वह प्रतिदेय जो न तो निकाह सविदा का मुआवजा है जो न पति से उत्पन्न होता है और न बुजा का प्रतिनिन है। मेहर निकाह के बदले म प्रतिदेय नही वरन निकाह से उत्पन्न एक उत्तरदायित्व है जो नारी सम्मान की रक्षा के प्रतीक के रूप म मुस्लिम विधि प्रणाली मे स्वीकार किया गया है[2]।

निकाह एक ऐसा सविदा है जिसम निर्धारित मेहर की अदायगी हो जाने के बाद, पति पत्नी को अनेक वध अधिकार और कर्तव्य मिलते हैं। पति को पत्नी पर सम्भोग अधिकार मिलता है। स्वास्थ्य शारीरिक दशा, नैतिकता और मर्यादा का ध्यान रखते हुए पति को उसकी इच्छानुसार सम्भोग का अवसर देना पत्नी का धम है। बिना पति की आज्ञा के अजनबियो से न मिलना, बच्चो का लालन पालन और गृहस्थी की देखभाल पत्नी का कर्तव्य है। पत्नी को आवश्यकता पडने पर, मेहर की धनराशि देना पत्नी की देखभाल करना यदि एक से अधिक पत्निया हो तो प्रत्येक पत्नी को अलग अलग रहने का स्थान देकर सबका समान आदर करना, पत्नी के चालचलन पर नियन्त्रण रखना यदि पत्नी पति की आज्ञा का उल्लंघन करे तो उस शारीरिक दड देना और पत्नी स दाम्पत्तिक सेवाओ को पाना पति क अधिकारो और कर्तव्या म आते हैं। इस्लामी विधि के अनुसार पति पत्नी को जीविका कमाने बच्चा के पालन पोषण के साधन जुटाने तथा मेहमानो के लिये खाना बनाने के लिये बाध्य नहीं कर सकता है। इस्लामी विधि म बच्चो की देख भाल तथा उनके पालन पोषण के लिय धाय या आया रखना और गृहस्थी क मामूली काम के लिये सेवक रखना पति का कर्तव्य माना गया है। अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार पति स भरण पोषण का खर्चा पाना पत्नी का अधिकार है जो उसे निकाह-सविदा स प्राप्त होता है।

निकाह और नारी

इस्लाम के प्रभाव स, प्राचीन अरबी परम्पराओ का जो रूपान्तरण हुआ उसम, नारी को जहा अनेक अधिकार मिले वहा उस अनेक सामाजिक निर्योग्यताओ का भी शिकार होना पडा। इस्लाम म नारी को पिता और पति दोनो की सम्पत्ति म उत्तराधिकार मिला। मेहर की धनराशि उसको मिले उपहारो और उसके द्वारा अर्जित सम्पत्ति पर उसे एकाधिकार मिला। मेहर की धनराशि के अलावा पत्नी को पति

1 कपाडिया के० एम० वही पृष्ठ 193

2 सक्सेना, काली प्रसाद वही पृष्ठ 219

से भरण पोषण का अधिकार भी मिला। यदि पति एक से अधिक विवाह करता है तो प्रत्येक नारी को पति से उचित भरण पोषण पाने का अधिकार है। इस्लाम ने, यदि सीमित बहुपत्नीत्व को जायज माना तो, साथ ही साथ, प्रत्येक पत्नी के लिये मेहर और भरण-पोषण का विधान करके, बहुपत्नीत्व पर रोक भी लगाई। इस्लाम ने नारी को वह आर्थिक सुरक्षा दी जो प्राचीन अरब में न थी। किन्तु साथ ही साथ, इस्लामी परम्पराओं ने पुरुष के प्रभुत्व को भी सर्वोपरिता दी। वली को कुमारी का संरक्षक बनाया। पत्नी को उचित भरण-पोषण देना यदि पति का कर्तव्य निर्धारित किया तो, साथ ही साथ, पति को पत्नी पर असीमित अधिकार भी दिये। पत्नी पर सम्भोग-अधिकारों की धारणा, आवश्यकता पड़ने पर पत्नी को पीटने का अधिकार, पत्नी को पर्दे में रखने की प्रथा, बिना पति की आज्ञा के पत्नी का किसी अन्य से सम्भाषण न करने का विचार, इच्छानुसार विवाह विच्छेद करने तथा एक से अधिक विवाह करने का पति का अधिकार और नारी के शरीर पर पति के एकछत्र अधिकार की धारणा, जैसा कि विद्वानों का मत है, नारी पर पुरुष की प्रभुता के परिचायक हैं। सन्तोषी जीवन, पति का निरपेक्ष अनुसरण, पति भक्ति और शुद्ध जीवन, इस्लामी परम्परा के अनुसार, गृहिणी के आदर्श हैं। अपने अधिकारों के साथ पति के निरपेक्ष अधिकारों के प्रति समर्पण पत्नी का कर्तव्य है।

निकाह पत्नी पर पति का निरपेक्ष अधिकार प्रदान करता है। मेहर, नारी के आर्थिक स्वार्थों की रक्षा करते हुए पति के अधिकारों की निरपेक्षता को और भी बढ़ावा देता है। विवाह विच्छेद का निरंकुश अधिकार वैवाहिक जीवन में पत्नी को गौण स्थान प्रदान करता है। कपाड़िया[1] के अनुसार, इस्लामी समाज में तलाक का कानून नारी पर पुरुष की प्रभुता को प्रतिस्थापित करता है। कपाड़िया का यह भी मत है कि पुरुष का पत्नी को अकारण ही तलाक देने का अधिकार मुस्लिम नारी की प्रतिष्ठा को नकारात्मक ढंग से प्रभावित करता है क्योंकि जहाँ नारी को अनेक अधिकार मिले हैं, वहाँ उसे तलाक की निरन्तर आशंका भी मिली है। मुहम्मद के बाद में न्यायाधीश पुरुष के इस विशेषाधिकार का दमन करने के पक्ष में रहे हैं किन्तु इसमें सफलता नहीं मिली। कुरान में नारी को पुरुष के साथ के बराबर माना गया है। इस्लाम में पति पत्नी दम्पति नहीं वरन् नर नारी की दो अलग अलग इकाइयाँ हैं जो पति पत्नी के रूप में मान्य करने अधिकारों और कर्तव्यों का पालन करने के लिये अनुबन्धबद्ध हैं। इस दृष्टिकोण से, मुस्लिम नारी को पति की दासी सम्पत्ति और उपभोग्य वस्तु बना दिया गया है। किन्तु मुस्लिम नारी की अपेक्षाकृत उच्चतर सामाजिक प्रतिष्ठा सिद्ध करने वालों ने नारी के मेहर अधिकार, भरण पोषण के अधिकार और उत्तराधिकार पर जोर दिया है। इस्लाम ने मजहबी

---

1 कपाड़िया, के० एम० वही पृष्ठ 102

मामले में नारी और पुरुष को समान माना किन्तु वैवाहिक तथा पारिवारिक मामलों में असमान। इसमें इस्लाम का दोष नहीं है क्योंकि इस्लाम का विकास ही इस्लामेतर प्राचीन अरबी परम्पराओं के प्रति सुधारवादी दृष्टिकोण लेकर हुआ था। इस्लाम में नारी को बहुत से ऐसे अधिकार पहले ही से मिले हुए हैं जिनको पाने के लिए पश्चिम में विधि का निर्माण करना पड़ा। इस्लाम में नारी की प्रतिष्ठा उच्च है या हिन्दू नारी की प्रतिष्ठा उच्च है या मुस्लिम नारी की यह प्रश्न असमाजशास्त्रीय है क्योंकि नर नारी की भूमिकायें उनके पारस्परिक अधिकार और कर्तव्य भिन्न भिन्न समाजों में भिन्न हैं और प्रत्येक समाज के सांस्कृतिक परिवेश तथा विकास का परिणाम हैं। इन सब अधिकारों के बावजूद भी पत्नी की प्रतिष्ठा उस सामंजस्य पर निर्भर करता है जो वह पुरुष के साथ स्थापित करती है। इस्लाम के इतिहास में अनेक ऐसी नारियों के उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने सामाजिक राजनैतिक जीवन को प्रभावित किया है। इस्लाम ने यदि नारी को आर्थिक अधिकार दिये और पुरुष को नारी पर निरंकुश प्रभुता प्रदान की तो इस्लाम में यह भी कहा गया है कि संसार और इसके आनन्द मूल्यवान हैं किन्तु पतिव्रता पत्नी इन सबसे कहीं अधिक मूल्यवान है। तुम में वही सर्वोत्तम है जो अपनी पत्नी के साथ उत्तम व्यवहार करता है।[1]

निकाह नियम

इस्लामी परम्पराओं में दो भाइयों की सन्तान में विवाह अधिक पसन्द किया जाता है। पिता के भाई की कन्या प्रत्येक नौजवान की प्रथम भावी पत्नी मानी जाती है यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि विवाह उसी के साथ हो। इस प्रथा का उद्भव इस्लामेतर अरब में हुआ था और आज भी इस्लाम में पिता के भाई की कन्या के साथ विवाह प्रथा के ही रूप में विद्यमान है। इस प्रथा के पीछे किसी कारण का वर्णन नहीं है। प्राचीन अरब की परम्परा में, यदि किसी स्त्री का उसके पिता के भाई के पुत्र से प्रथम विवाह होता था तो वह अपने पति के घर की तब भी स्वामिनी बनी रहती थी जब उसका पति दूसरा विवाह करता था। पिता के भाई की कन्या के साथ विवाह के दो कारण थे—प्रत्येक नारी का पति उसकी गणजाति (Tribe) में से होता था और प्रत्येक नारी के बच्चे उसकी गणजाति के ही सदस्य होते थे जिसके कारण गणजाति की सत्ता का प्राधान्य मिलता था। अतः दो भाइयों की सन्तानों में विवाह की परम्परा इस्लामेतर अरबी समाज की गणजाति प्रणाली की देन है जो इस्लाम में प्रथा के रूप में स्थाई हो गई और कालान्तर में उस प्रथाई विधि का अनुमोदन मिल गया। इस्लामी कानून के व्याख्याकारों ने अनुमति दी कि यदि कोई पिता अपनी अवयस्क कन्या का विवाह अपने भाई के पुत्र के साथ करता है तो वयस्क होने पर

---

1 ऐ० जी० की पुस्तक दि साउन्ड स्ट्रक्चर आफ इस्लाम से उद्धृत।

वह कन्या उन विवाह को अस्वीकार नहीं कर सकती है। हिन्दू के साथ ही कन्या के साथ विवाह करने की प्रथा चीन के मुसलमानों ने छोड़ कर सारे मुस्लिम समाज में पाई जाती है। चीनी मुसलमानों की स्थानीय प्रथा ने ही इस प्रथा को निषेध हुआ है।

सामान्यत, मुसलमान पुरुष का मुसलमान नारी से ही विवाह करने की अनुमति दी गई है। किन्तु कुरान की एक परम्परा में किताबिया (अर्थात जिसका मजहब इस्लाम की भांति किताबी है) नारी से विवाह करने की अनुमति होने के कारण यहूदी और ईसाई स्त्रियों से विवाह जायज माना गया है। बौद्ध स्त्री किताबिया है या नहीं यह प्रश्न अनिश्चित है[1]। मूर्तिपूजक तथा अग्निपूजक हैं। के साथ मुसलमान का विवाह इस्लामी विधि में अवैध नहीं बल्कि नियमविरुद्ध है क्योंकि मूर्ति या अग्निपूजक स्त्री को मुसलमान बनाकर विवाह को वैध बनाया जा सकता है। रंगून के एक केस में यह निर्णय किया गया था कि एक मुस्लिम किसी बौद्ध धर्मी स्त्री से तभी वैध विवाह कर सकता है जब पहले स्त्री को इस्लाम में दीक्षित किया जाय। मुस्लिम पुरुष गैर मुस्लिम स्त्री से विवाह कर सकता है या नहीं इस पर मतभेद है—हनाफी मालकी सम्प्रदाय में किताबिया के साथ विवाह की अनुमति है किन्तु शाफी सम्प्रदाय में गैर मुस्लिम स्त्री से विवाह करने की अनुमति नहीं है क्योंकि उनके अनुसार मुहम्मद ने गैर मुस्लिम पर अधिकार रखने का निषेध किया है। किन्तु मुहम्मद ने मुस्लिम और गैर मुस्लिम दोनों प्रकार की स्त्रियों से विवाह किया है। वास्तविक व्यवहार में गैर मुस्लिम स्त्री से विवाह की वैधता की समस्या तभी तक बनी रहती है जब तक कि गैर मुस्लिम स्त्री इस्लाम को स्वीकार नहीं करती।

मुस्लिम नारी को हर दशा में मुस्लिम पुरुष से ही विवाह करने का आदेश है। कुरान (2.221) में इस बात की हिदायत की गई है कि मुस्लिम नारी का मूर्तिपूजक से विवाह नहीं करना चाहिये। यह हिदायत यहाँ तक दी गई है कि उन मुस्लिम स्त्रियों का भी दहेज नहीं करना चाहिये जो गैर मुस्लिम पतियों को त्याग कर आई हों वरन् उनके पतियों के पास वापस कर देना चाहिये। यह परम्परा लगभग सारे मुस्लिम समाज में है। मुस्लिम नारी को गैर मुस्लिम के साथ विवाह करने का अधिकार दिया गया है किन्तु इस प्रथा में विवाह के पहले पति को इस्लाम में दीक्षित करने पर जोर दिया जाता है[3]। ईरान में भी स्त्री

1 दारा प्रकाश सक्सेना के अनुसार प्रिवी काउंसिल में यह प्रश्न उठाया गया था किन्तु अनिर्णीत ही रहा वही पृष्ठ 106
2 सक्सेना दारा प्रकाश वही पृष्ठ 106
3 देखें वही पृष्ठ 103

परम्परागत वधिक प्रणाली का माना जाता है। भारतीय मुसलमान परम्परागत मुस्लिम प्रणाली के ही अंतर्गत विवाह कर सकते हैं। स्पेशल मैरिज एक्ट (1954) मुसलमानों पर नहीं लागू होता है।

प्राचीन अरब की अनेक वैवाहिक परम्परायें या तो इस्लाम के प्रभाव में अवध हो गईं या अगम्यगमन की श्रेणी में आ गई। प्राचीन अरब में पिता के मरने पर पुत्र को अपनी सौतेली माँ से विवाह करने या उसका किसी दूसरे के साथ विवाह कर देने का अधिकार था किन्तु कुरान ने इस प्रथा को अनियमित घोषित कर दिया। इसी नियम के अनुसार इस्लाम में पिता द्वारा तलाक दी हुई या पिता की विधवा से विवाह करना भी अगम्यगमन माना गया। किन्तु, जहां ऐसे विवाह हो जाय और विवाह के बाद सम्भोग भी हो जाय कुरान की एक परम्परा के आधार पर ऐसे विवाहों को जायज मानने का भी विधान है यद्यपि इस नियम को साधारणतया, पालन करने का विधान नहीं है। इस्लाम में, ऐसे विवाहों को अपवाद के ही रूप में जायज मानने की अनुमति भी गई है। दो बहनों से एक ही साथ विवाह (Sororal Polygyny) का इस्लाम में निषेध है यद्यपि इस्लामेतर अरब में ऐसे विवाहों का प्रचलन था। पुत्री, भगिनी मां की तथा पिता की बहिन भाई तथा बहिन की पुत्री, पुत्र की पत्नी दादी (Grand Mother) और प्रपौत्री के साथ यौन सम्बंध अगम्यगमन माने गए हैं। अतः इन सम्बंधों के साथ विवाह वर्जित है। सौतेली मां का सम्बंध भी इस्लाम में रक्त सम्बंध माना गया है और, इसकारण जिन व्यक्तियों ने एक ही सौतेली मां के स्तन से दुग्धपान किया है उनमें विवाह वर्जित है। जिस स्त्री का बचपन में स्तन पान किया गया है वह मां के समान है इसकारण, वह पत्नी नहीं बनाई जा सकती चाहे स्तनपान करने वाला व्यक्ति उस स्त्री के पति का किसी अन्य स्त्री से ही सन्तान क्यों न हो।

जिसप्रकार दो बहनों से एक ही साथ विवाह करने का निषेध है उसीप्रकार एक स्त्री और उसकी भतीजी से भी एक साथ विवाह करने का निषेध है। इस्लामी विधि प्रणाली में विनिमय विवाह (शिगार) का निषेध है यद्यपि इस्लामेतर अरब में इसका प्रचलन था। शिगार विवाह वह विवाह है जिसमें दो व्यक्ति एक दूसरे की कन्याओं से विवाह करते हैं और मेहर का विधान नहीं करते हैं क्योंकि यहां कन्या के बदले में दी हुई कन्या मेहर समझी जाती है। इस्लामी परम्परा में ऐसा विवाह तब तक नाजायज है जब तक कि प्रत्येक कन्या के लिए अलग अलग मेहर नहीं निश्चित की जाती है। दूसरे शब्दों में यदि मेहर को तय किए बिना दो व्यक्ति एक दूसरे की कन्याओं का विनिमय करके उनसे विवाह कर लेते हैं तो उनका विवाह अनियमित है। इसीप्रकार, किसी अन्य व्यक्ति की वध पत्नी से विवाह करना भी इस्लाम में वर्जित है। तलाक दी हुई स्त्री और विधवा से विवाह किया जा सकता है किन्तु तलाक होने या विधवा होने के फौरन बाद नहीं। पुरुष विधुर होने और तलाक देने

बाद फौरन विवाह कर सकता है किन्तु स्त्री नहीं। इस्लामेतर अरब में पति के मरने या तलाक के बाद स्त्री फौरन दूसरा विवाह कर सकती थी जिस पर इस्लाम ने रोक लगाई। इस्लाम में विधवा होने वाली या तलाक दी हुई स्त्री पर इद्दत की कैद लगाई गई। इद्दत वह निर्धारित काल है जिसमें विधवा हुई या तलाक दी हुई स्त्री को दूसरे विवाह के लिए इन्तजार करना पड़ता है। तलाक दी हुई स्त्री के लिए दूसरा विवाह करने के पहले, तीन मासिकधर्मों तक इन्तजार करने का विधान है और विधवा हुई स्त्री को चार महीने दस दिन तक। इस्लाम में गुलाम-स्त्री से सम्भोग करने की अनुमति है किन्तु साथ-ही-साथ, इस बात का भी विधान है कि किसी गुलाम स्त्री पर अधिकार पाने पर पुरुष का यह कर्तव्य है कि सम्भोग से पहले वह यह निश्चित करले कि गुलाम स्त्री गर्भवती तो नहीं है और यदि वह गर्भवती है तो पुरुष को तब तक इन्तजार करना चाहिए जब तक कि उसे सन्तान न हो जाय। इद्दत के दौरान में, इद्दती स्त्री से विवाह प्रस्ताव किया जा सकता है किन्तु गुप्त रूप से। विवाह इद्दत के समाप्त होने पर ही हो सकता है। तलाक दी हुई पत्नी से पति तब तक पुनः विवाह नहीं कर सकता है जब तक कि कोई दूसरा पुरुष उससे विवाह और सम्भोग करके पुनः उसे तलाक न दे और वह पुनः इद्दत का समय काट न ले।

कुरान में मुसल्मान को गुलाम स्त्रियों से विवाह करने का अधिकार दिया गया है किन्तु बाद के विधिवक्ताओं (Legists) ने उस पर नियन्त्रण लगाने का प्रयास किया है। इस परम्परा का उद्गम इस्लामेतर अरबी समाज की गुलामी प्रथा से हुआ है। इस्लाम के नियमानुसार अविवाहित स्त्रियां का चाहे वे मुसल्मान हों या यहूदी या ईसाई गुलाम रखैलियों की भांति रक्खा जा सकता है। गुलाम रखैलियों के साथ सम्भोग की अनुमति है। स्त्री भी पुरुष गुलामों को रख सकती है। गुलाम को सम्पत्ति माना गया है। किन्तु हनाफी विधि परम्परा में अपनी गुलाम स्त्री या अपने पुत्र की गुलाम-स्त्री या अपने गुलाम पुरुष से विवाह करने की आज्ञा नहीं है। गुलाम के साथ विवाह तभी हो सकता है जब वह स्वतन्त्र कर दिया जाय। अधिकतर विधि शास्त्रियों के अनुसार एक पुरुष दूसरी गुलाम स्त्री से तभी विवाह कर सकता है जब (अ) वह अविवाहित हो और उसके पास कोई गुलाम रखैल न हो, (ब) मुस्लिम स्त्री से विवाह करने के लिए उसके पास मेहर न हो (स) यदि अविवाहित रहने से उसे परस्त्रीगमन्या के पाप में फसने की आशंका हो और (द) यदि गुलाम-स्त्री मुसल्मान हो। गुलामी प्रथा को दूर करने के सर्वव्यापी आन्दोलन का इस्लाम पर भी प्रभाव पड़ा है। गुलामी अधिनियम (Slavery Act 1843) ने मुस्लिम विधि के उस अंश को प्रभावित किया है जिसमें गुलाम स्त्री को रखैल बना कर रखने या उससे शादी करने का विधान है।

इसप्रकार विवाह पर अनेक प्रतिबन्ध लगे हुए हैं जिनकी अवहेलना से विवाह में कुछ निर्योग्यता (असबाब उल् तहरीम) उत्पन्न होती है। इन प्रतिबन्धों को चार

श्रेणियों में रखा जा सकता है — एक निरपेक्ष प्रतिषेध, दो सापेक्ष प्रतिषेध, तीन निषेधात्मक प्रतिषेध और चार आदेशात्मक प्रतिषेध। निरपेक्ष प्रतिषेध — रक्तसम्बन्धता (Consanguinity) वाले परिवारों में विवाह, में उत्पन्न सम्बन्धियों में विवाह निषेध के नियमों (Affinity) और धात्रेयपालन (Fosterage) के सिद्धान्तों से उत्पन्न होते हैं क्योंकि रक्त सम्बन्धियों, पत्नी के रक्त सम्बन्धियों तथा धात्रेय में सम्बन्धित सम्बन्धियों[1] में विवाह का निषेध है। सापेक्ष प्रतिषेध एक साथ दो बहनों, चहेती स्त्री तथा दूसरे मजहब की स्त्री के साथ विवाह करने और बहुपतित्व तथा निकाह में साक्षी के नियमों से सम्बन्धित है। बहुपतित्व और गैर मुस्लिम के साथ विवाह करने के निषेध नियम निषेधात्मक प्रतिषेधों को जन्म देते हैं। दूसरे से गर्भवती स्त्री से विवाह न करने का आदेश तथा तलाक दी हुई स्त्री से तब तक विवाह न करने का आदेश जब तक कि दूसरा उससे विवाह करके उसे तलाक न दे दे, शिया विधि के अनुसार मक्का की तीर्थयात्रा के दौरान मुता विवाह करने वालों का स्थाई निकाह न करने का आदेश तथा जहाँ पति पत्नी में धात्रेय सम्बन्ध स्थापित किए जायँ या उनमें से कोई धर्मपरिवर्तन करे वहाँ विवाह के निर्योग्य हो जाने का आदेश"—ये आदेश आदेशात्मक प्रतिषेधों की श्रेणी में आते हैं। इन प्रतिषेधों के कारण मुस्लिम विधिशास्त्रियों ने तीन प्रकार के विवाह निर्धारित किए हैं—एक वैध (सहीह) दूसरा अनियमित (फासिद) और तीसरा अवैध (बातिल)। जो निकाह वैध नहीं है वह या तो अनियमित है या अवैध। जहाँ निरपेक्ष प्रतिषेध या प्रतिषेधों का उल्लंघन होता है वह निकाह अवैध है और जहाँ सापेक्ष निषेधों में से किसी एक या अधिक प्रतिषेधों का उल्लंघन होता है वह निकाह अनियमित है क्योंकि उसमें एक नियम का उल्लंघन किया गया है जो अस्थायी और परिस्थितिजन्य होने के कारण सुधारा जा सकता है। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति चार पत्नियों के रहते हुए पाँचवीं पत्नी से निकाह करता है तो उसका पाँचवाँ निकाह अवैध नहीं वरन् अनियमित है क्योंकि किसी भी एक पत्नी को तलाक

---

1 इस्लाम में माँ और धात्रेय माँ को समान माना गया है। स्तन पान कराकर पालन करना तथा गर्भधारण करके जन्म देना एक समान माना गया है। किन्तु साथ ही साथ अनेक धात्रेय सम्बन्धों को अपवाद मान कर उनके साथ विवाह की अनुमति भी दी गई है। ऐसे धात्रेय सम्बन्धों की तालिका के लिए देखिये रामो प्रसाद सक्सेना कृत मुस्लिम लॉ पृष्ठ 160

2 इस्लामी विधि के अनुसार जहाँ पति पत्नी धात्रेय सम्बन्ध स्थापित करते या उनमें से कोई धर्मपरिवर्तन करले वहाँ विवाह अवैध हो जाता है। इस नियम पर भारत के कास्ट डिसेबिलिटीज रिमूवल ऐक्ट (1850) का प्रभाव पड़ता है क्योंकि इस ऐक्ट के अनुसार स्वधर्म त्याग रखने से निष्कासन या धर्म परिवर्तन से किसी भी व्यक्ति के वैयक्तिक सम्पत्ति तथा उत्तराधिकार नियम ज्यों के त्यों बने रहते हैं।

देकर वह अपने पाँचवें विवाह को वैध कर सकता है। अनियमित विवाह में प्रतिषेध या प्रतिषेधों का उल्लंघन संयोगवश होता है। मुल्ला ने अनियमित विवाह के पाँच प्रकार बताए हैं—एक, वह विवाह जिसमें साक्षी न हों; दो, चार पत्नियों के रहते हुए पाँचवीं पत्नी से विवाह; तीन, इद्दती स्त्री के साथ विवाह; चार, [illegible] धर्म की स्त्री से विवाह; और पाँच, वह विवाह जिसमें अवैध संयोग (Unlawful Conjunction) की व्यवस्था हो अर्थात पत्नी के रहते उसकी किसी सगी स्त्री से विवाह जिससे और पत्नी से वह विवाह न हो सकता यदि उन दोनों में से कोई भी पुरुष होता[1]।

बहुपत्नीत्व और मुता विवाह इस्लाम से पहले अरब के प्राचीन अरबी समाज में थे।

बहुपत्नीत्व

यह कहना गलत होगा कि इस्लाम में बहुपत्नीत्व प्रथा मुहम्मद के द्वारा शुरू हुई। जो लोग मुहम्मद को बहुपत्नीत्व के लिए उत्तरदायी मानते हैं वे [illegible] कुरान की उस आयत पर जोर देते हैं जिसमें यह कहा गया है कि मुसलमान चार पत्नियाँ रख सकता है और दूसरी बार मुहम्मद साहब के इस कथन पर कि जो मस्जिद [illegible] अपने को पैगम्बर का मानता है वह पैगम्बर के लिए स्वीकृत है। स्वयं मुहम्मद साहब ने चार से अधिक विवाह किए थे और इसलिए, एक मत यह भी है कि पैगम्बर के उदाहरण से बहुपत्नीत्व को प्रोत्साहन मिला। लेकिन, साथ ही साथ यह भी कहा जा सकता है कि मुहम्मद साहब के अधिकतर विवाह राजनैतिक थे और यह भी सम्भव है कि पुत्र की प्राप्ति के लिए पैगम्बर ने एक से अधिक विवाह किए हों। लेवी का यह मत है कि इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मुहम्मद ने स्वयं अपने द्वारा निर्धारित वैवाहिक मर्यादाओं का उल्लंघन किया और अपने उल्लंघनों का अपवाद माना[2]। अमीरअली के अनुसार, इस्लाम [illegible] का यह मत कि मुहम्मद ने बहुपत्नीत्व को स्वीकार करके उसे वैधानिक बनाया गलत है क्योंकि मुहम्मद साहब ने यदि एक ओर यह कहा कि मुसलमान चार पत्नियाँ तक रख सकता है तो दूसरी ओर, इस पर भी जोर दिया कि यदि मुसलमान एक से अधिक स्त्री को समान स्थिति में नहीं रख सकता है तो उसे सिर्फ एक ही स्त्री से विवाह करना श्रेयस्कर है।

इस्लाम में बहुपत्नीत्व की प्रथा का विकास तत्कालीन अरबी समाज की परिस्थितियों से निर्मित हुआ है। लगातार युद्धों में पुरुषों की अकाल मृत्यु होने से स्त्रियों की संख्या अधिक होने के कारण, युद्ध में स्त्रियों को अपहृत करके उनसे विवाह करने या उन्हें दासी बनाकर रखने की प्रथा के कारण और पुत्र की चाह विशेष की पूर्ति [illegible] के कारण, तत्कालीन अरबों में समाज में बहुपत्नीत्व का प्रोत्साहन हुआ था। बलात्कार और स्त्रियों का अपहरण [illegible] आम बात थी। पत्नियाँ और दासियाँ

---

1 मुल्ला डी० एफ० वही पृष्ठ 29

2 लेवी वही पृष्ठ 109

की संख्या पुरुष की आर्थिक दशा पर निर्भर करती थी। इसी परिस्थिति का सुधार करने के प्रयास में, इस्लाम में बहुपत्नीत्व की प्रथा का समावेश हुआ जिसे, मुहम्मद के बाद, वैधानिक आधार प्रदान किया गया। अमीरअली ने ठीक ही कहा है कि इस्लाम में बहुपत्नीत्व का अनुमोदन उन आन्तिम परिस्थितियों की देन है जिनमें इस्लाम का अभ्युदय हुआ है।

मुहम्मद ने बहुपत्नीत्व का निषेध किया और बहुपत्नीत्व को सीमित किया। कुरान की एक आयत के अनुसार, तुम उन दो, तीन या चार स्त्रियों से विवाह करो, जो तुम्हें अच्छी लगें किन्तु यदि तुम्हें यह लगे कि तुम उनके साथ न्याय नहीं कर सकोगे तो केवल एक ही पत्नी से विवाह करो या उससे जो तुम्हारे दाहिने हाथ के अधिकार में है (यहां युद्ध में अपहृत स्त्रियों की ओर संकेत है)। इसप्रकार मुहम्मद ने अरब की बहुपत्नीत्व परम्परा को स्वीकार तो किया किन्तु उसे सीमित भी किया। स्त्री को मेहर का अधिकार दिया और, साथ ही साथ, इस बात का भी विधान किया कि जहां एक से अधिक पत्नी से विवाह होगा वहां पहली पत्नी का दर्जा बड़ा होगा और प्रत्येक के लिए अलग निवास स्थान तथा भरण पोषण का प्रबंध करना होगा। प्रत्येक पत्नी को समान समझना और प्रत्येक के साथ समानता का व्यवहार करना मुसलमान का फर्ज निर्धारित किया। मुहम्मद ने, इस्लामेतर प्राचीन अरबी समाज की मातृसत्तात्मक प्रथा के स्थान पर पितृसत्तात्मक प्रथा का प्रतिरोपण किया और सम्भवतः यही कारण है कि इस्लाम में, एक ओर पुरुष को प्रभुत्वपूर्ण स्थान देने का प्रयास है और, दूसरी ओर, नारी को वहां तक अधिकार देने का प्रयास जहां तक पितृसत्तात्मकता की मर्यादा बनी रहे। इस्लाम में सीमित बहुपत्नीत्व का अनुमोदन और बहुपतित्व का निषेध, मातृसत्तात्मकता के स्थान पर पितृसत्तात्मकता का प्रतिरोपण करने से उत्पन्न संघर्ष को दूर करने के प्रयास में मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित एक समझौता सा लगता है।

मुहम्मद साहब के कथनों के आधार पर यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि इस्लाम में बहुपत्नीत्व का भी अनुमोदन है और एकपत्नीत्व का भी। लेवी के अनुसार, कुछ हदीसों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुहम्मद ने एक से अधिक कुंवारी मुस्लिम स्त्रियों से विवाह करने का अनुमोदन किया है। लेवी का यह भी मत है कि कुरान में जहां एक से अधिक पत्नियों से विवाह करने का पक्ष लिया गया है वहां, सम्भवतः, पत्नियों का सम्बन्ध मुस्लिम स्त्रियों से है क्योंकि वहां यह भी कहा गया है कि जहां एक से अधिक मुस्लिम स्त्री से विवाह करने में कठिनाई हो वहां या तो एक स्त्री से विवाह करना चाहिए या गुलाम स्त्रियों को रखैली बनाकर रख लेना चाहिए। मुस्लिम पत्नियों के अलावा गुलाम स्त्रियों के भरण-पोषण और मेहर पर अपेक्षाकृत कम खर्चा होता है। दूसरी ओर, कुरान की एक आयत (43/128), जिसमें यह कहा गया है कि एक से अधिक पत्नियों के होने से सब के साथ निष्पक्ष

व्यवहार सम्भव नहीं है, के आधार पर यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है कि स्वयं पैगम्बर एकपत्नीत्व के पक्ष में थे[1]। इस्लाम में यदि एक ओर, बहुपत्नीत्व के आदर्श प्रतिपादन की परम्परा मिलती है तो दूसरी ओर एकपत्नीत्व के आदर्श प्रतिपादन की। मुताजिला-सम्प्रदाय में एकपत्नीत्व के आदर्श को सर्वोत्तम मानकर, यह प्रतिपादित किया गया है कि एक पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरी से विवाह करना अवैध है। अमीरअली का यह मत है कि बहुपत्नीत्व की वैधता के प्रश्न पर इस्लाम के अनुयाइयों में काफी मतभेद है किन्तु एक बड़े प्रभावशाली सबके की यह धारणा है कि बहुपत्नीत्व एकदम अवैध है। इस्लाम के आदिमकाल में, जिन परिस्थितियों से बहुपत्नीत्व को प्रश्रय मिला था वे या तो समाप्त हो गई हैं या वर्तमान समय में उनका अस्तित्व ही नहीं है[2]। कुरान में सभी पत्नियों के साथ समता का व्यवहार करने के सन्दर्भ में 'अदल' शब्द का प्रयोग हुआ है। अमीरअली के अनुसार अद्ल से तात्पर्य मकान, कपड़ा और भरण पोषण की समानता नहीं वरन सभी पत्नियों के प्रति प्रेम की भावनात्मक समानता है जिसका वास्तविक व्यवहार में लाना सम्भव नहीं है। अतः, कुरान अमस्यगत एकपत्नीत्व के पक्ष में है। इस्लामी सल्तनत की तीसरी शताब्दी में इस विचार का अभ्युदय हो चुका था कि मुहम्मद के उपदेशों में बहुपत्नीत्व का स्थान नहीं है, यद्यपि इस विचार का प्रसार न हो सका। अमीरअली के मत में बहुपत्नीत्व मुहम्मद के उपदेशों के उतना ही विरोध में पड़ता है जितना कि वह सभ्य समाज तथा सच्ची संस्कृति की सामान्य प्रगति के मार्ग में रुकावट है[3]।

इस्लामी समाज में, बहुपत्नीत्व बनाम एकपत्नीत्व के विचार आज भी चल रहे हैं। इस्लामी समाज में एकपत्नीत्व का आदर्श पूर्णरूपेण नहीं स्वीकृत हो पाया है यद्यपि उसके प्रतिष्ठापायकों की संख्या बढ़ती रही है। यदि इस्लाम ने बहुपत्नीत्व का प्रतिरोपण किया तो इस्लाम ने ही उस पर रुकावटें भी लगाई। महर तथा प्रत्येक पत्नी को अलग अलग मकानों में रखकर भरण पोषण प्रदान करने के आदेश से उत्पन्न आर्थिक समस्याओं के कारण, समाज द्वारा स्वीकृत होने पर भी, बहुपत्नीत्व एक सामान्य प्रथा बनने से बचा रहा। बड़ी गृहस्थी के आर्थिक बोझे के कारण बहुपत्नीत्व एक ऐसा भोग रहा है जिसका उपभोग धनी और अभिजातवर्ग के ही लोग करते रहे हैं। वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों और प्रथाओं ने एकपत्नीत्व का आदर्श उन पर प्रतिरोपित किया है जो स्थाई जीवन व्यतीत करते हैं और विशेषतया शहरों के निवासी हैं। योरोपीय शिक्षा तथा पाश्चात्य आदर्शों ने एकपत्नीत्व के

1 लेवी वही 100-101
2 गंगाप्रसाद सक्सेना की पुस्तक मुस्लिम ला से उद्धृत पृष्ठ 102
3 अमीर अली वही पृष्ठ 230

आन्दोलन को आगे बढ़ाया। यूरोपीय सभ्यता के संघात से, जैसा सर्वत्र हुआ इस्लाम में भी एकपत्नीत्व के आदर्श की प्रतिस्थापना की माँग की गई। अमीरअली के विचार, जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है, यूरोपीय विचारधारा से प्रभावित हैं। मुस्लिम स्त्रियों में शिक्षा का जितना प्रसार होगा, नयी विचारधारा और नये संसार के सम्पर्क में वह जितना आयगी और एकपत्नीत्व के आदर्श की वह जितनी माँग करेगी इस्लाम में बहुपत्नीत्व के प्रति उतना ही विरोध बढ़ेगा। मुस्लिम नारी को सीमित बहुपत्नीत्व मुहम्मद साहब की देन है। उस सीमित बहुपत्नीत्व का समाप्त करना अब मुस्लिम नारी का उत्तरदायित्व और कर्तव्य है।

मुस्लिम देशों में, उन्नीसवीं शताब्दी से बहुपत्नीत्व का बन्द करने या उसे और भी सीमित करने के कदम उठाए गए हैं। सन् उन्नीस सौ छब्बीस में स्विस सिविल कोड (Swiss Civil Code) लागू करके, तुर्की में बहुपत्नीत्व की प्रथा को कानूनन बन्द कर दिया गया। मिस्र, सीरिया और ईरान में ऐसा विधान बनाया गया जिससे बहुपत्नीत्व और भी सीमित हो गया। रूस और चीन में बहुपत्नीत्व अवैध है यद्यपि जैसा कि लेवी का मत है, मध्य एशिया के इस्लामी राज्यों में इस कानून की बहुधा अवहेलना होती रहती है। जिन देशों में इस्लामी मजहबी कानून का परम्परागत पालन किया जाता है वहाँ बहुपत्नीत्व वैध है। भारत और पाकिस्तान के मुसलमानों में बहुपत्नीत्व वैध है क्योंकि जहाँ पाकिस्तान में मजहबी राज्य की स्थापना करके परम्परागत इस्लाम को बनाए रखने का प्रयास किया गया है, वहाँ भारत में मुस्लिम कानून को इसलिए यथावत रहने दिया गया है कि मुस्लिम कानून ईश्वरीय आदेश है और उसे बदलना मनुष्य के अधिकार के बाहर है। भारत में यह मान लिया गया कि बहुपत्नीत्व लोकनीति (Public Policy) के विरुद्ध है किन्तु, इस दृष्टिकोण से, कोई भी केस अभी तक भारतीय न्यायालय के सामने नहीं आया है। दूसरी ओर इण्डियन कान्ट्रैक्ट एक्ट की छब्बीसवीं धारा में यह कहा गया है कि अवयस्क के अलावा किसी अन्य के साथ किया हुआ ऐसा समझौता जिसमें समझौता करने वाले पक्षियों में से, किसी एक के विवाह का प्रतिरोध होता हो, अवैध है। इस आधार पर यदि पति के दूसरा विवाह करने पर पत्नी पति को तलाक देती है तो वह अवैध नहीं है क्योंकि पति का दूसरी पत्नी से विवाह करना एक ऐसा संविदा है जिससे पहली पत्नी के विवाह में प्रतिरोध उत्पन्न होता है[1]। इस प्रकार इण्डियन कान्ट्रैक्ट एक्ट अप्रत्यक्षतः इस्लामी बहुपत्नीत्व को और भी सीमित करता है[2]।

---

1 मदगता, दाता प्रसाद, वही, पृष्ठ 162-163

2 अमीरअली के अनुसार, बहुपत्नीत्व के विरुद्ध विचार धीरे धीरे एक सामाजिक आस्था बनता जा रहा है और अनेक बाह्य परिस्थितियों के साथ मिल कर, भारतीय मुसलमानों के बीच से इस प्रथा को दूर कर रहा है। भारतीय

मुता विवाह परम्परा, इस्लाम म, इस्लामेतर प्राचीन अरबी समाज की परम्पराओं से ग्राई है। इस्लाम के प्रारम्भिक काल मे, जसा कि रावट सन का मत है, एक ओर, पितसत्तात्मक ब अल विवाह की प्रथा थी और, दूसरी ओर बीना विवाह प्रथा, जिसमे विवाह अस्थाई होता था, जिसमे स्त्री पति के पास केवल उतने समय के लिए रहती थी जितनी अवधि के के लिए पति पत्नी साथ रहने का वादा करते थे। मुता विवाह परम्परा अस्थाई विवाह परम्परा के रूप मे विकसित हुई और पैगम्बर के समय म प्रचलित थी। मुता विवाह अस्थाई विवाह होता था जिसका उद्देश्य केवल रति या आनन्द लेना था। ब अल विवाह का उद्देश्य परिवार की स्थापना था किंतु मुता का केवल काम सुख प्राप्ति। मुता विवाह का उद्देश्य उस अवस्था म कामसुख प्रदान करता था जब पुरुष सनिक सवाओ के लिए या अन्य किसी उद्देश्य के लिए घर से बाहर रहता था। मुता विवाह केवल एक अवधि विशेष के लिए समझौतामात्र होता था। इसम भी मेहर का समझौता होता था। मुता विवाह केवल वयक्तिक समझौता होता था—उसमे वली की आवश्यकता नही पड़ती थी। निश्चित अवधि के समाप्त होने पर, पति-पत्नी अलग हो जाते थे और पत्नी को ठहराई हुई मेहर की धनराशि मिल जाती थी। इस विवाह स उत्पन्न सन्तान वैध होती थी और बहुधा अपनी मा के सम्बन्धियो के पास रहती थी। इसी अरबी प्रथा की पृष्ठभूमि मे इस्लाम मे मुता विवाह की वैध परम्परा का विकास हुआ है[1]।

मुता निकाह

मुसलमानो में यह प्रथा उत्पन्न हुई है कि निकाह सविदा में पति इस बात का वादा करता है कि वह, पहली पत्नी के जीवित रहते, दूसरा निकाह नहीं करेगा। भारतीय मुसलमानों में पचानवे फीसदी, यातो एकपत्नीत्व में आस्था रखने के कारण या परिस्थितिवश एकविवाही ह। भारतीय मुसलमानों के शिक्षित वग में जो अपने पूर्वजों के इतिहास से परिचित ह और जो अन्य राष्ट्रों से अपनी तुलना करत ह ये बहुपत्नीत्व के पक्ष में नहीं ह। अमीर अली की यह आशा है कि वह समय दूर नहीं है जब इस्लाम के विधिशास्त्री, गुलामी प्रथा की भांति, बहुपत्नीत्व की प्रथा को अवांछनीय घोषित करेंगे (वही पृष्ठ 232)। भारतीय अदालतों के सामने ऐसे केस आये ह जिनमें पति ने दूसरा विवाह न करने के समझौते को तोड़ा है। भारतीय अदालतों ने कुछ केसो में इस समझौते को कि पहली पत्नी के रहते हुए पति दूसरा विवाह नहीं करेगा इस्लामी विधि के अनुसार अनुपयुक्त माना है और कुछ में उसे उचित मानकर पत्नी को तलाक की इजाजत दी है। इन केसों के लिए देखिये कालीप्रसाद सक्सेना कृत मुस्लिम ला, पृष्ठ 268-269।

1 लेवी वही पृष्ठ 115

वर्तमान भारत की मुस्लिम विधि प्रणाली में मुता विवाह वैध भी है और अवैध भी। सुन्नी विधि प्रणाली में मुता विवाह अवैध है किन्तु, शिया विधि प्रणाली में वैध। शिया विधि प्रणाली के आधार पर काशी प्रसाद सक्सेना ने मुता विवाह के आधारों को इस प्रकार निर्धारित किया है इसमें अवधि (कुछ घंटों से लेकर जीवनपर्यन्त तक[1]) और मेहर का निश्चय आवश्यक है। जहां अवधि का निश्चय नहीं है वहां मुता विवाह स्थायी निकाह माना जाता है। निकाह में महर की धनराशि का निर्धारण आवश्यक नहीं है क्योंकि निकाह में, इस्लामी प्रथा के अनुसार महर का निश्चय बाद में भी किया जा सकता है। किन्तु, मुता संविदा में मेहर का निश्चित निर्धारण आवश्यक है क्योंकि उसके बिना मुता संविदा वैध नहीं है। निश्चित महर की धनराशि और विवाह की निश्चित अवधि मुता संविदा के दो वैध आधार हैं जिनके बिना मुता विवाह अवैध है। बिना निश्चित अवधि का मुता और स्थाई विवाह में कोई अन्तर नहीं है। मुता विवाह में पत्नियों की संख्या निर्धारित नहीं है। अतः मुता में पत्नियों की संख्या पुरुष की आर्थिक दशा पर निर्भर है। स्त्री पुरुष का मजहबी अन्तर मुता विवाह के मार्ग में बाधक है। शिया यहूदी इसाई तथा अग्निपूजक पारसियों को किताबिया मानते हैं। अतः भारत में, शिया पुरुष पारसी स्त्री के साथ मुता विवाह कर सकता है। मुता संविदा में तलाक का स्थान नहीं है क्योंकि मुता की अवधि समाप्त होने ही मुता विवाह अपने आप समाप्त हो जाता है। यदि कोई पति चाहे तो अवधि की समाप्ति से पहले ही पत्नी को छोड़ सकता है। पारस्परिक समझौते से पति पत्नी मुता विवाह की अवधि को बढ़ा सकते हैं। मुता विवाह की अवधि के समाप्त होने के बाद भी यदि दो स्त्री पुरुष पति पत्नी की तरह रहते हैं और इस बीच में यदि पति की मृत्यु हो जाती है तो यह समझा जायगा कि मुता की अवधि बढ़ा दी गई थी। लेकिन यह तभी माना

1 ईरान में मुता विवाह कुछ घंटों से लेकर कई सालों तक का किया जाता है। इज्जतदार व्यक्ति निन्नानवे वर्षों तक का मुता विवाह करते हुए पाए जाते हैं। इतनी अवधि का मुता विवाह अस्थाई न होकर स्थाई विवाह हो जाता है। ईरान में मुता विवाह में ली गई बीवी को सिगा कहते हैं यद्यपि जैसा कि लेवी का मत है सिगा वस्तुतः प्रतीक है मुता-संविदा का जिसे मुल्ला तैयार करता है। ईरानी मुता में मेहर का निर्धारण आवश्यक है किन्तु संविदा में कहीं भी इस बात का वर्णन नहीं होना चाहिए कि स्त्री किसी धन या भेंट के बदले में पुरुष को दी गई है। किसी ऐसी अभिव्यक्ति के आजाने से मुता संविदा अनियमित हो जाता है और उससे पति को पत्नी को इच्छानुसार तलाक देने की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है क्योंकि ऐसी अभिव्यक्ति के आजाने से ईरानी प्रथा के अनुसार, तलाक पारस्परिक अनुमति से होना चाहिये—लेवी वही पृष्ठ 117

जायगा जब उपलब्ध प्रमाणों से यह न सिद्ध हो कि निश्चित अवधि के बाद मुता समाप्त कर दिया गया था।

निकाह की भांति मुता भी एक वैध संविदा है जिसमें पति पत्नी का अलग अलग कर्तव्य और अधिकार भिन्न हैं। मुता विवाह स्त्री को केवल मेहर की धनराशि का अधिकार देता है। मुता विवाह में पत्नी को पति की सम्पत्ति में उत्तराधिकार का का अधिकार नहीं मिलता है। जब मुता विवाह में सम्भोग नहीं होता है तब पत्नी केवल आधी मेहर की अधिकारिणी है। मुता विवाह में सम्भोग हो जाने के बाद पत्नी मेहर की पूरी धनराशि की उत्तराधिकारिणी है चाहे अवधि की समाप्ति के पहले ही, पति मुता विवाह को समाप्त क्यों न कर दे। मुता-विवाह में, साधारणतः, पत्नी को पति को छोड़ने का अधिकार नहीं है किन्तु यदि वह ऐसा करती है तो पति को मेहर की धनराशि कम करने का अधिकार है। निश्चित अवधि के समाप्त होते ही मुता विवाह स्वतः समाप्त हो जाता है लेकिन यदि पति चाहे तो निश्चित अवधि के बीच में ही शेष अवधि को, वह पत्नी को बतौर उपहार (हिबा-ए-मुद्दत) के देकर, मुता विवाह को समाप्त कर सकता है। ऐसी दशा में पत्नी को पूरी मेहर का अधिकार है। मुता विवाह स्थायी विवाह (निकाह) में बदला जा सकता है किन्तु तभी जब या तो अवधि समाप्त हो गई हो या शेष अवधि पत्नी को उपहार में देकर नए सिरे से निकाह-संविदा किया जाय। विवाहित नारी के साथ किया हुआ मुता-विवाह अवैध है। निकाह में पत्नी को मेहर जो मिलता है, भरण-पोषण का अधिकार भी और पति की सम्पत्ति में उत्तराधिकार भी। किन्तु, मुता विवाह में स्त्री को केवल मेहर का ही अधिकार मिलता है। मुता विवाह से उत्पन्न सन्तान वैध है। सन्तान को माता पिता दोनों की सम्पत्ति में उत्तराधिकार का अधिकार मिलता है। सन्तान की वैधता ही मुता विवाह को वेश्यावृत्ति से भिन्न करती है वरना मुता-विवाह और वेश्यावृत्ति एक दूसरे की भगिनी के समान लगती हैं। इस्लामी प्रथा के अनुसार मुता-विवाह में पत्नी को भरण-पोषण का अधिकार नहीं है किन्तु क्रिमिनल प्रोसीजर कोड (The Criminal Procedure Code) की चार सौ अट्ठासीवीं धारा के अनुसार, कलकत्ता के हाईकोर्ट ने एक केस में मुता पत्नी को भरण-पोषण का अधिकार दिया है।

बहुपत्नीत्व की भांति मुता विवाह को लेकर, इस्लाम में विरोधी विचारों का समावेश हुआ है। कुरान की परम्परा के आधार पर मुता को वैध माना गया है और कुरान की ही परम्परा के आधार पर मुता को अवैध और अवाञ्छनीय माना गया है। मुता प्राचीन अरबी समाज की एक परम्परा के रूप में आया जिसे अन्य परम्पराओं की भांति, इस्लाम सहसा अस्वीकार न कर सका वरन उस उग्र सुधारवादी दृष्टिकोण के साथ, अपनाने का प्रयास किया जिसको लेकर इस्लाम का अभ्युदय हुआ था। जो सम्प्रदाय मुता का समर्थक रहा है उसने कुरान की उस परम्परा पर

जार दिया है जिसम यह कहा गया ह कि जिन स्त्रियो के साथ तुमने सम्भोग किया है उन्ह उनका वध पुरस्कार दो क्योकि पारस्परिक सलाह से पुरस्कार तय करके निश्चित सम्भोग करने म कोई अपराध नही है[1] । किन्तु इस प्रथा की इतनी बुराइया थी कि मुहम्मद ने इसे अवैध भी घोषित किया । एक अन्य परम्परा के अनुसार, इस्लाम मे मुता को वेश्यावृत्ति की भगिनी कहा गया है । सम्भावना इस बात की है कि यदि मुहम्मद न इसको आज्ञा दी भी है तो अनिच्छा स । हो सकता है कि इसकी अनुमति वेश्याओ के साथ सम्भोग करने के लिए दी गई हो क्योकि वेश्याओ का वग सवत्र और सब कालो म पाया गया है । मुता स वेश्या की भी प्रतिष्ठा बढ जाती ह। प्रत्येक वग की नारी की दशा सुधारने के लिए हो सकता है कि तत्कालीन परिस्थितियो मे मुहम्मद ने, एक ओर मुता विवाह का अप्रत्यक्ष पक्ष लिया किन्तु दूसरी ओर, उसे प्रत्यक्षत अवध घोषित किया । मुहम्मद के बाद शिया सम्प्रदाय म मुता को वध माना गया और सुन्नियो मे अवध । खलीफा मामून न इसे वध घोषित किया किन्तु जनविरोध के कारण उन्ह अपने हुक्म को वापस लेना पडा । खलीफा उमर ने मुता विवाह को समाप्त किया और तभी स यह सुन्नियो म अवध है[2] ।

यहा यह प्रश्न उठता है कि इस्लाम म एक बड तबक म मुता का विरोध क्या किया गया ? कपाडिया के अनुसार इसके कई कारण हैं । एक इस्लाम तत्कालीन अरबी समाज म विकसित पितसत्तात्मक तथा पितवशी परिवार का प्रतिष्ठापोषक था जिसम मुता विवाह असामयिक प्रतीत हुआ । दो, इस्लाम ने पत्नीत्व का जो आदश प्रतिपादित किया, मुता विवाह उस आदश के विरोध म पडा क्योकि मुता म नारी को यौनिक स्वतन्त्रता अधिक थी । तीसरा पगम्बर विवाह को स्थाई बनाने के पक्ष म थे जिसके कारण उन्होने मुता विवाह की भत्सना की । चौथा मुता मिल्लत की धारणा स मेल न खाता था क्योकि मुता एक व्यक्तिगत समझौता था और गैर मुस्लिम पुरुष के साथ भी स्थापित किया जा सकता था । पाचवा मुता विवाह म पति पत्नी का आदश उस आदश स मेल न खाता था जिसका प्रतिपादन इस्लाम म हुआ था । इसप्रकार जसा कि कपाडिया का मत है तत्कालीन अरबी समाज की परिस्थितियो म, इस्लाम म मुता के प्रति जो दृष्टिकोण विकसित हुआ, उसम इस्लाम के हितो की रक्षा का भाव अधिक प्रधान था ।

निकाह के रस्म रिवाज

डिमाम्बाग के अनुसार इस्लाम म आध्यात्मिकता और सासारिकता के एक म मिल जाने के कारण मसलमानो म विवाह सविदा का कोई विशेष धार्मिक सास्कारिक महत्त्व नही है । अमीर अली ने भी इस बात पर जोर दिया है कि निकाह एक कानूनी समझौता है जिसम धार्मिक कर्मकाण्ड का कोई विशेष महत्त्व नही है । फिर भी निकाह का सम्बन्ध मिल्लत स है । जसा कि सभी समाजो म है मुसलमानो म

1 लेवी वही पष्ठ 115

2 वही पष्ठ 116

भी विवाह दो व्यक्तियो के बीच मे, एक ऐसा कानूनी समझौता है जिससे दो व्यक्तियो म ही नही वरन दो परिवारो म भी सामाजिक सम्बन्ध बनते हैं। इन सामाजिक-सम्बन्धो से अनेक रस्म रिवाज बन गए है—जिनम से कुछ अरबी समाज से प्राप्त है और कुछ उन स्थानीय समाजो मे जहा इस्लाम का प्रसार हुआ है। भारत के मुसलमानो म पाये जाने वाले वैवाहिक रस्म रिवाज अरबी हैं और अथवा भारतीय। इन्ही रस्म रिवाजो के द्वारा निकाह को सामाजिक मान्यता मिलती है। वैवाहिक रस्म रिवाजो को दो श्रेणियो म बाटा जा सकता है—एक, मगनी से लेकर निकाह तक के रस्म रिवाज और दूसरे निकाह के बाद से लेकर दुल्हन (सोहागरात) तक के रस्म रिवाज।

मगनी की रस्म से निकाह का सूत्रपात होता है। मगनी का अर्थ मागने से है। इसमे वर पक्ष की ओर से कन्या मागी जाती है अर्थात वर पक्ष की ओर से निकाह का प्रस्ताव किया जाता है। प्रस्ताव के स्वीकृत हो जाने पर कन्या का वर की ओर से अगूठी या कडे भेंट किये जाते हैं। मामा रस्म म कन्या को अपनी सहेलियो के साथ एकान्त म छोड दिया जाता है। इसी रस्म के बाद से कन्या सही अर्थों म दुल्हन समझी जाने लगती है। इस रस्म के बाद से वर और कन्या को अधिकतर घर के अन्दर ही रखा जाता है। साचिक रस्म म कन्या को मेहदी की पत्ती और अन्य उपहार दिये जाते हैं। मेहदी की रस्म म कन्या के हाथ पैरो म मेहदी रची जाती है। यह प्रथा अरबी है और मुहम्मद के काल से चली आती है। बरात की रस्म म, कन्या के लिये आभूषण वस्त्र और अन्य भेंट की वस्तुए ले जाई जाती हैं। कही कही साचिक और बरात एक ही म मिला दिये जाते हैं। कुर्मी की रस्म म कन्या के लिये, वस्त्र तैयार किये जाते हैं। रस्त रस्म है जिसम वर जलूस म कन्या को घर ले आया जाता है। सावगस्त ईरानी भारतीय रस्म हैं। हल्दी मलन की रस्म को हल्दी कहा जाता है और चौथी की अन्तिम रस्म है जिसम वर और कन्या एक दूसरे के साथ खेलते हैं। हल्दी और चौथी विवाह

निकाह मुस्लिम विवाह का प्रधान रस्म है। निकाह म वर कन्या पति पत्नी के बन्धन म बधने की अनुमति देते हैं जो गवाह इस अनुमति के साक्षी होते हैं और मेहर की रकम निश्चित की जाती है। यह रस्म वर कन्या के माता पिता तथा सम्बन्धियो की उपस्थिति म होती है। वर कन्या की पारस्परिक अनुमति साक्षी और मेहर के अलावा फातिहा और खुत्बा निकाह रस्म के दो और प्रधान आधार है। निकाह की शर्तें तय हो जाने के बाद काजी वर-कन्या की सहमति प्राप्त करता है। उसके बाद फातिहा पढा जाता है। फातिहा कुरान का पहला सूरा है जिसम इस्लामी जीवन की प्रत्येक क्रिया का वर्णन है। खुत्बा के द्वारा वैवाहिक जीवन की महत्ता का परिचय दिया जाता है। इसके साथ निकाह सम्पन्न हो जाता है। निकाह के बाद विवाह भोज (वलीमा) की रस्म अरबी परम्परा से आई है। ऐसे

किसी न किसी रूप में विवाह भाज सवत्र पाया जाता है। मुस्लिम विवाह में स्नान की रस्म का महत्वपूर्ण हाथ है। निकाह के पहले वर और कन्या अपने अपने घरों मे स्नान करते है और उसके बाद महन्दी रचान की रस्म होती है।

निकाह के बाद दूसरे दिन जिल्वा (अरबी में ज्याफत अल अरूस) की रस्म होती है जिसमें नव विवाहित पति पत्नी का परिचय कराकर, कन्या की विदाई होती है। इस रस्म की अदाई के लिये वर कन्या के घर जाता है जहा पहले वर कन्या का शीशे में दखला और बाद में दोनो का परिचय कराया जाता है। कन्या की सुन्दरता के बारे में पूछे जाने पर वर का यह फर्ज होता है कि वह कन्या की सुन्दरता को स्वीकार करे और उस रस्म की याद में उसे कोई भेंट दे। उसके बाद, कन्या अपने सम्बन्धियों से विदा लेकर वर के साथ विदा हो जाती है। शुस्तेरी के अनुसार भारत के मुसलमानों में कन्या के विदा होने के बाद वर को कन्या को अपनी गोद में उठाकर सवारी तक ले जाना आवश्यक है जबकि अन्य देशों में वर कन्या का कन्धा या हाथ का सहारा देकर ले जाता है। डिमाम्बीस के अनुसार निकाह की सारी रस्मों में दुख्ल (साहागरात) की रस्म सबसे अधिक महत्वपूर्ण है[1]। दुख्ल के बाद प्रीतिभोज देने की प्रथा पाई गई है। निकाह के बाद के सात दिन शुभ दिन समझे जाते है और उन दिनों वर वधू पर अनेक प्रतिबन्ध लगे रहते हैं। विधवा या तलाक की हुई स्त्री का निकाह सादा होता है। उसमें ये रस्में नहीं मनाई जाती हैं।

इस्लामेतर प्राचीन अरबी समाज में निकाह अविच्छेद्य संस्कार न था। पति को अपनी इच्छानुसार निकाह-समझौता समाप्त करने का अधिकार था। अरबी में तलाक का अर्थ है विवाह विच्छेद करना। किन्तु विवाह विच्छेद का अधिकार पति का था न कि पत्नी का। पति

तलाक

को तलाक का एकतरफा अधिकार मिला हुआ था। हां यह अवश्य था कि विवाह-विच्छेद करने पर पति को मेहर की नियत रकम पत्नी को देनी पड़ती थी। पति से छुटकारा पाने के लिये पत्नी अपने सम्बन्धियों की शरण में जा सकती थी और पति से मिली हुई हुई महर को वापस करने का वादा करके, पति से अपने उद्धार की

1 ईरानी प्रथा के अनुसार कन्या की मा या अन्य कोई नजदीकी स्त्री कन्या के साथ उसकी ससुराल जाती है। यह उस कमरे के पड़ोस में सोती है जिसमें वर वधू सोते हैं। वर वधू के पलंग पर एक सफेद चादर बिछा दी जाती है जिसके आधार पर वह दूसरे दिन वधू के कुंवारेपन का सबूत देती है। वर को इस बात की सन्तुष्टि होना आवश्यक है कि वधू कुंवारी है या नहीं क्योंकि वर या उसके घर के लोग यदि यह पाते हैं कि वधू कुंवारी नहीं है तो वे उसे वापस कर देते हैं—शुस्तेरी वही पृष्ठ 522

अनुमति प्राप्त कर सकती थी। किन्तु पत्नी को पति की प्रभुता से तभी उद्धार मिल सकता था जब पत्नी को दी हुई महर वापस लेकर पति पत्नी को छुटकारा देने के लिये राजी हो। अतः एक ओर, विवाह विच्छेद का तरीका था 'तलाक' और दूसरी ओर, 'खुला' अर्थात पति से मिली हुई महर पति को वापस करके पति की अनुमति से पत्नी द्वारा पति से उद्धार पाने का तरीका। निकाह में निहित नारी के प्रति हीनता का भाव विवाह विच्छेद में भी निहित था। इस्लाम में यही आधारभूत अरबी-परम्परा अपनाई गई किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार, सुधारवादी परिवर्तन के साथ।

पैगम्बर ने निकाह को समझौता तो माना किन्तु उसका उद्देश्य केवल यौनसुख ही नहीं माना। निकाह को उन्होंने मिल्लत की एक आवश्यकता माना। कुरान में आई एक आयत के अनुसार मुवद्दत प्रेम (या अहत) रहमत और सन्तानोत्पत्ति निकाह के उद्देश्य हैं[1]। निकाह को स्थाई बनाने के लिए तथा पति की निरंकुशता पर रोक लगाने के लिए पैगम्बर ने यह भी आज्ञा दी कि 'या तो उन्हें (पत्नियों को) दयालुता के साथ अपनाओ या सहृदयता के साथ उन्हें तलाक दे दो'[2]। किन्तु, साथ ही साथ, पैगम्बर ने यह भी माना कि एक वह वस्तु जो वैध है किन्तु अल्लाह को नापसन्द है, तलाक है। इसप्रकार पैगम्बर ने तलाक की परम्परा को वैध तो माना किन्तु साथ ही साथ उसकी अवांछनीयता को भी स्वीकार किया। सम्भवतः यह अरबी-परम्परा के विरुद्ध उठने वाली प्रतिक्रिया का परिणाम है क्योंकि इस्लाम का उद्देश्य निकाह को स्थाई बनाना था और नारी को उस स्थिति से छुटकारा दिलाना था जिसमें उसका वैवाहिक जीवन केवल पति की दया पर निर्भर था। अतः जैसा कि अमीर अली का मत है, कुरान में निहित तलाक की अनुमति को पैगम्बर के उद्देश्यों के सन्दर्भ में समझने की आवश्यकता है। इस्लाम में, तलाक के प्रति जिस दृष्टिकोण का विकास हुआ वह प्राचीन अरबी प्रथाओं तथा इस्लाम के उद्देश्यों में एक समन्वयपूर्ण समझौता है। इस तथ्य की पुष्टि अमीर अली के इस कथन से होती है कि पैगम्बर ने पति के तलाक देने के अधिकार को कायम रक्खा, कुछ उचित आधारों पर पत्नी को पति से अलग होने की अनुमति दी और अपने जीवन के अन्तिम दिनों में पति की तलाक देने की निरंकुशता पर पाबंदी लगाने के यहाँ तक हामी हो गए कि उन्होंने बिना काजी को बीच में डाले, तलाक न देने तक का भी विधान किया[3]।

नवीं के अनुसार तलाक के बारे में, कुरान में सामान्यतः कोई कुछ कहा

---

1 सक्सेना, काशीप्रसाद वही पृष्ठ 281

2 वही

3 वही पृष्ठ 260

गया है किंतु कुरान मे जो कुछ कहा गया है उसका अधिकांश तलाक देने के तरीके और पत्नी तथा बच्चो के प्रति पति के आर्थिक तथा अन्य उत्तरदायित्वो से सम्बन्धित है[1]। तलाक के क्या आधार हो इस पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। इसी कारण, इस्लाम मे प्राचीन अरबी प्रथा का समावेश हो गया है और पति का तलाक सम्बन्धी एकतरफा अधिकार बना रहा है। यही कारण है कि विवाह विच्छेद मे, न्यायाधीश के स्थान विवाह विच्छेद के तरीको की वैधानिक महत्ता तथा गवाहो के स्थान के बारे मे मतभेद है। शिया विधि प्रणाली मे विवाह विच्छेद मे भी गवाह होने चाहिये जबकि सुन्नी विधि प्रणाली मे विवाह विच्छेद मे गवाहो की आवश्यकता नही है। भारत मे, अंग्रेजी राज की स्थापना होने के बाद किन्ही अवस्थाओ मे तलाक देने के पति के परम्परागत अधिकार को कायम रखा गया, किन्ही अवस्थाओ मे पत्नी को विवाह विच्छेद का अधिकार मिला और किन्ही किन्ही अवस्थाओ मे विवाह विच्छेद का निर्णय करने मे अदालतो को अधिकार मिला। सबसे मुख्य विकास यह हुआ कि विवाह विच्छेद सम्बन्धी इस्लामी कानून अंग्रेजी इस्लामी हो गया और विवाह विच्छेद सम्बन्धी सारे कानून के निर्वचन का अधिकार अदालतो को मिला। आज काजी के बहुत कुछ अधिकार भारतीय अदालतो के पास हैं।

इस्लाम के प्रभाव मे विवाह विच्छेद सम्बन्धी प्राचीन अरबी परम्पराओ मे तलाक को सीमित करके पत्नी को अधिक आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने का प्रयास किया गया ताकि इस्लाम द्वारा प्रतिपादित पितृसत्तात्मक परिवार की संरचनात्मक एकता और उसकी मर्यादाएं सुरक्षित रह सकें। तलाक के साथ साथ, बच्चो का पितृसत्तात्मक परिवार का सम्बन्ध मानकर उन्हे द्विपक्षी उत्तराधिकार का अधिकार दिया गया। तलाक के साथ इद्दत को जोड दिया गया। इद्दत मे तात्पर्य है तीन मासिक धर्मों की अवधि से। तलाक के बाद इद्दत का मानना आवश्यक कर दिया गया ताकि यह निश्चित हो सके कि तलाक दी जाने वाली पत्नी को पहले व्यक्ति से कोई गर्भ तो नहीं है। इद्दत वह अवस्था है जिसमे नारी न तो किसी की पत्नी है और न वह तलाक दी हुई स्त्री है। इद्दत मे नारी परित्यक्ता भी नही है क्योंकि इस्लामी विधान के अनुसार इद्दत के दौरान मे नारी को अपने पहले पति से भरण पोषण मिलता है। इद्दत मे नारी दूसरा विवाह नही कर सकती है यद्यपि गुप्त रूप से वह किसी अन्य पुरुष से विवाह का प्रस्ताव कर सकती है या दूसरे का विवाह प्रस्ताव स्वीकार कर सकती है। इद्दत के दौरान मे पति पत्नी मे सम्भोग अवैध है बशर्ते कि पत्नी पति के लिये हराम न बन गई हो। पत्नी पति के लिये तब हराम बनती है जब तलाक पूर्ण हो जाता है और उसे हटाने के लिये पुनर्विचार की गुजायश नही रह जाता है। इस्लामी परम्परा मे तलाक तब पूर्ण होता है जब या तो पति पत्नी

1 लेवी वही पृष्ठ 112

स तीन बार यह कह दे कि उसने उसे तलाक दिया या अदालत तलाक की डिग्री दे द। इस्लाम म यह विधान किया गया है कि पति या तो एक ही साथ तीन बार तलाक कहकर तलाक को पूर्ण कर सकता है या वह अपनी इच्छानुसार, कुछ समय का अन्तर देकर अलग अलग समयो पर तीन बार तलाक देने को कह सकता है। तीसरी बार तलाक कहने पर विवाह विच्छेद पूर्ण होता है। एक सामान्य नियम यह है कि पति पत्नी को तलाक देने के लिए उस समय कहे जब वह मासिक धर्म से शुद्ध हो अथवा दो मासिक धर्मों के बीच म हो। दो बार तलाक कहने स पत्नी हराम नहीं होती है। अत उसे पुन वापस लिया जा सकता है। तलाक के एक बार पूर्ण हो जाने पर पत्नी का इद्दत म रहना आवश्यक हो जाता है और एक बार तलाक दी हुई पत्नी से पति इच्छा रहते हुए भी, तब तक पुनर्विवाह नहीं कर सकता है जब तक कि कोई दूसरा पुरुष उससे विवाह करके पुन उसे तलाक न दे और वह पुन इद्दत की अवधि को काट न ले। इसप्रकार इद्दत तलाक के पहले, तलाक की आवश्यकता पर पुन विचार करने का अवसर प्रदान करता है। यदि पत्नी पहले पति स नफरती है तो उस समय म छुटकारा पाने तक इन्तजार करना पड़ता है। तलाक के पूर्ण होने हो पत्नी अपनी महर की अधिकारिणी हो जाती है। जैसा कि प्राचीन अरबी परम्परा था, पत्नी को तलाक देते समय पति का न तो तलाक का कारण बताने की आवश्यकता है और न अपने इरादे को ही स्पष्ट करना था। किन्तु पति का यह अधिकार निरकुश भी नहीं है। इद्दत के काल म वह पत्नी का भोजन, कपड़ा देने का उत्तरदायी है।

इस्लामी कानून के अनुसार, कोई भी वह मुसलमान, जिसका दिमाग सही है जिसने वयस्कता की आयु प्राप्त कर ली है, अपनी इच्छानुसार जब भी चाहे बिना कोई कारण बताये हुए अपनी पत्नी को तलाक दे सकता है। भारतीय मुसलमानों म, विवाह विच्छेद करने के तीन तरीके पाये जाते हैं—एक, बिना अदालत की शरण लिए पति द्वारा विवाह विच्छेद (तलाक), दो, बिना अदालत को बीच म लाये पति पत्नी की पारस्परिक अनुमति द्वारा विवाह विच्छेद (खुला और मुबरत) और तीसरा, अदालत को डिग्री द्वारा। इस्लामी कानून म लिखित और मौखिक दोनो प्रकार के तलाकों का विधान है। मौखिक तलाक म पति उन शब्दों का प्रयोग करता है जिसम पत्नी को यह स्पष्ट हो जाय कि उसे तलाक दिया गया है जैसे मैं (पति) तुझे (पत्नी को) तलाक देता हूँ। जहाँ तलाक की भाषा स्पष्ट है वहाँ पति को अपने इरादे का प्रमाण देना आवश्यक नहीं किन्तु जहाँ भाषा अस्पष्ट है वहाँ पति को अपने इरादे का प्रमाण देना आवश्यक हो जाता है। तुहर (दो मासिक धर्मों के बीच का समय) म तलाक को एकबार घोषणा करके [illegible] बन्द किया जा सकता है (तलाक अहसन) या तीन तुहरों में [illegible] घोषणा की जा सकती है (तलाक हसन) या एक ही तुहर में [illegible]

घोषणा की जा सकती है या एक ही तुहर में एक ही बार पूर्ण तलाक की घोषणा की जा सकती है (तलाक उल बिद्दत या तलाक ए बैनी)। यह आवश्यक नहीं कि तलाक की घोषणा पत्नी की उपस्थिति में की जाय। शिया विधि प्रणाली के अनुसार, तलाक की घोषणा के समय दो गवाहों का होना आवश्यक है। आवश्यक यह है कि तलाक की घोषणा पत्नी के प्रति सम्बोधित हो। पत्नी के मेहर के अधिकार के दृष्टिकोण से तलाक की घोषणा का समाचार पत्नी तक पहुँचाना जरूरी है। जब तक पत्नी को तलाक की सूचना नहीं मिलती है उसका निर्वाह व्यय का अधिकार बना रहता है। मेहर के स्थगित अंश को पाने का अधिकार पत्नी को तभी से मिलता है जब उसे तलाक की सूचना मिलती है। तलाकनामा लिखित तलाक का प्रतीक है। तलाकनामे में मौखिक तलाक को लेखबद्ध किया जा सकता है या उसे दस्तावेज के रूप में लिखा जा सकता है। दस्तावेज काजी या पत्नी के पिता की या दो गवाहों की उपस्थिति में लिखा जा सकता है। यदि दस्तावेज पत्नी के नाम सम्बोधित होता है, उसकी भाषा स्पष्ट होती है और दस्तावेज लेखक के उस पर दस्तखत होते हैं तो पति के लिए तलाक की मंशा को स्पष्ट करना आवश्यक नहीं होता है और तलाकनामा वह फौरन लागू हो जाता है। जहाँ तलाकनामा केवल तलाक का घोषणापत्र होता है, वहाँ पति के लिए तलाक की मंशा स्पष्ट करना जरूरी है और मंशा स्पष्ट करने पर ही वह लागू होता है। स्पष्ट तलाकनामा तैयार होते ही लागू हो जाता है चाहे पत्नी को उसकी सूचना न हो या बाद में मिले[1]।

तलाक, खुला, मुबारत, इला, जहर, लिआन और फिस्ख—ये सात प्रकार के विवाह विच्छेद इस्लामी विधि प्रणाली में मान्य हैं। साधारणतया तलाक विवाह विच्छेद का पर्याय माना जाता है किन्तु इस्लामी विधि प्रणाली में तलाक एक विशेष प्रकार के विवाह विच्छेद का प्रतीक है—वह विवाह विच्छेद जिसमें पति को निर्वाह साधन का और पत्नी को डिसमिस करने का एकतरफा वैधानिक अधिकार मिला हुआ है। इस्लामी समाज में पति का यह अधिकार इस्लाम पूर्व प्राचीन अरबी समाज से आया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है तलाक मौखिक भी हो सकता है और लिखित भी। तलाक के मुख्य तरीके हैं तलाक अहसन, तलाक हसन, तलाक-उल बिद्दत, तलाक ए तफवीज और तलाक ए तालीक। पहले तीन प्रकार के तलाक मौखिक हैं यद्यपि उन्हें लिखित में बदला जा सकता है। इन तलाकों में पति को स्पष्ट रूप में पत्नी से यह कहना पड़ता है कि पति ने पत्नी को तलाक दे दिया है। तलाक ए अहसन में जब पत्नी तुहर में होती है तो पति तलाक की घोषणा करके पत्नी से सम्भोग बंद कर देता है और उसके बाद इद्दत की अवधि समाप्त होने पर तलाक पूर्ण हो जाता है। जिस मासिक धर्म के बाद पति तलाक की घोषणा करता

---

1 मुल्ला, डी० एफ० वही पृष्ठ 259 61

है, उसके बाद से सम्भोग नहीं होना चाहिये क्योंकि सम्भोग होने से तलाक पूर्ण हुआ नहीं माना जाता है। किन्तु, यदि निकाह के बाद सम्भोग ही नहीं हुआ है तो तलाक अहसन की घोषणा किसी भी समय, यहाँ तक कि मासिक धर्म के दिनों में भी की जा सकती है। यदि पत्नी तुहर में न हो तो सम्भोग के बाद भी तलाक अहसन की घोषणा की जा सकती है। तलाक-अहसन के बाद पुनः निकाह का विधान है किन्तु शिया विधि में तलाक-अहसन का नहीं तोड़ा जा सकता है यदि तलाक अहसन की घोषणा ऐसी पत्नी के विरुद्ध की गई हो जिसके साथ विवाह के बाद पति ने सम्भोग न किया हो या जिसकी प्रजनन की आयु समाप्त हो गई हो या जिसने वयस्कता को प्राप्त न किया हो।

तलाक हसन में तीन तुहरों में तलाक की तीन बार घोषणा करनी पड़ती है। तीसरी घोषणा के बाद तलाक पूर्ण हो जाता है बशर्ते कि पहले तुहर के समय से जब से तलाक की घोषणा की गई है और तीसरे तुहर तक पति ने पत्नी के साथ सम्भोग न किया हो। तलाक-उल बिद्दत में तलाक की घोषणा के बाद से ही तलाक पूर्ण हो जाता है और प्रत्यावर्तनीय (Revocable) नहीं रहता है। तलाक हसन में जब तक तीसरी घोषणा नहीं हो जाती तलाक पूर्ण नहीं होता है जिसके कारण तीसरी घोषणा के करने तक पति को अपने तलाक के इरादे पर पुनः विचार करने और पत्नी को पुनः वापस लेने का अधिकार रहता है। किन्तु तलाक उल बिद्दत में तलाक की घोषणा के बाद ही पत्नी हराम हो जाती है चाहे घोषणा तलाक के इरादे को स्पष्ट व्यक्त करती हुई एक बार या एक ही साथ तीन बार की जाय या एक ही वाक्य में तीन बार की जाय[1]। तलाक-उल बिद्दत को, उमैयद बादशाहों ने हिजरी सन की दूसरी शताब्दी में लागू किया था। तलाक उल बिद्दत का ही भारत में सबसे अधिक प्रचलन होता है। कालीप्रसाद सक्सेना के अनुसार, तलाक उल बिद्दत, कानून के दृष्टिकोण से तलाक का सर्वोत्तम तरीका है किन्तु इस्लामी धर्मविद्या में निकृष्ट माना जाता है क्योंकि इसमें तलाक के प्रत्यावर्तन का विधान नहीं है। तलाक अहसन में घोषणा के बाद भी और तलाक हसन में दो घोषणाओं तथा तीसरी घोषणा के पहले तक पति को तलाक प्रत्यावर्तन का अधिकार है। किन्तु, तलाक उल बिद्दत में पति का यह अधिकार नहीं है क्योंकि घोषणा के तुरन्त बाद ही तलाक पूरा हो जाता है। तलाक हसन में तीसरी घोषणा के बाद तलाक अप्रत्यावर्तित होता है किन्तु तलाक

---

1 तीनों प्रकार की घोषणाओं को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है —एक, कलकत्ता के एक केस में इस लिखित बयान को वैध मान लिया गया था— मैं तुम्हें तीन बार तलाक देकर निकाह बन्धन से मुक्त करता हूं। दो, जैसे मैं तुम्हें तलाक देता हूं मैं तुम्हें तलाक देता हूं, मैं तुम्हें तलाक देता हूं। तीन, जैसे मैं तुम्हें तीन बार तलाक देता हूं।

उल बिद्दत में तलाक की घोषणा के साथ-साथ, तलाक अप्रत्यावर्तित हो जाता है। तलाक उल बिद्दत, हर दशा में अप्रत्यावर्तनीय है चाहे उसकी घोषणा उस समय की गई हो जब पत्नी मासिक धर्म में हो या चाहे पति ने जोर दबाव से या मजाक से ही तलाक की घोषणा क्यों न की हो। इरादे की स्पष्ट अभिव्यक्ति ही तलाक उल बिद्दत की वैधता के लिए काफी है।

शिया विधि में तलाक उल बिद्दत का स्थान नहीं है। सुन्नियों में यह वैध है किन्तु मजहबी दृष्टिकोण से इसे हीन माना जाता है। मजहबी दृष्टिकोण से, तलाक-उल बिद्दत पथभ्रष्टता का प्रतीक माना गया है। इसीलिए तलाक में, एक ओर, तलाक उल बिद्दत है तो, दूसरी ओर तलाक उस सुन्नत। तलाक उस सुन्नत वे तलाक हैं जो सुन्ना के अनुसार हों। तलाक अहसन और तलाक हसन तलाक उस सुन्नत की श्रेणी में आते हैं। तलाक प्रत्यावर्तन और अप्रत्यावर्तन के दृष्टिकोण से तलाकों को दो श्रेणियों में बाँटा गया है—एक, तलाक उल रजाई और दूसरी तलाक उल-बेन। तलाक उल रजाई की श्रेणी में वे तलाक आते हैं जिनमें प्रत्यावर्तन के लिए स्थान रहता है जैसे तलाक अहसन और तलाक हसन। तलाक उल बेन वह तलाक है जो अप्रत्यावर्तनीय है। जहाँ तलाक पूर्ण और अप्रत्यावर्तनीय हो जाता है, वहाँ प्रत्येक तलाक तलाक उल बेन है।

तलाक ए-तफवीज में पति अपना तलाक का अधिकार किसी तीसरे पक्ष को दे सकता है। तीसरा पक्ष पत्नी का पिता या भाई या स्वयं पत्नी ही हो सकती है। तलाक ए-तफवीज में अधिकृत व्यक्ति तलाक के अधिकार का उपयोग करता है न कि पति। एक बार दिया हुआ अधिकार पुनः वापस नहीं हो सकता। मुस्लिम विधि शास्त्रियों ने इस वैध परम्परा का उपयोग पत्नी के अधिकारों की रक्षा के लिये किया है। विवाह के समय समझौते के रूप में तलाक का अधिकार पत्नी को दने की आम प्रथा रही है। एक बार तलाक का अधिकार मिल जाने से पत्नी अपनी इच्छानुसार उसका प्रयोग कर सकती है। जहाँ तलाक ए-तफवीज में पत्नी को तलाक का अधिकार मिल जाता है वहाँ पत्नी स्वयं अपने को तलाक देने की अधिकारिणी हो जाती है। पत्नी को यह अधिकार सम्भाव्य घटनाओं (Contingencies) की शर्त पर मिलता है। वही सम्भाव्य घटनाएं वैध हैं जो मुस्लिम विधि और राजनीति के विरुद्ध न हों। तलाक ए तफवीज में न्यायालय की अनुमति की आवश्यकता नहीं है। तलाक ए-तफवीज का करार विवाह के पहले भी किया जा सकता है और बाद में भी। तलाक-ए तालीक में जैसा कि हनाफी विधि में माना है तलाक की घोषणा फौरन लागू हो सकती है या किसी भावी तारीख या घटना से जो तलाक की शर्त के रूप में स्वीकार की गई हो। तलाक ए-तालीक का इकरार विवाह के पहले भी हो सकता है और बाद में भी। किन्तु, शिया विधि प्रणाली में तलाक को न तो किसी शर्त पर आधारित किया जा सकता है और न उसे सम्भाव्य ही बनाया जा सकता है।

तलाक का अधिकार पति का है पत्नी का नहीं। इस्लामेतर प्राचीन अरबी समाज में पत्नी को तलाक का अधिकार नहीं था। इस्लाम ने पति के इस अधिकार को बनाए रखा किन्तु, साथ ही साथ, आवश्यकता पड़ने पर, पत्नी को पति से उद्धार पाने के उपायों को भी वैध कर दिया। खुला और मुबरत विवाह विच्छेद के दो ऐसे तरीके हैं जिनसे पत्नी, आवश्यकता पड़ने पर, पति से छुटकारा पा सकती है। किन्तु तलाक में मिले पति के अधिकार की भांति, पत्नी का यह अधिकार एकतरफा नहीं है। पत्नी को तभी उद्धार मिल सकता है अर्थात वह तभी विवाह विच्छेद कर सकती है जब पति की अनुमति हो। खुला का अर्थ है त्यागना। विवाह विच्छेद के संदर्भ में, खुला का अर्थ है उस विवाह विच्छेद से जिसमें पत्नी के अनुनय से और पत्नी से महर की धनराशि वापस लेकर, पति पत्नी को निकाह बन्धन से मुक्त करता है। खुला में पत्नी अपने अधिकारों को त्यागती है और पति उस त्याग के बदल, पत्नी को निकाह बन्धन से मुक्त करता है। खुला का सूत्रपात पत्नी से होता है और अपने अंतिम रूप में वह तलाक का रूप ले लेता है। पत्नी तलाक के उपलक्ष में पति को क्या देगी यह पति पत्नी के बीच में हुए समझौते पर निर्भर करता है। यदि पत्नी, अपने समझौते के अनुसार, पति को स्वीकृत धनराशि न दे तो तलाक अवैध नहीं होता है यद्यपि पति को यह अधिकार है कि पहले से निश्चित धनराशि पाने के लिये वह पत्नी पर दावा करे। यदि पत्नी यह कहे कि उसने अपना महर का अधिकार नहीं छोड़ा है और पत्नी के इस कथन के विरुद्ध कोई प्रमाण न हो तो फतवा ए-काज़ी खां और फतवा ए आलमगीरी के अनुसार पत्नी का कथन वैध है और इद्दत के काल में पत्नी निर्वाह-व्यय की अधिकारिणी नहीं है। इद्दत के बाद खुला तलाक से प्रत्यावर्तन नहीं हो सकता है और न इद्दत के बाद पति पत्नी एक-दूसरे से मिलने वाले प्रतिदेय का ही दावा कर सकते हैं। पति पत्नी की पारस्परिक अनुमति और खुला का 'एवज़' जो सामान्यतः पति को पत्नी से मिलता है खुला तलाक के मुख्य आधार हैं।

इस प्रकार खुला वह विवाह विच्छेद है जिसमें पत्नी निकाह से अपनी स्वतंत्रता खरीदती है। पत्नी खरीदार है और पति बेचने वाला। खरीद और फरोख्त एवज़ (प्रतिदेय) के आधार पर होती है। किन्तु खुला में अंतिम निर्णय पति के ही हाथ में रहता है। खुला में विवाह विच्छेद का आधार तलाक ही है यद्यपि उसका नाम बदल जाता है। मुबरत में विवाह विच्छेद पति पत्नी दोनों की सहमति से होता है अर्थात दोनों साथ-साथ विवाह विच्छेद करना तय करते हैं। मुबरत का अर्थ है छुटकारा। इसमें पति पत्नी अपनी सहमति से निकाह से छुटकारा पाते हैं। अतः मुबरत में 'एवज़' (प्रतिदेय) का प्रश्न नहीं उठता है। जब पत्नी के अनुरोध से, पति प्रतिदेय लेकर विवाह विच्छेद करता है तो विवाह विच्छेद खुला प्रकार का होता है। किन्तु जब दोनों अपनी सहमति से विवाह विच्छेद करना तय करते हैं

और पति तलाक देता है तो विवाह विच्छेद का प्रकार मुबरत होता है। खुला और मुबरत दोनों तलाक के साथ पूर्ण होकर अप्रत्यावर्तनीय हो जाते हैं। दोनों में इद्दत का पालन आवश्यक है और दोनों में काजी या अदालत की आवश्यकता नहीं है। खुला और मुबरत याता पति द्वारा घोषित किए जाते है या पति द्वारा अधिकृत पत्नी के द्वारा। सुन्नी विधि प्रणाली में खुला और मुबरत में, तलाक की घोषणा की आवश्यकता नहीं है। विवाह विच्छेद का प्रस्ताव और स्वीकृति तथा इकरारनामा ही विवाह विच्छेद के लिए पर्याप्त हैं। शिया विधि प्रणाली के अनुसार, खुला प्रकार के विवाह विच्छेद में पत्नी तुहर में होनी चाहिए और खुला की साक्षी दो गवाहों द्वारा होनी चाहिए। यदि पति पत्नी में सम्भोग नहीं हुआ है तो तुहर की कैद की आवश्यकता नहीं है। खुला का प्रस्ताव अरबी भाषा में होना चाहिए। किन्तु मुबरत में तलाक की घोषणामात्र से ही काम चल जाता है। अवयस्क और असन्तुलित मस्तिष्क के व्यक्ति खुला समझौता नहीं कर सकते हैं। हनाफी विधि प्रणाली में दबाव और अपने ही द्वारा की हुई नशे की हालत में भी किया हुआ खुला-समझौता वैध है। किन्तु शिया विधि प्रणाली में यह अमान्य है। सुन्नी विधि प्रणाली में अवयस्क के अभिभावक द्वारा किया हुआ खुला-समझौता वैध है बशर्ते कि वह प्रतिदेय का उत्तरदायी है। अभिभावक के इस अधिकार और उत्तरदायित्व पर शिया विधि प्रणाली में एकमतता नहीं है।

इला प्रकार का तलाक तब होता है जब कोई वयस्क और सही दिमाग का व्यक्ति पत्नी से सम्भोग न करने का व्रत लेकर, लगातार चार मास तक उसके साथ सम्भोग नहीं करता है। इला तलाक उल बिद्दत के प्रकार का सा अप्रत्यावर्तनीय तलाक होता है। इला के प्रकार के तलाक का आदेश कुरान में है। यदि कोई पति निकाह के बाद कभी या की रुख्सती के समय यह प्रतिज्ञा करे कि उसकी पत्नी केवल नाममात्र की ही पत्नी होगी, तो उसकी प्रतिज्ञा इला का आधार नहीं बनती है। इला-तलाक को सिद्ध करने का कानूनी भार पति के ऊपर होता है।

जेहर पति द्वारा उत्पन्न की हुई वह परिस्थिति है जो विवाह विच्छेद का आधार बन जाती है। यदि कोई पति अपनी पत्नी को उस सम्बन्धी के तुल्य मान ले जिसके साथ सम्भोग अगम्यगमन है और निकाह अवैध है तो पति का यह कार्य जेहर कहलाता है। जेहर की परिस्थिति में मुस्लिम विधि में पत्नी का यह अधिकार है कि वह पति की सम्भोग की मांग को तब तक अस्वीकार कर दे जब तक कि पति विधि द्वारा निर्धारित प्रायश्चितों में से एक को पूरा न कर ले। जेहर से छुटकारा पाने के लिए तीन प्रायश्चितों को इस्लामी विधि में रक्खा गया है—एक एक गुलाम को स्वतन्त्र करना, दो दो मास तक उपवास रखना, और तीन साठ दीनों को खाना खिलाना। पति द्वारा जेहर की परिस्थिति उत्पन्न कर देने पर पत्नी याता पति से कोई एक प्रायश्चित करवा कर उसे सम्भोग की अनुमति दे

सकती है या अदालत से पति को प्रायश्चित करवाने की या नियमित विवाह विच्छेद की माँग कर सकती है। शिया विधि प्रणाली में जेहर के समय दो गवाहों का होना आवश्यक माना गया है। पति तभी जेहर कर सकता है जब पत्नी तुहर में हो या पति घर से बाहर हो और जेहर के पहले के मासिक धर्म के बाद में पत्नी के साथ सहवास न किया हो। सुन्ना विवाह का विच्छेद जेहर द्वारा हो सकता है। जेहर के बाद का सम्भोग मुस्लिम विधि में अवैध है।

जब पति सौगन्ध खाकर ईश्वर के अभिशाप का आवाहन करता हुआ पत्नी पर परपुरुषगमन का अपराध लगाता है तो पति का यह कृत्य लि-आन कहलाता है। इस्लामी परम्परा के अनुसार पत्नी पर परपुरुषगमन का अपराध तभी साबित होता जब पति चार गवाह प्रस्तुत करे। चार गवाहों का मिलना कठिन है। इसलिये, इस्लाम में यह भी विधान है कि यदि पति चार बार ईश्वर को साक्षी करके, पत्नी पर परपुरुषगमन का अपराध लगाता है और पत्नी चुप रहती है तो उस पर परपुरुषगमन का अपराध सिद्ध हो जाता है। लि-आन की वैधानिकता का आधार यही परम्परा है। इस्लामी परम्परा के अनुसार परपुरुषगमन के अपराध के सिद्ध होने पर पत्नी सौ कोड़ों के दंड की भागी है और न सिद्ध होने पर पति अस्सी कोड़ों के दंड का। किन्तु, वर्तमान व्यावहारिक विधि से, कोड़ों की मार के दंड का विधान निकाल दिया गया है जो योरोपीय न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रभाव है। अपराध के सिद्ध होने पर वर्तमान भारत में पत्नी को कोई दंड नहीं मिलता है और अपराध के न सिद्ध होने पर पत्नी को पति पर मानहानि का दावा करने का अधिकार मिलता है। जहाँ पति सौगन्ध खाकर पत्नी पर परपुरुषगमन का अपराध लगाता है और पत्नी सौगन्ध खाकर इस अपराध को अस्वीकार करती है, वहाँ पति-पत्नी में विवाह विच्छेद आवश्यक हो जाता है चाहे विच्छेद के प्रति उनमें अनिच्छा ही क्यों न हो। किन्तु विवाह विच्छेद तभी वैध होता है जब सौगन्ध की रस्म पूरी हो जाय। ऐसी दशा में, विच्छेद हो जाने से, पति पत्नी दोनों निर्धारित दंड से बच जाते हैं और उनमें सहवास अवैध हो जाता है। लि-आन, इसप्रकार विवाह विच्छेद का आधार है न कि तलाक है।

'लि-आन' सही निकाहों पर लागू होता है न कि फासिद निकाहों पर। लि-आन का उपयोग तभी हो सकता है जब पति पत्नी वयसन्धि पार कर चुके हों और उनके दिमाग सही हों। लि-आन के अधिकार के उपयोग में प्रतिनिधि का कोई स्थान नहीं है। 'लि-आन' के प्रयोग के लिये, कानून के दृष्टिकोण से, पत्नी के अच्छे चाल चलन की शोहरत आवश्यक है। लि-आन के कारण होने वाला विवाह-विच्छेद अप्रत्यावर्तनीय है। जब तक कि पति पत्नी एक दूसरे से अलग नहीं होते हैं, उनके पारस्परिक अधिकार तथा उत्तराधिकार के अधिकार बने रहते हैं। 'लि-आन के आधार पर होने वाले विवाह विच्छेद में न तो पारस्परिक समझौते का भाव

और न क्षमा का। शिया कानून मे लि-आन' म जिनका विच्छेद होता है, वे पुन आपस मे विवाह नही कर सकते। किन्तु सुन्नी-कानून के अनुसार, यदि बाद म कोई ऐसा तथ्य नजर आए जिसके कारण 'लि आन' रुक सकता था तो 'लि आन' के कारण अलग हुए पति पत्नी के पुन आपस मे विवाह करने मे कोई वैधानिक रुकावट नही है। जहा पत्नी अवयस्क क्तिविया या पागल है वहा लि आन नही लागू होता।

विवाह का यायिक निराकरण (Judicial Rescission) भिन्न है। इस्लामी विधि प्रणाली म तलाक पति का एकमात्र अधिकार है। खुला, मुबरत, जेहर और लि-आन वह परिस्थितिया अवश्य उत्पन्न करते है जिसम पत्नी विवाह विच्छेद की माग कर सकती है। पति पत्नी मे स्वभाव की प्रतिकूलता एक दूसरे का न चाहना और एक दूसरे के प्रति घणा इस्लामी विधि प्रणाली मे विवाह विच्छेद के आधार नही बन सकते है। काशीप्रसाद सक्सेना के अनुसार भारत म विकसित एग्लो मुस्लिम विधि म लि आन और नपुसकता (पति की नपुसकता) ही दो एम आधार हैं जिन पर पत्नी पति से विवाह विच्छेद का मुकदमा चला सकती है। पति क नपुसक हाने पर, पत्नी तभी यायिक निराकरण की माग कर सकती है जब पति की नपुसकता आजमिक हो और विवाह के पहले ही से विद्यमान हो विवाह के समय पत्नी को यह मालूम न हो कि उसका पति नपुसक है और विवाह के बाद पति ने पत्नी से सम्भोग न किया हो। इस्लामी विधि के अनुसार, यदि पत्नी पति के नपुसक होने पर विवाह विच्छेद की माग करती है तो पति को एक साल का समय यह सिद्ध करने के लिए मिलता है कि वह नपुसक नही है। पति नपुसक नही है, यह सिद्ध करने का उत्तरदायित्व पति का है।

इस्लामी विधि मे यदि पत्नी को तलाक का अधिकार नही है तो कितनी विशेष परिस्थितियो म उसे विवाह के यायिक निराकरण के लिए अनुरोध करने का अधिकार अवश्य है[1]। खुला मुबरत, लि आन पति की नपुसकता तलाक ए

1 कुरान के पाचवें भाग, चौथे अध्याय, छठे सेक्शन की पतीसवीं आयत में मनमुटाव पदा होने पर पति-पत्नी में पुन मत्री करवाने की कार्यवाही का उल्लेख है। इस आयत में काजी को आज्ञा दी गई है कि जब कभी पति पत्नी के बीच में वमनस्य की सम्भावना हो तो वह दो मध्यस्थों को नियुक्त करे—एक, पति के सम्बन्धियों में से और दूसरा पत्नी के सम्बन्धियों में से। यदि ये मध्यस्थ पति-पत्नी में पुन मत्री न करवा सकें तो क्या वह विवाह विच्छेद करवा सकते ह? यदि व मान भी लें कि विवाह विच्छेद होना चाहिए तो क्या बिना पति की अनुमति लिये वे विवाह विच्छेद करवा सकते ह? इन प्रश्नों का उत्तर कुरान में नहीं है। यदि काजी इस बात से निश्चित है कि

तफवीज और तलाक-ए-तालीक तथा निकाह-संविदा में पत्नी को पति द्वारा दिया हुआ विवाह विच्छेद का अधिकार, पत्नी को विवाह विच्छेद के लिए अनुरोध करने का अवसर प्रदान करते हैं। निकाह-संविदा में यदि पति विवाह विच्छेद की कोई ऐसी भावी शर्त रख देता है जिसका टूटना पत्नी को तलाक का अवसर प्रदान करता है तो वह यथासमय तलाक के लिए अनुरोध कर सकती है। दि डिसाल्यूशन आफ मुस्लिम मैरिजेज एक्ट (1939) में मुस्लिम-नारी को जिन आधारों पर विवाह विच्छेद का मुकद्दमा करने का अधिकार दिया गया है, वे हैं पति का इसप्रकार लापता होना कि उसे ढूंढ निकालना मुश्किल हो, पति का पागल होना या भयंकर कोढ़ से पीड़ित होना, पति का पत्नी के भरण पोषण की अवहेलना करना या भरण-पोषण अस्वीकार करना, पति का पत्नी के प्रति दुर्व्यवहार करना, पति के दीर्घकाल तक बाहर रहने या कारावास में रहने के कारण पत्नी के सतीत्व को खतरा उत्पन्न होना, वयस्क होने पर पत्नी द्वारा निकाह को अस्वीकार करना, किसी घटना के कारण निकाह का अवैध होना, पति की नपुंसकता, पति द्वारा पत्नी पर परपुरुषगमन का अनुचित दोष लगाना, और अन्य कोई कारण जो मुस्लिम विधि के अन्तर्गत विवाह विच्छेद का आधार बन सकता हो।

इस एक्ट के अन्तर्गत अदालत का वही स्थान है जो इस्लाम की न्याय-प्रशासन व्यवस्था में काज़ी का है। अपना यह अधिकार अदालत किसी दूसरे को नहीं दे सकती है। अदालत को जिन आधारों पर विवाह-विच्छेद की डिग्री देने का अधिकार है, वे हैं पति का चार साल तक लापता रहना, पति का दो साल तक पत्नी के भरण पोषण में असफल होना, पति को सात साल या उससे अधिक की कारावास की सजा होना, अकारण ही पति का, तीन साल तक, अपने वैवाहिक उत्तरदायित्व को निभाने में असफल होना, पति का विवाह के पहले ही से नपुंसक होना और बाद

पति-पत्नी में मनमुटाव नहीं हुआ है यदि वह मध्यस्थ न नियुक्त करे और यदि उसके द्वारा नियुक्त मध्यस्थ एक राय न हों तो विवाह विच्छेद नहीं हो सकता है। कुछ न्यायशास्त्रियों का मत है कि यदि मध्यस्थ विवाह विच्छेद के लिए एकमत भी हों तो भी, बिना पति की अनुमति के, विवाह विच्छेद नहीं हो सकता है (कालीप्रसाद सक्सेना वही पृष्ठ 232)। यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि इस्लामी विधि में निकाह विच्छेद के मुकद्दमे में न्यायिक मध्यस्थता का स्थान है। यदि पति का तलाक का अधिकार निरंकुश है तो पत्नी को इस्लामी विधि के अन्तर्गत न्यायिक मध्यस्थता का सहारा लेने का अधिकार है। दि डिसोल्यूशन आफ मुस्लिम मैरिजेज एक्ट में, इस्लामी विधि की आत्मा को बनाये रखते हुए, नारी के इसी अधिकार को और भी अधिक यथार्थ बनाया गया है।

मे भी नपुसक बना रहना, पति का दो साल तक पागल रहना या कोढ या गुप्त रोग (गर्मी सूजाक) से पीडित रहना पन्द्रह साल की आयु के पहले विवाह हो जाने पर वयस्क होने पर पत्नी द्वारा अपने विवाह को अस्वीकार करना[1], पति का पत्नी के साथ नृशसता का व्यवहार करना[2] और अन्य कारण जो इस्लामी विधि के अन्तगत विवाह विच्छेद का आधार बन सकते है। यदि पत्नी को इस आधार पर विवाह-विच्छेद करने की अनुमति मिलती है कि उसके पति को सात साल या उससे अधिक की कारावास की सजा हुई है तो अदालत की डिगरी इस आधार पर होगी कि पति का कारावास की सजा अन्तिम रूप से हुई है और उसके बदलने की सम्भावना नही है। यदि पति के लापता होने पर अदालत विवाह विच्छेद की डिगरी देती है तो वह डिगरी पास होने की तारीख से छ महीने बाद लागू होगी और यदि पति इस बीच मे आ जाता है तो डिगरी रद समझी जायगी। पति स्वय आ सकता है या किसी अपने अधिकृत व्यक्ति को भेज सकता है। अदालत तभी डिगरी को रद करेगी जब उसे पति की ठीक ठीक पहचान का सन्तोष हो जाय। यदि पति की नपुसकता के आधार पर पत्नी विवाह विच्छेद की माग करती है और यदि पति पत्नी के दावे को झूठा साबित करने की मोहलत चाहता है तो अदालत उसे एक साल का समय देगी और इस बीच मे यदि पति अदालत को सन्तुष्ट कर देता है कि पत्नी का दावा झूठा है तो विवाह विच्छेद की डिगरी नही दी जायगी।

दि डिसाल्यूशन आफ मुस्लिम मैरिजेज एक्ट से मुस्लिम विवाह मे दो मुख्य परिवर्तन हुए है। इस एक्ट के पहले विवाहित वनिताओ के धर्म परिवर्तन करने से स्वत विवाह विच्छेद हो जाता था। किन्तु आज धर्म परिवर्तन से विवाह विच्छेद नही होता है वरन विवाह विच्छेद का आधार उत्पन्न होता है। पति, ऐसी दशा मे, तलाक का आश्रय ले सकता है। इस एक्ट के पहले अवयस्क कन्या को वयस्क होने

---

1 इस आधार पर विवाह विच्छेद की तभी डिगरी मिल सकती है जब विवाह के बाद सम्भोग न हुआ हो।

2 पति की पत्नी को पीटने की आदत पति का निर्दय आचरण, पति का बदनाम नारियों के साथ सहवास या बदनामी का जीवन व्यतीत करना पति का पत्नी को अनैतिक जीवन अपनाने के लिये बाध्य करना, पति का अपनी जायदाद बेचना या अपनी जायदाद पर पत्नी के वैध अधिकारों का हनन करना, पति का पत्नी की मजहबी आस्थाओ और क्रियाओं में खलल डालना और एक से अधिक पत्नियो के होने पर, कुरान की आज्ञा के अनुसार, पति का पत्नी से समानता का व्यवहार न करना, इस एक्ट के अनुसार, नृशस व्यवहार की श्रेणी में आते है और पत्नी के अनुरोध पर, यदि अदालत सन्तुष्ट हो तो, विवाह विच्छेद का आधार बन सकते है।

पर अपने अभिभावक द्वारा सम्पन्न किए हुए विवाह में तलाक का अधिकार न था। किंतु, इस एक्ट के अन्तर्गत अवयस्क कन्या वयस्क होने पर तलाक दे सकती है बशर्ते कि वह यह सिद्ध कर सके कि उसके साथ पति ने सम्भोग नहीं किया है उसका विवाह अभिभावक ने पन्द्रह साल के पहले ही कर दिया था और अठारह वर्ष की आयु पूर्ण होने के पहले ही उसने विवाह का अस्वीकार कर दिया था। इसप्रकार भारोपीय प्रभाव में मुस्लिम नारी का तलाक का सीमित अधिकार निश्चित है।

४

संयुक्त परिवार

समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों ने इस संसार में पाए जाने वाले परिवारों का वर्गीकरण करते हुए मुख्यतः दो प्रकार की परिवार-श्रेणियाँ निर्धारित की हैं यद्यपि उनके लिए अलग अलग नामों का प्रयोग किया गया है। बर्गेस (Burge s) के वर्गीकरण के अनुसार परिवार के दो प्रकार हैं—एक संस्थापित प्रकार (The Institutional Type) और दूसरा, साहचर्य प्रकार (The Companionsl ip Type)। पहला प्रकार वह प्रकार है जो प्राचीन समाजों में पाया जाता था और अर्वाचीन समय में उन समाजों में पाया जाता है जो पाश्चात्य की औद्योगीकृत सभ्यता के व्यापक प्रभाव के बाहर हैं। यह वह प्रकार है जिसमें कई पीढ़ियाँ के परिवार एक साथ रहते हैं, जिसमें विवाह का आधार धर्म है, जिसमें तलाक को अनुचित माना जाता है, जिसमें परिवार के वयोवृद्ध अथवा वयोवृद्ध पुरुषों का प्रभुत्व रहता है, जिसमें व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा परिवार की ही सामाजिक प्रतिष्ठा पर निर्भर करती है जिसमें सम्मिलित सम्पत्ति, सम्मिलित आय सम्मिलित वासस्थान और सम्मिलित खानपान की भावना का प्राधान्य रहता है और जो अपने सामाजिक आर्थिक पक्ष में उत्पादन उपभोग की एक सुगठित इकाई होता है। साहचर्य प्रकार में परिवार का सम्बन्धी संगठन (Kin Organization) का व्यापक प्रभाव पति-पत्नी और उनकी सन्तान तक ही सीमित रहता है जिसमें पति-पत्नी के सम्बन्ध में, पति अथवा पत्नी की प्रभुता के स्थान पर, साहचर्य का भाव अधिक रहता है, जिसमें विवाह पर धार्मिक अवगुण्ठन नहीं रहता है और जो अपने आर्थिक सामाजिक पक्ष में केवल उपभोग की ही इकाई है। बर्गेस के अनुसार, औद्योगीकरण और शहरीकरण ने संस्थापित परिवार को साहचर्य-परिवार में परिणत किया है। मानवशास्त्रियों ने भी परिवार प्रकारों को दो श्रेणियों में रक्खा है—एक श्रेणी में उन्होंने रक्खा है उस परिवार को जो एक विवाह पर आधारित है जो पति-पत्नी सन्तान के कलाप (Pattern) से बनता है और जो वस्तुतः सर्वकालिक और सार्वभौमिक प्राथमिक परिवार है। दूसरी श्रेणी में उन्होंने रक्खा है उन परिवार प्रकारों को जो प्राथमिक

परिवार के विस्तार से बनते हैं। दूसरी श्रेणी में बहुपत्नीत्व और बहुपतित्व पर आधारित परिवारों के अतिरिक्त व अन्य सभी प्रकार के परिवार आते हैं जिसमें कई प्राथमिक परिवार कई एकवंशी पीढ़ियों के माध्यम से, एक विस्तृत परिवार में बंधे रहते हैं। इसीकारण दूसरी श्रेणी के परिवारों का विस्तृत परिवार की संज्ञा दी गयी है। समाजशास्त्रियों तथा मानवशास्त्रियों ने अलग-अलग वर्गीकरण अवश्य किए हैं किन्तु उनके द्वारा निर्धारित श्रेणियां वस्तुतः समान हैं। संस्थायिक प्रकार और विस्तृत प्रकार में काफी साम्य है यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि परिवार की गत्यात्मकता केवल संस्थायिक प्रकार से साहचर्य प्रकार में परिणत होने की ओर रही है क्योंकि विभिन्न सामाजिक सन्दर्भों में समान परिवर्तनकारी शक्तियां परिवर्तन की एक ही गति और दिशा का जन्म नहीं देती हैं।

अपने आधारभूत तथा अखिल भारतीय रूप में भारतीय परिवार सामान्यतः संयुक्त परिवार है। संयुक्त परिवार के रूप में भारतीय परिवार उन परिवार प्रकारों की श्रेणी में आता है जिन्हें संस्थायिक और विस्तृत परिवार कहा गया है। ग्राम जाति और गणजाति के साथ संयुक्त परिवार भारतीय सामाजिक जीवन की आत्मा में व्याप्त रहा है। भारतीय सामाजिक जीवन में संयुक्त परिवार के प्रमाण उस समय से मिलते हैं जब से भारतीय सामाजिक इतिहास के लिखित प्रमाण मिलते हैं। महाभारत के युद्ध के समय (जिसका काल ईसा के लगभग एक हजार वर्ष पूर्व माना जाता है) संयुक्त परिवार उसी प्रकार से भारतीय जीवन का एक अंग था जैसाकि वह आज है। भारत की इस प्राचीन संस्था की संरचना न तो मुस्लिम शासन से बदली और न अंग्रेजी शासन से। हां यह अवश्य है कि औद्योगिक क्रान्ति तथा वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी के प्रभाव संयुक्त परिवार की संरचना में प्रविष्ट हुए हैं, जिसके कारण भारत में पश्चिमी प्रकार के परिवार के कुछ उदाहरण मिल जाते हैं। भारतीय जनता का एक बड़ा भाग अब भी संयुक्त परिवार प्रणाली की परम्परा से चिपका हुआ है[1]। इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से भारतीय परिवार में परिवर्तन अवश्य आए हैं किन्तु उसका आधारभूत रूप अब भी बना हुआ है। इस परिवर्तन प्रक्रिया को समझने के लिए भारत में संयुक्त परिवार के प्रकारों उनके स्वरूप कार्य और परिवर्तित रूप को समझना आवश्यक है। भारत में संयुक्त परिवार के कई रूप पाए जाते हैं जिनमें से कुछ पितृसत्तात्मक और पितृवंशी हैं और कुछ मातृसत्तात्मक तथा मातृवंशी। पितृसत्तात्मक पितृवंशी परिवारों में मुख्य हैं मिताक्षरा, दायभाग, सप्त परिवार, स्वरूप और आवक। मिताक्षरा और दायभाग वस्तुतः व संयुक्त परिवार प्रणालियां हैं जिनका निरूपण स्मृतिकारों

मिताक्षरा
दायभाग

1 कर्वे, इरावती : किनशिप आर्गनाईजेशन इन इंडिया पृष्ठ 10

ने ग्यारहवी शताब्दी से लेकर पन्द्रहवी शताब्दी के मध्य म किया है और अंग्रेजी राज काल म जिन्हे वधानिक आधार प्रदान किया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर द्वारा लिखित टीका मिताक्षरा प्रणाली का आधार है और दायभाग आधारित है जीमूतवाहन द्वारा लिखित अनेक सहिताओ के सार संग्रह पर। दायभाग प्रणाली बंगाल और आसाम की पारिवारिक परम्पराओ म समायी हुयी है और मिताक्षरा प्रणाली शेष भारत की पारिवारिक परम्पराओ मे। किन्तु साथ ही साथ स्मृतिकारो तथा आधुनिक विधि के निर्माताओ ने स्थानीय व्यावहारिक प्रथाओं का भी वाछनीय अपवाद मान लिया है। इसीकारण इन प्रणालियो के साथ-साथ अन्य व्यावहारिक प्रणालिया भी पायी जाती रही है। मिताक्षरा और दायभाग व प्रणालिया है जो हिन्दू शास्त्रकारों के प्रतिपादनो के फलस्वरूप विकसित हुयी हैं।

ये दोनो प्रणालियाँ पितृसत्तात्मक और पितृवंशी हैं। इनम निहित परिवार सगठन की धारणा म कई पीढियाँ आती है और परिवार की धारणा द्विपक्षीय सम्बन्धी वर्ग (Bilateral Kin Group) पर आधारित है। इन दोनो प्रणालियों म परिवार के वयोवृद्ध व्यक्ति को 'कर्ता' का स्थान दिया गया है। कर्ता वयोवृद्ध पीढी का अधिकतम वयोवृद्ध पुरुष होगा और परिवार म सबसे कम आयु वाली पीढी के सदस्यों के सम्बन्ध म वह या तो उनका पिता हो सकता है (यह तब होगा जब परिवार म दो ही पीढियाँ हो) या पितामह हो सकता है (यह तब होगा जब परिवार म तीन पीढियां हो) या यदि परिवार मे केवल एक ही पीढी के व्यक्ति हैं तो वह अन्य सदस्यो का ज्येष्ठ भाई हो सकता है। इन दोनो प्रणालियो म कर्ता को सर्वोपरि स्थान मिला हुआ है। किन्तु मिताक्षरा प्रणाली म कर्ता उतना सबल और सशक्त नहीं है जितना कि वह दायभाग प्रणाली म है। क्योंकि मिताक्षरा प्रणाली म कर्ता को पैतृक सम्पत्ति का मनमाने ढग म खर्च करने का अधिकार नही है और कर्ता के जीवन काल म ही परिवार का कोई सदस्य अपने सहभाग को लेकर परिवार से अलग हो सकता है। दायभाग प्रणाली म, कर्ता के जीवन-काल म पारिवारिक सम्पत्ति का बटवारा नही हो सकता है। अत पैतृक सम्पत्ति कर्ता की पारिवारिक सम्पत्ति मे मिल जाती है और वह उसका उसी प्रकार से स्वामी हो जाता है जैसे कि वह अपनी सम्पत्ति का है। दायभाग प्रणाली म 'कर्ता' की मृत्यु के पश्चात् क्रमागताधिकार नियम के अनुसार उसके सभी पुत्र उसकी सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं और तब वे चाहे तो सम्पत्ति का बटवारा भी कर सकते है। दोनो प्रणालियो म व्यक्ति का परिवार म जन्मजात अधिकार माना गया है किन्तु अन्तर है तो केवल इतना कि दायभाग प्रणाली म व्यक्ति अपने उस जन्मजात अधिकार की मांग कर्ता के जीवन काल म नही कर सकता है। मिताक्षरा प्रणाली म उत्तराधिकार चलता है जीवित नाप उत्तराधिकार (Survivorship Succession) के नियमानुसार जिसके आधार पर, कर्ता की मृत्यु के बाद, उसके लडके, पोते नाती, भाई और भतीजे क्रमश, उसकी सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं। इन दोनो प्रणालियो म, परि

वार में रहने और भरण पोषण का अधिकार जन्मजात है और कोई भी व्यक्ता किसी भी सदस्य के उस अधिकार को अस्वीकार नहीं कर सकता है। इन दोनों प्रणालियों में, विशेषत मिताक्षरा प्रणाली में परिवार की धारणा वस्तुत एक निगम (Corporation) की सी धारणा है जिसमें उसके सदस्यों का समान अधिकार रहता है।

खस परिवार

खस परिवार से तात्पर्य है उस परिवार से जो देहरादून जिले की चकराता तहसील के जौनसार-बावर में रहने वाले और भ्रातृक बहुपतित्व (Fraternal Polyandry) की प्रथा का पालन करने वाले खस राजपूतों में पाया जाता है। जौनसार-बावर भारत का वह भौगोलिक सांस्कृतिक क्षेत्र है जो देहरादून जिले के पहाड़ी क्षेत्र में यमुना और तौंस नदियों के बीच में आता है। इस क्षेत्र में ब्राह्मण राजपूत बाजगी और कोल्टा इत्यादि जातियाँ पायी जाती हैं किन्तु इनमें राजपूतों की संख्या सबसे अधिक है। यहाँ के राजपूत अपने को खस राजपूत कहते हैं और इसी कारण डा० मजूमदार और कपाडिया ने यहाँ के परिवार प्रकार को खस परिवार की संज्ञा दी है जो वस्तुत भ्रामक है। यहाँ बहुपति प्रथा की अधिकतम बारम्बारता (Frequency) राजपूतों और ब्राह्मणों में भी पायी जाती है। फिर भी यहाँ के परिवार प्रकार को खस-परिवार की संज्ञा देना सार्थक और तर्कसंगत नहीं है। इस प्रदेश में वह संयुक्त परिवार पाया जाता है जिसका एक आधार पितृवंशी पितृसत्तात्मकता है और दूसरा भ्रातृक बहुपतित्व तथा मातृवंशी मातृसत्तात्मकता।

जौनसार-बावर के परिवार प्रकार को समझने के लिए इस प्रदेश में पायी जाने वाली भ्रातृक बहुपतित्व की प्रथा को समझना आवश्यक है। यह निश्चित है कि मध्य एशिया में बहुपतित्व की प्रथा प्राचीन काल में पायी गई है और आज भी यह प्रथा हिमाचल प्रदेश के कुछ भागों, लद्दाख और तिब्बत में पायी जाती है। इसी आधार पर कुछ लेखकों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि सम्भवत आर्यों में बहुपतित्व की प्रथा थी। इसी सन्दर्भ में एक मत यह भी है कि प्राचीनतम आर्यों की जो टुकड़ियाँ हिन्दुकुश के किनारे किनारे होकर इस प्रदेश में बस गईं वे बहुपतित्व का पालन करती थी[1]। महाभारत में यह पता चलता है कि पाण्डवों ने सम्मिलित रूप से द्रौपदी से विवाह किया था। जब सम्मिलित रूप से पाँच भाइयों द्वारा द्रौपदी से विवाह करने पर युधिष्ठिर की भर्त्सना की गयी थी तो युधिष्ठिर ने अपने इस कार्य का औचित्य सिद्ध करने के लिए यह कहा था कि उन्होंने जिस मार्ग का अनुसरण किया गया है वह उनके पूर्वजों का मार्ग है। एक बार यह कहा जाता है कि पाण्डव आर्य थे और दूसरी बार नीलगिरि की पहाड़ियों में रहने वाली टोडा जनजाति के बारे और मालाबार निवासी नायरों में बहुपतित्व पाया गया है। नीलगिरि और मालाबार निश्चय ही आर्येतर प्रदेश हैं। डा० मजूमदार के अनुसार इस प्रदेश का भ्रातृक बहुपतित्व आर्यों की

---

1 सक्सेना आर० एन० सोशल इकानमी आफ ए पालियाण्ड्रस पीपुल।

पितृवंशी पितृसत्तात्मक और इस क्षेत्र की दाक्षिणात्य वंशीय मातृ-सत्तात्मक परिवार प्रथाओं के पारस्परिक मिलान और सामञ्जस्य का परिणाम है। इसके अनेक प्रमाण इस प्रदेश की संस्कृति में पाये जाते हैं। एक ओर इस प्रदेश में, परिवार में पुरुषों का प्रभुत्व है, स्त्रियों को न तो पिता के घर में सम्पत्ति का अधिकार है और न पति के घर में, स्त्री को पति के घर में कठिन परिश्रम करना पड़ता है स्त्री धन की धारणा एकदम अनुपस्थित है, देवताओं के पूजा अनुष्ठान भी पुरुष ही करते हैं और, दूसरी ओर यह विश्वास है कि स्त्रियाँ पति या पुरुषों को सुख से विष दे देती हैं और अपने पिता के घर में लोगों का रोमांटिक और यौनिक निर्बन्धता का जीवन अपनाने का विशेषाधिकार भी मिला हुआ है। नारी के दो रूप हैं—एक 'राण्टी' अथवा पत्नी का जो कठोर परिश्रम और पुरुष की दासता का जीवन है और दूसरा 'ध्याण्टी' अथवा 'ध्याण' का जो एक रूमानी हास परिहास का जीवन है। पहला जीवन ससुराल से सम्बन्धित है और दूसरा मायके से। यहाँ के रूमानी लोकगीतों में इसकी पुष्टि होती है।

इस प्रदेश की बहुपति प्रथा का एक और पक्ष है। एक ओर यह प्रदेश पहाड़ी होने के कारण कठिन कृषि कार्य का प्रदेश है, यहाँ भूमि की कमी है, कृषि कार्य में मानव श्रम (Human Labour) की आवश्यकता रहती है और इसी कारण, जो पुरुष परिवार में अकेला होता है वह आवश्यक मानव श्रम एकत्र करने के लिए, बहुपत्नीत्व का आश्रय लेता है और दूसरी ओर इस प्रदेश में स्त्री पुरुषों के अनुपात में स्त्रियों की कमी है। ऐसा लगता है कि जौनसार-बावर की स्थानीय भौगोलिक आर्थिक परिस्थितियों में संयुक्त परिवार एक आधारभूत सामाजिक आवश्यकता है जिसके फलस्वरूप, स्त्रियों की कमी के कारण इस क्षेत्र के संयुक्त परिवार में यहाँ की ऐतिहासिक परिस्थितियों में भ्रातृक बहुपतित्व की प्रथा का अभ्युदय हुआ है। इस कथन का सबसे बड़ा प्रमाण यह तथ्य है कि निम्नजाति के सदस्यों की अपेक्षा, उच्चजाति के सदस्यों में, जिनमें राजपूत और ब्राह्मण आते हैं बहुपतित्व और बड़े बड़े परिवार अधिक पाये जाते हैं। यहाँ की कृषियोग्य भूमि का अधिकतम भाग राजपूतों और ब्राह्मणों के स्वामित्व में है और उनमें परिवार विभाजन का अर्थ होगा भूमि का बटवारा और यदि पीढ़ी दर पीढ़ी परिवार बटता चला गया तो इसका अर्थ होगा एक ऐसी स्थिति का आना जब परिवार का आर्थिक आधार ही समाप्त हो जायगा। इसके विपरीत निम्नस्तर की जातियों में, जिनमें कोल्टा मुख्य हैं न तो परिवार ही बड़े बड़े हैं और न उनमें परिवार को संयुक्त बनाये रखने की वह भावना है जो उच्च-जाति के लोगों, विशेषतः राजपूतों में पाई जाती है। यहाँ के लोकगीतों में सास-बहू देवरानी जेठानी, ननद भौजाई तथा भाई भाई के संघर्षों और तनाव से सम्बन्धित विषय वस्तु का वर्णन न के बराबर है। जो स्त्री भाइयों में वैमनस्य या बटवारे लाने का प्रयास करती है उसे अक्सर तलाक दे दिया जाता है। यहाँ की नारी मान ही नहीं सकती है कि बस एक पति उसकी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है।

जौनसारी परिवार पूर्णत: पितृसत्तात्मक और पितृवंशी है। कर्ता परिवार की वयोवृद्ध पुरुष पीढ़ी का वयोवृद्ध पुरुष होता है और बाल विवाह प्रथा के कारण एक साथ तीन पीढ़ियों का पाया जाना साधारण बात है। कर्ता का स्थान सर्वोपरि है और वही परिवार का सचालक है। वयोवृद्ध पुरुष पीढ़ी का वयोवृद्ध पुरुष बहुधा उस पीढ़ी के पुरुषों का ज्येष्ठ भाई होता है। यहां के परिवारों में ज्येष्ठ भाई को ही उच्चतम स्थान मिला हुआ है। परिवार के सभी विषयों में, उसका मत सर्वोच्च माना जाता है। वही एक या एक से अधिक स्त्री से विवाह करता है और जिस स्त्री या जिन स्त्रियों से वह विवाह करता है वही स्त्री या वे स्त्रियां उसके भाइयों की पत्नी या पत्नियां हो जाती हैं। स्त्री के साथ सहवास में भी बड़े भाई को प्राथमिकता मिलती है और इस प्रथा से समस्या इसलिए नहीं उत्पन्न होती है कि यहां स्त्री जैसा कि पहले कहा जा चुका है नैतिकता के दोहरे मापदण्ड (Double Standard of Morality) का पालन करती है। ध्याण्टी के रूप में अपने पिता के गांव में वह अपनी इच्छानुसार गांव के उन तरुणों के साथ जो उसकी रुधिर सम्बन्धी सीमा में नहीं आते हैं यौन-सम्बन्ध स्थापित कर सकती है। जो पुरुष जितना ही तरुण होता है उसके लिए स्मानीपन का जीवन भी उतनी ही सुगम रहती है। यहां के सामाजिक जीवन में अनेक ऐसे पर्व और त्यौहार प्राप्त हैं जब तरुण स्त्रियां अपने मायके चली जाती हैं और वहां महीना रहती हैं। सम्मिलित स्त्रियों से उत्पन्न सन्तान भी सम्मिलित समझी जाती है। अत:, सन्तान को लेकर उठने वाले वैमनस्य का भी यहां के पारिवारिक सम्बन्धों में अभाव है। यहां की पारिवारिक अर्थव्यवस्था में परिवार विभाजन अवांछनीय समझा जाता है। भ्रातृक बहुपतित्व और उसमें निहित लेविरेट विवाह (Leviratic Marriage) के कारण स्त्री के लिए वैधव्य का प्रश्न ही नहीं उठता है और यदि कोई स्त्री कर्ता के मरने पर उसके छोटे भाई के साथ नहीं रहना चाहती है तो वह तलाक देकर दूसरी जगह अपना विवाह कर लेती है।

कर्ता परिवार का स्वामी अवश्य है किन्तु वह निरंकुश नहीं है क्योंकि एक ओर परिवार में जन्मे पुरुषों अविवाहित लड़कियों और परिवार की विधवा अथवा परित्यक्ता लड़कियों का भरण पोषण पाने का अधिकार है और दूसरी ओर यदि कर्ता की पीढ़ी के सहभागी सर्वसम्मति से चाहें तो परिवार का बटवारा हो सकता है। यहां बटवारा न तो मिताक्षरा प्रणाली के अनुसार होता है और न दायभाग प्रणाली के अनुसार ही। यहां बटवारा होता है सौतिया-बांट की प्रथा के अनुसार। इस प्रथा के अनुसार यदि कर्ता की पीढ़ी में पांच भाई हैं और उनमें से तीन एक मां की सन्तान हैं और दो दूसरी मां की तो परिवार की सम्पत्ति जिसमें उन पांच पुरुषों की सम्मिलित स्त्रियां भी शामिल हैं दो बराबर बराबर हिस्सों में बंट जायगी। उनमें से एक हिस्सा उन दो पुरुषों को मिलेगा जो एक स्त्री की सन्तान हैं और दूसरा उन तीन पुरुषों को जो दूसरी मां की सन्तान हैं। इसप्रकार

यहां एक संयुक्त परिवार बंटवारा होने पर कई संयुक्त परिवारों में बंट जाता है। यहां जीवित गण उत्तराधिकार नियम (The Rule of Survivorship Succession) और परिवार में जन्मजात हिताधिकार का नियम, एक ओर, पितृवंशी समानाधिकार नियम और, दूसरी ओर, मातृवंशी परम्पराओं में समाया हुआ है। किन्तु, फिर भी, पारिवारिक अविभाज्यता का आदर्श और आवश्यकता यहां के पारिवारिक जीवन का एक अभिन्न अंग है।

ओक्का प्रोफेसर एम० एन० श्रीनिवास के अध्ययन के अनुसार, कुर्ग निवासियों में, जो पितृवंशी (Patrilineal) और पितृस्थानी (Patrilocal) संयुक्त-परिवार पाया जाता है उसे स्थानीय भाषा में ओक्का (Okka) कहते हैं। कुर्ग समाज में जो व्यक्ति किसी ओक्का से सम्बन्धित नहीं होता है उसका कोई सामाजिक अस्तित्व ही नहीं है। अवैध विवाह से उत्पन्न सन्तान के लिए यह आवश्यक होता है और उससे यह आशा भी की जाती है, कि वह अपनी मां या पिता के ओक्का की सदस्यता प्राप्त कर ले। समाज के वयोवृद्ध पुरुष इस दिशा में उसकी सहायता भी करते हैं। पहले, एक ओक्का में एक ही पितृवंश से सम्बन्धित पुरुषों के लड़के साथ साथ जानवर चराने में चिड़ियों का शिकार करते थे और खेलते थे तथा वयस्क होने पर ओक्का के मुखिया के नेतृत्व में साथ-साथ पैतृक जायदाद की देख भाल और उसका उपभोग करते थे क्योंकि पहले ओक्का की स्थिर पैतृक सम्पत्ति अविभाज्य समझी जाती थी। किन्तु, आज ओक्का की सम्पत्ति अविभाज्य नहीं मानी जाती है। फिर भी पैतृक गृह और जायदाद पवित्र माने जाते हैं और, आज भी विवाह और अन्त्येष्टि क्रिया जैसे सामाजिक कृत्यों को पैतृक गृह में सम्पन्न करना शुभ माना जाता है। आज भी, कावेरी स्नान जैसे वार्षिक त्योहारों के अवसर पर, एक ओक्का के सदस्य एकत्र होते हैं।

विवाह के बाद स्त्रियां अपने पैतृक ओक्का को छोड़ कर, पति के ओक्का की सदस्य हो जाती हैं, किन्तु, फिर भी विधवा अथवा परित्यक्ता होने पर, उन्हें अपने पैतृक ओक्का में शरण मिलती है। यदि कोई स्त्री किसी निम्नजाति के सदस्य से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर ले तो उसे पैतृक ओक्का में शरण नहीं मिलती है। एक ओक्का के सदस्य एक साथ रहते हैं और सहकारिता से कार्य करते हैं। ओक्का, वस्तुतः काल के नैरन्तर्य में निहित एक सन्तति (Continuum) है और किसी भी समय विशेष में उसमें पाये जाने वाले व्यक्ति केवल उस सन्तति पर बिन्दुमात्र हैं। ओक्का को अनेक स्थानीय कारणों से सन्तति का रूप मिलता रहा है। इनमें सबसे प्रधान कारक रहे हैं भू-सम्पत्ति और स्थानीय दास प्रथा। प्रत्येक ओक्का का मुख्य आधार है पैतृक भू सम्पत्ति और प्रत्येक ओक्का में निम्नजाति के सदस्य बन ही दास के समान काम करते रहे हैं जैसे दास परिवार में होल्या। ओक्का का पवित्र मान्

जौनसारी परिवार पूर्णतः पितृसत्तात्मक और पितृवंशी है। कर्ता परिवार की वयोवृद्ध पुरुष पीढ़ी का वयोवृद्ध पुरुष होता है और बाल विवाह प्रथा के कारण एक साथ तीन पीढ़ियों का पाया जाना साधारण बात है। कर्ता का स्थान सर्वोपरि है और वही परिवार का संचालक है। वयोवृद्ध पुरुष पीढ़ी का वयोवृद्ध पुरुष बहुधा उस पीढ़ी के पुरुषों का ज्येष्ठ भाई होता है। यहां के परिवारों में ज्येष्ठ भाई को ही उच्चतम स्थान मिला हुआ है। परिवार के सभी विषयों में, उसका मत सर्वोच्च माना जाता है। वही एक या एक से अधिक स्त्री से विवाह करता है और जिस स्त्री या जिन स्त्रियों से वह विवाह करता है वही स्त्री या वे स्त्रियां उसके भाइयों की पत्नी या पत्नियां हो जाती हैं। स्त्री के साथ सहवास में भी बड़े भाई को प्राथमिकता मिलती है और इस प्रथा से समस्या इसलिए नहीं उत्पन्न होती है कि यहां स्त्री जैसा कि पहले कहा जा चुका है, नैतिकता के दोहरे मापदण्ड (Double Standard of Morality) का पालन करती है। ध्याण्टी के रूप में अपने पिता के गांव में वह अपनी इच्छानुसार गांव के उन तरुणों के साथ, जो उसकी रुधिर सम्बन्धी सीमा में नहीं आते हैं यौन सम्बन्ध स्थापित कर सकती है। जो पुरुष जितना ही तरुण होता है, उसके लिए रूमानीपन के जीवन की उतनी ही गुंजाइश रहती है। यहां के सामाजिक जीवन में अनेक ऐसे पर्व और त्यौहार प्राप्त हैं जब तरुण स्त्रियां अपने मायके चली जाती हैं और वहां महीनों रहती हैं। सम्मिलित स्त्रियों से उत्पन्न सन्तान भी सम्मिलित समझी जाती है। अतः, सन्तान को लेकर उठने वाले वमनस्य का भी यहां के पारिवारिक सम्बन्धों में अभाव है। यहां भी पारिवारिक अर्थों में परिवार विभाजन अवाञ्छनीय समझा जाता है। भ्रातृक बहुपतित्व और उसमें निहित लेविरेट विवाह (Leviratic Marriage) के कारण स्त्री के लिए वैधव्य का प्रश्न ही नहीं उठता है और यदि कोई स्त्री कर्ता के मरने पर उसके छोटे भाई के साथ नहीं रहना चाहती है तो वह तलाक देकर दूसरी जगह अपना विवाह कर लेता है।

कर्ता परिवार का स्वामी अवश्य है किन्तु वह निरंकुश नहीं है क्योंकि एक ओर, परिवार में जन्मे पुरुषों अविवाहित लड़कियों और परिवार की विधवा अथवा परित्यक्ता लड़कियों का भरण पोषण पाने का अधिकार है और दूसरी ओर यदि कर्ता की पीढ़ी के सहभागी सब सम्मति से चाहें तो परिवार का बटवारा हो सकता है। यहां बटवारा न तो मिताक्षरा प्रणाली के अनुसार होता है और न दायभाग प्रणाली के अनुसार ही। यहां बटवारा होता है सौतिया बांट की प्रथा के अनुसार। इस प्रथा के अनुसार यदि कर्ता की पीढ़ी में पांच भाई हैं और उनमें से तीन एक मां की सन्तान हैं और दो दूसरी मां की तो परिवार की सम्पत्ति, जिसमें उन पांच पुरुषों की सम्मिलित स्त्रियां भी शामिल हैं दो बराबर बराबर हिस्सों में बंट जायगा। उनमें से एक हिस्सा उन तीन पुरुषों को मिलेगा जो एक स्त्री की सन्तान हैं और दूसरा उन तीन पुरुषों का जो दूसरी मां की सन्तान हैं। इसप्रकार,

यहाँ एक संयुक्त परिवार बटवारा होने पर, कई संयुक्त परिवारों में बट जाता है। यहाँ जीवित शेष उत्तराधिकार नियम (The Rule of Survivorship Succession) और परिवार में जन्मजात हिताधिकार का नियम एक ओर पितृवंशी समानताधिकार नियम और दूसरी ओर मातृवंशी परम्पराओं में समाया हुआ है। किन्तु, फिर भी पारिवारिक अविभाज्यता का आदर्श और आवश्यकता यहाँ के पारिवारिक जीवन का एक अभिन्न अंग है।

प्रोफेसर एम० एन० श्रीनिवास के अध्ययन के अनुसार, कुर्ग निवासियों में, जो पितृवंशी (Patrilineal) और पितृस्थानी (Patrilocal) संयुक्त-परिवार पाया जाता है उसे स्थानीय भाषा में ओक्का (Okka) कहते हैं। कुर्ग समाज में, जो व्यक्ति किसी ओक्का से सम्बन्धित नहीं होता है, उसका कोई सामाजिक अस्तित्व ही नहीं है। अवैध विवाह से उत्पन्न सन्तान के लिए यह आवश्यक होता है, और उससे यह आशा भी की जाती है, कि वह अपनी माँ या पिता के ओक्का की सदस्यता प्राप्त कर ले। समाज के वयोवृद्ध पुरुष इस दिशा में उसकी सहायता भी करते हैं। पहले, एक ओक्का में एक ही पितृवंश से सम्बन्धित पुरुषों के लड़के साथ साथ जानवर चराते थे, चिड़ियों का शिकार करते थे और खेलते थे तथा वयस्क होने पर ओक्का के मुखिया के नेतृत्व में साथ साथ पैतृक जायदाद की देखभाल और उसका उपयोग करते थे क्योंकि पहले ओक्का की स्थिर पैतृक सम्पत्ति अविभाज्य समझी जाती थी। किन्तु आज ओक्का की सम्पत्ति अविभाज्य नहीं मानी जाती है। फिर भी पैतृक गृह और जायदाद पवित्र माने जाते हैं और, आज भी विवाह और अन्त्येष्टि क्रिया जैसे सामाजिक कृत्यों को पैतृक गृह में सम्पन्न करना शुभ माना जाता है। आज भी, कावेरी स्नान जैसे वार्षिक त्योहारों के अवसर पर, एक ओक्का के सदस्य एक साथ एकत्र होते हैं।

विवाह के बाद स्त्रियाँ अपने पैतृक ओक्का को छोड़कर पति के ओक्का की सदस्य हो जाती हैं, किन्तु, फिर भी विधवा अथवा परित्यक्ता होने पर, उन्हें अपने पैतृक ओक्का में शरण मिलती है। यदि कोई स्त्री किसी निम्नजाति के सदस्य से यौन-सम्बन्ध स्थापित करे तो उसे पैतृक ओक्का में शरण नहीं मिलती है। एक ओक्का के सदस्य एक साथ रहते हैं और सहकारिता से कार्य करते हैं। ओक्का, वस्तुतः काल के नैरन्तर्य में निहित एक सन्तति (Continuum) है और किसी भी समय विशेष में उसमें पाये जाने वाले व्यक्ति केवल उस सन्तति पर बिन्दुमात्र हैं। ओक्का को, अनेक स्थानीय कारणों से सन्तति का रूप मिलता रहा है। इनमें सबसे प्रधान कारक रहे हैं भू-सम्पत्ति और स्थानीय दास प्रथा। प्रत्येक ओक्का का मुख्य आधार है पैतृक भू-सम्पत्ति और प्रत्येक ओक्का में निम्नजाति के सदस्य वंश ही दास के समान काम करते रहे हैं जैसे वे उस परिवार के हों। ओक्का का पवित्र मान

पर उसे अविभाज्य रखने की सामाजिक भावना दूसरा कारण है। ओक्का को अविभाज्य और स्थायी रखने के लिए दो संरचनात्मक साधनों का आश्रय लिया गया है। लेविरेट विवाह (Levirate Unions) के द्वारा मृत पुरुष की विधवा और उसकी सन्तान को ओक्का ही में रखने का विधान किया गया है और मामा की बेटी की कन्या (मातुल कन्या) और पिता की बहिन की कन्या से विवाह को प्राथमिकता देकर, एक ओर ओक्का के संगठन को मजबूत करने का विधान किया गया है और, दूसरी ओर सास बहू में स्वभावतः उत्पन्न होने वाले तनाव को रोकने का प्रयास। ग्राम वर्जित मरिज के कारण पति पत्नी में सामञ्जस्य की सम्भावना बढ़ जाती है क्योंकि ग्राम वर्जित (Cross Cousins) एक दूसरे से बचपन से ही परिचित होते हैं। इस विवाह प्रकार में जो आज भाई की या पति की बहिन की कन्या है वह एक भावी बहू भी है। अतः, इस विवाह प्रकार के द्वारा सास बहू के सम्बन्धों को अधिक सामञ्जस्य मिलता है और उससे ओक्का को अधिक स्थायित्व और संगठन मिलता है। ओक्का में ब्याह कर आने वाली स्त्रियाँ अलग अलग घरों से आती हैं और पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के सम्बन्धों में सामञ्जस्य की अधिक आवश्यकता है[1]। प्रत्येक ओक्का में एक देवस्थान (नात) होता है जहाँ एक छोटे से चबूतरे पर नाग देवता के प्रतीक कुछ पत्थर रखे रहते हैं। यह देवस्थान ओक्का की एकता का प्रतीक है[2]।

इल्लम

मालाबार निवासी नम्बूद्री ब्राह्मणों में जो परिवार प्रकार पाया जाता है उसे स्थानीय भाषा में इल्लम की संज्ञा दी जाती है। इल्लम भी एक पितृवंशी (Patrilineal) पितृसत्तात्मक (Patriarchal) और पितृस्थानी (Patrilocal) संयुक्त परिवार है। अनेक संरचनात्मक साधनों और प्रथाओं के माध्यम से इल्लम को संयुक्त बनाये रखने की प्रवृत्ति रही है। इल्लम भी, यद्यपि तथा सामाजिक दृष्टिकोण से एक हिन्दू संयुक्त परिवार है किन्तु मिताक्षरा और दाय भाग प्रणालियों से कुछ बातों में भिन्न है—एक मिताक्षरा और दायभाग की अपेक्षा इल्लम अधिक अविभाज्य और स्थायी है और दूसरे इल्लम में स्त्री को अपेक्षाकृत अधिक अधिकार मिले हुए हैं। इन कारणों ने एक साथ इल्लम की अविभाज्यता को प्रोत्साहन दिया है। मिताक्षरा और दायभाग परिवारों की भाँति

---

1 स्त्रियों के सम्बन्धों में सामञ्जस्य ओक्का की एक आधारभूत आवश्यकता है। ओक्का की एकता स्त्रियों के ही कारण नष्ट हो सकती है। कुर्ग की एक स्थानीय कहावत के अनुसार, 'एक हजार मर्द एक साथ रह सकते हैं किन्तु चार स्तन (Breasts) नहीं'।

2 श्रीनिवास एम० एन०, रिलीजन एण्ड सोसायटी एमाग दि कुर्गस आफ साउथ इण्डिया, अध्याय 5

इल्लम में भी वयोवृद्ध पुरुष पीढ़ी का वयोवृद्ध व्यक्ति परिवार का कर्ता होता है जिसे परिवार के अन्य सदस्यों को भरण पोषण का अधिकार मिला हुआ है। बिना सभी सदस्यों की सर्वसम्मति के, कर्ता न तो परिवार की सम्पत्ति या उसके किसी अंश को बेच सकता है और न गिरवी रख सकता है। इल्लम के किसी सदस्य के ऋण का भार उसकी सन्तान पर न पड़ कर इल्लम पर सम्मिलित रूप से पड़ता है जिससे इल्लम की संयुक्तता को प्रोत्साहन मिला है।

नम्बूद्री विवाह प्रणाली इल्लम की संयुक्तता का एक मुख्य आधार रही है। नम्बूद्रियों के परिवार में एक पीढ़ी के भाइयों में केवल बड़े भाई को ही नम्बूद्री लड़की से विवाह करने की अनुमति रही है और शेष भाइयों का नायरों में। नायर मातवंशी (Matrilineal), मातसत्तात्मक (Matriarchal) और मातस्थानी (Matrilocal) रहे हैं। उनमें विवाह के पश्चात् स्त्री अपने पति के घर न जाकर अपनी माँ के ही घर में रहती है। अतः इल्लम में उत्तराधिकार की समस्या उतनी जटिल नहीं रही है जितनी कि मिताक्षरा प्रणाली में रही है क्योंकि इल्लम में केवल कर्ता की ही सन्तान रहती है और उसमें भी ज्येष्ठ भाई ही उत्तराधिकार का अधिकारी रहता है। अनेक भाइयों की पत्नियों और उनकी सन्तानों के कारण जो वैयक्तिक स्वार्थ उत्पन्न होकर परिवार की संयुक्तता को नष्ट करते हैं उनकी इल्लम में कम सम्भावना रहती है। जौनसारी परिवार में, मातवंशी और पितवंशी परम्पराओं का सम्मिलन हुआ है किन्तु इल्लम मातवंशी और मातसत्तात्मक सामाजिक पृष्ठभूमि में एक विशिष्ट पितृवंशी और पितसत्तात्मक परिवार प्रणाली है। जौनसार की परिस्थितियों में भ्रातृक बहुपतित्व और स्त्री नैतिकता के दोहरे मापदण्ड (Double Standard of Morality for Woman) ने परिवार की संयुक्तता में योगदान दिया है तो, मालाबार में, नम्बूद्री नायर विवाह प्रणाली ने इल्लम को संयुक्त रहने में सहायता दी है।

इल्लम में जैसा पहले कहा जा चुका है कर्ता पारिवारिक सम्पत्ति को न बेच सकता है और न बन्धक रख सकता है और यदि वह ऐसा करता है तो पत्नी उसके इस कार्य को कानूनन रद्द करा सकती है और उसे प्रबन्धक के पद से भी हटवा सकती है। किन्तु यदि परिवार में विधवा के अतिरिक्त अन्य कोई पुरुष-सदस्य जीवित न बचे तो विधवा को परिवार की सम्पत्ति बेचने या गिरवी रखने का अधिकार है। निस्सन्तान विधवा को गोद लेने का अधिकार है। सर्वस्वदानम की प्रथा के अनुसार, नम्बूद्री विधवा किसी भी नम्बूद्री का स्वयं चयन कर विवाह सम्पन्न करवा सकती है कि उससे उत्पन्न पुत्र उसके इल्लम का अधिकारी और प्रबन्धक होगा। सर्वस्वदानम वस्तुतः, दत्तक पुत्र लेने का एक अन्य रूप है। कुछ भी हो इल्लम में स्त्रियों के अधिकारों ने इल्लम की अविभाज्यता और संयुक्तता को प्रोत्साहन दिया है।

पितवशी और पितसत्तात्मक सयुक्त परिवार प्रकारो के साथ-साथ भारत मे मातवशी और मातसत्तात्मक सयुक्त परिवार प्रकार भी पाय गये है। जैसा कि लगभग सार ससार म पाया गया है भारत म भी मातवशी-मातसत्तात्मक परिवारो के साथ मातस्थानी (Matrilocal) प्रथा पायी गयी है, जिसके अनुसार विवाह के बाद स्त्री को अपन पिता या माता के घर मे रहने का अधिकार मिला होता है और उसका पति याता उसके साथ रहता है या सहवास के लिये समय समय पर उसक साथ आकर रहता है। भारत म तीन प्रकार क मातृवशी और मातसत्तात्मक परिवारो का अध्ययन किया गया है—वे है मालाबार का नायरपरिवार (थारवाद) खासी-परिवार और गारा परिवार। नायर परिवार मालाबार म पाया जाता है और खासी तथा गारो परिवार आसाम म।

मातसत्तात्मक सयुक्त परिवार

जिसप्रकार पितवशी पितसत्तात्मक और पितस्थानी (Patrilocal) सयुक्त परिवार म कर्ता क भाई, वद्ध माता पिता कर्ता तथा उसके भाइ क लडक और अविवाहित कन्यायें तथा लडका क लडके रहते हैं, उसीप्रकार थारवाद म कर्ता स्त्री, उसके बहिन भाई, बहिना क लडके-लडकिया, कर्ता स्त्री के लडके लडकिया, कर्ता-स्त्री तथा उसकी बहिनों की लडकियो के लडके-लडकियां और उन लडकियो क लडके-लडकिया रहत हैं। उत्तराधिकार कर्ता-स्त्री की ज्येष्ठ लडकी को मिला हुआ होता है। इसकारण थारवाद म उत्तराधिकार मा से लडकी को मिलता है। थारवाद मे कर्ता स्त्री का ज्येष्ठ भाई या उसकी मृत्यु के बाद उसका कनिष्ठ भाई परिवार का प्रबन्धक (कानवान) होता है। थारवाद की सम्पत्ति पर वध अधिकार कर्ता-स्त्री का होता है किन्तु वास्तविक अधिकार प्रबन्धक के हाथ म रहता है। यह सही है कि थारवाद के सभी सदस्य थारवाद की सम्पत्ति मे भरण पोषण के अधिकारी होते ह किन्तु यह अधिकार तभी तक रहता है जब तक कि वे थारवाद म रहते हैं। थारवाद स बाहर रहकर भरण पोषण का अधिकार तभी मिल सकता है जब यह निश्चित हो गया हो कि कानवान का व्यवहार अनुचित है। थारवाद की सम्पत्ति स थारवाद के सदस्यो का भरण पोषण करने के कर्तव्य के सदभ म, कानवान के अधिकार और स्थिति सर्वोपरि हो जाते हैं। थारवाद म कानवान की भूमिका वस्तुत एक निरकुश शासक की भूमिका रही है। जसा कि मिताक्षरा प्रणाली म ह कोई एक सदस्य थारवाद की सम्पत्ति स अपने हिस्से को अलग करने की माग नहीं कर सकता है। थारवाद की सम्पत्ति का, सिद्धान्तत बटवारा हो सकता है किन्तु सभी सदस्यो की सम्मति स। कानवान थारवाद की अविभाज्यता की ओर प्रेरित रहता है और इसकारण बहुधा थारवाद म सवसम्मति से विभाजन की माग नहीं आती है क्योकि कोई भी एक सदस्य जो कानवान के पक्ष म है, विभाजन की माग को रोक सकता है। साथ ही साथ एक प्रबन्धक के रूप में बिना सभी सदस्यों की

लिखित अथवा अलिखित अनुमति के, कारनवान न तो थारवाद की सम्पत्ति को बेच सकता है, न उसे गिरवी रख सकता है और न दान कर सकता है। इस नियम का उल्लंघन करने पर, कारनवान को उसके पद से पदच्युत किया जा सकता है। अत, यह कहा जा सकता है कि कारनवान के पद, उसके व्यवहार तथा अधिकारों पर लगी हुयी रुकावटों ने थारवाद की संयुक्तता को बनाये रखा है।

वास्तव में, थारवाद की संयुक्तता को बल मिलता रहा है थारवाद की सरंचना से। थारवाद की संरचना में सास बहू देवरानी जिठानी देवर भौजाई, ननद भौजाई जैसे तनावकारी और परिवार विभाजक सम्बन्ध और सम्बन्धी नहीं पाये जाते हैं क्योंकि विवाह के पश्चात् प्रत्येक स्त्री अपने मां के ही घर में रहती है और प्रत्येक पुरुष को अपनी संतान के स्थान पर, अपनी बहिन अथवा बहिनों की संतान की देखभाल करनी पड़ती है। थारवाद के सदस्यों में भाईबहिन, मामा (मां का भाई)—भानजा (बहिन का लड़का)—भानजी (बहिन की लड़की) मौसी (मां की बहिन)—भानजा भानजी (बहिन के लड़के-लड़की), नानी (मां की मां)—नाती (लड़की का लड़का)—नातिन (लड़की की लड़की) के ही सम्बन्ध पाए जाते हैं। इन सम्बन्धों में तनाव का कम स्थान होता है। वास्तव में यदि देखा जाय तो, थारवाद का मुख्य आधार हैं क्रमशः वृद्धतम पीढ़ी के जीवित भाई-बहिन जिनके सम्बन्धों में अधिक सामञ्जस्य पाया जाता है और जिससे थारवाद की संयुक्तता बनी रहती है।

थारवाद अपेक्षाकृत, एक अधिक शक्तिशाली संयुक्त परिवार रहा है किन्तु, फिर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि वह 'विभाजन-प्रक्रिया' से परे रहा है। परम्परानुसार, आकार में आवश्यकता से अधिक बढ़कर दुर्वाह्य होने पर थारवाद तावझी (Tavazhi) कही जाने वाली, छोटी-छोटी इकाइयों में बंट जाता है। तावझी उन्नीस सौ बत्तीस के दि मद्रास मरुमक्कथयम एक्ट के अनुसार एक स्त्री से सम्बन्धित है और, इस दृष्टिकोण से तावझी एक स्त्री, उसकी संतान और उसकी मातृवंशी शाखा के क्रमागत वंशजों से मिलकर बना हुआ एक मातृवंशी परिवार है। थारवाद तावझियों में बंटते रहे हैं और तावझियां कालान्तर में बढ़कर थारवाद का रूप लेती रही हैं। पहले तावझी का अपने जनक थारवाद से सम्बन्ध बना रहता था क्योंकि प्रत्येक तावझी अपने जनक थारवाद पर निर्भर करती थी। इधर हाल में बने कानून थारवाद में तावझी की उत्पत्ति और विघटन में सहायक हो रहे हैं। पहले थारवाद का कोई भी सदस्य अपनी स्वोपार्जित सम्पत्ति का अपने जीवनकाल में इच्छानुसार व्यय कर सकता था किन्तु, उसकी मृत्यु के बाद उसकी शेष सम्पत्ति थारवाद की सम्पत्ति में मिल जाती थी। किन्तु आज वर्तमान विधि के अनुसार, एक थारवाद के किसी भी सदस्य की स्वोपार्जित सम्पत्ति उसके समीपस्थ वंशजों को मिलती है, जिसके कारण तावझी की नींव दृढ़ हो गयी है और उसके संगठन तथा विघटन की सम्भावना पहले की अपेक्षा कई गुनी बढ़ गयी है। तावझी के

अस्तित्व में आने पर, पैतृक थारवाद से उसके सदस्यों के वंशज सम्बन्ध बने रहते हैं किन्तु, साम्पत्तिक सम्बन्ध और अधिकार समाप्त हो जाते हैं। वंशज सम्बन्धों के ही कारण एक तावजी के सदस्य अपने को पैतृक थारवाद का सदस्य मानते हैं और उसके बाहर विवाह करते हैं। अभी कि परम्परा रही है आज भी अपने पैतृक थारवाद के किसी सदस्य के निधन पर तावजी के सदस्य चौदह दिन तक अपने को अशुद्ध मानते हैं।

खासी और गारो मातृवंशी परिवार संगठन भारत के उत्तरी पूर्वी भाग (आसाम) में पाये जाते हैं और वे भारत के दक्षिण पश्चिम (मालाबार) में पाये जाने वाले मातृवंशी परिवार संगठन से भिन्न हैं। खासी परिवार तीन या चार पीढ़ी के सदस्यों का एक छोटा संयुक्त परिवार होता है। खासी परिवार मातृवंशी और मातृस्थानी (Matrilocal) है और उसमें मातृवंशी उत्तराधिकार के नियम का पालन होता है। खासी परिवार में मातृवंशी उत्तराधिकार की क्रमागतता उल्टी चलती है क्योंकि खासी परिवार में सबसे छोटी लड़की परिवार की अभिरक्षक (Custodian) समझी जाती है। इसकारण, वही प्रथम उत्तराधिकारिणी समझी जाती है। यदि कर्ता स्त्री के सन्तान न हो तो उत्तराधिकार उनसे छोटी बहिन को मिलता है और यदि वह भी निस्सन्तान मरे जाय तो उत्तराधिकार उससे छोटी बहिन को मिलेगा। यदि कर्ता स्त्री की बहिन मर चुकी हो कर्ता स्त्री निस्सन्तान हो और यदि उसकी बहिन की सन्तान हो तो उत्तराधिकार कर्ता-स्त्री की बहिन की लड़की को मिलता है। बटवारे की स्थिति में परिवार गृह (Family House) सबसे छोटी लड़की को मिलता है और परिवार के रत्नाभूषणों के साथ-साथ पारिवारिक सम्पत्ति का एक बड़ा अंश भी मिलता है क्योंकि खासी परिवार प्रणाली में गृह परिवार के सदस्यों का वासस्थान होने के साथ साथ एक सम्मिलित पूजा-स्थान और परिवार के मृत सदस्यों की अस्थियों को गाड़ने का स्थान (Common Sepulchre) भी है। वास्तव में परिवार धर्म (The Family Religion) में भाग लेना और सम्मिलित गाड़ने के स्थान (Common Sepulchre) में परिवार-सदस्य की अस्थियों को गाड़ा जाना दो ऐसे कृत्य हैं जो परिवार की संयुक्तता को बनाये रखते हैं। स्त्री-कर्ता के मरने पर उसकी सबसे छोटी पुत्री ही उसका दाह संस्कार करती है और उसकी अस्थियों को परिवार के कब्र-स्थान (Sepulchre) में गाड़ देती है। खासी-परिवार पर मातृसत्तात्मकता का यहाँ तक प्राधान्य है कि पुरुष जो कुछ भी कमाता है वह या तो उसकी माँ को मिलता है या उसकी बहिन को या उसकी माँ के स्त्री वंशजों को।

गारो परिवार भी मातृवंशी (Matrilineal) है और गारो लोगों में भी मातृस्थानीयता (Matrilocal Residence) की प्रथा है। उत्तराधिकार स्त्री से स्त्री को चलता है किन्तु, गारो परिवार खासी तथा नायर परिवार से भिन्न है।

गारो परिवार म, माता पिता अपनी पुत्रियो म से उत्तराधिकारिणी पुत्री को चुनकर उन नामाङ्कन करते है। यह आवश्यक नहीं कि उत्तराधिकारिणी स्त्री सबसे छोटी या सबसे बडा पुत्री हो। वह कोई भी हो सकती है यद्यपि, साधारणत बडी पुत्री को उत्तराधिकारिणी नही घोषित किया जाता है। उत्तराधिकारिणी घोषित की हुयी पुत्री के अलावा अन्य पुत्रियां तब तक परिवार गृह म रहती है जब तक कि उनका विवाह नही हो जाता है। विवाह होने पर, अपने मायके के ही गाव मे वे माता-पिता द्वारा दी हुयी भूमि पर अलग घर बसाती है। उत्तराधिकारिणी पुत्री को माता पिता के दाह संस्कार का सारा भार उठाना पडता है। यदि किसी परिवार म पुत्रियां न हो तो कर्ता स्त्री अपनी बहिन की किसी लडकी को गोद लेती है और यदि बहिन न हो या बहिन की कोई पुत्री न हो तो विस्तृत परिवार (Extended Family) म किसी भी सम्बन्धी की पुत्री को गोद ले लेती है[1]।

जैसाकि इस सर्वेक्षण म ज्ञात होता है भारत म परिवार की आधारभूत सामाजिक संरचना संयुक्त परिवार की है यद्यपि जैसाकि दायभाग और मिताक्षरा प्रणालियो म है कही परिवार की संयुक्तता द्विपक्षीय सम्बन्धपद (Bilateral Kinship) की स्वीकृति पर आधारित है और कही एकपक्षीय सम्बन्धपद (Unilateral Kinship) पर। अपने आधारभूत प्रकारों मे एक ओर संयुक्त परिवार मातृवंशी है और दूसरी ओर पितृवंशी। श्रीमती कर्वे ने पितृवंशी संयुक्त परिवार को उत्तरी प्रकार (The Northern Type) कहा जाता है और मातृवंशी परिवार को दक्षिणी-प्रकार (The Southern Type)[2] किन्तु 'उत्तरी प्रकार तथा दक्षिणी प्रकार' की संज्ञाओ से ऐसा ध्वनित होता है कि मानो उत्तरी भारत म पितृवंशी प्रकार ही पाया जाता है और दक्षिणी भारत मे केवल मातृवंशी प्रकार। यह निर्विवाद है कि भारत म संयुक्त परिवार का एक रूप मातृवंशी है और दूसरा पितृवंशी और उत्तरी भारत म केवल पितृवंशी प्रणाली ही नही पायी जाती है और न दक्षिणी भारत म केवल मातृवंशी प्रणाली।

सामान्य विशेषतायें

भारत म परिवार प्रकारो के इस सर्वेक्षण से यह भी स्पष्ट होता है कि पितृवंशी परिवार प्रणाली म परिवार का कर्ता वयोवृद्ध पुरुष पीढी का सबसे वयोवृद्ध पुरुष होता है उत्तराधिकार पुरुष म पुरुष को चलता है, वंशावली पिता की वंश-परम्परा म चलती है और विवाह हो जाने के बाद स्त्री को अपने पिता का घर छोड कर पति के घर म जाकर रहना पडता है। पितृवंशी परिवार, सामान्यत लेविरेट-विवाहो म सम्बन्धित है क्योकि उससे परिवार के किसी पुरुष-सदस्य की मृत्यु के बाद उसकी विधवा को उसके पति-वंश म ही रहने का अवसर मिलता है और उसकी सन्तान की पितृवंशी वंशावली का ह्रास नहीं होता है। पितृवंशी संयुक्त परिवार मे

1 कपाडिया, के० एम० मैरिज एण्ड फमिली इन इंडिया पृष्ठ 239 243
2 कर्वे इरावती किनशिप आर्गनाइजेशन इन इंडिया पृष्ठ 12

दो प्रवृत्तियां पायी गई है—एक परिवार को संयुक्त बनाए रखने की ओर, दूसरी, संयुक्त परिवार म विभाजन (Fission) और पुनर्संगठन (Formation) की। पितवंशी परिवार की अर्हायें परिवार का संयुक्त बनाए रखने पर जोर देती हैं। पौराणिक कथाओं द्वारा प्रतिपादित आदर्श भी इसी पर जोर देते हैं। पुत्र के लिए पिता (कर्ता) ही सर्वोपरि है। अपने पिता के लिए और परिवार की रक्षा के लिए भीष्म अविवाहित रहे और राम ने चौदह वर्ष तक वनवास किया। जसाकि महाभारत म युधिष्ठिर के प्रति उनके भाइयों के व्यवहार से स्पष्ट है यदि बडा भाई परिवार का कर्ता है तो वह पितृ तुल्य है। बडा भाई, जनसाधारण की मान्यतानुसार पितवत माना जाता है और रामायण मे राम के प्रति उनके देवर कस्मात द्वितीयो वर। किन्तु जिन पौराणिक कथाओं के आधार पर परिवार की संयुक्तता बनाए रखने के आदर्श का प्रतिपादन किया गया है उन्हीं से यह भी स्पष्ट होता है कि ऐसे ही वातावरण मे पले पितवंशी पुरुषों के लिए संयुक्तता बनाए रखना आसान है और विभिन्न परिवारों स्थानों तथा विभिन्न पर्यावरणों म पली स्त्रियों के लिए परिवार की संयुक्तता बनाए रखना कठिन है। पितवंशी संयुक्त परिवार की यही कहानी रही है। पुरुषों ने समान पर्यावरण और पितवंश के कारण परिवार की संयुक्तता को बनाए रखने का प्रयास किया है जबकि विभिन्न स्थानों पर्यावरणों तथा परिवारों से आई हुयी उनकी स्त्रियां परस्पर सामंजस्य न रख पाने के कारण संयुक्तता के विभाजन का कारण रही हैं। कोई आश्चर्य नहीं यदि पितवंशी परिवार वाले क्षेत्रों म पाए जाने वाले लोकगीतों और मुहावरों मे सौत-सौत सास बहू ननद भौजाई और देवरानी जेठानी के सम्बन्धों म पायी जाने वाली प्रतिस्पर्धा मानसिक संघर्ष तथा तनाव की विषयवस्तु का अधिक वर्णन मिलता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि स्त्री संयुक्त परिवार के विभाजन का कारण है। स्त्री संयुक्त परिवार के विभाजन और पुनर्गठन दोनों का कारण रही है। बहू के रूप म स्त्री संयुक्त परिवार के प्रति विद्रोह करती रही है किन्तु वयोवृद्ध मां और सासु के रूप म एक नए संयुक्त परिवार का संयोजन क्योंकि कोई भी वृद्धा नहीं चाहती कि उसका पुत्र अपनी पत्नी के साथ एक अलग परिवार बसाए[1]।

मातृवंशी परिवारों मे कर्ता का अधिक पद परिवार की जीवित वयोवृद्ध पौढ़ा की स्त्री निहित होता है किन्तु कर्ता के अधिकारों का वास्तविक प्रयोग उस पुरुष के हाथ म है, है जो परम्परानुसार परिवार प्रबन्धक के पद पर काम करता है। मानवंशी परिवार म वंशावली माता के नाम पर चलती है और सामान्यत विवाह के बाद स्त्री अपने पति के साथ न रह कर अपनी मां के ही घर म रहती है। इस कारण मानव ी परिव र म पिता माता सन्तान प्रकार का परिवार कलाप (Family

1 डुब श्यामाचरण इंडिय न विलेज

Pattern) नही पाया जाता है। परिवार के सदस्या के पालन पोषण का भार प्रव धक का काय करन वाले पुरुष के ऊपर रहता है। प्रब धक का पद सामा यत, कर्ता स्त्री के भाई का मिलता है। उत्तराधिकार पिता से पुत्र के स्थान पर, मा स पुत्री को चलता है। यही कारण है कि मातवशी परिवार की सरचना सामा यत मातसत्ता-त्मक हाती है। पिता पुत्र भाई भाई, सास-बहू, देवर-भौजाई ननद भौजाई और देवरानी जिठानी जस तनावकारी और प्रतिस्पर्द्धी सम्ब ध मातवशी परिवार म नही पाए जाते हैं जिसके कारण मातवशी परिवारो की सयुक्तता अधिक स्थायी होती है। श्रीमती कर्वे के अनुसार पितवशी परिवार की अपक्षा, मातवशी परिवार अधिक सुगठित और अविभाज्य रहा है क्योकि मातवशी परिवार म वे आन्तरिक सघष, तनाव और न्वाव नही रहते हैं जो साधारणत पितवशी परिवार-सरचना म पाए जात हैं जिनके कारण पितवशी परिवार एक सतत विभाजन-सयोजन प्रक्रिया म रहा है। जहाँ मातवशी परिवार सरचना पायी जाती है वहा की कहावता और लोकगीतों म भाई भाई, सौत सौत सास बहू ननद भौजाइ और दवरानी जिठानी के प्रतिस्पर्द्धी व्यवहार, दृष्टिकाण और सम्ब धो क वणन अनुपस्थित है जा इस बात का द्योतक है कि पितवशी परिवार की अपेक्षा मातवशी परिवार की सरचना अधिक सयुक्त तथा सुगठित रही है।

पिछल सर्वेक्षण तथा विश्लपण से भारतीय सयुक्त परिवार की मुख्य-मुख्य विशपतायें भी स्पष्ट हाती हैं। सयुक्त परिवार एक विशष प्रकार का सम्ब धी समूह (Kin Group) है जिसके सदस्य याता मातवशावली मे हाते हैं या पितवशावली मे। सयुक्त परिवार एक कालगत सन्तति (Continuum in Time) है। क्योकि भारतीय परिवार सम्ब धी अहाँओ क अनुसार परिवार पित और पुत्र दानो स मिलकर बनता है। भारतीय परम्परा मे परिवार जीवन का एक साधन मात्र है। साध्य है धम, अथ और काम क समन्वय स मिलने वाला मोक्ष। गृहस्थाश्रम कवल एक सक्रमण अवस्था (Phase of Transition) है। व्यक्ति गृहस्थाश्रम म इसीलिए प्रवेश करता है कि वह उन सारी विधियो का पालन कर सके जिनके द्वारा कुल का परिरक्षण हो सक और उसका नरतय बना रह। पचमहायना का सम्पन्न करना ग्रही का मुख्य धम है। अत, परिवार सम्ब धी-समूह हाने के साथ-साथ पचमहायना को सम्प न करन तथा कुल परिरक्षण और कुल नरतय को बनाए रखन का एक साधन है। क्सीकारण पचमहायनो की विधिया (Rites) परिवार का एक अग बन गयी है।[1] किन्तु, पच महायना की विधियों म स कवल पितृ-यन और देव यन की विधियाँ सयुक्त परिवार का मुख्य आधार रही हैं। प्रत्यक सयुक्त परिवार ... स्थान हाता है जहा जन्म, विवाह और मत्यु क अवसरो पर, ...

1 प्रभू पी० एच० हिंदू सोशल आगनाइजेशन पृष्ठ ० दसाओं

आर्थिक आदान प्रदान की परम्परा के द्वारा, उन समूहों म मिला रहा है जिन्हे ग्राम और जाति की सना दी गई है[1]।

भारतीय जीवन म सयुक्त परिवार एक प्रकार का विशिष्ट सहवासी समुदाय रहा है जिससे व्यक्ति की लगभग सभी शरीरी और सास्कृतिक आवश्यकताओ की पूर्ति होती रही है। सयुक्त परिवार म जन्म लेने वाले व्यक्ति को अपनी ही पीढी के साथी मिल जाते हैं क्योंकि सयुक्त परिवार मे भाइया या बहिनो के बच्चे एक साथ पलते हैं। शिशु अपनी माता पर ही नही निभर रहता है। शिशु के पिता की मा, बहिन और भाई की स्त्री भी उसकी दखभाल करती हैं। सयुक्त परिवार म, शिशु बहुधा अपनी दादी (पिता की मा) या बाबा (पिता का पिता) द्वारा पाला पोसा जाता है विशेषतया उस समय जब उसके अन्य भाई या बहिन हो जाते हैं। उत्तरी भारत मे परिवार म, अपने बच्चे का ही लाड प्यार करना ठीक नही समझा जाता है और आज भी एसे तरुण पिताओ की कमी नही है जो अपने माता, पिता और बडे भाई के सामने अपने बच्चे का लाड प्यार करते शरमाते हैं। सयुक्त परिवार मे शिशु या बालक अपने ही मा-बाप पर नही निभर रहता है। परिवार के अन्य बच्चो के साथ उसका मुण्डन और जनेऊ होता है। सयुक्त परिवार म वद्धा को भी वद्धावस्था दूभर नही लगती है।

सयुक्त परिवार रूपी सहवासी समुदाय म दो अलग अलग ससार हैं—एक, पुरुषा का ससार और दूसरा नारियो का ससार। ब्याह कर आने पर, पितवशी सयुक्त परिवार म स्त्री का एक नया सामञ्जस्य स्थापित करना पडता है पर वह सामञ्जस्य जसाकि आधुनिक योरोपीय परिवार में होता है पति क प्रति एक रागात्मक सामञ्जस्य मात्र नही है। इस सामञ्जस्य का एक रूप है सास क साथ सामञ्जस्य दूसरा ननद (पति की बहिन) के साथ सामञ्जस्य, तीसरा पति के भाइयो की स्त्रियो क साथ सामञ्जस्य चौथा पति क पिता और उसके भाइयो क साथ सामञ्जस्य और, पाचवा, पति के भाइया के साथ सामञ्जस्य। स्त्री का अधिकतर समय परिवार की स्त्रिया के ही साथ बीतता है। बीमारी और प्रसन के समय परिवार की स्त्रिया ही उसकी दख भाल करती है। पति पत्नी मिलत हैं पर केवल रात्रि म थोडे समय के लिए। पति पत्नी के सहवास पर भी परिवार का नियमन रहता है। पति का अधिकतर समय पुरुष-ससार म व्यतीत होता है। पितृवशी सयुक्त परिवार म पति पत्नी का सम्बन्ध ही प्राथमिक नहा है। मातवशी परिवार म पति-पत्नी का सम्बन्ध तो एकदम गौण रहता है।

सयुक्त परिवार म आयु का प्राथमिकता और सत्ता मिलती है। सयुक्त परिवार की सरचना प्राधिकारवादी (Authoritarian) रही है। इस कारण, सयुक्त

---

1 कर्वे इरावती किनशिप आगनाइजेशन पृष्ठ 11

परिवार मे असतोप, जटिलता और कटुता भी रही ह। किन्तु, साथ ही-साथ उसम आकर्षक तत्व भी रहे हैं। पितवंशी सयुक्त परिवार म देवर भाजाई, ननद भौजाई, देवरानी जेठानी और साले बहनोई क परिहास सम्बन्ध (Joking Relationships) भी रह हैं। सयुक्त परिवार म हमेशा कुछ न कुछ होता रहता है। आज यदि विवाह है ता कल उपनयन सस्कार। आज यदि किसी का जन्म हुआ ह तो कल किसी की मत्यु। आज यदि परिवार की स्त्रियो के भाई उन्ह उनके मायके ले जाने के लिए आए हैं ता कल परिवार की विवाहित लड़कियां अपनी ससुराल स आ रही हैं। आज यदि कोई पर्व है ता कल कोई त्योहार। सयुक्त परिवार का जीवन एक ओर, सत्ता और अनुशासन का जीवन है तो दूसरी ओर मुक्तता और आशाओ का। उसम एक ओर हास परिहास है ता, दूसरी ओर सघर्ष एक ओर, वाद विवाद का जीवन है ता दूसरी आर नयी-नयी याजनाओ का[1]।

सयुक्त परिवार म व्यक्ति परिवाररूपी समष्टि का एक अग रहा है। सयुक्त परिवार और पश्चिमी व्यक्तिवाद (Western Individualism) म विराधी सामाजिक मानसिक प्रसग रह हैं। सयुक्त परिवार म व्यक्ति की सत्ता स्वतन्त्र न होकर समष्टि का एक अग रही है। प्राधिकारवादी (Authoritarian) होने के कारण, सयुक्त परिवार व्यक्तिगत उपक्रमण (Individual Initiative) का विराधी सा रहा ह। भारतीय समाज म जन्मजात सत्ता और विशेषाधिकारो का सामाजिक सूत्रपात सयुक्त परिवार स ही होता ह और जिसका चरम विकास जाति सरचना प्रणाली म हुआ ह। परिवार की सयुक्तता बनाए रखने के कारण ही सयुक्त परिवार सरचना म, एक ओर, सत्ता अनुशासन और आयु की प्राथमिकता देने की प्रथा तथा विभिन्न सदस्यो के जन्मजात विशेषाधिकारो के विचार का समावेश हुआ और दूसरी ओर एकवंशी उत्तराधिकार प्रणाली का। पितवंशी परिवार म समान पितवंशी पुरुषो का उत्तराधिकार म प्राथमिकता मिली और मातवंशी परिवार म मातवंशी स्त्रियो का उत्तराधिकार म भी, पितवंशी पुरुष पीढ़ी म आयु के अनुसार ज्येष्ठ पुरुष का प्राथमिकता मिली और मातवंशी परिवार म हर पीढ़ी की स्त्रियो म ज्येष्ठ स्त्री का। पितवंशी परिवार म स्त्रियो का स्थान गौण हा गया। स्त्री का न ता पिता की सम्पत्ति म अधिक उत्तराधिकार मिला और न पति के परिवार की सम्पत्ति म—उन्हें केवल भरण पोषण का अधिकार मिला। उसी प्रकार, मातवंशी परिवार म, पुरुष का स्थान गौण हो गया। इन परिस्थिति के कई परिणाम निकले। इनसे स्त्री पुरुष की सामाजिक स्थिति और प्रतिष्ठा म जन्मजात असमानता की भावना का अभ्युदय हुआ समाज म जन्मजात विशेषाधिकारो के प्रति लालसा उत्पन्न हुई और चूंकि जन्मजात विशेषाधिकार सभी को नहीं मिल सकते थे इसकारण भाग्यवादी दृष्टिकोण

1 कर्वे, इरावती किनशिप आर्गनाइजेशन इन इण्डिया पाठ 14

आर्थिक आदान प्रदान की परम्परा के द्वारा, उन समूहों में मिल रहा है जिन्हे ग्राम और जाति की सज्ञा दी गई है[1]।

भारतीय जीवन में सयुक्त परिवार एक प्रकार का विशिष्ट सहवासी समुदाय रहा है जिससे व्यक्ति की लगभग सभी शरीरी और सास्कृतिक आवश्यकताओ की पूर्ति होती रही है। सयुक्त परिवार में जन्म लेने वाले व्यक्ति को अपनी ही पीढी के साथी मिल जाते हैं क्योंकि सयुक्त परिवार में भाइयो या बहिनो के बच्चे एक साथ पलते हैं। शिशु अपनी माता पर ही नही निभर रहता है। शिशु के पिता की मा, बहिन और भाई की स्त्री भी उसकी देखभाल करती हैं। सयुक्त परिवार मे, शिशु बहुधा अपनी दादी (पिता की मा) या बाबा (पिता का पिता) द्वारा पाला पोसा जाता है विशेषतया उस समय, जब उसके अन्य भाई या बहिन हो जाते हैं। उत्तरी भारत मे, परिवार मे, अपने बच्चे का ही लाड प्यार करना ठीक नही समझा जाता है और आज भी ऐसे तरुण पिताओ की कमी नही है जो अपने माता, पिता और बडे भाई के सामने अपने बच्चे का लाड-प्यार करते शरमाते हैं। सयुक्त परिवार में शिशु या बालक अपने ही मा बाप पर नही निभर रहता है। परिवार के अन्य बच्चो के साथ उसका मुण्डन और जनेऊ होता है। सयुक्त परिवार में वृद्धो को भी वृद्धावस्था दूभर नही लगती है।

सयुक्त परिवार रूपी सहवासी समुदाय में दो अलग अलग ससार हैं—एक पुरुषो का ससार और दूसरा नारियो का ससार। ब्याह कर आने पर, पितृवशी सयुक्त परिवार में स्त्री का एक नया सामञ्जस्य स्थापित करना पडता है पर वह सामञ्जस्य जबकि आधुनिक योरोपीय परिवार मे होता है पति के प्रति एक रागात्मक सामञ्जस्य मात्र नही है। इस सामञ्जस्य का एक रूप है सास के साथ सामञ्जस्य, दूसरा ननद (पति की बहिन) के साथ सामञ्जस्य, तीसरा पति के भाइयो की स्त्रियो के साथ सामञ्जस्य चौथा पति के पिता और उसके भाइयो के साथ सामञ्जस्य और पाचवा, पति के भाइयो के साथ सामञ्जस्य। स्त्री का अधिकतर समय परिवार की स्त्रियो के ही साथ बीतता है। बीमारी और प्रसव के समय परिवार की स्त्रिया ही उसकी देख भाल करती हैं। पति पत्नी मिलते हैं पर केवल रात्रि में थोडे समय के लिए। पति पत्नी के सहवास पर भी परिवार का नियमन रहता है। पति का अधिकतर समय पुरुष-ससार मे व्यतीत होता है। पितृवशी सयुक्त परिवार में पति पत्नी का सम्बन्ध ही प्राथमिक नही है। मातृवशी परिवार में पति पत्नी का सम्बन्ध तो एकदम गौण रहता है।

सयुक्त परिवार में आयु को प्राथमिकता और सत्ता मिलती है। सयुक्त परिवार की सरचना प्राधिकारवादी (Authoritarian) रही है। इस कारण, सयुक्त

---

1 कर्वे इरावती किनशिप आरगनाइजेशन पृष्ठ 14

परिवार म असतोष जटिलता और कटुता भी रही है। किन्तु साथ ही-साथ उसमे आकर्षक तत्व भी रहे है। पितवशी सयुक्त परिवार म देवर भाभाई, ननद भौजाई, देवरानी जेठानी और साले बहनोई के परिहास सम्बन्ध (Joking Relationships) भी रह हैं। सयुक्त परिवार म हमेशा कुछ न कुछ होता रहता है। आज यदि विवाह है तो कल उपनयन सस्कार। आज यदि किसी का जन्म हुआ है तो कल किसी का मत्यु। आज यदि परिवार की स्त्रियो के भाई उन्ह उनक मायके ले जाने के लिए आए है तो कल परिवार की विवाहित लडकिया अपनी सुसराल स आ रही है। आज यदि कोई पर्व है तो कल कोई त्योहार। सयुक्त परिवार का जीवन, एक ओर, सत्ता और अनुशासन का जीवन है तो दूसरी ओर, कुमुलता और आशाओ का। उसमे एक ओर, हास परिहास है तो, दूसरी ओर सघर्ष, एक ओर, वाद विवाद का जीवन है तो दूसरी ओर नयी नयी योजनाओ का[1]।

सयुक्त परिवार म व्यक्ति परिवाररूपी समष्टि का एक अग रहा है। सयुक्त परिवार और पश्चिमी व्यक्तिवाद (Western Individualism) दो विरोधी सामाजिक मानसिक प्रसग रहे है। सयुक्त परिवार म, व्यक्ति की सत्ता, स्वतन्त्र न होकर समष्टि का एक अग रही है। प्राधिकारवादी (Authoritarian) होने के कारण, सयुक्त परिवार व्यक्तिगत उपक्रमण (Individual Initiative) का विरोधी सा रहा है। भारतीय समाज मे जन्मजात सत्ता और विशेषाधिकारो का सामाजिक सूत्रपात सयुक्त परिवार से ही होता है और जिसका चरम विकास जाति सरचना प्रणाली म हुआ है। परिवार की सयुक्तता बनाए रखने के कारण ही सयुक्त परिवार सरचना म, एक ओर सत्ता, अनुशासन और आयु का प्राथमिकता देने की प्रथा तथा विभिन्न सदस्यो के जन्मजात विशेषाधिकारो के विचार का समावेश हुआ और दूसरी ओर, एकपक्षी उत्तराधिकार प्रणाली का। पितवशी परिवार म समान पितृवशी पुरुषो को उत्तराधिकार म प्राथमिकता मिली और मातवशी परिवार म मातवशी स्त्रियो को। उत्तराधिकार म भी, पितवशी पुरुष पक्ष म आयु के अनुसार ज्येष्ठ पुरुष को प्राथमिकता मिली और मातवशी परिवार म एक पीढी की स्त्रिया मे ज्येष्ठ स्त्री को। पितवशी परिवार म स्त्रियो का स्थान गौण हो गया। स्त्री को न तो पिता की सम्पत्ति म वास्तविक उत्तराधिकार मिला और न पति के परिवार की सम्पत्ति म—उन्हें केवल भरण पोषण का अधिकार मिला। इसी प्रकार मातवशी परिवार म, पुरुष का स्थान गौण हो गया। इस परिस्थिति के कई परिणाम निकले। इससे स्त्री पुरुष की सामाजिक स्थिति और प्रतिष्ठा म जन्मजात असमानता की भावना का अभ्युदय हुआ, समाज म जन्मजात विशेषाधिकारो के प्रति लालसा उत्पन्न हुई और चूकि जन्मजात विशेषाधिकार सभी को नहीं मिल सकते थे इसकारण, मानववादी दृष्टिकोण

1 कपूर, इरावती सिविलिस आर्गनाइजेशन इन इण्डिया पृष्ठ 15

का अभ्युदय हुआ। इसके दो परिणाम निकले। अधिकार सम्पन्न व्यक्ति की भूमिका में शासन और अधिकार लिप्सा के सामाजिक मनोवृत्ति का समावेश हुआ और अधिकार विहीन व्यक्ति की भूमिका में परजीवी (Parasitic) उत्तरदायित्वहीन और पराश्रित मनोवृत्ति का। संयुक्त परिवार सामाजिक सुरक्षा का कवच रहा है उसमें सामाजिक बीमा के तत्व समाए रहे हैं किन्तु साथ ही साथ, उसने अकर्मण्यता को भी प्रोत्साहित किया है। संयुक्त परिवार से मिलने वाली सुरक्षा ने यदि, असुरक्षा के भय से उत्पन्न होने वाली चिन्ता से व्यक्ति की रक्षा की है तो उसने उस सन्ताप को भी प्रोत्साहित किया है जो व्यक्ति को निरुत्साह बना देता है।

संयुक्त परिवार परिवर्तन के कारण

अंग्रेजी राज के माध्यम से पड़ने वाले योरोपीय संघात के प्रभाव से जैसे अन्य संस्थाओं का रूपान्तरण हुआ है वैसे ही संयुक्त परिवार का भी रूपान्तरण हुआ है। पिछले दो सौ वर्षों में संयुक्त परिवार की सत्यात्मकता घट गई है क्योंकि अंग्रेजी राज में होने वाले सामाजिक आर्थिक परिवर्तनों के कारण एक ओर संयुक्त परिवार का परम्परागत सामाजिक आर्थिक आधार बदला और, दूसरी ओर उसके कई पहलुओं में परिवर्तन आए। संयुक्त परिवार संरचना में प्रविष्ट होने वाली सत्यात्मकता और उसके अनेक कार्यों (Functions) में होने वाले परिवर्तनों के कारण संयुक्त परिवार के वर्तमान स्वरूप के विषय में दो प्रकार के मतों का अभ्युदय हुआ है। एक ओर यह मत प्रतिपादित किया गया है कि आज संयुक्त परिवार विघटन और विशृंखलन की प्रक्रिया में है जिसके कारण एकाकी परिवारों की संख्या बढ़ रही है और दूसरी ओर यह मत प्रतिपादित किया गया है कि संयुक्त परिवार की संरचना में विशृंखलन नहीं रूपान्तरण हुआ है जिसके कारण परिवर्तित होकर भी संयुक्त परिवार वह हो भारतीय सामाजिक संगठन का एक अंग है जैसे कि वह पहले था। हाँ यह अवश्य है कि आज संयुक्त परिवार की ऐतिहासिक सत्ता स्थापना में निहित विभाजन संधान प्रक्रिया (The Process of Fission & Formation) अधिक तीव्र हो गई है और क्योंकि योरोप में हुआ है योरोपीय सभ्यता के प्रभाव से परिवार के अनेक कार्य राज्य के हाथ में चले गए हैं और संयुक्त परिवार का नियमन जाति तथा ग्राम के न्याय से निकल कर राज्य के हाथ में चला गया है। विवाह उत्तराधिकार और तलाक सम्बन्धी अधिनियम जो भारत में राज्य द्वारा पारित किए गए हैं और राज्य द्वारा अपनाया जाने वाला परिवार-तथा बाल कल्याण कार्यक्रम (The Programme of Family and Child Welfare) इसके प्रमाण हैं।

अंग्रेजी राज्य काल में जिन परिवर्तनकारी कारकों ने संयुक्त परिवार को प्रभावित किया है वे हैं भारत का बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था और नगरीकरण औद्योगीकरण, पश्चिमी शिक्षा परिवार को प्रभावित करने वाली विधि प्रणाली और पश्चिम के व्यक्तिवादी उदारवादी विचार तथा धारणायें। यह

पहले ही लिखा जा चुका है कि अंग्रेजी राज का सबसे व्यापक प्रभाव भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था पर पड़ा जिसके कारण भारत में औद्योगीकृत पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था का विकास हुआ। पूंजीवादी व्यवस्था, जो अंग्रेजी राज के माध्यम से भारत में आई, समष्टिवादी न होकर व्यक्तिवादी है। उसका आधार है व्यक्तिवादी प्रतियोगिता (Individualistic Competition) और वह सामाजिक प्रतिष्ठा (Social Status) जो जन्मजात न होकर अर्जित होती है। पूंजीवादी औद्योगिक व्यवस्था में भूमि के स्थान पर, मुद्रा का महत्त्व बढ़ा और कृषि के स्थान पर उद्योग और व्यापार का। साथ ही साथ औद्योगीकरण के कारण नये नये बुद्धिजीवी वर्ग अस्तित्व में आए जिन्हें व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार अपना सकता है। कृषि-व्यवस्था में परिवार का एकमात्र आधार भूमि थी। सारी वर्ग संरचना कृषि व्यवस्था अभिरोपित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली (Ascribed Status System) और जाति संरचना की उच्चोच्च परम्परा (The Hierarchy of Caste Structure) के अधीन थी। ऐसी दशा में व्यक्ति के आर्थिक-सामाजिक अस्तित्व का एकमात्र साधन परिवार ही रह जाता था। पूंजीवादी औद्योगिक व्यवस्था में, भूमि के आर्थिक महत्त्व के कम होने का तात्पर्य हुआ संयुक्त परिवार के एक मुख्य आधार का कमजोर होना। अभिरोपित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली के स्थान पर, अर्जित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली (Achieved Social Status System) के विकास का अर्थ हुआ व्यक्ति के सामाजिक अस्तित्व के उस नये आधार का अभ्युदय जिस पर संयुक्त परिवार और जाति का एकाधिकार न था। परम्परागत सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा जाति और परिवार पर आधारित थी, किन्तु नयी सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली में, व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार अपने प्रयत्नों के द्वारा अपना विशिष्ट स्थान बना सकता था। परम्परागत व्यवस्था में व्यक्ति के पेशे का चुनाव व्यक्ति के हाथ में न होकर परिवार और जाति के हाथ में था। किन्तु, पूंजीवादी औद्योगिक व्यवस्था में पेशे के चुनाव में व्यक्ति को अधिक स्वतन्त्रता मिल गयी। इस प्रकार, अंग्रेजी राज के पश्चात् में भारत की बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था में व्यक्ति को जाति और परिवार के अधिकार से अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता मिली जिसके फलस्वरूप व्यक्ति को अपनी इच्छा और योग्यतानुसार अपना सामाजिक आर्थिक जीवन ढालने की प्रेरणा मिली।

पश्चिमी वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी (Western Scientific Technology) ने संयुक्त परिवार को कई तरह से प्रभावित किया। प्रौद्योगिकी ने ही औद्योगीकरण वर्ग जिसने भारत की नयी औद्योगिक वर्ग संरचना को जन्म दिया। प्रौद्योगिकी के ही प्रभाव से भारत में, औद्योगिक नगरों का विकास हुआ। औद्योगिक नगरों में सामाजिक आर्थिक जीवन का आधार कृषि न होकर व्यापार, उद्योग धन्धे और वे पेशे हैं जो कृषि पर ही आधारित न होकर उद्योग, नौकरियां (Services) और वृत्तियां

(Professions) पर आधारित है। यातायात के साधनों ने, एक ओर, औद्योगिक शहरों के विकास को प्रोत्साहन दिया तो, दूसरी ओर, औद्योगिक शहरों में मिलने वाले सामाजिक आर्थिक अवसरों से लाभ उठाने के लिए गांव से शहर की ओर के स्थानान्तरण को उत्तेजना दी। स्थानान्तरण का परिणाम होता है व्यक्ति पर से परिवार के अधिकार का कम होना और व्यक्ति का परिवार के अनुशासन से अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता मिलना। स्थानान्तरण से बहुओं को भी सास के अधिकारपूर्ण अनुशासन से मुक्ति मिलती है। नौकरी पेशा लोगों के लिए, विशेषत जो सरकारी नौकरियों में हैं स्थानान्तरण स्वाभाविक सा हो गया है। बढ़ते हुए व्यवसाय और औद्योगीकरण के कारण गांव में बढ़ती हुई बेरोजगारी ने भी शहर की ओर स्थानान्तरण को बढ़ावा दिया है। शहरी सामाजिक आर्थिक पर्यावरण ग्रामीण पर्यावरण की अपेक्षा अधिक गतिशील है और शहरी सामाजिक आर्थिक संरचना जाति तथा परिवार की ओर उन्मुख न होकर व्यक्ति की ओर अधिक उन्मुख है। शहरी सामाजिक पर्यावरण में अनामकता (Anonymity) का व्यापक प्रभाव रहता है जिससे एक ओर प्रथाओं के कठिन अनुशासन में ढीलापन आता है और दूसरी ओर व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन मिलता है। शहरी पर्यावरण में व्यक्ति का अधिकतर समय पारिवारिक प्रभाव क्षेत्र से बाहर बीतता है जिससे व्यक्ति स्वातन्त्र्य की भावना को प्रोत्साहन मिलता है।

भारतीय विधि प्रणाली पर अंग्रेजी राज के प्रभाव का वर्णन करते हुए इस तथ्य का उल्लेख किया जा चुका है कि अंग्रेजी राज में एक ओर स्वीय विधि (Personal Law) को लेखबद्ध किया गया और दूसरी ओर इंगलैण्ड की विधि प्रणाली के आधार पर भारत में सामान्य विधि (General Law) का निर्माण किया गया। जबकि इंगलैंड का दर्शन भारत में भी सामान्य विधि को व्यक्त्योन्मुख बनाया गया और स्वीय विधि के निर्वचन में समष्टि के स्थान पर व्यक्ति और प्रथा को प्रधानता दी गई। उन्नीसवीं सदी में, अंग्रेज न्यायाधीशों ने विज्ञानेश्वर और जीमूतवाहन के परिवार सम्बन्धी वैधिक निर्वचनों को हिन्दू-परिवार का आधार मान लिया, यद्यपि ये वैधिक निर्वचन कई सौ वर्ष पूर्व के थे। इन दोनों विद्वानों ने दो भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से हिन्दू परिवार का वैधिक निर्वचन किया था और दोनों का उद्देश्य था पारिवारिक संयुक्तता और समष्टि के साथ व्यक्ति के मानसिक तथा सामाजिक स्वत्व का सामञ्जस्य बनाये रखना। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन दोनों विद्वानों ने पारिवारिक सम्पत्ति में व्यक्ति के अधिकार को माना है और यह भी माना है कि व्यक्ति अपने अधिकार (भाग) को परिवार की सम्पत्ति में से ले सकता है। किन्तु यह मान्यता उस समय की थी जब कृषि ही जीवन का मुख्य आधार थी जब व्यावसायिक संरचना (Occupational Structure) और सामाजिक चलिष्णुता नहीं थी जो जाति और परिवार में स्थान पर व्यक्ति को महत्व देती थी जब स्थानान्तरण की सम्भावना वस्तुतः नहीं के बराबर थी और जब परिवार और जाति से

अलग व्यक्ति का सामाजिक आर्थिक अस्तित्व ही नहीं था और यदि कहीं था भी तो संन्यास में। वैयक्तिक अधिकारों के रहते हुए भी, व्यक्ति में परिवार से बाहर रहने की प्रेरणा की कमी थी। किन्तु, नयी परिस्थितियों में पारिवारिक सम्पत्ति में वैयक्तिक अधिकारों के व्यक्तिवादी निर्वचनों से, एक ओर, परिवार विषयक समूहता की भावना का ह्रास हुआ, उसकी समष्टिवादिता क्षीण हुयी और, दूसरी ओर, सम्मिलित स्वामित्व और उपभोग के स्थान पर पैतृक तथा पिता की सम्पत्ति में पुत्रों और वंशजों के निहित स्वार्थ (Vested Interest) की भावना का अभ्युदय हुआ। अंग्रेजी राज्य काल में, और उसके बाद भी दीवानी के मुकदमों की बढ़ती हुई संख्या इसी का परिणाम है।

कपाडिया के अनुसार, अंग्रेजों द्वारा स्थापित अदालतों में, हिन्दू विधि प्रणाली का जिस रूप में प्रशासन किया गया, उसके दो परिणाम निकले—एक ओर, व्यक्ति ने संयुक्त परिवार में निहित अपने उत्तराधिकारों की उत्तरोत्तर माँग (Assertion) की जिसके कारण संयुक्त परिवार की विभाजन प्रक्रिया तीव्रतर हुयी और दूसरी ओर, अन्य परिस्थितियों के साथ साथ, ऐसी परिस्थिति अस्तित्व में आई जिसने संयुक्त परिवार के विशृंखलन को प्रोत्साहित किया यद्यपि, भारत की आधारभूत सामाजिक संघात्मकता की पृष्ठभूमि में, वह विशृंखलन अधिक दूर न जा सका और संयुक्त परिवार इसके आघात को सहता हुआ, नयी परिस्थितियों के अनुसार अपने को स्थानान्तरित कर सका। भारत में परिवार सम्बन्धी जितनी विधियों का निर्माण अंग्रेजी राज्य काल और उसके बाद हुआ है उनसे, एक ओर संयुक्त परिवार के विशृंखलन को और दूसरी ओर उसकी अतिजीवता और रूपान्तरण को प्रोत्साहन मिला है। कपाडिया के अनुसार, हिन्दू-उत्तराधिकार अधिनियम (1929) और हिन्दू-स्त्री के सम्पत्ति विषयक अधिकार अधिनियम ने संयुक्त परिवार के विशृंखलन की उस प्रक्रिया को पूरा करने में योग दिया है जो अंग्रेजी न्याय प्रणाली और नयी परिस्थितियों में, व्यक्तिवादी भावनाओं की माँग के कारण, अस्तित्व में आई थी। हिन्दू-उत्तराधिकार अधिनियम में कर्ता की सम्पत्ति में, पिता के पितृकी सम्बन्धियों के अधिकार के समक्ष उसके पुत्र की पुत्री या उसकी पुत्री की पुत्री का अधिक प्राथमिक उत्तराधिकार मान लिया गया है। इसके फलस्वरूप यदि किसी कर्ता के पुत्र न हो तो उसकी सम्पत्ति उसके पितृकी सम्बन्धियों को अपेक्षा उसके प्रपौत्र या उसकी अनुपस्थिति में उसकी प्रपौत्री (पुत्र की पुत्री) या पुत्री या उसके लड़के या लड़की को मिलती है।

हिन्दू नारी के सम्पत्ति विषयक अधिकार अधिनियम (The Hindu woman's Right to Property Act 1937) का मुख्य उद्देश्य है विधवा होने पर हिन्दू-स्त्री का उसके पति की सम्पत्ति में, अन्य उत्तराधिकारियों के समक्ष, उत्तराधिकार का प्राथमिक अधिकार देना। सिद्धान्ततः, हिन्दू परिवार की मुख्य विशेषता थी जीवित-

न्श का सिद्धा त (The Theory of Survivorship) जिसका व्यावहारिक रूप यह था कि व्यक्ति परिवार की सम्मिलित सम्पत्ति म से अपना भाग अलग कर सकता था यद्यपि कर्ता व साथ साथ अ य पितवन्शी वशज भी पारिवारिक सम्पत्ति के अधिकारी समझे जात थे। कि तु हि दू स्त्री को उसके पति के बराबर ही उत्तराधिकार का अधिकार दन से, परिवार का परम्परागत पितवंशी सयुक्त आधार समाप्त हो गया। वास्तव म यदि देखा जाय तो हि दू स्त्री क वधानिक अधिकारो की मान्यता ने परिवार की परम्परागत सयुक्तता को बदलने म काफी योग दिया है। आज, हि दू स्त्री को पति और पिता दोनो की सम्पत्ति म उत्तराधिकार का अधिकार प्राप्त है जिसम परिवार की परम्परागत पितवंशी सयुक्तता को ठस पहुच रही है। आज, हि दू स्त्री को तलाक का अधिकार प्राप्त हो गया है और तलाक के पहले, वधिक पथक्करण (Judicial Separation) की अवस्था म उस अपने पति की सम्पत्ति और आय म से भरण पोषण पाने का अधिकार है जो सयुक्त परिवार की सयुक्तता के पितवंशी आधार का महातित निषध है।

अग्रजी शिक्षा क द्वारा यूरोपीय सभ्यता क अनक तत्वो ने भारतीय परिवार सम्बन्धी मा यताओ को प्रभावित किया जिसस भारतीय सयुक्त परिवार का रूपान्तरण हुआ। इनम सबसे मुख्य है स्त्री पुरुष की समता का सिद्धान्त। जिस काल म भारत म अग्रजी राज्य की स्थापना हुयी उसी काल म, इगलड म बालिग मताधिकार का आ दोलन चला। इस आ दोलन म नारियो को मताधिकार दिलाने का आन्दोलन काफी महत्वपूर्ण है। इस आ दोलन के फलस्वरूप जब भारत म सवधानिक सुधार लाग किए गए तो नारियो को मताधिकार दिया गया जिसम भारत की नारियो को व राजनतिक अधिकार अपन आप मिल गय जिसके लिए यूरोप की नारियो को आन्दोलन करना पड़ा था। शिक्षा काय नर्सिंग डाक्टरी, स्टनोटाइपिंग (Stenotyping) और क्लर्की जस अनेक नारियोचित और नारी सुलभ पद अस्तित्व म आए जिनके कारण नारियो के लिए उसी प्रकार वतनभोगी सवाओ के अवसर खुले जस कि प्रथम क्षत्रो म व पुरुषो क लिए खुल थ। एक ओर नारियो को राजनतिक तथा वधानिक अधिकार और दूसरी ओर उन्ह आर्थिक स्वत त्रता के अवसर मिले। सतति नियमन क उपकरणो म नारी को मातत्व क भार स मुक्त होने म सहारा मिला जिसस नारी को घर की चहारदीवारी क बाहर प्रगति म सुविधा हुयी। जिस समय नारी का यूरोप स व्यापक तथा प्रभावपूर्ण सम्पर्क स्थापित हुआ उस समय यूरोप म विशेषतया अग्रजी साहित्य म एक ओर प्रकृतिवादी दर्शन की विचारधारा चल रही थी और दूसरी ओर उदारवादी विचारधारा। उदारवादी विचारधारा न समता और वयक्तिक स्वातन्त्र्य की भावना को प्रोत्साहित किया और प्रकृतिवादी दर्शन ने उस स्वाभाविक और निश्छल जीवन की प्रधानता पर जो प्रकृति म पाया जाता है। उदारवादी विचारधारा न नर-नारी की समता की धारणा

को जन्म दिया और जीवन के प्रति प्रकृतिवादी दृष्टिकोण ने स्वतन्त्र स्वाभाविक और वैयक्तिक प्रेम की धारणा को। इसी विचारधारा के प्रभाव में यौन-तुष्टि को नर-नारी की उसी प्रकार की स्वाभाविक आवश्यकता बताया गया जैसे भूख और प्यास। विवाह को सामाजिक बन्धन न कह कर, स्त्री पुरुष के बीच में स्वाभाविक प्रेम पर आधारित समझौता कहा गया। इन सभी विचारधाराओं का सम्मिलित प्रभाव हुआ नारी द्वारा स्वाभाविक प्रेम पर आधारित विवाह की माँग जिसने प्रेम विवाह और सिविल मैरिज (Civil Marriage) की धारणा को जन्म दिया। उदारवादी तथा प्रजातन्त्रवादी विचारों पर आधारित नर-नारी की समता और प्रेम विवाह सम्बन्धी विचार जितनी तेजी से बढ़े, उतनी तेजी से परम्परागत सामाजिक मान्यताएँ नहीं बदलीं। फलतः रूमानी विचारधारा का जन्म हुआ जिससे उन्नीसवीं शताब्दी का अंग्रेजी साहित्य भरा पड़ा है और जो, एक ओर सामाजिक बन्धनों के प्रति विद्रोह की भावना है और दूसरी ओर, एक सतत अतृप्त अभिलाषा की अभिव्यक्ति है। अंग्रेजी साहित्य, विशेषतः कविता और उपन्यास से यही विचारधारा भारत में फैली। इस विचारधारा के प्रभाव में, भारत में, जिस साहित्य की रचना हुयी उसमें परिवार और जाति के बन्धनों से मुक्त वैयक्तिक तथा स्वाभाविक प्रेम और नारी-स्वातन्त्र्य को ही मुख्य विषय बनाया गया। इस प्रकार अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव में, भारतीय नारी ने अपने सामाजिक जीवन और उसके आधारों का पुनर्परीक्षण किया और नयी व्यवस्था से मिलने वाली सुविधाओं के कारण संयुक्त परिवार के नारी-संसार को छोड़कर उस संसार में पदार्पण किया जहाँ नारी और पुरुष दोनों थे और जहाँ परिवार में पति पत्नी के सम्बन्धों को प्राथमिकता दी गयी।

पाश्चात्य सम्पर्क के अन्तर्गत, सामाजिक जीवन के नियमों के पुनर्परीक्षण ने नर-नारी के सम्बन्धों को प्रभावित किया है और उससे संयुक्त परिवार की रचना में अन्तर आया है। सामाजिक जीवन के नियमों का पुनर्परीक्षण, एक ओर स्वयं नारियों ने किया है और, दूसरी ओर, सामाजिक नवजागृति के प्रणेताओं ने। इस पुनर्परीक्षण और उनमें उत्पन्न होने वाले सुधारों का प्रारम्भ उस समय से होता है जब राजाराम मोहन राय ने सती प्रथा को रोकने का आन्दोलन किया था। तब से विधवा विवाह, विवाह विच्छेद, बाल विवाह निरोध, प्रेम विवाह, अन्तर्जातीय विवाह और अन्य प्रश्नों के निराकरण को, एक ओर वैधानिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया गया है और, दूसरी ओर इन समस्याओं के प्रति सक्रिय तथा जागरूक जनमत बनाने का प्रयत्न किया गया है। अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा फैलने वाली जागरूकता और नयी व्यवस्था में मिलने वाली वैयक्तिक स्वतन्त्रता के कारण, नारियों ने भी स्वातन्त्र्य संग्राम में वैसे ही भाग लिया जैसे कि पुरुषों ने। इन सभी प्रभावों के अन्तर्गत नारी की सामाजिक प्रतिष्ठा बदली तथा उस परम्परागत मान्यता का खण्डन हुआ जिसके अनुसार, यह कहा जाता था कि कौमार्य अवस्था में, नारी की रक्षा पिता

करता है विवाहित अवस्था में पति और वधव्य की अवस्था म पुत्र। इसके फलस्वरूप, एक ओर नारी ने अपने पत्नी-अधिकारों की माग की और, दूसरी ओर, उनका प्रयोग भी किया। शिक्षा के प्रभाव और प्रशिक्षण की बढती हुई अवधि[1] ने विवाह की आयु में वद्धि की जिससे पति पत्नी में उन नये सम्बन्धों का अभ्युदय हुआ जिनका केन्द्रीकरण पति पत्नी और उनसे उत्पन्न सन्तान तक ही रहा।

जिन परिवर्तनकारी शक्तियों के कारण सयुक्त परिवार की सरचना में रूपान्तरण हुआ है उन्हें तीन श्रेणियों के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है—प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत वे शक्तियाँ आती हैं जो औद्योगीकरण तथा पूजीवादी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था से उत्पन्न हुयी है, दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत वे भावनात्मक शक्तियाँ आती हैं जो पश्चिमी पूजीवादी व्यवस्था के सास्कृतिक आदर्शों से उत्पन्न हुई हैं और जिन्हें भारत की परिवर्तित सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में पनपने का अवसर मिला और तीसरी श्रेणी में वे शक्तियाँ आती हैं जिन्हें नई विधि प्रणाली ने जन्म दिया। वास्तव में, नई विधि प्रणाली ने एक प्रकार से उन आवश्यकताओं की पूर्ति की है जो प्रथम और ततीय श्रेणी की शक्तियों के प्रभाव के फलस्वरूप अस्तित्व में आई हैं। प्रथम श्रेणी की परिवर्तनकारी शक्तियाँ कृषि पर आधारित और जाति प्रथा में निहित सामन्तवादी व्यवस्था के पूजीवादी रूपान्तरण से उत्पन्न हुयी है और दूसरी श्रेणी की शक्तियाँ पश्चिम की व्यक्तिवादी उदारवादी, प्रजातन्त्रवादी तथा रूमानी विचार और धारणाओं के प्रभाव से अस्तित्व में आई हैं।

जिन परिवर्तनकारी शक्तियों ने पितवशी सयुक्त परिवार के सयुक्त आधार को ढीला किया उनका प्रभाव मातवशी सयुक्त परिवार पर भी पड़ा।

मातवशी सयुक्त परिवार में परिवर्तन

किन्तु जिस न्याय पद्धति में उत्तरी भारत के पितवशी सयुक्त परिवार की परम्पराओं का व्यक्तिवादी निर्वचन करके एकाकी परिवारों की वद्धि को प्रोत्साहित किया गया, उसी न्याय पद्धति में दक्षिण में मातवशी परिवारों की प्रथाओं का समष्टिवादी निर्वचन किया

---

1 यहाँ प्रशिक्षण की बढ़ती हुई अवधि से तात्पर्य उस अवधि से है जो वर्तमान समय में सामान्य शिक्षा और उस प्रशिक्षण (Training) में लगती है जो किसी विशेष कार्य अथवा नौकरी को प्राप्त करने के लिए ग्रहण की जाती है। कृषि व्यवस्था में बच्चे बड़े होते ही परिवार की सहायता करने लगते हैं किन्तु, औद्योगिक व्यवस्था में ऐसा नहीं है। किसी आफिस में कार्य करने वाले व्यक्ति का लड़का उसके कार्य में सहायता नहीं कर सकता है। पहले सामान्य शिक्षा लेनी पड़ती है और बाद में, उस विषय अथवा लाइन का विशेष ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है जिधर कोई व्यक्ति जाना चाहता है। इसमें बाइस से चौबीस साल लगना साधारण बात है।

गया और उनकी संयुक्तता को बनाये रखने का प्रयास किया गया[1] यद्यपि यह प्रयास सफल न हो सका। नयी सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में तावजियों की वृद्धि हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, थारवाद पर आधुनिक परिवर्तनकारी शक्तियों का प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हो गया था और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में थारवाद में इतनी समस्यायें आ गई कि उन्नीस सौ सात में के० परमेश्वरन पिल्ले ने यह लिखा कि 'विभाजन और उचित प्रकार से उत्तराधिकार के नियमन के अतिरिक्त थारवाद की समस्याओं के अन्त का और कोई हल नहीं है'।

, वह कौन सी परिस्थितियां थीं जिनमें थारवाद के विभाजन को वैधानिक मान्यता प्रदान करने की मांग की गई। परम्परागत व्यवस्था में, थारवाद से नारी को केवल भरण-पोषण का अधिकार था और भरण पोषण की आवश्यकता के अतिरिक्त, सुख-सुविधा की अन्य वस्तुओं के लिए नारी को पति पर निर्भर रहना पड़ता था। योरोपीय प्रभावों और बदलती हुयी आर्थिक परिस्थितियों में बढ़ते हुए जीवन (Standard of Living) के कारण, नारी की अपने पति पर निर्भरता बढ़ गई जिसके कारण पति पत्नी के सम्बन्धों में अधिक सामीप्य आया और पति पत्नी के सम्बन्ध पहले की अपेक्षा अधिक वैयक्तिक (Personal) हो गये। मातृवंशी परिवार में, एक ओर, व्यक्ति मातृसत्तात्मक (Matriarchal) सम्बन्धों से बंधा रहता है और, दूसरी ओर, वैवाहिक सम्बन्धों से। ये दोनों सम्बन्ध अलग-अलग वफादारी की मांग करते हैं जिसमें इन दोनों प्रकार के सम्बन्धों में स्वभावतः संघर्ष आ जाता है। पति-पत्नी के सम्बन्धों में वैयक्तिकता और पहले की अपेक्षा अधिक पारस्परिक निर्भरता बढ़ने के कारण, व्यक्ति के मातृसत्तात्मक और वैवाहिक सम्बन्धों के प्रति निष्ठायें संघर्षात्मक हो गयीं। परिवार प्रबन्धक (कारनेवान) अपनी बहिन की सन्तान की अपेक्षा अपनी सन्तान की शिक्षा तथा उनकी देखभाल की ओर अधिक उन्मुख हुआ। थारवाद स्वभावतः, एक बड़े आकार का परिवार होता है और उसमें सभी को बराबर देखभाल न मिलना भी स्वाभाविक है। यह स्वाभाविकता उस अवस्था में और भी बढ़ जाती है जब कारनेवान कमजोर और स्वार्थी हो। पितृवंशी परिवार की भांति थारवाद भी कृषि व्यवस्था पर आधारित था जिसको पूंजीवाद तथा औद्योगिक व्यवस्था ने महत्वहीन कर दिया।

जनसंख्या की वृद्धि के कारण भूमि पर जनसंख्या का दबाव बढ़ा। भूमि की कमी ने नायरों को शिक्षा तथा उन पेशों और वेतनभोगी सेवाओं को अपनाने के लिये प्रेरित किया जो नयी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के कारण अस्तित्व में आये। डाक्टर, वकील, अध्यापक और क्लर्क के रूप में तथा पुलीस और सेना में भर्ती होकर, अनेक नायर अपने-अपने थारवादों से अन्य शहरों में जा बसे जहां बच्चों

---

1 कपाडिया के० एम० मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया पृष्ठ 25

की देखभाल और उनकी शिक्षा जीवन की एक मुख्य आवश्यकता हो गई जिससे, थारवाद की मातसत्तात्मक व्यवस्था के स्थान पर, पितृसत्तात्मक एकाकी परिवार की संरचना को प्रोत्साहन मिला। नयी परिस्थितियों ने नायरो में पितृसत्तात्मकता को प्रोत्साहित किया है। स्थानान्तरण (Migration) से पितृसत्तात्मकता की वृद्धि हुई है। आज यदि कोई नायर, नौकरी के कारण किसी बड़े शहर में जाकर बसता है तो वह अपनी स्त्री और बच्चों के साथ पितृवंशी एकाकी परिवार की स्थापना करता है और धीरे धीरे पति पत्नी दोनों अपने पैतृक थारवा से दूर हो जाते हैं। आधुनिक समय में मातृसत्तात्मक परिवार इसलिये विभाजित होता है कि नायरों में पितृवंशी एकाकी परिवारों को स्थापित करने की भावना का अभ्युदय हुआ है और नयी परिस्थितियों ने इस भावना की व्यावहारिक सम्भावना को बढ़ा दिया है[1]।

जिस प्रकार, हिन्दू परिवार तथा विवाह सम्बन्धी अधिनियमों ने व्यक्ति के अधिकारों को प्राथमिकता दी, परिवार में व्यक्ति का जन्मजात अधिकार मानकर उसे विभाजन द्वारा अपने हिस्से को अलग करने की अनुमति दी, कर्ता के अधिकारों पर रोक लगाई और नारी को अधिक अधिकार देकर उसके पत्नीत्व को अधिक सबल और स्थायी बनाया उसी प्रकार मद्रास और मालावार में नायर परिवार तथा विवाह सम्बन्धी अधिनियमों ने नायर-नारी के वैवाहिक अधिकारों को अधिक मान्यता प्रदान की जिससे नारी का वयक्तिक व्यक्तित्व उभरा और उसका पत्नीत्व अधिक वास्तविक और स्थायी हुआ, कारनवान के अधिकारों को कम किया और थारवाड़ को सिद्धान्त अविभाज्य न मानकर, उसे तावजियों में विभाजित होने के लिये प्रोत्साहित किया। तावजी के बच्चों को कारनवान की तावजी में उसी प्रकार उत्तराधिकारी माना गया जिस प्रकार पितृवंशी परिवार में किसी कर्ता के पिता की सम्पत्ति में उसके लड़कों और प्रपौत्रों का अधिकार रहता है। इस प्रकार नायर परिवार में संयुक्त परिवार की उस भावना का उदय हो रहा है जो पितृवंशी परिवार में आज भी पायी जाती है। नम्बूद्री ब्राह्मणों की विवाह पद्धति में आने वाले परिवर्तनों में भी थारवाद में परिवर्तन आया है। पहले की भांति आज तक नम्बूद्री परिवार का बड़ा भाई ही नम्बूद्री लड़की से विवाह नहीं करता है। आज अन्य भाई भी नम्बूद्री लड़की से विवाह करते हैं और यदि वे नायर नारी से विवाह भी करते हैं तो उसे अपने साथ रखना पसन्द करते हैं। इस परिवर्तन से नायर-परिवार के मानवी आधार में परिवर्तन आया है और उनमें पायी जाने वाली प्रभातक बहुपतित्व की प्रथा भी समाप्त हो गया है। हाँ, नायर विवाह और परिवार में मातृस्थानीयता (Matrilocality) की प्रथा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया

---

1 कर्वे, इरावती किनशिप आरगनाइजेशन इन इण्डिया पृष्ठ 13

है[1] जिसके कारण, निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता है कि, नजदीक भविष्य में, उधर परिवार वैसे ही पितृसत्तात्मक हो जायगा जैसे कि उत्तर भारत का परिवार है[2]।

वर्तमान परिस्थितियों ने संयुक्त परिवार में विशेषतः पितृवंशी संयुक्त परिवार में, दो प्रकार के संघर्षों को जन्म दिया है जिनके कारण संयुक्त परिवार में विभाजन और विशृंखलन की अधिकता बढ़ गयी है। इन दो प्रकार के संघर्षों में एक का आधार आर्थिक (Economic) है और दूसरे का वैचारिक (Ideological)। शहरों में रहने वाले लोगों के लिये गांव में रहने वाले सम्बन्धियों की आर्थिक आवश्यकता को पूरा करना कठिन हो गया है और यदि उन्हें ऐसा करना पड़ता है तो उन्हें नागवार लगता है। लेकिन यह दशा अधिकतर उच्चवर्गों में सम्बन्ध के लोगों में है। भारत के शहरों में कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों का एक बड़ा भाग परिवार की सहायता करने या पारिवारिक कृषि के आर्थिक ? ? ? ? ? के लिये ही शहर में नौकरी करने आता है। अनेक शोध कार्यों में यह पता चला है कि आर्थिक संघर्ष ने अभी तक वह गम्भीर रूप नहीं लिया है जितना कि साधारणतः समझा जाता है। कपाड़िया के शोधकार्य में सतालीस प्रतिशत ऐसे लोग मिले जो अपने संयुक्त परिवार का आर्थिक भार वहन करते हैं और उस सतालीस प्रतिशत में दो तिहाई लोग ऐसे हैं जो इस उत्तरदायित्व के प्रति शिकायत नहीं करते हैं[3]। हां, यह अवश्य है कि अपनी कमाई हुयी सम्पत्ति का तरुण अपनी इच्छानुसार खर्च करना पसन्द करता है। वैचारिक संघर्ष की समस्या समयानुसार अवश्य गम्भीर हो गयी है। वैयक्तिक स्वातन्त्र्य विचार दृढ़तर होता हुआ एकाकी परिवार का आर्थिक आधार तथा पश्चिमी शिक्षा और उससे उत्पन्न जीवन आदर्शों ने इस संघर्ष के बढ़ाने में योग दिया है।

नयी परिस्थितियों में, तरुणाई और वार्धक्य का, संघर्ष शुरू हुआ और, नयी परिस्थितियों में निहित व्यक्तिवादी प्रवाहों के कारण तरुणाई को प्राथमिकता मिली। नयी पीढ़ी के लोगों ने पुरानी पीढ़ी के लोगों से उदारवादी व्यवहार की मांग की। शिक्षा और आर्थिक स्वातन्त्र्य मिलने के कारण, नारी ने उदारवादी व्यवहार की अधिक मांग की। पुरुष का दृष्टिकोण पहले की अपेक्षा अधिक उदारवादी हो गया

---

1 कपाड़िया, के॰ एम॰ मैरिज एण्ड फेमिली इन इण्डिया पृष्ठ 273-275

2 जहां तक कि पारिवारिक सत्ता के प्रयोग और उपभोग का सम्बन्ध है, कर्णधार की अब भी वहां प्रतिष्ठा है। पिता ने कर्णधार का स्थान न तो सिद्धान्ततः लिया है और न व्यवहार में—कपाड़िया वही पृष्ठ 279

3 वही पृष्ठ 2[illegible]0

है किन्तु नारी का नही हो पाया जिसके कारण सास-बहू के रूप में नारियो में वैचारिक संघर्ष अधिक पाया जाता है। कपाडिया द्वारा उद्धृत के० टी० मर्चेण्ट के अध्ययन से यह विदित होता है कि पुरुषों की अपेक्षा नारियाँ संयुक्त परिवार प्रथा के अधिक विरोध मे हैं।

संयुक्त परिवार में होने वाले इन अनेक परिवर्तनो के कारण वर्तमान भारत के शिक्षित वर्ग मे साधारणत यह माना जाता है कि अंग्रेजी राज तथा यूरोपीय प्रभाव के संघात से, भारत मे संयुक्त परिवार का विघटन हो गया है और शीघ्र ही वह भारतीय सामाजिक संगठन से लुप्त हो जायगा। इसी वर्ग के अधिकतर लोगो की यह भी मान्यता है कि संयुक्त परिवार प्रथा आयु को प्राथमिकता देने तथा व्यक्ति को वैयक्तिक विचार तथा व्यवहार स्वातन्त्र्य न देने के कारण, अप्रजातन्त्रीय है। अत, उसकी समाप्ति होनी ही चाहिये। पानिक्कर के अनुसार, नारियो द्वारा सामाजिक जीवन के सिद्धान्तो का पुनर्परीक्षण वर्तमान हिन्दू समाज के लिये एक महानतम चुनौती है जिसका परिणाम है संयुक्त परिवार, जाति और ग्राम जैसी समष्टिवादी संस्थाओ का स्वाभाविक विघटन। संयुक्त परिवार का विघटन कुछ के अनुसार, वर्तमान भारत के सांस्कृतिक इतिहास में पश्चिम के प्रभाव से उत्पन्न गत्यात्मक परिस्थितियो की स्वाभाविक प्रारब्धि है और किसी के अनुसार भारतीय संयुक्त परिवार एक चक्रिक संगठन विघटन प्रक्रिया में होता हुआ आज पुन विघटन की ओर उन्मुख हो रहा है[1]।

विघटनवादी मत की समीक्षा

उन्नीस सौ इक्यावन के जनगणना विवरण में प्रस्तुत आकडो के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि भारत मे छोटे आकार की गृहस्थियो (Households) के अधिकतम अनुपात का पाया जाना इस बात का प्रमाण है कि आज भारतीय परिवार उस रूप में संयुक्त परिवार नही रहा जिस रूप में वह परम्परानुसार पाया जाता रहा है और आज संयुक्त परिवार से अलग होकर, एक अलग गृहस्थी बसाने की प्रवृत्ति अधिक है। जनगणना विवरण के इस निष्कर्ष को समझने के लिये उसमे प्रस्तुत आकडो की व्याख्या आवश्यक है। जनगणना में गृह (House) और गृहस्थी (Household) को अलग अलग इकाइयां माना गया है। गृह से तात्पर्य है उस भवन से जिसमे लोग रहते हैं और यदि एक भवन कई भागो में बाट दिया गया है और प्रत्येक भाग का एक अलग प्रवेश द्वार है तो एक भवन को कई स्वतन्त्र गृहो मे बंटा हुआ मान लिया गया है। गृहस्थी से तात्पर्य है उस मानव समूह से जिसके सदस्य एक साथ रहते हैं और एक ही रसोई में भोजन करते हैं। इसप्रकार, जनगणना में लिये गृह और गृहस्थी की अलग अलग परिभाषायें की गई हैं। इस

1 हरिदत्त वेदालंकार हिन्दू-परिवार मीमांसा पृष्ठ 35

दृष्टिकोण से, एक भवन में, कई गृह हो सकते है और एक गृह में कई गृहस्थिया क्य कि गृहस्थी का आधार रसोई (चूल्हा) और सम्मिलित वासस्थान है न कि पारिवारिक सम्बन्ध ।

सदस्य-सख्या (आकार) के आधार पर गृहस्थियो को चार श्रेणियो में बाटा गया है—लघु (Small जिनकी सदस्य सख्या तीन तक है) मध्यम (Medium जिनकी सख्या चार से लेकर छ तक है), वृहत (Large जिनकी सदस्य सख्या सात से लेकर नौ तक है) और अति वृहत (Very Large जिनकी सख्या नौ से अधिक है)[1] । जनगणना के विवरण में दिए आकडो के अनुसार, एक सामान्य भारतीय ग्राम में ततीस प्रतिशत और शहर में अड़तीस प्रतिशत गृहस्थिया लघु आकार की है जो इस बात का प्रमाण है कि भारतीय परिवार की सयुक्तता समाप्त हो रही है । किन्तु, उसी जनगणना में ही दी हुयी एक अन्य सारिणी[2] से इस निष्कर्ष का खण्डन होता

1 सम्पूर्ण सारिणी इस प्रकार है —

सारिणी 6

	गृहस्थियो की सख्या	
	सामान्य ग्राम में	सामान्य शहर में
लघु (Small)	33	38
मध्यम (Medium)	44	41
वृहत (Large)	17	16
अतिवृहत (Very Large)	6	5
	100	100

2 यह सारिणी इस प्रकार है —

सारिणी 7

	गृहस्थो में पाए जाने वाले सम्बन्ध		सौ गृहस्थियो की सख्या
अ	गृहस्थियो के प्रमुख	पुरुष (विवाहित)	71
		पुरुष (विधुर)	10
		नारी	10
	गृहस्थियो के प्रमुखों की पत्नियां		71
			171
ब	गृहस्थियों के प्रमुखों के पुत्र		108
	गृहस्थियों के प्रमुखों की पुत्रिया		81
			189
	गृहस्थियो के प्रमुखों के पुरुष सम्बन्धी (पुत्रों के अलावा)		48
	गृहस्थियों के प्रमुखो के नारी-सम्बन्धी (पुत्रियों के अलावा)		72

है। दूसरी सारिणी में सौ गृहस्थियों के कुल सदस्यों के पारिवारिक सम्बन्धों का वर्गीकरण किया गया है। सौ गृहस्थियों की कुल सदस्य संख्या है चार सौ सत्तासी जिसमें सात ऐसे सदस्य हैं जिनका गृहस्थी के प्रमुख से सम्बन्ध अज्ञात है। शेष चार सौ अस्सी में एक सौ इकहत्तर गृहस्थियों के प्रमुख (Heads) और उनकी पत्नियां हैं, एक सौ नवासी प्रमुखों के पुत्र और पुत्रियां हैं और एक सौ बीस ऐसे पुरुष तथा स्त्री हैं जो प्रमुख के सम्बन्धी तो हैं किन्तु न तो वे प्रमुख की पुत्रियां हैं और न उनके पुत्र। इस सारिणी से यह स्पष्ट होता है कि सौ गृहस्थियों में लगभग एक चौथाई ऐसे सदस्य हैं जो गृहस्थी के प्रमुख पर निर्भर हैं किन्तु वे उसके पुत्र या पुत्रियां नहीं हैं। ये एक चौथाई सदस्य निश्चय ही वे सम्बन्धी हैं जो संयुक्त परिवार के क्षेत्र में आते हैं। इसप्रकार, जनगणना विवरण (1951) में संयुक्त परिवार के वर्तमान स्वरूप के विषय में निकाले गये निष्कर्षों में विरोध है। जनगणना विवरण (1951) में जहां इस निष्कर्ष का उल्लेख किया गया है कि भारत में संयुक्त परिवार समाप्त हो रहा है वहीं इस बात का भी उल्लेख किया गया है कि दुर्भाग्यवश पिछली जनगणनाओं में ऐसी सूचना नहीं है इसलिये, यह नहीं कहा जा सकता है कि लघु गृहस्थियों का अनुपात बढ़ा है या नहीं। भारत के विभिन्न भागों में लघु आकार की गृहस्थियां किस *अनुपात से बढ़ी हैं यह भी निर्धारित नहीं किया जा सकता है*[1]। इससे यह स्पष्ट है कि स्वयं जनगणना विवरण का लेखक जनगणना में निकाले गए निष्कर्ष के विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता है। केवल गृहस्थियों के आकार के आधार पर यह नहीं निर्धारित किया जा सकता है कि भारत में परिवार की संयुक्तता समाप्त हो रही है या नहीं।

उन्नीस सौ इक्यावन के जनगणना विवरण में जो आंकड़े दिए गए हैं उनमें कई कमियां हैं। उनकी पहली कमी यह है कि वे परिवार की गलत परिभाषा पर आधारित हैं। परिवार केवल सम्मिलित वासस्थान और रसोई पर ही आधारित नहीं है—परिवार का मुख्य आधार हैं परिवार में पाए जाने वाले सम्बन्ध और उनमें निहित विभिन्न व्यक्तियों के अधिकार और कर्तव्य। जनगणना में केवल आकार पर ही ध्यान दिया गया है और आकार परिवार की अनेक विशेषताओं में से केवल एक विशेषता है जिसके आधार पर ही संयुक्त परिवार का स्वरूप नहीं निर्धारित किया जा सकता है। जिस आधार पर जनगणना में गृहस्थी की इकाई माना गया है उस आधार पर वे मजदूर भी एक गृहस्थी में गिने जायेंगे जो एक ही

ट	*गृहस्थियों के प्रमुखों के गैर सम्बन्धी*	पुरुष	4
		नारी	3
			7
		योग	487

1 जनगणना विवरण, 1951 वाल्यूम I, भाग I A और I B पृष्ठ 50

या अलग अलग स्थानों से आये हैं किन्तु एक ही वासस्थान में रहते हैं और एक ही चौके में खाना खाते हैं यद्यपि वे एक परिवार के नहीं हैं। दूसरे जैसा कि पहले से होता आया है परिवार विभाजन के कारण कई चौकों के बनने का अर्थ यह नहीं है कि संयुक्त परिवार वस्तुतः टूट गया है। चूल्हे बँट जाने के बाद भी परिवार की संयुक्तता बनी रहती है क्योंकि संयुक्त परिवार वस्तुतः एक व्यावहारिक सामाजिक प्रत्यय है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है जन्म विवाह मृत्यु पर्व और त्यौहार के अवसरों पर परिवार की संयुक्तता तब उभर आती है जब विभाजित परिवार के सदस्य एकसाथ एकत्र होते हैं और अपनी पितृवंशी संयुक्तता का प्रदर्शित करते हैं। वास्तव में जैसा कि पहले कहा है आज भी जाति अन्तर्विवाही परिवार की संयुक्तता को बनाये हुए है क्योंकि जाति अन्तर्विवाही के कारण जाति एक विस्तृत सम्बन्धी वर्ग (Extended Kin Group) हो जाता है जिसमें विस्तृत मातृवंशी या पितृवंशी पारिवारिक समूह को स्वतः महत्ता मिल जाती है। यही कारण है कि जाति व्यवस्था में उस व्यक्ति का विवाह एक समस्या है जो एकसाथ एक जाति और एक संयुक्त परिवार का विधिवत सदस्य न हो। जिस व्यक्ति (पुरुष अथवा स्त्री) के पारिवारिक सम्बन्धियों के विस्तार का ठीक ठीक पता न हो वह, सामाजिक मर्यादाओं के अनुसार, अवरणीय है। तीसरे इन आँकड़ों से यह पता नहीं चलता है और न जनगणना में इसके जानने का प्रयत्न ही किया गया है कि किस आकार वाली गृहस्थी में भारतीय जनसंख्या का क्या प्रतिशत पाया जाता है। बहुत सम्भव कि यदि आँकड़े इकट्ठे किये जायँ तो उनमें यह पता चले कि भारतीय जनसंख्या का अधिकतम अनुपात बड़े आकार वाली गृहस्थियों में रहता हो। चौथे इन आँकड़ों से जो वस्तु स्थिति निखरती है, वह वास्तविक नहीं है। उदाहरणार्थ जनगणना के आँकड़ों के अनुसार भारत के एक सामान्य गाँव में प्रत्येक तीसरे परिवार की सदस्य संख्या तीन से अधिक नहीं है अर्थात एक तिहाई परिवारों की सदस्य संख्या केवल एक से लेकर तीन तक है। यह स्थिति असम्भव सी लगती है और इसकारण इन आँकड़ों को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है।

ये आँकड़े वास्तव में दोषपूर्ण जनगणना का परिणाम हैं। सम्मिलित चूल्हा और वासस्थान के आधार पर जनगणना में जिस समूह को गृहस्थी मानकर उसको परिवार का प्रतीक मान लिया गया है वह समूह वस्तुतः परिवार का प्रतीक नहीं है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से परिवार न तो केवल आकार में समाया है न सम्मिलित वासस्थान में और न सम्मिलित सम्पत्ति के स्वामित्व में। इन सभी विशेषताओं के साथ-साथ, संयुक्त परिवार मूलतः समाया है भारत के परम्परागत पारिवारिक सम्बन्ध जाल परिवार के सदस्यों की परम्परागत पारस्परिक सामाजिक भूमिकाओं (Social Roles) उनके पारस्परिक अधिकारों (Rights) और दायित्वों (Obligations) में तथा उन सबके मनोवृत्तियों में, जिनके कारण, एक मानवक

अथवा पितवश के सदस्य, अपने सम्बधो म सामान्य का अनुभव करते हुए सुगठित सामाजिक इकाई क रूप म रहत है।

हाल मे किए गए समाजशास्त्रियो के अध्ययनो से यह स्पष्ट है कि आज भी सयुक्त परिवार भारतीय सामाजिक सगठन का अग है और आज भी भारतीयो के व्यवहार तथा उनकी मनोवत्तिया म सयुक्त परिवार-सरचना का प्रभाव बना हुआ है। के० टी० मर्चेण्ट के तथा अपने अध्ययनो का हवाला देते हुए कपाडिया[1] ने लिखा है कि उच्च शिक्षा स सयुक्त परिवार का विघटन नही हुआ है। सूरत जिले के नवसारी शहर और उसके आसपास पन्द्रह गावा म पाये जाने वाले परिवारो की सरचना का विश्लेषण करते हुए कपाडिया ने लिखा है कि शहर और गाव म सयुक्त तथा एकाकी परिवारो की सख्या लगभग बराबर है किन्तु यदि पारिवारिक जीवन के कलाप (Pattern) के दृष्टिकोण स जाच की जाय तो पता चलता है कि अध्ययन के लिए जिन लोगो से सम्पर्क स्थापित किया गया था, उनका अधिकतर प्रतिशत सयुक्त परिवार म रहता है। कपाडिया क निष्कर्ष के अनुसार आज एकाकी परिवारों का सख्या बढ़ गई है, परिवार का आकार पहले की अपेक्षा कम हो गया है और सम्मिलित वासस्थान सम्मिलित रसोई तथा सम्मिलित सम्पत्ति वाला तीन

---

1 के० टी० मर्चेन्ट ने 1930 32 में परिवार सम्बधी मनोवत्तियों में आने वाले परिवतनों का अध्ययन किया था। उनके अनुसार अध्ययन के लिए, जिन चार सौ छियालीस स्नातकों (Graduates) से सम्पर्क स्थापित किया गया था उनमें स दो सौ सतत्तर सयुक्त परिवारों में रहते थ और एक सौ पचीस एकाकी परिवारों में। सयुक्त परिवारों में रहने वालों में से एक सौ उन्नीस इसके पक्ष में थ और एक सौ एक उसके विपक्ष में। एकाकी परिवारों में रहने वाले लोगो म ततालीस सयुक्त परिवार क पक्ष म थ और तेईस विपक्ष में। एक सौ निरीक्षत गर-स्नातकों (Non Graduates) में उ सठ सयुक्त परिवार में रहते थ और बहत्तर एकाकी परिवारों में और सयुक्त परिवार निवासियों में सत्ताइस इसके पक्ष में थे, बीस विपक्ष में और दस अनिश्चित। अध्ययन क लिए जिन व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित किया गया था, उनका छप्पन प्रतिशत सयुक्त परिवार में रहता है और कुल का 43 2 प्रतिशत सयुक्त परिवार में रहने क पक्ष में था। गर स्नातकों का अपेक्षा स्नातकों (Graduates) में सयुक्त परिवार में रहने वालों की सख्या अधिक थी। कपाडिया के एक अध्ययन क अनुसार पाच सौ तेरह स्नातकों में 57 3 प्रतिशत सयुक्त परिवार में रहते थे और सयुक्त परिवार निवासियों में ९१ प्रतिशत न सयुक्त परिवार का वाछित माना और 83 3 प्रतिशत ने उसे बनाय रखने की इच्छा प्रगट का—कपाडिया वही पष्ठ 2 9 60

पीढ़ी का संयुक्त परिवार वहुतायत से नहीं मिलता है फिर भी, सम्बन्धी व्यक्तियों और उनके परिवारों में भावनात्मक संयुक्तता बनी हुयी है। जहां संयुक्त परिवार के विभाजन से सम्पत्ति बंट जाती है और इसप्रकार अस्तित्व में आये हुए एकाकी परिवारों के सदस्य अलग-अलग खाते कमाते और रहते हैं, वहां भी परिवार के सदस्यों में पारस्परिक सहयोग अधिकार और दायित्वों (Obligations) के द्वारा संयुक्तता बनी रहती है। जन्म विवाह, मृत्यु श्राद्ध पर्व और त्योहार ऐसे अवसर हैं जब एक ही वंश में उत्पन्न परिवार के सदस्य परस्पर सहयोग करते हैं। जहां, एक परिवार के सदस्य कई परिवारों में बंटकर कई गांवों में बंट जाते हैं वहां भी, किसी एक परिवार में होने वाले वयस्क की मृत्यु के समय सभी परिवारों के लोग एकत्र होते हैं और दसवां के दिन प्रत्येक परिवार का हर व्यक्ति अपना सिर मुंडवाता है। इसप्रकार संयुक्त परिवार जाति को आधार प्रदान करता है और जाति संयुक्त परिवार को।

प्रो० पी० देसाई के अनुसार जनगणना के आंकड़ों से निकाले गये निष्कर्ष और वास्तविकता में अन्तर है और उसका प्रधान कारण है जनगणना रिपोर्ट की संयुक्त परिवार विषयक गलत धारणा। व्यक्ति को परिवार की सम्पत्ति में भाग और परिवार से अलग होने का अधिकार अंग्रेजी राज की स्थापना के बहुत पहले से प्राप्त है। फिर भी संयुक्त परिवार टूटा नहीं बल्कि निरन्तर बनता और बिगड़ता रहा। आज भी भारतीय सामाजिक संगठन में, 'वंश', 'कुल' और 'कुटुम्ब' जैसी एकपक्षी सम्बन्धित इकाइयां (Unilateral Kin Groups) हैं जिन पर व्यक्ति निर्भर है और कठिनाइयों में उन्हीं का आश्रय लेता है। भारत में सामाजिक सुरक्षा का कार्यक्रम अब भी इस अवस्था में नहीं पहुंचा है कि व्यक्ति संयुक्त परिवार से पूर्णतया अलग हो जाय। मदनलाल के अनुसार, आज से नहीं बल्कि अत्यन्त प्राचीन काल से संयुक्त परिवार विभाजित होता रहा है लेकिन, फिर भी, उसकी संयुक्तता बनी रही है।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह मान्यता निर्मूल सिद्ध होती है कि जिस प्रकार वर्तमान यूरोप में औद्योगीकरण नगरीकरण और स्थानान्तरण से उत्पन्न शक्तियों ने एकाकी परिवारों को जन्म दिया है और परिवार पर व्यक्ति की निर्भरता को कम कर दिया है वैसे ही, भारत में भी परिवर्तनकारी शक्तियां संयुक्त परिवार का विघटन कर रही हैं। समान परिवर्तनकारी शक्तियां दो विभिन्न समाजों में समान परिवर्तन को ही जन्म नहीं देती हैं। योरोप की प्रौद्योगिकी और औद्योगीकरण को अपना करके भी जापान योरोप की प्रतिकृति नहीं बना। सामाजिक परिवर्तन परिवर्तनकारी शक्तियों के अलावा उस गति पर अधिक निर्भर करता है जिसके साथ परिवर्तनकारी शक्तियों का प्रभाव किसी समय पर पड़ता है। यदि परिवर्तनकारी शक्तियां तेजी से आती हैं तो उग्र परिवर्तन होते हैं। यदि परिवर्तनकारी शक्तियां धीरे धीरे आती हैं तो, सहसा परिवर्तन के स्थान पर, धीरे धीरे स्थानान्तरण

आता है। भारत में संयुक्त परिवार का विघटन न होकर रूपान्तरण हुआ है।

भारत में औद्योगीकरण, नगरीकरण और स्थानान्तरण जैसी परिवर्तनकारी शक्तियों का प्रवेश धीरे धीरे हुआ है। इसी कारण, भारत की सामाजिक संस्थायें एक ओर न्यून परिवर्तित हुयी हैं और दूसरी ओर ये परिवर्तनकारी शक्तियाँ और उनसे उत्पन्न होने वाला सामाजिक परिवर्तन भारत की संस्थाओं से प्रभावित हुआ है। जैसा कि पाश्चात्य प्रभाव से आर्थिक संस्थाओं में होने वाले परिवर्तनों का वर्णन करते समय दिखाया गया है अंग्रेजी राज में भारत का औद्योगीकरण हुआ तो है किन्तु धीरे धीरे। इसी कारण, भारत में नगरीकरण की मात्रा तो कम रही है किन्तु नगरों का विकास मन्द हुआ है जिससे ग्रामीण जीवन की अनेक विशेषतायें नगरी संगठन में समा गईं। कृषि आर्थिक व्यवस्था, जाति प्रथा बाल विवाह प्रथा शिक्षा की कमी भाषा तथा संस्कृति की भिन्नता और उत्तराधिकार के नियमों के कारण भारत में स्थानान्तरण और आन्तरिक चलिष्णुता (Internal Mobility) अपेक्षाकृत कम रही है। फलतः भारत के कारखानों में काम करने वाले सैंकड़ों हजारों मजदूर अपने गाँव और परिवार से बंधे रहे हैं। परिवार के प्रत्येक व्यक्ति का परिवार की खेती और सम्पत्ति में अधिकार रहता है। जाति अन्तर्विवाही के कारण विवाह के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने गाँव और परिवार में लौटकर आना पड़ता है। भारत में गाँव से नगर की ओर होने वाला स्थानान्तरण पाश्चात्य से भिन्न रहा है। ऐसा देखा गया है कि बहुधा परिवार पर हो जाने वाले कर्जे को चुकाने के लिए या पारिवारिक कृषि की पूँजी सम्बन्धी समस्या को दूर करने के लिए परिवार का एक व्यक्ति शहर जाकर नौकरी या व्यवसाय करता है। ऐसा भी देखा गया है कि यदि एक परिवार में तीन भाई हैं तो वे बारी बारी से शहर जाकर काम करते हैं और घर पर रहने वाले व्यक्ति कृषि का काम किया करते हैं। भारत में व्यक्ति का नगरों की ओर स्थानान्तरण तो हुआ है किन्तु व्यक्ति के साथ साथ उसके गाँव और जाति का भी शहर में स्थानान्तरण हुआ है। यही कारण है कि प्रत्येक शहर में एक क्षेत्र विशेष से आने वाले व्यक्ति बहुधा एक जाति विशेष के होते हैं और वे एक ही स्थान में रहते हैं। देहरादून का एक चमार जाति (जाटव) के सदस्य बिजनौर के आस पास से आए हैं और दूसरी जाति (नागर) के सदस्य ग्वालियर के आस-पास से। उनके साथ साथ उनकी जाति पंचायत भी आ गई और विवाह तथा उत्तराधिकार नियमों के साथ साथ संयुक्त परिवार के आदर्श भी।

५

भारत में मुस्लिम परिवार

भारतीय मुस्लिम-परिवार के संगठन में एक ओर तो देश और दूसरी ओर से उन इस्लामी सामाजिक तत्वों का संगठन हुआ है जिनको कुरान और परम्परा

(Tradition) के आधार पर निरूपण हुआ है। किन्तु, जैसा कि डिमाम्बीन ने कहा है, यह समझना भूल होगी कि मुस्लिम-परिवार के सामाजिक तत्वों का निर्माण और निरूपण मुहम्मद ने ही किया है। मुस्लिम परिवार की सामाजिक रूपरेखायें, वस्तुतः, उस प्राचीन अरब-परिवार पर आधारित हैं जिसे हजरत मुहम्मद ने एक उच्चतर मजहबी ढांचे में लाने का प्रयास किया था। इस्लाम के अभ्युदय के पहले का अरबी सामाजिक संगठन गणजातियों (Tribes) में विभक्त था। ये गणजातियाँ निरंतर आपस में लड़ती रहती थीं। गणजाति (Tribe) के सामाजिक जीवन का केन्द्र था परिवार। निरंतर युद्धरत सामाजिक जीवन की आवश्यकता थी परिवार में पुरुषों की अधिकता क्योंकि पुरुषों की अधिकता से ही सुरक्षा और अतिजीवित (Survival) सम्भव था। इसी आवश्यकता के कारण, एक ओर, प्राचीन अरब परिवार में कन्याओं को जीवित गाड़ देने की प्रथा का अभ्युदय हुआ था और दूसरी ओर परिवार की संख्या बढ़ाने के लिए बहुपत्नीत्व की प्रथा का। इस्लाम के पहले अरब में मातसत्ता-त्मकता और पितसत्तात्मकता की प्रणालियाँ पायी जाती थी यद्यपि, मुहम्मद के समय, पितसत्तात्मकता का प्रभाव प्रधान होने लगा था। हजरत मुहम्मद ने कन्याओं की निन्दा गाड़ने की प्रथा की भर्त्सना की, बहुपत्नीत्व को चार पत्नियों तक सीमित करके बहुपत्नीत्व की प्रथा को संकुचित करके एक विवाह के आदर्श का प्रतिपादन किया और पारिवारिक संगठन को पितसत्तात्मक बनाया। मातसत्तात्मकता और मातवंशीयता (Matriliny) के कारण, अरबों में, नायरों की भांति, भ्रातृक बहुपत्नीत्व पाया जाता था जो इस्लाम के प्रभावों के अन्तर्गत समाप्त हुआ। मुस्लिम परिवार विशेषतः अरबी मुस्लिम परिवार में, मातुल (मामा खाल) का जो महत्वपूर्ण स्थान मिला हुआ है वह मुस्लिम परिवार के प्रारम्भिक मातसत्तात्मक आधार का ही प्रमाण है[1]।

इस्लामी प्रभाव में प्राचीन अरब के बन्धु परिवार के आधार पर मुस्लिम परिवार के जिस संगठन का अभ्युदय हुआ है, वह पितसत्तात्मक (Patriarchal) पितवंशी (Patrilineal) और पितस्थानीय (Patrilocal) परिवार है, यद्यपि इस्लाम के प्रसार में देश-देश की स्थानीय परिस्थितियों ने उसे प्रभावित किया है। परिवार का कर्ता पुरुष होता है। परिवार के कर्ता का परिवार, उसकी सम्पत्ति, पत्नियां और उनकी सन्तानों तथा परिवार के गुलामों (Slaves) पर पूर्ण अधिकार रहता है। यदि यह सिद्ध हो जाय कि कोई सन्तान कर्ता की सन्तान नहीं है तो उस पर उस व्यक्ति का अधिकार होता है जो उस सन्तान का वास्तविक पिता होता है। इस्लाम के सिद्धान्त के अनुसार, गुलाम का भी अपने कर्ता की सम्पत्ति में हिस्सा

1 गाडीफ्रायम, डिमाम्बीस मुस्लिम इन्स्टीट्यूशन्स पृष्ठ 127। गुलेरी, ए० एम० ए० आउटलाइन्स आफ इस्लामिक कल्चर पृष्ठ 310

मिलता है और यदि कोई स्वतन्त्र गुलाम लावारिस मर जाय तो उसकी सम्पत्ति को उसके वंशजों को मिलने का विधान है। गुलामों के साथ-साथ, परिवार में रखैली पत्नियां (Concubines) का भी स्थान है। रखैली पत्नी की सन्तान का वर्ता की सम्पत्ति में उतना ही उत्तराधिकार है जितना कि ब्याही स्त्री या स्त्रियों की सन्तान अथवा सन्तानों का। हजरत मुहम्मद के एक आदेशानुसार ' सन्तान पर उसके मां बाप का अधिकार है। तुम्हारा उन पर अधिकार है और उनका तुम पर। उन्हें तुम्हारे प्रति वफादार रहना चाहिए और तुम्हें उनके साथ दयापूर्ण प्रेम का व्यवहार करना चाहिए[1]। कर्ता के लिए सभी सन्तानें समान हैं। पुरुष-कर्ता इस्लाम की मान्यताओं के अनुसार परिवार का पोषक है। अतः उसके उत्तरदायित्व के साथ साथ, उसके अधिकार भी नारी की अपेक्षा अधिक हैं। किन्तु साथ ही साथ नारी का भी परिवार-संगठन में प्रमुख स्थान मिला हुआ है[2]। मुस्लिम परिवार की सबसे बड़ी विशेषता है स्त्री को मिलने वाला द्विपक्षीय उत्तराधिकार और वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार जो कपाडिया के अनुसार अरबी नारी के मातृसत्तात्मक विशेषाधिकारों का इस्लाम के पितृसत्तात्मक परिवार संरचना में ऊर्ध्वगामी विकास है[3]।

इस्लाम में प्रतिपादित उत्तराधिकार के नियमों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुस्लिम परिवार का केन्द्र कर्ता उसकी स्त्रियां (ब्याही और रखैली) और उनकी सन्तानें हैं[4] यद्यपि साथ ही-साथ गुलामों तथा सन्तान के अतिरिक्त अन्य वंशजों (Descendants) जीवित पूर्वजों (Ascendants) और पितृवंशी सम्बन्धियों (Collaterals) को उत्तराधिकार देकर परिवार के विस्तृत रूप को भी स्वीकार किया गया है। इस विस्तार का आधार, मुख्यतः पितृवंश और पितृसत्ता रखता है। इसका प्रमाण है पिता की सम्पत्ति में बहिन भाइयों को मिलने वाला उत्तराधिकार। मुस्लिम परिवार की संरचना में निहित पितृसत्तात्मकता का पता इस बात से चलता है कि एक ओर पिता की सम्पत्ति में भाई बहिनों को उत्तराधिकार मिला हुआ है किन्तु दूसरी ओर बहिनों को भाइयों के हिस्से का आधा भाग मिलता

---

1 अख्तरी, ए० एम० ए० वही पृष्ठ 509

2 इस्लाम के विद्यार्थियों की यह मान्यता है कि इस्लामी विधि (Law) और परम्परा (Tradition) से पति को पत्नी और सन्तान पर निरपेक्ष (Absolute) अधिकार मिलता है और पति का स्तर पत्नी की अपेक्षा उच्चतर (Suprior) है— हिमाम्बोंस वही पृष्ठ 132

3 कपाडिया, के० एम० वही अध्याय 9

4 गाडोफ्राय डिमाम्बॉस के अनुसार असली सन्तान वही है जो माहागरात (कुन्त Consummation of Marriage) के ■ महीनें बाद या उसके विच्छेद (Dissolution) के चार साल तक उत्पन्न हो वही पृष्ठ 130

है। कर्ता की सम्पत्ति में उसके पुत्र अथवा पुत्रों को प्रत्यक्ष उत्तराधिकार है और उसकी लड़की अथवा लड़कियों को पुत्र अथवा पुत्रों के हिस्से का आधा भाग मिलता है। पुत्रों की संख्या जितनी ही अधिक होती है लड़की का भाग उतना ही कम हो जाता है। यदि कर्ता के एक ही पुत्र हो तो लड़की को कर्ता की सम्पत्ति का एक तिहाई भाग मिलता है और यदि दो लड़के हों तो पांचवा भाग। लड़की के हिस्से में आने वाला भाग कर्ता की लड़कियों में उनकी संख्यानुसार बराबर बट जाता है।

डिमाम्बीस के अनुसार इस्लामी उत्तराधिकार विधि (Law of Inheritance) कुरान द्वारा प्रतिपादित हुयी है और कुरान में प्राचीन अरब की उत्तराधिकार विधि को अपना लिया गया है। अन्तर इतना है कि प्राचीन अरब में पितृवंशी उत्तराधिकार को प्राथमिकता मिलती थी जबकि कुरान में नारी का भी उत्तराधिकार लिया गया। फिर भी इस्लामी विधि (Muslim Law) में उत्तराधिकार की प्राथमिकता पितृवंश (Paternal Line) में ही है। पितृवंश में पुरुष (असब) और लड़कियां (जरबात) आते हैं। इस्लामी विधि के अनुसार एक ओर स्वाभाविक उत्तराधिकारी आते हैं और दूसरी ओर विशेष उत्तराधिकारी (Privileged Inheritors) जिन्हें कर्ता की सम्पत्ति में से एक निश्चित (Fixed) हिस्सा मिलता है। विशेष उत्तराधिकारियों में लड़कियां पुत्र अथवा पुत्रों की लड़कियां (प्रपौत्रियां) माता पिता, बाबा (Grand Father) दादी (Grand Mother) बहिन या सगी बहिनें (Sisters German) सौतेली बहिन (पिता की ओर से) बहिन भाई (माता की ओर से) विधुर (Widower) और विधवा (Widow) आते हैं। इसके अतिरिक्त पितामह (Grand Father) और अन्य जीवित पूर्वज, पितृवंशी बन्धु या वंश (Collaterals of Any Degree) भी उत्तराधिकारियों में आते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी का कभी गुलाम रहा हो किन्तु बाद में, स्वतन्त्र हो गया हो और यदि उसके बाद उसका उत्तराधिकारी न हो तो उसकी सम्पत्ति उसके मालिक को मिलती है। यदि किसी व्यक्ति का कोई उत्तराधिकारी न हो तो उसकी सम्पत्ति राज्य कोष में चली जाती है[1]। यदि कोई व्यक्ति चाहे तो वह अपनी सारी सम्पत्ति पुण्यकार्य के लिए वक्फ को दान कर सकता है।

इसप्रकार मुस्लिम परिवार में एक ओर कर्ता को निरपेक्ष अधिकार मिले हुए हैं और, दूसरी ओर, उसकी सम्पत्ति पर, उसकी मृत्यु के बाद एक विस्तृत सम्बन्धियों का उत्तराधिकार मान लिया गया है। ऐसी दशा में परिवार की संरचना में संयुक्तता का वह आधार नहीं रह जाता है जो परम्परागत हिन्दू-परिवार में है। भारत में मुस्लिम विधि प्रणाली को ही लागू किया गया है। भारत के विभिन्न स्थानों की देशज परम्पराओं ने और अंग्रेजी राज के आघात ने मुस्लिम

1 गार्डीप्रयाग, डिमाम्बीस वही अध्याय 9

परिवार के संगठन और संरचना को किस प्रकार प्रभावित किया है, इस विषय में निश्चितपूर्वक कह सकना कठिन है क्योंकि, भारत में इस दृष्टिकोण से मुस्लिम परिवार का समाजशास्त्रीय अध्ययन नहीं किया गया है। तुर्की जैसे देशों में योरोपीय प्रभाव पड़ा है और योरोपीय ढंग के परिवर्तन भी आए हैं। तुर्की में होने वाले परिवर्तनों का वर्णन मिलता अवश्य है किन्तु उससे प्रतिष्ठित मुस्लिम परिवार (Classical Muslim Family) में होने वाले परिवर्तनों का पता चलता है न कि भारत में होने वाले परिवर्तनों का।

६

जाति

जाति विवाह और परिवार की भांति योरोपीय संघात से उत्पन्न परिवर्तनकारी शक्तियों के प्रभाव में आई है, किन्तु जिस प्रकार योरोपीय संघात के अन्तर्गत विवाह और परिवार का परिवर्तित उद्विकास हुआ है उसी प्रकार, जाति का भी परिवर्तित उद्विकास हुआ है। अंग्रेजी राज के माध्यम से पड़ने वाले योरोपीय संघात से, जैसा कि पिछले वर्णन से स्पष्ट है, भारत की आर्थिक व्यवस्था बदली, उदारवादी प्रजातन्त्र के आदर्शों का प्रसार हुआ, वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी को उत्तरोत्तर अपनाया गया, नगरीकरण और औद्योगीकरण बढ़ा, प्रशासन के आधार स्वरूप भारतीय विधि प्रणाली के निर्वचन और प्रशासन का योरोपीय वैधानिक मान्यताओं के समन्वय से तालमेल का प्रयास किया गया, यातायात और सन्देशवाहन के साधनों का उत्तरोत्तर विकास हुआ, सामाजिक, भौतिक और आर्थिक चलिष्णुता पहले की अपेक्षा और भी अधिक प्रखर हुई तथा ईसाइयत और इस्लाम के सम्मिलित प्रभाव ने वयविहार समानता के विचार को और भी व्यापक तथा व्यावहारिक बनाने पर जोर दिया। जाति में इस प्रकार जो विकास के सम्मिलित प्रभाव के कई परिणाम निकले—एक, जाति के परम्परागत सामाजिक आर्थिक आधार ढीले पड़े, दो, जाति आरम्भ समाज की एक सामाजिक समस्या बन गई, तीन, जाति संस्था का सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा दार्शनिक पुनरवलोकन प्रारम्भ हुआ, चार, समाज सुधार आन्दोलनों का विकास हुआ जिनमें एक ओर जाति को अप्रजातान्त्रिक और अमानवीय कहकर उसे नष्ट करने पर जोर देकर वर्ण सिद्धान्त को अपनाने पर जोर दिया गया और दूसरी ओर जाति संगठन को ही समाज सुधार आन्दोलन का माध्यम बनाने पर जोर दिया गया, पांच, नद्रवर्णी जातियों में जाति विरोधी, वस्तुतः ब्राह्मण विरोधी आन्दोलनों की उत्पत्ति हुई और नद्रवर्णी जातियों का

अखिल भारतीय स्तर पर संगठित होने की प्रेरणा मिली जिससे फलस्वरूप पूर्ववर्णी जातियों की सामाजिक समस्या राजनैतिक समस्या बन गई है आर्थिक तथा राजनैतिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिये विभिन्न जातियों में प्रतियोगिता प्रारम्भ हुई जिससे जातीय तनाव और संघर्ष को प्रोत्साहन मिला। इन परिवर्तनों का परिणाम यह निकला कि जाति में एक ओर विघटक और दूसरी ओर संघटक शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। विघटक और संघटक शक्तियों के घात प्रतिघात से उत्पन्न परिवर्तन प्रक्रिया जाति गत्यात्मकता का मूलाधार रही है। अन्तर इतना है कि यूरोपीय सम्पर्क ने इस प्रक्रिया को और भी प्रखर बना दिया जिसके फलस्वरूप जाति में तेजी से परिवर्तन भी आये और जाति की सामाजिक दृढ़ता भी मिली।

भारतीय समाज में जाति में उत्पन्न हुए इन परिवर्तनों की ठीक ठीक व्याख्या करने के लिये जाति के सामाजिक स्वरूप की व्याख्या आवश्यक है। जाति क्या है ? यह एक विवादग्रस्त प्रश्न रहा है क्योंकि जाति एक बहुमुखी जटिल सामाजिक प्रथा है। जाति की परिभाषा करने के प्रयास में मानवशास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों ने जाति की अनेक विशेषताओं को निर्धारित किया है जिनके आधार पर जाति का परिभाषात्मक वर्णन किया जा सकता है। एक जाति भारतीय सामाजिक संरचना का एक प्रतिष्ठा समूह (Status Group) है—यह समूह जो अन्तर्विवाही माना है, जो परम्परा में एक या एक से अधिक पेशों से सम्बन्धित होता है जिसके सदस्य साधारणतया जाति पंचायत के अन्दर संगठित होते हैं, जिसकी सदस्यता जन्म से होती है, जिसके सदस्यों के अपने विशिष्ट खान पान के नियम तथा संस्कार (Rituals) होते हैं और जिसको सामाजिक संरचना में एक परम्परागत पद (Status) और सामाजिक तथा आर्थिक भूमिका मानी है। जाति एक नहीं अनेक हैं। भारतीय समाज जातियों में बंटा हुआ है। सभी जातियां भारत की परम्परागत किन्तु परिवर्तनशील सामाजिक संरचना प्रणाली में बद्ध हैं। प्रत्येक जाति की एक विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक भूमिका होती है। उदाहरण, समाज में, परम्परा से निर्धारित एक सामाजिक आर्थिक भूमिका का निर्वाह हुए प्रत्येक जाति अन्य जातियों पर निर्भर करती है क्योंकि प्रत्येक जाति की आर्थिक सामाजिक तथा कर्मकाण्डी आवश्यकताएं अन्य जातियों से पूरी होती हैं। जाति इस दृष्टिकोण से, एक विशेषीकृत समूह है और भारतीय समाज में पाये जाने वाले श्रम विभाजन का आधार है।

परिभाषा और विशेषतायें

जाति की इन बहुमुखी सामाजिक विशेषताओं के कारण जाति की विभिन्न दृष्टिकोणों से परिभाषा की गई है। इरावती कर्वे के अनुसार, जाति मूलतः एक अन्तर्विवाही समूह है यद्यपि जाति अन्तर्विवाही ही जाति की सामाजिक सीमायें निर्धारित करती है। उनके दृष्टिकोण से पता सामाजिक प्रतिष्ठा (Social Status) आर्थिक भूमिका कर्मकाण्डी स्तर

अन्तर्विवाही

(Ritual Status) जाति की विशेषतायें हैं अवश्य किन्तु ये विशेषतायें उतनी प्रधान नहीं हैं जितनी कि जाति अन्तर्वैवाहिकी। जाति की सामाजिक प्रतिष्ठा परिवर्तनशील है। पेशा परिवर्तन से जाति परिवर्तन नहीं होता है जबकि जाति अन्तर्वैवाहिकी के नियमों का उल्लंघन जाति परिवर्तन के लिए उत्तरदायी रहा है। इसी दृष्टिकोण से, इरावती के अनुसार जाति वस्तुतः एक विस्तृत सम्बन्धी-समूह (Extended Kin Group) है क्योंकि अन्तर्वैवाहिकी के कारण, प्रत्येक जाति के सदस्य परस्पर सम्बन्धित रहते हैं। जाति गोत्रों में बँटी रहती है। गोत्र का आधार रक्त सम्बन्ध है। अतः, गोत्रों के रूप में बहिर्विवाही समूहों में विभक्त जाति एक अन्तर्विवाही समूह है। गोत्र बहिर्वैवाहिकी तथा जाति-अन्तर्वैवाहिकी के सम्मिश्रण से जाति एक ऐसा समूह बन जाती है, जिसके सदस्य प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः परस्पर सम्बन्धी होते हैं। जाति की परिभाषा में अन्तर्वैवाहिकी पर जोर देने के कारण, इरावती के मत में, उपजाति नाम की वस्तु ही नहीं है। भारत की उपजाति की धारणा विदेशियों की देन है क्योंकि संस्कृत और पाली साहित्य में उपजाति (Sub Caste) के पर्याय नहीं पाये गए हैं। उदाहरणार्थ चमारों में कुरील, भुमिया, जाटिया, जैसवार जैसे अनेक अन्तर्विवाही समूह पाये जाते हैं। इरावती के दृष्टिकोण में ये समूह उपजातियाँ नहीं, जातियाँ हैं क्योंकि इनमें से प्रत्येक अन्तर्विवाही समूह है। चमार जाति के स्तर पर होने के कारण इन्हें एक विशेष सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त है। इरावती के मत में निहित तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता और यदि इस मत का अनुसरण किया जाय तो भारत की जातियों का चार बड़ी श्रेणियों में वर्गीकरण किया जा सकता है। ये समूह हैं ब्राह्मण-जातियाँ, क्षत्रिय जातियाँ, वैश्य जातियाँ और शूद्र जातियाँ।

भारतीय सामाजिक संरचना में जाति और पेशे का उतना ही आधारभूत सम्बन्ध है जितना कि जाति और अन्तर्वैवाहिकी का। किन्तु इरावती कर्वे का मत है न तो जाति और अन्तर्वैवाहिकी में कोई कारण सम्बन्ध है और न जाति और पेशे में। अधिकतर विद्वानों ने सर्वप्रथम की

पेशा

इस धारणा को अस्वीकार किया है कि केवल पेशा ही जाति संरचना का आधार है किन्तु साथ ही साथ जाति और पेशे के सहसम्बन्ध को लगभग सभी ने स्वीकार किया है। हाल में किये गए भारतीय ग्रामों के अध्ययन से यह सहसम्बन्ध और भी स्पष्ट हुआ है। एड्रियन मायर[1] के अनुसार, प्रत्येक जाति (अन्तर्विवाही समूह) परम्परानुसार एक न एक पेशे से सम्बन्धित है। जैसा कि कुम्हार, तेली, दर्जी, चमार, लुहार, सुनार, सुतार (बढ़ई), नाई, धोबी और गड़रिया इत्यादि जाति नामों

1 मायर, एड्रियन — कास्ट एण्ड ऑक्युपेशन इन ए मालवा विलेज — दि ईस्टर्न एन्थ्रोपोलोजिस्ट, वाल्यूम VII न० 1

से स्पष्ट है जाति और पेशे का सम्बन्ध बहुधा जाति नाम में ही निहित रहता है। किन्तु सभी जाति नामों में जाति और पेशे का सह सम्बन्ध परिलक्षित नहीं होता है। जहाँ जाति-नाम पेशे को परिलक्षित नहीं करता है वहाँ भी परम्परानुसार जाति पेशे से सम्बन्धित होती है चाहे जाति के सदस्य उस पेशे को करते हों या न करते हों। उदाहरणार्थ मालवा के जिस गाँव का माथुर ने अध्ययन किया है उसमें श्रीगौड़ ब्राह्मण, राजपूत, खाती धाकड़ बागड़ी बरगुण्डा और भंगी ऐसी जातियाँ हैं, जिनके नामों में उनके पेशों का आभास नहीं है। किन्तु परम्परानुसार उनके भी पेशे हैं—ब्राह्मण पुरोहिताई करते हैं राजपूत और खाती खेती, बागड़ी चटाई बनाते हैं और बरगुण्डा टोकरी बनाने तथा भंगी सफाई का काम करते है।

जाति और पेशे के सह सम्बन्ध का एक अन्य पहलू भी है। जाति उच्चोच्च परम्परा (Caste Hierarchy) तथा पेशा उच्चोच्च परम्परा में वैसे ही परम्परागत सह-सम्बन्ध है जैसे जाति और पेशे में। माथुर ने गाँव के सारे पेशों को तीन श्रेणियों में बाँटा है—शुद्ध अशुद्ध और अशुद्धतम। पुरोहिताई अध्यापन, जमींदारी, व्यापार, दुकानदारी महाजनी कृषि और पशुपालन दर्जीगीरी, लोहारी, बढ़ईगीरी, कुम्हारी नवई (नाई का काम) क्रमशः शुद्ध पेशों की श्रेणी में बाजा बजाना, तेली का काम कपड़ा बुनना, टोकरी तथा चटाई बुनना और धोबी का काम क्रमशः अशुद्ध श्रेणी में और चमड़ा निकालना तथा पकाना, चमड़े का काम तथा धोबी का काम क्रमशः अशुद्धतम श्रेणी में आते हैं। परम्परानुसार, जिस जाति की सामाजिक प्रतिष्ठा जितनी उच्च है, उसका परम्परागत पेशा भी उतना ही उच्च है। माथुर द्वारा प्रस्तुत जाति पेशा के वर्गीकरण में ब्राह्मण और भंगी तथा उनके पेशे जाति पेशा उच्चोच्च परम्परा की दो सीमायें हैं जिनके बीच में अन्य जातियाँ और उनके पेशे आते हैं। ये सीमायें अपरिवर्तनीय रही हैं क्योंकि ब्राह्मण ने, अपना पेशा बदलने पर भी, न तो कभी भंगी के पेशे को अपनाया है और न कभी भंगी ने ब्राह्मण के पेशे को। पेशा परिवर्तन यदि हुए भी हैं तो जाति संरचना के मध्य स्तरों में। इसीकारण, भारत के सामाजिक इतिहास में, सामाजिक संरचना के मध्यस्तरों में जाति उच्चावचपरम्परा अनिश्चित और अत्यन्त चलिष्णु रही है।

जाति और पेशे के सह सम्बन्ध के कुछ अन्य पहलू भी हैं। अकुशल पेशे निम्नवर्णी जातियों द्वारा अपनाये जाते रहे हैं और कुशल पेशे उच्चवर्णी जातियों द्वारा। भंगी के पेशे की अपेक्षा, ब्राह्मण के पेशे में अधिक अभ्यास, प्रशिक्षण तथा कुशलता की आवश्यकता है। कारीगरी के पेशे बहुधा शुद्ध अशुद्ध पेशा श्रेणियों के सीमान्त में रहे हैं जिसके कारण जाति-संरचना के मध्य स्तर की जातियों में, एक ओर, सामाजिक प्रतिष्ठा के अन्तर अस्पष्ट रहे हैं और, दूसरी ओर सामाजिक चलिष्णुता को प्रोत्साहन मिला है। जाति और पेशे के सह सम्बन्ध का एक अन्य पहलू यह है कि भारत की परम्परागत सामाजिक आर्थिक व्यवस्था, जो मूलतः कृषि-

व्यवस्था रही है और ग्राम सहवासी समुदाय प्रणाली को आधार प्रदान करती रही है म जातिगत पेशे उस रूप म जाति-समूहों के एकमात्र स्वतन्त्र पेशे नहीं रह हैं जिस रूप म औद्योगिक सामाजिक आर्थिक व्यवस्था क विभिन्न पेशे है। परम्परागत पेशा सरचना का मूल आर्थिक आधार कृषि व्यवस्था रही है क्योंकि सभी पेशे विशेषज्ञ कारीगर जातियां के पेशे कृषि और कृषक मे केन्द्रीभूत रहे हैं। गांव की सभी जातियों के पेशों से मिलने वाली सामाजिक आर्थिक सेवाएं मूलत स्थानीय कृषक के लिये रही हैं। दूसरे शब्दों में सारी पेशा सरचना कृषि आर्थिक व्यवस्था के अधीन रही है। यह सत्य है कि प्रत्येक क्षेत्र म कुछ विशेष जातियां कृषि को ही करती रही हैं किन्तु कृषि का पेशा अन्य जातियों के लिये वर्जित नहीं रहा है। धोबी चमार नाई तेली दरजी कहार और कुम्हार अपने-अपने जातिगत पेशों को भी करते रहे हैं और कृषि को भी यद्यपि इन जातियों के लोग बड़े बड़े कृषक नहीं रहे है। इन जातियों के लोग अपना पेशा करने के अलावा या तो छोटे पैमाने पर कृषि करते रहे हैं या फिर खेतिहर मजदूर रहे है। भारत की कृषि आर्थिक-व्यवस्था निम्नतम उपभोग के उत्पादन पर आधारित रही है जिसके कारण जातिगत पेशे कृषक की सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन रहे है।

इसप्रकार विभिन्न जातियों के पेशे और उनके कार्य परस्पर पूर्णत स्वतन्त्र नहीं हैं। ग्रामीण भारत की आर्थिक प्रणाली मुख्यत विभिन्न जातियों के कार्य विशेषीकरण (Functional Specialization) पर और पारस्परिक अन्तर्निर्भरता पर आधारित है। प्रत्येक जाति एक पेशा विशेष से सम्बन्धित रहती है किन्तु उसके द्वारा दूसरा पेशा अपनाये जानेपर कोई रुकावट नहीं है यद्यपि दूसरा पेशा अपनाने की सीमाएं अवश्य निर्धारित हैं। ग्राम सहवासी समुदाय की सरचना म प्रत्येक जाति समूह को परम्परा म एक निश्चित पेशा मिला है और पेशे के साथ एक निश्चित सामाजिक स्तर भी मिला है तथा स्तर और पेशे के साथ एक निश्चित कार्य और भूमिका भी मिली है। अपने पेशे के द्वारा अन्य जातियों की सेवा करना प्रत्येक जाति का दायित्व है। विभिन्न जातियों द्वारा की जाने वाली दायित्व-सेवाओं को श्यामाचरण दुबे[1] ने चार श्रेणियों म बांटा है—एक, कृषि-सम्बन्धी सेवायें जो कृषक के लिए की जाती हैं और जिनका कृषि पर सीधा प्रभाव पड़ता है (जैसे बढ़ई और लुहार का हल और फाल बनाना) दो कृषक तथा गैर कृषक के प्रति की जाने वाली सामाजिक धार्मिक प्रकार की पेशागत सेवाएं (जैसे पुरोहित की सेवायें) तीन कारीगर जातियों म एक दूसरे की सेवाओं म उत्पन्न होने की हुई पेशागत सेवायें (जैसे नाई का नाई से बाल बनवाई न लेना), और चार नकद पारिश्रमिक लेकर की हुई पेशागत सेवायें (जैसे धोबी का नकद पैसे लेकर कपड़े

---

1 दुबे श्यामाचरण इंडियन विलेज

घाना)। नकद पारिश्रमिक देने की परम्परा तब से अधिक चली है जब से भारत में मुद्रा पर आधारित औद्योगिक तथा पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था का समावेश हुआ है। परम्परानुसार पारिश्रमिक नकद न देकर धान्य में देने की प्रथा रही है। फसल तैयार होने पर कृषक की सेवा करने वाली जातियों को अनाज के रूप में पारिश्रमिक दिया जाता रहा है। पारिश्रमिक भी परम्परा से निर्धारित रहा है।

इस प्रकार यदि देखा जाय तो प्रत्येक जाति पेशा विशेषीकरण पर आधारित एक समूह है। जाति का यह रूप परम्परा से निर्धारित है। पर जाति केवल एक पेशा-समूह ही नहीं है क्योंकि जातिगत पेशा का एक ओर आर्थिक महत्व है और दूसरी ओर कर्मकाण्डी महत्व। उदाहरणार्थ जब नाई वर के बाल बनाता है तथा नाई की स्त्री वर कन्या के पैरों में महावर लगाती है, जब नाई की स्त्री विधवा की चूड़ियाँ तोड़ कर उसके माँग का सिन्दूर पोंछती है, जब किसी के मरने पर मृतक मनाने वाले के नाई बाल बनाता है या जब अवध में ब्राह्मणों की कन्या के विवाह में धोबी की स्त्री दिन भर उपवास रख कर कन्या को सुहाग देती है तब नाई और धोबी की सेवायें केवल आर्थिक सेवायें नहीं रहती हैं। उनकी सेवायें वस्तुतः कर्मकाण्डी सेवायें हो जाती हैं। इसीप्रकार, अन्य जातियों की सेवाओं का भी कर्मकाण्डी महत्व है। जन्म विवाह मृत्यु त्योहार और मेले ऐसे अवसर हैं जब विभिन्न जातियों को एक दूसरे की कर्मकाण्डी सेवाओं की आवश्यकता पड़ती है और यही कारण है कि जाति को न तो केवल पेशा समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है और न गिल्ड (Guild) के रूप में यद्यपि जाति में पेशा समूह और गिल्ड के तत्व समाहित हैं। जाति-पेशा के सह सम्बन्ध ने जाति में अन्तर्निर्भरता तथा यजमानी प्रथा को जन्म दिया है।

यजमानी प्रथा

प्रत्येक जाति को अपने पेशे पर एकाधिकार मिला है और पेशे के साथ साथ, उन लोगों पर भी जो उस जाति से सेवायें लेते हैं। उदाहरणार्थ यदि एक गाँव में नाई के चार घर हैं तो गाँव के सारे घर उन चार नाइयों में बँट जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति जिसकी एक नाई सेवा करता है उसका यजमान है। इसीप्रकार प्रत्येक जाति के लोगों के यजमान होते हैं—विशेषतः उन जाति के लोगों के जिनके पेशों का आर्थिक और कर्मकाण्डी महत्व है। यजमान अपने 'परजा' या कमीन से ही सेवा पाने के लिए बाध्य है। प्रत्येक किसान उसी नाई से बाल बनवायेगा उसी बढ़ई से अपना हल ठीक करायेगा और उसी लुहार से अपने औजारों की मरम्मत करायेगा जिसका कि वह यजमान है। यजमान और परजा का सम्बन्ध परम्परा से निर्धारित है। यजमान को अपनी 'परजा' पर एकाधिकार है और परजा को अपने यजमान पर। परजा जाति के किसी व्यक्ति के घर में यदि बटवारा होता है तो यजमान भी बँट जाते हैं। इसप्रकार जाति में पेशागत विशेषीकरण तो है किन्तु एक ही जाति के लोगों में ग्राहकों के लिए प्रतियोगिता नहीं है क्योंकि प्रत्येक के ग्राहक परम्परा से निर्धारित हैं।

जमींदारी परम्परा पर आधारित भूमि-व्यवस्था, यजमानी प्रथा का आर्थिक आधार रही है क्योंकि परजा की सेवायें कृषक जमींदार के लिए अधिक रही हैं। जिस जाति का स्तर जितना उच्च है, उसकी सेवा के लिए 'परजा' की उतनी सुविधा रही है। परजा जातियों को दो प्रकार का पारिश्रमिक मिलता रहा है—एक आर्थिक महत्व की सेवाओं के उपलक्ष में और दूसरा कर्मकांडी सेवाओं के उपलक्ष में। कर्मकांडी सेवाओं के उपलक्ष में मिलने वाला पारिश्रमिक नेग है। विवाह के अवसर पर जब दरजी 'वर' के कपड़े सिलता है, लोहार कंगन भेंट करता है, नाई बाल बनाता है, धोबी की स्त्री कन्या को सोहाग देती है, माली वर को 'मौर' देता है तब ये सब नेग के अधिकारी होते हैं। यजमानी प्रथा ने जाति को ट्रेड यूनियन का रूप दिया है क्योंकि प्रत्येक जाति अपने एकाधिकारी पेशे के आर्थिक हितों की वैसे ही रक्षा करती है जैसे एक ट्रेड यूनियन अपने सदस्यों के आर्थिक हितों की। आस्कर लुईस के अनुसार, जब रामपुर[1] गांव के जाटों ने विवाह में नाइयों को मिलने वाले 'नेग' जोग को घटा दिया तो नाइयों ने अपने जाटों की हजामत बनाना बन्द कर दी। जाटों ने रेजर खरीद कर स्वयं हजामत बनाना शुरू कर दी[2]। तब क्या जाति को ट्रेड यूनियन कहा जा सकता है। ट्रेडयूनियनवाद औद्योगिक पूंजीवादी व्यवस्था की उपज है। ट्रेड यूनियन में मालिक और मजदूर के संघर्ष तथा उनके विरोधी हितों का भाव निहित है। यजमानी प्रथा में भी मालिक और सेवक का भाव है। यजमान और परजा का सम्बन्ध परम्परा से निर्धारित है। यजमानी प्रथा जाति के निम्नस्तर पर श्रम को अचलिष्णु बनाता है ताकि प्रभु जाति (Dominant Caste) के लिए श्रमिक उपलब्ध हो सकें। यहां सामूहिक सौदेबाजी नहीं है। यजमानी प्रथा से केवल यजमान ही नहीं निर्धारित होते हैं वरन प्रत्येक जाति का सामाजिक स्तर, उसकी सामाजिक आर्थिक तथा कर्मकाण्डी भूमिका भी निर्धारित होती है। यजमानी प्रथा विभिन्न जातियों का सामाजिक आर्थिक समायोजन तथा सामञ्जस्य है। यजमानी प्रथा की जड़ें भारत की कृषि पर आधारित परम्परागत तथा निष्प्रवाह आर्थिक व्यवस्था से उत्पन्न ग्रामवाद में हैं। जाति में ट्रेड यूनियन के तत्वों का समावेश आज हो रहा है।

उच्चोच्च परम्परा

जाति अन्तर्विवाही तथा पेशा-समूह होने के साथ-साथ भारतीय सामाजिक संरचना का आधार भी है क्योंकि जाति व्यवस्था एक सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली की परम्परागत उच्चोच्चपरम्परा पर आधारित है। जाति व्यवस्था एक स्तरीकृत प्रणाली है जिसमें विभिन्न जातियों को अलग अलग सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त है—वह सामाजिक प्रतिष्ठा जो जन्मजात है। आधुनिक पश्चिमी समाज का स्तरीकरण, अर्जित सामा

1 रामपुर दिल्ली के पास का वह गांव है जहां आस्कर लुइस ने ग्राम व्यवस्था का अध्ययन किया था। रामपुर नाम कल्पित है।

2 वाइजर, डब्लू० एच० कृत दि हिन्दू जजमानी सिस्टम में से उद्धृत।

जिक आर्थिक प्रतिष्ठा पर आधारित है जबकि जातिव्यवस्थागत स्तरीकरण जन्मजात सामाजिक, आर्थिक तथा कर्मकांडी प्रतिष्ठा पर। जाति व्यवस्था, इस दृष्टिकोण से, वर्ग-व्यवस्था से भिन्न है। इसी भिन्नता के कारण जाति को 'आवृत्त वर्ग' या 'अचलिष्णु वर्ग' या 'वह वर्ग जो अचलिष्णु (Immobile) है' के रूप में परिभाषित किया गया है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि जाति-व्यवस्था परिवर्तनशील नहीं है—जाति व्यवस्था चलिष्णु और परिवर्तनशील रही है किन्तु उतना नहीं जितना कि वर्ग व्यवस्था है। इसका कारण भारत की निष्प्रवाह आर्थिक-व्यवस्था रही है। जाति-व्यवस्था में वर्ग व्यवस्था के भी तत्व हैं। कृषि-व्यवस्था में भूमि ही सम्पत्ति का आधार है और भूमि का वितरण इसप्रकार से रहा है कि अधिकतर भूमि पर अधिकार ब्राह्मण तथा क्षत्रियवर्णी जातियों के पास रहा है। ब्राह्मण और क्षत्रिय इसप्रकार, उच्च वर्ग में रहे हैं, खेतिहर जातियां मध्यवर्ग में और कारीगर तथा अस्पृश्य जातियां निम्न वर्ग में। जातियों का वर्णानुसार वर्गीकरण और इवर्गीकरण को आधार प्रदान करने वाली सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि जाति-व्यवस्था में निहित वर्ग-व्यवस्था को स्पष्ट करती है। निष्प्रवाह आर्थिक व्यवस्था में सामाजिक आर्थिक चलिष्णुता कम सम्भव रही है। इसकारण, जाति व्यवस्था में कर्म सिद्धांत को महत्ता दी गई है और चलिष्णुता के आधार आर्थिक न होकर कर्मकांडी रहे हैं। यही कारण है कि जातियों ने अपना स्तर उठाने के लिए कर्मकांड पर अधिक जोर दिया है न कि आर्थिक स्तर को उठाने पर। कृषि पर आधारित निष्प्रवाह आर्थिक व्यवस्था में आर्थिक स्तर उठाने के लिए स्थान ही नहीं रहा है।

जाति-व्यवस्था में निहित सामाजिक प्रतिष्ठा श्रम विन्यास का आधार आर्थिक भी है और कर्मकांडी भी। जाति-व्यवस्था के सामाजिक प्रतिष्ठा श्रम विन्यास में आधार में पवित्रता और अपवित्रता का भाव रहा है। इसीकारण जिस जाति का सामाजिक स्तर जितना उच्च है उसका आर्थिक स्तर भी उतना ही उच्च मिलता है और वह उतना ही पवित्र मानी जाती है। जाति-संरचना के उच्चतम स्तर पर रहे हैं ब्राह्मण जो पवित्रतम माने गये हैं और निम्नतम स्तर पर रही हैं चमार और भंगी जैसी जातियां जो अपवित्र और अछूत मानी गई हैं। जाति जाति में पाई जाने वाली पवित्रता तथा अपवित्रता की भावनायें, कुछ जातियों को अछूत मानने की परम्परा और खान पान के प्रतिबन्ध तथा जातिगत खाद्य अखाद्य के प्रश्न अपवित्रता और अशौच के विचारों पर आधारित हैं। जैसाकि हटन ने लिखा है कि जाति-संरचना में अस्पृश्यता का विचार, अपवित्रता और अशौच के ही विचारों से सम्बन्धित है। कर्मकांडी पवित्रता जाति श्रम विन्यास का आधार रही है। जिस जाति का स्तर जितना उच्च है उसके लिए पवित्रता के कर्मकांड उतने ही अनिवार्य और जटिल हैं। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण के लिए दैनिक पवित्रता के नियम भंगियों की अपेक्षा अधिक आवश्यक हैं।

जाति एक अर्द्ध राजनैतिक इकाई है—अर्द्ध इसलिए कि राजनैतिक संगठन होते हुए भी जाति संगठन राजनैतिक दृष्टिकोण से स्वतन्त्र नहीं रहा है।

जाति का राजनैतिक पक्ष भारतवर्ष की राजनैतिक व्यवस्था तीन स्तरों पर संगठित रही है—एक जाति के स्तर पर, दूसरी क्षेत्रीय राज्यों (Principalities) के स्तर पर और तीसरी, अखिल भारतीय राजनैतिक स्तर पर। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पहले रियासती स्तर ही प्रधान था। एक सामाजिक राजनैतिक इकाई के रूप में जाति धरातल पर कार्य करती रही है और प्रत्येक जाति के राजनैतिक कार्य जाति तक ही सीमित रहे हैं। जाति पंचायत का संगठन जाति का राजनैतिक पहलू है। जाति पंचायत जाति व्यवस्था में एक परम्परा के रूप में रही है। प्रत्येक अन्तर्विवाही समूह एक या कई जाति पंचायतों में संगठित रहा है। जाति पंचायत में प्रबन्धक विधायिनी और न्यायिक अधिकार निहित रहे हैं। जाति पंचायतों ने परम्परा विधि को लागू किया है। जाति पंचायतों का मुखिया वंशानुक्रम के आधार पर चुना जाता रहा है। जाति पंचायतों के अन्तर्गत जाति सम्बन्धी सभी प्रकार के नियमों का प्रतिपादन, संरक्षण और निर्वचन होता रहा है। अन्तर्जातीय सम्बन्धों का जाति पंचायतों द्वारा ही नियमन होता रहा है। जाति पंचायतों में दैवी साक्ष्य (Ordeal) शपथ और व्यावहारिकता के आधार पर कार्य होता रहा है। जाति के नियमों का उल्लंघन करने वाला, जाति के समक्ष, दण्ड का भागी है। जुर्माना, जाति भोज, शारीरिक प्रताड़ना जन अपमान शुद्धिकरण और हुक्का पानी बन्द करना, जाति पंचायत द्वारा दिये जाने वाले मुख्य दण्ड हैं। जाति पंचायत के दण्ड विधान में, ऐसे दण्डों का विधान रहा है जिससे अन्य व्यक्तियों को उदाहरण मिले और वे जाति नियमों के उल्लंघन से दूर रहें। अतः जैसे को तैसा का सिद्धान्त जाति पंचायत के न्याय और दण्ड विधान का मुख्य आधार रहा है। हुक्का पानी बन्द करने का दण्ड हर दशा में अस्थायी ही रहा है क्योंकि जाति के बाहर व्यक्ति का सामाजिक स्तर शून्य है और इसकारण जाति से निकल जाने पर जाति में पुनः शामिल होना एक आधारभूत आवश्यकता रही है। इससे जाति को स्थायित्व मिला है।

जाति संरचना के माध्यम से भारत की राजनैतिक सत्ता संस्थागत रही है। राजनैतिक सत्ता में उच्च स्तर पर रही हैं ब्राह्मण तथा क्षत्रियवर्णी जातियां मध्य स्तर पर वैश्यवर्णी जातियां और निम्नस्तर पर शूद्रवर्णी तथा अस्पृश्य जातियां। इधर हाल में भारत की ग्रामीण सामाजिक-व्यवस्था के जो अध्ययन हुए हैं उनमें यह स्पष्ट हुआ है कि किस प्रकार ग्रामीण सामाजिक-आर्थिक प्रणाली में राजनैतिक सत्ता और विशेषाधिकार उच्चवर्णी जातियों के हाथ में रहे हैं। राजनैतिक सत्ता और विशेषाधिकार उन्हीं जातियों के हाथ में रहे हैं जिनके पास अधिकतम भूमि रही है। इस परम्परागत सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में प्रत्येक गांव और क्षेत्र में एक प्रभुतासम्पन्न जाति (Dominant Caste) रही है। प्रभुतासम्पन्न जाति वह जाति

है जिसके पास अपने ग्राम या क्षेत्र में सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक विशेषाधिकार रहे हैं और, इस कारण, अन्य जातियों के सामाजिक जीवन का वह आदर्श रही हैं अर्थात् अपने सामाजिक स्तर को ऊपर उठाने के लिए निम्नस्तर की जातियाँ जिसका अनुकरण करती रही हैं। उदाहरणार्थ पश्चिमी उत्तर प्रदेश में, जाटों का प्रभुत्व रहा है और उनके जीवन यापन में उस क्षेत्र के सामाजिक जीवन के आदर्श प्रतिमान रहे हैं। प्रभुत्व सम्पन्न जाति किसी भी वर्ण की हो सकती है यद्यपि मुख्यतया ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण की जातियाँ ही प्रभुत्व सम्पन्न जाति के रूप में पाई गई हैं। जाति-व्यवस्था के माध्यम से, राज्य सत्ता के वंशागत हो जाने के कारण, भारतीय सामाजिक जीवन में सामाजिक-सांस्कृतिक नेतृत्व भी वंशागत रहा है। यही कारण है कि भारतीय समाज में नेतृत्व ब्राह्मणों और क्षत्रियों के हाथ में रहा है। इस परम्परागत सामाजिक-प्रमेय से यह ऐतिहासिक तथ्य भी स्पष्ट होता है कि भारतीय इतिहास के प्रत्येक काल में ब्राह्मण और क्षत्रियों ने जाति प्रथा का विरोध किया है और उसे स्थायित्व भी प्रदान किया है।

इसप्रकार, जाति के अनेक आधार रहे है, जिन्हें किसी एक परिभाषा में बाँधना मुश्किल रहा है। अन्तर्विवाहिकी, पेशा, सामाजिक राजनैतिक तथा धर्मवादी प्रतिष्ठा से सम्बन्धित होने के कारण, जाति ने भारतीय सामाजिक संरचना को अनेक पहलुओं से प्रभावित किया है। हटन के अनुसार, जाति का प्रभाव मुख्यतया तीन स्तरों पर क्रियाशील रहा है—एक, जाति के माध्यम से व्यक्ति को जन्मजात प्रतिष्ठा मिलती रही है, जिसके कारण, जहाँ व्यक्ति को आर्थिक सुरक्षा मिली है वहाँ, जाति के द्वारा व्यक्ति का जीवन भी निर्देशित होता रहा है। जाति में व्यक्ति की सामाजिक परिधि निर्धारित होती रही है। दो, जाति-व्यवस्था के माध्यम से विभिन्न समूहों के सम्बन्ध नियमित होते रहे हैं, जिसके कारण, जहाँ प्रत्येक समूह का सामाजिक स्तर निर्धारित हुआ है उसे सामाजिक आर्थिक सुरक्षा मिली वहाँ, दूसरी ओर, विभिन्न जातियों के रूप में विभिन्न समूहों के अन्तःसम्बन्धों को स्थायित्व मिला है। इस दृष्टिकोण से जाति को भारतीय, विशेषतः हिन्दू समाज का मूलतम आधार कहा जा सकता है। जाति-व्यवस्था वह माध्यम है, जिसके द्वारा अनेक समूह, जो प्रधानतः गणजातियों के स्तर से उठे हैं, हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत में, अपनी विशिष्टता बनाये रखते हुए भी, स्थान पाते रहे हैं[1]। इसीकारण, जाति का प्रवेश हिन्दुत्व,

---

1 जाति और गणजाति में काफी समानता है। गणजातियाँ जाति के रूप में परिवर्तित होती रही हैं जिनके कारण, भारतीय समाज में, जातियों की संख्या बढ़ती गई है। जाति और गणजाति का अन्तर वर्तमान भारत में किया गया है न कि प्राचीन भारत में। अन्तर्विवाही समूह होने के कारण भारतीय परम्परा के अनुसार, प्रत्येक गणजाति जाति है। गणजाति के जाति में परिवर्तित होने की प्रक्रिया का वर्णन अन्तिम अध्याय में किया गया है।

इस्लाम और इसाइयत म हुआ है । तीसरा, जैसा कि हट्टन का मत है, जाति व्यवस्था ने भारतीय समाज को सघानीय समाज (Federal ı c Plural Society) का रूप दिया है। सघानीय समाज वह समाज है जिसम प्रत्यक इकाई का अस्तित्व बना रहता है लेकिन हर इकाई एक सामाजिक सास्कृतिक सूत्र से बधी रहती है, वसे ही जसे अपनी धीली पर घूमती हुई पथ्वी सूय क चारो ओर घूमती है। सघानीय-समाज लचीला समाज है और उसका मूल अनेकता म एकता का सिद्धात है। जाति व्यवस्था ने, जैसा कि इरावती कर्वे का मत है, भारतीय समाज को 'एकोऽह बहुस्याम का आधार प्रदान किया है। जन्मजात सामाजिक प्रतिष्ठा तथा सामाजिक सास्कृतिक भूमिका से सम्बन्धित होन के कारण, जाति ने एकता म अनेकता बनाये रखते हुए सास्कृतिक स्थायित्व को प्रोत्साहित किया है। जाति व्यवस्था मे उस व्यवस्था के तथ्य निहित हैं जिस डाक्टर मजूमदार ने सस्कृतियो के सघान (Federation of Cultures) का माना गया है। किन्तु जाति से यदि सास्कृतिक स्थायित्व मिला है तो जाति परम्परावादिता का भी स्रोत रही है। परम्परावादिता बनाम प्रगति क सघष का मूल कारण जाति-व्यवस्था म ही रहा है।

यहा एक प्रश्न किया जा सकता है कि भारतीय समाज और सस्कृति को जाति ने स्थायित्व प्रदान किया है या उन कारको न जिन्होने स्वय जाति व्यवस्था को स्थाई बनाया है। भारत मे सामाजिक ऐतिहासिक पयवक्षण स यह पता चलता है कि कृषि पर आधारित आर्थिक व्यवस्था और ग्रामवादिता ने जाति व्यवस्था को स्थाई आधार प्रदान किय हैं क्योकि, अग्रेजी राज्य की स्थापना क पहले तक, य निष्प्रवाह रहे हैं। अत, यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि भारतीय समाज और सस्कृति के स्थायित्व मे यहा की निष्प्रवाह अथ-व्यवस्था का बहुत कुछ योगदान है और इसी योगदान ने जाति व्यवस्था को भी स्थाई बनाया ह और इसका प्रसार भी किया है। साधारणतया यह मान्यता पाई जाती है कि जाति-व्यवस्था अचलिष्णु और अपरिवतनशील है। किन्तु यह मत तकसगत नहीं है क्योकि जाति-व्यवस्था पर आधारित सामाजिक प्रतिष्ठानुक्रम लचीला रहा है। हा यह अवश्य है कि जाति व्यवस्था में निहित चलिष्णुता के प्रेरक आर्थिक कम सामाजिक धार्मिक तथा सुधारवादी अधिक रहे हैं। बुद्धवाद जाति-व्यवस्था क विरुद्ध एक आन्दोलन है और इसका उद्देश्य विभिन्न समूहो मे धार्मिक सुधार करके, उन्हें एक सम्माननीय सामाजिक स्तर पर लाना रहा है। इसी प्रकार मध्य युग क सुधारवादी निगुण प था म यदि जाति प्रथा का विरोध किया तो उन्होने निम्नस्तर की जातियो की प्रतिष्ठा का उठाने के लिए हिन्दुत्व को ही माध्यम बनाया। यही हाल उन्नीसवी शताब्दी के ब्रह्मसमाज तथा आयसमाज जस सुधारवादी आन्दोलन का हुआ। इन सुधारवादी आन्दोलनों म हिन्दुत्व का इस प्रकार स विवेचन किया गया कि अधिक स अधिक अतर्विवाही समूह हिन्दुत्व क घर म आ सकें। उधर, हिन्दुत्व म प्रवेश करने पर,

जाति के रूप में यदि गणजाति को निम्नस्तर मिलता रहा है तो, साथ ही साथ, एक पेशा अपनाने के कारण सामाजिक सुरक्षा भी मिलती रही है। इसप्रकार प्रत्येक सुधारवादी आन्दोलन से यदि नई गणजातियां जाति-संरचना में प्रविष्ट हुईं तो उनसे पहले आई हुई गणजातियां भी पहले की अपेक्षा अधिक उच्चतर सामाजिक प्रतिष्ठा की ओर अग्रसर हुईं। किन्तु साथ ही साथ, जैसा कि वीरशैव समाज और लिंगायत-सम्प्रदाय के उदाहरणों से स्पष्ट है प्रत्येक सुधारवादी संघ या सम्प्रदाय या तो स्वयं एक जाति बन गया या उसमें जातियों का समावेश हुआ। जैसा कि सिक्ख सम्प्रदाय से स्पष्ट है जो जातियां जिस स्तर से आई उनका वही स्तर बना रहा। इसप्रकार सहिष्णुता के प्रेरक रहे हैं हिन्दुत्व के वे तत्व जिन्हें श्रीनिवास ने संस्कृताइजेशन कहा है। जाति-संरचना में सामाजिक प्रतिष्ठा को उठाने के लिये संस्कृताइजेशन को इसीलिये महत्व मिलता रहा है कि भारतीय समाज का आर्थिक आधार निष्प्रवाह रहा है। यही कारण है कि जाति-संरचना में तीव्रतर सहिष्णुता का तबतक उद्भव नहीं हुआ जबतक, अंग्रेजी राज्य के माध्यम से पड़ने वाले योरोपीय संघात के कारण, भारत में पूंजीवादी आर्थिक-व्यवस्था का समावेश नहीं हुआ।

परिवर्तन और उसके कारण

भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना ने नई सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों को जन्म दिया। उत्तरोत्तर बढ़ते हुये पूंजीवाद से सामन्तवादी व्यवस्था समाप्त हुई। औद्योगिक तथा मुद्राया आर्थिक-व्यवस्था का प्रसार हुआ। यातायात तथा संदेशवहन के साधनों के उत्तरोत्तर विकास के कारण, पहली बार भारत का राजनैतिक आर्थिक तथा सांस्कृतिक एकीकरण हुआ जिसके कारण जाति का अखिल भारतीय राजनैतिक एकीकरण में समायोजन हुआ। प्राचीन परम्परागत पेशा संरचना के आधार पर, एक नई औद्योगिक पेशा-संरचना का प्रतिस्थापन हुआ। भारतवर्ष में उस वैधानिक, न्यायिक तथा दण्ड व्यवस्था का श्रीगणेश हुआ जिसका आधार पूंजीवादी प्रजातन्त्र और उदारवाद था। इसाइयत के प्रभाव से समतावादी विचारधारा फैली और जाति जाति का असमान अन्तर एक निराधार आदर्श बन गया। व्यक्ति की गरिमा और महत्ता तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के आदर्श में विचार का अभ्युदय हुआ। भूमि ही आर्थिक सम्पन्नता का एकमात्र आधार न रही। सरकारी नौकरियां, कारखानों की मजदूरी और व्यापार ने आर्थिक सम्पन्नता के नये आधार प्रस्तुत किये। शहरीकरण के विकास से शहरों में जो आर्थिक व्यवस्था उत्पन्न हुई वह ग्रामों से भिन्न थी। इन सारे विकासों का परिणाम यह हुआ कि जाति-व्यवस्था को आधार प्रदान करने वाले आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक आधारों में परिवर्तन आया जिसके फलस्वरूप जाति के बहुमुखी आधारों में धीरे धीरे परिवर्तन हुये। किन्तु साथ ही साथ अंग्रेजी राज्य में, जनगणना जातियों के आधार पर ही होती रही, सम्पन्न जातियों को विशेषाधिकार दिये गये फौज में जातियों के आधार पर

यूनिटो (Units) का सगठन किया गया। बदली हुई आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियो म यदि निम्नस्तर का जातियो ने आर्थिक तथा सामाजिक अधिकारो की अधिकाधिक माग की तो उच्च स्तर की जातियो ने अपन परम्परागत विशेषाधिकारो को बनाये रखने का प्रयास किया। इस परिस्थिति का सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि जहा, एक ओर, जाति क आधार ढीले हुय वहा, दूसरी ओर, जाति को सगठित हान के नये आधार और नई प्रेरणाय भी मिली। यारोप के सघात ने जाति म एकीकरण तथा विश्रृंखलन की प्रक्रियाओ को एक साथ ज म दिया।

अग्रेजी राज्य क माध्यम से ज्यो ज्यो योरोपीय सभ्यता का सघात बढा और भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था म परिवतन आया त्यो त्यो जाति के विभिन्न आधारो और पहलुओ म परिवतन उत्पन्न हुये। उदारवादी विचारधारा, ईसाइयो द्वारा जाति की आलोचना अग्रेजी शिक्षा क द्वारा पनपती हुई प्रजातन्त्रवादी विचारधारा तथा व्यक्तिवादी मान्यताओ के कारण, जाति तथा उसक बन्धनो के प्रति एक नय सुधारवादी दृष्टिकोण का उदय हुआ जिसकी अभिव्यक्ति ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज क आन्दोलनो म हुई। इन आन्दोलनो म समतावादी विचारधारा का प्रसार हुआ जाति के बधनों का निमूल निर्धारित किया गया और हिन्दू समाज की एकता पर जार दिया गया। ब्रह्मसमाजियो ने जाति रहित हिन्दू समाज की स्थापना के लिये अतर्जातीय विवाहो पर जोर दिया। आर्यसमाज ने भी इसी परम्परा का अनुसरण किया। उधर, अग्रेजी साहित्य क माध्यम स फैलनेवाली रूमानी विचार धाराओ स, विवाह और नर-नारी के प्रेम म वयक्तिक स्वातन्त्र्य क विचार को प्रोत्साहन मिला। इन विकासो का परिणाम यह हुआ कि अतर्जातीय विवाहो का पक्ष लिया जाने लगा। सन अठारह सौ बहत्तर के स्पेशल मरिज एक्ट स अन्तर्जातीय विवाहो को वधता प्रदान की गई। अग्रेजी राज्यकाल म समान स्तर की जातियो के सगठन अस्तित्व म आये जिसके कारण अशत राजनतिक और अशत सास्कृतिक थे। किन्तु इन कारणो क मूल म थी उच्च सामाजिक स्तर प्राप्त करने की भावना। इस विकास का परिणाम यह हुआ कि एक ही स्तर की अन्तर्विवाही जातियो म अतर्जातीय विवाहो को प्रोत्साहन मिला। उदाहरणाथ चमारो के जटिया और रविदास अन्तर्विवाही समूहो म अन्तर्जातीय विवाहों को किया जान लगा है। किन्तु अन्तर्जातीय विवाह अधिकतर शहरो म और शिक्षित तथा धनी वग तक ही सीमित है। साधारणतया जाति अब भी मूलत अन्तर्विवाही समूह है।

योरोप की पूजीवादी तथा औद्योगिक-आर्थिक-व्यवस्था क दबाव स बदलती हुई भारतीय आर्थिक व्यवस्था का परिवतनकारी प्रभाव जाति और पेशा के बीच सम्बन्ध पर पडा। औद्योगिक व्यवस्था ने शहरीकरण के, साथ-साथ उस नई पेशा सरचना को जन्म दिया जिसम अनेक परम्परागत पेशा की महत्ता समाप्त हो गई (जसे नाई द्वारा समाचार भेजन क महत्व का कम होना), अनेक पेशो की आर्थिक

महत्ता समाप्त हुई (जब माइल मिलों की स्थापना से तेलों के पेशों की आर्थिक महत्ता का कम होना) और कुछ पेशा जैसे धावी, चमड़े का काम करने वाले चमारों, बुनकरों और भंगियों के पेशों की आर्थिक महत्ता बढ़ गई क्योंकि शहरीकरण ने इन पेशों की आवश्यकता को और भी बढ़ा दिया। दूसरी ओर, उद्योग और व्यापार तथा सरकारी नौकरियों ने सभी जातियों के लिये नये अवसर प्रदान किये जिसके परिणामस्वरूप जाति और पेशे का सह-सम्बन्ध उतना अनिवार्य नहीं रहा जितना कि वह परम्परागत सामाजिक आर्थिक-व्यवस्था में था। किन्तु, उच्चवर्णी जातियाँ पहले ही से व्यापार, शिक्षा, सेना और प्रशासन के पेशों में लगी हुई थीं जिसके फलस्वरूप नये अवसरों का लाभ सबसे पहले और सबसे अधिक इन्हीं जातियों को मिला। अठारहवीं सदी सत्तावन की राज्यक्रान्ति के बाद, निम्नस्तर की जातियों को सेना में स्थान देने की नीति अपनाई गई और उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब दक्षिण भारत में ब्राह्मणविरोधी आंदोलन का प्रसार हुआ, तब पिछड़ी हुई जातियों के लिये सरकारी नौकरियों में आरक्षित स्थान की माँग की गई। तबसे बराबर इसी नीति को अपनाया गया जिसके परिणामस्वरूप, एक ओर, जातिवाद को प्रोत्साहन मिला और, दूसरी ओर भारतीय राजनीति में जाति का समावेश हुआ।

सरकारी नौकरियों में आरक्षित सीटों की माँग पिछड़ी जातियों के उस वर्ग से आती रही है जो शिक्षित होने के कारण परम्परागत पेशों को नहीं अपनाता है और सरकारी नौकरी को उच्चतर-सामाजिक प्रतिष्ठा का माध्यम मानता है। उच्च वर्णी जातियों के सामने यह समस्या नहीं थी क्योंकि अंग्रेजी राज्य में उन्हें वह सामाजिक-प्रतिष्ठा उत्तराधिकार के रूप में मिली थी जिसकी निम्नवर्णी-जातियाँ माँग कर रही थीं। अंग्रेजी राज की स्थापना से उत्पन्न नई परिस्थितियों में उच्चवर्णी जातियों के परम्परागत पेशों को (जैसे ब्राह्मण के अध्यापन तथा प्रशासन कार्य को, क्षत्रिय के जमींदारी तथा प्रशासन कार्य को, वैश्यों के उद्यम को और कायस्थों के मुंशियाना पेशों को) एक नया अवसर मिला जिससे उनका, ह्रास नहीं बल्कि, विस्तार हुआ। किन्तु निम्नवर्णी जातियों, विशेषतया कारीगर जातियों, के पेशों का पूँजीवादी-औद्योगिक व्यवस्था से ह्रास हुआ। जूता बनाने के कारखानों, कपड़े की मिलों तथा के औजार बनाने वाले कारखानों से चमारों, कपड़ा बुनने वाली जातियों और लोहारों के पेशों का ह्रास हुआ। किन्तु साथ ही साथ, ये सब ऐसे क्षेत्र थे जहाँ पूँजीवादी व्यवस्था ने नये व्यापारिक अवसर प्रदान किये जिसके कारण उच्च-जातियों ने इन पेशों में कारीगर के रूप में ही नहीं वरन व्यापारी के रूप में प्रवेश किया। आज ऐसे अनेक उदाहरण मिल जाते हैं जिसमें लाड़ी का मालिक एक उच्च-जाति का है, यद्यपि कपड़ा धोने का काम धोबी करते हैं। उसी प्रकार, जूता और चमड़ा का व्यापार अधिकतर उच्च-जातियों के हाथ में है जबकि चमड़ा निकालने तथा जूता बनाने का काम चमार करते हैं। इसप्रकार, नई आर्थिक व्यवस्था में कारीगर

जातियो का अपने पेशा पर से एकाधिकार समाप्त हुआ, उनका अपने ग्राहकों पर से भी एकाधिकार समाप्त हुआ और धीरे धीरे उनका भारत के सर्वहारा वर्ग में परिवर्तन हुआ। जिन पेशो को परम्परानुसार अपवित्र मानकर अशौच का कारण माना जाता था (जैसे मरे हुये जानवरों की खाल निकालना और भंगी का कार्य) उन पेशों को करने वाली जातियों में उन पेशों के प्रति प्रतिक्रिया प्रारंभ हुई और उन्होंने उन्हें छोड़ने पर जोर दिया। इस प्रतिक्रिया का कारण बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था से मिलने वाले नये अवसर है। किन्तु, इस प्रतिक्रिया के बावजूद भी अधिकतर निम्न वर्णी जातियां अपने परम्परागत पेशा में ही हैं।

बदलती हुई सामाजिक आर्थिक परिस्थिति ने जाति और पेशे के सहसम्बन्ध को प्रभावित किया है किन्तु पेशा तथा जाति संरचनाओं की उच्चोच्चपरम्परा में जो अनुरूपता थी उसे नहीं तोड़ा है। देहरादून के चमारों की पेशा संरचना के विश्लेषण से इस तथ्य को स्पष्ट किया जा सकता है। देहरादून में रविदास और जटिया दो चमार जातियां पाई जाती है। रविदास अधिकतर चूना उद्योग में लगे हुए है और जटिया जूता बनाने तथा चमड़े के उद्योग में। जटिया रविदासो से पहले देहरादून में स्थानांतरित हुए थे। रविदास चमारों के तीन सौ पन्द्रह घरों के मुखियाओं में 70 19 प्रतिशत चूना उद्योग में लगे हैं 6 72% बैलगाड़ी से सामान ढोने में, 2 54% छोटे छोटे व्यापारों में 3 81% दर्जी और नाई के कामों में 7 94% छोटी मोटी सरकारी नौकरियों में 1 27% प्राइवेट नौकरियों में और 2 5% अपने लड़कों पर निर्भर है। जटिया चमारों में 89 3% जूता उद्योग में, 4 54% व्यापार में और 6 78% सरकारी नौकरियों में लगे हैं। किन्तु इनके पेशों का यदि अत्यन्त कुशल (Highly Skilled) कुशल (Skilled) और अर्द्धकुशल और अकुशल (Semi Skilled and Unskilled) श्रेणियों में वर्गीकरण किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि रविदास चमारों में केवल 11 11% और जटिया चमारों में केवल 1 0% अत्यन्त कुशल श्रेणी में आते हैं और क्रमशः 13 02% तथा 69 94% कुशल श्रेणी में और 73 33% तथा 27 97% अर्द्धकुशल या अकुशल श्रेणी में[1]। ब्रिग्स ने अपनी पुस्तक 'दि चमार' (1920) और माहिन्दर सिंह ने अपनी पुस्तक 'दि डिप्रेस्ड क्लासेज' (1947) में चमारों का मुख्य पेशा चमड़ा निकालना, चमड़ा पकाना, जूता बनाना और मजदूरी निर्धारित किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि शहरीकरण तथा औद्योगीकरण ने चमारों के परम्परागत पेशे में परिवर्तन किया है यद्यपि

1 देहरादून के चमारों के पेशा सम्बन्धी यह आंकड़े सन 1958-59 में एकत्र किए गये थे। इनका विश्लेषण ईस्टर्न एन्थ्रापालाजिस्ट वाल्यूम XIV, न० 3 में प्रकाशित हैरिस के लेख 'ट्रेन्डस एण्ड मेजर्स आफ स्टेटस मोबिलिटी एमांग दि चमार्स आफ देहरादून' में किया गया है।

सभी चमार जातियों पर इसका एक सा प्रभाव नहीं हुआ है। किन्तु साथ ही साथ, शहरीकरण और औद्योगीकरण के बावजूद भी चमार अधिकतर उसी अनुपात से अकुशल अर्द्धकुशल और कुशल पेशा में हैं जिस अनुपात से वे ग्रामीण सामाजिक आर्थिक-व्यवस्था में रहे हैं और आज भी हैं। हां यह अवश्य है कि बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था में चमारों में एक ऐसे छोटे वर्ग का अभ्युदय हुआ है जो अत्यंत कुशल पेशे में होने के कारण अपेक्षाकृत अधिक धनी है। यही वह वर्ग है जो एक ओर, उच्च जातियों के सामाजिक स्तर में प्रवेश पाने के लिए इच्छुक है और, दूसरी ओर, अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को उठाने के लिए चमारों के सामाजिक स्तर को उठाने के लिए, प्रयत्नशील है। इसप्रकार, जिस जाति में जितना अधिक पेशा वैभिन्य आया है उतना ही उसमें आर्थिक वभिन्य और वर्ग सरचना के तत्वों का समावेश हुआ है और उतना ही उसमें पश्चिमीकरण या संस्कृताइजेशन के द्वारा अपना सामाजिक स्तर उठाने की प्रेरणा का अभ्युदय हुआ है।

ग्रामीण-सामाजिक व्यवस्था में उपरोक्त प्रक्रिया का समावेश हुआ है किन्तु उतना नहीं जितना कि शहरी सामाजिक व्यवस्था में। जैसा कि हाल के ग्रामीण अध्ययनों से स्पष्ट है, भारत के गावों में मुख्यतया निम्नवर्णी जातियों में जाति और पेशे का परम्परागत सह सम्बन्ध बहुत कुछ अब भी वैसा ही बना हुआ है यद्यपि वह धीरे-धीरे परिवर्तित हो रहा है। इसके फलस्वरूप, ग्रामीण सामाजिक-व्यवस्था में यजमानी प्रथा विद्यमान भी है और बदल भी रहा है। बदलती हुई ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था तथा उस पर उत्तरोत्तर बढ़ते हुये औद्योगीकरण तथा शहरीकरण के प्रभाव ग्राम की शहर पर बढ़ती हुई निर्भरता तथा ग्रामवासियों के शहरों में स्थानान्तरित होने के कारण, यजमानी प्रथा का परम्परागत रूप बदल रहा है। उदाहरणार्थ जब गांव के लोग शहरों में कपड़े सिलाते हैं या बच्चों को शहरों में स्थित अच्छी केन्द्रों में भेजते हैं या शहरों के नजदीक स्थित गांव के लोग शहरों में बाल कटाने जाते हैं तो परम्परागत यजमानी प्रथा को धक्का लगता है। परम्परागत सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में, गांव का व्यक्ति गांव की ही कारीगर जातियों से सेवा लेने के लिए बाध्य था जिसके कारण, गांव की कारीगर जातियों का अपने ग्राहकों पर एकाधिकार था जो शहरीकरण तथा औद्योगीकरण के कारण समाप्त हुआ। फलतः, यजमानी प्रथा के मूल आधारों में परिवर्तन आया। दूसरी ओर, दैनिक आवश्यकताओं का वस्तुओं के बढ़ते हुये भावों तथा मुद्रायी आर्थिक व्यवस्था के उत्तरोत्तर प्रभाव के कारण पारिश्रमिक को धान्य (kind) में देने के स्थान पर मुद्रा के रूप में देने और लेने की प्रेरणा बनी। मुद्रा में पारिश्रमिक के भुगतान के कारण, यजमान और परजा का परम्परागत सम्बन्ध समाप्त हो गया और उसके स्थान पर व्यापारी दृष्टिकोण का अभ्युदय हुआ। शहरों में, अधिक पारिश्रमिक मिलने के कारण, कारीगर तथा सेवक जातियों ने, अपने पेशे के अनुसार गांव को छोड़कर शहरों में ग्राहक बनाने पर जोर दिया। शहरी

व्यवस्था म भी, यहा वहा, परम्परागत यजमानी प्रथा के तत्व पाए जाते हैं किन्तु उनका आधार परम्परागत नही है। जैसे शहर म भी विवाहो म नाई की आवश्यकता पडती है किन्तु उसके लिए पसा देकर किसी भी नाई की सेवा ली जा सकती है। जसा कि भगिया क पेशे स स्पष्ट है शहरीकरण के बावजूद भी, उनका अपने पेशे पर एकाधिकार बना रहा जिसके कारण, शहरीकरण के प्रभाव मे और अपने पेशे की विनपता के कारण, भगी जाति न ट्रेड यूनियन का रूप ले लिया।

बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था, पूजीवाद तथा बढते हुये औद्योगीकरण के प्रभाव क कारण तथा जमीदारी उन्मूलन और अस्पश्यता निवारण जैसे वधानिक विकासो के कारण एक ओर, विभिन्न जातियो का परम्परागत आर्थिक क्रम विन्यास बदला है तो, दूसरी ओर, समानता के विचार का प्रसार हुआ है। वयस्क मताधिकार क द्वारा सभी जाति के लोगो को राजनतिक समानता मिली। इसप्रकार योरोप क सघात मे परम्परागत राजनतिक तथा आर्थिक जातिक्रम विन्यास परिवर्तित हुआ है किन्तु कमकाण्डी क्रम विन्यास बहुत कुछ वसा ही है। ग्रामीण-सामाजिक व्यवस्था म आज भी, विभिन्न जातिया कमकाण्डी सेवाओ को प्रदान करती हैं किन्तु नेग', धान्य क स्थान पर, अधिकतर मुद्रा म दिया जाता है। कमकाण्डी क्रम विन्यास के कारण, पवित्र और अपवित्र तथा शुद्ध और अशुद्ध जतियो का अतर आज भी बना हुआ है। अछूतो को मिले हुए राजनतिक अधिकारो ने अछूतो का एक अलग समूह बना दिया है, जिसके कारण अछूतो म पाये जाने वाले कमकाण्डी क्रम विन्यास (Ritual Ranking) पर राजनतिक एकता का अभ्युदय हुआ है। यद्यपि गाव म अस्पश्यता की समस्या वसी ही है रेल, मोटर, होटल सिनेमा, विद्यालयो और शहरी वातावरण ने विभिन्न जातियो के सम्पर्क को बढावा देकर, कमकाण्डी क्रम विन्यास का बदला है जिसम शहरो म छूत अछूत की भावना कम हुई है। एक ओर कमकाण्डी क्रम विन्यास तथा आर्थिक असमानताओ क बने रहने तथा, दूसरी ओर राजनतिक अधिकारो क मिलने स निम्नवर्णी तथा उच्चवर्णी जातियो म सघर्ष उत्पन्न हुआ है। जिसकी छाप वतमान भारतीय राजनतिक जीवन पर पड रही है।

अंग्रेजी राज्य का सबसे अधिक प्रभाव जाति के राजनतिक पहलू और जाति पचायत के अधिकारो तथा कार्यों पर पडा। अंग्रेजी राज्य के रूप म, भारत म पहली बार, राष्ट्र राज्य का अभ्युदय हुआ जिसके कारण जातियो का अखिल भारतीय विस्तार का अवसर मिला। रेल, तार डाक छापाखाना और समाचार पत्र के कारण तथा बदलती हुई राजनतिक परिस्थितियो स मिलने वाली प्ररणा क कारण, अंग्रेजी राज्यकाल म, अखिल भारतीय जाति सगठनो का अभ्युदय हुआ। यही वह समय है जब विभिन्न जातियो ने अपने अखिल भारतीय सगठन भी स्थापित किए और, साथ ही साथ जाति क सगठन को बनाए रखने के लिए, जाति क लिए उच्च स्तर का दावा करने क लिए तथा आवश्यकतानुसार सुधार करने क लिये समाचार

पत्रों का निकाला, जाति पर पुस्तकों को प्रकाशित किया और जैसा कि श्री निवास ने लिखा है अनेक जातियों ने अपने संगठनों के संविधान को बनाकर उन्हें प्रकाशित कराया[1]। लेकिन ये संगठन परम्परागत जाति पंचायतों से भिन्न थे। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, परम्परागत सामाजिक व्यवस्था में, राज्य की देखरेख में, जाति-पंचायतों में प्रशासन, न्याय तथा दण्ड के अधिकार निहित होते थे। अंग्रेजी राज्य में जब पुलीस और न्यायालयों की स्थापना हुई और भारतीय दण्ड-संहिता का नियमन हुआ तथा आवश्यकतानुसार विधियों के निर्माण का कार्य राज्य के हाथ में चला गया तो जाति पंचायतों के प्रशासकीय, संविधायिनी तथा न्यायिक अधिकार राज्य के हाथ में चले गये। किन्तु फिर भी अंतर्विवाह, खानपान और पेशा-सम्बन्धी नियमों का प्रशासन और नियमन जाति पंचायतों के ही हाथ में रहा। जाति-पंचायतों के जो दण्ड विधान, जैसे शारीरिक प्रताड़णा देना या दैवी परीक्षा लेना, भारतीय दण्ड-संहिता के विरोध में पड़ते थे वे धीरे धीरे स्वतः समाप्त हो गये। दूसरी ओर, अंग्रेजी राज्य की स्थापना से, जो सामाजिक, आर्थिक तथा वैधानिक परिवर्तन हुये उनसे निम्नस्तर की जातियों को अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को उठाने का अवसर भी मिला और प्रेरणा भी। अंग्रेजी शिक्षा, ब्राह्मणवादी कर्मकाण्ड और उच्च समझे जाने वाले पेशे सामाजिक प्रतिष्ठा को उठाने के वे माध्यम बन गये जिनको निम्नस्तर की जातियों ने अपनाने का प्रयास किया। ऐसी परिस्थिति में, निम्नस्तर की जातियों में जाति-पंचायत एक सुधारवादी संगठन में परिवर्तित हुई। जाति पंचायतों ने, निम्नस्तर की जातियों में, मद्यनिषेध को लागू करने का प्रयास किया, उच्च शिक्षा की ओर लोगों को प्रोत्साहित किया और ब्राह्मणवादी कर्मकाण्ड का प्रचार किया। लखनऊ में कुरील चमारों की जाति पंचायत ने चमारों को अपने अलग मंदिर निर्मित करने के लिए प्रोत्साहित किया। पंचायतों के ही प्रयत्नों से रविदास मंदिर का निर्माण हुआ जिसे कुरील जाति का मंदिर समझा जाता है और पंचायत की बैठकों में शराब पीकर आने वाले पर जुर्माना लगाने का विधान किया गया[2]। निम्नस्तर की लगभग सभी जातियों में, जाति-पंचायत समाज सुधार का माध्यम बन गई। इसके दो कारण हैं— एक प्रत्येक निम्नस्तर की जाति के शिक्षित वर्ग ने जाति के स्तर उठाने के लिए समाज सुधारों को प्राथमिकता दी और, दूसरे समाज सुधार आन्दोलन के प्रणेताओं ने जाति को समाज सुधार-आन्दोलन का माध्यम बनाने पर जोर दिया जिससे जाति पंचायत के संगठन को प्रोत्साहन मिला। निम्नस्तर की जाति के शिक्षित तथा धनी वर्ग का सामाजिक स्तर तब तक नहीं उठ सकता था जब तक कि सम्पूर्ण जाति का सामाजिक स्तर न उठे। यही कारण है कि जिस जाति का स्तर जितना निम्न रहा

---

1 श्रीनिवास, एम०एन० कास्ट इन माडर्न इण्डिया एण्ड अदर एसेज पृष्ठ 18

2 नटट, जी० एस० चमार्स आफ लखनऊ (अप्रकाशित)

है और जिस जाति के सदस्यो म उच्च-सामाजिक प्रतिष्ठा पाने की जितनी प्रेरणा रही है, उसम जाति पचायत या जाति सगठन का प्रभाव उतना ही महत्वपूर्ण है।

यारोपीय प्रभाव के अतगत, जाति सरचना मे वग व्यवस्था के तत्वो का समावेश हुआ जिसके दो मुख्य परिणाम निकले। शहरी सामाजिक व्यवस्था म जाति के आर्थिक आधार गौण हो गए और यापार सरकारी नौकरियो तथा अग्रेजी शिक्षा के प्रभाव के अ तगत, वहा औद्योगिक समाज की वग व्यवस्था का अभ्युदय हुआ। इस वग व्यवस्था म निम्न और उच्च सभी प्रकार की जातियो का सम्मिश्रण हुआ। उदाहरणाथ शहरा म जो औद्योगिक पूजीवादी सामाजिक व्यवस्था विकसित हुई उसके मध्यवग म उच्चवर्णी जातिया क लाग भी हैं और निम्नवर्णी जातियो के भी, यद्यपि इसम बहुतायत उच्चवर्णी जातिया के लोगो की है। किन्तु भारत की ग्रामीण सामाजिक-व्यवस्था का आर्थिक आधार कृषि ही है क्योकि भारत म औद्योगीकरण तथा शहरीकरण का धीरे धीरे विकास हुआ है। ऐसी दशा म ग्रामीण समाज के आर्थिक साधना पर अधिकतर उच्चवर्णी जातिया का ही अधिकार रहा है। उधर औद्योगीकरण के प्रभाव से घरेलू उद्योग धधो के ह्रास के कारण, कारीगर जातियो के लोग भूमिहीन कृषक के रूप म सवहारा वग म बदलते गये जिससे भूमि पर जनसख्या का दबाव और भूमिहीन कृषको की सख्या बढी। राजनैतिक अधिकारो के मिलने के साथ साथ निम्नवर्णी जातिया ने आर्थिक समानता तथा आर्थिक अधिकारो को बनाये रखने का प्रयास किया। निम्नवर्णी जातिया के जिन लोगो न सरकारी नौकरियो को अपनाया या व्यापार को अपनाया उनका आर्थिक अस्तित्व खेती पर निभर नही है। अत, व अपने अन्य भाइयो की भाँति उच्च जातियो पर आश्रित नहा हैं। उच्च जातिया पर आश्रित न होने के कारण इस वग ने कमकाण्डी समानता की माग की क्योकि राजनतिक समानता पहले से ही मिली हुई है। हा, यह अवश्य है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के आरम्भ म इस वग को राजनतिक विशेषाधिकार नही मिले थ। अत, जसा कि ज्योतिराव फुले महाराजा कोल्हापुर (श्री साहू छत्रपती) और अम्बेदकर के ब्राह्मणविरोधी आन्दोलना स स्पष्ट है इस वग न पहले राजनतिक विशेषाधिकारो की माँग की।

राजनैतिक विशेषाधिकारो के मिल जाने पर कमकाण्डी समानता की माग पनपी। इसका प्रभाव भारत के राजनैतिक आन्दोलन पर भी पड़ा जिसके फलस्वरूप निम्नवर्णी जातिया को, सविधान द्वारा राजनतिक विशेषाधिकार और सरक्षण प्रदान किया गया। किन्तु, गाव म जमींदारी उन्मूलन के बाद भी भूमि पर उच्चवर्णी जातिया का ही अधिकार रहा। इधर ग्राम पचायतो के सगठन से निम्नवर्णी जातियो को मतदान का अधिकार और राजनतिक समानता मिली। इस परिस्थिति म, उच्चवर्णी जातियो न पचायत को अपने विशेषाधिकार बनाये रखने का माध्यम बनाया तो निम्नवर्णी जातियो ने उसे नये अधिकारों के प्रयोग का माध्यम। आर्थिक असमानता

ने, इस परिस्थिति में, उच्च तथा निम्नवर्णी जातियों में संघर्ष को जन्म दिया क्योंकि निम्नवर्णी जातियाँ, एक ओर, अपने राजनैतिक अधिकारों के प्रति जागरूक हैं तो, दूसरी ओर, उच्चवर्णी जातियों पर अपनी आर्थिक आश्रयता के कारण असहाय हैं। ऐसी परिस्थिति में, निम्नवर्णी जातियों का शिक्षित वर्ग अपनी जाति के लोगों को नये मिले हुए राजनैतिक अधिकारों के प्रयोग के लिए प्रेरित करता है जिसका परिणाम होता है गुटबन्दी और संघर्ष जिससे ग्राम-पंचायत प्रणाली सरोबार है[1]।

जैसाकि भारत के अन्य ऐतिहासिक युगों में हुआ, अंग्रेजी राज्यकाल में भी, जाति को लेकर हिन्दू-समाज में सुधारवादी आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ। ये सुधारवादी आन्दोलन दो प्रकार के हैं—एक श्रेणी में ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन और थियोसोफिकल सोसाइटी आते हैं और दूसरी श्रेणी में महादेव गोविंद रानाडे और गोपाल कृष्ण गोखले के सुधार आन्दोलन। पहली श्रेणी के आन्दोलन धार्मिक-सामाजिक हैं और दूसरी श्रेणी के सामाजिक धार्मिक। पहली श्रेणी के सुधारवादी आन्दोलनों ने जाति का विरोध किया और शास्त्रप्रणीत वर्ण व्यवस्था का उसी प्रकार से प्रतिपादन किया जैसा कि बुद्ध और रामानुज जैसे सुधारक कर चुके थे। सामाजिक धार्मिक सुधारवादी नेता मूलतः समाजसुधारवादी थे और उनका दृष्टिकोण, सैद्धान्तिक होने की अपेक्षा, व्यावहारिक अधिक था। अतः, यदि पहली श्रेणी के नेताओं ने जाति की वर्ण के सन्दर्भ में व्याख्या की तो दूसरी श्रेणी के नेताओं ने जाति को ही समाज सुधार का माध्यम बनाने पर जोर दिया क्योंकि जाति का लोगों पर व्यापक प्रभाव था। इसका परिणाम यह हुआ कि एक तरफ तो जाति की आलोचना शुरू हुई और, दूसरी ओर, जाति संगठनों को प्रोत्साहन मिला जिसके फलस्वरूप यदि एक ओर जाति विरोधी विचार पनपे तो, दूसरी ओर, गीता के 'चातुर्वर्ण्य मया सृष्टम्' के आधार पर जाति का सुदृढ़ीकरण किया गया। एक ओर, जाति विरोधी विचारधारा पनपी तो, दूसरी ओर, जनगणना में निम्नस्तर की जातियों ने अपने को उच्चस्तरीय जाति का अंकित करवाना शुरू किया। इसके फलस्वरूप, जाति को लेकर भारतीय विचारधारा में द्विभाजिता का आगमन हुआ।

श्रीनिवास के अनुसार ज्यों ज्यों जनता के हाथ में राजनैतिक सत्ता सौंपी गई त्यों-त्यों, जाति की राजनैतिक सत्ता और शक्ति बढ़ते गये। माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड के राजनैतिक सुधारों के साथ साथ, भारत के राजनैतिक जीवन में जाति चेतना का

1 विशेष अध्ययन के लिये देखिये

(अ) बनर्ड एस० कान : चेंजिंग स्टेटस आफ डिप्रेस्ड क्लासेज, मकिम मरियट द्वारा सम्पादित विलेज इण्डिया में।

(ब) बेली, एफ० जी० : एन उड़िया हिल विलेज : एम० एन० श्रीनिवास द्वारा सम्पादित इण्डियाज विलिजेज में।

श्रीगणेश हुआ। इस चेतना का भारत की राजनैतिक गतिविधियों पर प्रभाव पड़ा। अपने विशेषाधिकारों की रक्षा के लिये या नये विशेषाधिकारों को प्राप्त करने के लिए, जातियों ने राजनैतिक दलों का आश्रय लिया। उदाहरणार्थ, आन्ध्र में कम्मा और रेड्डी जातियों की प्रतिस्पर्द्धा अत्यन्त प्राचीन है। बदलती हुई परिस्थिति में कम्मा जाति के लोगों ने कम्युनिस्ट पार्टी पर अधिकार जमाया तो रेड्डियों ने कांग्रेस पर। रेड्डियों के पास आपेक्षाकृत भू स्वामित्व अधिक है और यही उनकी प्रतिस्पर्धा का कारण है। वास्तव में मुख्यतया भारत के प्रधान राजनैतिक दल को ही विभिन्न जातियों ने अपनी राजनैतिक स्पर्द्धा का मंच बनाया है। विभिन्न प्रान्तों में कांग्रेस पर विभिन्न जातियों ने अपना बहुमत कायम किया है। जैसाकि श्रीनिवास का मत है पंचायतों के संगठन से स्थानीय प्रभुतासम्पन्न जाति को अपना राजनैतिक प्रभाव बढ़ाने का एक अवसर मिला। यह सर्वविदित है कि चुनाव में एक क्षेत्र विशेष के उम्मीदवार को चुनने के लिए राजनैतिक दल बहुधा उन्हीं प्रभावशाली व्यक्तियों को नामजद करते हैं जिनकी जाति का उस क्षेत्र विशेष में बहुमत है। इसप्रकार, प्रत्येक राजनैतिक दल विशेषतया कांग्रेस एक ओर प्रभुतासम्पन्न जातियों के निहित स्वार्थों से ग्रसित है तो दूसरी ओर पिछड़ी हुई जातियों के स्वार्थों से। यही कारण है कि कांग्रेस भारतीय समाज में आमूल चूल परिवर्तन लाने में असफल रही। हिन्दू मुसलमान और ईसाइयों में से अनेक जातियों ने पिछड़ी जातियों को मिलने वाले विशेषाधिकारों को पाने के लिए अपने को बैकवर्ड जातियों की श्रेणी में लाने का प्रयास किया। केरल में बैकवर्ड क्रिश्चियन फेडरेशन की स्थापना और उसके द्वारा पिछड़ी ईसाई जातियों के लिए विशेषाधिकारों की मांग राजनीति पर जाति के बढ़ते हुए प्रभाव का एक उदाहरण है[1]। मध्यकालीन भारत में लिंगायतों ने 'नववाद' का आश्रय लेकर और अनेक शास्त्रोक्त परम्पराओं को अपनाकर अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को ऊपर उठाने का प्रयास किया किन्तु वर्तमान समय में अपने लिए पिछड़ी जातियों के स्तर की मांग की। इसप्रकार राजनीति के मंच पर जहाँ एक ओर जाति की भर्त्सना की गई उसे दूर करने के लिए लोगों को प्रेरणा दी गई वहां दूसरी ओर वोटों को आकर्षित करने वाली वस्तु के रूप में जाति की दबे शब्दों में महत्ता भी स्वीकार की गई।

संस्कृताइजेशन की प्रक्रिया जाति-गत्यात्मकता का आधार रही है क्योंकि धार्मिक-व्यवस्था के निष्प्रवाह होने के कारण संस्कृताइजेशन ही जातिगत्यात्मकता का एकमात्र आधार रहा है। बुद्धवाद तथा मध्ययुगीन भारत के सुधारवादी निर्गुण सम्प्रदायों ने यदि जाति का विरोध किया तो साथ ही साथ हिन्दुत्व का इस ढंग से

1 दि हिन्दुस्तान टाइम्स वीकली (4 अक्तूबर 1964) में प्रकाशित यू० एन० आई० के एक समाचार के आधार पर।

निर्वचन किया कि अधिकतर जातियाँ शास्त्रोक्त परम्परा का अपना सके। इन सुधारवादी आन्दोलनों ने अनेक गणजातियों के लिए हिन्दुत्व में आने का मार्ग प्रशस्त किया। ये आन्दोलन ब्राह्मणों द्वारा (बुद्धवाद को छोड़कर) शुरू किए गए। ब्राह्मण ही जाति का विरोधी रहा और ब्राह्मण ने जाति का समर्थन भी किया। जाति विरोधी आन्दोलन में सभी जातियों के लोग आकृष्ट हुए किन्तु जाति विरोधी आन्दोलन में आकर के भी लोग अपनी पुरानी जातियों से सम्पर्क न छोड़ सके। यह प्रक्रिया इस तथ्य से स्पष्ट है कि कबीर पंथ, नानक पंथ, शिवनारायनी पंथ इत्यादि सुधारवादी पंथों में सभी जातियों के लोग आए किन्तु अपनी जाति से सम्पर्क न छोड़ सके। जैसे, सिक्खों में यदि खत्री एक समूह विशेष बने तो निम्नस्तर की जातियों के अनेक अन्तर्विवाही समूह सिक्खों में प्रविष्ट हुए। इसप्रकार, संस्कृताइजेशन एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है और सुधारवादी आन्दोलन उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम। जाति का एक भाग पहले संस्कृताइजेशन की ओर उन्मुख होता है और फिर संस्कृताइजेशन को अपनाकर वह संपूर्ण जाति को संस्कृताइजेशन की प्रेरणा देता है। अतः संस्कृताइजेशन यदि जाति में, एक ओर पृथक्करण की प्रक्रिया को जन्म देता है तो दूसरी ओर एकीकरण की प्रक्रिया को क्योंकि निम्नस्तर की जातियों में जो व्यक्ति उच्चस्तर प्राप्त करने के लिए प्रेरित होते हैं उनको उच्चस्तर पर तब तक स्वीकार नहीं किया जाता जब तक कि उनकी संपूर्ण जाति उच्चतर स्तर पर स्वीकृत न हो जाय। संस्कृताइजेशन की प्रक्रिया जाति में विभाजन तथा एकीकरण को एक साथ जन्म देती है। पुराणों के आधार पर उच्चवर्ण का दावा, मांस मदिरा का निषेध, वर्ण कर्म तथा आवागमन में विश्वास और ब्राह्मणवादी कर्मकाण्ड को अपनाना संस्कृताइजेशन के मूलतत्व रहे हैं।

भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद में, यूरोपीय संघात के कारण, भारत की आर्थिक-व्यवस्था में जो परिवर्तन आये और अंग्रेजी शिक्षा एवं सरकारी नौकरी, व्यापार और नगरीकरण ने आर्थिक चलिष्णुता के जो अवसर प्रदान किए उनसे संस्कृताइजेशन के द्वारा सामाजिक प्रतिष्ठा को उठाने के और भी अवसर मिले। दूसरी ओर पश्चिमीकरण (Westernization) सामाजिक प्रतिष्ठा का एक नया मापदण्ड बना। इसके परिणामस्वरूप वर्तमान भारत में, संस्कृताइजेशन और पश्चिमीकरण जाति-गत्यात्मकता के दो आधार बन गये। जिस प्रकार, मध्य युग में, इस्लाम ने संस्कृताइजेशन को अधिक तीव्र बना दिया उसीप्रकार यूरोप तथा इसायत के संघात ने, बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था में, संस्कृताइजेशन को पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक सामाजिक आधार प्रदान किया। ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज संस्कृताइजेशन को व्यापक बनाने के आन्दोलन थे और इनके प्रणेता ब्राह्मण थे। आर्य समाज ने, सभी को पौरोहित्य कार्य का स्थान देकर, संस्कृताइजेशन को और भी जनसुलभ बना दिया। यह दोनों आन्दोलन पश्चिमीकरण के विरोधी थे किन्तु, फिर भी,

पश्चिमीकरण प्रतिष्ठा का मापदण्ड बना रहा। व्यापार, सरकारी नौकरियां और राजनैतिक अधिकारों ने निम्नस्तर की विभिन्न जातियों में एक वर्ग को जन्म दिया जिसने संस्कृताइजेशन को अपनाकर उच्चस्तर प्राप्त करने की प्रेरणा दी। अम्बेदकर द्वारा अछूतों को बुद्धवाद की ओर ले जाने का प्रयास इसका एक उदाहरण है। इस काल में, पौराणिक प्रमाणों के आधार पर निम्नस्तर की जातियों ने अपने लिए उच्चस्तर का दावा किया। चमारों ने अपने को चवरवंशी राजपूत, जसवारों ने अपने को राठौर राजपूत तथा काछियों ने अपने को कुशवाहा राजपूत कहा। अनेक जातियों ने जाति के महापुरुषों को संस्कृताइजेशन के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया। उदाहरणार्थ चमारों ने रविदास जयन्ती मनानी शुरू की और तुलसीदास रामायण तथा सत्यनारायण कथा के स्थान पर रविदास रामायण तथा रविदास कथा को अपनाया। भंगियों ने वाल्मीकि को जाति का प्रतीक माना और उनके उपदेशों को मानने पर जोर दिया। अनेक जातियों ने अपनी उन प्रथाओं का बहिष्कार किया जिनके कारण उन्हें हेय माना जाता था (जैसे भंगियों का अपने को भंगी न कहकर वाल्मीकि कहना) मांस और मदिरा के त्यागने पर जोर दिया और यज्ञोपवीत के साथ-साथ ब्राह्मणों की मेजाओं को अपनाने पर जोर दिया।

संस्कृताइजेशन की प्रक्रिया एकतरफा रही है क्योंकि निम्नस्तर की जातियां ही संस्कृताइजेशन को अपनाने के लिए उन्मुख रही हैं। पश्चिमीकरण उच्चस्तर की जातियों से प्रारम्भ हुआ और, बाद में, उसका प्रचार निम्नस्तर की जातियों में हुआ। पश्चिमीकरण और संस्कृताइजेशन साधन हैं साध्य नहीं। साध्य है उच्चतर सामाजिक प्रतिष्ठा। लोगों की ऐसी धारणा रही है कि पश्चिमीकरण का प्रभाव उच्चस्तर पर रहा है और संस्कृताइजेशन का निम्नस्तर पर या जहां पश्चिमीकरण प्रारंभ होता है वहां संस्कृताइजेशन का अंत होता है और जहां संस्कृताइजेशन का अंत होता है वहां पश्चिमीकरण का प्रारंभ होता है। ऐसी मान्यतायें भ्रममूलक हैं क्योंकि यदि बुद्धवाद मध्ययुग के सुधारवादी पंथों और उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारवादी आन्दोलनों के संदर्भ में विचार किया जाय तो यह विदित होगा कि संस्कृताइजेशन एक गत्यात्मक विचार है—वह विचार जिसका निर्वचन एक ओर सम्भवामि युगे युगे की धारणा से संबन्धित रहा है तो दूसरी ओर देश काल की परिस्थितियों से। संस्कृताइजेशन के साथ पश्चिमीकरण का संगम योरोपीय संघान का प्रभाव है। पश्चिमीकरण और संस्कृताइजेशन जाति संरचना के विभिन्न स्तरों पर एक साथ कार्य कर रहे हैं यद्यपि किसी स्तर पर संस्कृताइजेशन का अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव है और किसी स्तर पर पश्चिमीकरण का। पश्चिमीकरण और संस्कृताइजेशन सामाजिक प्रतिष्ठा की परिष्णुता के आधार अवश्य हैं किन्तु वे, वस्तुतः, निर्भर करते हैं जाति गत्यात्मकता को जन्म देने वाली दो प्रक्रियाओं पर। उन प्रक्रियाओं में एक है जाति से पृथक होकर उच्चस्तर पाने की प्रक्रिया और दूसरी, उच्चस्तर प्राप्त करने के लिए जाति में

एकीकरण को बनाए रखने की प्रक्रिया। बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियों ने तथा व्यापार सरकारी तथा फौज की नौकरी और राजनैतिक अधिकारों से उत्पन्न परिस्थितियों ने इन प्रक्रियाओं के लिए अपेक्षाकृत अधिक व्यापक सामाजिक आधार प्रदान किया जिसके कारण, इन दोनों प्रक्रियाओं के माध्यम से पश्चिमीकरण और संस्कृताइजेशन को जाति-संस्तरणात्मकता में अधिक प्रभावशाली स्थान मिला।

योरोपीय संघात का एक महत्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ा कि भारतीय समाज की एक आधारभूत संस्था होते हुए भी जाति एक प्रमुख सामाजिक समस्या बन गई। योरोपीय उदारतावाद, प्रजातन्त्रवाद व्यक्तिवाद और क्रिश्चियन धर्म के आदर्शों के सन्दर्भ में जाति अनुपयुक्त सामाजिक संस्था प्रतीत हुई। हिन्दू समाज के एकीकरण की समस्या ने जाति को सामाजिक समस्या का रूप दिया किन्तु, साथ ही-साथ, इस देश के सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन में जाति की जड़ें जम गई। फलतः जैसाकि पंजाब के जाति पाँति तोड़क मण्डल जैसे संगठनों और आर्यसमाज के अछूतोद्धार के कार्यक्रमों से स्पष्ट है एक ओर जाति पाँति के तोड़ने के विचार का अभ्युदय हुआ तो दूसरी ओर, जाति का समाजशास्त्रीय विवेचना को प्रोत्साहन मिला। विदेशी प्रशासकों ईसाई मिशनरियों और मानव शास्त्रियों ने 'जाति क्या है? क्यों है?' इन प्रश्नों के समाधान का प्रयत्न किया। इन प्रश्नों का समाधान एक ओर ऐतिहासिक विवेचना के द्वारा किया गया और दूसरी ओर, जाति की वर्तमान व्यावहारिक विशेषताओं के आधार पर। रिसले ने जाति को प्रजाति सम्मिश्रण के परिणाम माना जिसे स्वीकार न किया जा सका, क्योंकि एक ही स्तर की जातियों के प्रजातिक गठन में समानता नहीं पाई जाती है। नेस्फील्ड और ब्रोरिङ्ग ने जाति की उत्पत्ति पेशे से मानी है किन्तु जैसाकि डा॰ मजूमदार ने लिखा है उपलब्ध पेशों की अपेक्षा, जातियों का अधिक होना, इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमजोरी है जिसके कारण इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। भारत के सामाजिक इतिहास के सन्दर्भ में, जाति संस्तरणात्मकता का विवेचन करते हुए घुरे ने जाति को ब्राह्मणों की वह सामाजिक कृति कहा जिसे ब्राह्मणों ने अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए, चालाकी से समाज में उत्पन्न किया। किन्तु घुरे के सिद्धान्त से यह नहीं स्पष्ट होता कि ब्राह्मण ही क्यों जाति प्रथा के विरोधी रहे हैं, और, क्या कोई सामाजिक संस्था इतनी सुनियोजित और सुयुक्तिपूर्ण विचारधारा की उत्पत्ति हो सकती है जितनी कि घुरे ने जाति को माना है। डा॰ मजूमदार ने जाति की उत्पत्ति संस्कृति-संघर्ष और प्रजाति-संपर्क से मानी है। उनके अनुसार आर्यों और अनार्यों की संस्कृतियों के संघर्ष और उस संघर्ष में प्रजातिक शुद्धता बनाए रखने की भावना से जाति की उत्पत्ति हुई है जिसका प्रमाण अनुलोम और प्रतिलोम की विवाह प्रथाएं हैं। किन्तु अनुलोम और प्रतिलोम का सम्बन्ध वर्ण से है न कि जाति से। कुछ लोगों ने मनु का अनुसरण करते हुए, आर्यों की वर्ण-व्यवस्था से जाति व्यवस्था की

उत्पत्ति मानी है। इस मत के प्रतिपादकों ने दो दृष्टिकोण अपनाए—एक दृष्टिकोण के अनुसार वर्ण जातियों में विभाजित हुए और, दूसरे के अनुसार वर्ण ही जातियों में अधःपतित हुए। किन्तु इस मत के प्रतिपादक यह भूल जाते हैं कि भारतीय विचार-धारा में वर्ण अर्जित सामाजिक प्रतिष्ठा पर आधारित रहा है और जाति जन्मजात सामाजिक प्रतिष्ठा पर। वर्ण और जाति, वस्तुतः दो समानान्तर परम्पराएँ हैं। हटन ने जाति-व्यवस्था में निहित छुआछूत के विचारों पर जोर देते हुए यह मत प्रतिपादित किया कि जाति के तत्व संभवतः आर्यों की सामाजिक व्यवस्था के बाहर उत्पन्न हुए हैं, क्योंकि भारत के आदिवासियों में भी छुआछूत के विचार पाए जाते हैं। जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के प्रश्न को लेकर, जाति का विश्लेषण करने वाले विद्वान जाति और गणजाति में पाई जाने वाली असाधारण समानताओं को जाति के विश्लेषण में गौण मानते रहे हैं। यदि जाति के पेशागत विशेषीकरण की विशेषता को जाति की विशेषताओं में से निकाल दिया जाय तो जाति वस्तुतः गणजाति ही है। अंग्रेजी राज्य की स्थापना से पहले के भारतीय साहित्य में वर्ण और जाति का अन्तर तो पाया जाता है किन्तु जाति और गणजाति की द्विभाजिता नहीं पाई जाती है। जाति और गणजाति मूलतः जन्मजात अन्तर्विवाही समूह के दो पहलू हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि जाति आर्यों की वर्ण व्यवस्था तथा भारत की गणजातीय व्यवस्था के समन्वय से उत्पन्न नव सामाजिक प्रमेय है। गणजातियों से जातियों की संख्या बढ़ी है और संस्कृतीकरण के माध्यम से वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्त पर जातियों की क्रम-व्यवस्था विकसित हुई है। जाति वह संरचना है जिसका एक आधार गणजाति के माध्यम से जन्म और अन्तर्विवाहमूलक है तथा दूसरा वर्ण सिद्धान्त के आधार पर सामाजिक प्रतिष्ठामूलक।

भारत मे आदिवासी सस्कृति

आदिवासी समाज-संस्कृति-संकुल

आदिवासी भारत

भारत के राजनैतिक नक्शे के साथ-साथ आदिवासी भारत का भी नक्शा बदलता रहा है। अपनी पुस्तक 'रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया' में मजूमदार ने भारत-पाकिस्तान उपमहाद्वीप के आदिवासियों को संस्कृति, प्रजाति तथा भाषा भिन्नता के आधार पर तीन क्षेत्रों में वर्गीकृत किया है। पहला क्षेत्र है पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश का जो पश्चिमी पाकिस्तान में है और जिसमें अफगानी और बिलोची गणजातियाँ आती हैं। यहाँ के लोग जिरगा में बटे हुए हैं और साधारणत पख्तून के नाम से प्रसिद्ध हैं। अंग्रेजी सरकार ने इन्हें दबाकर अवश्य रक्खा किन्तु इन्होंने अंग्रेजों का पूर्ण आधिपत्य कभी नहीं माना। आज ये वैसे ही अपने लिये स्वतन्त्र पख्तूनिस्तान की माँग कर रहे हैं, जैसे कि नागा प्रदेश के निवासी। पूर्वोत्तर सीमान्त प्रदेश (उड़ीसा), मजूमदार के अनुसार दूसरा आदिवासी-क्षेत्र है और शेष भारत, जिसे उन्होंने आन्तरिक भारत (Interior India) कहा है तीसरा क्षेत्र है। पहले क्षेत्र की गणजातियाँ पश्तो भाषा का प्रयोग करती हैं दूसरे क्षेत्र की गणजातियाँ मान्-ख्मेर और आगामी मिश्रित तिब्बती चीनी परिवार की भाषाओं का तथा तीसरे क्षेत्र की

गणजातियाँ इण्डो-आर्य (Indo-Arya), द्राविड़ तथा आस्ट्रिक परिवार की भाषाओं का। भाषा के आधार पर तीसरे क्षेत्र की गणजातियों को भील कोटी, गोंड-कोया तथा मुण्डा भाषा-समूहों में बाँटा जा सकता है। भील कोटी समूह में इण्डो-आर्य भाषा का आस्ट्रिक भाषा पर आधारित किया गया है, गोंड कोया समूह में द्राविड़ भाषा की बोलियों का प्रयोग होता है और मुण्डा समूह में जिन बोलियों का प्रयोग होता है वे आस्ट्रिक परिवार की भाषा के अन्तर्गत आती हैं। पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश की गणजातियों में आमतौर पर काकेसायड प्रजाति के तत्वों का समावेश है पूर्वोत्तर सीमान्त प्रदेश की गणजातियों में एक ओर मंगोलायड प्रजातिक तत्वों का समावेश मिलता है तो दूसरी ओर भारतीय आस्ट्रेलायड प्रजातिक तत्वों का जो अपने मूल रूप में सम्भवतः प्राग् मेडीटरेनियन (Proto Mediterranean) के प्रकार के रहे होंगे[1]।

भौगोलिक क्षेत्र

भारत के जिन भूभागों में आदिवासी पाये जाते हैं उनकी भौगोलिक विशेषताओं तथा आदिवासियों के प्रजातिक गठन और भाषा भिन्नताओं के आधार पर, वर्तमान आदिवासी भारत को मोटे तौर पर तीन बड़े-बड़े आदिवासी क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है। पहला उत्तरी उत्तर-पूर्वी क्षेत्र, जिसका एक छोर शिमला और लद्दाख में है और दूसरा लुशाई पहाड़ियों तथा मिश्मी मैदान में तथा जो लद्दाख से लेकर नेफा तक फैला हुआ है। मध्य में पतला और किनारों पर चौड़ा होता हुआ यह क्षेत्र पश्चिम में लगभग अक्षांश 300°7 उ०—37°00 उ० तथा लगभग देशान्तर 77°33 पू०—97°0 पू० के बीच में फैला हुआ है। इसमें पूर्वी कश्मीर, पूर्वी पंजाब, हिमाचल प्रदेश, उत्तरी उत्तरप्रदेश, सिक्किम, नागालैण्ड तथा आसाम के आदिवासी क्षेत्र आते हैं। नृकुलशास्त्रीय (Ethnological) दृष्टिकोण से दक्षिणी उत्तरप्रदेश (जिला मिर्जापुर) बिहार बंगाल और उड़ीसा, मध्यप्रदेश गुजरात तथा दक्षिणी राजस्थान के आदिवासी मध्य क्षेत्र (Central Zone) में आते हैं। उत्तरी राजस्थान बस्तर (मध्यप्रदेश) और बम्बई प्रान्त के दक्षिणी भाग तक (लगभग अक्षांश 20 0' उ०—25°0 उ० तथा देशान्तर 73°0 पू०—90°0 पू० के बीच) फैला यह क्षेत्र, क्षेत्रफल और जनसंख्या में सबसे बड़ा क्षेत्र है। इसका दक्षिण पूर्वी भाग, आन्ध्र, मद्रास केरल और मैसूर स्थानि प्रान्तों के आदिवासी क्षेत्रों के साथ दक्षिणी आदिवासी-क्षेत्र (अक्षांश 8°0 उ०—20°0 उ० तथा देशान्तर 75°0 पू०—85°0 पू० के बीच) का रूप ग्रहण करता है। अंडमान और निकोबार द्वीपों में भी आदिवासी पाये जाते हैं किन्तु उनका प्रजातिक गठन भारत-महादेश (Main Land) के आदिवासियों से भिन्न है[2]।

1 मजूमदार, डी० एन० रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पृष्ठ 3-7।
2 मजूमदार और मदन के आधार पर।

जनसंख्या और प्रसार के दृष्टिकोण से मध्य क्षेत्र अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा जितना बड़ा है उसके प्रति अपेक्षाकृत हमारा समाजशास्त्रीय ज्ञान भी उतना ही अधिक है। यह वह क्षेत्र है जहां आदिवासियों की जनसंख्या का उत्तरोत्तर केन्द्रीकरण भी होता रहा और गैर आदिवासियों से संस्कृति सम्पर्क भी। इसी क्षेत्र में गोंड जैसे आदिवासियों के साम्राज्य का उत्थान और पतन भी हुआ है। भारत के कटि प्रदेश में स्थापित होने के कारण अंग्रेजी शासन काल में इस क्षेत्र के अध्ययन पर भी अधिक जोर दिया गया। किन्तु आज हिमालय में भारत और चीन की सीमाओं के मिलन तथा चीन भारत संघर्ष के कारण उत्तरी उत्तर-पूर्वी क्षेत्र की महत्ता सबसे अधिक बढ़ गई है। नेफा को छोड़कर इस क्षेत्र के बारे में हमारा समाजशास्त्रीय ज्ञान अल्पतम है। भारत के आदिवासी क्षेत्र पहाड़ियों घाटियों तथा दुर्गम जंगलों से घिरे उन भूभागों में आते हैं जहां यातायात की अपेक्षाकृत कम सुविधा होने के कारण जन-जीवन एक प्रकार से बद्ध पृथक्कृत अवस्था में रहा है। इसका उत्तरदायित्व जिन ऐतिहासिक परिस्थितियों पर है उनका वर्णन यहां न करके साथ किया जायेगा। यहां तो इतना कहना काफी होगा कि बद्ध पृथक्कृत अवस्था के बावजूद इन प्रदेशों का जन जीवन भारत महादेश के सांस्कृतिक प्रवाहों से अछूता नहीं रहा है। अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से ज्यों ज्यों यातायात के साधन और औद्योगिकी का प्रभाव बढ़ता गया इन प्रदेशों की पृथकता भी कम होती गई। द्वितीय महायुद्ध में इम्फाल युद्ध का मोर्चा बना और जब भारत की उत्तरी सीमा पर चीनी फौजों ने लद्दाख और नेफा में चढ़ाई (1962) की तो नेफा से लेकर लद्दाख तक के आदिवासी क्षेत्र की पृथकता और भी कम हुई।

भारत के आदिवासी क्षेत्र पहाड़ों तथा जंगलों में घिरे होने के बावजूद भी एकान्त आदिवासी (Exclusively Tribal) क्षेत्र नहीं हैं। हां यह अवश्य है कि कहीं आदिवासियों के साथ गैर आदिवासियों की संख्या कम है और कहीं ज्यादा, यद्यपि प्रायः सम्पूर्ण आदिवासी क्षेत्र में आदिवासियों की संख्या गैर आदिवासियों से ज्यादा है। लद्दाख और नेफा को अपवाद दक्षिणी बिहार उड़ीसा और मध्यप्रदेश के आदिवासी क्षेत्रों में गैर आदिवासियों की संख्या अधिक है। जहां जमशेदपुर और भिलाई जैसे कारखाने खुल गए हैं वहां गैर आदिवासियों की स्थायी जनसंख्या और भी बढ़ गई है। अधिकतर आदिवासी निश्चय ही जंगलों से आच्छादित दुर्गम पहाड़ी घाटियों में रहते हैं किन्तु इन भौगोलिक परिस्थितियों के ही आधार पर, आदिवासी सांस्कृतिक जीवन पर भौगोलिक परिस्थितियों तथा प्राकृतिक पर्यावरण का अपेक्षाकृत इतना अधिक प्रभाव पड़ता है कि प्राकृतिक पर्यावरण के विभिन्न तत्व आदिवासी संस्कृति के पार्थिव उपादान बन जाते हैं और इसके कारण आदिवासी संस्कृति तथा प्राकृतिक पर्यावरण में एक प्रकार का सहानुभूतिक तादात्म्य सा स्थापित हो जाता है। किन्तु तादात्म्य से जो सह-सम्बन्ध है वह आदिवासी संस्कृति का एकमात्र

आवश्यक तत्व नहीं है। आदिवासी ने अपने भौगोलिक पर्यावरण का प्रत्यक्ष उपभोग किया है। पहाड़ियों में बैठे हिन्दुओं और मैदानों में बैठे आदिवासियों में अन्तर हो गया है कि आदिवासी अपने प्राकृतिक पर्यावरण का प्रत्यक्ष उपभोग करता रहा है। किन्तु भौगोलिक परिस्थितियों के ही आधार पर आदिवासी की परिभाषा नहीं की जा सकती है। उड़ीसा के खोंड जनजाति के आदिवासी पहाड़ी घाटियों में अवश्य रहते हैं किन्तु पहाड़ों में रहने के कारण ही वे आदिवासी नहीं हैं। जैसा कि बेली[1] ने कहा है कि जनजाति (आदिवासी-जाति) की परिभाषा में भौगोलिक मापदण्ड इसीलिये असफल हो जाता है कि पहाड़ियों (उड़ीसा की पहाड़ियाँ) में यदि जन-जातियों के अलावा अन्य लोग न हों तो आदिवासी-समस्या ही नहीं रहती।

आदिवासी भाषा वर्गीकरण

भारत के चार भाषा परिवारों इण्डो-योरोपीय (आर्य) द्राविड़, आस्ट्रिक (कोल या मुण्डा) और तिब्बती चीनी में से आदिवासी मुख्यतया अनार्य भाषाओं तथा बोलियों का प्रयोग करते हैं यद्यपि आर्य भाषा के प्रभाव से वे एकदम मुक्त नहीं हैं। हाँ यह अवश्य है कि आर्य भाषा का प्रभाव सारे भारतवर्ष के आदिवासियों पर नहीं पड़ा है।

उत्तरी उत्तर पूर्वी प्रदेश में चीनी तिब्बती और तिब्बती बर्मी का प्रयोग होता है यद्यपि, जैसा कि आसामी प्रदेश के उदाहरण से स्पष्ट है इस प्रदेश में कहीं-कहीं मान ख्मेर (आस्ट्रिक परिवार की भाषा) का प्रयोग होता है। नागा पहाड़ियों में, स्थानीय बोलियों के अलावा सोलह भाषाओं का प्रयोग होता है। मध्यभारत में आस्ट्रिक परिवार की भाषा की प्रधानता तथा यहाँ-वहाँ इण्डो-आर्य भाषा के प्रभाव के साथ-साथ द्राविड़ भाषा परिवार की बोलियों और भाषाओं का भी प्रचार होता है। इस क्षेत्र में ओराओं, कान्ध, गोंड और गाड़ नामक आदिवासी जिन भाषाओं को बोलते हैं, वे द्राविड़ परिवार की हैं और छोटा नागपुर (बिहार) के आस-पास बोली जाने वाली मुण्डा[2] भाषाएँ आस्ट्रिक परिवार की हैं। गोंडी भाषा द्राविड़ और आन्ध्र भाषाओं

---

1 बेली एफ० जी० ट्राइब, कास्ट एण्ड नेशन पृष्ठ 264

2 मुण्डा भाषाओं में क्रिया और लिंग भेद का अभाव है। शब्दों के द्वारा वस्तुओं का वर्गीकरण निर्जीव और सजीव के आधार पर होता है। इन भाषाओं के लिये 'मुण्डा' संज्ञा का प्रयोग सबसे पहले (18.2 में) फ्रेडरिक मिलर ने किया था। सन 1907 में डब्ल्यू० श्मिट (W. Schmidt) ने मुण्डा तथा मान और ख्मेर भाषाओं को एक समूह की मानकर, उसे आस्ट्रो एशियाटिक भाषा परिवार की संज्ञा दी थी। मुण्डा भाषा परिवार तथा फिनो उग्रियन (Finno Ugrian) परिवार को एक वर्ग में मिलाने के प्रयत्नों को हेमडॉर्फ ने तर्कसंगत नहीं माना है। सन 1926 में हेन गेल्डर्न (Heine Geldern) ने यह सुझाव रखा कि मुण्डा भाषाएँ उन मंगोलायड

के बीच की मानी जाती है। दक्षिण क्षेत्र के आदिवासी किसी न किसी रूप में द्राविड-परिवार की भाषाओं तामिल, तेलगू, मल्यालम और कन्नड या उनसे सम्बन्धित भाषाओं का प्रयोग करते हैं।

भारत के तीन आदिवासी क्षेत्र इस प्रकार साधारणतया तीन प्रधान भाषा-क्षेत्रों में रक्खे जा सकते हैं यद्यपि किसी भी क्षेत्र में एक ही भाषा का प्रयोग नहीं होता है। उत्तरी उत्तर पूर्वी क्षेत्र में तिब्बती चीनी और तिब्बती बर्मी के साथ मान-ख्मेर भाषा बोली जाती है और मध्य क्षेत्र में आस्ट्रो एशियाटिक परिवार की भाषाओं के साथ द्राविड परिवार की भाषाएं पाई जाती है। हां दक्षिणी क्षेत्र इसका अपवाद अवश्य लगता है। एक ही क्षेत्र में दो आदिवासी समूह संस्कृति में समान होते हुए भी अलग अलग भाषाओं का प्रयोग करते हैं। छोटा नागपुर में मुण्डा बोली आस्ट्रिक परिवार में आती है और ओरावों बोली द्राविड परिवार में, जबकि ओराओं और मुण्डा एक-दूसरे के पड़ोसी हैं और दोनों की संस्कृति समान है। आदिवासी भाषाएं और बोलियाँ निश्चय ही अनार्य भाषाओं के परिवार की है किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि मूलतः भारत के आदिवासियों की एक भाषा थी या अनेक भाषाएं, या यदि एक भाषा थी तो उसका मूल रूप क्या था। आज कोई भी आदिवासी भाषा अपने मूल रूप मे नहीं है। इतिहास के प्रवाह में ज्यों ज्यों और जहाँ-जहाँ आदिवासियों का गैर आदिवासियों से सम्पर्क हुआ उनकी भाषा बदली या उन्होंने दूसरों की भाषा अपनाई, या कहीं कहीं उनकी मूल भाषा का लोप हो गया। बंगाल आदिवासियों ने आज अपनी मूल भाषा को छोड़कर अपने पड़ोस की छत्तीसगढ़ी

लोगों की भाषा से निकली है जो उत्तर पूर्व की ओर से, नव प्रस्तरयुगीन संस्कृति के प्रणेता के रूप में भारत में आये। यह मान्यता इस तथ्य पर आधारित है कि आर्यों के पहले उत्तर पूर्वी भारत तथा मध्य भारत में सांस्कृतिक तादात्म्य का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था जो उस समय अलग हुआ, जब आर्य पूर्व की ओर बढ़े। दिवंगत की स्मृति में, बड़े बड़े पत्थरों का स्मारक बनाने का कल्प (Megalithic Ritual) युवागृह संगठन, जो उत्तर पूर्वी तथा मध्य क्षेत्रों में पाये जाते है तथा मध्यभारत की बोंडो और उत्तरी पूर्वी क्षेत्र की कोन्याक आदिवासी स्त्रियों की छाल के रेशों से बनी घाघरी, हैमन्डार्फ के अनुसार, गल्डन की मान्यता के नृकुलशास्त्रीय प्रमाण है। हटन का मत है कि भारत में आस्ट्रिक परिवार की भाषा एक ओर, हिमालय के पश्चिमी किनारों से आने वाले कोल भाषा भाषियों द्वारा और, दूसरी ओर, हिमालय के पूर्व से आने वाले मान ख्मेर भाषा भाषियों द्वारा आई है—मजूमदार एण्ड मदन एन इन्ट्रोडक्शन टू सोशल एन्थ्रापोलोजी पृष्ठ 255-256।

(मध्य प्रदेश) भाषा को अपना लिया है, यद्यपि बंगा संस्कृति आज भी एक विशिष्ट संस्कृति है। मध्य क्षेत्र के अधिकतर आदिवासी द्विभाषी हो गए हैं—प्रत्येक समूह अपनी भाषा का भी प्रयोग करता है। मध्य क्षेत्र में आदिवासी भाषाओं के साथ-साथ उड़िया, बंगाली और हिंदी का भी प्रचलन मिलता है। ओराओं और मुण्डा हिन्दी का प्रयोग करने लगे हैं और बंगाल में रहने वाले संथाल अपनी भाषा के अलावा बंगाली का प्रयोग सीख गए हैं।

केरल में, ट्रावनकोर कोचीन के निवासी कादर प्राचीनतम आदिवासी माने जाते हैं किन्तु, वे मलयालम भाषा का प्रयोग करते हैं। एक ओर जैसा कि गोंडों के उदाहरण से स्पष्ट है भारत के आदिवासियों की भाषा का आर्यकरण हुआ और, दूसरी ओर जहाँ द्राविड़ भाषा भाषियों का प्रभुत्व रहा है आदिवासियों की भाषाओं का द्राविडीकरण हुआ। ऐसी दशा में, भाषा के आधार पर आदिवासी की परिभाषा करना दुष्कर है क्योंकि आदिवासियों की कोई एक भाषा नहीं है। आदिवासी भाषा की एक सार्वभौम विशेषता है और वह है लिपि का अभाव। लिपि के अभाव के कारण सारा आदिवासी साहित्य मौखिक होता है। लिपि के अभाव में, आदिवासी भाषा अधिकतर बोली के ही स्तर पर रहती है और, इस कारण, लिखित भाषाओं की अपेक्षा यह परिवर्तनशील भी अधिक होती है। आदिवासियों की भाषाओं के लोप होने का एक कारण आदिवासियों में लिपि का अभाव है और जहाँ यह अभाव नहीं है, आदिवासी भाषा बाह्य प्रभाव को रोकने में समर्थ हो जाती है। जब से, ईसाई मिशनरियों ने आदिवासियों में रोमन लिपि का प्रचार करके आदिवासी भाषा में ही प्राथमिक शिक्षा का संगठन किया है तब से आदिवासी भाषाएं सबल होने लगी हैं और सांस्कृतिक पुनरुत्थान का माध्यम बनती जा रही हैं।

जिस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि आदिवासियों की मूल भाषा क्या थी उसी प्रकार यह भी कहना कठिन है कि आदिवासियों का मूल प्रजातिक

प्रजातिक गठन प्रकार क्या था। सिंधु नदी की घाटी की संस्कृति, जो लगभग चार हजार पांच सौ वर्ष और नर्मदा नदी की घाटी की संस्कृति, जो दो लाख पचास हजार वर्ष पुरानी है, की खोजों में इस तथ्य के यथेष्ट प्रमाण नहीं मिले हैं कि उनके निर्माताओं का प्रजातिक प्रकार क्या था। यह अनुमान अवश्य लगाया गया कि सिंधु नदी की घाटी में जो हड़प्पा संस्कृति उत्पन्न हुई थी उसके निर्माताओं का प्रजातिक गठन विजातीय था। भारत में, एक ओर, प्रागितिहास में काम कम हुआ है और, दूसरी ओर, यहाँ की जलवायु के कारण, प्रागैतिहासिक प्रमाणों की कमी भी रही है जिसके कारण, प्रागैतिहास काल के भारतीय मानव की प्रजातिक विशेषताओं और संस्कृति के विषय में हमारा ज्ञान आज भी कम है। विभिन्न प्रजातियों तथा भाषा-संस्कृति-समूहों का कब, कहाँ और किस प्रकार स्थानान्तरण होता रहा है, इस विषय में भी निश्चित ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक

प्रमाणों की भी कमी रही है—जिसके कारण प्राचीन पुस्तकों में मिलने वाले विभिन्न समूहों की प्रजातिक विशेषताओं के वर्णन तथा इधर बीसवीं शताब्दी में की गई शरीर रचना की पैमाइशों के आधार पर आदिवासियों के प्रजातिक गठन तथा इतिहास को जानने का प्रयास किया गया है। उदाहरणार्थ वेदों में दस्यु का जो वर्णन मिलता है और गुप्त-काल की चित्रकला में जो नीग्रायड विशेषताओं वाली आकृतियाँ मिलती हैं उनके आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि आदिवासियों के प्रजातिक गठन में स्वेत प्रजाति की विशेषताओं के स्थानपर, नीग्रायड तथा मंगोलायड विशेषताओं का ही अधिक समावेश है। किन्तु इस समावेश के स्वरूप और मात्रा पर मतभेद है।

सर हरबर्ट होप रिसले जिन्होंने सन अठारह सौ इक्यानवे की जनगणना का पर्यवेक्षण किया था, ने यह मत प्रतिपादित किया था कि भारत में द्राविड, इण्डो आर्य और मंगोलायड प्रजातियों के सम्मिश्रण से भारत के मुख्य प्रजातिक प्रकारों का गठन हुआ है और आदिवासी प्रजातिक गठन द्राविड तथा मंगोलायड के मिश्रण का परिणाम है। रिसले के सहयोगी सर विलियम क्रुक ने यह लिखा है कि आर्यों को पंजाब में मंगोलायड प्रकार की एक नागा प्रजाति तथा बंगाल में दस्युओं का सामना करना पड़ा था। क्रुक ने दस्युओं को द्राविड तथा काली प्रजातियों का एक मिश्रित प्रकार माना है और द्राविडों को नीग्रिटो प्रकार की एक प्रजाति किन्तु इन मतों को मान्यता नहीं मिली है क्योंकि इसमें जहाँ आर्य और द्राविड जैसे भाषा-समूहों को प्रजाति माना गया है वहीं दो प्रजातियों के मिश्रण से एक नई प्रजाति के बन जाने की कल्पना की गई है जो आनुवांशिकता के नियमों के विरुद्ध पड़ती है।

हैडन ने प्रजातियों के स्थानान्तरण के आधार पर प्रजातिक इतिहास तथा गठन को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। हैडन मध्य क्षेत्र के आदिवासियों को भारत का मूल निवासी मानते हैं और उन्हें पूर्व द्राविड मानते हुए उन्हें भारत का प्रजातिक आधार मानते हैं। भारत के आदिवासियों का मूल प्रजातिक प्रकार क्या था यह हैडन के मत से स्पष्ट नहीं होता है यद्यपि हैडन के मत से यह विचार अवश्य पनपा कि भारत के आदिवासियों तथा भारत के निवासियों के प्रजातिक गठन के विश्लेषण में भारत में जो प्रजातिक समूह आये हैं उन पर ध्यान देना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से बरन इगोन वान आइक्स्टेड ने यह मत प्रतिपादित किया है कि हिमयुगों के काल में दक्षिण भारत में प्राग नीग्रायड (Proto Negroid) प्रकार का एक प्रजाति विद्यमान था। जिसको आइक्स्टेड ने इण्डो नीग्रिड (Indo Negrid) की संज्ञा दी है। बाद में यहाँ लंका के वेडाओं के प्रजातिक गठन से मिलती जुलती एक प्रजाति का आगमन हुआ जिसको उन्होंने वेडिड (Vedd d) प्रकार की संज्ञा दी है। भारत में जो वर्तमान वेडिड प्रकार (Veddid Type) मिलता है वह इण्डो नीग्रिड और प्राचीन वेडिड प्रकारों के मिश्रण का परिणाम है। एम० एम० सरकार

आइक्स्टेट से सहमत होते हुए बडडा प्रकार के प्रजातिक समूह में आने वाले आदिवासी समूहों को भारत का प्राचीनतम प्रजातिक प्रकार मानते हैं। हैमण्डाफ भी इसी मत का प्रतिपादन करते हैं किन्तु एक दूसरे ढंग से। हैमण्डाफ के मत में, सम्भवत आर्यों और द्राविड़ों का भारत में एक ही समय में आगमन हुआ। आर्य हिमालय के किनारे किनारे भू भाग से आये और द्राविड़ भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर समुद्री मार्ग से। जिस समय आर्यों के प्रभुत्व का प्रसार उत्तर में हो रहा था उसी समय द्राविड़ दक्षिणी भारत का द्राविडीकरण कर रहे थे। उत्तर पश्चिमी भारत में ब्राहुवी भाषा भाषी प्रदेश जो अब पाकिस्तान में है द्राविड़ भाषा भाषियों के एक उपनिवेश का प्रतीक है न कि आर्यों के पहले, सम्पूर्ण भारत में द्राविड़ों के प्रसार और प्रभुत्व का। उत्तर में आर्यों और दक्षिण में द्राविड़ों के दबाव के कारण भारत के मूल निवासी सिमट कर मध्य क्षेत्र की पहाड़ियों और घाटियों में जा बसे और वहां आदिवासी समुदाय बन गए। किन्तु यथेष्ट प्रमाणों और भारत के भाषा इतिहास की खोजों के अभाव में यह मत अनुमान मात्र लगता है।

गुह के अनुसार भारत के आदिवासियों के प्रजातिक गठन में तीन प्रजातिक प्रकारों, नीग्रिटो प्रोटो आस्ट्रेलायड और मंगोलायड, का अलग-अलग स्थानों और मात्राओं में समावेश हुआ है। गुह के अनुसार, दक्षिणी क्षेत्र की जनजातियाँ कादर इरुला और पनियन भारत के प्राचीनतम आदिवासी हैं और उनमें घुंघराले बालों (Frizzly Hair) का पाया जाना इस बात का प्रमाण है कि वे मूलत नीग्रिटो प्रजाति के हैं। मध्य क्षेत्र के आदिवासी गुह के अनुसार प्रोटो आस्ट्रेलायड (Proto-Australoid) प्रजाति के हैं। उत्तर पूर्वी क्षेत्र में गुह के अनुसार, मंगोलायड प्रजाति के तत्वों की प्रधानता है और यहां दो प्रकार की प्रजातिक धारणाएँ पाई जाती हैं। एक, वह प्रकार जो उत्तर पूर्वी भारत में पाया जाता है तथा अन्य मंगोलायड विशेषताओं के साथ चौड़ा सिर जिसकी प्रधान विशेषता है। दूसरा प्रजातिक प्रकार ब्रह्मपुत्र की घाटी के निवासियों में पाया जाता है तथा मध्यम सिर, मध्यम नाक और ऊँचा सिर (High Head) जिसकी मुख्य शारीरिक विशेषताएं हैं। इस प्रकार गुह के अनुसार भारत के आदिवासियों के प्रजातिक गठन में नीग्रिटो, प्रोटो आस्ट्रेलायड और मंगोलायड प्रजातियों के तत्वों का समावेश हुआ है। दक्षिणी क्षेत्र नीग्रिटो है, मध्य क्षेत्र प्रोटो आस्ट्रेलायड और उत्तरी उत्तर-पूर्वी क्षेत्र मंगोलायड। हटन भी गुह के मत के मानने वाले हैं। किन्तु, मजूमदार और आयप्पन गुह के मत को नहीं मानते हैं। आयप्पन के अनुसार, घुंघराले बाल केवल यहां-वहां नाममात्र को ही पाये जाते हैं। प्रजातिक गठन में दक्षिणी क्षेत्र के आदिवासी, अन्य क्षेत्रों के आदिवासियों से, भिन्न नहीं हैं। मजूमदार यह स्वीकार करते हैं कि उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में मंगोलायड प्रजाति के तत्वों का और पश्चिमी समुद्र तट के प्रदेश में बसने वाले आदिवासी समूहों में नीग्रायड प्रजाति के तत्वों का समावेश अवश्य हुआ है। किन्तु

उसकी यह मान्यता है कि भारत के आदिवासी मूलत प्रोटो आस्ट्रोलायड प्रजाति के है। उनमे पाई जाने वाली प्रजातिक भिन्नता, ऐतिहासिक परिस्थितियो के कारण होने वाले साक्य का परिणाम है। भारत का प्रजातिक आदिवासी आधार प्रोटो-आस्ट्रोलायड है न कि नीग्रिटो। नीग्रिटो के पक्ष म मजूमदार के अनुसार, यथेष्ट प्रमाण नही हैं।

इस प्रकार, भारत म जिन्हे आदिवासी कहा जाता है उनके भौगोलिक पर्यावरणो, उनकी भाषाओं और उनके प्रजातिक गठन म सजातिता नही है, जिसके कारण भौगोलिक पर्यावरण भाषा और प्रजाति की भिन्नता के आधार पर आदिवासियो और गैर-आदिवासियो म अन्तर नही किया जा सकता। योरोप के मानवशास्त्रियो ने आदिवासियो की जो विशेषताए निर्धारित की हैं वे इस प्रकार हैं सामाजिक सम्बन्धो का प्राथमिक आधार, सामाजिक सम्बन्धो का रक्तसम्बन्धो पर ही आधारित होना सस्कृति और भौगोलिक पर्यावरण म प्रत्यक्ष तादात्म्य प्रौद्योगिकी का निम्न स्तर और लिपि तथा लिखित इतिहास का अभाव। योरोप के मानवशास्त्रियो के अनुसार आदिवासी समाज और सस्कृति सरल (Simple) हैं जबकि योरोपीय समाज जटिल है। वास्तव म योरोप के मानवशास्त्रियो ने योरोपीय समाज और आदिवासी समाज म जो व्यतिरेक (Contrast) पाया जाता है, उसके आधार पर आदिवासी की परिभाषा की है। भारत म आदिवासी और गैर-आदिवासी विशेषत हिन्दू म इतना आदान-प्रदान हुआ है कि यहा वे सामाजिक सास्कृतिक व्यतिरेक नही मिलते हैं जो अफ्रीका, न्यूजीलैण्ड आस्ट्रेलिया और अमरीका के आदिवासियो और योरोपियनो म मिलते हैं। अग्रेजी राज्यकाल म जनगणना के पयवेक्षकों ने धर्म के आधार पर आदिवासियो को हिन्दुओ से अलग मान कर उनकी परिभाषा करने की कोशिश की है। उन्होने यह माना कि आदिवासी धर्म भारत की बहु अतिरिक्त विषय वस्तु है जिसका हिन्दुत्व के मन्दिर म अभी भी निर्माण बाकी है। उन्होने आदिवासियो को सब चेतनावादी अर्थात सभी निर्जीव पदार्थों म चेतना की स्फूर्ति का अनुभव करने वाला (Animist) मान कर उन्हे हिन्दुओ से अलग माना। इसका परिणाम यह हुआ कि मध्यप्रदेश म बजारा को एक जाति मानकर हिन्दुओ म रखा गया और मैसूर म उन्हे एक गण-जाति मान कर आदिवासियो म रखा गया[1] यद्यपि दोनों क्षेत्रो म वे एक ही पेशे को अपनाये हुए हैं। यह सिद्धान्तत तर्कसगत नही है और इस कारण भारत के मानवशास्त्री तथा समाजशास्त्री इसका विरोध करते रहे हैं।

योरोप के मानवशास्त्री जिन विशेषताओ के आधार पर आदिवासी की परिभाषा करते हैं वे भारत के बाहर के आदिवासियों पर लागू हो सकती हैं किन्तु

1 घेयर, मथस दि रिलीजन आफ इण्डिया पृष्ठ 33

भारत के आदिवासियों पर नहीं, क्योंकि भारत के आदिवासी क्षेत्रों के गाँवों में आदिवासी और गैर आदिवासी साथ-साथ रहते हैं, वहाँ ये विशेषताएं गैर आदिवासियों पर भी लागू होती हैं। सरल समाज (Simple Society) की धारणा से जो भाव व्यक्त होता है उसमें भारत का सारा ग्राम-समाज आ जाता है और ग्राम समाज में आदिवासी भी हैं और गैर आदिवासी भी। भारत के ग्रामीण हिन्दू भी आदिवासियों की भाँति तन्त्र-चेतनावादी हैं। हिन्दुत्व में निगम भी है और आगम भी, और आगम निश्चय ही वह आदिवासी तत्व है जो हिन्दुत्व में व्याप्त होकर, समादृत स्थान पाता रहा है। अनेक विश्वास और प्रथाएं आदिवासियों तथा हिन्दुओं में समान रूप से पाई जाती हैं। इसीलिए, घुरे ने आदिवासियों को पिछड़े हुए हिन्दू कहा है। इरावती कर्वे ने यह माना है कि भारत के आदिवासी हिन्दुओं से कभी भी एकदम अलग नहीं रहे हैं। जिसे आर्य-तत्व कहा जाता है उसका, आदिवासी संस्कृति में एक ओर, उत्तरोत्तर आदिवासीकरण होता रहा है और दूसरी ओर आदिवासी तत्व का आर्यकरण तथा हिन्दूकरण। भारत के आदिवासियों में बुद्धवाद का प्रसार एक प्रकार से आदिवासियों का आर्यकरण ही था और बुद्धवाद में तन्त्र परम्पराओं का समावेश, आर्य तत्व का आदिवासीकरण। जाति प्रथा के माध्यम से अनेक आदिवासी समूह हिन्दुत्व तथा हिन्दू-समाज में प्रवेश पाते रहे हैं। मजूमदार के अनुसार उत्तरप्रदेश के मिर्जापुर जिले में आदिवासियों तथा चमारों की शरीर और रुधिर संरचना में समीपतम साम्य है जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उस क्षेत्र में आदिवासी ही चमार जाति के स्तर पर हिन्दुत्व में प्रविष्ट हो गए हैं। तब यह प्रश्न उठता है कि आदिवासी कौन है और आदिवासी संस्कृति क्या है ?

बेली[1] ने, उड़ीसा के कांधमल क्षेत्र के सन्दर्भ में, सारी समस्या को इस प्रकार रक्खा है। उसके अनुसार, किसी एक आधार पर आदिवासी की परिभाषा नहीं की जा सकती किन्तु, फिर भी आदिवासियों और हिन्दुओं में अन्तर किया जा सकता है। बेली के अनुसार, आदिवासी पहाड़ों और जंगलों में रहते हैं, वे हिन्दू नहीं हैं वे सब चेतनावादी हैं, आर्थिक दशा में वे पिछड़े हुए हैं, वे प्राचीनतम निवासी (Auto Chthonals) हैं, आदिवासी भाषा बोलते हैं। किन्तु इन विशेषताओं में से कोई भी एक विशेषता आदिवासी की परिभाषा करने में सहायक नहीं होती है, और यदि सबको एक में मिला कर लागू किया जाय तो बहुत से ऐसे आदिवासी समूह हैं जो परिभाषा के क्षेत्र से बाहर हो रह जायेंगे। भाषा का सिद्धान्त भी इसमें सहायक नहीं होता है। गोंड, खोंड और ओरांओं द्राविड परिवार में आते अवश्य हैं किन्तु सभी द्राविड परिवार की ही भाषा नहीं बोलते हैं। यह कहना कि आदिवासी प्राचीनतम निवासी हैं वर्तमान क्षेत्र में आदिवासी परिभाषा की समस्या हल नहीं

---

1 बेली, एफ० जी० ट्राइब, कास्ट एण्ड नेशन पृष्ठ 363-64

होती है। गोंडों का यह विश्वास है कि वे अपने क्षेत्र में कहीं बाहर से आकर बसे हैं और उन्होंने वहाँ के मूल निवासियों को बाहर खदेड़ा है। आर्थिक स्तर के दृष्टिकोण से यदि देखा जाय तो आदिवासियों का आर्थिक स्तर उन कृषकों से बुरा नहीं है जो आदिवासी नहीं हैं। प्रायद्वीपीय भारत की गणजातियों के देवताओं में हिन्दू देवता पाये जाते हैं और अनेक निम्न स्तर की जातियाँ आदिवासियों के उन अनेक विश्वासों और प्रथाओं को अपनाये हुए हैं, जिन्हें उच्च स्तर की जातियाँ तिरस्कार की दृष्टि से देखती हैं। आज आदिवासियों को जो विशेषाधिकार मिले हैं उनसे समस्या और भी जटिल हो गई है और आदिवासी तथा गैर आदिवासी का प्रश्न राजनैतिक तथा प्रशासकीय महत्व का हो गया है[2]।

आदिवासी संस्कृति को उसकी निजी तथा भारत की सामाजिक एतिहासिक पृष्ठभूमि में समझने की आवश्यकता है क्योंकि जिसे आदिवासी संस्कृति कहा जाता है, उसका निर्माण भारत की एतिहासिक प्रक्रिया में हुआ है। 'आदिवासी संस्कृति' एक धारणा है जो एक विशेष प्रकार के सामाजिक संगठन का प्रतीक है यद्यपि वह सामाजिक संगठन निरपेक्ष नहीं है। योरोप के मानवशास्त्रियों ने आदिवासी संस्कृति को योरोपीय समाज की सापेक्षता में निर्धारित करने का प्रयास किया है। भारत की आदिवासी संस्कृति को योरोपीय सापेक्षता में नहीं समझा जा सकता है क्योंकि भारत की आदिवासी संस्कृति की सापेक्षता भारतीय, विशेषतः हिन्दू समाज में है। आदिवासी संस्कृति तथा उसके सामाजिक आधार हिन्दू संस्कृति और समाज के व्यतिरेक नहीं हैं क्योंकि आदिवासी संस्कृति और समाज हिन्दुत्व का एक आधार है। आदिवासी और हिन्दू भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक तंत्र के दो किनारे हैं यद्यपि उन्हें एक-दूसरे का पूरक नहीं कहा जा सकता है। यह तंत्र भारत की एतिहासिक प्रक्रिया में विकसित हुआ है और आज एतिहासिक प्रक्रिया ने ही इसके विकास के मार्ग में व्यवधान प्रस्तुत कर

---

2 अनेक समूहों ने अपने लिए आदिवासी स्तर का दावा किया है ताकि वे सब धार्मिक विशेषाधिकारों का प्रयोग कर सकें। जौनसार बावर इसका उदाहरण है। बहुपत्नीत्व की प्रथा के कारण अंग्रेजों ने इस एक अलग वर्ग को विशेष प्रशासकीय क्षेत्र माना है जबकि अन्य आदिवासी क्षेत्रों का। बहुपतित्व की प्रथा के कारण जौनसार बावर के निवासियों को प्राचीनतम मानने की भी धारणा रही है। किन्तु जाति प्रथा के कारण वहाँ के निवासी वर्ग को हिन्दू हैं जाति अन्य दोनों के। एक दृष्टिकोण से ये आदिवासी हैं और एक दृष्टिकोण से नहीं। किन्तु संवैधानिक विशेषाधिकारों के कारण वहाँ के निवासियों ने अपने लिए आदिवासी स्तर का दावा किया है।

दया है। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि आदिवासी का ऐतिहासिक-तात्त्व्य हिंदुत्व में है। इसका अर्थ यह है कि भारत की ऐतिहासिक प्रक्रिया में जहाँ, एक ओर, हिंदू संस्कृति का विकास हुआ है वहाँ दूसरी ओर, हिंदू की पृष्ठभूमि के रूप में आदिवासी संस्कृति का विकास हुआ है। अत, आदिवासी का हिंदू-आदिवासी की ऐतिहासिक सापेक्षता में समझना अधिक तर्कसंगत है। किन्तु इस ऐतिहासिक सापेक्षता की विवेचना के पहले आदिवासी संस्कृति समाज-संकुल (Trible Culture Society Complex) की विवेचना आवश्यक है।

२

आर्थिक व्यवस्था

आदिवासी आर्थिक व्यवस्था योरोप की पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था से भिन्न है, जिसके कारण उन्नीसवीं शताब्दी के योरोप के मानवशास्त्रियों ने आदिवासी-आर्थिक व्यवस्था को उद्विकासी ऐतिहासिक दृष्टिकोण से, योरोपीय आर्थिक व्यवस्था के व्यतिरेक के रूप में निर्धारित करने का प्रयास किया है। इस प्रयास में एक ओर आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में पाई जाने वाली भिन्नताओं के आधार पर विभिन्न आर्थिक व्यवस्थाओं के वर्गीकरण का प्रयास किया गया है, और दूसरी ओर विभिन्न आदिवासी आर्थिक व्यवस्थाओं को एकसूत्री उद्विकास क्रम में बिठाने का प्रयास किया गया है। प्रागैतिहासिक विकास की अवस्थाओं के निर्धारण में आदि-वासी आर्थिक व्यवस्थाओं को एकसूत्री उद्विकास क्रम में बिठाने के प्रयास को बल मिला है। उदाहरणार्थ, प्राचीन प्रस्तर-युग में यायावर और पशु एवं तथा कन्द मूल एकत्र करने वाली आर्थिक व्यवस्था के प्रमाण मिले हैं नवप्रस्तरयुग में कृषक और पशु-पालक आर्थिक व्यवस्था के, कांस्य युग में मुद्रा तथा धातु सम्बन्धी उद्योगों पर आधारित आर्थिक व्यवस्था के और लौहयुग में औद्योगीकरण तथा उस पर आधा-रित आर्थिक व्यवस्था के।

उद्विकासी विचार इतना प्रभावकारी तथा व्यापक था कि उस काल के अर्थशास्त्री भी इसके प्रभाव से मुक्त न रह सके। वर्तमान अर्थशास्त्र के जन्मदाता एडम स्मिथ ने भी मानव के आर्थिक विकास को आखेटक, पशुपालक तथा कृषक-अवस्थाओं से गुजरता हुआ माना है। फ्रेडरिक लिस्ट ने मानव विकास का वर्गीकरण

(Savagery), बर्बर (Barbarian) तथा सभ्य (Civilization) अवस्थाओं से गुजरता हुआ माना है। किन्तु आज यह मान्यता निराधार मानी जाती है कि मानव का सर्वत्र एकसूत्री आर्थिक उद्विकास हुआ है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक समूह पहले आखेट, भोजन एकत्र करने वाली तथा यायावर अवस्था में ही आयें और बाद में पशुपालक तथा कृषक अवस्थाओं में। न्यूज़ीलैण्ड के माओरी कृषक अवस्था में हैं किन्तु, वे पशुपालक अवस्था में कभी भी नहीं आये। यह नहीं कहा जा सकता कि एक आदिवासी समूह, एक अवस्था विशेष में किसी एक ही उद्विकासी आर्थिक व्यवस्था में रहता है। उद्विकास एकसूत्री न होकर बहुसूत्री होता है और इस कारण, एक आदिवासी समूह में आखेटक, पशुपालक तथा कृषक आर्थिक व्यवस्थाओं के तत्त्व एक साथ पाये जाते हैं। संथाल और मुण्डा जहाँ शहरीकरण के सम्पर्क में आये हैं सर्वहारा श्रमिक वर्ग के सदस्य हो गए हैं यद्यपि, शहरीकरण के प्रभाव से दूर घने जंगलों में रहने वाले उनके साथी कीड़े मकोड़े और छिपकलियों को खाते हैं देवी देवताओं को मुर्गी और कबूतर की भेंट चढ़ाते हैं और यहाँ वहाँ कृषि करते तथा कन्द मूलों को एकत्र करते हैं। इसी प्रकार, उड़ीसा और बिहार के खारिया और बस्तर के गोंड आदिवासी एक ओर जगम खेती करते हैं और, दूसरी ओर कन्द मूल एकत्र करते तथा जानवरों और चिड़ियों का शिकार भी करते हैं[1]।

उपर्युक्त विवरण से कई तथ्य स्पष्ट होते हैं। पहला आदिवासी आर्थिक व्यवस्था की भिन्नताएं, मानव आर्थिक विकास के किसी एकसूत्री आर्थिक उद्विकास का द्योतक नहीं है और न उन्हें किसी ऐसे विकास क्रम में फिट ही किया जा सकता है। दूसरा, प्रागितिहासज्ञों ने विभिन्न युगों के जिन आर्थिक प्रकारों का वर्णन करके, जिन आर्थिक प्ररूपों और समाजों को निर्धारित किया है उनका, आदिवासी आर्थिक व्यवस्था की भिन्नताओं का वर्णन करने के लिए, प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि आज भी आदिवासियों में कोई समूह प्रधानतः आखेटक है, कोई पशुपालक और कोई कृषक[2]। तीसरा प्रागितिहासज्ञों ने आदिवासी आर्थिक व्यवस्था तथा भिन्नता

---

1 मजूमदार डा० एन० रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया अध्याय 6

2 पुनः यहाँ ने, इस दृष्टिकोण से, विभिन्न आदिवासी आर्थिक व्यवस्थाओं का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, वह इस प्रकार है —1 वे सजातीय समुदाय जिनमें पुरुष आखेट या पाश द्वारा शिकार करते हैं और नारियाँ कन्द मूल एकत्र करती हैं। जैसे भारत के कोरवा, खारिया, चेंचू और कादर इत्यादि आदिवासी समूह, 2 वे सजातीय समुदाय जिनमें आखेट तथा पाश द्वारा जानवरों का शिकार और कृषि एक साथ आर्थिक साधन हैं (जैसे कमार, बैगा और बिरहोर इत्यादि आदिवासी समुदाय), 3 वे स्तरीकृत समाज जिनमें

का जो वर्णन और वर्गीकरण प्रस्तुत किया है उसका मुख्य आधार आदिवासी द्वारा खाद्य-सामग्री प्राप्त करने के प्रयास है[1]।

आर्थिक व्यवस्था की भिन्नताओं के दृष्टिकोण से भारत की गणजातियों का क्या वर्गीकरण और वर्णन हो सकता है, इस पर विचार करने के पहले आदिवासी आर्थिक व्यवस्था की उन तमाम विशेषताओं पर विचार करना आवश्यक है जो सामान्यतः सर्वत्र पाई जाती हैं और आदिवासी आर्थिक व्यवस्था को विशिष्टता प्रदान करता है। आर्थिक व्यवस्था आदिवासी संस्कृति का एक अंग है और संस्कृति की भांति वह सामान्य भी है और विशेष भी। आर्थिक व्यवस्था मानव-सम्बन्धों और प्रयासों के संगठन से उत्पन्न वह व्यवस्था है, जिसके माध्यम से मनुष्य कम से कम प्रयास के द्वारा दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की अधिकाधिक पूर्ति करने का प्रयास करता है। आर्थिक व्यवस्था वह संगठित, सामूहिक तथा व्यवस्थित प्रयास है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी असीमित आवश्यकताओं और इच्छाओं की, सीमित साधनों के द्वारा अधिकाधिक सम्भव तुष्टि करने का प्रयास करता है। मानव का

आखेट, पशु कृषि और शिल्प आर्थिक साधन हैं (भारत की अधिकतर गणजातियां इसी श्रेणी में आती हैं), 4 पशुपालक (जैसे टोडा), 5 सजातीय पशुपालक तथा आखेटक (यह प्रकार भारत में नहीं है) 6 वे पशुपालक तथा व्यापारी समुदाय, जो अपने प्रजातिक-सांस्कृतिक संगठन में विजातीय और स्तरीकृत हैं (जैसे, उत्तरप्रदेश के पहाड़ी क्षेत्र के भोटिये), 7 वे पशुपालक जिनमें कृषक, आखेटक और शिल्पी भी पाये जाते हैं और अपने सामाजिक संगठन में जो विजातीय भी हैं और स्तरीकृत (Graded) भी। मजूमदार और मदन वही पृष्ठ 119-20

1 खाद्य-सामग्री की प्राप्ति के प्रयास, साधन और समस्याओं को आदिवासी आर्थिक व्यवस्थाओं के वर्गीकरण का मुख्य आधार माना गया है। किसी ने, जैसा कि थर्नवाल्ड ने किया है, खाद्य प्राप्ति के प्रयास और सामाजिक संगठन को मिलाकर, आदिवासी आर्थिक व्यवस्थाओं का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। आर्थिक व्यवस्थाओं के वर्गीकरण का यही एक आधार नहीं है। हिल्डेब्रैंड ने अदलाबदल (Barter) मुद्रा (Money) और साख (Credit) पर आधारित आर्थिक व्यवस्थाओं में विभिन्न आर्थिक प्रणालियों का वर्गीकरण किया है। ग्रास ने, उद्विकासी दृष्टिकोण से, क्रमशः पांच प्रकार की अर्थ प्रणालियां बताई हैं, जो इस प्रकार हैं—संग्राहिका (Collectional), सांस्कृतिक यायावरी (Cultural Nomadic), स्थायी ग्रामिका (Settled Village) नगरीय (Town) तथा महानगरीय अर्थ-व्यवस्थाएं। फोर्ड और हर्सकोविट्स ने संग्रहक, आखेटक मछली मारना, कृषि और पशु सम्बन्ध पांच प्रकार की अर्थ व्यवस्थाएं निर्धारित की हैं (मजूमदार—मदन वही पृष्ठ 120)। इन सभी वर्गीकरणों पर प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः खाद्य-सामग्री की प्राप्ति के प्रयासों पर जोर है। मजूमदार ने भी खाद्य-सामग्री की प्राप्ति के प्रयासों की भिन्नता पर आधारित वर्गीकरण को उत्तम माना है।

यह प्रयास, एक ओर, पर्यावरण द्वारा प्रदत्त भौगोलिक साधनों, प्रौद्योगिकी के रूप में उपार्जित मानवकृत उपकरणों तथा, दूसरी ओर मानव के आदर्शों और अर्हाओं से नियन्त्रित होता है। जिन्हें आर्थिक आवश्यकताएं कहा जाता है वे इन्हीं कारकों से निर्धारित होती है और चूंकि स्वयं मानव उनमें एक कारक है वे निरपेक्ष न होकर सापेक्ष रहती हैं और शाश्वत न होकर परिवर्तनशील होती है। जीवन में लिये आर्थिक आवश्यकता क्या है, इसकी परिभाषा प्रत्येक समुदाय, उपरोक्त कारकों के आधार पर अपने ढंग से करता है। आर्थिक व्यवस्था के चार आधार उपभोग (Consumption), उत्पादन (Production) विनिमय (Exchange) और वितरण (Distribution) सर्वत्र पाये जाते हैं। किन्तु आदिवासी समाज में, उनका व्यवस्थापन दूसरे ढंग से होता है और औद्योगिक समाज में दूसरे ढंग से।

आदिवासी आर्थिक व्यवस्था आदिवासी और उसके प्राकृतवास (Habitat) के बीच में होने वाले समायोजन का एक अंग है क्योंकि आदिवासी अपने

उत्पादन

प्राकृतवास पर अधिक निर्भर करता है। आदिवासी आर्थिक व्यवस्था मुख्यतया खाद्य सामग्री की प्राप्ति संरक्षण और अतिजीविता के साधन जुटाने की आवश्यकताओं से सम्बन्धित रहती है और इन आवश्यकताओं को जुटाने में आदिवासी अपने प्राकृतवास का अपेक्षाकृत अधिकतम आश्रय लेता है। प्राकृतवास पर आदिवासी की अधिकतम निर्भरता का कारण है आदिवासी संस्कृति में प्रौद्योगिकी (Technology) का निम्न स्तर जो लगभग सभी आदिवासी समाजों की विपन्नता है। मजूमदार ने बिहार उड़ीसा के खारिया आसाम के कुक्की तथा बस्तर (मध्य प्रदेश) के गोंड आदिवासियों का उदाहरण स्वरूप इस तथ्य को स्पष्ट किया है[1]। खारिया बिहार उड़ीसा के दुगम पहाड़ी क्षेत्रों में रहते हैं जहां भोजन मानव-जीवन की सर्वप्रथम समस्या है। अतः वे एक ओर जगम कृषि (Shifting Cultivation) को अपनाते हैं और दूसरी ओर, आखेट तथा मछली मारने का। साथ ही साथ वे जंगलों से शहद फल और कन्द भी एकत्र करते हैं। खारिया प्रदेश में लोहा भी पाया जाता है और इस कारण वे खनी और आखेट की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये लोहे के औजार भी बनाते हैं। वस्तुतः उनकी आर्थिक व्यवस्था का आधार है। छोटे छोटे गांवों में रहते हुए, वे मात्र वश या अन्य प्रकार से उपयोग करते हैं क्योंकि उनके प्राकृतवास में माल बहुतायत से पाया जाता है। इसके विपरीत आसाम के कुकी की आर्थिक व्यवस्था में योग का अधिक महत्त्व है। कुकी के घर और बाग बहुधा ग्राम के ही बने होते हैं। कुकी प्रदेश घने जंगलों से आच्छादित है और इसकारण खारिया की भांति कुकी भी जगम कृषि करते हैं। जगम कृषि ने कुकी जीवन को यायावर बना दिया है। कृषि का

---

1 मजूमदार, डा० एन० रेसेस एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पृष्ठ 111 120

पकड़ना और उनका आर्थिक उपयोग कुकी आर्थिक व्यवस्था की एक अन्य विशेषता है। बस्तर के गोंडों में स्थायी कृषि का अधिक महत्त्व है जिसके कारण उनमें अतिरिक्त उपज (Surplus Produce) भी अपेक्षाकृत अधिक होती है। अतिरिक्त उपज, समाज में विनिमय व्यापार और विशेषीकरण को प्रोत्साहित करती है। गोंडों में लोहार जैसे विशेषीकृत समूह पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, गोंड जंगलों में लकड़ी की कटाई का काम भी करते हैं और बस्तर प्रदेश के घने जंगली पहाड़ी इलाकों में सीढ़ीनुमा खेत बनाकर जंगम कृषि भी करते हैं। इसप्रकार आदिवासी आर्थिक व्यवस्था का आधार अतिजीविता की आवश्यकता है जिसे आदिवासी अपने तथा अपने प्राकृतवास में समायोजन स्थापित करके पूरा करने का प्रयास करता है। यह समायोजन चार कारकों पर निर्भर करता है—(1) आदिवासी सामाजिक समूह का आकार, (2) समूह की पार्थिव (Material) आवश्यकताएं (3) प्रकृति प्रदत्त साधन और (4) प्रौद्योगिकी के विकास का स्तर। किसी भी समूह की पार्थिव आवश्यकताएं न तो समूह के आकार से निर्धारित होती हैं और न प्रकृति प्रदत्त साधनों से। पार्थिव आवश्यकताओं का स्वरूप उनकी महत्ता की मात्रा उनकी तुष्टि के साधनों के प्रकार तथा प्राकृतवास के साथ समायोजन के ढंग प्रत्येक समूह में भिन्न होते हैं।

खाद्य-सामग्री जुटाने के प्रयास आदिवासी आर्थिक व्यवस्था का मुख्य आधार प्रदान करते हैं[1]। कन्द मूल शहद तथा फल फूल एकत्र करना जानवरों का शिकार करना मछली मारना और कृषि करना ही आदिवासी के आर्थिक जीवन के प्राथमिक आधार हैं। घर बनाना मिट्टी, लकड़ी या धातु के बर्तन बनाना कताई और टोकरी बनाना तथा कृषि के साथ-साथ पशुपालन ये द्वितीयक आर्थिक क्रियाएँ हैं। आदिवासी का अधिकतर समय खाद्य-सामग्री के जुटाने या उत्पादन में ही बीतता है। प्रौद्योगिकी के निम्न स्तर के कारण आदिवासी समाज में खाद्य सामग्री

---

1 फ्रायड के सैद्धांतिक प्रभाव के अन्तर्गत, कुछ मानवशास्त्रियों ने यह निर्धारित करने का प्रयास किया है कि आदिवासी जीवन के निर्धारण में यौनतुष्टि की आवश्यकता (Sex Need) की अभिव्यक्तियों और उन पर लगने वाले सामाजिक नियमों का मौलिक स्थान है (विशेष अध्ययन के लिये देखिये मलिनॉस्की द्वारा रचित सेक्स एण्ड रिप्रेशन इन सैवेज सोसाइटी)। किन्तु वर्तमान मानवशास्त्र में इस सैद्धांतिक दृष्टिकोण को महत्त्व नहीं दिया जाता है। अफ्रीका की बाटू भाषा भाषी, बेम्बा जनजाति के अध्ययन से ऑड्रे रिचर्ड्स ने यह मान्यता प्रतिपादित की कि आदिवासी सांस्कृतिक जीवन में भोजन का सर्वाधिक महत्त्व है और उसी के जुटाने तथा उत्पादन में आदिवासी का अधिकतर समय व्यतीत होता है। व्यक्ति के सामाजिक आर्थिक सम्बन्ध व भाग्य पदार्थों के जुटाने तथा उत्पादन करने की आवश्यकताओं से व्यवस्थित होते हैं (विशेष सन्दर्भ के लिये देखिये बील्स एण्ड हॉयजर—एन इन्ट्रोडक्शन टू एन्थ्रोपोलॉजी)।

के हा उत्पादन म अधिक समय लगता है। जहा शिकार ही भोजन का मुख्य साधन है वहा भोजन प्राप्ति की निश्चितता भी कम रहती है और खाद्य सामग्री जुटाने म समय भी अधिक लगता है। क्योंकि शिकार का मिलना सयोग पर अधिक निर्भर करता है। एस्कीमो का सास्कृतिक जीवन इसका उदाहरण है। खाद्य सामग्री की पूर्ति की अनिश्चितता आर्थिक व्यवस्था म सामूहिक जीवन (Collective Life) के तत्त्वो को अधिक प्रोत्साहित करती है जिसके कारण अनेक मानवशास्त्रियो को आदिवासी आर्थिक व्यवस्था अपने मौलिक रूप म, साम्यवादी प्रतीत होती है। आदिवासी आर्थिक व्यवस्था साम्यवादी है या नही, इस प्रश्न पर आगे विचार किया जायगा। यहा इतना कहना पर्याप्त है कि आदिवासी सस्कृति मे खाद्य सामग्री के जुटाने और उसके उत्पादन स जो प्रथाए सम्बन्धित है, वे इस बात का प्रमाण हैं कि आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में क्षुधा निवारण का प्रश्न सर्वोपरि है और यौन-आवश्यकता की अपेक्षा क्षुधा निवारण की आवश्यकता आदिवासी आर्थिक क्रियाओं की अधिक प्रेरक है[1]।

आदिवासी आर्थिक व्यवस्था म खाद्य सामग्री का सग्रहण या उत्पादन मुख्य

1 खाद्य सामग्री के उत्पादन से सम्बन्धित कुछ प्रथाए इसप्रकार हैं —प्राचीन प्रस्तर-युग की कन्दराए जो स्पेन और फ्रांस में मिली ह उनमें मत जानवरों के भित्ति चित्र मिले ह। कहीं-कहीं शिकार के दृश्य भी चित्रित ह। प्रागितिहासज्ञों की यह मान्यता है कि ये चित्र जादुई विचारों के प्रतीक ह। शिकार के चित्र इसलिये बनाये जाते थ कि शिकार बहुतायत से मिल सके। प्रशान्त महासागर क मारक्वीसस द्वीप के निवासी एकान्त में अनाज का भण्डार रखते हैं और वहा स्त्रियों को नहीं जाने देते ह। स्त्रियों को रसोई में भी नहीं जाने देते ह, क्योंकि उनका विश्वास है कि स्त्रियों के छूने से अनाज का भण्डार कम होता है। नीलगिरी के टोडाओ क आर्थिक जीवन का आधार भैस है। जहा वे भैस बांधते ह वहां स्त्रियों को नहीं जाने देते और स्त्रियों को दूध नहीं छूने देते। लगभग सारे आदिवासी ससार में अनाज की बुवाई का काम स्त्रिया करती ह। किन्तु, मासिक धर्म के दिनों में स्त्रियों को अनाज न बोने देना और बोये हुए खेत में उन्हें न जाने देना एक आम प्रथा ह क्योंकि आदिवासियों का यह विश्वास है कि मासिक धर्म के दिनों में स्त्री अशुद्ध होती है जिससे फसल को नुकसान होने का भय है। बस्तर के गोंड, बोने के पहले बीज को बलि दिये हुए पशु के खून से इस आशा से भिगोते [illegible] कि उससे फसल अधिक अच्छी होगी। दारलग कूकी, जगम कृषि के लिए, जब जगल साफ करते ह तो एक पेड को इसलिए छोड देते है ताकि जगल की आत्माएँ उस पेड पर विश्राम कर सकें और खेतो को नुकसान न पहुचायें। फसल तैयार होने पर कूकी उन आत्माओं की पूजा करते ह ताकि वे प्रसन्न रहें। कूकी सीढ़ीनुमा खेत बनाकर इसलिये खेती नहीं करते कि इस प्रकार खेती करना उनकी प्रथा नहीं है और, इसकारण, वे यह नहीं जानते कि किन अनुष्ठानों [illegible] सीढ़ीनुमा खेती से अधिक फसल उत्पन्न होगी।

स्थान रखता है और उत्पादन का उद्देश्य है उपभोग न कि मुनाफा। मुनाफे के लिए मशीनों के द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन पूंजीवादी औद्योगिक व्यवस्था की मुख्य विशेषता है जो आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में नहीं पाई जाती है। आदिवासी आर्थिक व्यवस्था नियमित बाजार-व्यवस्था बैंक मुद्रा और साख जैसी आर्थिक संस्थाओं पर आधारित नहीं है। आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में केवल मेला और साप्ताहिक बाजारों का ही अधिक महत्व है जो मुद्रा पर आधारित आर्थिक व्यवस्था के प्रसार और प्रभाव के साथ-साथ और भी बढ़ता जाता है। आदिवासी आर्थिक व्यवस्था उपभोग पर आधारित होने के कारण केवल निर्वाह अर्थव्यवस्था (Subsistence Economy) है। उत्पादन को उपभोग पर आधारित करके अति जीविका प्राप्त करने के प्रयास के कारण आदिवासी उत्पादन-व्यवस्था में सहयोग की मात्रा अधिक है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि आदिवासी समाज में प्रतियोगिता (Competition) और संघर्ष (Conflict) का मूलतः अभाव है। मजूमदार के अनुसार, जो आदिवासी समूह आखेट और कन्द मूल एकत्र करके खाद्य सामग्री जुटाते हैं उनमें सामूहिक सहयोग अधिक पाया जाता है किन्तु फिर भी उनमें विभिन्न समूहों तथा व्यक्तियों के स्वार्थों में विरोध स्थान पर संघर्ष भी पाया जाता है। आखेट के लिये विभिन्न आदिवासी समूह आखेट-क्षेत्र का तथा फल फूल एकत्र करने के लिये पेड़ों का बँटवारा करते पाये गए हैं। भारत के अनेक आदिवासी क्षेत्रों में महुआ जंगलों में उगता है और महुए से एक प्रकार की शराब बनाई जाती है। ऐसा पाया जाता है कि एक क्षेत्र के आदिवासी बहुधा महुए के पेड़ों को अपने समूह के विभिन्न परिवारों में बांट देते हैं ताकि संघर्ष की सम्भावना कम हो जाय। आदिवासी समाज में, आर्थिक क्रिया की प्रेरक निरीह प्रतियोगिता ही नहीं है। निरीह प्रतियोगिता पूंजीवादी व्यवस्था की विशेषता है।

प्रौद्योगिकी का स्तर निम्न होने के कारण आवश्यक उत्पादन की निश्चितता नहीं रहती है, जिसके कारण उत्पादन क्रियायें विभिन्न प्रकार के जादुई अनुष्ठानों से सम्बन्धित हो जाती हैं। इन अनुष्ठानों का पहले वर्णन किया जा चुका है। चूंकि उत्पादन उपभोग और जीवन निर्वाह से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित रहता है और प्रौद्योगिकी का स्तर भी साधारणतः निम्न ही रहता है। इस कारण कलात्मक तथा मनोरंजक क्रियाओं में सम्बन्धित हो जाता है। दूसरी ओर, उत्पादन भोजन उत्पादन के साथ साथ, मनोरंजन का भी साधन है। मछली मारना, का त्योहार एवं मछली मारने का त्योहार है जिसमें एक स्थल के लोग अपने इष्ट मित्रों सहित मछली मारने जाते हैं। किन्तु यह त्योहार तभी मनाया जाता है जब फसल अच्छी हो। उत्पादन के विभिन्न उपकरणों के बनाने में आदिवासी की कलात्मक अभिव्यक्ति का प्रश्रय मिलता है। मछली मारने के लिये जाल टोकरी का पात्र बनाना तथा शिकार के लिए औजारों का बनाना इसका उदाहरण है।

आदिवासी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में उत्पादन कार्य और कला एक में मिले रहते हैं। उत्पादन क्रिया में आदिवासी मानव मशीन का एक अंग नहीं है।

श्रम विभाजन

आदिवासी उत्पादन व्यवस्था में श्रम विभाजन, मुख्यतया आयु (Age) और लिंग (Sex) के आधार पर होता है। समाज में श्रम विभाजन (Division of Labour) की जटिलता और उसमें पाया जाने वाला विशेषीकरण प्रौद्योगिकी के विकास के साथ साथ बढ़ते रहे हैं। प्रौद्योगिकी के विकास के साथ साथ जैसे जितनी अतिरिक्त उपज बढ़ती रही है, वहां व्यापार और श्रम विभाजन भी उतने ही बढ़ते रहे हैं। श्रम विभाजन प्रौद्योगिकी से उतना सम्बन्धित नहीं है जितना कि उस अतिरिक्त उपज से जिसका कि विनिमय किया जा सके। यही कारण है कि जहां स्थायी कृषि के कारण विनिमय के लिए अतिरिक्त उपज उपलब्ध है वहां पेशागत विशेषीकरण के आधार पर, श्रम विभाजन भी पाया जाता है। वास्तविक श्रम विभाजन वहीं है जहां अतिरिक्त उपज की उपलब्धि पर आश्रित रह कर एक समाज के कुछ व्यक्ति किसी विशेष पेशा या कार्य में कुशलता प्राप्त करते हैं। इस दृष्टिकोण से, किसी कार्य के करने की प्रौद्योगिक जटिलता भी श्रम विभाजन को प्रभावित करती है। उड़ीसा के सावरा आदिवासियों में बुनकरों का पाया जाना तथा बस्तर के गोंडों में लोहारी में निपुण लोगों का पाया जाना इसका उदाहरण है।

आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में पाया जाने वाला श्रम विभाजन मूलतः शारीरिक कारकों से अधिक प्रभावित रहता है। आयु और लिंग के आधार पर होने वाला श्रम विभाजन वस्तुतः, शरीरी भिन्नताओं पर आधारित श्रम विभाजन है। आदिवासी समाज में व्यक्ति ज्यों ज्यों अपने जीवन पथ में बढ़ता रहता है अर्थात बाल्य से तरुण और तरुण से वृद्ध होता है त्यों त्यों उसके सामाजिक आर्थिक कार्य भी परिवर्तन होते रहते हैं। आयु के आधार पर पाया जाने वाला श्रम विभाजन इस तथ्य पर आधारित है कि व्यक्ति के जीवन में बालपन, तरुणाई तथा वयस्कता और वृद्धता चार मुख्य अवस्थाएं आती हैं जिनमें होने वाले शारीरिक परिवर्तन व्यक्ति की कार्य-क्षमता को प्रभावित करते हैं। आयु पर आधारित श्रम विभाजन सार्वभौमिक है यद्यपि आदिवासी समाज में इसका महत्व अधिक है। जिस समाज का प्रौद्योगिक स्तर जितना निम्न है उतना ही उसमें आयु पर आधारित श्रम विभाजन का महत्व है। खाद्य सामग्री एकत्र करने वालों तथा आखेट पर निर्भर रहने वाले समाजों में बालक और वृद्ध भारस्वरूप हो जाते हैं। एस्कीमो लोगों में स्त्रियां बालिकाओं को बाल्यावस्था में ही मार डालती हैं तथा आखेट पर निर्भर रहने वाले कुछ समाजों में शरीर से असमर्थ वृद्धों को भोजन के साथ उस समय छोड़ दिया जाता है जब कोई घुमन्तू समूह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है। पुरुष और नारी के श्रम विभाजन के पीछे नारी और पुरुष में पाये जाने वाले शारीरिक अंतर का

आधार अवश्य है लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि पुरुष और नारी में जो श्रम-विभाजन है उसको नारी और पुरुष की शारीरिक भिन्नताओं के ही आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। उदाहरणार्थ भारत की गणजातियों में नारी आखेट में भाग नहीं लेती है लेकिन भारत के बाहर की सभी गणजातियों में ऐसा नहीं है।

नारी शरीर से सम्बन्धित स्वाभाविक दैहिक प्रक्रियाओं, जैसे मासिक धर्म और गर्भ धारण, को ठीक ठीक न समझ पाने के कारण आदिवासी समाज में नारी के आर्थिक जीवन पर अनेक निषेध लग गए हैं। मासिक धर्म के दिनों में बीज न बोने का निषेध या टोडा लोगों में नारी द्वारा भैंस को छूने या जहाँ भैंसें बाँधी जाती हैं वहाँ न जाने का निषेध, इसके प्रमाण हैं। मातृत्व की जिम्मेदारियों ने नारी को पुरुष से भिन्न बना दिया है और उसके फलस्वरूप नारी के सामाजिक आर्थिक कार्यों पर स्वभावतया अनेक निषेध लग गए हैं। अपनी शारीरिक तथा दैहिक विशेषताओं के कारण नारियाँ लगभग सभी समाजों में हल्के श्रम वाले कार्यों को करती हैं। आदिवासी समाज भी इस सार्वभौम नियम का अपवाद नहीं हैं। आदिवासी समाज में यह विचार आमतौर पर पाया जाता है कि नारियाँ उन कार्यों के अयोग्य हैं जो पुरुष करता है यद्यपि इस विश्वास का आधार वास्तविक नहीं है। वास्तविकता यह है कि पुरुष नारी के कार्यों को नहीं करते हैं, अपितु नारियाँ पुरुषों द्वारा किए जाने वाले अधिकतर कार्यों को करती हैं। भारत के आदिवासी क्षेत्रों में जहाँ कृषि होती है वहाँ अधिकतर हल चलाने का काम पुरुष करते हैं और नारियाँ अधिकतर कृषि के शेष कार्यों को करती हैं। बीज बोना, धान रोपना और फसल काटना अधिकतर स्त्रियों द्वारा ही किया जाता है। इसके अतिरिक्त, जंगल से खाद्य सामग्री एकत्र करना, मछली मारना, टोकरी, कपड़ा और मिट्टी के बर्तन बनाना बहुधा नारियों द्वारा ही किया जाता है। भारत के आदिवासी समाजों में नारियाँ शिकार के लिए नहीं जाती हैं और न वे बढ़ईगिरी या लुहारी जैसे काम करती हैं। बच्चों का पालन पोषण और गृह कार्य सर्वत्र नारी के क्रियाधिकार में आते हैं। यह मत कि नारियों को साधारणतया वही कार्य सौंपे जाते हैं, जिनमें थोड़ी बुद्धि की आवश्यकता होती है सत्य नहीं है। वास्तविकता यह है कि नारियाँ अधिकतर उन्हीं आर्थिक कार्यों को करती हैं जो प्रजनन और मातृत्व के स्वाभाविक भार को निबाहते हुए किये जा सकें। यह किसी भी दशा में, नारी अयोग्यता का परिचायक नहीं है। मासिक धर्म गर्भधारण, सन्तान का प्रजनन तथा पालन पोषण, घर की देखभाल तथा नारी-शरीर की सामान्य विशेषताएँ, ऐसे कारक हैं जो आदिवासी समाज में नारी की आर्थिक भूमिका (Economic Role) को प्रभावित करते हैं।

प्रौद्योगिकी के प्रभाव से उत्पन्न तथा उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ औद्योगीकरण भारत की आदिवासी आर्थिक व्यवस्था को भी बदल रहा है जिसके कारण भारत के आदिवासी नर-नारी की आर्थिक भूमिकाएँ भी बदल रही हैं।

आदिवासी पुरुष आज लोहे के कारखानों, कोयले की खानों तथा चाय के बागों में काम करते हुए पाये जाते हैं। आदिवासी नारियाँ भी उसी प्रकार, अभ्रक और कोयले की खानों तथा चाय के बगीचों में नारी श्रमिकों के रूप में काम करती हैं। आज, आदिवासी समाज में भी नर नारी के बीच का पुराना श्रम विभाजन धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। भारत की आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में कृषक श्रमिक अवश्य पाये गए हैं किन्तु यहां दास प्रथा नहीं पाई गई है[1]।

विनिमय

आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में पाया जाने वाला विनिमय (Exchange) और वितरण (Distribution) मुद्रा और मुनाफे की भावना पर आधारित न होने के कारण औद्योगिक तथा पूँजीवादी समाज में पाये जाने वाले विनिमय और वितरण से मूलतः भिन्न हो जाता है। विनिमय और श्रम विभाजन का महसम्बन्ध है और दोनों, प्रत्यक्षतः, अतिरिक्त उपज से सम्बन्धित हैं। जहाँ जितनी मात्रा में अतिरिक्त उपज उपलब्ध होती है वहाँ, उतनी ही मात्रा में, विनिमय और श्रम विभाजन का सामाजिक संस्थागत प्रसार होता है। विनिमय को दो रूपों में देखा जा सकता है—एक, प्रत्येक समाज विशेष में पायी जाने वाली विनिमय प्रणाली के दृष्टिकोण से और दूसरे विभिन्न, समाजों में पायी जाने वाली सामान्य विनिमय प्रणाली के दृष्टिकोण से। किन्तु सिद्धान्ततः ऐसा कोई समाज नहीं है जहां विशेषीकरण, आयु और लिंग पर आधारित श्रम विभाजन न हो और इस कारण, सिद्धान्ततः, किसी ऐसे आदिवासी समाज की कल्पना नहीं की जा सकती जो किसी-न किसी प्रकार की विनिमय प्रणाली से पूर्णतया मुक्त हो। हाँ यह अवश्य है कि जहाँ अतिरिक्त उपज जितनी कम होगी, वहां विनिमय भी उतना ही सीमित होगा। जंगलों से खाद्य सामग्री एकत्र करने वाले तथा आखेट पर निर्भर रहने वाले आदिवासी समाजों में, अतिरिक्त उपज की मात्रा के कम होने के कारण, आर्थिक विनिमय प्रणाली का निम्नतम रूप पाया जाता है क्योंकि उनमें विनिमय के साधन ही निम्नतम होते हैं। लेकिन, फिर भी इन समाजों में लिंग के आधार पर पाये जाने वाले श्रम विभाजन के कारण, विनिमय का क्षेत्र मुख्यतः पति पत्नी के बीच में, परिवार तक ही सीमित रहता है।

विभिन्न समाजों में पाये जाने वाले आर्थिक विनिमय के प्रमाण प्रागैतिहास के प्रारम्भ से मिलते हैं। आदिटक समाज भी आर्थिक विनिमय से पूर्णतया मुक्त नहीं रहे हैं। आदिवासी समाजों में पायी जाने वाली आर्थिक व्यवस्थाओं में विनिमय इस प्रकार से संस्थागत हो जाता है कि उसे आधुनिक समाज की आर्थिक व्यवस्था में प्रयुक्त 'अदला-बदल (Barter), क्रय विक्रय (Purchase Sale) या 'मजदूरी' (Wages) जैसी धारणाओं से व्यक्त नहीं किया जा सकता। आदिवासी समाज की

---

[1] मजूमदार एण्ड मदन वही पृष्ठ 102

आर्थिक व्यवस्था में विनिमय का आधार केवल मुद्रा कमाना या मुनाफा नहीं है। यहाँ विनिमय में इस बात की आशा नहीं रहती है कि विनिमय करने वाले को उतनी ही आर्थिक सेवा या आर्थिक मूल्य की वस्तु मिलेगी जितनी कि वह दे रहा है। आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में पायी जाने वाली विनिमय प्रणाली की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं एक, विनिमय मूलतः सामाजिक परम्पराओं के आधार पर होता है न कि केवल व्यापारिक दृष्टिकोण से। दो विनिमय साधारणतया मित्रता रुधिर या अन्य सम्बन्धों के आधार पर होता है। तीन, विनिमय के अवसर सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुसार पूर्वनिर्धारित होते हैं[1]। चार, किसी भी विनिमय में जैसाकि लबोला के उदाहरण से स्पष्ट है यह आवश्यक नहीं है कि दोनों ओर से होने वाला आदान-प्रदान तत्काल हो जाए। पाँच, विनिमय का क्षेत्र विनिमय में प्रयुक्त होने वाली वस्तुएँ तथा उनका मूल्य प्रत्येक आदिवासी समाज के सांस्कृतिक आदर्शों के अनुसार पूर्वनिर्धारित रहते हैं। छः, अधिकतर विनिमय सामूहिक स्तर पर आनुष्ठानिक (Ceremonial) ढंग से होता है जिसके कारण बहुत से विद्वानों को आदिवासी आर्थिक व्यवस्था साम्यवादी प्रतीत हुई है यद्यपि ऐसे विनिमय किसी साम्यवादी विचारधारा पर आधारित न होकर, पारस्परिकता के सिद्धान्त पर अधिक आधारित होते हैं[2]।

1 अफरीका में लबोला (Labola), वधूधन (Bride Price) की प्रथा आदिवासी विनिमय प्रणाली की सांस्कृतिक परम्परागतता का एक सुप्रसिद्ध उदाहरण है। लबोला प्रथा के अनुसार, विवाह के अवसर पर, प्रत्येक वर का पिता वधू के पिता को कुछ वस्तुएँ भेंट करता है जिन्हें वधू का पिता अपने सगे सम्बन्धियों में बाँट देता है और जिन्हें वर का पिता अपने सगे सम्बन्धियों से एकत्र करता है। इसप्रकार, प्रत्येक विवाह में, वर के सगे सम्बन्धियों से लबोला एकत्र होता है और वधू के सगे सम्बन्धियों में बटता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने सगे सम्बन्धी के पुत्र के विवाह में लबोला एकत्र करने में सहायता देता है और उसकी लड़की के विवाह में लबोला का अंश दाय के रूप में पाता है। बिहार के मुण्डा आदिवासियों में भी वधूधन एकत्र करने की ऐसी प्रथा थी, जो मुद्रा अर्थ प्रणाली के संघात से समाप्त हो गई है।

2 न्यूगिनी के पूर्वी किनारे के उत्तर-पूर्व की दिशा में पाये जाने वाले द्वीपों (Tobriand Islands) के निवासियों में कुला रिंग (Kula Ring कुला परिधि) की प्रथा का यहाँ उदाहरण दिया जा सकता है। कुला को विनिमय परिधि व्यापारिक साझेदारी का क्षेत्र या व्यापार का आधार कहा जा सकता है। कुला रिंग (कुला परिधि) लाल रंग के हार और सफेद रंग के बाजूबन्द से बनती है। जब कोई व्यक्ति अपने ही समुदाय में, या जब दो समूह अपने ही समुदाय में, या जब दो द्वीपों के निवासी साधारण ढंग से या धूमधाम से आनुष्ठानिक ढंग से आर्थिक विनिमय करते हैं तो, साथ ही साथ, एक पार्टी दूसरी पार्टी को लाल रंग का हार और दूसरी पार्टी पहली पार्टी को सफेद रंग का बाजूबन्द देती है। बिना हार और बाजूबन्द के दो व्यक्तियों, दो समूहों, और दो द्वीप के निवासियों में व्यापारिक विनिमय नहीं हो सकता है। हार

आदिवासी आर्थिक व्यवस्था सामूहिकता की ओर अधिक उन्मुख है किन्तु वह साम्यवादी नहीं है। उद्विकासी मानवशास्त्रियों की यह धारणा थी कि आदिवासी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था साम्यवादी है किन्तु, हाल में अनेक अध्ययनों के आधार पर आज यह माना जाता है कि आदिवासी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था को उस अर्थ में साम्यवादी नहीं कहा जा सकता है जिस अर्थ में मार्क्स ने साम्यवाद का अर्थ लिया है। साम्यवाद की धारणा यूरोप के पूंजीवादी समाज के एक व्यतिरेक (Contrast) के रूप में विकसित हुई है और उस रूप में वह आदिवासी समाज पर लागू नहीं की जा सकती है[1]। पिडिंगटन ने न्यूगिनी के तटवर्ती प्रदेश के एक द्वीप वासियों (Rogeo), और दक्षिणी टंगानिका की एक बाटू गणजाति में भूधृति प्रणाली (Land Tenure System) का तुलनात्मक अध्ययन करके, यह निष्कर्ष निकाला है कि जहां भूमि की कमी के कारण भूमि के लिए प्रतियोगिता उत्पन्न होती है वहीं वैयक्तिक तथा सामूहिक भूधृति को नियमित करने के लिए आवश्यक नियम उत्पन्न होते हैं। आदिवासी समाज में ये नियम अलिखित होने के कारण, परम्परा के रूप में विद्यमान रहते हैं।

आदिवासी साम्यवाद

और बाजूबन्द के विनिमय में हार दाहिनी ओर से बाईं ओर और बाजूबन्द बाईं ओर से दाहिनी ओर चलते हैं और इस प्रकार कुला रिंग बनाते हैं। कुला समवाय व्यक्तियों का वह समूह है जो आपस में विनिमय करते हैं किन्तु जब विभिन्न द्वीपों के निवासियों में विनिमय होता है तो, एक सामूहिक इकाई के रूप में विनिमय में भाग लेते हैं। एक कुला रिंग में एक गांव के या कई गांवों के या एक या कई जिलों के वयस्क पुरुष आते हैं। कुला विनिमय में विभिन्न द्वीपों के निवासियों में होने वाले विनिमय सबसे महत्वपूर्ण हैं जिनमें भाग लेने के लिए आवश्यक जादू (Magic) का जानना जरूरी है।

1 पिडिंगटन के अनुसार आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में वे वस्तुएं, जिनके उत्पादन में सामूहिक प्रयासों की आवश्यकता होती है सामूहिक स्वामित्व में रहती हैं, जिसके कारण, आदिवासी साम्यवाद की भ्रमात्मक धारणा उत्पन्न हुई। आदिवासी समाज में सम्पत्ति सामूहिक भी होती है और वैयक्तिक भी। जिन आधारों पर लोग आदिवासी साम्यवाद की धारणा के प्रतिपादित करने का प्रयास करते हैं, उन्हीं आधारों पर आदिवासी व्यक्तिवाद की भी धारणा प्रतिपादित की जा सकती है। साम्यवाद आधुनिक समाज की धारणा है जो सामाजिक प्रतिष्ठा की समानता उत्पादन के सामाजिक नियमन तथा नियोजन उत्पादन पर समाज के स्वामित्व, लगभग समान जीवन स्तर, कार्य करने की अनिवार्यता तथा एक विशेष प्रकार की सामूहिक राजनैतिक सत्ता की धारणाओं पर आधारित है और, इस कारण जो आदिवासी अर्थ व्यवस्था पर लागू नहीं होता है। आदिवासी साम्यवाद क्या है इस पर लोग एकमत भी नहीं हैं। ऐसी दशा में आदिवासी साम्यवाद की धारणा का प्रयोग ही भ्रामक है देखिए राल्फ पिडिंगटन कृत 'एन इण्टोडक्शन टू सोशल एन्थ्रापालोजी वाल्यूम 1 पृष्ठ 314 17

भूस्वामित्व भूमि के प्रयोग पर निर्भर करता है। इस कारण आदिवासी समाज में भूमि पर किए जाने वाले उत्पादन प्रयासों तथा भूमि पर मिले अधिकारों में साम्य रहता है। वैयक्तिक तथा सामूहिक अधिकारों का स्वरूप सांस्कृतिक आदर्शों पर आधारित रहता है। आदिवासी समाज में वैयक्तिक तथा सामूहिक अधिकार और विशेषाधिकार साथ साथ पाये जाते हैं, जिसके कारण, पहले के अनेक मानवशास्त्रियों को आदिवासी आर्थिक व्यवस्था के साम्यवादी होने का भ्रम हुआ है। विभिन्न उपकरण (Tool), कपड़े, आभूषण और जन्त्र मन्त्र का स्वामित्व बहुधा वैयक्तिक होता है। आदिवासी समाज में एक व्यक्ति किसी वस्तु का तभी अधिकारी होता है जब वह उसका उत्पादन करता है या नियमित रूप से उसका प्रयोग करता है। आदिवासी समाज में धन और सम्पत्ति की धारणा, वर्तमान पूंजीवादी औद्योगीकृत समाज में पायी जाने वाली धन और सम्पत्ति की धारणाओं से भिन्न है। यहां धन और सम्पत्ति का संचय नहीं वरन वैयक्तिक या सामूहिक उपभोग महत्वपूर्ण है। आदिवासी समाज में, विभिन्न अवसरों पर बिरादरी को दिए जाने वाले भोज इसका उदाहरण हैं। भारत के आदिवासियों में भी, वैयक्तिक और सामूहिक सम्पत्ति तथा उत्तराधिकार के नियम पाये जाते हैं। नागा प्रदेश में ऐसे उदाहरण हैं जिनमें एक गांव के निवासी गांव की भूमि के सामूहिक रूप से अधिकारी हैं। वर्तमान परिस्थितियों में, वैयक्तिक सम्पत्ति की परम्परा अधिक बढ़ रही है।

भारत की आदिवासियों की आर्थिक प्रणालियां

भारत के आदिवासी किसी एक विशेष आर्थिक व्यवस्था में नहीं हैं। एक ओर कुछ गणजातियां खाद्य सामग्री एकत्र करने की ओर कृषि तथा आखेट की अवस्था में हैं तो, दूसरी ओर अनेक गणजातियां औद्योगिक आर्थिक प्रणाली के प्रभाव में आ गई हैं। आर्थिक संगठन के आधार पर भारत की गणजातियों का चार श्रेणियों में वर्गीकरण किया जा सकता है पहली श्रेणी में कादर, पलियन, पनियन, पनहडी, कुरुम्बा, बिरहोर, खारिया, चेंचू और मल्पन्तम जैसी गणजातियां आती हैं जो सघन वनों में रहती हैं और जंगलों से खाद्य सामग्री एकत्र करके जीवन निर्वाह करती हैं। कादर ऐसा कहा गया है किसी भी प्रकार की कृषि नहीं करते हैं। वे जंगलों में फल, कन्द और शहद एकत्र करते हैं तथा आखेट पर निर्भर करते हैं। खाद्य सामग्री एकत्र करके जीवन-यापन करने वाली गणजातियां मछली भी मारती हैं और शिकार भी करती हैं। दूसरी श्रेणी में, कमार और बगा जैसी वे गणजातियां आती हैं जो जंगल में खाद्य सामग्री एकत्र करती हैं मछली और आखेट पर अपना जीवन निर्वाह करती हैं और, साथ ही साथ, जंगम कृषि भी करती हैं। तीसरी श्रेणी में स्थायी कृषि करने वाली भील जैसी गणजातियां आती हैं। जिन गणजातियों ने स्थायी कृषि को अपना लिया है, उनके लिए जंगली पशु-पक्षी का महत्व गौण हो गया है। चौथी श्रेणी में वे गणजातियां आती हैं जिनके सदस्यों ने, चाय के

बगीचो, खाना और कारखानो मे, मजदूरी करना प्रारम्भ कर दिया है। चौथी श्रेणी के लोग आदिवासी सवहारा वग मे आते हैं और वे मुख्यतया विहार, बगाल और आसाम मे केन्द्रित हैं। सथाल, हो, मुण्डा और भुइया गणजातियो के सदस्य चौथी श्रेणी म आते है। मजूमदार और मदन[1] के अनुसार भारत के तीन आदिवासी क्षेत्रों म, तीन अलग-अलग प्रकार की आथिक प्रणालिया पायी जाती है। उत्तरी उत्तर पूर्वी क्षेत्र मे पहाडो की ढालो पर बने, सीढीनुमा खेतो मे स्थायी कृषि प्रधान रूप स की जाती है यद्यपि आसाम म यहां वहां जगम कृषि भी होती है। मध्य क्षेत्र म जगम कृषि की प्रधानता रही है और दक्षिणी क्षेत्र की गणजातियां भोजन का एकत्र करके जीवन निर्वाह करने वाली (Food Gathering) साधारण आथिक व्यवस्था म हैं।

उपयुक्त वणन के आधार पर यह निष्कष निकाला जा सकता है कि जगलों से फल फूल तथा कन्द मूल के रूप म खाद्य सामग्री एकत्र करना स्थायी या जगम कृषि करना, पशुपालन और कारखानो में मुख्यतया सवहारा वग के रूप मे काम करना भारत क आदिवासियो की मुख्य आर्थिक क्रियाएँ हैं। आखेट करना, मछली मारना टोकरी बनाना और कृषक मजदूरो के रूप मे काम करना तथा सडक बनाने के लिए और वन विभाग म सरकारी नौकरी करना उनके सहायक पेशे हैं। कुछ आदिवासी समूह जिनमे पराधान मुख्य हैं गाने-बजाने का पेशा करके, अपना जीवन यापन करते है। मध्यप्रदेश बिहार उडीसा और बगाल के आदिवासी क्षेत्रो मे खनिज पदाथ बहुतायत स पाये जाते हैं जिसके कारण, योरोप के प्रभाव म आने के बाद इन क्षेत्रो मे खनिज पदार्थों को निकालने के लिए या उनका औद्योगिक उपयोग करने के लिए, इन आदिवासी क्षेत्रो म औद्योगीकरण बढता रहा है। अभ्रक कोयला और लोहे की खान इ ही आदिवासी क्षेत्रो म हैं। भिलाई और जमशेदपुर के कारखाने भी इन्ही क्षेत्रो म हैं। अत, गरीबी तथा अधिक आर्थिक लाभ के कारण आदिवासी खानो और कारखानो म काम करने की ओर आकृष्ट होत रहे है। इसके अतिरिक्त, आसाम के चाय के बगीचो म भी आदिवासी श्रमिको के रूप मे काम करते हैं। सथाल, खोड और गोड, एक बडी सख्या म, आसाम के चाय के बगीचो म काम करते हैं।

भारत के आदिवासियो म पशुपालको की सख्या अधिक नही है। पशुपालन आथिक व्यवस्था का प्रधान उदाहरण नीलगिरी के टोडा लोगो की आर्थिक व्यवस्था है। टोडा भसें पालते है और गस तथा दूध ही इनके जीवन के आर्थिक आधार हैं। क्योकि दूध और दूध से बनी वस्तुओ के विनिमय से वे आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करते है। व कृषि नही करते हैं। उत्तरप्रदेश की उत्तरी सीमा पर पाय जाने वाले भोटिए कृषि और पशुपालन की बीच की अवस्था म है। किन्तु जहा स्थायी कृषि आर्थिक जीवन

---

1 वही पष्ठ 196

का आधार है वहां पशुपालन गौण पेशा बन गया है। कृषि के साथ-साथ अन्य अनेक गौण पेशे भी आ जाते हैं। गौण पेशे वस्तुतः सहायक पेशे हैं क्योंकि ये प्रधान पेशा के साथ किये जाते हैं। शिकार करना, मछली मारना, टोकरी बनाना, सूत कातना, कपड़ा बुनना, रस्सी बनाना और बेंत की आवश्यक वस्तुएं बनाना ऐसे ही पेशे हैं। बढ़ईगिरी, लोहारी तथा कुम्हारी का काम करने वाले विशेषीकृत समूह भी आदिवासियों में पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, मध्यप्रदेश के मड़िया गोंड जंगल की जड़ी-बूटियों (Forest Produce) से एक प्रकार की शराब बनाते हैं। सावरा, खोंड और गोंड आदिवासियों में शिल्पी वर्ग के लोग गोपालक, धातुओं का काम करने वाले, बुनकर, बेंत का काम करने वाले तथा मिट्टी के बर्तन बनाने वाले पाये जाते हैं। कोरवा और अगरिया लोहार का काम करने में सिद्धहस्त हैं। वे स्थानीय उपयोग के लिए, साधारण किस्म के औजार बनाते हैं। घासी तांत बनाने के काम में निपुण हैं। थारू कृषि के साथ साथ, फर्नीचर घरेलू उपयोग के बर्तन, टोकरी वाद्य-यन्त्र हथियार, रस्सी और चटाई बनाने का काम करते हैं। मद्रास प्रान्त के इरुला बांस की चटाइयां तथा टोकरियां और फाल (Ploughshare) और पहिये बनाते हैं।

आदिवासियों में कृषि काम

कृषि, भारत के आदिवासियों का मुख्य आर्थिक आधार है। सन् 1951 की जनगणना में दिये गए आंकड़ों के अनुसार, भारत के एक सौ नब्बे लाख से कुछ अधिक आदिवासियों में से लगभग एक सौ सत्तर लाख कृषि पर निर्भर हैं। कृषि कई प्रकार की है। एक जंगम कृषि जिसमें एक स्थान पर लगातार स्थायी रूप से खेती न करके, एक स्थान पर पेड़ों को गिराकर और उनमें आग लगाकर तथा राख और मिट्टी को एक में मिलाकर तब तक खेती की जाती है जब तक कि भूमि की उर्वरता बनी रहती है। इस प्रकार की कृषि में न तो हल का महत्व है और न खाद का। जलाये हुए पेड़ों की राख खाद का काम देती है। बीज या तो छिड़का कर बोया जाता है या छड़ी से गड्ढे करके प्रत्येक गड्ढे में एक बीज का दाना रख दिया जाता है। प्रागैतिहासज्ञों का मत है कि जंगम कृषि ही से वर्तमान कृषि का प्रारम्भ हुआ है। नव प्रस्तर युग की आर्थिक व्यवस्था, खाद्य संग्रहण और जंगम कृषि पर आधारित थी। स्थायी कृषि कृषि का दूसरा प्रकार है जो पहाड़ों की ढलानों पर सीढ़ीनुमा खेतों में भी की जा सकती है और मैदानों में भी। स्थायी कृषि, जंगम कृषि से आगे बढ़ा हुआ एक कदम है। स्थायी कृषि, खाद तथा हल के प्रयोग और फसलों को बदल-बदल कर बोने (Rotation of Crops) के ज्ञान से सम्बन्धित है। मशीनों द्वारा खेती (Mechanized Agriculture), उसी प्रकार से, हल पर आधारित खेती से आगे बढ़ा हुआ एक कदम है जिस प्रकार, हल से खेती जंगम कृषि से आगे उठा हुआ एक कदम है। हल द्वारा की जाने वाली खेती में यदि खाद के प्रयोग का ज्ञान आवश्यक है तो मशीनीकृत खेती में उर्वरकों (Fertilizers) के प्रयोग का

स्थान । हल और मशीन से की जाने वाली कृषि स्थायी कृषि में आती है । हल और मशीन से ही प्रकृष्ट खेती (Intensive Cultivation) सम्भव हुई है । प्रकृष्ट खेती बढ़ती हुई जनसंख्या की एक आवश्यकता है । जगम कृषि को आदिम कृषि कहा गया है और यह वहीं सम्भव है जहां जनसंख्या घनी नहीं है तथा जहा जगलों और भूमि का बाहुल्य है ।

भारत के आदिवासियों में आराओ भील सथाल, मुण्डा, खरवार बगा, कोरवा, गोंड, हो और आसाम की गणजातियाँ प्रधान कृषक गणजातियाँ हैं । भारत के आदिवासी स्थायी और जगम दोनों प्रकार की कृषि करते हैं । जगम कृषि पर निर्भर गणजातियों की आर्थिक व्यवस्था मूलतः वैसी ही होती है जैसी खाद्य-संग्रहक गणजातियों की । कमार, रेड्डी और बैगा इत्यादि गणजातियाँ जो जगम कृषि पर निर्भर हैं नवप्रस्तर युग की आर्थिक व्यवस्था से आगे नहीं बढ़ पाई हैं । जहां-जहां स्थायी कृषि आ गई है वहा आदिवासी ग्रामीण कृषक की अवस्था में आ गए हैं, किन्तु जहां जगम कृषि ही जीवन का आधार है, वहां आदिवासियों की आर्थिक दशा काफी अविकसित है ।

भारत के आदिवासियों में, जगम कृषि का व्यापक प्रभाव है । विभिन्न क्षेत्रों में उसे विभिन्न नामों से पुकारा जाता है । नागा उसे 'झूम' कहते हैं उड़ीसा के खोन्ड 'पाडू' बस्तर के मरिया गोंड 'पेण्डा' और मध्यप्रदेश के बैगा लोग 'बेवार' । भुइयाँ, जब पहाड़ियों की तलहटी में पेड़ों को गिरा और जला कर, राख में बीज बोते हैं तो उसे 'दाही' कहते हैं किन्तु, यदि वे पेड़ों को न गिरा कर पेड़ों के चारों ओर कटी झाड़ियों को एकत्र कर, पेड़ों को जलाते हैं तो वे उसे 'कोमन' कहते हैं । जगम कृषि में, पेड़ों को जलाकर राख करना, भूमि पर जमी राख की पर्तों में बीजों को बोना और एक दो फसलों के बाद, उस भूमि को छोड़कर नई भूमि तैयार करना आधारभूत क्रियायें हैं । इस प्रकार की कृषि में सिंचाई वर्षा पर निर्भर रहती है । जगम कृषि में वन सम्पत्ति का नाश होता है, वनों के विनाश से भूमि का कटाव और बाढ़ों का आना बढ़ जाता है परिश्रम के अनुसार फसल नहीं होती है तथा इसमें फसल इतनी कम होती है कि सम्पूर्ण जनसंख्या का इससे भला नहीं होता है । इस कारण, जगम कृषि को अपर्याप्त और हानिकर कहा गया है । अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद से जब से सरकार ने जगलों की सुरक्षा की नीति को अपनाया है, तब से आदिवासियों और सरकार के लिये जगम कृषि एक समस्या का विषय बन गई है क्योंकि, अब आदिवासियों को जगलों को काट गिराने में वह स्वतन्त्रता नहीं है जो पहले थी । जगम कृषि आदिवासी संस्कृति का एक अभिन्न अग बन गई है । बैगा लोगों का यह विश्वास है कि हल चलाना पृथ्वी माता की छाती को फाड़ना है और इसलिए, भगवान ने बैगाओं के पूर्वज नागा बैगा को, हिन्दुओं और गोंडों की भांति हल चलाने से मना किया था । आदिवासियों की आर्थिक दशा में सुधार करने

के लिए, उन्हें जगम कृषि की अवस्था से ऊपर उठाना आवश्यक है किन्तु यह सहसा नहीं हो सकता है। इस कारण जगम कृषि जहा आर्थिक समस्या है वहा वह सास्कृतिक और प्रशासकीय समस्या भी है। कुछ भी हो, भारत के सभी आदिवासी जगम कृषि पर निर्भर नहीं है। नागा क्षेत्र के निवासी रेंग्मा नागा पहाड की ढालो पर खेती करने मे काफी कुशल हैं। भील, गोड मुण्डा, सथाल, खासी और अन्य अनेक गणजातियाँ हल का प्रयोग करके वैसे ही स्थायी खेती करती हैं जैसी कि गैर-आदिवासी गावो के निवासी। जहा स्थायी खेती होती है वहा सिंचाई और खाद का भी नाम आदिवासियो का है।

३

सामाजिक सगठन गणजाति (Tribe)

गणजाति (Tribe), आदिवासी सामाजिक सगठन की उस ही एक आधारभूत सामाजिक इकाई है जैसे जाति हिन्दू सामाजिक सगठन की एक आधारभूत सामाजिक इकाई है। हिन्दू समाज जातियो मे बँटा हुआ है और आदिवासी समाज गणजातियो मे। जाति की सदस्यता की भाँति, गणजाति की सदस्यता जन्मजात होती है। गणजाति, जाति, वर्ण, वर्ग और सम्प्रदाय, अलग अलग आधारो पर आधारित भारतीय सामाजिक सगठन की विभिन्न इकाइयाँ है, जिनमें से, गणजाति-सगठन आदिवासी समाज की आधारभूत विशेषता है। मजूमदार के अनुसार कुछ परिवार या परिवार समूहो से सगठित, गणजाति एक ऐसा समूह है जिसका एक सामान्य नाम होता है (जैसे, टोडा भील, सथाल ओराओ हो बैगा और चमार इत्यादि), जिसके सदस्य एक निश्चित भूभाग मे रहते है (जैसे सथालो का बिहार से लेकर बगाल तक फैला होना), एक सामान्य भाषा या बोली का प्रयोग करते हैं (जैसे टोडो द्वारा गोडी और भीलो द्वारा भीली बोलियो का प्रयोग), विवाह और पेशा सम्बन्धी कुछ सामान्य निषेधो को मानते हैं (जैसे गणजाति मे भीतर विवाह न करना टोडाओ द्वारा भैस और दूध को नारियो से दूर रखना) और आपस मे अन्तर्निभर रहते है। इम्पीरियल गजेटियर में गणजाति को एक समान नाम बोली तथा क्षेत्र वाला कुछ परिवारो का एक ऐसा समूह कहा गया है जो सामान्यत अन्तर्विवाही नही होता है यद्यपि मूलत वह अन्तर्विवाही रहा होगा। किन्तु मजूमदार के मत मे, गणजाति सामान्यतया एक अन्तर्विवाही समूह होता है। अन्तर्विवाह, मजूमदार के मत मे गणजाति की एक आवश्यक विशेषता है। रिवर्स ने गणजाति को एक सरल प्रकार (Simple Kind) का ऐसा समूह माना है, जिसके सदस्य एक

चोली का प्रयोग करते है और युद्ध जैसे सामान्य उद्देश्य मे सगठित होकर, काम करते हैं। किन्तु, युद्ध सदा दो गणजातियो मे ही नही होते हैं। एक ही गणजाति के दो पक्षो म भी युद्ध हो सकते हैं। युद्ध नही, क्षेत्र गणजाति की आवश्यक विशेषता है यद्यपि रिवस ने क्षेत्र को महत्ता नही दी है। यायावर (Nomadic) गणजातिया भी किसी न किसी क्षेत्र से सम्बन्धित होती है और प्रत्येक यायावर गणजाति एक क्षेत्र विशेष मे ही घूमती रहती है।

इरावती कर्वे के अनुसार गणजाति म आर्थिक विशेषीकरण (Economic Specialization) का अभाव होता है जिसका तात्पर्य यह है कि एक गणजाति के सदस्य सभी आवश्यक आर्थिक क्रियाओ को करते हैं। जाति व्यवस्था म, पेशावर विशेषीकरण (Occupational Specialization) पाया जाता है जिसके कारण, जाति व्यवस्था म जातियो की अन्तर्निभरता पाई जाती है। दूसरे शब्दो मे जाति व्यवस्था परम्परागत विशेषीकरण के आधार पर विभिन्न सामाजिक समूहो का ऐसा सगठन है जिसमे विभिन्न सामाजिक समूह एव सामाजिक उच्चोच्च परम्परा म बधे रहते है जो अपरिवर्तनशील लगते हुए भी आर्थिक दबावो के कारण, वस्तुत लचीली रहती है। इस प्रकार, जसा कि एक मत है, गणजातीय व्यवस्था म आर्थिक विशेषीकरण नही होता है जिसके कारण गणजाति जाति से भिन्न हो जाती है। किन्तु, आर्थिक जीवन म आत्मनिर्भर तथा स्वतन्त्र समूह के रूप मे, गणजाति की धारणा एक आदर्श प्ररूपमात्र है क्योकि उसके अपवाद भी पाये जाते हैं। मजूमदार के अनुसार, जाति के आर्थिक विशेषीकरण जाति व्यवस्था म निहित जातियो की अन्तर्निभरता और उच्चोच्च परम्परा तथा गणजाति की आर्थिक स्वतन्त्रता के आधार पर जाति और गणजाति का अन्तर नही किया जा सकता क्योकि भारत क ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया म गणजातियो म भी अन्तर्निभर पेशागत विशेषीकरण का विकास हुआ है। नीलगिरी की गणजातियाँ इसका उदाहरण है। टोडा गणजाति के लोग न तो खेती करते हैं और किसी शिल्प उद्योग को। उनका आर्थिक जीवन भैस पालन और दूध के व्यापार पर निभर है। दूध और दूध की बनी वस्तुओ से वे अपनी पडोसी गणजातियो से आवश्यक वस्तुएँ बदलते हैं। बडगा से वे अनाज, खेतों मे उगाई जाने वाली अन्य आवश्यक स्थानीय वस्तुए और कपडे लेते है और कोटा गणजाति के लोगो से मिट्टी के बतन और लोहे के औजार लेते है। कोटा गणजाति के लोग टोडा त्योहार और अनुष्ठानो मे गाने बजाने का भी काम करते है। कुरुम्बा गणजाति के लोग कन्द मूल एकत्र करके जीवन निर्वाह करते हैं। इस क्षेत्र म एसा माना जाता है कि मूलत यहा की सारी भूमि टोडा लोगो की थी जिसके फलस्वरूप, बडगा, बतौर लगान के टोडा लोगो को अपनी पदावार का एक हिस्सा देते हैं।

इसप्रकार नीलगिरी की चारो गणजातिया का आर्थिक जीवन आत्मनिर्भर न होकर, परस्पर अन्तर्निभर है। टोडा पशुपालक हैं, बडगा खेतिहर, कोटा शिल्पी

और कुरुम्बा कन्द मूल संग्रहक। इस क्षेत्र के आर्थिक संगठन में प्रत्येक गणजाति दूसरी पर निर्भर है। इन चारों गणजातियों के अन्तःसम्बन्धों में पाये जाने वाले सामाजिक प्रतिष्ठाक्रम विन्यास में उच्चोच्च-परम्परा का भाव है। टोडा गणजाति की सामाजिक प्रतिष्ठा उच्चतम मानी जाती है। ऐसा लगता है कि मानो ये चारों गणजातियाँ, वस्तुतः जातियाँ हों। दूसरी ओर, प्रत्येक गणजाति की भाषा और संस्कृति कलाप एक दूसरे से भिन्न हैं। अनेक गणजातियाँ ऐसी हैं जिनके सदस्य एक पेशा विशेष पर निर्भर करते हैं और इसी कारण, गणजातियों का आखेटक, पशुपालक तथा कृषक श्रेणियों में वर्गीकरण भी किया जाता है। भारत के जिन क्षेत्रों में जाति और गणजाति का सम्पर्क बढ़ा है, जैसा कि मध्य प्रदेश के अधिकतर आदिवासी क्षेत्रों के सीमान्त प्रदेशों में हुआ है गणजाति का आर्थिक विशेषीकरण भी हुआ है। उत्तरप्रदेश के मिर्जापुर जिले में, बियार और खरवार गणजातियों के सदस्यों ने कत्था बनाने के काम में निपुणता प्राप्त कर ली है जिसके कारण उन्हें खैराही की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता है। भारत की सामाजिक ऐतिहासिक प्रक्रिया में गणजाति सदा विशेषीकरण की ओर उन्मुख रही है और, इसी कारण, गणजाति जाति में रूपान्तरित होती रहा है। आगे, यथास्थान इस प्रक्रिया का वर्णन किया जायगा। विशेषीकरण का स्तर प्रौद्योगिकी के विकास-स्तर से सम्बन्धित है। आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में प्रौद्योगिकी का स्तर निम्न है और इस कारण, अपवादरूप, उसमें विशेषीकरण की कमी है। भारत में गणजाति का पेशागत विशेषीकरण, गणजाति को जाति में, रूपान्तरित करता रहा है, जिसके कारण, यहाँ वहाँ, अपवाद के रूप में गणजाति के पेशागत विशेषीकरण के उदाहरण भी मिल जाते हैं। बस, जैसी कि अधिकतर मानवशास्त्रियों की राय है, आर्थिक आत्म निर्भरता, गणजाति की एक सामान्य विशेषता है। आर्थिक विशेषीकरण जाति की विशेषता है न कि गणजाति का। एक गणजाति के सदस्य लगभग उन सभी आर्थिक क्रियाओं और पेशों को करते हैं जो उनके जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक हैं। गणजाति में साधारणतया आर्थिक विशेषीकरण नहीं होता है यद्यपि, एक दो गणजाति में आर्थिक विशेषता प्राप्त समूह पाये जा सकते हैं। मध्य प्रदेश के गोंडों में लोहारी के काम में विशेषता प्राप्त समूह का पाया जाना इसका उदाहरण है। जाति का आर्थिक विशेषीकरण, उस गणजाति से भिन्न कर देता है। इसमें कोई शक नहीं कि एक जाति विशेष के सदस्य कई पेशों को कर सकते हैं किन्तु हर दशा में, प्रत्येक जाति के सदस्यों के लिये निर्धारित पेशों की संख्या और सीमा परम्परानुसार निर्धारित रहा है। ब्राह्मण न तो भंगी का काम कर सकता है और न भंगी ब्राह्मण का।

मजूमदार के अनुसार, गणजाति एक सामाजिक राजनतिक (Social Political) सगठन है। गणजाति मूलत एव आत्मनिभर स्वतन्त्र राजनतिक इकाई है—ऐसी राजनतिक इकाई, जिसम विभिन्न सामाजिक प्रतिष्ठा (Social Status) वाले व्यक्ति सगठित रहते हैं। एक ससपर्शी क्षेत्र मे फली हुई, स्वतन्त्र राजनतिक इकाइ हान क कारण गणजाति राष्ट का रूप ले लेती है यद्यपि भारत म राष्ट्र राज्य क विकास के साथ-साथ गणजाति का राष्ट्र रूप क्षीण होता रहा है[1]। आज सभी गण जातियाँ भारत क राजनतिक सगठन का अग हैं और उनकी राजनतिक स्वतन्त्रता समाप्त हो गई है। किन्तु फिर भी गणजाति अपन सदस्यो के सामाजिक सम्बन्धो

सामाजिक राजनतिक पहलू

---

1 आदिवासी साम्यवाद (Primitive Communism) क प्रणता मानवशास्त्रियो ने यह मत प्रतिपादित किया ह कि आदिवासी समाज में राज्य-सगठन नहीं पाया जाता है और आदिवासी जीवन प्रथाओं से नियन्त्रित होता है। आदिवासी प्रथाओं का कभी उल्लघन नहीं करता है। इसकारण, आदिवासी समाज में, कानून (विधि) की भी आवश्यकता नहीं होती है। किन्तु आज यह मत निमू ल माना जाता है। आज यह माना जाता है कि राजनतिक सगठन प्रत्येक समाज में पाया जाता है यद्यपि उसके प्रकार भिन्न हैं। समाज का खण्डात्मक विभाजन (Segmentary Division) राजनतिक सगठन की आवश्यकता को जन्म देता है। रक्तसबन्धी समूह, आर्थिक समूह, धम और लिंग (Sex) आदिवासी समाज को खण्डात्मक बनाते ह, जिसक कारण, आदिवासी समाज में भी राजनतिक सगठन पाया जाता है। राजनतिक सगठन के दृष्टिकोण से, बोल्स और ह्वायजर ने आदिवासी समाजों को तीन श्रणियों में बाँटा है पहला वह समाज जिसमें राजनतिक सगठन अत्यन्त सरल होता है (जसे खाद्य सग्रहक और आखेटक गणजातियाँ), दूसरा, वह समाज जो जत्था (Band), गणजाति या राज्यसघ (Confederacy) में सगठित होता है, और तीसरा, वह समाज जो साम्राज्य (Empire) में सगठित होता है। जिस समाज का आर्थिक स्तर जितना विकसित है, उसका राजनतिक सगठन भी उतना ही विकसित और जटिल है। ह्वबल के अनुसार, आदिवासी समाज में पाच प्रकार के राजनतिक सगठन पाय जाते ह स्थानीय समूह (The Local Group), जत्था (The Band) राष्ट्र (The Nation) राज्यसघ (The Confederacy) और साम्राज्य (The Empire)। स्थानीय समूह और जत्था राष्ट्र में विलीन हो जात ह। आदिवासी समाज में गणजाति राष्ट का रूप ग्रहण करती है। गणजाति का विकसित राजनतिक रूप राज्यसघ और साम्राज्य का रूप ले लेता है।

का नियमन उन क्षेत्रों में करती है जो भारतीय विधि प्रणाली के अन्तर्गत नहीं आ पाये हैं। प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत में जहां राज्य का उद्देश्य भारत की विभिन्न गणजातियों पर प्रभुता स्थापित करना था गणजाति केन्द्रीय सत्ता के अधीन, एक स्वतंत्र राजनैतिक इकाई के रूप में कार्य करती थी। गोंडों ने मध्यभारत में अपना राज्य स्थापित किया था इसके प्रमाण इतिहास में मिलते हैं। सन 1855 में संथालों ने अंग्रेजों को अपने इलाके से निकल जाने की चुनौती दी थी और संगठित होकर अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह किया था।

वर्तमान आदिवासी भारत में पंचायत प्रणाली आदिवासी राजनैतिक संगठन का मुख्य रूप है। भारत में पंचायत प्रणाली के तीन परम्परागत प्रकार मिलते हैं एक, जाति पंचायत दूसरा ग्राम पंचायत और तीसरा गणजाति-पंचायत। जाति पंचायत के अन्तर्गत एक जाति के सदस्य आते हैं। एक जाति पंचायत के सदस्य कई पड़ोसी गांवों के किन्तु एक ही जाति के सदस्य होते हैं। जाति-पंचायत का उद्देश्य है जाति के नियमों को लागू करना और उनका उल्लंघन करने वाले को दंड देना। ये नियम मुख्यतया खान पान, विवाह तलाक और लेन देन से सम्बंधित होते हैं। ग्राम पंचायत के अन्तर्गत एक गांव के निवासी आते हैं जो कई जातियों के सदस्य हो सकते हैं। ग्राम जीवन का नियमन जाति पंचायत के अन्तर्गत आता है। स्वतन्त्र भारत में ग्राम पंचायत को वैधानिक आधार प्रदान किया गया है और विधान द्वारा उनके कार्यों और संगठन को निर्धारित किया गया है। वर्तमान विधान के अनुसार एक ग्राम पंचायत में कई ग्राम आ सकते हैं क्योंकि वर्तमान विधान में पंचायत संगठन का आधार ग्राम नहीं, बल्कि एक निश्चित जनसंख्या है जो कई ग्रामों से मिल कर बन सकती है। गणजाति पंचायत से तात्पर्य उस पंचायत से है जो एक गणजाति में पायी जाती है। वर्तमान आदिवासी भारत में, गणजाति का एक केन्द्रीय राजनैतिक संगठन नहीं मिलता है। प्रत्येक गणजाति एक सम्पर्क क्षेत्र में फैली रहती है और उसके सदस्य कुनबों (जिनका आगे वर्णन किया जायगा) और ग्रामों में विभक्त रहते हैं। वर्तमान आदिवासी समाज में परम्परागत ग्राम पंचायत का ही रूप अधिक मिलता जिसे कुछ उदाहरणों द्वारा इसप्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

कमार गणजाति में कोई केन्द्रीय संगठन नहीं है। पास पास स्थित कुछ गांवों के निवासी पंचायत-संगठन में संगठित हो जाते हैं। पंचायत को सामाजिक धार्मिक मामलों में सर्वोच्चसत्ता मिली हुई होती है। कमार गणजाति के सदस्य अपनी अपनी पंचायत के अधीन रहते हैं। खरिया गणजाति में एक गांव के खरिया परिवारों के मुखियाओं से मिलकर ग्राम-पंचायत संगठित होती है। रेंगमा नागाओं में अंग्रेजी राज्य से पहले प्रत्येक गांव का एक अध्यक्ष होता था जो प्रशासन में प्रमुख व्यक्तियों की सहायता लिया करता था। हो गणजाति में भी पंचायत व्यवस्था पायी जाती थी। किन्तु अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद में यहाँ जो दोहरा प्रशासन अस्तित्व में

आया, उससे पचायत का ह्रास हुआ है। अंग्रेजी प्रशासन ने वहाँ प्रत्येक गाँव मे आदिवासी ग्राफिसर रक्खे जो अपनी ही सत्ता म ल्प्त रहे जिसके कारण परम्परागत प्रशासन भ्रष्ट हो गया। वहा यह नियम है कि किसी भी मुकद्दमे की ग्रतिम पचायत म कलक्टर अवश्य उपस्थित हो और वह स्वय यह देखे कि फैसला ठीक दिया गया है या नहीं।

प्रत्येक पचायत का एक मुखिया होता है, जिसका पद पीढी दर पीढी चलता है। किन्तु, इस नियम क अपवाद भी पाये जाते है। रेंग्मा नागाओ म, ग्राम अध्यक्ष का पद किसी एक परिवार मे नहीं वरन क्लान म पीढी दर पीढी चलता है। आदिवासी समाज म, मुखिया निरकुश शासक नही है। मुखिया की सहायता के लिए तथा उसे सलाह देने के लिए यातो क्लान के या गाव के प्रमुख वृद्धो की सभा होती है, जिसकी राय की मुखिया अवहेलना नहीं कर पाता है। मुखिया का पद वशानुगत होता है फिर भी, यदि बहुमत उसके पक्ष म न हो तो, उसे हटाया जा सकता है। आदिवासी पचायत के सामने वही मुकद्दमे आते हैं जिनसे गणजातीय विधि (Tribal Law) भग होती है। सिद्धान्तत, पचायत के अधिकार क्षेत्र म, आदिवासी जीवन मे सम्बन्धित सभी समस्यायें आती हैं क्योकि पचायत और उसके नेताओ का प्रधान काम है पचायत क सदस्यो के वयक्तिक तथा सामूहिक अधिकारो की रक्षा गणजाति के नियमो का लागू करना तथा आपत्तियो के समय मार्ग निर्देशन करना। किन्तु भारत के राष्ट्र राज्य और केन्द्रीय सत्ता के सगठित होने के साथ साथ, पचायत के अधिकारो का क्षेत्र भी सीमित हो गया है। पुलीस-सगठन न्यायालयो और भारतीय दण्ड सहिता स पचायतो के अधिकार सीमित हो गए हैं।

पचायत के अन्तगत मुख्यतया परस्त्रीगमन, तलाक, वधू मूल्य डाकिनी वृत्ति (Witchcraft) उत्तराधिकार के झगडा तथा खान पान के नियमो स सम्बन्धित समस्याए आती हैं। कमार पचायत के नियमानुसार, गोहत्या और उनक साथ खाना खाना जिन्हे कमार अपने स निम्न मानते हैं अपराध माना जाता है। अन्तर्वाहिकी तथा बहिर्विवाहिकी के नियमो का पालन करवाना भी पचायत के अधिकार-क्षेत्र म आता है। किसी व्यक्ति की हत्या, चोरी, किसी की मानहानि और किसी की स्त्री या लडकी भगाना इत्यादि अपराध पचायत के अधिकार क्षेत्र मे आते है, किन्तु ऐसे मामले भारतीय दण्ड सहिता के नियमानुसार न्यायालय म भी ले जाये जा सकते हैं। कमारो म, जसाकि दुबे न लिखा है, व्यक्ति और सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध बहुत कम होते हैं और यदि होते भी है तो व उतने गम्भीर नही होते हैं। कमारो जसा हाल लगभग सभी गणजातियो का है।

पचायत मे विधायी (Legislative), न्यायिक (Judiciary) तथा प्रशासकीय (Executive) काय और अधिकार निहित हैं। गणजाति की प्रथाओ का नियमन, प्रशासन और न्यायिक निवचन पचायत द्वारा ही होता है। पचायत उस प्रकार का

न्यायालय नहीं है जैसाकि वर्तमान समाज में पाया जाता है। पंचायत में वादी प्रतिवादी को अपने विचारों को व्यक्त करने का अवसर मिलने के साथ-साथ पंचायत के प्रत्येक सदस्य को अपना मत व्यक्त करने का अधिकार होता है। पंचायत द्वारा उसी निर्णय को लागू किया जाता है जो बहुमत का निर्णय नहीं वरन सर्वसम्मति का निर्णय होता है। आदिवासी विधान परम्परा में अपराध को अपराध न मानकर पाप माना जाता है जिसके कारण अपराध के इरादा और प्रेरणा पर ध्यान न देकर, उसके परिणाम पर अधिक ध्यान दिया जाता है। दण्ड भी अपराध के परिणाम को ध्यान में रख कर दिया जाता है। चूंकि अपराध पाप माना जाता है, इसलिए दण्ड ऐसा दिया जाता है जिससे अपराधी का सुधार भी हो और दूसरों को उदाहरण भी मिल सके। दण्ड को उदाहरणीय बनाने के कारण आदिवासी दण्ड विधान में अंग-भंग तथा नियम भी पाया जाता है। मध्यप्रदेश की कलवलिया गणजाति में बलात्कार के अपराधी का गुप्तांग गरम किए हुए पत्थर या लोहे से दागने की प्रथा का विवरण मिलता है। किन्तु आज ऐसे दण्ड भारतीय दण्ड संहिता के विरुद्ध पड़ते हैं और इस कारण उनका प्रयोग कम होता है। साक्षी में चश्मदीद गवाह को ही अधिक महत्व दिया जाता है पर साथ ही साथ सौगन्ध और दिव्यपरीक्षा (Ordeal) को भी महत्व दिया जाता है। कलवलिया में यदि कोई अपराधी सात पीपल के पत्तों को अपने हाथ पर रखकर और उसके ऊपर लाल तपा हुआ लोहा रखकर, सात कदम चलने पर भी न जले तो वह निर्दोष समझा जाता है। वर्तमान समय में पंचायत मुख्यतया या तो नकद जुर्माना लगाती है या बिरादरी के लिए भोज देने का दण्ड देती है, या दोनों को एक में मिला देती है। हुक्का-पानी बन्द करना (Excommunication) पंचायत द्वारा दिया जाने वाला मुख्य दण्ड है किन्तु यह थोड़े समय के लिए ही होता है क्योंकि अन्ततोगत्वा अपराधी को पुनः समाज में वापस ले लिया जाता है।

आदिवासी समाज में पंचायत का रूप एक सीमित सरकार का रूप है। पंचायत जिन नियमों को लागू करती है, वे प्रथाओं के रूप में पाये जाते हैं। इस

गणजातीय विधि

कारण एक मत यह भी है कि आदिवासी समाज में विधि (Law) का अभाव है। इस मत के प्रणेताओं का यह भी मत रहा है कि आदिवासी अपनी प्रथाओं का कभी उल्लंघन नहीं करता है। वह अपनी प्रथाओं का स्वयं ही स्वभावतया पालन करता है, अपनी स्वाभाविक आस्था के कारण। किन्तु, यह मत निराधार है क्योंकि आदिवासी समाज में भी, व्यक्ति को सामाजिक नियमों को मानना पड़ता है और यदि वह इन नियमों का उल्लंघन करता है, तो संगठित रूप से समाज उसे दण्ड देता है। यदि विधि को सरकार, संविधान और न्यायालय के सन्दर्भ में ही परिभाषित किया जाए तो आदिवासी समाज में निश्चय ही विधि नहीं है क्योंकि आदिवासी समाज में संस्थाएं अलग अलग संगठित नहीं हैं। किन्तु, विधि की ऐसी परिभाषा एकांगी है। विधि से तात्पर्य है उस सामाजिक नियम से जो

सर्वमान्य है और जिसके पीछे समाज की वह शक्ति है जो राजनैतिक संगठन से उत्पन्न होती है और व्यक्ति का सर्वमान्य नियम मानने के लिए बाध्य करती है। जिस सामाजिक नियम को व्यक्ति सामाजिक शक्ति के दबाव तथा सामाजिक दण्ड के भय से मानता है वही विधि की श्रेणी में आता है। विधि ऐसा सामाजिक नियम है जिसका उल्लंघन व्यक्ति अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर, वैयक्तिक स्वार्थ के लिए करता है। असामाजिक कृत्यों को रोकने वाले नियम विधि की श्रेणी में आते हैं। ये वे नियम हैं जिनके उल्लंघन से समाज की एकता को खतरा उत्पन्न होता है। आदिवासी समाज की प्रथाओं में ऐसे नियम सन्निहित रहते हैं। किन्तु असामाजिक क्या है, इसकी परिभाषा अलग अलग समाजों में अलग अलग ढंग से की जाती है। कच्ची शराब बनाना भारत के आबकारी विभाग के नियमों के अनुसार अपराध है किन्तु कमार पंचायत के विधान में यह अपराध नहीं है। भील चोरी करना अपराध नहीं मानते हैं। अपराधी गणजातियाँ में भी चोरी और डाकेजनी को अपराध नहीं माना जाता है यद्यपि भारतीय दण्ड संहिता के अनुसार, उनके कृत्य असामाजिक और दण्डनीय हैं। यही कारण है कि आज परिवर्तित परिस्थिति में आदिवासी समाज की अनेक परम्परागत विधियाँ राष्ट्र की विधियों के विरोध में पड़ती हैं और उसके फलस्वरूप भारतीय समाज में यत्र-तत्र तनाव और संघर्ष उत्पन्न हो रहा है। आदिवासी संस्कृति में और आदिवासी संस्कृति से उत्पन्न इन समस्याओं का यथास्थान आगे वर्णन किया गया है।

४

क्लान, टोटम और टोटमवाद

गणजाति को समझने के लिए गणजाति के आंतरिक संगठन को समझना आवश्यक है। गणजाति संगठन की निम्नतम इकाई परिवार है। स्थानीय समूह (Local Group) कई परिवारों से मिलकर बनता है किन्तु वह ग्राम नहीं होता है। परिवार का सम्बन्ध एक ओर, स्थानीय समूह और गाँव से होता है और दूसरी ओर वंश से होता है। वंश में वह व्यक्ति आते हैं जो एक निश्चित पूर्वज की सन्तान होते हैं। कहीं कहीं वंश से बड़ा सम्बन्धि समूह पाया जाता है (जैसे गोत्र), जिसके सदस्य अपने को एक कल्पित पूर्वज की सन्तान मानते है। कई वंश और भाई मिल कर क्लान बनती है जिसके सदस्य अपने को एक कल्पित पूर्वज की सन्तान मानने के कारण परस्पर रक्त सम्बन्धी मानते हैं। एक गणजाति कैसे ही क्लानों (Clans) में विभक्त रहती है जैसे एक जाति गोत्रों में, क्लान को वैसे ही गोत्र नहीं कहा जा सकता जैसे जाति को गणजाति नहीं कहा जा सकता। वंश जाति और गोत्र हिन्दू सामाजिक संगठन के

क्लान

आधार है जबकि गणजाति और क्लान आदिवासी सामाजिक संगठन के। क्लान परिवार का एक विस्तृत रूप है किन्तु, क्लान को परिवार नहीं माना जा सकता क्योंकि, क्लान के सदस्य एक ही गृह में नहीं रहते हैं।

गोत्र का नामकरण वैदिक ऋषियों के आधार पर किया गया है जबकि क्लान का नाम पशुओं, पेड़ और पौधों के आधार पर किया जाता है। जिस पेड़, पशु या पौधे के नाम पर क्लान का नामकरण किया जाता है उसे मानवशास्त्र में टोटम की संज्ञा दी गई है। टोटमवाद (Totomism) आदिवासी समाज की एक विशिष्टता है जिसका आगे वर्णन किया जायगा। यहां इतना कहना पर्याप्त है कि गणजाति साधारणतया क्लानों (Clans) में विभक्त रहती है और एक क्लान के सदस्य अपने समूह का नामकरण किसी पेड़, पशु या पौधे के नाम पर करके, उसके और अपने बीच में रहस्यात्मक सम्बन्ध मानते हुए, अपने को एक ही पूर्वज की सन्तान मानते हैं और इस मान्यता के कारण एक बहिर्विवाही समूह का रूप ग्रहण करते हैं। क्लान, इसप्रकार, गणजाति रूपी अन्तर्विवाही समूह का एक बहिर्विवाही उपसमूह है। क्लान रक्तसम्बन्ध के सिद्धान्त पर आधारित है यद्यपि रक्तसम्बन्ध की धारणा केवल कल्पनामात्र होती है। क्लान की सदस्यता सामाजिक वंशानुक्रम (Social Heredity) के सिद्धान्त पर पूर्वनिर्धारित रहती है। क्लान की सदस्यता, व्यक्ति की इच्छा पर नहीं निर्भर रहती है यद्यपि, एक क्लान का सदस्य, यदि वह चाहे तो दूसरे क्लान की सदस्यता ग्रहण कर सकता है। क्लान मातसत्तात्मक भी होती है और पितसत्तात्मक भी। क्लान के माध्यम से गणजाति की जनसंख्या खण्डों में विभाजित हो जाती है। क्लान-संगठन में निहित रक्तसम्बन्ध की भावना के कारण क्लान का सामाजिक प्रभाव महत्वपूर्ण हो जाता है।

आदिवासी सामाजिक संगठन में क्लान संगठन प्रणाली के कई रूप मिलते हैं। कभी-कहीं जैसाकि टोडा गणजाति में है, गणजाति दो क्लानों में विभक्त रहती है। ऐसी दशा में प्रत्येक क्लान को म्वायटी (Moiety) कहा जाता है। म्वायटी अंग्रेजी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है अर्धभाग। म्वायटी प्रणाली को दोहरा विभाजन (Dual Division) या दोहरा संगठन (Dual Organisation) कहते हैं। सामान्यतः म्वायटी बहिर्विवाही होती है किन्तु, जैसाकि टोडा लोगों में है, इस नियम के अपवाद के रूप में, म्वायटी अन्तर्विवाही समूह के रूप में भी पायी जाती है। जिस गणजाति में कई क्लानें पायी जाती हैं, वहां एक म्वायटी कई क्लानों से मिल कर बनती है। फ्रैटरी (Phratry) प्रणाली क्लान-संगठन प्रणाली का दूसरा रूप है। जब एक गणजाति कई क्लानों में विभक्त होती है और सारी क्लानें दो से अधिक समूहों में बंट जाती हैं तो प्रत्येक समूह को फ्रैटरी कहा जाता है। एक फ्रैटरी की क्लानें आपस में विशेष सम्बन्ध मानती हैं। म्वायटी प्रणाली विवाह को प्रभावित करती है किन्तु फ्रैटरी नहीं।

आदिवासी सामाजिक सगठन म क्लान के कई सामाजिक काम (Social Functions) पाये गए हैं। एक क्लान के सदस्य एक दूसरे को सहायता और सुरक्षा प्रदान करते है। परिवार के बाद क्लान ही ऐसा सगठन है जो व्यक्ति के व्यवहार को नियमित करता है। गणजातीय समाज के नियमो की अवहेलना करने पर, व्यक्ति क्लान की सदस्यता से वचित भी किया जा सकता है। *क्लान वहिर्विवाह* (Clan Exogamy) का नियम क्लान सगठन की दृढता का द्योतक है। कहीं कहीं कृषि तथा बागबानी की भूमि जमो सामूहिक सम्पत्ति क्लान के अधिकार म पायी जाती है। क्लान का मुखिया धार्मिक कृत्यो म सामूहिक नेतृत्व करता है। एक गणजाति की क्लानो के सदस्यो या मुखियाओ म मिल कर गणजातीय परिषद (Tribal Council) सगठित होती है। अत आदिवासी समाज म क्लान का राजनैतिक महत्व भी है।

परिवार, स्थानीय समूह, ग्राम वश और क्लान गणजाति के विभिन्न स्तर हैं, जिनसे गणजाति के राजनैतिक पहलू का सामाजिक सगठन प्रभावित होता है। परिवार, वश और क्लान रक्तसम्ब ध के एकपक्षीय सिद्धा त पर आधारित है और ग्राम क्षेत्रीय समुदाय तथा स्थानीय समूह के हित के सिद्धातो पर। गणजातीय राजनैतिक सगठन म क्लान का प्रमुख स्थान है और इसकारण गणजातीय राजनैतिक सगठन म सविदात्मक सम्बन्धो की अपेक्षा, नातेदारी के सबन्धो को अधिक प्रधानता है। किंतु गणजाति और क्लान दोनो क्षत्रीय समूह भी हैं और, इसी कारण, गणजातीय राजनैतिक सामाजिक सगठन मे क्षत्र का भी प्रभाव पडता है। उदाहरणार्थ, उडीसा की खाड गणजाति अनेक वहिर्विवाही ग्राम इकाइयो (Village Units गोनिया) म बटी हुई है। कई गावो से मिल कर, अलग अलग, छोटी बडी कई क्षेत्रीय इकाइयां बनती हैं और *क्षेत्रीय इकाइयां अन्ततोगत्वा गणजाति इकाई म विलीन हो* जाती हैं। छोटा नागपुर और विहार की मुण्डा गणजातियों म कइ ग्रामो और क्लानो से मिल कर परहा या पीर सगठित होता है जो एक उपाध्यक्ष के अधीन होता है[1]।

जो गणजाति जितनी बडी होती है, उसका आन्तरिक सगठन उतना ही विस्तृत और जटिल होता है। मध्यप्रदेश के गोड इसका उदाहरण है। गोडो म पाई जाने वाली क्लानो को चार श्रेणियो म विभक्त किया गया है। पहली श्रेणी म वे क्लानें आती हैं जो टोटेम पर आधारित हैं जसे गाहू, टीरम (टीक या साल के पेड पर आधारित), लाह (लोहा) और निरगम (अग्नि) इत्यादि। सूबेदार मुजार (जिद्दी) पेटम (गाव का मुखिया) और लान चटिया (नमक चाटने वाला) इत्यादि नामो पर आधारित क्लानें विद्रूपित नामो पर आधारित हैं और दूसरी श्रेणी म आती हैं। महानदिया, जोनपुरिया सरनगढ़िया, सरगुजिया और रतनपुरिया इत्यादि क्लान स्थानवाची हैं और तीसरी श्रेणी म आती हैं। शाण्डिल्य तथा कश्यप

---

1 मजूमदार, डी० एन० रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पृष्ठ 309

जस नामों पर आधारित कुलों के नाम वैदिक ऋषियों के नाम पर आधारित हैं और गोंडों में हिन्दू प्रभाव की प्रतीक हैं। गोंडों में तीन प्रकार के वर्ग पाये जाते हैं जिनका डा० इन्द्रजीत सिंह ने अभिजात्य (Aristocracy) रयत (Tenantry) और श्रमिक नामकरण किया है। अभिजात्य वर्ग में राजगोंड आते हैं जिनमें मालगुजार, पटेल और अन्य सम्पत्तिधारी लोग हैं। रयत वर्ग में वे कृषक आते हैं जो भूमि के स्वामी नहीं केवल कृषक हैं। रयत वर्ग के गोंडों को धुरगोंड कहा जाता है। राजगोंड और धुरगोंड एक ही सामाजिक पृष्ठभूमि से उठे हैं। धुर का अर्थ है धूलि जिसका लक्षणात्मक अर्थ सामान्य से है और राज का लक्षणात्मक अर्थ है उनसे जो राजतन्त्र से सम्बन्धित हों। द्वितीय वर्ग में परधान और ओझा जैसे शिल्पी समूह भी गोंड भी आते हैं। गोंडों में परधानों का मूलतः वही काम रहा है जो सामान्यतया चारणों और भाटों का रहा है। खनिहर श्रमिक तीसरे वर्ग में आते हैं[1]।

टोटेमवाद वह प्रथा है जिसके आधार पर आदिवासी समाज में, साधारणतया कुलों का नाम किसी पेड़, पशु या पौधे के आधार पर रक्खा जाता है।

टोटेम और टोटेमवाद

जिस किसी पेड़, पशु या पौधे के आधार पर कुलों का नामकरण किया जाता है उसे टोटेम कहते हैं[2]। किन्तु, कुलों का किसी पेड़ पशु या पौधे पर नामकरण ही टोटेमवाद (Totemism) नहीं है और न टोटेमवाद सार्वभौमिक ही है। जहाँ गणजाति के एक अंग, कुलों, का नामकरण किसी पेड़ पशु या पौधे पर करने के कारण कुलों के सदस्यों तथा नामकृत पेड़, पशु या पौधे के बीच विश्वास और प्रथायें इसप्रकार आ जाती हैं कि पेड़, पशु या पौधे का सामाजिक जीवन में एक विशेष स्थान बन जाता है और कुलों के सदस्यों तथा टोटेम के बीच में रहस्यात्मक सम्बन्ध उत्पन्न हो जाते हैं, वहीं टोटेमवाद का प्रमेय अस्तित्व में आ जाता है। पेड़, पौधों, पशुओं या भौतिक पदार्थों के आधार पर कुलों का नामकरण और टोटेमवाद (Totemism) अलग अलग वस्तुएँ हैं। टोटेमवाद का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उन निश्चित विश्वास और प्रथाओं में है जो टोटेम से सम्बन्धित हैं। इस दृष्टिकोण से, पशु पेड़ और पौधों की पूजा को टोटेमवाद के अन्तर्गत नहीं रक्खा जा सकता।

---

1 मजूमदार, डी० एन० रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पृष्ठ १७७

2 सर्वप्रथम जे० लांग नामक अंग्रेज ने, 1791 में उत्तरी अमरीका के रेड इण्डियनों में इस प्रमेय का अवलोकन करके इसकी ओर ध्यान आकर्षित किया था। तब से टोटेमिज्म का अवलोकन संसार के अन्य भागों में किया गया है। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में टोटेमिज्म का व्यापक प्रभाव है। यह अमरीका की कुछ भागों उत्तरी अमरीका की कुछ गणजातियों और दक्षिणी अमरीका की दो गणजातियों में पाया जाता है। मानवशास्त्री इसे आदिवासी समाज की एक महत्वपूर्ण संस्था मानते हैं।

टोटेमवाद को स्पष्ट रूप से समझने के लिए, कई बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। टोटेम के आधार पर क्लान का नामकरण सार्वभौमिक नहीं है। ऐसे उदाहरण भी पाए जाते हैं जहाँ क्लानों का नाम टोटम पर आधारित नहीं रहता है। संसार के जिन जिन आदिवासी क्षेत्रों में टोटमवाद पाया जाता है यदि वहाँ के टोटमवाद का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि टोटमवाद के अन्तर्गत कई प्रकार के व विशिष्ट सामाजिक सम्बन्ध आते हैं जो एक समाज या उसके एक अंग और टोटेम के बीच स्थापित हो गए हैं। न्यूयाक के रेड इण्डियनों में, टोटमवाद का केवल इतना ही महत्व है कि क्लानों का नामकरण टोटम के आधार पर मिलता है। अमरीका के उत्तरी पश्चिमी समुद्र तट के प्रदेश में पाये जाने वाले रेड आदिवासियों में टोटेम क्लान का प्रतीक माना जाता है। अतः उनमें टोटेम का शरीर पर गुदवाने कपड़ों पर छपवाने या अन्य वस्तुओं पर खोदने या चित्रित करने की प्रथा है। होपी रेड इण्डियनों में टोटम मनुष्यों, जानवरों पौधों, भौतिक पदार्थों और मानवनिर्मित उपकरणों (Artifacts) के वर्गीकरण का एक माध्यम है। मध्य आस्ट्रेलिया के निवासी, अरन्ता आदिवासियों में, टोटमवाद एक प्रकार की पूजा पद्धति है जिसमें अनेकों प्रकार के कृत्य (Rituals) और कर्मकाण्ड (Rites) आते हैं। अरन्ता पितृसत्तात्मक परिवार एक निश्चित क्षेत्र में फैला रहता है और इस क्षेत्र में कई पवित्र स्थान या टोटम केन्द्र होते हैं—जहाँ जैसा कि अरन्ता लोगों का विश्वास है पौराणिक पूर्वजों (Mythological Ancestors) की मृत्यु होने से उनकी आत्मा का वास रहता है। टोटेम केन्द्र में जो पेड़ या जानवर पाये जाते हैं अरन्ता विश्वासों के अनुसार उनका सम्बन्ध पूर्वजों से है और चूँकि जैसा कि अरन्ता लोगों का विश्वास है, पूर्वजों की आत्मा के ही द्वारा स्त्रियों का गर्भाधान होता है, टोटम केन्द्र से सम्बन्धित पेड़ और पशुओं का उस समूह के सदस्यों से विशेष सम्बन्ध होता है जो टोटेम केन्द्रों के अधिकारी होते हैं। इसप्रकार आस्ट्रेलिया के अरन्ताओं में टोटमवाद पूर्वज पूजा पद्धति का रूप ले लेता है। विभिन्न आदिवासी क्षेत्रों में, इसप्रकार टोटमवाद के अलग अलग रूप और विशेषतायें हैं।

भारतीय टोटमवाद की विशेषताओं का मजूमदार ने इसप्रकार उल्लेख किया है टोटेम पशु को मारने का निषेध है। जब टोटेम पशु की मृत्यु होती है तो उसकी वैसे ही अन्त्येष्टि क्रिया की जाती है जैसी कि किसी क्लान के सदस्य की की जाती है। विशेष अवसरों पर, टोटम पशु की खाल को पहनने टोटेम को शरीर पर गुदवाने या टोटेम चित्र को क्लान का निशान या प्रतीक मानने की प्रथायें मिलती हैं। यदि टोटेम पशु भयानक होता है तो उसको प्रसन्न रखने के लिये इस दृष्टिकोण से, पूजा की जाती है कि वह अपनी क्लान के सदस्यों पर प्रसन्न रहे और उनका नुकसान न पहुंचाये। यदि टोटेम पशु या पौधा खाद्य है तो उसे केवल विशेष आनुष्ठानिक अवसरों पर ही खाया जाता है। भारत के आदिवासियों में यह विश्वास पाया जाता

है कि टोटम अपनी क्लान के सदस्यों का संरक्षक है। टोटम से भावी आशंकाओं की सूचना भी हो सकती है और उनसे रक्षा भी हो सकती है। इसप्रकार, टोटम के साथ अनेक धार्मिक भावनाएं निषेध और प्रतीक लिपटे हुए हैं और चूंकि एक टोटम समूह के सदस्य अपने को रक्त-सम्बन्धी मानते हैं बहिर्विवाह टोटम समूह की एक आवश्यक विशेषता बन जाती है[1]।

भारत में टोटमवाद का प्रसार आदिवासियों से लेकर हिन्दू समाज की निम्नस्तरीय जातियों तक है। संथालों में लगभग सौ से अधिक क्लान हैं जिनका नामकरण पौधों पशुओं और पार्थिव पदार्थों के आधार पर किया गया है। हो गण-जाति में पचास से अधिक टोटमवादी क्लान हैं। मुण्डाओं में चौंसठ से अधिक टोटमवादी बहिर्विवाही क्लानें हैं। भीलों की चौबीस क्लानों में अधिकतर टोटमवादी हैं किन्तु हिन्दू प्रभावों के कारण, कुछ गोत्रवादी अर्थात् वैदिक ऋषियों के नामों पर आधारित मिलती हैं। छोटा नागपुर के निवासी खरिया आदिवासियों का एक समूह ढेल्की खरिया आठ टोटेम क्लानों में विभक्त है। इसी प्रकार मध्यप्रदेश और राजस्थान के गोंड तथा बम्बई प्रांत के कटकरी भी टोटमवादी क्लानों में विभक्त हैं। जहां गणजाति फ्रैट्रीज (Phratries) में विभक्त है, वहां फ्रैट्री अन्तर्विवाही समूह है और फ्रैट्री के अन्तर्गत क्लान बहिर्विवाही समूह। बंगाल के बांकुरा जिले के बाउरी जो एक अनुसूचित जाति है माल, धाल, सलरिया और 'मान' नामक चार फ्रैट्रियों में बटे हैं और इनमें से प्रत्येक फ्रैट्री पांच से लेकर बीस बहिर्विवाही क्लानों में विभक्त है। फ्रैट्रियों के नाम स्थानवाची हैं जैसे माल मालभूमि के, धाल धालभूमि के और मान मानभूमि के निवासी हैं। उड़ीसा की कुरमी कुम्हार और भूमिया जातियों के निवासी भी सांप, सियार और कछुए जैसे टोटेमों पर आधारित समूहों में विभक्त हैं। भारत में पाये जाने वाले टोटमों में कुछ तो स्थानवाची हैं लेकिन अधिकतर पशु पेड़ और पौधों पर आधारित हैं। जिन पशु, पेड़ और पौधों को टोटम माना गया है वे सामान्यतः उस समूह के प्राकृतवास का अभिन्न अंग हैं, जो उन्हें टोटम मानता है और उनके लिए किसी न किसी रूप में उपयोगी हैं।

हिन्दुओं में अनेक ऐसी प्रथायें पायी गई हैं जिनकी उत्पत्ति भारत के आदिवासियों की टोटमवादी प्रथाओं में मानी जा सकती है किन्तु वे प्रथायें टोटमवाद के अन्तर्गत नहीं आती हैं। हिन्दू गाय को पवित्र मानकर उसकी पूजा करते हैं। काले कुत्ते को नहीं मारते क्योंकि काला कुत्ता भैरव की सवारी है। बिल्ली का मारना अशुभ है और बिल्ली तथा गाय को मारने वाले को प्रायश्चित करना पड़ता है। नागपंचमी के पर्व पर नाग की पूजा की जाती है। गधे को शीतलादेवी का वाहन माना जाता है और जिस घर में चेचक का प्रकोप होता है उस घर में गधे को खिलाय

---

[1] मजूमदार, डी० एन० रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पृष्ठ 334

हुए चने की दील (दाल) खिलायी जाती हैं। ऐसा माना जाता है कि यदि गधा चनों की भिगाई दाल खा लेना है तो चेचक से त्राण मिलेगा, वर्ना नहीं। व दर को हनुमान का रूप मानकर, उसके प्रति वही आदर का भाव रक्खा गया है जो कि हनुमान के प्रति वांछित है। मजूमदार के अनुसार बंगाल के हिंदुओं में बिल्ली की पूजा करके नारियां की प्रजनन शक्ति बढ़ाने की प्रथा पाई गई है। नरसिंह देवता के रूप में बाघ की पूजा के प्रमाण मिलते है। बैल शंकर की सवारी चूहा गणेश की सवारी हाथी इन्द्र की सवारी भैंसा यम की सवारी तथा उल्लू लक्ष्मी की सवारी होने के कारण, इन देवताओं के साथ, पूजनीय माने गए है। हिन्दुओं में तुलसी के पौधे को पवित्र मानकर पूजनीय माना गया है। भारत के कुछ भागों में हिंदू नारियां वटवृक्ष को दीर्घायु पति का प्रतीक मानकर, उसकी पूजा करती है। पीपल की पूजा इसलिये की जाती है कि वह ब्रह्मराक्षस का निवास स्थान है। अवध में ब्याह के रीति रिवाजों में पलाश पूजन तथा मूसल जसे पार्थिव पदार्थों की पूजा प्रथा पाई जाती है। किन्तु ये प्रथाये टोटमवाद के अन्तर्गत नहीं आती है क्योंकि इनसे सामाजिक संगठन का नियमन नहीं होता है। ये केवल धर्म और जादू के क्षेत्र में आती हैं जबकि टोटेम जादू के भी क्षेत्र में आता है और सामाजिक संगठन के भी क्षेत्र में।

आदिवासी समाज में टोटमवाद क्या पाया जाता है? इस प्रश्न का सैद्धान्तिक उत्तर एक विवाद का विषय रहा है। इसको स्पष्ट करने के लिये अनेक सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया गया है जिनमें से कोई भी सर्वमान्य नहीं है। इसका कारण यह है कि टोटेमवाद एक ऐसी सामाजिक संस्था है जिसके विभिन्न आदिवासी समाजों में, विभिन्न विपरित रूप पाये जाते हैं और जिनके स्पष्टीकरण का समाहार किसी एक सिद्धान्त में नहीं हो पाया है। भारतीय टोटेमवाद को स्पष्ट करने के लिये जो सैद्धान्तिक दृष्टिकोण अपनाया गया है उसको स्पष्ट करने के पहले विभिन्न सिद्धान्तों का एक संक्षिप्त पर्यवेक्षण आवश्यक है।

हैडन ने यह प्रतिपादित किया है कि, मूलतः, टोटम का सम्बन्ध खाद्य-सामग्री की प्राप्ति से है। प्रारम्भिक काल में एक आदिवासी समूह जिस किसी पेड़ या पशु पर निर्भर था कालान्तर में उसने उसी पेड़ या पौधे के आधार पर विनिमय के द्वारा अन्यों से व्यापार प्रारम्भ किया, जिसके कारण उसने उस पेड़ या पशु का संवर्धन प्रारम्भ किया और उसी के आधार पर उसका नाम पड़ा। इससे यह नहीं स्पष्ट होता कि अखाद्य पशु या पेड़ों का टोटेम क्या बनाया गया। जेम्स फ्रेजर ने एक के बाद एक, कई सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। उनका एक सिद्धान्त यह है कि विभिन्न टोटेम समूह एक प्रकार के उत्पादन उपभोग (Production Consumption) क्लब हैं। अर्थात् एक टोटम समूह अपने टोटेम का इसीलिये संवर्धन करता है ताकि दूसरा उसका उपभोग कर सके और वह दूसरे द्वारा संवर्धित टोटेम पशु या वनस्पति का उपभोग कर सके। पर, आदिवासी समाज इतना नियोजित नहीं है जितनी कि

इस सिद्धान्त मे कल्पना की गई है। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों म आत्मा क दोहरे अस्तित्व म विश्वास है। अर्थात आत्मा शरीर के अन्दर भी रह सकता है और बाहर भी। टोटेम म फ्रेजर के अनुसार आदिवासी ने बाह्य आत्मा को स्थापित करने का विचार इसलिये अपनाया ताकि उसकी सुरक्षा की भावना दृढ़तर हो सके। फ्रेजर का तीसरा सिद्धान्त गर्भाधारण क सिद्धान्त (Conception Theory of Totemism) के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त के अनुसार आदिवासी इस तथ्य स अनभिज्ञ है कि नर नारी क सयोग से गर्भाधारण होता है। इस कारण, वह टोटम को गर्भधारण का कारण मानकर उसे अपना पूर्वज मानता है। फ्रेजर की यह मान्यता निराधार है कि आदिवासी को इस बात का पता नही है कि नर नारी क सयोग से गर्भधारण होता है। सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि आखिर कोई पेड़ या पशु या पौधा टोटम क्यों चुना जाता है ?

हार्वकिंस ने यह कहा है कि जिस आदिवासी समूह की खाद्यपूर्ति का जो पशु या पेड़ साधन रहा है वही उस समूह का टोटम हो गया और उसके प्रति आदिवासी का समादर का भाव जगा। जैसे टोडाओं म भैंस क प्रति आदर का भाव विकसित हो गया है। टाइलर के अनुसार, आदिवासी का यह विश्वास है कि मरने के बाद आत्मा किसी न किसी पशु या पेड़ म निवास करती है और जिस किसी पेड़ या पशु में आदिवासी ने आत्मा का निवास माना, उसी को टोटम मानकर, उसकी रक्षा करना प्रारम्भ कर दिया। टाइलर के अनुसार, टोटेमवाद पूर्वज-पूजा का एक अंग है। दुर्खेम ने अपने समष्टिवादी समाजशास्त्रीय सिद्धान्त क अनुसार टोटम को सामूहिक मन की एक अभिव्यक्ति माना है। अमरीकी मानवशास्त्री बोआज और स्वान्टन इत्यादि ने यह माना है कि टोटेमवाद, आदिवासी समाज म, व्यक्ति तथा पशु या पेड़ के सम्बन्धों का सामाजिक विस्तार है। फ्रायड ने अपने आडिपस कम्पलेक्स (Oedipus Complex)[1] के सिद्धान्त के आधार पर, टोटमवाद को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। टोटेम फ्रायड के अनुसार, पिता की सामाजिक आकृति का प्रतीक

---

1 इस सिद्धान्त का नामकरण यूनान की एक पौराणिक कथा क आधार पर किया गया है। इस कथा में ओडिपस नामक एक व्यक्ति अपने पिता को मार कर अपनी सगी माता से विवाह करता है। फ्रायड के अनुसार, माता की ओर कामुक आकर्षण प्रत्येक व्यक्ति में पाया जाता है और प्रत्येक व्यक्ति ओडिपस की भाँति ही व्यवहार करना चाहता है किन्तु यह व्यवहार, सामाजिक निषेधों के कारण, वास्तविक रूप नहीं ले पाता है जिसके कारण, व्यक्ति के व्यक्तित्व-गठन में जो मानसिक ग्रन्थि बनती है, उसे फ्रायड ने ओडिपस कम्पलेक्स की संज्ञा दी है। पिता को मारकर माता से विवाह करने की लालसा फ्रायड के ओडिपस कम्पलेक्स सिद्धान्त का मूलाधार है।

हुए चने की दील (दाल) खिलायी जाती हैं। ऐसा माना जाता है कि यदि गधा चनों की भिगाई दाल खा लेता है तो चेचक से त्राण मिलेगा, वर्ना नहीं। व दर को हनुमान का रूप मानकर, उसके प्रति वही आदर का भाव रखना गया है जो कि हनुमान के प्रति वांछित है। मजूमदार के अनुसार बंगाल के हिन्दुओं में बिल्ली की पूजा करके नारियों की प्रजनन शक्ति बढाने की प्रथा पाई गई है। नरसिंह देवता के रूप में बाघ की पूजा के प्रमाण मिलते हैं। बैल शंकर की सवारी, चूहा गणेश की सवारी, हाथी इन्द्र की सवारी, भैंसा यम की सवारी तथा उल्लू लक्ष्मी की सवारी होने के कारण, इन देवताओं के साथ, पूजनीय माने गए हैं। हिन्दुओं में तुलसी के पौधे को पवित्र मानकर पूजनीय माना गया है। भारत के कुछ भागों में हिन्दू नारियाँ वटवृक्ष को दीर्घायु पति का प्रतीक मानकर, उसकी पूजा करती हैं। पीपल की पूजा इसलिये की जाती है कि वह ब्रह्मराक्षस का निवास स्थान है। नन्धम ब्याह के रीति रिवाजों में पलाश पूजन तथा मूसल जैसे पार्थिव पदार्थों की पूजा प्रथा पाई जाती है। किन्तु ये प्रथायें टोटेमवाद के अन्तर्गत नहीं आती हैं क्योंकि इनसे सामाजिक संगठन का नियमन नहीं होता है। ये केवल धर्म और जादू के क्षेत्र में आती हैं जबकि टोटेम जादू के भी क्षेत्र में आता है और सामाजिक संगठन के भी क्षेत्र में।

आदिवासी समाज में टोटेमवाद क्यों पाया जाता है? इस प्रश्न का सैद्धांतिक उत्तर एक विवाद का विषय रहा है। इसको स्पष्ट करने के लिये अनेक सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया गया है जिनमें से कोई भी सर्वमान्य नहीं है। इसका कारण यह है कि टोटेमवाद एक ऐसी सामाजिक संस्था है जिसके विभिन्न आदिवासी समाजों में विभिन्न विचरित रूप पाये जाते हैं और जिनके स्पष्टीकरण का समाहार किसी एक सिद्धान्त में नहीं हो पाया है। भारतीय टोटेमवाद को स्पष्ट करने के लिये जो सैद्धांतिक दृष्टिकोण अपनाया गया है उसको स्पष्ट करने से पहले, विभिन्न सिद्धान्तों का एक संक्षिप्त पर्यवेक्षण आवश्यक है।

हडन ने यह प्रतिपादित किया है कि, मूलतः, टोटेम का सम्बन्ध खाद्य सामग्री की प्राप्ति से है। प्रारम्भिक काल में, एक आदिवासी समूह जिस किसी पेड़ या पशु पर निर्भर था, कालान्तर में उसने उसी पेड़ या पौधे के आधार पर विनिमय के द्वारा अन्यों से व्यापार प्रारम्भ किया जिसके कारण उसने उस पेड़ या पशु का संवर्धन प्रारम्भ किया और उसी के आधार पर उसका नाम पड़ा। इससे यह नहीं स्पष्ट होता कि अखाद्य पशु या पेड़ों को टोटेम क्यों बनाया गया। जेम्स फ्रेजर ने एक के बाद एक, कई सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। उनका एक सिद्धान्त यह है कि विभिन्न टोटेम-समूह एक प्रकार के उत्पादन उपभोग (Production Consumption) वलय हैं। अर्थात एक टोटेम समूह अपने टोटेम का इसीलिये संवर्धन करता है ताकि दूसरा उसका उपभोग कर सके और वह दूसरे द्वारा संवर्धित टोटेम पशु या वनस्पति का उपभोग कर सके। पर आदिवासी समाज इतना नियोजित नहीं है जितनी कि

इस सिद्धान्त में कल्पना की गई है। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में आत्मा के दोहरे अस्तित्व में विश्वास है। अर्थात्, आत्मा शरीर के अन्दर भी रह सकता है और बाहर भी। टोटेम में, फ्रेजर के अनुसार आदिवासी ने बाह्य आत्मा को स्थापित करने का विचार इसलिये अपनाया ताकि उसकी सुरक्षा की भावना दृढ़तर हो सके। फ्रेजर का तीसरा सिद्धान्त गर्भाधारण के सिद्धान्त (Conception Theory of Totemism) के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त के अनुसार, आदिवासी इस तथ्य से अनभिज्ञ है कि नर नारी के समागम से गर्भाधारण होता है। इस कारण वह टोटेम को गर्भधारण का कारण मानकर उसे खलान का पूर्वज मानता है। फ्रेजर की यह मान्यता निराधार है कि आदिवासी को इस बात का पता नहीं है कि नर नारी के समागम से गर्भधारण होता है। सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि आखिर कोई पेड़ या पशु या पौधा टोटेम क्यों चुना जाता है?

हार्टलैंड ने यह कहा है कि जिस आदिवासी समूह की खाद्यपूर्ति का जो पशु या पेड़ साधन रहा है वही उस समूह का टोटेम हो गया और उसके प्रति आदिवासी का समादर का भाव जगा। जैसे टोडाओं में भैंस के प्रति आदर का भाव विकसित हो गया है। टाइलर के अनुसार, आदिवासी का यह विश्वास है कि मरने के बाद आत्मा किसी न किसी पशु या पेड़ में निवास करती है और जिस किसी पेड़ या पशु में आदिवासी ने आत्मा का निवास माना, उसी को टोटेम मानकर, उसकी रक्षा करना प्रारम्भ कर दिया। टाइलर के अनुसार टोटेमवाद पूर्वज-पूजा का एक अंग है। दुरखेम ने, अपने समष्टिवादी समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार, टोटेम को सामूहिक मन की एक अभिव्यक्ति माना है। अमरीकी मानवशास्त्री बोआज और स्वाटन इत्यादि ने यह माना है कि टोटेमवाद, आदिवासी समाज में, व्यक्ति तथा पशु या पेड़ के सम्बन्धों का सामाजिक विस्तार है। फ्रायड ने अपने ओडिपस कम्प्लेक्स (Oedipus Complex)[1] के सिद्धान्त के आधार पर, टोटेमवाद को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। टोटेम, फ्रायड के अनुसार, पिता की सामाजिक आकृति का प्रतीक

---

1 इस सिद्धान्त का नामकरण यूनान की एक पौराणिक कथा के आधार पर किया गया है। इस कथा में ओडिपस नामक एक व्यक्ति अपने पिता को मार कर अपनी सगी माता से विवाह करता है। फ्रायड के अनुसार, माता का प्रति कामुक आकर्षण प्रत्येक व्यक्ति में पाया जाता है और प्रत्येक व्यक्ति ओडिपस की भांति ही व्यवहार करना चाहता है किन्तु, यह व्यवहार, सामाजिक निषेधों के कारण, वास्तविक रूप नहीं ले पाता है जिसके कारण, व्यक्ति के व्यक्तित्व गठन में जो मानसिक ग्रंथि बनती है उसे फ्रायड ने ओडिपस कम्प्लेक्स की संज्ञा दी है। पिता को मारकर माता से विवाह करने की लालसा फ्रायड के ओडिपस कम्प्लेक्स सिद्धान्त का मूलाधार है।

है, जिसके विनाश पर सामाजिक सांस्कृतिक निषेध लग जाते हैं। निषेधों को अंग्रेजी मे टबू कहा जाता है। टोटम के साथ जो टबू (Taboo) लगे रहते हैं उनके कारण टोटेम और टबू फ्रायड के अनुसार आडिपस कम्पलेक्स का सामूहिक प्रतीक बन जाते है। किन्तु जैसा कि फ्रायड के आलोचकों ने कहा है यह मानना कि ओडिपस कम्पलेक्स हर समाज में पाया जाता है, आधारहीन है।

गोल्डन वाइजर नामक अमरीकी मानवशास्त्री ने यह प्रतिपादित किया है कि टोटेमवाद एक सामाजिक धार्मिक (Socio Religious) प्रमेय है और टोटमवाद को समझने के लिए उसके सामाजिक धार्मिक पक्षों पर एक साथ ध्यान देना आवश्यक है। भारतीय टोटमवाद को स्पष्ट करने के लिए रिसले ने यह प्रतिपादित किया था कि भारत में, टोटमवाद के धार्मिक आधारों का तो लोप हो गया है किन्तु सामाजिक आधार विद्यमान हैं। रिसले ने टोटेम समूह के बहिर्विवाही आधार को टोटेमवाद का कारक माना है। किन्तु, मजूमदार के अनुसार टोटेम और बहिर्विवाह का साथ साथ पाया जाना इस बात का प्रमाण नही है कि टोटेमवाद की उत्पत्ति बहिर्विवाह के ही कारण हुई है। मजूमदार के अनुसार, दो टोटम समूहों मे अन्तर्विवाह के उदाहरण पाये गए है। एक टोटेम समूह और क्लान के सदस्य, जनसंख्या बढ़ने के कारण, जब दो समूहों में बट हैं तो वे अन्तर्विवाही भी होते हुए पाय गये है। इसके अनेक उदाहरण, मजूमदार ने अपनी पुस्तक रसेज एण्ड कल्चर्स में सकलित किये हैं। क्लान का बहिर्विवाही रूप, क्लान के सदस्यों में कल्पित रक्त सम्बन्धों की धारणा के कारण आता है न कि टोटेमवाद के कारण। टोटेमवाद और बहिर्विवाहिकी, क्लान के साथ, अलग अलग कारणो से सम्बन्धित हो गए हैं। हटन के अनुसार भारतीय टोटेम-वाद की उत्पत्ति, मूलतः, प्रजनन पूजापद्धति (Fertility Cult) से हुई है यद्यपि, कालान्तर मे, उसके साथ अन्य प्रथाएँ जुड़ गई है। आदिवासियो मे, टोटेमवाद से सम्बन्धित, जो विचार या कथाएं मिलती हैं उनमे इस मत की पुष्टि नही होती है।

जुवांग गणजाति के टोटेमों के बारे में लिखते हुए एल्विन ने यह मत प्रतिपादित किया है कि जुवांग लोगो मे टोटेमवाद ऐतिहासिक घटनाओं और अनुकरण के कारण आया हुआ जान पड़ता है। आकस्मिक या ऐतिहासिक घटना का सिद्धान्त एक काल्पनिक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। मान लो, कबूतर की हत्या करने के कारण, कोई व्यक्ति अंधा हो जाता है और इसकारण वह कबूतर से डरकर उसकी पूजा आरम्भ कर देता है और उसके परिवार मे यह परम्परा चल पड़ती है तो एक टोटेम समूह उत्पन्न हो जाता है। मुण्डा समूह के तमरिया आदिवासियों मे पान्डुभिंग क्लान के टोटेम को स्पष्ट करने के लिये जो कथा प्रचलित है उससे इस तथ्य की पुष्टि होती है। पान्डुभिंग मुण्डा भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है नाग। एक तमरिया स्त्री अपने बच्चे को अकेला छोड़कर, पानी भरने गई और जब लौटकर आई तब उसने देखा कि उसके सोते हुए बच्चे के ऊपर अपना फन फैलाये एक नाग

बैठा हुआ है। स्त्री को देखकर नाग एक ओर को चला गया। उस बच्चे की सन्तानें और उनकी पीढ़ियों से मिलकर पाम्भिग या नागगुत्ती क्लान का संगठन हुआ। इस क्लान के लोग न तो साँप को मारते हैं और न उसे नुकसान पहुँचाते हैं और यह विश्वास करते हैं कि नाग उनका संरक्षक है। इस अन्य अनेक आधारों के प्रमाणों के आधार पर, मजूमदार ने लिखा है कि भारतीय टोटमवाद की आत्मा न तो धार्मिक अभिव्यक्तियों में है न टोटेम को देवता तुल्य मानने वाले विचारों में और न खाद्य जानवरों तथा वनस्पतियों के संवर्धन की सामाजिक या आर्थिक आवश्यकता में। टोटेमवाद की आत्मा समायी है सामाजिक व्यवस्था के उस सामान्य समायोजन में जिसके द्वारा आदिवासी मानव और उसके पर्यावरण में सहानुभूति सम्बन्ध (Sympathetic Relations) स्थापित हो सकें, क्योंकि इस सम्बन्ध से न आदिवासी मानव की अपने प्राकृतवास के साथ समायोजन करने की आवश्यकता पूरी होती है और उससे उन अवस्थाओं में मानसिक सुरक्षा मिलती है जहाँ मानव सुरक्षा का कोई भी साधन उपलब्ध नहीं होता है।

निष्कर्ष

पिछले वर्णन से क्लान संगठन की अनेक विशेषतायें स्पष्ट होती हैं। एक, क्लान अन्तर्विवाही समूह, गणजाति, का एक भाग है। दो साधारणतया, क्लान बहिर्विवाही समूह होता है। तीन क्लान काल्पनिक रक्त-सम्बन्धों (Supposed Consanguineous Relations) पर आधारित होता है और, इस कारण, क्लान संगठन और बहिर्विवाहिकी एक में मिल जाते हैं। चार, वंश (Lineage) भी रक्त सम्बन्धों पर आधारित होता है किन्तु, वंश में रक्त सम्बन्ध काल्पनिक न होकर वास्तविक होते हैं। पाँच वंश क्लान का एक भाग होता है। इसकारण वंश की अपेक्षा क्लान का सामाजिक क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। छ, साधारणतया पौराणिक पुरुष, पेड़, पौधे और पशु क्लान के पूर्वज माने जाते हैं। सात अधिकतर क्लान और टोटमवाद साथ-साथ पाये जाते हैं, यद्यपि टोटेमवाद को क्लान की सार्वभौमिक विशेषता नहीं माना जा सकता है। आठ, बहुधा क्लान के सदस्य एक सस्पर्शी क्षेत्र के निवासी होते हैं। नौ, क्लान मातृसत्तात्मक और मातृवंशी भी होता है तथा पितृसत्तात्मक और पितृवंशी भी। दस क्लान और वंश रक्त-सम्बन्धों और समान पूर्वज की धारणा पर आधारित है किन्तु वे परिवार नहीं हैं क्योंकि क्लान और वंश के सदस्य, परिवार के सदस्यों की भाँति, एक ही गृह में नहीं रहते हैं। अतः, क्लान परिवार नहीं है।

पहले के मानवशास्त्रियों ने टोटेमवाद और सम्मिलित निवास-स्थान (Common Residence) को क्लान की आधारभूत विशेषताएं माना है। किन्तु, टोटेमवाद सार्वभौमिक नहीं है। अफ्रीकी आदिवासी संगठन में क्लान है किन्तु टोटेमवाद नहीं। सम्मिलित निवासस्थान नहीं वरन सामूहिक पूर्वज के आधार पर, एक क्लान के सदस्य संगठित रहते हैं। एक क्लान के सदस्य एक क्षेत्र विशेष में फैले

रहते हैं जो आदिवासी क्षेत्रों में बहुधा सस्पर्शी होता है। क्षेत्रीय सस्पर्शिता और सम्मिलित निवासस्थान अलग अलग हैं। पहले के उदविकासवादी मानवशास्त्रियों ने, यह भी मान्यता प्रतिपादित की है कि क्लान सगठन की अवतारणा, परिवार सगठन से पहले हुई है और, क्लान-सगठनों में मातृवशी क्लान सगठन प्राचीनतम है। इसका यह अर्थ निकलता है कि पितवशी क्लान सगठन तथा परिवार मानव विकास प्रक्रिया में बाद में विकास हैं और मातवशी क्लानसगठन पहले के। उद्विकासवादी मानव शास्त्रियों के अनुसार, पहले मातवशी क्लान का विकास हुआ फिर पितवशी क्लान का और फिर परिवार का। मातवशी क्लान की उत्पत्ति, झुड-सगठन (Horde) से हुई है, जिसमें एक झुड के सभी पुरुष सभी स्त्रियों से सहवास करते थे जिसके कारण, प्रत्येक व्यक्ति को अपने पिता की अपेक्षा माता का ही अधिक निश्चित ज्ञान रहता था। यह अवस्था साम्यवादी अवस्था थी जिसमें, वैयक्तिक सम्पत्ति न होने के कारण, मातवशीयता प्रधान थी।

क्लान-सगठन की उत्पत्ति के बारे में उद्विकासवादी मानवशास्त्रियों के विचार आज काल्पनिक माने जाते हैं क्योंकि विभिन्न क्षेत्रों के अध्ययनों से जो तथ्य प्रकाश में आये हैं, उनमें उद्विकासी सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती है। उदाहरणार्थ केरल की कादर गणजाति तथा अडमान द्वीप के आदिवासियों में क्लान सगठन नहीं पाया जाता है यद्यपि उनका विकास स्तर यायावर अवस्था में ही है। उनमें परिवार-सगठन का पाया जाना इस बात का प्रमाण है कि क्लान सगठन परिवार सगठन से पहले का नहीं है। क्लान और परिवार, जहाँ क्लान सगठन है साथ साथ पाये गये हैं। आसाम के खासियों में, सम्पत्ति सस्था पाई जाती है किन्तु, उनमें पाई जाने वाली मातृसत्तात्मकता पितसत्तात्मकता में नहीं बदली है। मातसत्तात्मक तथा पित सत्तात्मक क्लानों की उत्पत्ति, अलग अलग स्थानों में साथ साथ हुई है ऐसा विद्वानों का मत है। वास्तव में, परिवार को जिन आवश्यकताओं ने जन्म दिया है, वे उन आवश्यकताओं से भिन्न हैं जिन्होंने क्लान सगठन को जन्म दिया है। परिवार का आधार है प्रजनन सतान पालन तथा आर्थिक जीवन को गृह के स्तर पर व्यवस्थित करने की आवश्यकताएँ। परिवार का आधार है विवाह, जो दो भिन्न परिवारों तथा समूहों के विपर्मलिगी व्यक्तियों के बीच में होता है। परिवार द्विपक्षीय (Bilateral) सम्बन्धों से मिलकर सगठित होता है यद्यपि, साधारणतया, इसमें विवाह पर आधारित सम्बन्धों का द्वितीयक स्थान मिलता है। परिवार में निहित एकपक्षीय रक्त सम्बन्धों का सिद्धान्त, जहाँ परिवार से बड़े समूह के स्तर पर लागू किया गया है वहाँ वश और क्लान जसे सगठन पाये जाते हैं। वश में रक्तसम्बन्ध वास्तविक होते हैं जब कि क्लान में काल्पनिक रक्तसम्बन्धों के एकपक्षीय सगठन ने ही क्लान में, बहिर्विवाह को जन्म दिया है। सामाजिक सगठन के दृष्टिकोण से परिवार वश और क्लान का आधार है न कि क्लान और वश परिवार के आधार हैं। परिवार,

गणजाति के विकास के सभी स्तरों पर पाया जाता है जबकि क्लान न तो प्राचीनतम विकास के स्तर पर पाई गई है और न आधुनिकतम विकास के स्तर पर। क्लान का व्यापक संगठन प्राचीनतम और आधुनिकतम विकास अवस्थाओं के बीच की अवस्था में पाया जाता है। बिहार, उड़ीसा और मध्यप्रदेश की गणजातियों में पाया जाने वाला क्लान-संगठन, इसका उदाहरण माना जा सकता है।

५

परिवार विवाह और युवागृह

गणजाति के आंतरिक संगठन का विश्लेषण, इसप्रकार, आदिवासी परिवार-संगठन के विश्लेषण की ओर ले जाता है। विवाह परिवार का आधार है। इसकारण, परिवार के साथ-साथ, विवाह का विश्लेषण भी आवश्यक हो जाता है। आदिवासी समाज में परिवार और विवाह सर्वत्र तथा विकास की सभी अवस्थाओं में पाये जाते हैं यद्यपि उनके रूप भिन्न भिन्न हैं। उदाहरणार्थ, एक ओर, पितृसत्तात्मक परिवार पाये जाते हैं जिनमें वंश पिता के नाम पर चलता है और पारिवारिक सम्पत्ति का उत्तराधिकार पिता से पुत्र को मिलता है तो, दूसरी ओर, खासी और गारो जैसे आदिवासियों में मातृसत्तात्मक परिवार पाया जाता है, जिसमें पारिवारिक सम्पत्ति का उत्तराधिकार माता से पुत्री को मिलता है। पितृसत्तात्मक परिवारों में वंश पिता के नाम पर चलता है और परिवार का अध्यक्ष पिता होता है तो मातृसत्तात्मक परिवार में वंश माँ के नाम से चलता है तथा परिवार की अध्यक्षता माँ के पास होती है। जहाँ पितृसत्तात्मकता है वहाँ विवाह के बाद वधू अपने पति के घर जाकर रहती है और जहाँ मातृसत्तात्मकता है वहाँ, विवाह के बाद वधू अपने माँ के ही घर में रहती है। पितृसत्तात्मक परिवार में बहुधा, एक ही पिता की सन्तानें और सन्तानों की सन्तानों की कई पीढ़ियाँ रहती हैं और इस प्रकार परिवार में विवाह के द्वारा आई हुई स्त्रियों को छोड़कर बाकी सभी सदस्य रक्त सम्बन्धी होते हैं। किन्तु मातृसत्तात्मक परिवार में जैसाकि नायरों के मातृसत्तात्मक परिवार में एक शताब्दी पहले पाया जाता था परिवार के सदस्य रक्त सम्बन्धी नहीं होते थे क्योंकि इस परिवार में विवाह के बाद लड़कियाँ पति के घर नहीं जाती थीं और परिवार के विवाहित पुरुषों की पत्नियाँ अपने पिता के ही घर रहती थीं। देहरादून जिले के जौनसार बावर परगनों में कई सगे भाई, एक या एक से अधिक स्त्रियों से, सम्मिलित विवाह कर लेते हैं और टोडा गणजाति में सगे भाई या भाई या दो या दो से अधिक व्यक्ति, सम्मिलित विवाह करके परिवार की स्थापना करते हैं। आदिवासी समाज में किन्हीं किन्हीं अवस्थाओं में, विवाह से पहले और विवाह के साथ-साथ, विवाह के अतिरिक्त यौन-

सम्बन्धो को मान्यता प्राप्त है। अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका के आदिवासियो म, स्त्री का अतिथि और मित्र को यौन-तुष्टि के लिये देने की प्रथाओ की रिपोर्ट मिलती है। भारत की कुछ अपराधी गणजातियों म पत्नी का बन्धक के रूप म रखन का उल्लेख सरकार मजूमदार ने किया है[1]।

आदिवासी परिवार सगठन और उससे सम्बन्धित परम्पराओ के वचित्र्य का उद्विकासी मानवशास्त्रियो न बडे ही अतिरजित ढग स स्पष्ट किया है। उद्विकासी मानवशास्त्रियो म अमरीका के लुई मार्गन प्रमुख हैं और सबस पहले उन्होने ही यह विचार रखा था कि परिवार का उदभव और विकास उस आदिवासी अवस्था मे हुआ है जिसम मूलत न तो विवाह था और न परिवार। यह अवस्था साम्यवादी झुड की अवस्था थी जिसम नर नारी के यौन सम्बन्ध उन्मुक्त थे यहा तक कि भाई बहिन का विवाह होता था। आदिवासी समाज में पाई जान वाली जिन प्रथाओ का इन्होने प्रमाण माना, वे इसप्रकार हैं अनेक त्योहार के अवसरा पर, पति-पत्नी के यौन सम्बन्धों म छूट मिलना, मित्रो को यौन तुष्टि के लिए पत्नी दे देना, दो व्यक्तियो मे स्त्रियो का बदला जाना और पिता तथा मामा के लिये एक ही सम्बन्धी शब्द (Kinship Term) का प्रयोग करना। परिवार विकास की दूसरी अवस्था है समूह विवाह की अवस्था जिसम पुरुषो का एक समूह स्त्रियो के एक समूह स विवाह करता था। बहुपतित्व इसी अवस्था मे आता है। तीसरी अवस्था म विवाह तो एक पुरुष और एक स्त्री मे होता था किन्तु उनके यौन सम्बन्ध निर्बन्ध थे। चौथी अवस्था मे एक पुरुष कई स्त्रियों स विवाह करता था किन्तु स्त्रियों के यौन सम्बन्धो पर पुरुष (पति) का ही अधिकार रहता था। यह पितसत्तात्मक बहुपत्नीत्व की अवस्था है। पाचवी या आधुनिकतम अवस्था एकविवाही परिवार की है जिसम एक पुरुष, एक समय म, एक ही स्त्री से विवाह करता है। इसी आधार पर, मारगन ने क्लान को परिवार का प्रारम्भिक रूप माना है और क्लान से ही परिवार की उत्पत्ति मानी है जिसकी, वास्तविक तथ्यों के आधार पर सैद्धान्तिक पुष्टि नहीं की जा सकती है।

उद्विकासवादी दृष्टिकोण

वेस्टर मार्क ने यह मत प्रतिपादित किया कि परिवार की उत्पत्ति के कारण है नर म पाई जान वाली ईर्ष्या (Jealousy) तथा अधिकारात्मकता (Possessiveness) की भावनायें और सम्पत्ति तथा सम्पत्ति भावना का विकास। परिवार की उत्पत्ति का कारण है नर न कि नारी। चार्ल्स डारविन ने, पशु-ससार म पाये जाने वाले उदाहरणो मे परिवार की उत्पत्ति को स्पष्ट किया। उनके अनुसार, वह नर,

---

1 देखिये मजूमदार कृत फारच्यू स आफ प्रिमिटिव ट्राइब्स में अपराधी गण जातियो पर लिखा अध्याय।

नारी के लिये संघर्ष करते हैं किन्तु उनमें विजय एक ही की होती है। एक पुरुष के लिये एक पत्नी की व्यवस्था के द्वारा, इस संघर्ष को दूर करने की जब सामाजिक प्रथा बनी तभी परिवार की उत्पत्ति हुई। राबर्ट ब्रिफाल्ट ने इस तथ्य पर जोर दिया है कि परिवार की उत्पत्ति पुरुष की ईर्ष्या की भावना तथा सम्पत्ति-समस्या के कारण नहीं वरन् मातृत्व की समस्याओं तथा मातृत्व अधिकार (Mother Right) के कारण हुई है। मानव मादा को ही सबसे अधिक मातृत्व का भार वहन करना पड़ता है। मातृत्व का संरक्षण की आवश्यकता तथा सन्तान के लालन पालन की सबसे अधिक समस्या मानव-समाज में ही है। परिवार इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उत्पन्न हुआ और इसकारण परिवार का मूल रूप मातृसत्तात्मक ही था।

आधुनिक मानवशास्त्र में यह विवादग्रस्त समस्या एक किनारे छोड़ दी गई है क्योंकि इसका निर्णय सम्भव नहीं है। जैसा कि मारग्रेट मीड ने कहा है, इन सिद्धान्तों के निर्धारण में योरोप के एकविवाही परिवार को आधुनिकतम माना गया है और आदिवासी परिवारों को प्राचीनतर या प्राचीनतम। योरोपीय परिवार को ही मापदण्ड मानना गलत है क्योंकि योरोपीय परिवार को योरोपीय संस्कृति के सन्दर्भ में समझा जा सकता है और आदिवासी परिवार को आदिवासी संस्कृतियों के सन्दर्भ में। ऐसी कोई भी आदिवासी संस्कृति नहीं है जिसमें परिवार संस्था न हो। आदिवासी समाज में पिता की सामाजिक भूमिका (Social Role) सभी जगह स्वीकार की गई है। ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि कभी कोई अवस्था थी जब परिवार और विवाह नहीं थे। साथ ही साथ यह भी नहीं निर्धारित किया जा सकता कि पितृसत्तात्मकता प्राचीन है या मातृसत्तात्मकता। सांस्कृतिक प्रमाण तो यह है कि मातृसत्तात्मक परिवारों में भी परिवार प्रबन्ध पुरुष के हाथ में रहता है जबकि सत्ता नारी के अधिकार में[1]। अधिक सम्भव दृष्टिकोण यह है कि मानव की कुछ आधारभूत आवश्यकताओं के

परिवार के आधार

कारण, परिवार की अवधारणा मानव के ही साथ साथ हुई है यद्यपि विभिन्न स्तरों और सांस्कृतिक क्षेत्रों में उसके भिन्न भिन्न रूप पाये गए हैं। प्रजनन तथा सन्तान-पालन की आवश्यकता के कारण परिवार सार्वभौमिक है। यही कारण है कि माता पिता और सन्तान में मिलकर परिवार का जो प्रकार बनता है वह सर्वत्र पाया जाता है। आज तक यह नहीं सिद्ध किया जा सका कि कहीं भी किसी

---

1 दक्षिण भारत के नायरों में मातृसत्तात्मक परिवार का जो वर्णन मिलता है उससे यह स्पष्ट होता है कि परिवार की सत्ता तो परिवार की वयोवृद्ध स्त्री के हाथ में रहती है किन्तु परिवार के प्रबन्ध का अधिकार उस स्त्री के बड़े भाई के हाथ में। विशद विवरण के लिये देखिये के० एम० कपाड़िया द्वारा मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया।

अवस्थाओ मे, परिवार नही पाया जाता है या पाया गया है। विवाह, यौन-तुष्टि के नियमन का एक मा यम है जिसके आधार पर परिवार सामूहन होता है। परिवार से व्यक्ति को सुरक्षा भी मिलती है और मानसिक तुष्टि भी। इसकारण, जहाँ, एक ओर, परिवार का एक आधार जविक है वहाँ, दूसरी ओर, दूसरा आधार मानसिक है। परिवार सस्कृति के नरन्तय का माध्यम है क्योकि सस्कृति के मापदड, परिवार के ही द्वारा व्यक्ति तक पहुचते हैं। इसीलिये यह कहा गया है कि परिवार का शक्षिक महत्व भी है यद्यपि, ज्यो-ज्यो सभ्यता का विकास होता गया है, परिवार के शक्षिक काय अन्य सस्थाओ के हाथ म पहुचते रहे हैं। परिवार को समाज का छोटा रूप माना गया है। समाज के आदश नियम, परिवार के ही माध्यम स व्यक्ति के व्यक्तित्व का अग बन जाते हैं। अत, परिवार सामाजिक नियन्त्रण का माध्यम भी है। समाज मे जितने प्रकार के समूह बनते हैं उनम परिवार-समूह का प्राथमिक स्थान है। परिवार परिवतन मे ही स्थाई रहता है। जबकि, मानसिक सास्कृतिक तथा सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति के साथ-साथ, परिवार के द्वारा आर्थिक आवश्यकताओ की भी पूर्ति होती है। आदिवासी समाज मे परिवार का आर्थिक महत्व और भी बढ जाता है क्योकि परिवार के सदस्य, खाद्य सामग्री जुटाने मे सामूहिक रूप स प्रयास करते हैं।

परिवार को समाजशास्त्रियों ने समिति (सघ) माना है और विवाह को सस्था। किन्तु आदिवासी समाज मे परिवार का जो रूप मिलता है उसम सस्था के तत्व अधिक हैं। आदिवासी परिवार को, आसानी से सस्थायिक प्रकार का परिवार (Institutional Type of Family) कहा जा सकता है। इसप्रकार के परिवार की सबसे बडी विशेषता यह है कि यह उत्पादन और उपभोग की इकाई है। उपभोग के लिये उत्पादन आदिवासी आर्थिक व्यवस्था की विशेषता है, जिसके कारण, य विशेषता आदिवासी परिवार की भी विशेषता बन गई है। सस्थायिक प्रकार का परिवार एकविवाही परिवार से बडा होता है और उसमे कई पीढियो के लोग एक साथ रहते है। इस परिवार का शक्षणिक महत्व, वतमान समाज म पाय जाने वाले परिवार स अपेक्षाकृत अधिक है। सस्थायिक प्रकार के परिवार का व्यक्ति पर व्यापक प्रभाव पडता है जिसके कारण समाज मे, परिवार के सदस्यो का वही स्तर होता है जो कि परिवार का होता है। परिवार के नेतत्व म आयु का प्रधानता मिलती है और विवाह केवल दो विपमलिंगी व्यक्तियों के बीच म समझौता मात्र नही होता है। विवाह का सम्बन्ध परिवार के सदस्यो और सम्बन्धियो मे होता है। नारियो का काय क्षेत्र मुख्यतया प्रजनन, स तान पालन और गहस्थी तक सीमित रहता है। विवाह विच्छेद की समस्या भी केवल पति पत्नी को ही समस्या नही रहती है वरन उस परिवार और बिरादरी के सदस्यो की समस्या रहती है जिसके ... ी सदस्य होते हैं।

इसप्रकार उस परिवार की श्रेणी में आता है, जिसे मानवशास्त्रियों ने विस्तृत परिवार (Extended Family) कहा है। विस्तृत परिवार वह परिवार है जिसमें प्राथमिक परिवार (Primary Family) का साधारणतया दो या तीन पीढ़ियों में विस्तार होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि आदिवासी समाज में प्राथमिक परिवार नहीं पाया जाता है। वास्तव में जैसा कि मानवशास्त्रियों ने प्रतिपादित किया है प्राथमिक परिवार जिसमें पति पत्नी और उनकी सन्तानें आती हैं सभी प्रकार के परिवारों का मूलाधार है। प्राथमिक परिवार बहुपतित्व तथा बहुपत्नीत्व पर आधारित परिवारों में भी समाया रहता है। प्राथमिक परिवार सार्वभौमिक और सार्वकालिक है यद्यपि आधुनिक समाज में वह अधिक स्पष्ट रूप तथा संख्या में पाया जाता है। आदिवासी समाज में प्राथमिक परिवार विद्यमान तो रहता है लेकिन सामाजिक सम्बन्धों में रक्त सम्बन्धों की प्रधानता के कारण वह विस्तृत परिवार में समाया रहता है। प्राथमिक परिवार स्वाभाविक परिवार है जिसमें चौमुखी सम्बन्धों का समावेश रहता है यद्यपि इन सम्बन्धों में सबसे अधिक महत्ता एकपक्षीय रक्त-सम्बन्धों की होती है। विस्तृत परिवार तभी उत्पन्न होता है जब एकपक्षीय रक्त सम्बन्धों तथा सम्मिलित वासस्थान के आधार पर प्राथमिक परिवार का विस्तार होता है। इसीलिये विस्तृत परिवार को एकपक्षीय परिवार (Unilateral Family) तथा रक्त-सम्बन्धी परिवार (Consanguine Family) की संज्ञायें भी दी गई हैं। बहुपत्नीत्व और बहुपतित्व पर आधारित तथा संयुक्त परिवार विस्तृत परिवार की श्रेणी में आते हैं। क्लान भी रक्त-सम्बन्धों के एकपक्षीय विस्तार के सिद्धान्त पर आधारित है। किन्तु उसे विस्तृत परिवार की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता क्योंकि एक क्लान के सदस्य एक ही गृहस्थी में नहीं रहते हैं। गृहस्थी की एकता की भावना अन्य विशेषताओं के साथ परिवार की एक मुख्य विशेषता है।

भारत के आदिवासियों में, पितासत्तात्मक संयुक्त परिवार पाया जाता है यद्यपि यहाँ वहाँ पितसत्तात्मक संरचना में मातसत्तात्मक संरचना के तत्व भी मिलते हैं जो साधारणतया गौण हैं। उदाहरणार्थ जौनसार बावर की पितसत्तात्मक संरचना में नारियों को कुछ विशेषाधिकार मिले हुए हैं जिनमें से एक पिता के घर में यौन-जीवन की स्वतन्त्रता है। अपने पिता के घर में रहते हुए जौनसारी नारी विवाहित होते हुए भी परसम्बन्धों को कर सकती है जिसे, मजूमदार ने पितसत्तात्मक व्यवस्था में मातसत्तात्मक प्रभाव का परिणाम माना है। इसीप्रकार छोटानागपुर के आस पास रहने वाली खरिया जनजाति के परिवार में मामा को जो विशेष स्थान प्राप्त है उसे भी मातसत्तात्मक प्रथा की देन माना गया है। किन्तु ये उदाहरण इस निष्कर्ष के प्रमाण नहीं हैं कि भारत का आदिवासी परिवार मूलतः मातृसत्तात्मक ही था। आदिवासी समाज में पितसत्तात्मक परिवार की संरचना और

संगठन किस प्रकार का है यह खरिया और हो गणजातियों में परिवारों के उस वर्णन में स्पष्ट होता है जो मजूमदार और मदन ने प्रस्तुत किया है। खरिया गणजाति में, माता पिता और उनकी संतान या दत्तक संतान परिवार की मूल इकाई है। इस इकाई में, कभी कभी जमाई भी शामिल हो जाता है, विशेषतः उस अवस्था में, जहाँ किसी के लड़का नहीं होता है और वह किसी को दत्तक पुत्र न बनाकर जमाई को अपने परिवार का सदस्य बना लेता है। कहीं कहीं गृहपति के पिता, पितामह, चाचा और चाचा की संतान भी परिवार के सदस्य के रूप में पाये जाते हैं। किन्तु अधिकतर नौजवान अपना झोंपड़ा अलग बना लेते हैं, जिसके कारण पति पत्नी और उनकी सन्तान में बना परिवार ही समाज की मूल इकाई रहता है। दूर के सम्बन्धी, परिवार संख्या में विरला ही शामिल किये जाते हैं। किन्तु हो परिवार के संगठन में, कार्यात्मक तथा संरचनात्मक दृष्टिकोण में परिवार और कीली (वंशगान) एक में मिल गये हैं यद्यपि परिवार और कीली के बीच में कार्यों का विभाजन स्पष्ट है। यहाँ कीली विस्तृत परिवार का रूप ले लेती है। खाद्योत्पादन विस्तृत परिवार की जिम्मेदारी है किन्तु उत्पादित खाद्यसामग्री अलग अलग परिवारों (Individual Families) में बाँट दी जाती है। बच्चों की शिक्षा दीक्षा सामाजिक नियन्त्रण, बीमारियों से रक्षा तथा त्योहारों और उत्सवों का मनाना कीली का सामूहिक उत्तरदायित्व है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि हो-परिवार कीली में पूर्णतया समाहित हो गया है। प्रत्येक हो परिवार, अपनी अलग पूजा पद्धति को अपनाता है। हो गणजाति में कीली और परिवार के सम्बन्ध व पारस्परिकता तथा सामूहिकता की आवश्यकताओं पर आधारित हैं। जहाँ सामाजिक सामूहिकता की आवश्यकता है वहाँ कीली का महत्व बढ़ जाता है। लड़के के विवाह पर जब किसी परिवार को वधू धन की आवश्यकता होती है तो उसकी कीली के सदस्य उसकी सहायता करते हैं।

खरिया और हो परिवार पितृसत्तात्मक हैं जिसके कारण पिता कर्ता के रूप में परिवार का मुख्य केन्द्र है। पिता में ही परिवार की सत्ता केन्द्रित रहती है और पिता से ही वंश चलता है। विवाह के बाद प्रत्येक स्त्री पिता का घर छोड़ कर पति के घर में रहती है। एकविवाह का आम रिवाज है यद्यपि बहुपत्नी विवाह भी होते हैं दोनों गणजातियों में परिवार के द्वारा, जैविक मानसिक (यौन संतुष्टि और भय) की आवश्यकताओं की पूर्ति होने के साथ साथ नई पीढ़ियों की शिक्षा दीक्षा भी होती है। भेड़ और जानवर चराने तथा खेती के कामों की शिक्षा लड़कों को पिता से मिलती है और गृहकार्य की शिक्षा लड़कियों को माता से मिलती है। वंशज और परिवार एक साथ, गणजाति की भाषा प्रथाओं रूढ़ियों तथा जनरीतियों को, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक ले जाते हुए खरिया संस्कृति को स्थायित्व प्रदान करते हैं। परिवार से वैवाहिक जीवन का भी नियमन होता है।

खरिया परिवार एक आर्थिक समूह भी है। परिवार के सदस्य एक साथ,

खाद्य सामग्री का उत्पादन और संग्रह करते हैं तथा सबके लिए एक समान सुरक्षा (Shelter) और कपड़ा का प्रबन्ध करते है। पति पत्नी समान रूप से परिवार के चलाने में अपना अपना योग देते हैं यद्यपि उनके कार्यों का विभाजन लिंग के आधार पर होता है। पति का आर्थिक कार्य मछली मारना और आखेट करना है तथा पत्नी का कार्य फल कन्द और खाद्य-जड़ियों का एकत्र करना है। पत्नी खाना बनाती, पानी भरती और बच्चों की देखभाल करती है और खेतों के कामों में भाग नहीं लेती है। पति के प्रभुत्व के होते हुए भी, परिवार में, पत्नी का स्थान गौण नहीं है। बच्चों के पालन तथा गृहस्थी के चलाने में पत्नी को काफी स्वतन्त्रता रहती है। स्त्रियों नारी को अनेक सामाजिक निर्योग्यताओं तथा निषेधों का पालन करना पड़ता है जिनमें से मुख्य है धार्मिक अनुष्ठानों में भाग न लेना। किन्तु, इन निषेधों को नारी की निम्न सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक नहीं माना जा सकता है। स्त्रियों नारी का अपनी वैयक्तिक वस्तुओं, जिनमें उसके आभूषण, कपड़े और वे वस्तुएँ आती हैं जिनको कि वह स्वयं अर्जन करती है या जिन्हें वह स्वयं बनाती है, पर स्वतन्त्र अधिकार रहता है।

खासी और गारो परिवार ही, भारत के आदिवासियों में, मातृसत्तात्मक परिवारों के उचित उदाहरण हैं। खासी और गारो, आसाम के खासी और जयन्तिया पहाड़ियों के प्रदेश में पाये जाते हैं। खासी परिवार में सबसे छोटी लड़की, परिवार की उत्तराधिकारिणी समझी जाती है जिसके कारण, सम्पत्ति उत्तराधिकार भी से बड़ी लड़की को न मिल कर, छोटी लड़की को मिलता है। परिवार की पूजा अनुष्ठान-प्रथाओं को छोटी लड़की ही सम्पन्न करती है और परिवार के सदस्यों के मरने पर, उनकी अस्थियों को वही परिवार के श्मशान स्थान में गाड़ती है। इसप्रकार छोटी लड़की परिवार की मराक समझी जाती है जिसके कारण उसे परिवार की सम्पत्ति में से, सबसे अधिक भाग मिलता है। जब कर्ता स्त्री का देहान्त होता है तो उसका दाह संस्कार सबसे छोटी लड़की ही करती है। गारो परिवार में उत्तराधिकार माता से लड़की को चलता है किन्तु यहाँ उत्तराधिकारिणी वह लड़की होती है जिसे माता-पिता उत्तराधिकारिणी घोषित करते हैं। साधारणतया ज्येष्ठ पुत्री को उत्तराधिकारिणी नहीं घोषित किया जाता है। उत्तराधिकारिणी घोषित की हुई पुत्री के अलावा, अन्य पुत्रियाँ तबतक परिवार में रह सकती हैं जबतक कि उनका विवाह नहीं हो जाता। विवाह हो जाने पर वे, अपने मायके में ही पिता द्वारा दी हुई भूमि पर अपना घर बनाती हैं। यदि कर्ता-स्त्री के लड़की न हो तो उत्तराधिकार बहिन को या बहिन की लड़की को मिलता है। यदि कोई न हो तो मातृवंश सम्बन्धी वर्ग से कोई लड़की गोद ली जा सकती है।

खासी परिवार में साधारणतः, कर्ता स्त्री, उसका पति, उसके अविवाहित पुत्र पुत्रियाँ और विवाहित पुत्रियों के पति पाये जाते हैं। विवाह के समय, प्रत्येक

पुरुष को अपनी पत्नी के घर मे जाकर रहना पडता है किंतु, कालान्तर म, यदि पुरुष म अलग घर बसान का क्षमता आ जाती है तो वह अपनी स्त्री और बच्चो के साथ, अलग घर बसा सकता है। किन्तु इसप्रकार बसा हुआ नया परिवार मातवशी ही रहता है[1]। परिवार की नारियों और पुरुषो की सारी कमाई पर कर्ता स्त्री का अधिकार रहता है और वही परिवार के सदस्यो की कमाई का परिवार के सदस्यो क लिए उपयोग कर्ता है। खासी परिवार प्रणाली के परम्परागत नियमो के अनुसार पुरुषो का वयक्तिक सम्पत्ति के अधिकार नही हैं, चाह परिवार म उनका स्थान पति और पिता का हा या पुत्र का। पुरुषो की अपेक्षा, स्त्रियो का अधिक सत्ता और प्रतिष्ठा मिलो रहती है। श्रम विभाजन लिंग के अनुसार हाता है। कृषि काय पुरुषो द्वारा किया जाता है और कपडा बुनने का काम नारियो क द्वारा। कुलीगीरी पुरुष और नारी दोनो कर सकते हैं। इसप्रकार खासी परिवार-सगठन का मूल पारिवारिक सम्पत्ति सत्ता तथा धार्मिक कृत्यो का अधिकार रक्तसम्बन्धी नारियो म ही केंद्रित रहता है। परिवार म पुरुष के पास न तो सत्ता है और न सम्पत्ति। पुरुष वसे ही आदर और सम्मान का अधिकारी है जसे पितसत्तात्मक परिवार म नारी।

विवाह

विवाह एक सावभौमिक तथा सवकालिक सस्था है यद्यपि, विभिन्न समाजो म उसके भिन्न भिन्न रूप पाये जाते हैं। विवाह सस्था का उन आदश सामाजिक नियमो का एक सकुल कहा जा सकता है जिनके द्वारा, समाज म नर नारी के सम्बन्ध पति पत्नी के रूप म नियमित तथा नियन्त्रित हाते हैं और, साथ ही साथ पति पत्नी के सम्बन्धियो क पारस्परिक सम्बन्ध, माता पिता और सन्तानो के सम्बन्ध तथा परिवार और समाज के सम्बन्ध परिभाषित होत हैं। पति पत्नी के रूप मे, समाज म नर-नारी के क्या अधिकार कतव्य और आवश्यकतायें हैं, यह विवाह सस्था द्वारा ही निर्धारित होता है। विवाह सस्था, परिवार के स्वरूप आकार, सामाजिक क्षेत्र और कार्यों को प्रभावित करती है। सवेशन (Mating) और विवाह म अन्तर है। सवेशन किन्हीं भी दो विषमलिंगी व्यक्तियो द्वारा की जान वाली अस्थाई काम तुष्टि है जो केवल नर मादा की स्वाभाविक विषय-वासना स ही प्रेरित होती है। विवाह समाज द्वारा नियोजित नियन्त्रित तथा नियमित सवशन है। अत विवाह केवल सवेशन नही है यद्यपि सवेशन विवाह का आधार है। इसीकारण यह भी प्रतिपादित किया गया है कि विवाह का आधार केवल काम-तुष्टि ही नही है। काम तुष्टि के साथ-साथ प्रजनन और आर्थिक जीवन का आवश्यकतायें भी विवाह सस्था के द्वारा पूण होती हैं। समाज का स्थायित्व नई पीढ़िया की देखभाल तथा शिक्षा दीक्षा और विवाह सम्बन्ध म बंधने वाले नर नारियो क विस्तृत परिवारो के सदस्यो के पारस्परिक सम्बन्धो तथा अधिकारो

1 खासी समाज में यह विश्वास नया है जो इसाइयत के प्रभाव से उत्पन्न हुआ माना जाता है—देखिए मजूमदार और मदन पृष्ठ 51

और कर्तव्यों का निर्धारण विवाह संस्था के द्वारा सम्पन्न होता है, जिसके कारण, विवाह की महत्ता, जैविक महत्ता से आगे बढ़कर सामाजिक महत्ता में बदल जाती है।

पूर्ववैवाहिक तथा विवाहेतिरिक्त परसम्बन्ध

आदिवासी समाज में विवाह संस्था भी पाई जाती है और, उसके साथ-साथ पूर्व-वैवाहिक (Pre Marital) तथा विवाहातिरिक्त (Extra Marital) यौन सम्बन्ध भी। जहाँ कहीं भी पूर्ववैवाहिक तथा विवाहातिरिक्त यौन-सम्बन्ध पाये जाते हैं वे विवाह सम्बन्धों की भाँति संस्थागत होकर आदिवासी संस्कृति का एक अंग बन गए हैं। किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि आदिवासी-जीवन एक उन्मुक्त रूमानी जीवन है और आदिवासी समाज में उन्मुक्त यौन सम्बन्ध पाये जाते हैं एक भूल होगी। पातिव्रत्य तथा सतीत्व के आदर्श अलग-अलग समाजों में भिन्न हैं। जहाँ मित्रता को दृढ़ करने के लिए दो पुरुष एक-दूसरे की पत्नी से यौन-तुष्टि करते हैं या अतिथि की आवभगत के लिए पत्नी अर्पित की जाती है या आवश्यकता पड़ने पर पत्नी को बंधक रख दिया जाता है, वहाँ यह माना जाता है कि इन कृत्यों से नारी का सतीत्व भंग नहीं होता है। नटों में कन्यावृत्ति के विवरण मिलते हैं। नट स्त्रियाँ भीख माँगती हुई या दरवाजे जड़ी बूटियाँ बेचती हुई सूर्योदय से सूर्यास्त तक घर से बाहर रहती हुई परसम्बन्धों द्वारा भी धनोपार्जन करती हुई पाई गई हैं। किन्तु, यदि सूर्यास्त होते होते, वे पति के पास वापस न आ जायें तो पति या उनकी बिरादरी उन पर सतीत्व भंग करने का आरोप लगा कर, उन्हें दण्डित कर सकती है। जौनसार-बावर में बहुपतित्व की प्रथा के साथ साथ नारी नैतिकता का दोहरा माप दण्ड प्रचलित है। पत्नी के रूप में नारी को रान्टी कहा जाता है और घर की लड़की तथा गाँव की बालिका के रूप में ध्यान्टी। ध्यान्टी के रूप में नारी को परसम्बन्धों की छूट है। परसम्बन्धों को, जास्ती (दोस्ती) की धारणा के रूप में, एक संस्था का रूप मिल गया है। जास्ती में होने वाले परसम्बन्ध उतने ही पवित्र हैं जितने कि विवाह सम्बन्ध। किन्तु पति के घर में या पति की मौजूदगी में जौनसारी नारी उतनी ही पतिव्रता रहती है जितनी कि किसी अन्य समाज की नारी।

नारी-नैतिकता का दोहरा मापदण्ड न तो निरोध कामुकता से प्रेरित है और न कामाचार से। इसका सामाजिक पहलू भी है। जौनसार-बावर में बहुपतित्व की प्रथा है और परिवार की संरचना, संयुक्त तथा पितृसत्तात्मक है। वयोवृद्ध पीढ़ी के पुरुषों में, ज्येष्ठ भाई परिवार का कर्ता होता है। वहाँ की बहुपतित्व प्रथा में बड़ा भाई एक या एक से अधिक पत्नी से सम्मिलित विवाह करते हैं किन्तु, सम्मिलित पत्नियों पर, कर्ता का ही प्रथम अधिकार रहता है। पहाड़ी प्रदेश होने के कारण, वहाँ खेती योग्य भूमि की कमी है और जब से सरकार ने जनता के संवर्धन की नीति को अपना कर, अतिरिक्त भूमि पर कब्जा कर लिया है, नई भूमि (नौ तोड़) प्राप्त

बहिर्वैवाहिकी (Clan Exogamy) के दो ऐसे प्रकार हैं जो आदिवासी भारत मे सवत्र मिलते हैं।

सवनन नियमन स सम्बधित नियमो की दूसरी श्रेणी म वे नियम आते हैं जो एक निर्धारित सामाजिक सीमा म विवाह की वाछनीयता प्रतिपादित करत हैं। अन्तर्वैवाहिकी (Endogamy) सौतेली मा का उत्तराधिकार में रूप म ग्रहण करना (Filial Inheritance) लेविरट (Levirate मत पति क भाई स विवाह करना) सारोरेट (Sororate मत पत्नी की बहिन से विवाह करना), सारारल पालीजिनी (Sororal Polygyny पत्नी क जीवित रहत हुए उसकी बहिन या बहिनो स विवाह करना) और पिता की बहिन की लडकी या लडके स और माता क भाई की लडकी या लडके स विवाह करना (Cross Cousin Marriage) इसी श्रेणी क नियमो क अन्तगत आते हैं। अन्तर्वैवाहिकी का अथ है व्यक्ति द्वारा उस निर्धारित समूह म विवाह करना जिसका कि वह सदस्य है। जाति-अन्तर्वैवाहिकी हिन्दू प्रथा है और गणजाति अन्तर्वैवाहिकी (Tribe Endogamy) आदिवासी प्रथा। स्थानीय अन्तर्वैवाहिकी (Local Endogamy) आदिवासी भारत मे नही पाई जाती है यद्यपि बाहर इसक उदाहरण मिलते हैं। म्वायटी अन्तर्वैवाहिकी (Moiety Endogamy) अन्तर्वैवाहिकी का तीसरा प्रकार है जो टाडा गणजाति म पाया जाता है। अगम्यगमन बहिर्वैवाहिकी तथा अन्तर्वैवाहिकी के नियम साथ-साथ और सवत्र पाये जाते हैं यद्यपि उनके व्यावहारिक प्रकारो म भिन्नता है।

अगम्यगमन (Incest) और बहिर्वैवाहिकी रक्तसम्बधो म विवाह न करने के सिद्धान्त पर आधारित हैं। किन्तु जसा कि पिछले उदाहरणो से स्पष्ट है अगम्यगमन और बहिर्वैवाहिकी वास्तविक रक्तसम्बधो पर आधारित न होकर उन सम्बधो पर आधारित हैं जिनम समाज रक्तसम्बन्धो की कल्पना कर लेता है। बाली द्वीप म जुडवा भाई-बहिन का विवाह की अनुमति होना इसका उदाहरण है। प्राचीन मिश्र क राजघरानो म भाई बहिन के विवाह की अनुमति होना इसका दूसरा उदाहरण है। अगम्यगमन और बहिर्वैवाहिकी म वही सम्बध रक्तसम्बध माने जाते हैं जिनको समाज रक्तसम्बध परिभाषित कर देता है न कि वास्तविक रक्तसम्बध। इसका कारण है परिवार तथा परिवार के विस्तृत आधार पर बने समूहो की सगठनात्मक एकता को सुदृढ बनाये रखने की आवश्यकता। यदि भाई बहिन माता पुत्र और पिता पुत्री म सवनन का निषेध न हो तो परिवार की एकता ही भग हो जाय। जसा कि प्राचीन मिश्र के राजपरिवारो मे पाया गया है, राजपरिवार की विशिष्ट एकता बनाये रखने क लिये, वहां भाई बहिन क विवाह की अनुमति रही है। काम एषणा की तुष्टि की आवश्यकता एक ऐसा सामाजिक तत्व है जो समूह की एकता को प्रोत्साहित भी कर सकता है और उसे नष्ट भी कर सकता है। परिवार और क्लान की एकता तभी दृढ रहती है जब इन समूहो के सदस्य इन समूहो के बाहर विवाह करते हैं। यदि ऐसा न हो तो,

परिवार के पुरुषों मे वहां की नारियों के लिये जो प्रतिद्वन्द्विता पैदा हो वह परिवार की एकता को ही नष्ट करदे। वाञ्छनीय मैथुन नियमों का आधार भी यही सामाजिक आवश्यकता है। गणजाति अन्तर्विवाहिकी से गणजाति की एकता सुदृढ़ रहती है और म्वायटी अन्तर्विवाहिकी (Moiety Endogamy) से म्वायटी की। मौसेली माताओं का उत्तराधिकार के रूप में पत्नी बनाने से परिवार की एकता बनी रहती है। लेविरेट (Levirate) पितृवंश को सुदृढ़ बनाकर परिवार की संयुक्तता बनाये रखने का एक माध्यम है। सॉरोरेट से पति-पत्नी का समायोजन आसान हो जाता है। सॉरोरल पॉलीजिनी वहीं पाई जाती है जहां बहुपत्नीत्व पाया जाता है और इस कारण, सॉरोरल पॉलीजिनी बहुपत्नीत्व वाले परिवार में सौतिया डाह पर रोक लगाकर परिवार की एकता में सहायक हो जाती है। पिता की बहिन की लड़की से विवाह या माता के भाई की लड़की से विवाह वस्तुतः उन व्यक्तियों और परिवारों में विवाह है जो पहले ही से एक दूसरे को जानते हैं और परस्पर सम्बन्धी हैं। इस विवाह में पति-पत्नी एक दूसरे को बचपन से जानते रहते हैं। जहां माँ के भाई की लड़की से विवाह किया जाता है वहां लड़के की फूफी (पिता की बहिन) उसकी सास हो जाती है। ऐसी दशा में पति-पत्नी तथा सास-बहू के सम्बन्धों में तनाव की सम्भावना कम हो जाती है और परिवार की एकता को बल मिलता है[1]।

बहुपतित्व और बहुपत्नीत्व

पति-पत्नी की संख्या के आधार पर, विवाह के दो प्रकार मिलते हैं—एकविवाह और बहुविवाह। एक विवाह में एक समय में एक पुरुष एक नारी से तथा एक नारी एक पुरुष से ही विवाह करती है। बहुविवाह में एक पुरुष एक समय में कई नारियों से और एक नारी या कई नारियां, कई पुरुषों से सम्मिलित विवाह करती हैं। एकविवाह और एकविवाही परिवार सर्वत्र पाये जाते हैं—उन समाजों में भी जहाँ बहुपत्नीत्व (एक पुरुष का एक समय में कई पत्नियों से विवाह) और बहुपतित्व (कई पुरुषों का एक या कई पत्नियों से सम्मिलित विवाह) पाये जाते हैं। आदिवासी समाज में, बहुपत्नीत्व की सामाजिक अनुमति है किन्तु बहुपत्नीत्व आम प्रथा नहीं है। पहली पत्नी के बांझ होने पर परिवार में अधिक काम करने वालों की आवश्यकता होने पर (जैसा पहले दिये हुए जौनसार के उदाहरण से स्पष्ट है) और सामाजिक प्रतिष्ठा[2]

---

1 इसका यह अर्थ नहीं कि आदिवासी परिवार-व्यवस्था पूर्व नियोजित है। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि आदिवासी परिवार में तनाव होता ही नहीं है। यहां जो स्पष्टीकरण दिये गए हैं, उनपर अधिकतर मानवशास्त्री और समाजशास्त्री एकमत हैं।

2 नागा गणजातियों में जो गणजाति के मुखिया हैं, और जिनकी आर्थिक स्थिति सामान्य लोगों से अच्छी है वे, बहुधा एक से अधिक विवाह करते हैं।

प्राप्त करने के लिए बहुपत्नीत्व का आश्रय लिया जाता है। किन्तु, स्त्रियों की कमी और कई परिवारों के भरण-पोषण की समस्या ऐसे कारण हैं, जिनकी वजह से बहुपत्नीत्व सदैव सीमित रहा है। भारत में बहुपति व जौनसार-बावर, टोडा तथा नायरों में पाया गया है। नायरों में मातृसत्तात्मक व्यवस्था की विवाह-प्रथा ने बहुपतित्व को जन्म दिया था। नायरों और नम्बूद्री ब्राह्मणों की विवाह-परम्पराओं से यह स्पष्ट होता है। नम्बूद्री ब्राह्मणों में एक परिवार का सबसे बड़ा लड़का ही नम्बूद्री नारी से विवाह करता है और अन्य नायर-नारियों से। नायर स्त्रियाँ अपनी माँ के ही घर रहती थीं और उनके नम्बूद्री पति यदा-कदा उनके पास आया करते थे जिससे नायर-स्त्री बहुपति-सम्बन्ध स्थापित करती थीं। टोडाओं में सब भाई या कोई भी व्यक्ति मिलकर एक पत्नी से विवाह कर सकते हैं। जौनसार-बावर में सब भाई (जो बहुधा एक माँ की सन्तान होते हैं) एक या कई पत्नियों से सम्मिलित विवाह करते हैं। कपाड़िया ने लिखा है कि भारत में बहुपतित्व संयुक्त परिवार के साथ-साथ कुछ सामाजिक समूहों में पाया जाता है। जैसा कि पहले लिखा गया है बहु-पतित्व, विभिन्न सामाजिक सन्दर्भों में परिवार की संयुक्तता बनाये रखने का एक माध्यम रहा है।

पत्नी-अभिग्रहण के प्रकार पत्नी अभिग्रहण (Acquiring of Mate) के तरीकों के आधार पर आदिवासी विवाह के जो मुख्य प्रकार निर्धारित किये गए हैं वे हैं क्रय विवाह (Marriage by Purchase) सेवा-विवाह (Marriage by Service) विनिमय-विवाह (Marriage by Exchange) अपहरण विवाह (Marriage by Capture) पत्नी का उत्तराधिकार में प्राप्त करना (Inheritance of Wives) और स्वयंवर विवाह। क्रय विवाह का अर्थ यह नहीं है कि आदिवासी समाज में नारियों का क्रय-विक्रय होता है। लगभग सारे आदिवासी भारत तथा भारत के बाहर के आदिवासियों में लड़की के पिता को एक निश्चित रकम देने की प्रथा है। इसे वधू-मूल्य (Bride Price) की प्रथा कहा गया है। यह प्रथा दहेज प्रथा का उल्टा है।

वधू-मूल्य दहेज प्रथा में, वधू का पिता वर के पिता को एक तय की हुई रकम देता है जबकि वधू-मूल्य प्रथा के अनुसार वर का पिता वधू के पिता को एक निश्चित रकम देता है। जिस प्रकार, दहेज की रकम या तो नकद होती है या उपहारों के रूप में दी जाती है उसी प्रकार वधू-मूल्य भी या तो नकद होता है या उपहारों के रूप में लिया जाता है। कभी वधू-मूल्य परम्परा से निश्चित है (जैसे जौनसार में) या कहीं (जैसा कि हो, सन्थालों में है) वर-कन्या के पक्ष के लोग सम्बन्धियों द्वारा उस रकम को तय किया जाता है। दहेज हिन्दू समाज की प्रथा है जबकि वधू-मूल्य आदिवासी समाज की। जिस प्रकार, मुद्रावादी आर्थिक व्यवस्था (Monetary Economy) के प्रभाव से दहेज उत्तरोत्तर

नकद रकम के रूप म दिया जाने लगा है उसी प्रकार, वधू मूल्य भी धीरे धीरे नकद रकम का रूप लेता रहा है। बिहार की मुण्डा गणजातियो मे, वधू मूल्य इतना बढ गया है कि वह दहेज की भाति एक आर्थिक-सामाजिक समस्या बन गया है। जिस व्यक्ति की सामाजिक आर्थिक प्रतिष्ठा जितनी उ च है, वह उतनी ही बडी रकम वधू मूल्य के रूप म मागता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि याता लडक-लडकिया कुवार रह जात हैं या वे अपहरण या ग धव विवाह करत हैं। इस समस्या का एक अ य परिणाम यह है कि यदि एक लडकी का पिता मनमाना वधू मूल्य न पान के कारण उसका विवाह नही करता है तो वह जिस लडक स विवाह करना चाहती है, उसक घर चली जाती है और वहा, कुछ दिनो का भत्सना और अपमान के बाद, वह स्वीकृत हो जाती है। इसप्रकार के विवाह को मुण्डा भाषा म 'अनदर' (अपधारण Intrusion) की सज्ञा दी गई है। गाधव अपहरण (भागारतिपी) और अपधारण (अनदेर) विवाह अनियमित विवाह हैं किन्तु कालान्तर म उ ह सामाजिक स्वीकृति मिल जाती है।

वधू मूल्य दने तथा वधू क्रय (Purchase of Bride) म भेद ही अन्तर करना कठिन हो जाता है जसे कि भेंट और रिश्वत म। यह आशका निमूल नही होगी कि किन्ही किन्ही परिस्थितियो म वधू मूल्य कन्या विक्रय का रूप ले सकता है। बहुत कुछ वधू मूल्य (Bride Price) लने वाले के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। किन्तु, वधू मूल्य प्रथा का एक दूसरा पहलू भी है। वधू मूल्य आम तौर पर वर-कन्या के परिवारो म भेंट विनिमय (Gift Exchange) के रूप म माल (Kind) म दी जाती रही है। वर का पिता, अपन बन्धु बान्धवो से भेंट लेकर वधू के पिता को देता रहा है और वधू का पिता उसे अपने बन्धु बान्धवो म बाट देता रहा है। आज वधू मूल्य का यह रूप समाप्त हो रहा है। किन्तु यहा सबसे बडा प्रश्न यह है कि वधू मूल्य दिया ही क्यों जाता है। इस प्रश्न का उत्तर आदिवासी विश्वास और प्रथाओ म कई रूपो मे मिलता है। कही इसे कन्या के दूध का मोल कहा जाता है, कही इसे वधू के लिए दिया जाने वाला प्रतिदान और कही, जैसा कि कासी द्वीप में है वधू-मूल्य उस आर्थिक हानि का मूल्य है जो विवाह के द्वारा, लडकी के घर से चले जाने स, वधू के पिता को होता है। पश्चिमी अफरीका की दहोमियन गणजाति के लोगो मे यदि कोई स्त्री बांझ होती है तो उसे अपने पति के दूसरे विवाह के लिए वधू धन का प्रबन्ध करना पडता है। दक्षिणी अफरीका की बवण्डा गणजाति म वधू-मूल्य की किस्तो म चुकाने की प्रथा है और जब तक एक पुरुष सारी किस्तो को अदा नही कर देता है तब तक उसके बच्चे उसकी पत्नी के पिता के पास बन्धक के रूप म रहते हैं। मानवशास्त्रियो का यह मत है कि वधू मूल्य से, उन दो परिवारो म, आदान प्रदान के द्वारा, सामाजिक सम्बन्ध दृढ होते हैं, जिनके

दो विपमलिंगी सदस्य विवाह सूत्र में बंधते है[1]।

विवाह विच्छेद हो जाने पर वधू मूल्य लौटाने की प्रथा भी सर्वत्र पाई जाती है। लेकिन ऐसी परिस्थिति में जैसा कि जौनसार बावर में होता है, पति वधू मूल्य हरजाने के रूप में वसूल करता है। विवाह विच्छेद में, पति जो रकम लेता है, उसमें ब्याह का खर्चा भी जुड़ जाता है, जिसके कारण विवाह विच्छेद की रकम वधू मूल्य से बढ़ जाती है। यह रकम उस व्यक्ति को देनी पड़ती है जो तलाक दी हुई स्त्री से विवाह करता है। ऐसी दशा में, तलाकों की संख्या के साथ साथ, हर्जाने की रकम भी बढ़ती जाती है किन्तु, यह रकम तभी तक बढ़ती है जब तक स्त्री तरुण और स्वस्थ रहती है। मुण्डा गणजातियों में, वधू मूल्य की रकम वधू की सुन्दरता, उम्र और उसके पिता की सामाजिक प्रतिष्ठा पर निर्भर करती है। वधू मूल्य तथा तलाक में हर्जाने की रकम तय करने में, मध्यस्थ का रोल काफी महत्वपूर्ण होता है, जिसका आगे वर्णन किया जायेगा।

गोंड और बैगा गणजातियों में यदि कोई व्यक्ति वधू मूल्य चुकाने में असमर्थ होता है तो वह अपने भावी ससुर के घर में आकर, एक निर्धारित समय तक, घर का काम काज करता है और उसके बाद विवाह करके अपने घर वापस आ जाता है। बिरहोर गणजाति में, भावी दामाद को वधू-मूल्य की रकम उधार दे दी जाती है और जब तक वधू मूल्य का भुगतान नहीं हो जाता है दामाद को अपने ससुर के घर में रहकर, उसके घर का काम करना पड़ता है। जौनसार बावर में, कृषि का कार्य करने वाले के लिए कभी कभी युवकों भी इस बात पर रख लिए जाते हैं कि एक निश्चित समय के बाद घर की लड़की से उनका विवाह कर दिया जायगा[2]। ऐसे विवाहों को सेवा विवाह की श्रेणी में रखा जाता है। घर-जवाई पद्धति और सेवा विवाह में अन्तर है। घरजवाई पद्धति में जब किसी के लड़का नहीं होता है तो वह विवाह के बाद से या पहले ही से दामाद को अपने घर की देखभाल के लिए रख लेता है। वधू मूल्य जुटाने की समस्या का हल करने के लिये जब दो परिवार कन्याओं का विनिमय कर लेते हैं तो उसे विनिमय विवाह कहा जाता है। जहाँ नास कजिन मैरिज (मामा फूफी की सन्तानों में विवाह) की प्रथा है, वहाँ विनिमय विवाह आसानी से हो जाता है। आसाम के खासियों में ऐसे विवाह की अनुमति नहीं है। वधू मूल्य की समस्या से बचने के लिए मध्यभारत के आदिवासियों में लेविरेट विवाह को प्रोत्साहन दिया जाता है। परिवीक्ष्य विवाह (Probationary Marriage), जो आसाम की कुकी गणजाति में पाया जाता है, घरजवाई विवाह तथा सेवा विवाह से भिन्न है। परिवीक्ष्य विवाह में, भावी पति पत्नी को प्रेमी तथा

1 हूबेल, ई० ए० मैन इन द प्रिमिटिव वर्ल्ड पृष्ठ 205 210
2 मजूमदार और मदन वही पृष्ठ 90

प्रेमिका के रूप में कन्या के घर में कुछ समय के लिए रहने दिया जाता है और इस बीच में यदि वर-कन्या एक-दूसरे को पसन्द कर लेते हैं तो दोनों का विवाह हो जाता है वर्ना अलग-अलग होने पर, वर को कन्या के पिता को प्रतिदान (Compensation) देना पड़ता है। सेमा नागाओं में, पिता के मरने पर, पुत्र को सौतेली विधवा माताओं से विवाह करना आवश्यक हो जाता है क्योंकि सेमा नागाओं की उत्तराधिकार परम्परा के अनुसार मृत व्यक्ति की सम्पत्ति का उत्तराधिकार उसकी विधवा या विधवाओं को मिलता है और यदि पुत्र उस सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होना चाहता है तो उसे अपनी सगी माँ को छोड़कर, अन्य सौतेली विधवा माताओं से विवाह करना आवश्यक हो जाता है।

अपहरण विवाह के अनेक उदाहरण भारतीय इतिहास में मिलते हैं। यद्यपि अपहरण विवाह वर्तमान दण्ड संहिता के अनुसार, अपराध है। ज्यों-ज्यों सामाजिक प्रगति होती रही है और भारतीय दण्ड-संहिता को लागू किया जाता रहा है अपहरण विवाहों की संख्या कम होती रही है। फिर भी नागा हो गोंड भील, खरिया और बिरहोर गणजातियों में, वास्तविक या आभासी (Mock) अपहरण विवाह के प्रमाण मिलते हैं। आसाम की नागा गणजातियों में जब एक गाँव के निवासी दूसरे गाँव पर आक्रमण करते हैं तो स्त्रियों का भी अपहरण करते हैं। यही कारण है कि नागाओं में, लड़कियों को जन्मते ही मार डालने की प्रथा रही है। गोंडों में लड़की के पिता के अनुरोध पर, लड़की का अपहरण किया जाता है। यह अपहरण पहले ही से निर्धारित होता है। वर पक्ष के लोग, वधू का अपहरण करते हैं और वधू-पक्ष के लोग इसका विरोध करते हैं। किन्तु यह अपहरण, वास्तविक न होकर केवल अपहरण का नाटकमात्र होता है। इसी प्रकार, हो गणजाति में वधू मूल्य की समस्या उठ खड़ी होने पर, आभासी अपहरण संयोजित किया जाता है। खरिया और बिरहोर गणजातियों में, अपहरण विवाह ने एक संस्कार का रूप ले लिया है। जब कोई पुरुष किसी भी स्त्री से, सामान्य तरीके से विवाह नहीं कर पाता है तो वह किसी मेले या अन्य स्थान में छुपकर बैठ जाता है और उस स्त्री के ऊपर निकलने पर, सहसा उसके माथे पर तेल मिश्रित सिन्दूर मल देता है तो वह उस स्त्री से विवाह करने का अधिकारी मान लिया जाता है। मध्यभारत में त्योहारों के अवसरों पर, जब कई गाँवों के लोग एक-साथ नाचते-गाते और शराब पीकर एकत्र होते हैं तब नौजवान उन लड़कियों का अपहरण करते हैं जिनके साथ वे विवाह करना चाहते हैं। ये अपहरण शान्तिमय होते हैं। नागाओं के अन्तर्ग्राम आक्रमणों को छोड़कर हर दशा में अपहरण पूर्वसंयोजित होते हैं और वास्तविक अपहरण का आभासमात्र होते हैं। बहुधा, वर-वधू के माता पिता की अनुमति से अपहरण होता है। अपहरण विवाह को गणजाति बिरादरी तब भी मान्यता मिलती है जब, अपहरण करने वाला या तो बिरादरी का हर्जाना देता है या भोज देता है।

भीलो के गोल गेधादो विवाह म, जहा एक ओर, अपहरण का आभास मिलता है वहा दूसरी ओर, विवाह के उम्मेदवार नौजवान के साहस और बहादुरी का अजमाने का भी आभास है। गाल गेधादो प्रथा के अनुसार, विवाह के इच्छुक भील नौजवान को, किसी लडकी से विवाह प्रस्ताव करने के पहले अपनी बहादुरी और शक्ति का परिचय देना पडता है। होली के त्योहार पर अविवाहित पुरुष और स्त्रिया किसी पेड या जमीन पर गड पोल (Pole खम्भे) के आस पास नृत्य करते है। इस नृत्य म स्त्रिया पोल या पेड के आस पास घेरा बनाकर नाचती है और पुरुष स्त्रियो के घेरे के बाहर, घेरा बनाकर, नाचते ह। पोल या पेड पर गुड और नारियल बधा रहता है। नाचते नाचते जब कोई नौजवान स्त्रियो का घेरा तोड कर पोल या पेड पर चढने का प्रयास करता है तो स्त्रिया उसे रोकने का प्रयास करती ह और इस प्रयास म, वे उसके कपडे नोच सकती ह उसे चुटकी काट सकती ह या झाडू से मार सकती ह। किन्तु इन रुकावटो के बावजूद भी, यदि कोई नौजवान गुड और नारियल तक पहुच कर गुड खाने तथा नारियल तोडने म सफल हो जाता है तो, वहा पर नृत्य करती हुई लडकियो म से, वह किसी स भी विवाह करने का अधिकारी हो जाता है और वह चुनी हुई लडकी को तत्काल वहा स ले जा सकता है[1]।

जसाकि खरिया और हो गणजातियो म, होता है साधारणत असली (नियमित) विवाह वर वधू के माता पिता द्वारा सयोजित होते ह यद्यपि इस सयोजन मे वर वधू की भी अनुमति ली जाती है। विवाह मे, इसकारण, वयक्तिक स्वतन्त्रता का सीमित स्थान मिलता है। उन्मुक्त वैयक्तिक प्रेम और विवाह परस्पर विरोधी ह और, इसकारण विवाह क विधिवत नियमो का उल्लघन भी होता है। गा धव विवाह वहा आता है जहा दो विपर्मलिंगी व्यक्ति असली विवाह के नियमा की अवहेलना करके विवाह सूत्र मे बधते है और बाद म, उनका विवाह समाज म स्वीकृत होता है। ववाहिक नियमो के सामाजिक बन्धन भी सार्वभौमिक ह और समाज द्वारा निर्धारित मर्यादाओ के अन्दर उनकी अवहेलना भी। उदाहरणार्थ, अभिभावको की इच्छा के विरुद्ध, लडकी को भगा कर विवाह सूत्र में बँधना, खरिया गणजाति मे लडकी का इच्छित पुरुष के घर जाकर पत्नी बनने का तब तक अनुरोध करना जब तक कि वह अपने प्रेमी पुरुष के घर म पत्नी और बहू के रूप म स्वीकृत

---

1 इसप्रकार की प्रथाऐं, जिनमें विवाह से पहले वर को अपनी शक्ति का परिचय देना पडता ह विभिन्न रूपो में हिन्दुओं में भी पाई जाती ह। लखनऊ के आस-पास के गावो में, जब वर बारात के लिये अपने घर से चलता ह तो उसे लात मार कर मिट्टी की हाडी फोडनी पडती हैं। यदि हाडी एक ही प्रयास में नहीं टूटती है तो वर का उपहास किया जाता है।

न हो जाय तथा अपनी प्रेमिका के मत्थे पर सिंदूर मल कर उससे विवाह करने की अनुमति प्राप्त करना, ऐसे उदाहरण हैं जिनमें प्रचलित नियमों की अवहेलना है। किन्तु, ये सभी प्रकार के विवाह, समाज की मर्यादा के अन्तर्गत हैं और जब ऐसे विवाह किये जाते हैं तो उन्हें समाज में स्वीकार कर लिया जाता है।

धर्मशास्त्रों के रचयिताओं ने ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच ये आठ प्रकार के विवाह माने हैं। आसुर वह विवाह है जिसमें वधू मूल्य दिया जाता है। गान्धर्व प्रेम विवाह है और राक्षस तथा पैशाच अपहरण-विवाह की श्रेणी में आते हैं। हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार इन आठ विवाह प्रकारों में प्रथम चार वांछनीय हैं और अन्तिम चार अवांछनीय। इससे यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू विचारधारा के विकास में आदिवासी विवाह प्रकारों को अवांछनीय कहकर उन्हें निषेधात्मक सामाजिक प्रदान करने का प्रयास किया गया है। और ऐसा हुआ भी है। ज्यों ज्यों गणजातियों का हिन्दूकरण हुआ है उनमें हिन्दू तत्वों का समावेश होता गया है। आदिवासी मान्यताओं में विवाह दो विषमलिंगी व्यक्तियों, उनके परिवारों तथा विस्तृत सम्बन्धी समूहों में प्रजनन तथा गृहस्थी बसाने के लिये एक ऐसा सामाजिक समझौता है जो आवश्यकता पड़ने पर तोड़ा भी जा सकता है। आदिवासी के लिये साधारणतः विवाह का सामाजिक पक्ष धार्मिक पक्ष की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। जिसके कारण आदिवासी विवाह में संस्कारों की वह जटिलता नहीं मिलती है जो हिन्दू विवाह में मिलती है। किन्तु आदिवासी विवाह का धार्मिक पक्ष सर्वत्र गौण नहीं है। खासी विवाह में, सामाजिक और धार्मिक पक्षों का एक सा महत्व है क्योंकि खासी परिवार धार्मिक कृत्यों के सम्पादन की एक सामाजिक इकाई है। जिस गणजाति पर हिन्दूकरण का जितना प्रभाव है उसके विवाह-संस्कार में उतनी ही संस्कार जटिलता भी बढ़ी है। हो गणजाति में संस्कार के दृष्टिकोण से 'अन्दी' और दिकू अन्दी दो प्रकार के विवाहों का पाया जाना इसका प्रमाण है। 'दिकू अन्दी' वह विवाह है जिसमें अग्नि को साक्षी बनाकर विवाह सम्पन्न कराया जाता है जबकि 'अन्दी' विवाह में गणजाति के देवताओं की स्तुति की जाती है और उनको प्रसन्न करने के लिये बलि चढ़ाई जाती है। 'अन्दी' विवाह स्थानीय पुरोहित द्वारा सम्पन्न होता है जबकि दिकू अन्दी हिन्दू पुरोहित के द्वारा।

आदिवासी समाज में, विवाह के लिए लड़के लड़की का चुनाव तो माता पिता करते हैं किन्तु साधारणतः विवाह मध्यस्थ द्वारा तय किया जाता है। मध्यस्थ को विभिन्न गणजातियों में अलग अलग नाम हैं। उदाहरणार्थ हो मध्यस्थ को 'दूतम' कहते हैं और खरिया डण्डिया। मध्यस्थ के द्वारा ही वधू मूल्य तय होता है। कभी-कभी, जैसा कि हो गणजाति में होता है, भावी पत्नी का चुनाव करके, लड़का अपने मित्र द्वारा अपने माँ-बाप को सूचना भिजवा देता है और वे

मध्यस्थ को नियुक्त करके विवाह तय करते है। आदिवासी समाज में, विवाह से दो व्यक्तियों और उनके परिवारों का ही सम्बन्ध नहीं है। क्लान और गाव के सदस्य भी विवाह से उतने ही सम्बन्धित है जितने कि परिवार के सदस्य। यही कारण है कि विवाह ऐसे समय किया जाता है जब सभी उसमे शामिल हो सकें। बहुधा, जाड़ा की फसल काटने के बाद विवाह की तारीख रक्खी जाती है।

आदिवासी विवाह को एक अविच्छेद्य धार्मिक संस्कार न मान कर, एक समाजीकृत समझौता मानते है जिसके कारण आदिवासी समाज में तलाक

विवाह विच्छेद — आसानी से हो जाता है। खासियों में परस्त्री या परपुरुषगमन और स्त्री के बांझपन के कारण विवाह विच्छेद किया जा सकता है। उसी प्रकार, गोंडों में यदि स्त्री परपुरुषगामिनी है गृहस्थी के कार्यों की ओर उदासीन है, बांझ या झगड़ालू स्वभाव की है तो उसे तलाक दिया जाता है। खासियों और गोंडों में तलाक के जो आधार है वे खरिया लोगों में भी पाये जाते है। इसके अतिरिक्त खरिया गणजाति में यदि ग्राम पंचायत किसी की स्त्री को डायन (Witch) घोषित कर देती है तो उसके पति को उसे तलाक देना आवश्यक हो जाता है। वास्तविकता तो यह है कि, आदिवासी समाज में उन सभी परिस्थितियों और कारणों के कारण तलाक हो जाता है जिनमें पति पत्नी वैवाहिक समझौते को चलाने में असफल हो जाते हैं। पति पत्नी में असंगति आ जाना ही तलाक का मुख्य आधार है। तलाक देने का अधिकार पति और पत्नी दोनों का है। तलाक का निर्णय पंचायत के द्वारा होता है। पंचायत के नियम अलिखित होते है जिसके कारण तलाक के मुकद्दमों का निपटारा व्यावहारिकता की कसौटी पर किया जाता है और तलाक की अनुमति तभी दी जाती है जब दोनों पक्ष तलाक के पक्ष में हों। जो पक्ष तलाक की मांग करता है उसे दूसरे पक्ष को हर्जाना देना पड़ता है। लुशाई गणजाति में यदि पति पत्नी को तलाक देता है तो उसे वधू मूल्य का वह भाग देना पड़ता है जो उसकी ओर बाकी होता है। किन्तु यदि पत्नी पति को छोड़ती है या परसम्बन्धी के अपराध के कारण उसे तलाक दिया जाता है तो उसे वधू मूल्य में दी गई रकम वापस करनी पड़ती है। खासी गणजाति में, तलाक के बाद, बच्चों पर स्त्री का अधिकार रहता है। किन्तु अन्य गणजातियों में, बच्चों पर अधिकार की समस्या पारम्परिक समझौते द्वारा तय की जाती है। तलाक के बाद स्त्री-पुरुषों के पुनर्विवाह में कठिनाई नहीं होती है क्योंकि, आदिवासी समाज में तलाक और तलाक देने वाले स्त्री पुरुषों को अवांछनीय नहीं समझा जाता है। विधवा-पुनर्विवाह भी आसानी से हो जाता है।

आदिवासी समाज म जहा एक ओर, रक्तसम्बन्ध के सिद्धान्त पर आधारित परिवार और क्लान जैसे समूह पाये जात हैं वहा, दूसरी ओर धर्मनिरपेक्ष और धर्मसापेक्ष समूह भी पाए जाते है जिनकी सदस्यता ऐच्छिक होती है और जो समितियों के रूप म कार्य करते हैं। धर्मसापेक्ष समूह, धार्मिक कृत्यो के लिए संगठित होते हैं जैसे मुखा पडने पर, वर्षा अनुष्ठान को सम्पन्न करने के लिए संगठित समूह। धर्मनिरपेक्ष ऐच्छिक समूह व समितिया या सघ हैं जो, विभिन्न उद्देश्यो की पूर्ति के लिए, संगठित होते हैं। ये समितिया अफीका और अमरीका के आदिवासियो म पाये जाने वाले गुप्त सघ (Secret Societies) के प्रकार के भी होते हैं और मनोरंजन के लिए संगठित क्लबो के प्रकार के भी। इन समितियो के संगठन म आयु का कारक महत्वपूर्ण होता है जिसके कारण इन्हें आयु समूह (Age Groups) भी कहा गया है। उदाहरणार्थ गुप्त-सघ (Secret Society) के सदस्य वयस्क पुरुष ही हो सकते है। इस दृष्टिकोण से भारत के आदिवासियो म युवा संगठन (Youth Organization) एक महत्वपूर्ण संगठन है। युवा संगठन मारिया हो ओराओ मुरिया गोड भुइया और नागाओ म पाया जाता है।

युवागृह

युवा-संगठन अविवाहित (कुवार) लडके लडकियो की एक समिति है जिसके नियमानुसार अविवाहित लडके लडकी युवागृह म रात्रि बिताते हैं। सभी नागाओ का युवागृह इस सर्वप्रचलित नियम का अपवाद है क्योंकि उनके यहा लडके और लडकियो के युवागृह अलग अलग होते हैं। विभिन्न जनजातियो म युवागृह के अलग अलग नाम हैं। युवागृह के लिए मुण्डाओ और हो जनजातियो में गीती ओरा, ओराओ म जोखरपा या धुमकुरिया' मुइय्याओ म धगरबासा गान्य म गोतुल, भोटियो म 'रगबग और एओ तथा सभी नागाओ म मोरग सेमाओ का प्रयोग होता है। सभी नागाओं म लडको के युवागृह को इसुबोची और लडकियो के युवागृह को इलाइचो' कहा जाता है। युवागृह इस प्रकार, एक प्रकार का युवा-संगठन है, जिसके माध्यम म अविवाहित लडके और लडकियां एक-साथ एकत्र होते हैं यद्यपि युवागृहो म सम्बन्धित प्रथाओ म भिन्नता पाई जाती है। उदाहरणार्थ मुन्डा हो ओराओ और नागा जनजातियो म अविवाहित लडके और लडकियो के अनैतिक भावना की दसरास म लडके लडकिया अलग अलग गृहो म सोते हैं जबकि बस्तर के मुरिया गोडो म, अविवाहित लडके-लडकियां एक ही गृह म साथ सोते हैं।

युवागृह केवल शयनगृह ही नही है। युवागृह म सम्बन्धित नियमो और प्रथाओ म युवागृह की सामाजिक महत्ता स्पष्ट होती है। युवागृह गाव के बीचोबीच या गाव की सरहद पर वनाच्छादित एक एम ऊचे स्थान पर बनाया जाता है जहा से रात्रि म गाव की रखवाली भी की जा सके। गाव के सभी अविवाहित लडके लडकियां, युवागृह के सदस्य होते हैं। युवागृह की बातों को गुप्त रखना युवागृह के

सदस्य का अंत य होता है। विवाह के बाद, युवागृह की सदस्यता समाप्त हो जाती है गांडो में, जब किसी युवागृह के सदस्य का विवाह हो जाता है तो, उसका तथा उसकी पत्नी के लिए गोतुल में जो स्वागत समारोह होता है वह वस्तुत, उसका गोतुल से विदाई समारोह होता है क्योंकि उसके बाद वह गोतुल का सदस्य नहीं रहता है। वह गोतुल में फिर भी आता है तो उसे मना किया जाता है और यदि वह फिर भी नहीं मानता है तो गोतुल के सदस्य उसकी फसल या जानवरों को नुकसान पहुंचाकर उसको आना रोकते हैं।

युवागृह संगठन में अधिकारी वैसे ही पाये जाते हैं जैसे कि व किसी भी समिति में पाये जाते हैं। गोतुल का एक अध्यक्ष होता है जिसे सरदार या मुखिया कहते है। उसका पद वंशानुक्रम से चलता है। युवागृह में मुखिया और उसके सलाहकारों से मिलकर युवागृह की कार्यकारिणी संगठित होती है। मुखिया को विशेषाधिकार भी मिलते है। मरिया गोतुल का मुखिया गोतुल की किसी भी लड़की को, अपनी प्रेमिका बनाकर सर्वसाधारण में उसकी घोषणा कर सकता है। गोतुल के मुखिया की प्रेमिका होना गौरव और सम्मान की बात समझी जाती है जिसके लिए गोतुल की प्रत्येक सदस्या लालायित रहती है।

नाच गीत, किस्से कहानियां तथा हास परिहास के द्वारा युवागृह के सदस्य परस्पर मनोरंजन करते हैं। औरांव युवागृह का वर्णन करते हुए डाल्टन ने लिखा है कि युवागृह में छोटी आयु के लड़के बड़ी आयु के लड़कों का बदन दबाते हैं मालिश करते हैं और उनके बालों को सवारते हैं। छोटी आयु के लड़कों को बड़ी आयु के लड़कों के कठिन अनुशासन में रहना पड़ता है। जबकि गोण्ड के युवागृह में होता है जहां लड़के लड़कियां साथ साथ रहते हैं वहां छोटी आयु के लड़कों का स्थान लड़कियां ले लेती हैं। मजूमदार के अनुसार युवागृह में लड़के लड़की अपनी अपनी आयु के अनुसार अलग अलग समूहों में बटे रहते हैं—छोटी उम्र के लड़के लड़की एक साथ रहते हैं और बड़ी उम्र के एक साथ। गोतुल का उदाहरण देते हुए, मजूमदार ने यह लिखा है कि एक गांव के गोतुल के सदस्य कभी कभी दूसरे गांव के गोतुल के सदस्यों से मिलने जाते हैं गोतुल के सदस्य गांव की जंगली जानवरों और शत्रुओं से रक्षा करते हैं और कभी कभी गांव के सार्वजनिक कार्यों में हाथ बंटाते हैं या आवश्यकता पड़ने पर उस व्यक्ति की भी सहायता करते हैं, जिसको सहायता की आवश्यकता होती है। धनुष चलाने की तथा प्रतिरक्षा के उपायों की शिक्षा और अभ्यास भी गोतुल के कार्यक्रम का एक अंग है।

बस्तर के मरिया गोंडो के युवागृह का वर्णन करते हुए ग्रिगसन ने लिखा है कि आदिवासी लड़के लड़कियों को काम रहस्य (Mysteries of Sex) से परिचित कराना गोतुल का आधारभूत कार्य है। मजूमदार के अनुसार, गोतुल के लड़के लड़कियों में यौन सम्बन्ध हो जाते है लेकिन ऐसे सम्बन्ध न तो आमतौर पर पाये

जाते हैं और न मातुल उन्हें प्रोत्साहित ही करता है। यदि काम शिक्षा ही युवागृह का एकमात्र सामाजिक कार्य माना जाय तो यह स्पष्ट करना कठिन हो जायगा कि लड़के लड़कियों के अलग अलग युवागृह क्यों पाये जाते हैं। मजूमदार का यह मत है कि युवागृह से आदिवासी समाज के ऐक्य को प्रोत्साहन मिलता है, नौजवानों की शक्ति रचनात्मक कार्यों की ओर प्रवाहित होती है और उन्हें भावी कर्तव्यों की प्रशिक्षा मिलती है। युवागृह की उत्पत्ति का कारण काम तुष्टि की शिक्षा की आवश्यकता नहीं वरन् प्रतिरक्षा (Defence) की आवश्यकता है। यही कारण है कि युवागृह या तो गांव के बीच में स्थापित होता है या गांव की सरहद पर। कालान्तर में, अन्य अनेक प्रथाएं युवागृह से सम्बन्धित हो गई हैं जो मुरिया गोंडों के मातुल संगठन में स्पष्ट हैं।

६

धर्म और जादू : अलौकिक के प्रति विश्वास तथा कर्मकाण्ड

आदिवासी समाज और संस्कृति धर्मसापेक्ष (Sacred) हैं न कि धर्मनिरपेक्ष। धर्मसापेक्ष और धर्मनिरपेक्ष की विभाजिका वर्तमान योरोपीय सभ्यता की देन है। आदिवासी धर्म इसाइयत की भांति, न तो ऐतिहासिक और संगठित धर्म है और न उसमें राद्धान्त (Dogmas) और मिशनरीपन ही पाये जाते हैं। राद्धान्तों और मिशनरीपन की अनुपस्थिति में आदिवासी में न तो अपने धर्म के सुव्यवस्थितकरण की प्रवृत्ति मिलती है और न धर्मविद्या (Theology) का निरूपण करने की प्रवृत्ति। आदिवासी धर्म जहां ईश्वरवादी है वहां बहुदेववादी भी। आदिवासी यदि मानवीकृत अलौकिक शक्तियों को देवताओं के रूप में पूजता है तो वह अलौकिक तथा आधिदैविक अवैयक्तिक शक्ति (Impersonal Supernatural Force) में भी विश्वास करता है और भूत प्रेतों तथा डाइनों से भी डरता है। वह प्रार्थना भी करता है और अपने देवताओं की तुष्टि के लिए बलि भी देता है। जन्त्र मन्त्र में भी उसका विश्वास है और देवरूपों में भी। यदि वह आधिदैविक को अलौकिक मानकर प्रार्थना के द्वारा उसकी अनुकम्पा की कामना करता है तो साथ ही साथ, वह यह भी मानता है कि आधिदैविक की इष्टसिद्धि करके, उसके द्वारा मनोवांछित फल भी प्राप्त किया जा सकता है और इसलिए, मारण मोहन उच्चाटन तथा अनेक जन्त्रों मन्त्रों का प्रयोग करता है। वह पेड़ों को पूजता है और पहाड़ तथा पत्थरों को भी। आर्थिक व्यवस्था तथा प्रौद्योगिकी द्वारा, यदि वह अपने और प्रकृति के बीच तथा सामाजिक संगठन के द्वारा, यदि अपने तथा साथियों के बीच में तादात्म्य स्थापित करता है तो धर्म के द्वारा वह अपने आधिदैविक और प्राकृतवास के बीच में समायोजन

लाने का प्रयास करके, जीवन के उन स्थलों में भावात्मक सुरक्षा पाने का प्रयास करता है जहां अन्य किसी प्रकार की मानवीय सुरक्षा उपलब्ध नहीं है। आदिवासी के लिए धर्म, मानव, प्रकृति तथा समाज में, आधिदैविक के द्वारा भावात्मक समायोजन लाने का एक माध्यम है।

आदिवासी धर्म एक भी है और अनेक भी। प्रत्येक गणजाति की अपनी धार्मिक प्रथाएं और विश्वास हैं। उदाहरणार्थ, मिर्जापुर जिले की कोरवा गणजाति के आदिवासियों का यदि निराकार भगवान या 'ईश्वर' में विश्वास है तो साथ ही साथ वह फसल, वर्षा और जानवरों के अधिष्ठाता देवों में भी विश्वास करते हैं। दुदधी की लगभग सभी पहाड़ियां और जलप्रपात, किसी न किसी देवी या देवता से सम्बन्धित हैं। गांव के आस पास आने वाले पीपल, पलास और महुआ के पेड़ प्रेतों और चुडैलों के वासस्थान माने जाते हैं। कोरवा जिन देवताओं को मानता है उनके नाम हैं राजा चन्दोल, टिकरी के बरमबाबा, भरमबाबा, मुड़ेसिमर के बिलचर, राजा गुरहर, राजा मोरहमन, अहितर (एक पहाड़ी का नाम) के महराज और बरमडन के महराज। कोरवा के द्वारा पूज्य देवियों में बुढ़ीमाई, शीतला माई, मिरगा रानी, काठा रानी, दक्खिनी माई, कोटा की ज्वालामुखी और काटर की देवी मुख्य हैं। इन देवी देवताओं को कोरवा गणजाति के पड़ोस में रहने वाली अन्य गणजातियां भी मानती हैं। 'महादावी' कोरवा लोगों का मुख्य देवता है जिसका वासस्थान प्रत्येक गांव के पूर्व में आने वाला बांस का झुरमुट माना जाता है। प्रत्येक ऐसे झुरमुट में, इस देवता के प्रतीक के रूप में एक पत्थर रक्खा रहता है। कोरवा लोगों का विश्वास है कि पत्थर और बांस का झुरमुट अत्यन्त प्राचीन काल के हैं और 'महादावी' देवता गांव के लोगों की बीमारी, महामारी, भयानक संकटों और दुर्घटनाओं से रक्षा करता है। प्रत्येक तीन साल बाद, देवता को प्रसन्न करने के लिये एक सफेद बछड़े की बलि दी जाती है। बछड़े के न मिलने पर सफेद बकरी या सफेद मुर्गी की बलि दी जाती है। 'महादावी' वाले बांस के झुरमुट के समीप ही एक दूसरा बांस का झुरमुट (देवघर) होता है जिसमें रक्खे हुए पत्थर गांव के सभी लोगों (जिनमें कोरवा और अन्य जातियां शामिल हैं) के देवताओं के प्रतीक होते हैं[1]। सूखा पड़ने पर, कोरवा गणजाति के लोग पहाड़ियों पर से बड़े बड़े पत्थर ढनगाते हैं, क्योंकि उनका विश्वास है कि पत्थरों की गड़गड़ाहट बादलों की गड़गड़ाहट को आकर्षित करके, वर्षा लायगी।

मुण्डा और हो गणजातियां, एक प्रकार की अवैयक्तिक आधिदैविक शक्ति में विश्वास करती हैं, जिसे वे बोंगा के नाम से सम्बोधित करती हैं। बोंगा एक

---

1 मजूमदार डी॰ एन॰ रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पृष्ठ 407

अवयक्तिक अलौकिक शक्ति है जिसके संसर्ग से भौतिक वस्तुओं और व्यक्तियों में अलौकिक गुण उत्पन्न होते हैं। बोंगा का एक रूप सिंगबोंगा है जो हो जनजाति में सूर्य देवता के समान पूजा जाता है। हो और मुण्डा जनजातियों का विश्वास है कि बोंगा, सपनों के द्वारा, भावी जीवन की ओर संकेत करता है। बोंगा ही सभी प्रकार की ऊर्जा का स्रोत है। जिस किसी भी वस्तु में ऊर्जा की अभिव्यक्ति होती है वह बोंगा ही है। साइकिल वाष्पइंजिन और हवाई जहाज अलग-अलग बोंगा हैं। हवाई जहाज इन सब में बड़ा बोंगा है। जिस व्यक्ति में बोंगा की जितनी अधिक मात्रा होगी, उसके गुण और उसकी प्रतिष्ठा, अन्यों से, उतनी ही ज्यादा होगी। जिस किसी नयी वस्तु से नये समायोजन का सन्तुलन बिगड़ जाता है, वे सब बोंगा हो जाते हैं। इन जनजातियों के विश्वासों के अनुसार उनके प्राकृतवास के अनेक तत्व और जानवर बोंगा हो गए हैं। वर्षा न होने पर, हो जनजाति के लोग, आग जलाकर, धुएँ के बादल उठाते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि धुएँ के बादल, वर्षा के बादलों को आकृष्ट करते हैं।

मध्य भारत के मुरिया गोंडों के बारे में लिखते हुए एल्विन ने लिखा है कि मुरिया गोंडों का धर्म हिन्दुत्व के शैव सम्प्रदाय के अधिक समीप है, यद्यपि उसकी अपनी निजी विशिष्टता है। मुरिया धर्म में शिव के साथ अन्य अनेक देवताओं की पूजा की जाती है जिन्हें मुरिया लोगों ने मानवीय रूप दिया है। मुरिया लोगों के अपने पुरोहित होते हैं। वे मृतकों के लिए छतरी (Shrine) मन्दिर और झोपड़े बनाकर उनको मानव देवता के रूप में पूजते हैं। मुरिया धर्म, एक ओर, नैतिक जीवन का आधार है और, दूसरी ओर, देवताओं तथा जीवित और मृत मनुष्यों को एकसूत्र में बाँधता है। नरबलि से बचने के लिए गोंडों में, अनेक ऐसी प्रथाएँ पायी जाती हैं जो मुरिया धर्म का अभिन्न अंग है[1]।

इसप्रकार, ईश्वरवाद, बहुदेववाद, प्रकृतिवाद बोंगावाद आत्मावाद शक्तिवाद तथा शैववाद भूत प्रेत चुड़ैल और डाइनशक्तिवाद तथा सौगन्ध अग्नि परीक्षा (Ordeal) जन्तों मन्त्रों, शकुन अपशकुनों, टोटम और टबू में विश्वास आदिवासी के धार्मिक विश्वासों और कर्मकाण्डों में शामिल हैं। हिन्दू विचारधारा के दृष्टिकोण से आदिवासी धार्मिक विश्वास और प्रथायें वाममार्गी तथा आगमवादी परम्पराओं में आती हैं। वाममार्गी प्रथाओं के बड़े ही दिलचस्प रूप देखने को मिलते हैं। कोरवा का विश्वास है कि पत्थरों की गड़गड़ाहट वर्षा के बादलों को आकृष्ट करती हैं, हो के विश्वास के अनुसार, धुएँ के बादल, वर्षा के बादलों को आकृष्ट करते हैं, किन्तु खोंडों का यह विश्वास रहा है कि नरबलि के समय बलि दिये जाने वाले मनुष्य की आँखों से गिरते हुए आँसुओं तथा उसके शरीर से निकलती हुई खून की

1 मजूमदार और मदन वही पृष्ठ 167 68

की ओर अधिक झुकी हुई है। ग्राम सामाजिक व्यवस्था म नट कजर (यू० पी० और बिहार म) और बागडी तथा बरगुण्डा (मध्यप्रदश म) इसके उदाहरण हैं। नट बहुधा गावो के किनारे पर रहत हैं पत्थर की वस्तुए (मुख्यतया चक्की सिल और बट्टा) बनाते है, शहद निकालत हे शिकार करत हे सिरकी के पाल बनाकर बचते है और पचायतो मे सगठित रहत है। किसी कुएँ बाग या मदिर क किनार बैठकर, दूर स ब्राह्मण से सत्यनारायण की कथा सुन लेते हैं और अपने विशिष्ट दवो देवताओ को भी पूजते हैं। उनके यहा दहेज नही वधू धन की प्रथा है। स्त्रिया म परदा नही है। कलाबाजी दिखाकर या नाच गाकर नट गाववालो का मनोरजन भी करते है और जहा उन्हे सुविधा मिलती ह व खेती भी करते हैं। वे गाव वाला पर निभर करत है किन्तु गाववाल उनसे डरते है और दूर रहते हैं। उनकी अपनी अलग बोली भी ह। नट एक अन्तर्विवाही समूह है। इसप्रकार नट जाति की श्रेणी म भी आत है और गणजाति की भी। नट एक गणजातीय गणजाति है।

जाति व्यवस्था म गणजातीय जातिया की सख्या काफी ज्यादा है जिनकी विशेषताएँ इसप्रकार हैं। गणजातीय जातिया के नाम वण नामावलि स भिन्न होत हैं। एक स्तर की अनेक उपजातियो का एक ही पूवज स अपनी उत्पत्ति मानना उनके सामाजिक सगठन मे टाटेमा का पाया जाना आदिवासी देवताओ म विश्वास बना रहना और ब्राह्मण क स्थान पर जाति के पुरोहित का उपयोग करना गण जातीय जातिया की मुख्य विशषताएँ है। गणजातीय जातियो का प्रसार एक बडे क्षेत्र मे रहता है। गणजातियो मे अन्तर्विवाहिकी के नियम उतने कठोर नही होत हैं। उच्च जातियो की अपेक्षा गणजातीय जातियो मे, नारिया पर्दा प्रथा का कम अनुसरण करती हैं, आर्थिक जीवन म अधिक सक्रिय भाग लेती है और उनम विधवा पुनर्विवाह तथा तलाक मान्य होता है। वेबर के अनुसार जहा एक ही पेशे को करन वाला कई जातिया म अलग अलग गणजातीय नाम पाये जाते हैं वहा गणजातीय जाति अधिक स्पष्टता स पहचानी जा सकती है। उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रो म पायी जान वाली अन्तर्विवाही चमार जातिया इसका उदाहरण हैं। अहीर सुनार और अहीर लोहार जसे अन्तर्विवाही समूह इसका दूसरा उदाहरण हैं। ऐसी गणजातियाँ सभवत आर्थिक विशेषीकरण और सम्पत्ति तथा शिल्पकारिता से उत्पन्न होन वाली विभदीकरण के कारण उत्पन्न हुई हैं। आर्थिक विशषीकरण एक ही गणजाति म कई शिल्पी समूहो को जन्म द सकता है या एक ही गणजाति का एक शिल्पी समूह का।

उच्चतम स्तर को जाति और गणजाति भारतीय सरचना के दो विभेदी किनारे हैं जिनके बीच म विभिन्न सामाजिक प्रतिष्ठाओ वाले अनक अन्तर्विवाही समूह आते हैं जो या तो आदिवासी स्तर से जाति सरचना म आये है या अन्तर्विवाह के नियमो को भग करन या जाति क नियमों की अवहेलना करने या कोई नया पेशा अपनाने के कारण उच्च स्तर से अध पतित हुई हैं। गणजाति का जाति मे रूपान्तरण

अत्यन्त प्राचीन काल से चलता चला आ रहा है। इस रूपान्तरण की कई संक्रमण-कालीन अवस्थाएँ मिलती हैं। कहीं गणजाति में हिन्दुत्व और जाति-संरचना की विशेषताओं का सात्मीकरण मिश्रित रूप में मिलता है और कहीं जब किसी गणजाति का कोई भाग ग्राम-व्यवस्था में कई जातियों का आश्रित-अभ्यागत समूह बन जाती है, तो वह जाति का रूप ले लेता है और कहीं प्रचार के द्वारा गणजाति के सदस्यों को हिन्दुत्व में धीरे धीरे सम्मिलित किया जाता है। हिन्दुत्व का प्रचार हिन्दू सम्राटों, ब्राह्मणों और गणजाति के अभिजात वर्ग द्वारा हुआ है।

मजूमदार और मदन[1] ने रिसले के आधार पर गणजाति के जाति में रूपान्तरित होने की पाँच प्रक्रियाओं का वर्णन किया है। पहली, गणजाति के समृद्ध और अभिजात वर्ग के लोग साधारणतया राजपूत जाति का रूप ग्रहण करके, ब्राह्मण द्वारा अपनी वंशावली बनवा कर हिन्दुत्व का ग्रहण करते हैं और हिन्दुत्व के प्रसार का माध्यम बन जाते हैं। प्राचीन भारत में, शासक हिन्दूकरण का मुख्य प्रेरक रहा है। इतिहास में इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं। गंगा के मैदान के पूर्वी भाग से लेकर दक्षिण में कुमारी अन्तरीप तक, राजाओं ने ब्राह्मणों को जागीर देकर अपने यहाँ आमन्त्रित किया ताकि उनकी सहायता से वे अपने राज्य का हिन्दू मान्यताओं के अनुसार संगठन कर सकें और वे ब्राह्मणों की सहायता से, अपने को वैध शासक (Legitimate Ruler) घोषित कर सकें[2]। अठारहवीं शताब्दी में शिवाजी का क्षत्रिय घोषित किया जाना और उनके द्वारा हिन्दू राज्य की स्थापना का प्रयास इसका एक उदाहरण है। दूसरी, गणजाति के सदस्यों का किसी हिन्दू पंथ या सम्प्रदाय में सम्मिलित होकर और अपना आदिवासी नाम त्याग कर एक हिन्दू जाति का रूप ग्रहण करना। तीसरी, किसी एक गणजाति या किसी एक गणजाति के एक बड़े समूह का हिन्दुत्व के विचारों और प्रथाओं को अपनाकर, एक जाति नाम ग्रहण करना। चौथी, बिना आदिवासी नाम का त्याग किये हुए, किसी एक गणजाति या उसके एक बड़े भाग का हिन्दुत्व को स्वीकार करना। पाँचवीं, किसी गणजाति के एक समृद्ध व्यक्ति का किसी जातिविशेष और एक गोत्र की सदस्यता ग्रहण करके, उस जाति में विवाह करना और उसके उदाहरण का अनुसरण करते हुए गणजाति के अन्य सदस्यों द्वारा वैसा ही करके गणजाति में जाति की स्थापना करना।

जहाँ आदिवासी और हिन्दू सम्पर्क में आये हैं, वहाँ आदिवासी, हिन्दू प्रथाओं, रूपों, विश्वासों, देवी देवताओं और त्योहारों को अपनाकर, हिन्दूकरण की ओर अग्रसर हुए हैं। एक ओर, गणजातियाँ स्वयं हिन्दुत्व की ओर अग्रसर हुई हैं यद्यपि हिन्दूकरण के द्वारा जाति का रूप लेने पर, गणजाति को अनेक सामाजिक निर्योग्य-

---

1 मजूमदार एण्ड मदन वही पृष्ठ 243-44

2 वेबर, मैक्स दि रिलीजन आफ इण्डिया पृष्ठ 23

ताओं का सामना करना पड़ा है। यही नहीं उन्हें मांसाभक्षण और मदिरासेवन जैसी अनेक अपनी प्रथाओं को छोड़ना पड़ा है। दूसरी ओर हिन्दू सम्राट, गणजातियों को पराजित करके, उन्हें हिन्दुत्व के प्रभाव में लाये हैं। उनका ध्यान सम्भवतः राजनैतिक सत्ता के द्वारा राजस्व बढ़ाने का स्वार्थ रहा होगा। तीसरी ओर, गणजाति के शासकों ने ब्राह्मणों की सहायता से राजपूत बनने की कोशिश की और वे उसमें सफल भी हुए। चौथी ओर ब्राह्मणों ने जहां, एक ओर गणजातियों के अभिजात वर्ग को राजपूत बनाने में सहायता दी वहां, दूसरी ओर, हिन्दू जाति व्यवस्था में स्थान पाने के लिए लालायित गणजातियों का, जाति का रूप ग्रहण करने में नेतृत्व किया। हिन्दू समाज में यदि एक ओर, उच्चस्तर के ब्राह्मण रहे हैं तो, दूसरी ओर निम्न स्तर के ब्राह्मण जो निम्नस्तर की जातियों के पुरोहित रहे हैं। वेबर का मत है कि आर्थिक स्वार्थ तथा अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा का वर्चस्व बनाये रखने के लिए ब्राह्मणों ने गणजातियों का नेतृत्व किया। आज भी जो निम्न स्तर की जाति अपना सामाजिक स्तर उठाने के लिए लालायित है वह ब्राह्मणों की सेवाएँ प्राप्त करने का प्रयास करती है और ऐसे ब्राह्मण सदा उपलब्ध भी रहते हैं। इसी सन्दर्भ में दूसरा विचारणीय तथ्य यह है कि भारत के सभी धार्मिक सुधारवादी आन्दोलनों ने वेदों से प्रेरणा ली है सभी ने जाति का विरोध किया है और वर्ण का प्रतिपादन किया है और जनवाद तथा बुद्धवाद को छोड़कर लगभग सभी ब्राह्मणों के चलाये हुए हैं तथा जातिविरोधी होकर भी वे जाति की सात्मीकरण की शक्ति के शिकार हो गए। जैनों में जाति प्रथा इसका प्रमाण है।

ब्राह्मणों ने हिन्दुत्व का प्रसार दो रूपों में किया है। एक ओर उन्होंने आदिवासियों को अपनी सेवायें अर्पित कीं, उन्हें हिन्दू विश्वास और प्रथाओं से अवगत करा कर उनमें तथा हिन्दुत्व में सांस्कृतिक समीपता को बढ़ावा दिया और प्रत्येक गणजातीय समूह को पौराणिक प्रमाणों के आधार पर वर्ण जाति का रूप करार दिया। ब्राह्मणों ने इस विचारधारा का प्रचार किया कि प्रत्येक गणजाति पहले ही से जाति है और उसके प्रमाण उन्होंने पुराणों और महाभारत में ढूंढ निकाले। यदि किसी गणजाति या जाति का स्तर निम्न भी था तो उन्होंने यह कह कर कि अमुक समूह मूलतः क्षत्रिय था और वैदिक कर्मकाण्ड भूलने के कारण उसका अधःपतन हुआ है, उन्होंने उसमें आत्मविश्वास भी बंधाया और भावी प्रगति की आशा भी क्योंकि जिसका अधःपतन वैदिक कर्मकाण्ड और ज्ञान की अवहेलना के कारण हुआ है वह उनको अपनाकर पुनः अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को उठा सकता है। चवर पुराण में चमारों को मूलतः चवरवंशी क्षत्रिय सिद्ध करना इस प्रक्रिया का एक उदाहरण है। दूसरी ओर, सुधारवादी आन्दोलनों के द्वारा ब्राह्मण ने जाति की भर्त्सना की, कर्मानुसार वर्ण को श्रेष्ठ माना और वैदिक परम्परा का इस ढंग से निर्वचन किया कि वह व्यापक रूप से लागू की जा सके। दयानन्द द्वारा हिन्दू के स्थान पर आर्य शब्द का

प्रयोग करना, आर्य को अधिक श्रेष्ठ करना और, ईसाई तथा इस्लाम के समक्ष, आर्य-धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना इस प्रक्रिया का आधुनिकतम ऐतिहासिक प्रमाण है। इस प्रकार के आन्दोलनों से जो हिन्दुत्व के निम्न स्तर पर आ चुके थे, उन्हें एक नया उत्साह मिला और जो हिन्दुत्व की सीमा में थे हिन्दुत्व में आकर एक उच्च स्थान पाने के लिए प्रेरित हुए। मध्यकालीन भारत के भक्ति आन्दोलनों के माध्यम से अनेक गणजातीय जातियाँ हिन्दुत्व में उच्च स्थान पाने में सफल हुई हैं।

सुधारकों ने आन्दोलनों ने जाति का विरोध किया है किन्तु वस्तुतः वे जाति के ही प्रसार में सहायक हुए हैं। प्रत्येक सुधारवादी आन्दोलन में कई जातियों के लोग आकृष्ट हुए किन्तु उनमें से प्रत्येक जाति के लोग अपनी ही जाति विरोधी विचारों के कारण, एक अलग विशिष्ट समूह बन गए। उधर जैसा कि लिंगायत सम्प्रदाय का हाल हुआ है सुधारवादी सम्प्रदाय ही कालान्तर में एक जाति बन गया। चूँकि सुधारवादी आन्दोलन में सभी स्तर की जाति के लोग आते हैं इस कारण जैसा जैनों सिक्खों लिंगायतों ब्रह्मसमाजियों और आर्यसमाजियों में हुआ सुधारवादी सम्प्रदाय जाति से मुक्त नहीं हो पाता है और सुधारवादी सम्प्रदाय में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति को नहीं छोड़ पाता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक सुधारवादी सम्प्रदाय में अन्तर्विवाही जाति समूह उत्पन्न हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, आर्यसमाजी ब्राह्मण आर्यसमाजी चमार में नहीं मिल पाता है। क्योंकि उस मिलन से न तो चमार की निश्चित सामाजिक प्रतिष्ठा रह पाती है और न ब्राह्मण की। आर्यसमाजी चमार चमारों में एक विशिष्ट समूह बन जाते हैं और आर्यसमाजी ब्राह्मण ब्राह्मणों में। सिक्ख आट सिक्ख खत्री इत्यादि कालान्तर में अलग अलग जातियाँ बन जाती हैं। जाति से बहिष्कृत व्यक्ति, जाति से बहिष्कृत होता है न कि हिन्दुत्व से और पुनः जाति में वापस आ सकता है। जाति का सुधुधिकृत रूप वर्ण है जिसमें उन्हें सन्ताप मिला है जो जाति विरोधी रहे हैं। इस प्रकार जाति एक अव्यवस्थित संस्था रही है और उसके द्वारा हिन्दुत्व का प्रसार होता है। जाति के द्वारा विभिन्न समूहों को समाज में उच्च स्थान मिलता रहा है और अपनी इसी विशेषता के कारण जाति इतनी शक्तिशाली रही है कि इस्लाम और ईसाइयत भी इसके प्रभाव से न बच सके।

बिहार में पालामऊ तथा उत्तरप्रदेश में मिर्जापुर के खरवार जनेऊ धारण करते हैं और उच्चवर्णी होने का दावा करते हैं। दीनाजपुर, रंगपुर, जलपाइगुड़ी और कूचबिहार के पालिया क्षत्रियवंशी होने का दावा करते हैं और अपने को राजवंशी कहते हैं। गोंड अपने को राजपूत मानते हैं। भील शिव की पूजा करते हैं। लगभग सभी गणजातियों में सुधारवादी आन्दोलन चले हैं जिनमें एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया गया है और मांस मदिरा के छोड़ने पर जोर दिया गया है। वर्तमान समय में निम्न स्तर की जातियों में यह आन्दोलन काफी व्यापक है। लखनऊ के चमारों

ने स त रविदास को देवतुल्य मान लिया है, उनके नाम पर एक मंदिर की स्थापना भी की है लेकिन उसमे विष्णु की मूर्ति को उच्चतम आसन प्राप्त है। सबसे बडी बात तो यह है कि इस बात पर संघर्ष भी हुआ कि रविदास की मूर्ति के साथ विष्णु की मूर्ति रक्खी जाय या नहीं, और अन्त में बहुमत इसी पक्ष म रहा कि रविदास के साथ विष्णु की मूर्ति रक्खी जाय और उसे उच्चतर आसन दिया जाय। इन विकासो का ब्राह्मणो की चालाकी मात्र नहो कहा जा सकता है और न इसे ब्राह्मणो का प्रसार। वास्तविकता तो यह है कि जहा हिन्दुत्व एक विकासशील सचयी सास्कृतिक प्रक्रिया रहा है वहाँ साथ ही साथ गणजाति और हिन्दुत्व की सीमा म स्थित गणजातीय जातिया हिन्दुत्व म स्थान क लिए प्रेरित रही हैं। ब्राह्मण तो इसक एक माध्यम मात्र रहे हैं। ब्राह्मणो ने इस प्रक्रिया को सुयुक्तिकृत किया है और उन्होने इस प्रयास मे, पौराणिक कथाओ के आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि गणजाति और गणजातीय जाति दोनो पहले ही स हिन्दुत्व का अग हैं और उन्हें हिन्दुत्व म स्थान मिल सकता है बशर्ते कि व ब्राह्मणवादी कर्मचार को अपना लें। जो प्रेरणा स्रोत पहले ही स विद्यमान हैं ब्राह्मण उसकी पूर्ति का एक माध्यम रहे है।

तब प्रश्न उठता है कि गणजाति के जाति मे रूपान्तरित होने के प्रेरक कहा हैं? वेबर के मत म सामाजिक तथा राजनैतिक प्रभुता सम्पन्न वर्गों क अधिकारो को एक सुनिश्चित वैधता प्रदान करने मे, प्रभुता सम्पन्न वर्गों म और पुरोहिताई के बीच सधि एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रमेय है। भारत म विशेषत हिन्दूकालीन भारत म ब्राह्मण पुरोहितो के रूप म इसी सधि के एक माध्यम रहे है। हिन्दुत्व ने जब एक सुनिश्चित धर्म का रूप ले लिया तब ब्राह्मणों के माध्यम से, शासक वर्ग के अधिकारो को धार्मिक वैधता मिला। इसीकारण हिन्दू और आदिवासी शासको ने ब्राह्मणो क माध्यम स, हिन्दूकरण के प्रसार के लिए प्रयत्न किया। किन्तु इसका दूसरा पक्ष भी है। ब्राह्मणो के माध्यम स, हिन्दुत्व विभिन्न गणजातीय समूहो की सामाजिक प्रतिष्ठाओ आर्थिक भूमिकाओ तथा स्वार्थों की वैधता (Legitimation) का कारण भी बना। जाति पचायत के अन्तर्गत सगठित और ग्राम आर्थिक व्यवस्था म एक विशेष आर्थिक भूमिका निभाते हुए जाति, वस्तुत एक ऐसे अन्तर्विवाही, और विस्तृत सम्बन्धी-समूह (Extended Kingroup) के रूप म विकसित हुई, जिसका मूल रूप ट्रेड यूनियन का सा रहा है। जब गणजाति अपने क्षेत्र और अपनी आर्थिक आत्मनिर्भरता का त्याग कर जाति या गणजातीय जाति क रूप मे, हिन्दुत्व मे प्रविष्ट करती है तो जहाँ उसे बहिष्कृत जातियो की निर्योग्यताओ का शिकार होना पडता है, वहा, एक पेशे पर एकाधिकार तथा एक स्तर विशेष की सामाजिक प्रतिष्ठा मिलने क कारण, उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा और उसके आर्थिक एकाधिकार को धार्मिक वैधता भी मिलता है। यजमानी प्रथा, जिसके द्वारा हर जाति क लोगो को अपने अपने पेशे क अनुसार कुल निश्चित परिवारो की सेवा और उसके बदले मे

आर्थिक लाभ लेने का अधिकार मिलता है से विभिन्न समूहो के आर्थिक स्वार्थ और भी वैधिक तथा सुरक्षित हो जाते हैं। शिल्पी समूहो को इसप्रकार की वधता से, और भी सुरक्षा मिली। इसप्रकार हिन्दुत्व म निहित आत्मीकरण की क्षमता का कारण ब्राह्मण नही वरन हिन्दुत्व द्वारा सामाजिक प्रतिष्ठा और उसम सम्बन्धित सम्भव आर्थिक लाभो का मिलने वाली धार्मिक वैधता (Religious Legitimation) है।

जाति और गणजाति दोनो जन्म पर आधारित समूह हैं। गणजाति आत्म निभर है पर जाति नही। जाति जन्म पर आधारित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली का एक अग है। गणजाति के जाति मे रूपान्तरित होने का अथ है गणजाति का जन्म पर आधारित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली मे, एक स्तर मिलना और, आर्थिक आत्म निभरता के स्थान पर अन्तर्निभरता और उसके साथ साथ आर्थिक विशेषाधिकारो का मिलना। इस रूपान्तरण मे, गणजाति की केवल एक विशेषता लुप्त होती है और वह है उसकी सामाजिक आर्थिक आत्मनिभरता। गणजाति जन्मजात की सदस्यता अन्तर्वैवाहिकी तथा पचायती सगठन ज्यो के त्यो बने रहते है और साथ ही साथ, उसके सामाजिक अस्तित्व को एक मान्यता प्राप्त धम के आधार पर वैधता भी मिलती है। अत, गणजाति का जाति म रूपान्तरण, गणजाति का केवल आशिक रूपान्तरण है। जाति सरचना के माध्यम से गणजाति को मिलने वाली प्रतिष्ठा वैध और जन्मजात है किन्तु अपरिवतनीय नहीं है क्योकि हिन्दुत्व मे सिद्धान्तत सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार जन्म नही, कम रहा है। कम को ब्राह्मणवादी कमाचार और मान्यताओ पर आधारित करके जब इस बात पर जोर दिया गया कि कम के आधार पर वर्ण-परिवतन करके सामाजिक प्रतिष्ठा की उच्चोच्च परम्परा मे उच्चतर स्तर प्राप्त किया जा सकता है तो एक ओर, हिन्दूकृत गणजातियो के लिए उत्तरोत्तर हिन्दूकरण के लिए माग प्रशस्त किया गया और, दूसरी ओर, जाति-व्यवस्था के निम्न स्तर पर आने वाली गणजातियो को भावी उद्धार की आशा प्रदान की गई। पारलौकिकता और मुक्ति की धारणाओ से यह आशा और भी बलवती हुई। जाति प्रथा के विरुद्ध उठने वाले सुधारवादी आन्दोलनो ने जब वण सिद्धान्त का आश्रय लिया तब गणजातियो के उत्तरोत्तर हिन्दूकरण और सामाजिक गतिशीलता का माग और भी प्रशस्त हुआ और दबी हुई जातियो के लिए हिन्दुत्व म उद्धार की जो आशा निहित थी, वह और भी बलवती हुई।

गणजातियो के लिए, हिन्दुत्व एक दोहरी प्रेरक शक्ति रहा है और, अपनी इसी दोहरी प्रेरणा शक्ति के कारण, हिन्दुत्व एक दुर्निवार सामाजिक सास्कृतिक शक्ति रहा है। जैनवाद और बुद्धवाद जैसे उद्धारवादी धम ऐसी शक्ति न दे पाये। इसकारण आदिवासियो म फलने के बावजूद भी वे हिन्दुत्व म आत्मसात हो गये। इस्लाम और ईसाइयत भी वह शक्ति न दे सके। आदिवासी आज भी हिन्दुत्व की ओर उतना ही आकृष्ट है। आज आदिवासी हिन्दू महाजन, हिन्दू व्यापारी, हिन्दू

ने सत रविदास का देवतुल्य मान लिया है, उनके नाम पर एक मन्दिर की स्थापना भी की है लेकिन उसम विष्णु की मूर्ति को उच्चतम आसन प्राप्त है। सबसे बडी बात ता यह है कि इस बात पर सघष भी हुआ कि रविदास की मूर्ति के साथ विष्णु की मर्ति रक्खी जाय या नहीं और अन्त मे बहुमत इसी पक्ष म रहा कि रविदास के साथ विष्णु की मूर्ति रक्खी जाय और उसे उच्चतर आसन दिया जाय। इन विकासो का ब्राह्मणो की चालाकी मात्र नही कहा जा सकता है और न इसे ब्राह्मणो का प्रसार। वास्तविकता ता यह है कि जहा हिन्दुत्व एक विकासशील सचयी सास्कृतिक प्रक्रिया रहा है, वहा साथ ही साथ गणजाति और हिन्दुत्व की सीमा म स्थित गणजातीय जातिया हिन्दुत्व म स्थान क लिए प्रेरित रही हैं। ब्राह्मण तो इसके एक माध्यम मात्र रहे है। ब्राह्मणो ने इस प्रक्रिया को सुयुक्तियुक्त किया है और उन्होने इस प्रयास म, पौराणिक कथाओ के आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि गणजाति और गणजातीय जाति दाना पहले ही स हिन्दुत्व का अग हैं और उन्हें हिन्दुत्व म स्थान मिल सकता है बशर्ते कि वे ब्राह्मणवादी कल्पाचार को अपना लें। जा प्रेरणा स्रोत पहले ही स विद्यमान हैं ब्राह्मण उसकी पूर्ति का एक माध्यम रहे हैं।

तब प्रश्न उठता है कि गणजाति के जाति मे रूपान्तरित होने के प्रेरक कहाँ हैं? वेबर क मत मे सामाजिक तथा राजनतिक प्रभुता सम्पन्न वर्गो के अधिकारो को एक सुनिश्चित वधता प्रदान करने म प्रभुता सम्पन्न वर्गों म और पुरोहिताई के बीच सन्धि एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रमेय है। भारत मे विशेषत हिन्दूकालीन भारत म ब्राह्मण पुरोहितो के रूप म इसी सन्धि में एक माध्यम रहे हैं। हिन्दुत्व ने जब एक सुनिश्चित धर्म का रूप ले लिया तब ब्राह्मणो के माध्यम स शासक वग के अधिकारो का धार्मिक वधता मिली। इसीकारण हिन्दू और आदिवासी नायको ने, ब्राह्मणो क माध्यम स, हिन्दूकरण के प्रसार के लिए प्रयत्न किया। किन्तु इसका दूसरा पक्ष भी है। ब्राह्मणो के माध्यम से हिन्दुत्व विभिन्न गणजातीय समूहो की सामाजिक प्रतिष्ठाओ, आर्थिक भूमिकाओ तथा स्वार्थों की वधता (Legitimation) का कारण भी बना। जाति पचायत के अन्तगत सगठित और ग्राम-आर्थिक व्यवस्था म एक विशेष आर्थिक भूमिका निभाते हुए जाति, वस्तुत, एक ऐसे अन्तर्विवाही, और विस्तृत सम्बन्धी समूह (Extended Kingroup) के रूप म विकसित हुई, जिसका मूल रूप ट्रेड यूनियन का सा रहा है। जब गणजाति अपने क्षेत्र और अपनी आर्थिक आत्मनिर्भरता को त्याग कर, जाति या गणजातीय जाति के रूप मे हिन्दुत्व मे प्रविष्ट करती है ता जहा उसे बहिष्कृत जातियो की निर्योग्यताओ का शिकार होना पडता है वहा, एक पेशे पर एकाधिकार तथा एक स्तर विशेष की सामाजिक प्रतिष्ठा मिलने के कारण, उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा और उसके आर्थिक एकाधिकार को धार्मिक वधता भी मिलता है। यजमानी प्रथा, जिसके द्वारा हर जाति के लागो को अपने अपने पेशे क अनुसार कुछ निश्चित परिवारो की सेवा और उसके बदले में

आर्थिक लाभ लेने का अधिकार मिलता है से विभिन्न समूहों ने आर्थिक स्वार्थ और भी अधिक तथा सुरक्षित हो जाते हैं। शिल्पी समूहों को, इसप्रकार की वैधता से, और भी सुरक्षा मिली। इसप्रकार, हिंदुत्व में निहित सात्मीकरण की क्षमता का कारण ब्राह्मण नहीं, वरन हिंदुत्व द्वारा सामाजिक प्रतिष्ठा और उससे सम्बन्धित सम्भव आर्थिक लाभों को मिलने वाली धार्मिक वैधता (Religious Legitimation) है।

जाति और गणजाति दोनों जन्म पर आधारित समूह हैं। गणजाति आत्मनिर्भर है पर जाति नहीं। जाति जन्म पर आधारित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली का एक अंग है। गणजाति के जाति में रूपान्तरित होने का अर्थ है गणजाति का जन्म पर आधारित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली में, एक स्तर मिलना और आर्थिक आत्मनिर्भरता के स्थान पर, अन्तर्निर्भरता और उसके साथ-साथ आर्थिक विशेषाधिकारों का मिलना। इस रूपान्तरण में गणजाति की केवल एक विशेषता लुप्त होती है और वह है उसकी सामाजिक आर्थिक आत्मनिर्भरता। गणजाति जन्मजात की सदस्यता अन्तर्विवाहिकी तथा पंचायती संगठन ज्यों के त्यों बने रहते हैं और, साथ ही साथ, उसके सामाजिक अस्तित्व को एक मान्यता प्राप्त धर्म के आधार पर, वैधता भी मिलती है। अतः, गणजाति का जाति में रूपान्तरण गणजाति का केवल आंशिक रूपान्तरण है। जाति संरचना के माध्यम से, गणजाति को मिलने वाली प्रतिष्ठा वैध और जन्मजात है किन्तु अपरिवर्तनीय नहीं है क्योंकि हिंदुत्व में सिद्धान्ततः सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार जन्म नहीं, कर्म रहा है। कर्म को ब्राह्मणवादी कर्मकाण्ड और मान्यताओं पर आधारित करके, जब इस बात पर जोर दिया गया कि कर्म के आधार पर वर्ण-परिवर्तन करके सामाजिक प्रतिष्ठा की उच्चोच्च परम्परा में उच्चतर स्तर प्राप्त किया जा सकता है तो एक ओर हिंदूकृत गणजातियों के लिए उत्तरोत्तर हिंदूकरण के लिए मार्ग प्रशस्त किया गया और, दूसरी ओर, जाति व्यवस्था के निम्न स्तर पर आने वाली गणजातियों को भावी उद्धार की आशा प्रदान की गई। पारलौकिकता और मुक्ति की धारणाओं से यह आशा और भी बलवती हुई। जाति प्रथा के विरुद्ध उठने वाले सुधारवादी आन्दोलनों ने जब वर्ण सिद्धान्त का आश्रय लिया तब गणजातियों के उत्तरोत्तर हिंदूकरण और सामाजिक गतिशीलता का मार्ग और भी प्रशस्त हुआ और दबी हुई जातियों के लिए हिंदुत्व में उद्धार की जो आशा निहित थी, वह और भी बलवती हुई।

गणजातियों के लिए, हिंदुत्व एक दोहरी प्रेरक शक्ति रहा है और, अपनी इसी दोहरी प्रेरणा शक्ति के कारण, हिंदुत्व एक दुर्निवार सामाजिक सांस्कृतिक शक्ति रहा है। जैनवाद और बुद्धवाद जैसे उद्धारवादी धर्म ऐसी शक्ति न दे पाये। इसप्रकार आदिवासियों में फैलने के बावजूद भी वे हिन्दुत्व में आत्मसात हो गये। इस्लाम और इसाइयत भी वह शक्ति न दे सके। आदिवासी आज भी हिंदुत्व की ओर उतना ही आकृष्ट है। आज आदिवासी हिंदू महाजन, हिंदू व्यापारी, हिंदू

सरकारी अफसर और हिन्दू ठेकेदार का विरोधी है, हिन्दुत्व का नहीं। उसके इस विरोध का कारण व नई आर्थिक परिस्थितियां हैं जो अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से, भारत में उत्पन्न हुई है और जिनका आगे वर्णन किया जायेगा। यहां ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि गणजातियों को जाति के रूप में आत्मसात करके, हिन्दुत्व का प्रसरण हुआ है। वास्तव में, यदि देखा जाय तो वर्ण और गणजाति भारतीय सामाजिक संगठन के दो अलग अलग सिद्धांत हैं। पहला हिन्दुत्व का प्रतीक है और दूसरा आदिवासीत्व का। जाति उन दोनों के बीच का प्रमेय है। जाति वर्ण सिद्धांत के आधार पर हिन्दूकृत गणजातियों के सामाजिक वर्गीकरण का प्रयास और माध्यम है। जाति की उत्पत्ति गणजाति की पृष्ठभूमि से हुई है। जाति वस्तुत, हिन्दूकृत आदिवासीत्व है और यही कारण है कि हिन्दुत्व में जाति का विरोध होता रहा है और वर्ण का प्रतिपादन[1]।

जाति उत्पत्ति के सिद्धांतों में इस तथ्य का प्रतिपादन मिलता है। जाति को ब्राह्मण मस्तिष्क की उपज मानना अवास्तविक है। हटन ने जाति के खान पान के नियमों के पीछे उन जादुई और माना सम्बन्धी विचारों को माना है जो गणजातीय संगठन की विशेषताएँ हैं। यहां कुलान का हिन्दूकृत रूप जान पड़ता है। कुलान-संगठन के सम्बन्धी सिद्धांत (The Principle of Kinship) का जाति में विस्तृत रूप मिलता है। अन्तर्विवाहिकी के आधार पर, जाति और गणजाति में अन्तर करना कठिन है। विजितों से पराजितों का लड़की न देने की प्रवृत्ति सर्वत्र पाई गई है। अभिजात वर्ग की लड़की अभिजात वर्ग को ही जाती है। आर्यों और आदिवासियों के वर्णभेद से अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों का संगठन हुआ। अनुलोम विवाह से जन्मजात अधिकार को प्रोत्साहन मिला। वेबर के अनुसार सर्वचेतनवादी (Animistic) विश्वासों के प्रभाव में, सामाजिक प्रतिष्ठा विशेषतया सत्ता-अधिकार और पौराहित्य पद उसे मिलता है जिसके अधिकार में जादुई करिश्मा (Magical Charishma) होता है। किन्तु भारत में शिल्पी-कला, कुलान करिश्मा का रूप लेकर अन्ततोगत्वा वंशानुगत हो गई। कृषि पर आधारित आर्थिक व्यवस्था, प्रौद्योगिकी तथा नगरीकरण का निम्न स्तर, धातुओं की कमी, ग्राम सामाजिक आर्थिक व्यवस्था, प्रजातीय भिन्नताएं गणजातीय व्यवस्था गणजातियों की ओर निरन्तर उन्मुख पौरोहित्यवादिता और कुलान करिश्मा इसप्रकार जाति के विकास के केन्द्र-

---

1 अंग्रेजी राज की स्थापना के पहले जाति और गणजाति का विभेद ही नहीं था। अन्तर्विवाही होने के कारण गणजाति, वस्तुत जाति थी। गणजाति शब्द अंग्रेजी भाषा के 'ट्राइब' शब्द का एक गढ़ा हुआ पर्याय है। संस्कृत और पाली में ट्राइब का पर्याय नहीं मिलेगा। जाति और गणजाति का अन्तर अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से किया जाने लगा है।

बिंदु बन। इसी केन्द्र बिंदु के माध्यम से गणजाति को जाति में रूपान्तरित होने की प्रेरणा मिली। कृषिवादी आर्थिक व्यवस्था और सामन्तवादी सामाजिक-राजनैतिक संगठन, इस केन्द्र बिंदु के मुख्य घटक हैं। व्यापारी वर्ग साख प्रणाली (Credit System) उद्योगों और सामन्तवादी व्यवस्था के बावजूद भी, भारत में, पूंजीवाद का विकास नहीं हुआ। भारत में पूंजीवाद पश्चिम से आया है। गणजाति का जाति में रूपान्तरण उस सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में अधिक होता रहा है जो पूंजीवादी नहीं है। पूंजीवाद ने नये प्रेरकों और गन्तव्यों को जन्म दिया है। आज गणजाति का गन्तव्य जाति में ही नहीं है। गणजाति का जाति में रूपान्तरण गण-जाति का विघटन और विशृंखलन नहीं, वरन गणजाति का एक बड़े समाज में अधिक सुनिश्चित एकीकरण है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि गणजाति का स्वाभाविक गन्तव्य जाति में ही रहा है। यह रूपान्तरण हर दशा में असुविधा-हीन भी नहीं रहा है। इस रूपान्तरण का अर्थ रहा है आदिवासी का हिन्दुत्व और आदिवासीत्व के दोहरे संसार में प्रवेश करना जिसके कारण आदिवासी में, संस्कृति-संघर्ष में उत्पन्न मानसिक दशा और उदासीनता भी उत्पन्न हुई है। भारत की एक बड़ी जनसंख्या में भाग्यवादिता की भावना की उत्पत्ति भी यहीं से मानी जा सकती है। गणजाति का जाति में रूपान्तरण इस भावना से प्रेरित रहा है कि हिन्दुत्व, आदिवासीत्व की अपेक्षा अधिक समादृत और वांछनीय है। इसका परिणाम यह हुआ है कि स्वयं आदिवासी ने आदिवासीत्व को हेय दृष्टिकोण से देखा है और, समय-समय पर, ऐसी प्रथाओं को अपनाया है जो आदिवासी संस्कृति-संकुल में कभी-कभी फिट नहीं हो पाती हैं। यह इसी प्रभाव का परिणाम है कि हाल में आदिवासियों में बाल विवाह का प्रचार बढ़ा है, जो आदिवासी संस्कृति-संकुल में फिट नहीं है। फिर भी गणजाति का जाति में रूपान्तरण आर्थिक लाभों से प्रेरित रहा है और, इसी कारण, इस प्रक्रिया में व्यवधान और समस्याएँ तभी आईं जब भारत पर, अंग्रेजी राज के माध्यम से पूंजीवादी योरोपीय सभ्यता का प्रभाव पड़ा।

३

आदिवासीत्व और इस्लाम

इस्लाम का भारत के आदिवासियों पर क्या प्रभाव पड़ा, या भारत में इस्लाम आदिवासी संस्कृति में किस प्रकार और कहाँ तक प्रभावित हुआ है यह प्रश्न भारतीय समाज और संस्कृति के इतिहासकारों की नजर में ओझल ही रहा है। सम्भवतः, इसका कारण यह है कि भारत के राष्ट्रीय जीवन में हिन्दू मुस्लिम समस्या

सरकारी अफसर और हिंदू ठेकेदार का विरोधी है हिंदुत्व का नहीं। उसके इस विरोध का कारण वे नई आर्थिक परिस्थितियां हैं जो अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से भारत में उत्पन्न हुई हैं और जिनका आगे वर्णन किया जायेगा। यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि गणजातियों को जाति के रूप में आत्मसात करके, हिंदुत्व का प्रसरण हुआ है। वास्तव में यदि देखा जाय तो वर्ण और गणजाति भारतीय सामाजिक संगठन के दो अलग अलग सिद्धान्त हैं। पहला हिंदुत्व का प्रतीक है और दूसरा आदिवासीत्व का। जाति उन दोनों में बीच का प्रश्रय है। जाति, वर्ण सिद्धान्त के आधार पर हिंदूकृत गणजातियों के सामाजिक वर्गीकरण का प्रयास और माध्यम है। जाति की उत्पत्ति गणजाति की पृष्ठभूमि से हुई है। जाति, वस्तुत, हिंदूकृत आदिवासीत्व है और यही कारण है कि हिंदुत्व में जाति का विरोध होता रहा है और वर्ण का प्रतिपादन[1]।

जाति उत्पत्ति के सिद्धान्तों में इस तथ्य का प्रतिपादन मिलता है। जाति को ब्राह्मण मस्तिष्क की उपज मानना अवास्तविक है। हटन ने जाति के खान पान के नियमों के पीछे उन जादुई और माना सम्बन्धी विचारों को माना है जो गणजातीय संगठन की विशेषताएँ हैं। ग्राम क्लान का हिंदूकृत रूप जान पड़ता है। क्लान-संगठन के सम्बन्धी सिद्धान्त (The Principle of Kinship) का जाति में विस्तृत रूप मिलता है। अन्तर्विवाहिकी के आधार पर, जाति और गणजाति में अन्तर करना कठिन है। विजितों में पराजितों को लड़की न देने की प्रवृत्ति सर्वत्र पाई गई है। अभिजात वर्ग की लड़की अभिजात वर्ग को ही जाती है। आर्यों और आदिवासियों के वर्णभेद से, अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों का संगठन हुआ। अनुलोम विवाह से जन्मजात अधिकार को प्रोत्साहन मिला। वेबर के अनुसार सर्वचेतनवादी (Animistic) विश्वासों के प्रभाव में सामाजिक प्रतिष्ठा विशेषतया सत्ता-अधिकार और पौरोहित्य पद उसे मिलता है जिसके अधिकार में जादुई करिश्मा (Magical Charishma) होता है। किन्तु भारत में शिल्पी-कला, क्लान करिश्मा का रूप लेकर अन्ततोगत्वा वंशानुगत हो गई। कृषि पर आधारित आर्थिक व्यवस्था प्रौद्योगिकी तथा शहरीकरण का निम्न स्तर धातुओं की कमी, ग्राम सामाजिक आर्थिक व्यवस्था, प्रजातीय भिन्नताएं गणजातीय व्यवस्था, गणजातियों की ओर निरंतर उन्मुख पौरोहित्यजातिता और क्लान करिश्मा, इसप्रकार, जाति के विकास के केन्द्र-

1 अंग्रेजी राज की स्थापना के पहले जाति और गणजाति का विभेद हो नहीं था। अन्तर्विवाही होने के कारण गणजाति, वस्तुत, जाति थी। गणजाति शब्द अंग्रेजी भाषा के ट्राइब शब्द का एक गढ़ा हुआ पर्याय है। संस्कृत और पाली में ट्राइब का पर्याय नहीं मिलेगा। जाति और गणजाति का अन्तर अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से किया जाने लगा है।

बिन्दु बने। इसी केन्द्र बिन्दु के माध्यम से गणजाति को जाति में रूपान्तरित होने की प्रेरणा मिली। कृषिवादी आर्थिक व्यवस्था और सामन्तवादी सामाजिक-राजनैतिक संगठन, इस केन्द्र बिन्दु के मुख्य घटक हैं। व्यापारी वर्ग, साख प्रणाली (Credit System) उद्योगों और सामन्तवादी व्यवस्था के बावजूद भी, भारत में पूंजीवाद का विकास नहीं हुआ। भारत में पूंजीवाद पश्चिम से आया है। गणजाति का जाति में रूपान्तरण उस सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में अधिक होता रहा है जो पूंजीवादी नहीं है। पूंजीवाद ने नये प्रेरकों और गन्तव्यों का जन्म दिया है। आज गणजाति का गन्तव्य जाति में ही नहीं है। गणजाति का जाति में रूपान्तरण, गणजाति का विघटन और विच्छेदन नहीं वरन गणजाति का एक बड़े समाज में अधिक सुनिश्चित एकीकरण है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि गणजाति का स्वाभाविक गन्तव्य जाति में हो रहा है। यह रूपान्तरण हर दशा में असुविधा-हीन भी नहीं रहा है। इस रूपान्तरण का अर्थ रहा है आदिवासी का हिन्दुत्व और आदिवासीत्व के दोहरे संसार में प्रवेश करना जिसके कारण, आदिवासी में, संस्कृति-संघर्ष से उत्पन्न मानसिक दशा और उदासीनता भी उत्पन्न हुई है। भारत की एक बड़ी जनसंख्या में भाग्यवादिता की भावना की उत्पत्ति भी यहीं से मानी जा सकती है। गणजाति का जाति में रूपान्तरण इस भावना से प्रेरित रहा है कि हिन्दुत्व, आदिवासीत्व की अपेक्षा अधिक सम्मानित और वांछनीय है। इसका परिणाम यह हुआ है कि स्वयं आदिवासी ने आदिवासीत्व को हेय दृष्टिकोण से देखा है और, समय-समय पर, ऐसी प्रथाओं को अपनाया है जो आदिवासी संस्कृति-संकुल में कभी कभी फिट नहीं हो पाती हैं। यह इसी प्रभाव का परिणाम है कि हाल में आदिवासियों में बाल विवाह का प्रचार बढ़ा है जो आदिवासी संस्कृति संकुल में फिट नहीं है। फिर भी, गणजाति का जाति में, रूपान्तरण आर्थिक लाभों से प्रेरित रहा है और इसी कारण, इस प्रक्रिया में व्यवधान और समस्याएँ तभी आई जब भारत पर अंग्रेजी राज के माध्यम से पूंजीवादी योरोपीय सभ्यता का प्रभाव पड़ा।

आदिवासीत्व और इस्लाम ३

इस्लाम का भारत के आदिवासियों पर क्या प्रभाव पड़ा, या भारत में इस्लाम आदिवासी संस्कृति से किस प्रकार और कहाँ तक सम्मिलित हुआ है, यह प्रश्न भारतीय समाज और संस्कृति के इतिहासकारों की नज़र से ओझल ही रहा है। सम्भवतः, इसका कारण यह है कि भारत के राष्ट्रीय जीवन में हिन्दू-मुस्लिम समस्या

जितनी गम्भीर रही है, आदिवासी मुस्लिम या आदिवासी हिन्दू समस्या उतनी गम्भीर नहीं रही है। यह नहीं कहा जा सकता कि आदिवासी मुस्लिम प्रभाव से मुक्त रहे हैं। इस्लाम का केन्द्रीकरण उन्हीं इलाकों (उत्तरी पूर्वी उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, आसाम, मद्रास और केरल) में हुआ है जहाँ आदिवासी जनसंख्या की अपेक्षाकृत अधिकता रही है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि जिस प्रकार गणजाति के हिन्दुत्व में जाने के कारण, हिन्दुत्व में जाति की जड़ें जमीं उसी प्रकार इस्लाम में जाति का समावेश गणजातियों के इस्लाम में प्रवेश करने से हुआ है। इस्लाम में जादुई विश्वास और प्रथाओं का समावेश गणजातियों के ही माध्यम से आया हुआ माना जा सकता है। बहराइच में गाजी मियाँ की मजार के पीछे एक छोटा सा कुण्ड है जहाँ कोढ़ी इस विश्वास से नहाते हैं कि वहाँ नहाने से कोढ़ दूर हो जाता है। वहीं एक अन्य मजार पर लकड़ी के दंड चढ़ाये जाते हैं। ये प्रथाएँ गैर इस्लामी हैं और इनका स्रोत निश्चय ही आदिवासी संस्कृति है या तान्त्रिक बुद्धवाद जो स्वयं बुद्धवाद में आदिवासी प्रथाओं से आया जान पड़ता है। इस्लाम को मानने वाले अनेक ऐसे अन्तर्विवाही समूह हैं जो इस्लाम में गणजातीय जातियों (Tribe Castes) के रूप में हैं। उत्तर भारत की अनेक अपराधी गणजातियाँ अपने को चित्तौड़गढ़ के राणा प्रताप का वंशज मानती हैं। उनके उपाख्यानों में यह वर्णन मिलता है कि उनका सामाजिक अधःपतन उस समय से हुआ जब अलाउद्दीन खिलजी के हाथों चित्तौड़ का पतन हुआ था और, इस्लाम से बचने के लिए उन्होंने यायावर और डाकेजनी तथा लूटपाट का जीवन अपना लिया। बी० एस० भार्गव के अनुसार, मुस्लिम अपराधी गणजातियाँ वे समूह हैं जिनको जबरदस्ती मुसलमान बनाया गया होगा और, इसकारण, सामाजिक जीवन के विशृंखलित होने के कारण उन्होंने अपराधी कृत्यों को जीविका के साधन के रूप में अपना लिया होगा[1]।

४

आदिवासीत्व और योरोपीय सभ्यता

उन्नीसवीं शताब्दी के आते आते गणजाति के जाति में रूपान्तरित होने की प्रक्रिया में व्यवधान भी आये और उसे एक नयी अभिव्यक्ति भी मिली—वह अभिव्यक्ति जिसमें, आदिवासी पुनर्नयन (Tribal Revivalism) की भावना के साथ साथ प्रतिक्रिया का भी अभ्युदय हुआ। पहले हिन्दू आदिवासी सम्पर्क में सामाजिक प्रतिष्ठा का विधायन (Legitimization) हिन्दू धर्म द्वारा होता था। इसकारण

---

1. मजूमदार, डी० एन० रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पृष्ठ 363

गणजातियाँ स्वभावतया हिन्दुत्व की ओर आकर्षित होती थी। वर्ण कर्म और मुक्ति की धारणाओं से गणजातियों को आशा भी मिलती थी और निरन्तर हिन्दूकरण की ओर बढने की प्रेरणा भी। इस्लाम के आगमन से मध्यकालीन भारत में, गणजातियों को इस्लाम की ओर आकर्षित होने की प्रेरणा मिली यद्यपि इस्लाम की अपेक्षा, हिन्दुत्व के प्रति आकर्षित और प्रेरित होने की मात्रा अधिक रही। मध्यकालीन भारत में सगुण तथा निर्गुण भक्तिमार्गी तथा सुधारवादी पंथों के द्वारा, आदिवासियों के उत्तरोत्तर हिन्दूकरण की ऐतिहासिक प्रक्रिया चलती रही है। गणजाति के हिन्दूकरण और इस्लामीकरण से गणजातियों को हिंदू और मुस्लिम जातियों का रूप मिलता रहा है। गणजाति का हिन्दूकरण और इस्लामीकरण निर्बाध होता रहा है क्योंकि इससे गणजाति के आर्थिक जीवन का उन्मूलन नहीं रूपान्तरण होता रहा है और गणजाति की सामाजिक प्रतिष्ठा भी परिस्थिति के अनुसार उठती रही है। गणजाति का सामाजिक अस्तित्व भी बना रहा है क्योंकि इस रूपान्तरण में गणजाति ने वहीं तक हिन्दुत्व या इस्लाम के आधारभूत तत्वों को अपनाया है, जहाँ तक आवश्यक था। हिन्दुत्व या इस्लाम में जाने से गणजाति का आर्थिक उन्मूलन नहीं हुआ है बल्कि उसे एक नया आर्थिक सन्तुलन मिला है या करना पड़ा है क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी के पहले तक हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों का आर्थिक आधार कृषि आर्थिक व्यवस्था थी। कृषि आर्थिक व्यवस्था में हिन्दू या मुस्लिम जाति में रूपान्तरित होने से गणजाति की एकता भी बनी रही। किन्तु अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से, योरोपीय सभ्यता और पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के प्रभावों से, भारत की गणजातियों का बाह्य संसार से सम्पर्क तेजी से बढ़ा और गणजाति में वैसी ही विशृंखलक और एकताकारी शक्तियों का एक साथ प्रादुर्भाव हुआ जैसी जाति में हुई हैं। एक ओर यदि भारतीय राष्ट्रवादिता का विकास हुआ तो दूसरी ओर, हिन्दू इस्लामी और आदिवासी राष्ट्रीयताओं का, जिसके कारण हिन्दुत्व और आदिवासीत्व में वैसे ही तनाव उत्पन्न हुआ जैसे कि इस्लाम और हिन्दुत्व में। आदिवासियों में बढ़ते हुए इसाइयत के प्रसार से इस तनाव को और भी प्रोत्साहन मिला क्योंकि, सामाजिक प्रतिष्ठा की धार्मिक वैधता (Religious Legitimization) के लिए इसाइयत ने, हिन्दुत्व और इस्लाम से अलग एक अन्य आधार प्रदान किया।

भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के साथ साथ और बाद में भी आदिवासी योरोपियनों के सम्पर्क में वहीं अधिक आये जहाँ योरोप के इसाई मिशनरियों ने मिशनों और चर्चों की स्थापना करके, एक ओर, इसाई धर्म का प्रचार आरम्भ किया और दूसरी ओर, अस्पताल और स्कूल खोल कर, समाज सेवा का कार्य प्रारम्भ किया। किन्तु, यह सम्पर्क उतना व्यापक और प्रभावकारी नहीं रहा है जितना कि योरोपीय सभ्यता और पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के संघात से उत्पन्न परिवर्तनकारी

शक्तियो का प्रभाव रहा है। सोलहवी शताब्दी के बाद से जब, ससार मे योरोपियनो के प्रभुत्व का प्रसार होना शुरू हुआ तो ससार के सभी भागो म योरोपीय सभ्यता और आदिवासी सस्कृतियो का सम्पर्क हुआ। इस सम्पर्क म योरोपीय सस्कृति की प्रभुता रही है। इसकारण, जैसा अन्य स्थानो म हुआ भारत म भी, योरोपीय सस्कृति का सघात आदिवासी सस्कृति पर पडा। इस सघात ने, जैसे अन्य स्थानो (अमरीका, अफ्रीका, न्यूजीलैड आस्ट्रेलिया और प्रशान्त महासागर के द्वीपो) से आदिवासी-सस्कृति म विश्रृखलन की प्रक्रियाओ को जन्म दिया, वसे ही भारत म भी हुआ। अन्य स्थानो की भाति, भारत म भी, आदिवासियो के सास्कृतिक स्वास्थ्य का इससे धक्का पहुचा। आदिवासी सस्कृति पर सभ्यता के सघातिक परिणामो का विश्लेषण करने के पहले, इस सस्कृति सम्पर्क के माध्यमो पर विचार करना आवश्यक है।

सभ्यता सस्कृति सम्पर्क के माध्यम

यातायात के साधनो (मुख्यत रेल तार और सडक) के उत्तरोत्तर विकसित होने से जो आदिवासी क्षेत्र पहले दुर्गम थे वे सुगम हो गये। बढते हुए औद्योगीकरण से खनिज पदार्थों की माँग बढी। आदिवासी क्षेत्र उस प्रदेश म आते हैं जहा कोयला, लोहा और अभ्रक जसे खनिज पदार्थ पाए जाते हैं। अत आदिवासी क्षेत्रो मे कोयले अभ्रक और लोहे की खानें खुलने लगी। जमशेदपुर राउरकेला और भिलाई जसे स्थानो म कारखाने खुलने लगे जहा आदिवासी, श्रमिको के रूप म काम करने लगे और बाहरी लोगो तथा सभ्यता के प्रभावो मे आने लगे। आसाम के चाय के बाग आदिवासी श्रमिको के द्वारा ही बने हैं जिसप्रकार भारत म गावो के किसान, मजदूरो के रूप म औद्योगिक शहरो म जाकर वहा के कारखानो म काम करने के लिए विवश हुए उसीप्रकार, आदिवासी भी, श्रमिको के रूप म, औद्योगिक केन्द्रो म जाने के लिए विवश हुए क्योकि पूँजीवादी सघात से जैसे गावो की आर्थिक व्यवस्था के आधार हिले, वसे ही, पूँजीवादी सघात से आदिवासी आर्थिक व्यवस्था के आधार हिले। मेलो और यदा-कदा लगने वाली हाटो के स्थान पर नियमित बाजार का प्रभाव बढा, जहा गर-आदिवासी व्यापारियो विसातियो और पेटेन्ट दवाइयाँ बेचने वालो ने उन वस्तुओ का व्यापार प्रारम्भ किया जिनका उत्पादन आदिवासी क्षेत्रो म नही होता है। साबुन, तल, सस्ते किस्म के सेट नकली जेवर, बच्चो के खिलौने रंग मिलो के बने कपडे इत्यादि, इस श्रेणी की वस्तुओ म आते हैं। सरकार ने न्यायाधीश और प्रशासक नियुक्त किए जो नई सभ्यता के माध्यम बने। जगलो की सुरक्षित रखने की नीति के कारण जगल विभाग के कर्मचारियो का सगठन किया गया। जगलो के नियोजित सवर्धन और उपभोग की नीति के कारण एक ओर जगलो को लगाने के लिए श्रमिको को रखा गया तो, दूसरी ओर आवश्यकतानुसार जगलो को काटने के लिए ठेकेदारो को नियुक्त किया गया। इसप्रकार जगलो के कर्मचारी, ठेकेदार और उनके श्रमिक जो अधिकतर बाहर से जाते थे एक नये सस्कृति सम्पर्क के माध्यम

बने। जगल की अनेक उपजें जैसे लाख और बीडी बनाने के पत्तो को नयी आर्थिक महत्ता मिली और उनको एकत्र करने के लिए ठेकेदारी प्रथा का सगठन किया गया। स्कूलो का सगठन करके वहा शिक्षको को नियुक्त किया गया। एक ओर, मिशनो ने सेवा-कार्य को अपनाया तो दूसरी ओर भारतीय नेताओ की प्रेरणा से आदिमजाति सेवक सघ जैसी समाजसेवी सस्थाओ का सगठन हुआ जिससे सभ्यता-सस्कृति-सम्पर्क और भी बढा। इसी बीच मे, मानवशास्त्रियो ने अपने अध्ययन प्रारम्भ किए जिससे आदिवासी अपने प्रति सजग हुए और भारतीयो तथा सरकार का ध्यान उनकी समस्याओ की ओर गया। इसी बीच मे, सम्भवत, भारत मे चलने वाली सास्कृतिक पुनरुत्थानवादिता के विचार के प्रभाव के कारण लोक सस्कृति के अध्ययन की ओर लोगो का ध्यान गया और लोक गीतो के अनेक सकलनकर्ता आदिवासियो को बाह्य सम्पर्क मे लाने के माध्यम बने। अनेक चित्रकारो ने नए डिजाइनो की प्रेरणा के लिए आदिवासी क्षेत्रो का भ्रमण किया। द्वितीय महायुद्ध के दिनो मे, जब इम्फाल और कोहिमा के क्षेत्र युद्ध के मोर्चे बने और राची पूर्वी कमान का हेडक्वार्टर बना तो यह सम्पर्क और भी बढा। अधिकतर प्रान्तो की ग्रीष्मकालीन राजधानिया आदिवासी क्षेत्रो मे ही हैं। स्वतन्त्रता के बाद, जब बालिग मताधिकार के आधार पर चुनाव हुए, सहकारी आन्दोलन का प्रसार हुआ, बडे पैमाने पर शिक्षा सगठित हुई, उच्च-शिक्षा के लिए आदिवासियो को वजीफे दिए जाने लगे और आदिवासी क्षेत्रो मे सामुदायिक विकास योजनाओं का सगठन हुआ तो सस्कृति सम्पर्क पहले की अपेक्षा और भी बढा। सन उन्नीस सौ बासठ मे, जब चीन ने भारत की उत्तरी सीमा पर आक्रमण किया तो उस प्रदेश के आदिवासियो का सम्पर्क और भी बढा। आज उस प्रदेश के विकास पर जो अधिक ध्यान दिया जा रहा है उससे वहा के आदिवासियो का सभ्यता के सम्पर्क मे आना निश्चित ही है।

आदिवासियो को सभ्यता के सम्पर्क मे लाने वाली शक्तिया अनेक आर्थिक, अनेक औद्योगिक प्रौद्योगिकीय, अनेक प्रशासकीय अनेक राजनतिक और अनेक मानवतावादी है। जिसप्रकार, सारा भारत और भारतीय सस्कृति, सभ्यता के प्रभाव मे आये उसीप्रकार भारतीय सस्कृति का एक अग होने के कारण आदिवासी सस्कृति भी योरोपीय सभ्यता के प्रभाव मे आई। इस प्रभाव से आदिवासी सामाजिक-सास्कृतिक जीवन की पृथकता (Isolation) समाप्त हो गयी और उत्तरोत्तर समाप्त होती जा रही है। भारत के दो करोड आदिवासी आज भारत राष्ट्र का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं जिनकी अवहेलना नही की जा सकती है। उन्हे समुचित समान्त विकास के स्तर पर लाना सविधान का आदेश है जिसे पूरा करना राज्य का आवश्यक कर्तव्य है। इस उद्देश्य को पूरा करने का मतलब है आदिवासियो को अधिकाधिक सभ्यता के सम्पर्क मे लाना, जिस समय पर नही छोडा जा सकता है। हिन्दू-

सभ्यता सघात के परिणाम

परम्परा मे, हिन्दू और आदिवासी में विभेद नही किया गया है और न हिन्दू तथा आदिवासी म ऐसा विभेद मिलता ही है। हिन्दू के दृष्टिकोण से, प्रत्येक गणजाति एक जाति है और उसकी सस्कृति उसका स्वधम । किन्तु सभ्यता के सघात ने इस हिन्दू आदिवासी-नर नय को शिथिल कर दिया है। आज आदिवासी भारत राष्ट्र के अल्पसख्यक नागरिक हो गये हैं जो, अपनी राजनैतिक सत्ता को बनाये रखने के लिये, अपने तथा अपनी सस्कृति की विशिष्टता के प्रति जागरूक है। आज सामाजिक प्रतिष्ठा की वैधता धम म नहीं, राजनैतिक अधिकार, आर्थिक स्तर, शिक्षा और सरकारी नौकरी से होती है। इसप्रकार, हिन्दू-आदिवासी नर तय शिथिल पड गया है। धमनिरपेक्षता ने इस शिथिलता को और भी बढावा दिया है। यद्यपि, योरोपीय सभ्यता के प्रभाव मे, हिन्दुत्व की इतनी व्यापक परिभाषा करने का प्रयास किया गया है कि आदिवासी भी उसम आ जाय। किन्तु इस बात मे, आदिवासियो ने हिन्दुत्व का अर्द्धस्वागत ही किया है।

योरोपीय सभ्यता के सघात से जैसे सारे भारत की कृषि आर्थिक व्यवस्था का धीरे धीरे औद्योगिक-पूजीवादी व्यवस्था मे रूपान्तरण हो रहा है, वैसे ही गणजाति आर्थिक व्यवस्था का भी रूपान्तरण हो रहा है। किन्तु इस रूपान्तरण मे, अग्रेजी राज के निहित स्वार्थों के कारण, एक ओर, जमींदारो के रूप मे सामन्तवादी भी उत्पन्न हुआ और, दूसरी ओर व्यापारी मध्यजनो के वग का जो आदिवासी आर्थिक व्यवस्था म शोषण का माध्यम बन गया। उधर जगलो के सुरक्षित रखने की नीति से आदिवासियो से जगलों का आर्थिक लाभ छिन गया। जगम कृषि पर रोक लगा दी गई या उस एक क्षेत्र मे सीमित कर दिया गया जिसके कारण, जगम कृषि उतनी उवरक न रही जितनी कि वह पहले हुआ करती थी। जगम कृषि म खाद जलाए हुए पेडो से मिलती थी। पेडो की कमी होने के कारण, खाद की मात्रा कम होने लगी जिसका असर पदावार पर पडा। आदिवासी उद्योग धन्धे वस ही क्षीण हुए जैसे कि सारे भारत के हुए। आदिवासी भी मिल की बनी वस्तुओ के प्रयोग की ओर आकर्षित हुए। बदलौअल के स्थान पर, मुद्रा का प्रयोग बढने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि गणजातीय आर्थिक व्यवस्था की आत्मनिर्भरता समाप्त होने लगी और आदिवासी भारत के गरीब कृषक वग का एक अग बन गया। मुद्रा के प्रसार के कारण आदिवासी आर्थिक व्यवस्था मे व्यापारियो ठेकेदारो और सूदखोरो (सिक्खो और पठानो) का प्रवेश हुआ और वे वहा की व्यवस्था मे शोषक वग बन गए। जमींदारी प्रथा के कारण, सारी भूमि हिन्दू जमींदारो के हाथ म चली गई जिसका परिणाम हुआ उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दीनता, नराश्य असन्तोष और प्रतिक्रिया।

आदिवासियो की आर्थिक दासता का अन्दाजा डा० मजूमदार द्वारा दिए हुए एक उदाहरण स लगाया जा सकता है। एक आने का साग खरीदने या बेचने के लिये आदिवासी नारियां बीस-बीस मील तक का रास्ता तय करती हैं। छत्तीसा की

एक साप्ताहिक बाजार मे, सर्वेक्षण से यह पता चला कि फल और सब्जी बचने वाली आदिवासी नारियों की संख्या चौरासी थी जबकि उनके माल की कीमत ग्यारह रुपए से ज्यादा नही थी और खरीदने वालो की संख्या हजारो म थी। लोग कही थोडा नमक थोडी तम्बाकू और थोडा मिट्टी का तेल ही अधिक खरीद रहे थे। बाजार से दस मील दूर के एक गाव के लोगो ने जितना सामान खरीदा था उसकी लागत साढे तीन रुपए से ज्यादा नही थी जबकि उस गाव से आए हुए खरीदारो की संख्या साठ थी। कालान्तर मे अक्सर यह देखने म आता है कि आदिवासी नारिया, सुबह शाम, पडोस के शहरी स्थानो या रेलवे स्टेशन के गावो की कई मील की यात्रा सिर्फ थोडी सी सब्जी या थोडा चावल बेचकर और उसके बदले मे थोडा नमक या परिवार की आवश्यकता की अन्य छोटी मोटी चीजें लाने के लिए करती है। छवासा के बाजार म सिर्फ खरीद फरोख्त करने वाले ही नही आते हैं। वहा घूमने वाले, गप लडाने वाले और ठेरों पर शराब पीने वाले एक बडी संख्या म आते हैं जो आदिवासियो की दीनता और उनके द्वारा क्षीण होने वाले राष्ट्रीय श्रम के बेकार जाने का परिचायक है[1]।

गणजातीय आर्थिक व्यवस्था मुद्रारहित आर्थिक व्यवस्था (Moneyless Economy) से, मुद्रा पर आधारित आर्थिक व्यवस्था मे परिवर्तित हुई जिसका एक परिणाम हुआ आदिवासियो का उत्तरोत्तर शोषण और आर्थिक दीनता तथा, दूसरा गणजाति-संरचना म सामाजिक प्रतिष्ठा विभेद का अभ्युदय और गणजातीय सत्ताधिकार म परिवर्तन। मुद्रारहित आर्थिक व्यवस्था स्वभावतया समष्टिवादी होती है। उसम व्यक्तियो या परिवारो द्वारा सम्पत्ति-सचय का कम स्थान रहता है क्योकि सम्पत्ति मुद्रा मे न निहित होकर कृषि की उपज तथा जानवरो के रूप म होती है जिसे प्रत्येक परिवार के व्यक्ति अपने श्रम से उत्पन्न करते हैं। इस व्यवस्था मे प्रत्येक परिवार के सदस्यो को अपनी प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति स्वय करनी पडती है। इस व्यवस्था मे जो कुछ भी अतिरिक्त उपज होती है उसे सचित नही किया जा सकता क्योकि वह जल्दी ही क्षीण हो जाती है। इसकारण, अतिरिक्त उपज बिरादरी के भोजो म समाप्त कर दी जाती है। मौद्रिक अर्थ व्यवस्था म, मुद्रा के रूप म व्यक्ति को सम्पत्ति सचय का अधिक अवसर मिलता है यदि वह सम्पत्ति सचय के अवसर दूसरो से छीन सके। इस व्यवस्था म, अपने समुदाय के कल्याण के परम्परागत उत्तरदायित्व से भी व्यक्ति मुक्त हो जाता है। यहा सामाजिक प्रतिष्ठा जन्म पर आधारित न रह कर व्यक्ति के द्वारा अर्जित सम्पत्ति पर आधारित हो जाती है जिसके कारण व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन मिलता है।

मुद्रा अर्थ व्यवस्था के निरन्तर प्रसार तथा व्यापार सरकारी नौकरिया और

1 मजूमदार, डी० एन० रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इंडिया पृष्ठ 393 94

कारखानों में काम करके धन कमाने के बढ़ते हुए अवसरों से, आदिवासियों में उन व्यक्तियों को धन कमाने और संचय करने के अवसर मिले जो इसके योग्य थे। इसका परिणाम हुआ गणजाति की सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली (Social Status System) के आधार में परिवर्तन। पहले एक गणजाति में उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा वाले व्यक्ति होते थे और निम्न सामाजिक प्रतिष्ठा वाले भी। किन्तु यह व्यवस्था वंशानुक्रम के सिद्धान्त पर चलती थी। दूसरे, निम्न सामाजिक प्रतिष्ठा वालों के पास अपनी प्रतिष्ठा के बढ़ाने के साधन न थे और उच्च प्रतिष्ठा वालों के पास सम्पत्ति-संचय की अधिक गुंजाइश न थी। अतः सामाजिक प्रतिष्ठाओं का अन्तर आर्थिक विषमताओं पर आधारित न था। मुद्रा अर्थ व्यवस्था में गणजाति के उच्च प्रतिष्ठा वालों को सम्पत्ति संचय का अवसर मिला और निम्न प्रतिष्ठा वालों को अपने आर्थिक स्तर को बदल कर सामाजिक प्रतिष्ठा उठाने का अवसर। अंग्रेजी राज में लागू की गई विधि प्रणाली और कृषि के अतिरिक्त मिलने वाले आर्थिक साधनों ने इस परिवर्तन प्रक्रिया को और भी प्रबल किया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक गणजाति में ऐसे व्यक्तियों का अभ्युदय हुआ जिन्होंने शिक्षा के द्वारा या सरकारी नौकरियों के द्वारा या खानों, मिलों या चाय के बागों में काम करके या अन्न के स्थान पर नकद कमाने वाली फसलों को बोकर अपनी आर्थिक स्थिति को उठाकर सामाजिक प्रतिष्ठा अर्जित की। यह वह वर्ग है जो वंशानुक्रम अधिकारियों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता जा रहा है जिसके कारण अभी तक हो गणजाति में हो रहा है परम्परागत गणजातीय नेतृत्व का ह्रास हो रहा है। यह वर्ग या तो योरोपीयता की ओर उन्मुख है या हिन्दुत्व की ओर और भारत की नई सामाजिक प्रतिष्ठा व्यवस्था में समादृत स्थान पाने के लिए उन्मुख है। अतः वह आदिवासी जीवन से अलग होने के प्रयास में है। पर, साथ ही साथ उस उस स्तर पर सामाजिक मान्यता नहीं मिलती है जहाँ वह मान्यता पाने की इच्छा है। इसके परिणामस्वरूप यह वर्ग एक ओर आदिवासी जीवन से अपने को दूर भी रखना चाहता है और, दूसरी ओर, आदिवासी-जीवन को संगठित भी करना चाहता है और बदलना भी चाहता है ताकि आदिवासी का स्तर बदलने के साथ साथ उसका भी स्तर बदले। बालिग मताधिकार, सरकारी नौकरियों तथा विधानसभाओं में आदिवासियों को मिले आरक्षित स्थानों ने इस प्रक्रिया को और भी प्रखर बना दिया है।

इस विकास से कई सामाजिक परिणाम निकले हैं। पहला, गणजाति में वर्ग व्यवस्था का समावेश हो रहा है जिसके कारण, गणजाति में वर्गविभेदीकरण की *प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई है। दूसरा, उच्च वर्ग को अपनी* सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए गणजाति की प्रतिष्ठा को उठाने की आवश्यकता पड़ रही है जिसके कारण वर्ग-विभेदीकरण के साथ साथ गणजाति एकीकरण की प्रक्रिया भी चल रही है। जाति की भाँति गणजाति में भी विशृंखलन तथा एकीकरण की प्रक्रियायें साथ साथ चल

रही है। तीसरा, इन साथ-साथ चलने वाली विशृंखलन तथा एकीकरण की प्रक्रियाओं की एक अभिव्यक्ति है हिंदूकरण और योरोपीयकरण, दूसरी आदिवासी पुनरुन्नयन और तीसरी आदिवासी संघ जैसे सुधारवादी संगठनों का अभ्युदय, स्वतन्त्र नागा प्रदेश और बिहार तथा उड़ीसा के आदिवासियों द्वारा अखण्ड प्रान्त जैसी मांगों के द्वारा राजनैतिक अधिकारों की मांग। चौथा आदिवासी समाज में एक ऐसा वर्ग पैदा हो गया है जो आदिवासी है भी और नहीं भी, जो आदिवासी संस्कृति के सीमान्त में है और आदिवासी संस्कृति में सुधार की मांग कर रहा है। आज आदिवासी समाज का नेतृत्व इसी वर्ग के हाथ में है—वह वर्ग जो अंशतः आदिवासी नहीं रहा है किन्तु जो आदिवासीत्व को छोड़ भी नहीं सकता है क्योंकि उसका स्वार्थ इसी में है। परम्परागत नेतृत्व के प्रभाव के कम होने और इस वर्ग के नेतृत्व का प्रभाव बढ़ने का परिणाम यह हुआ है कि आदिवासी संस्कृति के प्रति आदिवासी के दृष्टिकोण में विरोध आ गया है जिससे जीवन के प्रति उदासीनता को प्रोत्साहन मिल रहा है।

अंग्रेजी राज के संघात से, एक ओर गणजाति प्रशासन व्यवस्था बदली। अंग्रेजों की पृथक्करण की नीति के कारण आदिवासी राष्ट्रीय जीवन के प्रवाह से अलग रहे और दूसरी ओर यह विचार धीरे धीरे पनपता गया कि आदिवासी क्षेत्रों के लिये एक अलग प्रशासन प्रणाली की आवश्यकता है। इसका परिणाम हुआ अप्रत्यक्ष प्रशासन प्रणाली (The System of Indirect Rule) जो अंग्रेजी राज्य-काल में विकसित हुआ है। इस विकास को ऐतिहासिक परिस्थितियों ने जन्म दिया है। अप्रत्यक्ष प्रशासन और आदिवासियों का पृथक्करण, अंग्रेजी नीति के दो आधार रहे हैं जिनका श्रीगणेश उस समय हुआ था जब बंगाल की राजमहल पहाड़ियों में रहने वाली गणजाति (हिल पहाड़िया) के आन्दोलन को कुचलने तथा आदिवासी नेताओं को पेंशन के रूप में घूस देकर उन्हें चुप करने के बाद, सन 1872 में अंग्रेजों ने राजमहल पहाड़ियों के आदिवासी क्षेत्र में, स्थानीय नेताओं को दीवानी तथा फौजदारी के मुकदमों का फैसला करने का अधिकार देकर, स्थानीय न्यायालयों का संगठन किया। हिल पहाड़िया गणजाति के लोगों ने, हिन्दू जमींदारों से तंग आकर, विद्रोह किया था। इसलिये उन्हें बेलगानी जमीन दी गई। एक विधानसभा का संगठन करके, उसे स्थानीय प्रशासन और न्याय व्यवस्था को संगठित करने का अधिकार दिया गया। किन्तु, स्थानीय अफसरों के भ्रष्टाचार के कारण यह प्रयोग सफल न हो सका। बाद में (1827), इस प्रदेश की गणजातियों को साधारण अदालतों के अधिकार क्षेत्र में लाकर, उन्हें अंशतः आदिवासी विधि प्रणाली और अंशतः, सामान्य भारतीय विधि प्रणाली के अन्तर्गत रक्खा गया। सन 1855 में, जब संथालों ने विद्रोह किया तो संथाल क्षेत्र के अफसरों को विशेष प्रशासनिक अधिकार देकर, संथाल क्षेत्रों का विशेष प्रशासन क्षेत्र घोषित करके उनका विशेष उत्तरदायित्व गवर्नर जनरल को दिया गया। इसप्रकार, आदिवासी क्षेत्रों को विशेष अनुसूचित

क्षेत्र मानकर और उनके लिये स्थानीय प्रथाओं के अनुसार, स्थानीय नेताओं की सहायता से प्रशासन चलाने की परम्परा का अभ्युदय हुआ, जो सन 1947 तक बनी रही। इस परम्परा में, किसी भी क्षेत्र को विशेष या अनुसूचित क्षेत्र घोषित करने का अधिकार गवनर और गवनर जनरल को था और वहां का प्रशासन सामान्य प्रशासन से अलग गवनर जनरल का विशेष उत्तरदायित्व था। इस नीति से आदिवासी पृथक्करण को प्रोत्साहन मिला। अंग्रेजों ने आदिवासियों को अन्य भारतीयों से पृथक्कृत ही नहीं किया वरन उनके लिये अलग प्रशासन नियमों और दण्ड विधान की व्यवस्था थी। अपराधी गणजातियां अधिनियम के अनुसार, अपराधी गणजातियों के अपराधियों को समान अपराध के लिये, सामान्य व्यक्ति से अधिक दंड देने का विधान किया गया था जो अब समाप्त हो गया है।

गणजातियों के अप्रत्यक्ष प्रशासन की परम्परा अंग्रेजों के पहले से चली आ रही थी। भारत के सम्राटों और राजाओं ने गणजातियों को अपनी राजनैतिक अधीनता में रखा, उनसे कर लिया किन्तु उनके सामाजिक आर्थिक जीवन को वैसा ही रहने दिया और गणजाति के आन्तरिक प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं किया। गणजाति के वंशानुक्रम नेता किसी राजा या सम्राट की अधीनता में अवश्य रहते थे किन्तु स्थानीय शासक के रूप में, वे स्वतन्त्र रहते थे। वे प्रशासन के वैतनिक एजण्ट नहीं होते थे। किन्तु अंग्रेजों ने अप्रत्यक्ष प्रशासन की जो व्यवस्था चलाई उसमें गणजाति के नेता जब अंग्रेजों की ओर से सरकारी प्रशासक नियुक्त किये गए तो वे नेता न रहकर एक विदेशी सरकार के वैतनिक एजेण्ट हो गये। उनका उत्तरदायित्व गणजाति के प्रति न रहकर सरकार के प्रति हो गया। उनका नेतृत्व गणजाति के सदस्यों की इच्छा पर न निर्भर रहकर, सरकार की इच्छा पर निर्भर रहने लगा। अपनी सत्ता जमाये रखने के लिये विदेशी सरकार ने उन्हें अधिक से अधिक सम्भव अधिकार दिये। इसका परिणाम यह हुआ कि, नयी आर्थिक प्रशासन व्यवस्था में, उन्हें वैयक्तिक स्वार्थों को समझने की प्रेरणा मिली। रिश्वत लेना, गबन करना, भ्रष्टाचार फैलाना, अपराधों के प्रमाणों को दबाना और अपने ही साथियों का शोषण करना, सरकार द्वारा नियुक्त आदिवासी अफसरों के मुख्य काम हो गये। आसाम की अप्रत्यक्ष प्रशासन प्रणाली की आलोचना करते हुए हटन ने लिखा था कि 'वंशानुक्रम मुखिया को मिलने वाली सरकारी मान्यता से शोषण और भ्रष्टाचार का फैलना स्वाभाविक है क्योंकि विद्रोह के डर से सरकार मुखिया के अधिकारों को सहन करती है और मुखिया अपने अधिकारों का निरंकुश दुरुपयोग करता है'[1]।

मजूमदार के मत में आदिवासी स्थानीय प्रशासन भ्रष्ट है लेकिन फिर भी, आदिवासियों में शुद्ध स्थानीय प्रशासन की स्थापना के पक्ष में यथेष्ट तर्क हैं पहला, आदिवासियों में स्थानीय प्रशासन की परम्परा रही है और उसे उन्होंने सुरक्षित कर

1 डी० एन० मजूमदार कृत दि मट्रिक्स आफ इण्डियन कल्चर से उद्धृत पृष्ठ 138

रखता है। दूसरा आदिवासी-नागरिक सम्पर्क के बावजूद आदिवासी संस्कृति के अनेक रूप ज्यों के त्यों हैं। तीसरा जनजाति के मुखिया अब भी वैसे ही काम कर रहे हैं जैसे कि वे नागरिकों के सम्पर्क में आने से पहले करते थे। चौथा, प्रजातन्त्र की नागरीय धारणा आदिवासियों में नहीं पाई जाती है। आदिवासी शासक तथा उनकी वृद्ध परिषद के स्थान पर जिलाधीश की नियुक्ति आदिवासी प्रशासन का स्थान नहीं ले सकती है। आदिवासी शासन प्रणाली के स्थान पर, जिलाधीश शासन प्रणाली की स्थापना वस्तुतः एक ऐसी बाह्य प्रणाली की स्थापना करना है जिसका आदिवासी जीवन में कोई स्थान नहीं है। मजूमदार आदिवासी क्षेत्रों में स्थानीय प्रशासन प्रणाली अपनाने के पक्ष में हैं क्योंकि एक ओर योरोपीय प्रशासन प्रणाली आदिवासियों के लिये विदेशी हैं और दूसरी ओर आदिवासियों में स्थानीय प्रशासन प्रणाली की परम्परायें अब भी विद्यमान हैं[1]। इसी परम्परा का

1 अधिकतर जनजातियों में जनजातीय संगठन पाया जाता है। कहीं सम्पूर्ण जनजाति का वंशानुक्रम मुखिया पाया जाता है कहीं गांव या कई गांवों से मिलकर बने क्षेत्र के वंशानुक्रम अध्यक्ष या मुखिया पाये जाते हैं जो राजनीतिक और सामाजिक सत्ता के अधिकारी होते हैं। ये अध्यक्ष या मुखिया अक्सर जनजाति के बड़ों की सलाहकार परिषद की राय से काम करते हैं। परिषद के सदस्यों को सत्ता मानो मुखिया से मिलती है या गांव के निर्माण में उनके द्वारा दिये हुए योगदान से। छोटा नागपुर में ऐसे लोगों को खूट कट्टीदार या भुइहार (जंगल साफ करने वाला) कहते हैं। हो जनजाति में प्रत्येक गांव का एक अध्यक्ष (मुण्डा) होता है जो पीर्ह अध्यक्ष (मानकी) के अधीन होता है। एक पीर्ह में बीस गांव आते हैं। प्रत्येक गांव में एक पुजारी, एक मुनीम और कई कार्यवाहक होते हैं जो गांव के अफसर समझे जाते हैं। फसल कटने पर, इन लोगों को प्रत्येक परिवार से पारिश्रमिक मिलता है। कुछ मुण्डा गांवों में ग्राम अध्यक्ष और पुजारी एक ही व्यक्ति होता है किन्तु जहां गांव बड़ा होता है, वहां पुजारी और अध्यक्ष के पद अलग अलग लोगों के पास होते हैं। संथालों में, ग्रामाध्यक्ष मांझी कहलाता है और वह परगना अध्यक्ष (परगनाइत) के अधीन होता है। एक परगने में कई गांव आते हैं। मांझी और परगनाइत दोनों मिलकर ही सारी सामाजिक व्यवस्था का नियमन करते हैं। जोग मांझी, मांझी के आदेशों को लागू करता है। गोंडों में प्रत्येक गांव का मुखिया और ग्रामवृद्ध मिलकर स्थानीय प्रशासन चलाते हैं। गोंडों में पटेल ग्रामाध्यक्ष भी होता है और धर्माध्यक्ष भी। इस प्रकार, आदिवासी समाज के भी वंशानुक्रम प्रशासक केवल प्रशासक नहीं हैं और न केवल वे राजनीतिक पदाधिकारी हैं। उनका पद सांस्कृतिक जीवन का एक अंग है—मजूमदार दि भट्रिक्स आफ इण्डियन कल्चर पृष्ठ 130-41

उपयोग आदिवासी प्रशासन में होना चाहिए न कि सरकार द्वारा नियुक्त भ्रष्ट आदिवासी एजेण्टों का। मजूमदार के तर्क का आधार यह तथ्य है कि आदिवासी प्रशासन व्यवस्था यूरोपीय व्यवस्था से भिन्न है और इस कारण आदिवासियों पर यूरोपीय व्यवस्था लादी नहीं जानी चाहिए। आदिवासी क्षेत्रों में थाना और पुलीस की स्थापना को मजूमदार महत्त्व नहीं देते हैं क्योंकि वे आदिवासियों का आदिवासियों द्वारा प्रशासन चाहते हैं। उनके तर्क का मुख्य उद्देश्य है आदिवासी जीवन को सभ्यता के विशृंखलनकारी प्रभावों से बचाना।

स्वतन्त्रता के पश्चात सारी समस्या ने एक नया रूप ले लिया है क्योंकि अब यूरोपीय बनाम आदिवासी की समस्या नहीं रही है। अब समस्या है एक ऐसी प्रशासन प्रणाली की स्थापना की जिसमें आदिवासी जीवन विशृंखलित भी न हो और उसका राष्ट्रीय प्रवाह से पृथक्करण भी न हो। संविधान में जिस प्रशासन प्रणाली का निरूपण किया गया है उसमें अंग्रेजों द्वारा स्वीकृत प्रणाली को थोड़ा बदलकर स्वीकार किया गया है। आज आदिवासी एक अलग समूह नहीं है। वे भारत के नागरिक हैं और उन्हें वही मौलिक अधिकार तथा सुविधायें प्राप्त हैं जो भारत के एक सामान्य नागरिक को प्राप्त हैं। किन्तु आदिवासी एक पिछड़ा हुआ अल्पसंख्यक वर्ग है, अतः उनके लिये विशेष प्रशासन की व्यवस्था को स्वीकार किया गया है। संविधान में यह निर्देश दिया गया है आदिवासियों और पिछड़ी जातियों के सामाजिक विकास और कल्याण की देखभाल राष्ट्रपति और राज्यपालों का विशेष उत्तरदायित्व है। इसके लिये राष्ट्रपति को राज्यपाल की सलाह से, किसी भी गणजाति और जाति को अनुसूचित घोषित करने का अधिकार दिया गया है। राष्ट्रपति को यह अनुसूचित क्षेत्र घोषित करके वहां के राज्यपाल को अधिकार भी दिया गया है कि आदिवासी कल्याण के लिये वह आदिवासी-मन्त्री को उसकी देखभाल के लिए आदेश दे और समय समय पर उसमें कल्याणकारी कार्यक्रम के विकास पर रिपोर्ट ले। पिछड़े वर्गों की जाँच करने और उनके सुधार के लिये सलाह देने के लिये, राष्ट्रपति को कमीशन नियुक्त करने का भी अधिकार है। काका कालेलकर की अध्यक्षता में ऐसा एक कमीशन (1952-53) अपनी रिपोर्ट पेश कर चुका है। राष्ट्रपति को इसके लिये एक विशेष आफिसर नियुक्त करने का अधिकार है जिसके फलस्वरूप पिछड़े वर्गों (जिसमें अनुसूचित जातियां तथा गणजातियां और क्षेत्र आते हैं) में विकास कार्य की देखभाल के लिए एक कमिश्नर की नियुक्ति की गई है।

संविधान में यह निर्देश दिया गया है कि राज्य समाज के कमजोर तबकों की शिक्षा और आर्थिक हितों का विशेष ख्याल रखेगी और सभी प्रकार के सामाजिक अन्यायों तथा शोषणों से उनकी रक्षा करेगी तथा इस दिशा में अनुसूचित जातियों और गणजातियों की दशा पर विशेष ध्यान देगी। संविधान में बिहार, मध्यप्रदेश और उड़ीसा में आदिवासी-कल्याण मन्त्रालयों के संगठन का निर्देश है क्योंकि इन

प्रदेश म आदिवासियों की सख्या ज्यादा है। आसाम के प्रशासन के लिये, अलग विधान है और, जो क्षेत्र आसाम, उडीसा बिहार और मध्यप्रदेश के बाहर पडते हैं, उनके लिये एक अलग विधान की व्यवस्था है। आसाम के आदिवासी-क्षेत्रो के प्रशासन के लिये, स्थानीय शासन क अधिकारो से युक्त, मण्डलो और परिषदो के निर्माण तथा उनम परिषदो के सगठन का विधान किया गया है। य परिषद स्थानीय मामलो मे स्वतन्त्र हैं और स्थानीय सामाजिक जीवन के नियमन का इन्हे अधिकार है। न्याय प्रशासन का भी इन्हे अधिकार है। भारतीय दण्ड सहिता म स्थानीय आवश्यकताओ के अनुसार, ये परिषदें परिवर्तन कर सकती है। ससद के अधिनियमो का अपने क्षेत्र मे लागू करने, रोकने या बदलने का इन्हे अधिकार है। नागालैण्ड आज एक अलग प्रदेश के रूप म बदल गया है।

सविधान के अनुसार, आदिवासियो को बालिग मताधिकार मिला है। भारतीय ससद और प्रदेशो की विधानसभाओ म आदिवासियो की सीटें आरक्षित हैं। सरकारी नौकरियो म भी उनकी सीटें आरक्षित हैं। सीटो के आरक्षण का विधान पहले दस साल के लिये था किन्तु बाद म, इसे अब 26 जनवरी सन 1970 तक बढा दिया गया है। अनुसूचित गणजातियो के कल्याण तथा उनको अच्छा प्रशासन प्रदान करने क लिये सविधान म यह निर्देश दिया गया है कि केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारो को अलग से अनुदान दिया करगी।

सविधान मे आदिवासी सलाहकार परिषद के सगठन का विधान है। इस परिषद का काय राज्यपाल को आदिवासी प्रशासन के मामलो म सलाह दना है। सविधान मे राज्यपाल को यह अधिकार दिया गया है कि अपने राज्य के अनुसूचित क्षेत्र मे सामान्य कानून का लागू होना रोक सकता है या उसे आवश्यकतानुसार बदल सकता है। राज्यपाल सलाहकार परिषद की सलाह मानने के लिए बाध्य नही है किन्तु उसका यह अधिकार निरकुश भी नही है। आदिवासी क्षेत्र मे शान्ति बनाये रखने के लिए या उत्तमतर प्रशासन लाने के लिए या व्यापारियो तथा सूदखोरो की गतिविधियो पर नियन्त्रण रखने के लिए या आदिवासियो की भूमि का दूसरो के हाथ मे जाने से रोकने के लिए या भूमि का बटवारा करने के लिए राज्यपाल सामान्य कानून का रोक या बदल सकता है।

भारतीय सविधान मे, इसप्रकार, जिस प्रशासन व्यवस्था की रूपरेखा रखी गई है उसके आधारभूत उद्देश्य हैं आदिवासी समाज की विशिष्टता बनाये रखना, उसे धीरे धीरे भारत के राष्ट्रीय जीवन से एकीकृत करना विघ्न डालनेवाली तथा शोषण शक्तियो को दूर करना और आदिवासी समाज के विकास तथा कल्याण के मार्ग को प्रशस्त करना। भारत का नागरिक मानते हुए भी आदिवासियो को अलग से विशिष्ट अधिकार प्रदान करना अशत भारत की सस्कृतीकरण की प्रक्रियाओ और अग्रेजो द्वारा अपनाई गई नीति के स्वाभाविक ऐतिहासिक परिणाम है।

मजूमदार के अनुसार, इसाई मिशनरियो ने आदिवासियो म इसाइयत का प्रचार करके आदिवासी सामाजिक सास्कृतिक जीवन की जटिलताओं और समस्याओ को और भी बढा दिया है। एक ओर, पूजीवादी व्यवस्था के प्रभावो से गणजाति की सामाजिक सरचना म वर्ग-विभेदीकरण बढा तो, दूसरी ओर, इसाइयत के प्रचार से गणजाति का धम के आधार पर लम्बा मक (Vertical) विभाजन हुआ और दोनो के सम्मिलित प्रभाव से सामाजिक विशृ खलन और गैर आदिवासीकरण (Detribalization)। आदिवासी गावो की जनता और गणजातिया आदिवासियो और गैर-आदिवासियो म बँट गए और उनम सम्पर्क ही नही कम हुआ वरन धार्मिक सघष भी बढा। खासी इसाइयो और गैर इसाइयो म बट गये हैं और खासी गणजाति के इन दो तबको मे बहुत ही कम सामाजिक सम्पक है। इसाई धम म प्रविष्ट सभी आदिवासियो को उच्च आर्थिक स्तर न मिल सका। इसाई धम स्वीकार करने वाले आदिवासियो को समाज म हिकारत की नजर से देखा जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि इसाई आदिवासियो को अनेक नागरिक अधिकारो (Civic Rights) स भी हाथ धोना पडता है क्योंकि आदिवासी, इसाई आदिवासी को छूत मानते है अत, इसाई होने वाले आदिवासी यातो अधिकतर मिशन की नौकरी करते हैं या फिर शहरो म चले जाते हैं। जहा इसाई आदिवासियो की सख्या अधिक है, वहा उनका प्रभुत्व रहता है, और जहा उनकी सख्या कम है वहा, अपनी ही बिरादरी की दृष्टि म हय बनने से बचने के लिए, वे शहरो म स्थानान्तरित हो जाते हैं। तमाम ओराव और मुण्डा इसाई रिक्शा चलाकर बोझा ढोकर खेतिहर मजदूरो के रूप म काम करके और छोटे मोटे शिल्पी पेशे अपनाकर जीवन बसर करते पाये गये है।

> इसाइयत का सघात

इसाइयत के प्रसार स आदिवासी समाज मे विषमता ही नही आई है वरन सस्कृतिकरण की अनेक समस्यायें उत्पन्न हो गई हैं। हिन्दुत्व म गणजाति का रूपान्तरण धीरे धीरे होता था और इस रूपान्तरण मे आदिवासी को अपने विश्वासो और प्रथाओ को सहसा बदलना नही पडता था। जाति गणजाति सतति म चलने वाली हिन्दूकरण की प्रक्रिया मे या तो सम्पूर्ण गणजाति किसी सुधारवादी आन्दोलन के माध्यम स अपना उत्तरोत्तर हिन्दूकरण करती थी, या गणजाति के नेता, हिन्दुत्व स आकृष्ट होकर अपनी तथा गणजाति की सामाजिक प्रतिष्ठा को ऊचा उठाने के लिए गणजाति म हिन्दू विश्वासो और प्रथाओ को नवोन्मेष (Innovation) के रूप मे धीरे धीरे अपनाते थे। जाति के रूप म गणजाति की विशिष्टतायें बनी रहती थी। हिन्दूकरण का मूल आधार रहा है सस्कृताइजेशन जिसम हिन्दू प्रथाओ को वही तक अपनाया गया है जहाँ तक आवश्यक है। सस्कृताइजेशन का ध्येय गणजाति की सस्कृति का आमूल चूल परिवर्तन नही रहा है और इसकारण, सस्कृताइजेशन से गणजाति का सास्कृतिक उन्मूलन नही होता था वरन्

हिन्दू समाज में गणजाति को उसकी आधारभूत विशिष्टताओं के साथ, एक निश्चित सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी। गणजाति का जाति में रूपान्तरित होने का अर्थ होता था गणजाति द्वारा अपने विश्वासों और प्रथाओं में, निगम परम्पराओं का समन्वय। हिन्दुत्व उस रूप में संगठित मिशनरीवादी धर्म नहीं रहा है जिस रूप में ईसाइयत है। इसलिए हिन्दुत्व में प्रवेश करने वाले समूहों से आरधारभूत सांस्कृतिक परिवर्तन की माँग नहीं की गई है। और फिर जाति तथा गणजाति के सांस्कृतिक आधारों में इतनी समानता रही है कि गणजाति का जाति में रूपान्तरण, अवरोध रहित होने के साथ-साथ सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली में एक स्तर ऊपर उठा हुआ कदम होता था।

ईसाइयत के संघात से इस प्रक्रिया को दूसरा रूप मिला। ईसाइयत का पहला प्रभाव यह पड़ा कि आदिवासी विशेषतः ईसाई आदिवासी अपने को आदिवासी और हिन्दू से अलग, एक विशिष्ट-समूह मानने लगे। ईसाई मिशनरियों ने व्यक्तियों का धर्म परिवर्तन कराया है, गणजातियों का नहीं जिसके कारण, आदिवासी समाज में और ईसाई आदिवासियों के मानसिक गठन में हिन्दू बनाम आदिवासी को लेकर सामाजिक-मानसिक द्वन्द्व का समावेश हुआ। ईसाई मिशनरियों ने दवाइयाँ अन्न और कपड़े पहले बाँटे, स्कूल पहले खोले और ईसाइयत का प्रचार बाद में किया। इसलिए, आदिवासी ईसाइयत की ओर आध्यात्मिकता के कारण नहीं वरन् कुछ सामाजिक लाभों की पूर्ति की प्रेरणा से आकृष्ट हुए। ईसाइयत की युक्तियुक्त बौद्धिक धर्मक्रिया और आदिवासी के आधिदैविक सम्बन्धी भावात्मक विश्वास और कर्मकाण्ड परस्पर विरोधी हैं। ईसाई आदिवासी इसी विरोध का शिकार हुआ जिसका परिणाम यह हुआ कि ईसाई-आदिवासी न तो ईसाई रहा और न आदिवासी। दूसरे धर्मों को हेय बताकर, अपने धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना मिशनरी कार्य की एक साधारण विशेषता है। इसका परिणाम यह हुआ कि ईसाई मिशनरी और ईसाई आदिवासी ने जहाँ आदिवासीत्व को हेय माना वहाँ आदिवासी ईसाइयत के प्रति शंकालु हो गया।

जहाँ गणजातियाँ और निम्नस्तर की जातियाँ काफी दिनों से साथ साथ रहती आई हैं और उनके हितों में संघर्ष नहीं रहा है, वहाँ गणजातियाँ जाति के घेरे में प्रवेश करती रही हैं। किन्तु, जहाँ आदिवासी हिन्दू जमींदारों, व्यापारियों और सूदखोरों के शोषण के शिकार रहे हैं और उन्हें बेगार करनी पड़ी है तथा आर्थिक कठिनाइयों के कारण अपनी खेती की भूमि से हाथ धोना पड़ा है और इन बाहरी लोगों के कारण आदिवासी नारियों का सतीत्व भंग होता रहा है वहाँ, ईसाइयत को एक प्रतिक्रियावादी माध्यम के रूप में अपनाया गया है। कोल विद्रोह (1932) और छोटा नागपुर के आस पास ईसाइयत का प्रसार, ऐसी ही परिस्थिति का परिणाम है। छोटा नागपुर के आस-पास गाये जाने वाले एक लोकगीत में यह भाव आता है कि 'पठानों ने आकर हमारी इज्जत और सिक्खों ने हमारी बहनों की अस्मत लूट ली।

हमारा जीवन अब निरर्थक है। हम एक ही गणजाति के हैं। आओ, हम संगठित हों और संगठित होकर हम भी मारें, लूट और नाश करें।' छोटा नागपुर के एक जर्मन मिशन की रिपोर्ट में आदिवासी भावना को इसप्रकार व्यक्त किया गया है, 'हमें प्रेतात्माओं की पूजा छोड़कर इसाई हो जाना चाहिए ताकि, पादरियों की सहायता से, हम हिंदुओं के अन्याय से बच सकें और अपनी खोई हुई खेती पुनः प्राप्त कर सकें'[1]। इसाइयत ने आदिवासियों को आध्यात्मिक प्रेरणा नहीं दी वरन प्रतिक्रियात्मक प्रेरणा दी है। इसाइयत से, आदिवासी बनाम गैर-आदिवासी के सामाजिक संघर्ष को प्रेरणा मिली है। नागा प्रदेश में और हाल के बिहार तथा उड़ीसा में दंगे इसका प्रमाण हैं।

इसाइयत के संघात ने आदिवासियों में संस्कृतीकरण की जिस प्रक्रिया को जन्म दिया है वह संस्कृताइजेशन की ओर नहीं वरन योरोपीयकरण की ओर उन्मुख रही है। योरोपीयकरण का अर्थ रहा है चर्च-संगठन में प्रविष्ट होना, चर्च पूजा पद्धति का तथा इसाई ईश्वरवाद को अपनाना, आदिवासी विश्वासों तथा कर्मकाण्ड को छोड़ना, योरोपीय वेश भूषा तथा तौर तरीका और इसाई सामाजिक संगठनों (मुख्यतया एक विवाही पितसत्तात्मक परिवार, इसाई विवाह पद्धति तथा व्यक्तिवादी सामाजिक सम्बन्धों) को अपनाना। इसाई धर्म में प्रविष्ट होने वाले आदिवासी, संस्कृतिकरण की इस प्रक्रिया में, अपने ही पर नहीं छोड़ दिये जाते हैं। इसाई मिशनरी बराबर इस प्रक्रिया को आगे बढ़ने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि आदिवासी के देशी तौर तरीको और इसाई तौर तरीकों में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। इसाइयत ने आदिवासी समाज में, वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकारों, पितसत्तात्मक परिवार और उत्तराधिकार-सम्बन्धी विचारों को प्रोत्साहित किया है। कहीं कहीं ये विचार, आदिवासी प्रथाओं के विरोध में पड़ कर, संघर्ष उत्पन्न करते हैं। खासी इसाइयों के मातसत्तात्मक परिवार संगठन में सबसे छोटी लड़की के उत्तराधिकार की वैधता को लेकर, मुकदमे चलने के विवरण मिले हैं। जो इसाई खासी हो गए हैं वे खासी परम्पराओं का नवनिर्वचन करके वह प्रतिपादित करने लगे हैं जो सम्भवतः खासी परम्पराओं में नहीं है। इसाई गाँड गातुल को हेय दृष्टि से देखने लगे हैं।

इसाई मिशनरियों ने आदिवासियों में शिक्षा का प्रसार किया, उन्हें सभ्यता से परिचित कराया, उनके लिए अस्पतालों को स्थापित किया, उनकी बोलियों का विकास करके, उन्हें भाषा का स्तर प्रदान करने का प्रयास किया और जमींदारों तथा महाजनों के शोषण से उन्हें त्राण दिलाने की कोशिश भी की। किन्तु साथ ही साथ मिशनरियों ने, आदिवासियों को इसाई बना कर, एक ऐसे सांस्कृतिक संसार में ला पटका है जो न भारतीय है, न आदिवासी और न योरोपीय। यह एक सीमान्त संसार

---

1 मजूमदार, डी० एन० रेसेस एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पृष्ठ 381-82

है जिसम सस्कृति-सघष का समावन है। कही कही, इसाइयत का बडा अस्वस्थ प्रभाव पडा है। इसाइयत के सघात क कारण आदिवासी म अपनी परम्परागत सस्कृति के प्रति विद्वेष और घणा का भाव आया है। इसाइयत स जीवन स्तर का उठान की प्रेरणा अवश्य मिली है किन्तु इसाइयत स वे आर्थिक साधन नही मिले हैं, जिनसे जीवन-स्तर को उठाया जा सके। मिशनो ने, अधिकतर भरतक्नीकी शिक्षा का ही सगठन किया है। और फिर सभी इसाई होने वाले आदिवासी मिशन के स्कूलो मे दी जाने वाली शिक्षा का उपयाग भी नही कर पाये हैं। इसाई हान वाले अधिकतर लाग मजदूर, कुली माली, खानसामा बैरा और अधिक स अधिक क्लर्क और पादरी होकर रह गये हैं। कुछ ऐसा दखन म आता है कि भारतीय इसाई या की लडकिया ता शिक्षा का उपयाग कर लती है किन्तु लडक नही कर पात हैं। इसका परिणाम यह होता है कि इसाई लडकियो की शादी एक सामाजिक समस्या बन जाती है।

जीवन स्तर को ऊचा उठाने की प्रेरणा के अनुरूप साधन न मिलने स नैराश्य, दीनता, हीनता की भावना दिखावे की प्रवत्ति और अपराधी वृत्तियो का जन्म हाता है। मजूमदार ने अपराधी गणजातिया क एक कम्प के असिस्टेन्ट सुपरिंटेंडेंट की स्थिति का वणन करके, इसाई हान वाले गरीब लागा की दीनता का वणन किया है। बड दिन की दावत म उसने मजूमदार को आमन्त्रित किया था। मजूमदार के अनुसार, खाने की मज के पाय टूटे थे उसे इटो क पाय पर खडा किया गया था और खाना आमन्त्रित लोगो के लिए काफी न था। बीच ही म खाना खत्म हा जाने म, महमानो के सामने ही पति पत्नी म अशोभन बातचीत हुई। दूसरे दिन प्रात काल उस सुपरिंटेंडेंट ने मजूमदार को बताया कि उसन उस दावत के लिए कर्जा लिया था और उसने यह भी बताया कि कैसे उसे अक्सर रूखी-सूखी रोटी खाकर गुजर करना पडता था। उसने यह भी बताया कि कैस चच जाना और दूसरो के समान कपडे पहन कर सन्तोष और ऊचे स्तर की जिन्दगी का दिखावा करके रहना उसके लिए लाजिमी था। मजूमदार के अनुसार ऐसा सघष उस व्यक्ति का ही नही वरन बहुतो का है और, सम्भवत सभ्यता के सघात का परिणाम है। छोटा नागपुर के इसाई आदिवासी बहुधा शहरो मे आ जाते हैं और वहाँ मजदूरी, कुलीगिरी, रिक्शागिरी और छोटे मोटे शिल्पी कामो को करके, जीवन निर्वाह करते हैं। लकिन साथ ही साथ व योरोपियनो की वेशभूषा की नकल करते है, प्लेटो मे तथा मेज पर खाना पसन्द करते हैं इतवार को योरोपियनो की भाति कपड पहन कर चच जाना पसन्द करत है और उन तमाम आरामदायक सभ्यता के उपकरणो को पाने की ख्वाहिश करते हैं जो उनके आर्थिक साधनो की सीमा के बाहर हैं। फलत उनमे सामाजिक अयोग्यता और दीनता की भावना आती है, जो उन्हे अपराधी कृत्यो की ओर प्रेरित करती है। एक व्यापारी एजेण्ट के अनुभव का हवाला देत हुए, मजूमदार ने यह लिखा है कि नागा प्रदेश मे अगराग (Cosmetics), पाउडर, लिपस्टिक,

साबुन और सुगंधित तेलो की माग आठ नौ गुना बढी है जबकि रबर की बनी सन्तति निरोधक वस्तुओं की माग इतनी बढ गई है कि वे बाजार भाव पर भी मिलती नही है। इन चीजो की माग इसाई खासियो म ही अधिक है क्योंकि उनमे, इसाइयत के प्रभाव से वयक्तिक स्वच्छता का स्तर बढ गया है[1]।

मानवशास्त्रियो का यह मत रहा है कि विदेशी इसाई मिशनरी के दृष्टिकोण मे आदिवासी सस्कृति के प्रति उदारता और सहानुभूति का अभाव है क्योंकि उसका उद्देश्य आदिवासी को सच्चा इसाई बनाना रहा है। इसमे मिशनरी का भी दोष नहीं है क्योकि आदिवासी को सच्चा इसाई बनाना उसका पेशा है और उसकी जीविका का आधार है। मिशनरी द्वारा की जाने वाली सेवाओ के पीछे स्वार्थ है, और स्वार्थ तथा उदारता म विरोध है। व्यापारी चाहे धर्म का हो या पार्थिव वस्तुओ का, न तो सहिष्णु रह सकता है और न उदार। यही कारण है कि मिशनरी की गतिविधियो के प्रभाव से, आदिवासी सस्कृति की शक्ति का ह्रास हुआ है और अनेक गणजातियो का सामाजिक-सास्कृतिक सन्तुलन बिगड गया है। यही कारण है कि मजूमदार, शरतचन्द्र राय, मिल्स और हट्टन जसे मानवशास्त्रियो ने आदिवासी क्षेत्रो मे काम करने वाली मिशनरियो की गतिविधि पर रोक और नियन्त्रण लगाने की माग की है।

सस्कृति सम्पर्क और समस्यायें

सम्यता के उत्तरोत्तर सघात से अनेक आदिवासी सास्कृतिक प्रथायें धीरे धीरे लुप्त हो गइ अनेक नई प्रथायें सामाजिक समस्या के रूप मे आविर्भूत हुइ और अनेक प्रचलित प्रथायें सामाजिक समस्यायें बन गइ। जहा हिन्दूकरण की प्रवत्ति है वहा सरल आदिवासी अनुष्ठानों के स्थान पर जटिल हिन्दू अनुष्ठानो को और जहा इसाइयत का प्रभाव है वहा इसाई अनुष्ठाना को अपनाया जा रहा है। कहीं कही, बाल विवाह नया आदर्श बन गया है जो आदिवासी परम्पराओ के प्रतिकूल है। युवागृह के ह्रास से आदिवासी जीवन म तनाव पदा हो रहा है। परम्परागत जादुई धार्मिक प्रथाओ पर से आदिवासियो का विश्वास उठ रहा है किन्तु उनके स्थान पर कोई नया आधार नही उत्पन्न हो रहा है। जहा विवाहपूर्व और विवाहोपरान्त परसम्बन्धो की प्रथा थी वहा इस प्रथा के दुरुपयोग के कारण आदिवासियो का नैतिक शोषण हो रहा है। जब तक ऐसे सम्बन्ध गणजाति के ही घरे तक सीमित थे तब तक ये सामाजिक समस्या न थे[2]। आज आदिवासी क्षेत्र म गर आदिवासियो के रहने के कारण, यह प्रथा वेश्यावत्ति

---

1 मजूमदार, डी० एन० दि मट्रिक्स आफ इण्डियन कल्चर पृष्ठ 136 144-45

2 बदलती हुई परिस्थितियों में एक सामाजिक सस्था किस प्रकार नतिक पतन और सामाजिक समस्या का कारण बन जाती है इसका एक उपयुक्त उदाहरण

और नतिक पतन का कारण बन रही है। इसके कारण आदिवासी प्रदेशों में गुप्त रोगों की भयंकरता भी फल रही है। वधूधन जो पहले धान्य के रूप में दिया जाता था और रक्त सम्बन्धियों के योगदान से एकत्र होता था, आज नकद दिया जाता है और प्रत्येक पिता को अपने पुत्र के लिये या स्वयं वर को अपने लिये वधू धन का प्रबन्ध करना पड़ता है। उधर वधू धन की रकम वैसे ही बढ़ गई है जैसे हिन्दुओं में दहेज की रकम बढ़ गई है। जिस व्यक्ति का सामाजिक स्तर जितना ऊंचा है वह अपनी कन्या के लिये उतना ही ज्यादा वधू धन मांगता है। इसका परिणाम यह हुआ कि बिहार में, छोटा नागपुर के आस पास की अनेक गणजातियों में, तमाम कन्यायें कुंवारी रह जाती हैं। पहले यदि कोई वर व्यक्ति वधू धन नहीं दे पाता था किन्तु यदि कन्या और उसका पिता विवाह करने पर राजी होते थे तो वह, अपनी भावी पत्नी को भगाकर या उसका अपहरण करके, विवाह कर लेता था। किन्तु आज 'भगाना (Elopement) और अपहरण (Capture), भारतीय दण्ड-संहिता के अनुसार, अपनयन (Abduction) हैं और दण्डनीय हैं। वधू धन की समस्या, एक ओर, ऋणग्रस्तता की समस्या को जन्म दे रही है और, दूसरी ओर, अविवाहिताओं की नैतिक समस्या को। पहले, जंगलों को काटकर, जगम कृषि करना एक सामान्य आदिवासी सांस्कृतिक प्रथा थी किन्तु आज वह कानूनन बन्द कर दी गई है और कानून की सीमा का उल्लंघन दण्डनीय है। आदिवासी पंचायत प्रणाली की अनेक दण्ड व्यवस्थायें, जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है, भारतीय दण्ड-संहिता के

जौनसार बावर में मिलता है। यहां स्त्रियां कई पतियों की पत्नी होती हैं। अपने पिता के घर में, उन्हें गांव के लोगों के साथ विलासी जीवन बिताने की अनुमति रहती थी। स्त्रियों को मिलने वाली यह सांस्कृतिक छूट, बहुपतित्व पर आधारित संयुक्त परिवार की पोषक थी। किन्तु, इस प्रदेश में, जब बाहर के लोगों का आना-जाना प्रारम्भ हुआ तो इस प्रथा का शोषण होने लगा क्योंकि बाहरी लोग यहां की लड़कियों को शरीर बेचने के लिये लालच देने लगे। प्रत्येक जौनसारी पुरुष जानता है कि उसकी स्त्री यदि उसकी पत्नी है तो अपने गांव में वह किसी की प्रेमिका भी है। लाखा मण्डल के आस पास से यहां की स्त्रियों के वेश्या बन कर बड़े बड़े शहरों में जाने के समाचार मिले हैं, जो सर्वथा निर्मूल नहीं हैं। वहां शोधकार्य करने वाले मेरे एक मित्र ने बताया कि बहुपतित्व की प्रथा और नैतिकता के दोहरे मापदण्ड में पली नारी के लिये घर और वेश्यालय बराबर हैं क्योंकि वह एक से अधिक पुरुषों को कामतुष्टि प्रदान करने की आदी है। शहरों की चकाचौंध, वेश्यालयों में मिलने वाला मान, अच्छे कपड़े और अच्छा खाना और कठिन खेती के परिश्रम से मुक्ति वेश्यालयों के प्रति आकर्षित होने के कारण बन जाते हैं।

अनुसार, प्रमाण ही नही, दण्डनीय हैं। नर बलि और नागाओ म दी जाने वाली मुण्डो की वलि जसी प्रथायें आज गरकानूनी बन गई हैं।

मदिरा सेवन आदिवासी संस्कृति का एक अग रहा है क्योंकि आदिवासी अपने जादुई धार्मिक अनुष्ठानो उत्सवो पर्वों और सस्कारो म मदिरा का प्रयोग करता रहा है। आदिवासी के साथ साथ, उसके देवी देवता भी मदिरा का भाग लेते हैं। विवाह की रस्मो म मदिरा भेंट करने की आदिवासियो म प्रथा रही है। वाममार्गी हिन्दू अनुष्ठानो और प्रथाओ म मदिरा का प्रयोग आदिवासियो में ही आया जान पडता है। चावल और महुए की मदिरा आदिवासी अत्यन्त प्राचीन काल से बनाते और प्रयोग करते आये हैं। अग्रेजी राज की स्थापना के बाद से सरकार ने मदिरा का उत्पादन और वितरण अपने हाथ म ले लिया ताकि सरकारी राजस्व बढ सके। अँग्रेजी सरकार ने आबकारी की जो नीति अपनाई, उसमे उत्पादन और वितरण ठेके पर दिया जाने लगा। मदिरा उत्पादन वितरण के चार प्रकार धीरे धीरे विकसित हुए हैं—एक शराब बनाने के बडे बडे कारखानो और वितरण की दुकानो का लाइसन्स देना, दूसरा, वितरण का राशन करना जैसे मद्यनिषेध के क्षेत्रो म है, तीसरा, देसी तरीके से शराब बनाने की आम छूट देना जैसा कि जौनसार बावर म है जहा हर व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार अपने खर्च भर की शराब बना लेता है और, चौथा, देसी शराब बनाने तथा बेचने की भट्टियों को कायम करना। आदिवासी क्षेत्रो के लिये चौथे प्रकार का तरीका अपनाया गया है। इसम कोई सन्देह नही कि इस प्रकार के उत्पादन और वितरण मे अन्य स्थानो की अपेक्षा आदिवासी क्षेत्रो म अपेक्षाकृत सस्ती शराब मिलती है लेकिन उसम स्पिरिट (Spirit) की मात्रा इतनी ज्यादा होती है कि वह स्वास्थ्य के लिये हानिकारक हो जाती है। आदिवासी द्वारा बनाई हुई शराब इतनी तेज नही होती थी और, इसकारण वह अधिक स्वास्थ्यवर्द्धक थी। पहले, जब आदिवासी स्वय शराब बनाता था तब, शराब का उत्पादन भी कम होता था और शराब का प्रयोग भी विशेष अवसरो पर ही होता था। किन्तु, भट्टियो के कायम हो जाने से शराब के उपभोग की मात्रा बढ गई है। बढती हुई आर्थिक दीनता से उत्पन्न निराशा के कारण शराब का बढता हुआ उपभोग आज आदिवासी की मानसिक रुग्णता का परिचायक हो गया है।

बाह्य ससार से बढते हुए सम्पर्क के कारण, अनेक स्वास्थ्य तथा आचार सम्बन्धी समस्यायें उत्पन्न हो गई हैं। अधिकतर आदिवासी क्षेत्रो म कपडे का प्रयोग अल्पतम होता था। अधिकतर आदिवासी कमर से ऊपर का बदन नगा रखते थे। इसाई मिशनरियो और अन्य लोगो ने इसे इसकारण हेय दृष्टि से देखा। अत शरीर ढकने के लिये कपडे का प्रयोग बढा। किन्तु आर्थिक साधनो की कमी के कारण, आदिवासी अधिक कपडो का प्रबन्ध न कर पाया। इसका परिणाम यह हुआ कि आदिवासी तन तो ढकने लगा मगर, कपडो की कमी के कारण, वह कपडो की

गन्दगी और उससे उत्पन्न बीमारियों का भी शिकार हुआ। आदिवासी नारी को मिली परम्परागत की सांस्कृतिक मर्यादा के शोषण से आदिवासियों में गुप्त रोगों (गर्मी और सूजाक) का प्रसार जनस्वास्थ्य का एक प्रधान समस्या बन गया है। तपेदिक जैसे संक्रामक रोगों की संख्या बढ़ गई है। नागाप्रदेश में सीढ़ीनुमा खेतों में खेती करने के प्रचार से, मलेरिया का प्रकोप बढ़ गया है क्योंकि इन खेतों में भरे रहने वाले पानी में, मच्छरों की पैदावार बढ़ती है। थारुओं में राट (Franchoma) की बीमारी का अधिकता है। खासी और गोंडों में गर्मी (Siphilis) के प्रकार की याज (Laws) नामक बीमारी का प्रवेश हो गया है। खासी प्रदेश में इस खासी की बीमारी और मारियों गोंडों में इसे मारिया बीमारी कहा जाता है। इसप्रकार, सभ्यता के सम्पर्क से आदिवासियों में नयी-नयी बीमारियाँ आ गई हैं जिनका निदान-उपचार न उनकी जड़ी बूटियों में है और न जादू-टोने में।

शहरीकरण और औद्योगीकरण ने भी आदिवासियों को प्रभावित किया है। अंग्रेजी राज में एक ओर आदिवासियों की आर्थिक दीनता बढ़ी और, दूसरी ओर शहरों तथा नये उद्योगों ने नये आर्थिक अवसर प्रदान किये। कारखाना खानों, जंगलों और चाय के बागों में श्रमिकों की माँग बढ़ी। फलतः आदिवासी, श्रमिक के रूप में शहरों और उद्योगों की ओर आकर्षित हुआ। इसप्रकार शहरीकरण तथा औद्योगीकरण ने आदिवासियों में श्रमिक वर्ग को जन्म दिया। इस वर्ग में बिहार, बंगाल और आसाम के आदिवासी ही अधिक हैं। इस वर्ग में संथाल हो, भूइयाँ और मुण्डा गणजातियों के आदिवासी हैं। जमशेदपुर के कारखाने में हो गणजाति के सदस्यों की संख्या मजदूरों की कुल संख्या का दस फीसदी है। इस वर्ग के आदिवासियों का आर्थिक स्तर अपेक्षाकृत अच्छा है किन्तु उनकी दशा ठीक नहीं है। यह वर्ग भी सूदखोरों और ठेकेदारों के शोषण का शिकार है। शहरों में रहते हुए और कारखानों में काम करते हुए इस वर्ग के आदिवासी, जुआ शराबीपन और वेश्यापन जैसे अस्वस्थ कुर्यों के शिकार होते हैं। शराब पीने और वेश्यागमन के कारण ये तमाम बीमारियों के भी शिकार होते रहते हैं। शहरों से ही ये अधकचरे राजनैतिक विचारों और नारों को ग्रहण करते हैं जिनसे छोटा नागपुर [redacted] झारखण्ड जैसे हठधर्मी आन्दोलनों को बल मिलता है।

अंग्रेजी राज्यकाल में, अधिकतर गणजातियाँ ग्रामीण सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में आकर भारत के विशाल कृषक वर्ग में मिल गई हैं। साथ ही साथ, श्रमिकों सरकारी और गैर सरकारी नौकरों के रूप में आदिवासी शहरों में भी आ बसे हैं। शिक्षा के प्रभाव ने उन्हें शहरों की ओर आकर्षित किया है। इसप्रकार आदिवासी ग्राम शहर संतति (Tribal Rural-Urban Continuum) का विकास हुआ है। आज आदिवासी ग्रामीण भी है और शहरी भी है। आदिवासी ग्राम शहर-संतति, आज, आदिवासी संस्कृति को परिवर्तन के आधार प्रदान कर रही है।

उत्तरोत्तर हिन्दूकरण, इसाईकरण, योरोपीयकरण गैर आदिवासीकरण (Detribalization) और आदिवासी पुनरुन्नयन की प्रक्रियायें, आदिवासी ग्राम शहर सतति की पष्ठभूमि म चल रही हैं। जो समूह इस सन्तति के जितना समीप है वह उतना ही अधिक परिवर्तित हो रहा है।

सस्कृति सभ्यता सम्पर्क का, आदिवासी सस्कृति पर, स्वस्थ प्रभाव नही पडा है।

आदिवासी समस्या

इससे आदिवासियो का आर्थिक सास्कृतिक उन्मूलन हुआ है। अग्रेजो राजकाल मे आदिवासियो का जो भी इसाईकरण या हिन्दूकरण हुआ है उससे उनकी सास्कृतिक आस्था को धक्का पहुचा है। शोषण के कारण उनकी दीनता बढी है और आदिवासी तौर-तरीको के प्रति उनम हीनता का भाव आया है। एक ओर ऐसे आदिवासी हैं जो आदिवासीत्व स मुह मोड रहे हैं (जिनम पढा लिखा तबका आता है) और, दूसरी ओर एक ऐसा समूह (विशाल समूह) है जो आदिवासी जीवन के प्रति उदासीन है। साथ ही साथ एक ऐसा भी समूह है जो आदिवासी पुनरुन्नयन का हामी है। सास्कृतिक उदासीनता जो हर दशा मे पाई जाती है, सास्कृतिक विश्रृखलन की परिचायक है। सास्कृतिक विश्रृखलन की प्रक्रिया अग्रेजो के आने के बाद से प्रारम्भ हुई है और, अग्रेजी राज्यकाल म यह प्रक्रिया उत्तरोत्तर बढती गई है। इसकारण आदिवासी समाज अपने आन्तरिक सघर्षों तनाओ और हलचलो का शिकार रहा है जिसकी अभिव्यक्ति पहाड़िया, सन्थाल (1855) और कोल (1932) विद्रोहो के रूप मे होती रही है। अग्रेजो की नीति आदिवासियो को पथक्करण करने की रही मिशनरियो की नीति उन्हे इसाई बनाने की हिन्दुओं ने उन्हे हिन्दुत्व म आत्मसात करने की माग रखी और राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रणताओ ने उनम राजनैतिक चेतना जगाकर उन्ह राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रवाह म लाने का प्रयास किया। आदिवासी क्षेत्रो म समाज सुधार तथा समाजसेवा करने वालों का उद्देश्य यातो राजनैतिक रहा है या धार्मिक। आदिवासियो को समझने की सबने कोशिश की किन्तु अपने अपने दष्टिकोण से। मानवशास्त्री ने आदिवासी और उसकी समस्याओ को सद्धान्तिक स्तर पर समझने का प्रयास किया, सरकारी नौकरी म अग्रेज मानवशास्त्री पथक्करण का हामी रहा स्टीफन फुक्स जैसे मिशनरी मानवशास्त्री हिन्दुत्व के बाहर जाने म आदिवासी का कल्याण देखते रहे एल्विन जैसे लोग आदिवासियो के निर्बाध आदिवासीकरण और पुनरुन्नयन के प्रतिष्ठापोषक रहे[1] और

---

1 एल्विन का यह मत रहा है कि आदिवासी सस्कृति का विश्रृखलन प्रशासकों, मिशनरियों व्यापारियों और सरकारी अफसरों के अनुदार दष्टिकोण और गतिविधियों के कारण हो रहा है। आदिवासियों को नहीं वरन प्रशासकों, मिशनरियों, व्यापारियों और अफसरों को सुधारने की आवश्यकता है। और

मजूमदार और मानवशास्त्री इस बात पर जोर देते रहे कि आदिवासी संस्कृति को संरक्षण की आवश्यकता है क्योंकि आदिवासी संस्कृति को विशृंखलता से बचाकर, ऐसे स्तर पर लाना है जहाँ वह भारतीय सांस्कृतिक संघान (Indian Federation of Cultures) का एक अंग बन सके।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान में आदिवासी समाज का विशृंखलन भी बढ़ा और उनकी समस्यायें भी अधिक प्रखर हुईं। स्वतंत्रता के बाद जब नागा प्रदेश में स्वतन्त्र नागालैंड की माँग उठी और सरकार को विद्रोही नागाओं के विरुद्ध पुलिस कार्यवाही करनी पड़ी, बिहार और उड़ीसा के आदिवासियों ने एक अलग प्रान्त (झारखण्ड प्रान्त) की माँग की और वहाँ के आदिवासियों ने हिंसात्मक असन्तोष व्यक्त किया तो लोगों का ध्यान आदिवासी समस्याओं की ओर गया। आदिवासी समाज की समस्यायें और आदिवासियों में बढ़ता हुआ असन्तोष जो अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों को प्रकट करता है उस सांस्कृतिक विघटन की प्रक्रिया का परिणाम है। जो अंग्रेजों के आने के बाद तब प्रारम्भ हुई जब पूँजीवादी शक्तियों के बढ़ते हुए प्रभावों के कारण आदिवासियों का आर्थिक उन्मूलन प्रारम्भ हुआ और उसके कारण उनकी आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ीं। व्यापारियों, ठेकेदारों, सूदखोरों और मिशनरियों के द्वारा उनका शोषण बढ़ा, उनकी राजनैतिक स्वतन्त्रता का अपहरण हुआ, उनकी राजनैतिक संस्थाओं को अवैधानिक करार दे दिया गया और उनकी विधि तथा शासन प्रणाली छिन्न भिन्न हो गई। इस विघटन प्रक्रिया के कई परिणाम निकले—एक आदिवासी में नैराश्यजन्य सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय उदासीनता की भावना का अभ्युदय, दूसरा अपनी समस्याओं के कारणों के न समझ पाने के कारण आदिवासी में, दूसरों को उत्तरदायी ठहराने तथा दूसरों के प्रति प्रतिक्रियात्मक विद्रोही भावना का अभ्युदय, तीसरा आदिवासियों में अराष्ट्रीयता की भावना का अभ्युदय, और चौथा आदिवासियों का असामाजिक कृत्यों का अपनाना और उनका सुव्यवस्थित चलाना।

आदिवासी अराष्ट्रीयता की सर्वाधिक अभिव्यक्ति नागा प्रदेश में हुई है जहाँ से स्वतन्त्र नागा प्रदेश की माँग के लिए सशस्त्र विद्रोह के विवरण प्राप्त होते हैं। आदिवासी किस प्रकार असामाजिक कृत्यों को अपनाने के लिए प्रेरित हुए हैं इसका प्रमाण भारत की अपराधी कही जाने वाली गणजातियाँ हैं जिनके सदस्यों की संख्या, अपराधी गणजाति अधिनियम के रद्द होने के पहले बाइस लाख, अड़सठ हजार

यदि हम इन्हें नहीं सुधार सकते तो हमें आदिवासियों को उनके हाल पर छोड़ देना चाहिए। आदिवासियों को सभ्यता से दूर रखने की आवश्यकता क्योंकि, सभ्यता सम्पर्क आदिवासी के लिए अनिष्टकारी है। इसप्रकार, एल्विन का दृष्टिकोण पृथक्करणवादी ही नहीं वरन रूमानी भी है।

ग्रौर तीन सौ अड़तालीस थी[1]। गरीबी के कारण, गुजरात के कुछ भागों में, भील अपराधों की ओर प्रवृत्त हुए हैं। मजूमदार के अनुसार, जीविका के साधनों की कमी, निरन्तर बढ़ती हुई दीनता और प्रशासन द्वारा भीलों की आवश्यकताओं की अवहेलना ने भीलों को डाकेजनी हत्या और लूट के लिए प्रेरित किया है। गरीबी और अपराध, भील जीवन में इतना समा गए है कि भील उस जीवन का एक आवश्यक अंग मानते हुए पौराणिक कथाओं के आधार पर उसे सुयुक्तिकृत करते है। भीलों में प्रचलित एक पौराणिक कथा के अनुसार पार्वती भील कन्या थी और भीलों ने जब भगवान शंकर से जब धन मांगा तो भगवान शंकर ने यह कहकर इन्कार कर दिया कि उन जैसे फक्कड़ के पास धन कहां ? तब भीलों ने नन्दी (भगवान शंकर के बैल) की हत्या कर दी क्योंकि उन्होंने सुन रक्खा था कि उसके कंधे में अपार रत्न राशि थी। इस जघन्य पाप के लिए अभी कि क्या है भीलों को गरीबी और आर्थिक यातना का जीवन बिताना पड़ रहा है। बांसवाड़ा (राजस्थान) के आस पास प्रचलित एक ऐसी लोक कथा के अनुसार महादेव ने भीलों को यह वरदान दिया कि उनको चोरी का पाप नहीं लगेगा। वहां का भील अपने को महादेव शंकर का चोर मानता है। यही कारण है कि भील एक ओर, अपने महाजन को अपना सारा सामान कुर्क कर लेने देगा लेकिन दूसरी ओर वह उसे लूट भी लेगा क्योंकि भीलों का विश्वास है कि किसी का कर्जा न देना पाप है किन्तु उसे लूटना पाप नहीं। तमाम अपराधी कही जाने वाली जनजातियां, इसीप्रकार अपने अपराधी कृत्यों का सुयुक्तिकरण करती हैं और असामाजिक कृत्यों को अपनी संस्कृति का अंग मानती हैं।

हिन्दू मुस्लिम और यूरोपीय सभ्यता के संघातों को सहते हुए आज आदिवासी संस्कृति उस स्तर पर आ गई है जहां वह हिन्दुत्व, इस्लाम और इसाईयत से भिन्न है किन्तु भारतीय संस्कृति और राष्ट्र का एक महत्वपूर्ण अंग है। इन संघातों के फलस्वरूप उसमें अनेक आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक व्याधियों का समावेश हो गया है जिसके कारण उसका विश्रृंखलन हो रहा है। कुछ आदिवासी समूह निराशा तथा मानसिक दृष्टिकोण के शिकार हो गए हैं कुछ (जैसे टोडा और मारवा) समाप्त हो रहे हैं कुछ हिन्दुत्व या यूरोपीयकरण की ओर बढ़ रहे हैं और कुछ पुनरुत्थान की ओर। वर्तमान भारत में दो करोड़ आदिवासी एक महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक इकाई हैं। स्वतन्त्र भारत उनकी अवहेलना नहीं कर सकता है। उनकी अवहेलना राष्ट्रीय एकता और भारतीय समाज के सर्वांग विकास में बाधक हो सकती है। यदि समाज के सारे अंग एकसाथ नहीं विकसित होते हैं तो अविकसित अंग प्रगति के मार्ग में बाधक होकर प्रगति पर उल्टा ही प्रभाव डालता है। अतः विकासोन्मुख आदिवासी कल्याण और आदिवासी संस्कृति का पुनर्संस्थापन आज के भारत की राजनैतिक

---

1 मजूमदार, डी० एन० रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पृष्ठ 363

तथा सामाजिक सांस्कृतिक आवश्यकता है।

आदिवासी-कल्याण और संस्कृति पुनर्स्थापन की समस्याओं का विश्लेषण करने में एक और तथ्य पर विचार करना आवश्यक है। सभ्यता-संघात के प्रति आदिवासियों की प्रतिक्रिया सर्वत्र एक सी नहीं रही है जिसके कारण आदिवासी संस्कृति में विभिन्नीकरण तथा परिवर्तन की भिन्न गतियां और दिशाएं उत्पन्न हुई हैं। उदाहरणार्थ भील और गोंड जैसी गणजातियों की जनसंख्या बढ़ी है जबकि कोरवा और टोडा जैसी गणजातियों ने अपने को सभ्यता-सम्पर्क से अलग रखकर, अपने लिए विनाश का मार्ग प्रशस्त कर लिया है। जो गणजातियां सभ्यता सम्पर्क से दूर रही हैं उनकी अलग समस्यायें हैं। जो कृषि जिसे वे अधिकतर करती हैं, आज अनुर्वर सिद्ध हो रही है क्योंकि जंगम कृषि के लिए आज उन्हें उतना विस्तृत वन प्रदेश नहीं मिलता है जितना कि कभी मिलता था। जमीन की बढ़ती हुई अनुर्वरता और घटाव के कारण तथा सभ्यता-सम्पर्क से दूर रहने की प्रवृत्ति के कारण ऐसी गणजातियों का विकास ही नहीं रुका है वरन भुखमरी उनकी एक विकट समस्या बन गई है। भील और गोंड जैसी गणजातियां अपने को हिन्दूकृत करती हुई तथा स्थाई कृषि अपनाकर, ग्रामीण सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में आ गई हैं। आज उनकी वही समस्यायें हैं जो भारत के कृषकों की हैं। जिन आदिवासियों का शहरीकरण हो रहा है उनकी समस्या है एक नया शहरीकृत सामाजिक-सांस्कृतिक सन्तुलन। जो श्रमिक वर्ग में आ गए हैं उनकी अलग समस्यायें हैं और, जो ग्राम शहर के बीच में हैं शोषणकारी तत्वों से मुक्ति पाना उनकी विशेष समस्या है।

समस्या समाधान

सभ्यता-संघात ने आदिवासियों में, इसप्रकार विभिन्न परिवर्तन की गतियों और दिशाओं को जन्म दिया है जिसके कारण गणजातियों में विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों का समावेश हो गया है। विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों के समावेश ने, अलग-अलग गणजातियों और क्षेत्रों में, अलग अलग समस्याओं को जन्म दिया है। इसीलिए इस बात पर जोर दिया गया है कि आदिवासी कल्याण और संस्कृति पुनर्स्थापन की एक राष्ट्रीय नीति हो सकती है न कि एक कार्यक्रम। हां यह अवश्य है कि राष्ट्रीय नीति के आधार पर एक योजना को अपना लिया जाय और विभिन्न क्षेत्रों तथा गणजातियों की आवश्यकतानुसार, उसके आधार पर, अलग-अलग स्थानीय कार्यक्रमों को तैयार किया जाय। किन्तु इसके लिए गणजातियों के वर्गीकरण की आवश्यकता है। आदिवासी कल्याण की योजना के दृष्टिकोण से विद्वानों ने विभिन्न आधारों पर गणजातियों के वर्गीकरण प्रस्तुत किए हैं। सभी ने संस्कृति-करण की प्रक्रिया को मुख्य आधार माना है किन्तु संस्कृतिकरण के अलग-अलग पक्षों पर जोर दिया है। उदाहरणार्थ मजूमदार ने गणजातियों में पाई जाने वाली हिन्दूकरण की मात्रा पर जोर दिया है। उनका वर्गीकरण इस प्रकार है—

हिंदू प्रभाव के बाहर की गणजातियां (वास्तविक आदिवासी), दूसरी, वे गणजातियां जिन्होंने हिंदू प्रथाओं को तो अपना लिया है किन्तु बहिष्कृत जातियों की श्रेणी में नहीं आई हैं और, तीसरी, वे गणजातियां जो हिंदूकृत हो गई हैं, जिन्हें जाति का रूप भी मिल गया है किन्तु जो उच्च जातियों में सामाजिक अन्तर मानती है। इस प्रकार, कुछ गणजातियों का हिंदुत्व में सात्मीकरण हो गया है जिन्हें सात्मीकृत (Assimilated) आदिवासी समूह कहा जा सकता है और कुछ समायोजन प्रक्रिया (Process of Adaptation) में हैं। समायोजन प्रक्रिया में जो गणजातियां हैं वे अपने को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल ढाल रही हैं। दूसरे प्रकार की गणजातियां को मजूमदार ने तीन श्रेणियों में रखा है—पहली कम्यसलिक (Commensalic) दूसरी सिम्बायटिक (Symbiotic) और तीसरी एकल्चरेटिव (Acculturative)। कम्यसलिक गणजातियों का आर्थिक जीवन आत्मनिर्भर है। सिम्बायटिक गणजातियों का आर्थिक सामाजिक जीवन अन्तर्निर्भर हो गया है जैसे नीलगिरि की गणजातियां। एकल्चरेटिव गणजातियां सम्पर्क के कारण बाह्य सांस्कृतिक तत्वों को आत्मसात करते हुए अपना संस्कृतिकरण कर रही हैं। कम्यसलिक गणजातियों की संख्या वस्तुतः नहीं के बराबर है क्योंकि आज शायद ही कोई गणजाति हो, जो बाह्य संसार के सम्पर्क में न आई हो।

सन 1952 की इण्डियन कान्फ्रेंस आफ सोशल वर्क के द्वारा नियुक्त आदिवासी कल्याण-समिति (1952) ने गणजातियों को चार श्रेणियों में बांटा है: पहली आदिवासी समुदाय दूसरी अर्द्ध आदिवासी समुदाय तीसरी वे आदिवासी समुदाय जिनका संस्कृतिकरण हो चुका है अर्थात जिन्होंने बाह्य संस्कृति के तत्वों को आत्मसात करते हुए, अपनी विशिष्टता कायम रखी है और चौथी, सात्मीकृत (Assimilated) गणजातियां। एक दशक पहले, एल्विन ने सभ्यता सम्पर्क के परिणामों के दृष्टिकोण से, एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया था। उनके अनुसार चार श्रेणियां हैं: पहली श्रेणी में वे आदिवासी आते हैं जो अत्यन्त प्राचीन हैं, दुर्गम जंगलों में रहते हैं जिनका सामाजिक-आर्थिक जीवन समष्टिवादी है और जो कुल्हाड़ियों से खेती करते हैं। दूसरी श्रेणी में वे आदिवासी आते हैं जो पहली श्रेणी के आदिवासियों की भांति सभ्यता से दूर हैं किन्तु जिनका सामाजिक आर्थिक संगठन व्यष्टिवादी है और पहली श्रेणी के आदिवासियों की अपेक्षा कम सरल है। तीसरी श्रेणी में वे आदिवासी आते हैं जिनकी संख्या सबसे अधिक है और जो, सभ्यता सम्पर्क में आने के कारण अपनी संस्कृति से दूर जा रहे हैं। चौथी श्रेणी में वे आदिवासी हैं जो प्राचीन आदिवासी नामक-समूहों के प्रतिनिधि हैं (जैसे भील और नागा) जिनका प्राचीन आदिवासी जीवन अक्षुण्ण है और जो संस्कृति सभ्यता सम्पर्क में विजयी हुए हैं। एल्विन का यह मत है कि पहली और दूसरी श्रेणी के आदिवासियों को चौथी श्रेणियों में लाना ही मुख्य आदिवासी-समस्या है। एल्विन के मत में, चौथी श्रेणी ही वांछनीय है। किन्तु,

चौथी श्रेणी म आकर दूर दशा मे, आदिवासी संस्कृति सुरक्षित ही रहेगी यह मान्यता वैज्ञानिक कम रोमाण्टिक अधिक है क्योकि चौथी श्रेणी मे आकर न तो विकास ही रुक जायगा और न संस्कृति सम्पर्क हो। आदिवासियो को राष्ट्रीय जीवन की प्रधान धारा स या सामाजिक आर्थिक शक्तियो के प्रभाव स अलग रखना न तो सम्भव ही है और न वाछनीय ही है। आदिवासी संस्कृति को अक्षुण्ण बनाने रखने की मानवतावादी भावुकता क प्रवाह म बहकर इस बात का पक्ष नही लिया जा सकता कि आदिवासियो का सभ्यता क प्रभावो स दूर रखा जाय। एल्विन के मत स यह ध्वनि होती है कि मानो व आदिवासी संस्कृति को बस रखना चाहते हो जस कि व मानव अजायबघर (Human Zoo) की वस्तुए हो। एल्विन का मत पृथक्करणवादी है और, एक प्रकार स रोमाण्टिक है। जो भारतीय राष्ट्रीयता के प्रतिकूल पडता है[1]।

गणजातियो क आर्थिक आधारो और उनमे हुए परिवर्तनो क आधार पर उन्हें चार श्रेणियो म रखा जा सकता है—एक, व जो जगलो म रहती हैं जगल पर निर्भर हैं और कदमूल पर जीवन बसर करती हैं, दो व (कमार बगा और रड्डी वगैरह) जो कदमूल पर भी निर्भर हैं और साधारण किस्म की कृषि पर भी, तीन व जो मुख्यत कृषि पर निर्भर होने के साथ साथ, जगलो की उपज पर भी निर्भर करती हैं (जसे उत्तरी पूर्वी तथा मध्यभारत की गणजातिया) और आदिवासी जनसख्या का सबस बडा भाग है चार, वे आदिवासी जो औद्योगिक श्रमिक की श्रेणी म आ गए हैं। इस वर्गीकरण स यह स्पष्ट होता है कि आर्थिक दृष्टिकोण स आदिवासी जनसख्या का अधिकतम भाग कृषि और जगल की उपज पर निर्भर है और किसी भी कल्याण योजना म इस तथ्य की अवहेलना नही की जा सकती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सभ्यता के प्रभाव स गणजातिया ग्राम शहर सतति (Rural Urban Continuum) क विभिन्न स्तरो म आ गई हैं और इस दृष्टिकोण स मजूमदार और मदन न गणजातियो को तीन श्रेणियो म बाटा है—पहला वे गणजातिया जिनकी संस्कृति ग्रामीण शहरी समूहो से दूर है अर्थात जो सम्पर्क स बाहर हैं, दूसरी, व जो ग्रामीण और शहरी समूहो के सम्पर्क म आकर सामाजिक और आर्थिक समस्याओ का शिकार हो गई हैं, तीसरी, वे जो ग्राम शहर के सम्पर्क म आई हैं किन्तु उन्होने ऐसा सांस्कृतिक समायोजन कर लिया है जिसके कारण व सामाजिक आर्थिक समस्याओ का शिकार होन से बच गई हैं यद्यपि हो सकता है कि पहल वे सामाजिक-आर्थिक समस्याओ का शिकार रही हो। समाज-कल्याण की आवश्यकता पहली और दूसरी श्रेणी की गणजातियो को है। आदिवासी-कल्याण, विकास और सांस्कृतिक पुनर्स्थापन इस ढग स हो कि आदिवासी ग्राम-शहर की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था म आ जाय ताकि, ज्यो ज्यो इस व्यवस्था का विकास हो, आदि

---

1 मजूमदार और मदन वही पृष्ठ 263

वासियों का भी विकास हो।

आदिवासी कल्याण और संस्कृति पुनर्संस्थापन की योजना ऐसी हो कि उससे आदिवासियों की संस्कृति और उनके हितों की रक्षा भी हो और उसे अपने ही आधार पर विकसित होने का अवसर भी मिले। आदिवासियों को भारत की सामाजिक आर्थिक धाराओं से अलग रखना न सम्भव ही है और न ऐसा करना वांछनीय ही है। उनको सहसा न तो हिन्दुत्व में आत्मसात किया जा सकता है और न इस्लाम या ईसाइयत में। आदिवासियों को उस राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संरक्षण की आवश्यकता है जिसके संतत्व और साए में वे अपना विकास करते हुए, राष्ट्रीय जीवन का अंग बन सकें। उनका राष्ट्रीय आत्मीकरण वांछनीय है न कि सामाजिक या सांस्कृतिक। उन्हें विकास के मार्ग पर लाते हुए वहां लाना है जहां उन्हें भारत के संस्कृति संघात में एक निश्चित स्थान मिले। आदिवासियों का उत्तरोत्तर संस्कृतिकरण आदिवासी कल्याण योजना का आधार होना चाहिए। इस योजना के तीन पहलू हैं—एक निश्चयात्मक (Positive), दूसरा निषेधात्मक (Negative) और तीसरा निरोधात्मक (Preventive)। आदिवासियों में शिक्षा का प्रसार, आदिवासी श्रेणियों द्वारा आदिवासी क्षेत्रों के प्राकृतिक साधनों का उत्तरोत्तर उपयोग और उनसे आदिवासियों की आर्थिक दशा सुधारने का प्रयास, आदिवासियों में नई चेतना का प्रसार, आदिवासियों का सामाजिक कल्याण और मातृत्व तथा शिशुकल्याण निश्चयात्मक पहलू में आते हैं। आदिवासी संस्कृति को विशृंखलित करने वाली शक्तियों को रोकना और आदिवासियों का शोषण करने वाले प्रतिकारकों (व्यापारी, सूदखोर, भ्रष्ट अफसर और ईसाई मिशनरी) का निवारण निषेधात्मक पक्ष में आते हैं और आदिवासियों में पाए जाने वाली संक्रामक बीमारियों की रोक थाम निरोधात्मक पहलू में।

आदिवासियों की समस्याओं को दो श्रेणियों में रक्खा जा सकता है। पहली श्रेणी में वे समस्यायें आती हैं जो आदिवासी और अन्य पिछड़े वर्गों की समान समस्यायें हैं और दूसरे वर्ग में वे समस्यायें आती हैं जो आदिवासी की अपनी समस्यायें हैं। गरीबी, अशिक्षा, सांस्कृतिक उदासीनता, परम्परागत आदिवासी शासन प्रणाली तथा सरकारी शासन प्रणाली में समन्वय, बीमारी और स्वास्थ्य खराब और मिशनरी की समस्यायें आदिवासी की अपनी विशिष्ट समस्यायें हैं। उनकी आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए यह सिफारिश की गई है कि व्यापारियों, ठेकेदारों और सूदखोरों के शोषण से उन्हें मुक्त किया जाए, उनमें कृषि के लिए, जहां तक हो सके, उन्हें अवसर देते हुए, उन्हें स्थायी कृषि की ओर ले जाया जाय और उनमें उद्योग धन्धों का विकास किया जाय, जहां तक हो सके जंगल की उपज को उनके अधिकार में दिया जाय ताकि वे उससे आर्थिक लाभ उठा सकें, उनमें शिक्षा का प्रसार किया जाय, उनके स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान दिया जाय और संक्रामक बीमारियों की रोक थाम के लिए अधिक से अधिक सरकारी प्रबन्ध किया जाय, आदिवासी क्षेत्रों का,

अप्रत्यक्ष प्रशासन प्रणाली के सिद्धान्तों के आधार पर प्रशासन किया जाय और उसके लिए परम्परागत पंचायत प्रणाली का प्रयोग किया जाय और न्यायिक तथा राजनैतिक प्रशासन में आदिवासी सांस्कृतिक प्रथाओं की अवहेलना न की जाय। मजूमदार आदिवासी क्षेत्रों में पुलिस संगठन के भी पक्ष में नहीं हैं। उनके मत में आदिवासी अफसरों को ही प्रशासन में लगाया जाय। बहुत से लोगों का यह मत है कि आदिवासियों को अपने उपयोग के लिए शराब बनाने की अनुमति दे दी जाय क्योंकि इससे उनको स्वास्थ्यवर्द्धक पेय मिलेगा। आजकल कच्ची शराब बनाने के जो अपराध हो रहे हैं वे मिट जायेंगे और शराबखोरी में कमी आयेगी। किन्तु इस मत का पक्ष लेने वाले यह भूल जाते हैं कि आज आदिवासी क्षेत्रों में आदिवासी ही नहीं अन्य लोग भी पाये जाते हैं और शराब आदिवासी ही नहीं गैर-आदिवासी भी पीते हैं। ऐसी दशा में, शराब खींचने की अनुमति, छोटे पैमाने पर शराब बनाने और बेचने के व्यापार को जन्म दे सकती है। जौनसार में ऐसा हो रहा है। वहाँ जंगलों में काम करने वाले श्रमिकों व्यापारियों और अन्य प्रकार के लोगों के आने से शराब की माँग बढ़ी है। शराब बनाने की परम्परागत तरीके में समय भी लगता है और पैसा भी। अतः, वहाँ अब आदमी नौसादर और चूने से शराब बनाने लगा है जिसका प्रयोग स्वास्थ्य को नष्ट कर रहा है।

मानवशास्त्रियों की यह मान्यता है कि आदिवासी की शिक्षा, स्वास्थ्य, अनैतिकता और शराबखोरी सम्बन्धी समस्याओं को दूर करने के लिए शिक्षाप्रद सामाजिक प्रचार की आवश्यकता है—वह प्रचार जिसका उद्देश्य नये जीवन के लिए जिज्ञासा सामाजिक चेतना लाना है। इस काम के लिए समाजसेवकों की आवश्यकता है। आदिवासी क्षेत्रों में आज कई प्रकार के समाजसेवी मिलते हैं। एक ओर, वे प्रशिक्षित समाजसेवी हैं जो सरकारी समाजकल्याण विभागों की ओर से अधिकारियों के रूप में नियुक्त हैं। दूसरी ओर, ईसाई समाजसेवी हैं जिनके लिए समाज-सेवा ईसाइयत के प्रचार का एक माध्यम है। तीसरी ओर राजनैतिक समाजसेवी हैं और, चौथी ओर आदिमजाति सेवक संघ जैसी प्राइवेट संस्थाओं के समाजसेवी हैं, जिनमें से कुछ राजनीति के हारे हुए खिलाड़ी हैं और कुछ परिस्थितिवश पेशेवर समाज सेवक बन गए हैं। इधर, आदिवासियों में बढ़ते हुए ईसाइयत के प्रसार की प्रतिक्रिया में हिन्दू संगठनों ने भी आदिवासियों में समाजसेवा कार्य संगठित करना प्रारम्भ कर दिया है। इस घपलेबाज में, आदिवासी समाज सेवा कार्य में व्यवधान ही अधिक आता है। समाज-सेवियों की इस सेना के प्रति आदिवासी शंकालु हो उठता है—विशेषतया उस दशा में जब आदिवासी यह देखता है कि यह सारा मेला तो उसके नाम पर है किन्तु लाभ दूसरों को हो रहा है। आज हम यह भूल रहे हैं कि जहाँ समाज सेवा के लिए फंड सरकार से आए और उसका खर्च गैर सरकारी संस्थाओं के द्वारा हो वहाँ, समाज सेवा में, राजनीति और निहित स्वार्थों का प्रवेश

अवश्यभावी है। आदिवासी क्षेत्रों में किए जाने वाले समाज सेवा कार्य को प्राइवेट संस्थाओं के कर्णधारों के निहित स्वार्थों के चंगुल से निकालना और उसे प्रशिक्षित समाज सेवियों के हाथ में देना आदिवासी समाज सेवा-कार्य की आज प्राथमिक आवश्यकता भी है और समस्या भी।

आदिवासी संस्कृति की राष्ट्रीय महत्ता के प्रति भारत बहुत पहले ही सजग हो चुका था और स्वतन्त्रता के पहले ही से समाज सेवा के कार्यक्रमों के द्वारा (जिनका सूत्रपात गांधी जी की प्रेरणा से ठक्कर बापा के द्वारा हुआ था) उन्हें राष्ट्रीय प्रवाह में लाने का प्रयास किया गया है। प्रारम्भ से ही भारत में पृथक्करण और सात्मीकरण की नीतियों को तरजीह नहीं दी गई है यद्यपि उनके प्रतिष्ठापक सरकार में भी रहे हैं और बाहर भी। एल्विन सरकार के सलाहकार रहे हैं और उन्होंने आदिवासी क्षेत्रों को नेशनल पार्कों के रूप में विकसित करने का पक्ष लिया था जिसे स्वीकार नहीं किया गया है। संविधान में जिस नीति की आधारशिला रक्खी गई है उसमें एक ओर, निश्चयात्मक (Positive) निषेधात्मक (Prohibitive) और निरोधात्मक (Preventive) कार्यक्रमों का उल्लेख है और दूसरी ओर, यह स्वीकार किया गया है कि भारतीय नागरिकों के रूप में आदिवासियों को अपने विकास का और अपनी संस्कृति को सुरक्षित रखने का पूरा अधिकार है और उसके लिए अवसर प्रदान करना राज्य का कर्तव्य है। आदिवासियों के वही मौलिक अधिकार हैं जो अन्य भारतीयों के हैं। उन्हें अपनी संस्कृति, प्रथाओं और अपने विश्वास बनाये रखने का पूरा अधिकार है बशर्ते कि वे राष्ट्रीय जीवन के आदर्शों के विरोध में न आते हों। संविधान में बेगार और अस्पृश्यता को गैरकानूनी करार दे दिया गया है। राज्यों विशेषतः राज्यपालों, को आदिवासियों का शोषण रोकने और आदिवासियों के आर्थिक हितों की रक्षा करने का विशेष अधिकार है। संविधान की पांचवीं और छठी अनुसूचियों के द्वारा आदिवासी को अप्रत्यक्ष प्रशासन के लाभों को देने का भी प्रयास किया गया है।

अंग्रेजों के समय से चली आ रही एक समस्या आज भी उतनी ही विवादपूर्ण है और वह यह है कि भारत राष्ट्र में आदिवासी संस्कृति का क्या स्थान हो? अंग्रेजों ने आदिवासियों को सर्वचेतनावादी कहकर, उन्हें हिन्दुओं से अलग माना और उन्हें अलग रखने की कोशिश भी की यद्यपि, आदिवासियों में, विदेशी ईसाई मिशनरियों का ईसाइयत का प्रचार करने दिया। इस प्रतिक्रिया का परिणाम यह हुआ कि घुरे जैसे समाजशास्त्रियों ने आदिवासियों को पिछड़े हुए हिन्दू कहकर, उन्हें हिन्दुत्व में पूर्णरूपेण आत्मसात कर लेने के मत की पुष्टि की। हिन्दू राष्ट्रवादिता पर आधारित जनमत भी इसी पक्ष में रहा है। किन्तु, आज, न तो पृथक्करण ही सम्भव है और न आदिवासियों का हिन्दुत्व में पूर्ण सात्मीकरण ही। संविधान में आदिवासी संस्कृति को स्वतन्त्र विकास का अवसर प्रदान कर देने के बाद भी समस्या

का समाधान नहीं हुआ है क्योंकि, संविधान के बावजूद भी, आदिवासी को अपनी संस्कृति व स्वतन्त्र विकास का अवसर नहीं मिल रहा है। विदेशी इसाई मिशनरी उसे इसाइयत की ओर खींच रहा है और आर्यसमाज तथा राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ जैसे संगठन हिन्दुत्व की ओर। संस्कृति संघर्ष की समस्या वहीं उठ खड़ी होती है जहां आदिवासियों को किसी संगठित धर्म की ओर लाने का संगठित प्रयास किया जाता है।

आदिवासियों ने जहां हिन्दूकरण को स्वतः अपनाया है वहां, जैसा कि संस्कृतिकरण की प्रक्रिया का नियम है, उन्होंने हिन्दुत्व और आदिवासीत्व का मिलकर एक नई सांस्कृतिक अवकल्पना को जन्म दिया है जो हिन्दू भी है और आदिवासी भी। बंगाल के राजवंशी एक ओर, हिन्दुत्व में प्रवेश करके जाति के स्तर पर आ गये हैं और दूसरी ओर, अपने परम्परागत सामाजिक संगठन को भी अपनाये हैं। सभी राजवंशी एक ही गोत्र (कश्यप) के हैं और समगोत्र विवाह करते हैं जो हिन्दुत्व में मान्य नहीं है यद्यपि हिन्दू इसका विरोध नहीं करते हैं। दक्षिण की लम्बाडी गणजाति कई सम्प्रदायों में बट गई है और प्रत्येक सम्प्रदाय के लोगों ने गोत्रों को अपना लिया है। लम्बाडियों में प्रत्येक सम्प्रदाय एक जाति बन गया है। वे विवाह-संस्कार ब्राह्मण द्वारा करवाते हैं। पहले वे मामा या पिता की बहिन के लड़के-लड़की से विवाह नहीं करते थे किन्तु अब करने लगे हैं क्योंकि दक्षिण के हिन्दुओं में यह प्रथा पाई जाती है। गोंडों, भीलों और छोटा नागपुर के आस-पास की गणजातियों ने भी ऐसे ही अनेक प्रथाओं को अपना लिया है।

भारत में आदिवासी संस्कृति तभी सुरक्षित रह सकती है और भारतीय संस्कृति में अपना एक विशिष्ट स्थान बना सकती है जब उस पर संस्कृतिकरण लादा न जाय। जब विदेशी मिशनरी आदिवासी को प्रलोभन देकर इसाई बनाते हैं तो, वस्तुतः, वे उसकी सांस्कृतिक-स्वतन्त्रता का अपहरण करते हैं। जब इसाई मिशनरियों की देखा देखी हिन्दू आदिवासी को हिन्दू बनाते हैं तो वे भी उसकी सांस्कृतिक स्वतन्त्रता पर कुठाराघात करते हैं। आदिवासी को इसाई या हिन्दू बनाने की होड़ में, आदिवासी-संस्कृति की समायोजन-समस्या वस्तुतः, राजनैतिक रूप ले लेती है। राष्ट्रीय एकता के हित में आवश्यकता इस बात की है कि आदिवासी को उसके ऊपर छोड़ दिया जाय ताकि वह हिन्दुत्व, इसाइयत, इस्लाम और आदिवासित्व को मिलाकर, संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के द्वारा अपने लिये आवश्यकतानुसार एक नये संस्कृति-कलाप का निर्माण कर सकें। किन्तु, यदि आदिवासी के बीच में विदेशी मिशनरी रहेगा तो हिन्दू मिशनरी या राजनीतिज्ञ को रोका नहीं जा सकता। आदिवासी संस्कृति को मिशनरी से बचाने की आवश्यकता है चाहे वह हिन्दू हो या इसाई या मुसलमान। किन्तु, यह तभी सम्भव है जब आदिवासी इसाइयों के चर्चों का आदिवासीकरण और भारतीयकरण हो जाय और चर्च संगठन का उद्देश्य अपने

अनुयाइयो की आध्यात्मिक उन्नति हो न कि इसाइयत का प्रचार करना या इसाई बने हुए लागो का योरापीय बनाना। आदिवासियो मे धम प्रचार की होड, अल्प-मस्यक और बहुसख्यक के सघष का रूप लेकर, साम्प्रदायिता म बदल सकती है जिसकी प्रतिक्रिया आदिवासी सस्कृति के विशृखलन का भी कारण बन सकती है और विद्राह का भी आर जो हर दशा मे राष्ट्र की भावनात्मक एकता के प्रतिकूल पडती है। धमनिरपक्ष राज्य म धम प्रचार की होड, साम्प्रदायिकता का ही जन्म दे सकती है।

3166